गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड : पांच

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन, बी-19,
  न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765
  मो. : 09829547773

- **राजस्थानी ग्रंथागार**
  सोजती गेट
  जोधपुर (राज.) 342001
  दूरभाष : 0291-2623933

- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667

- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27
  नोएडा 201301
  दूरभाष : 0120-2538101
  मो. : 09871143768

- **सर्वोदय बुक स्टॉल**
  प्रकाश नारायण चौहान
  प्लेटफॉर्म नं. 1/2, 3/4,
  मुगलसराय
  मो. : 09452072003

- **विश्वविद्यालय प्रकाशन**
  चौक, वाराणसी 221001
  फोन : 0542-2413741,
  2413082
  फैक्स : 0542-2421472
  E-mail : sales@vvpbooks.com

- **लोकहित प्रकाशन**
  संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर
  लखनऊ 226004
  फोन : 0522-2691384,
  2691358

ॐ पर्यावरणं यजामहे
मानव प्रबोधन प्रन्यास, बीकानेर

मानव प्रबोधन प्रन्यास

शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर 334003

गीता दर्शन की सार्वभौमिकता
डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड : पांच

सम्पादक एवं संकलनकर्ता
स्वामी संवित् सुबोधगिरि

संकलन में सहयोगी
श्री वृजभूषण ओबराय

अंग्रेजी लेखों के हिन्दी अनुवादक
श्री चन्द्रप्रकाश ओबराय

आशीर्वचन
परम पूज्य गुरुदेव श्रीमत् स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज

परामर्श मण्डल
श्री नरेन्द्र कोहली • श्री इन्द्रेश कुमार
श्री बालकृष्ण नायक • श्री बालमुकुन्द
श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' • डा. कुसुमलता केडिया
श्री आनन्द मिश्र 'अभय' • डा. मदनलाल ओबराय
श्री जुगलकिशोर जैथलिया • डा. बद्री प्रसाद पंचोली
श्री सीताराम महर्षि • श्री तोलाराम लाठ

प्रकाशक :
शिवार्चन प्रकाशन
मानव प्रबोधन प्रन्यास
श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर
शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर 334003
दूरभाष : 0151-2230982, 2239903
मो. : 09413769139

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास
खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान
खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता
खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

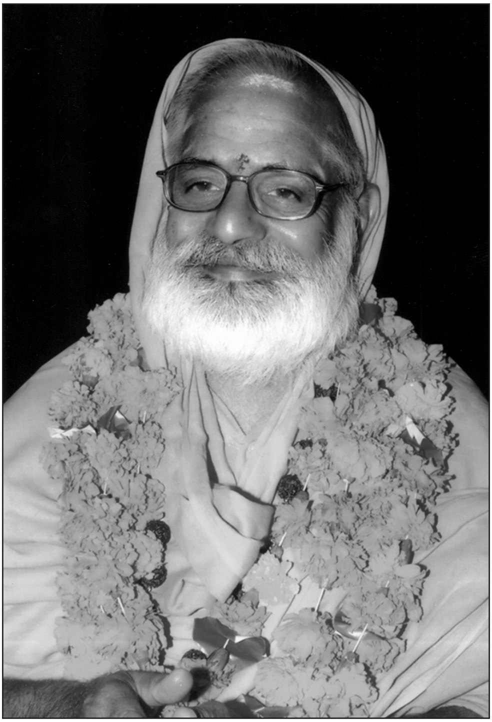
प्रथम संस्करण : 2012 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : सात सौ रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड
बीकानेर 334003

GITA DARSHAN KI SARVABHAUMIKATA (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 700



परम पूज्य गुरुदेव

श्रीमत् स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज

को

डॉ. हरवंशलाल ओबराय की यह कृति

पूज्यश्री के चरणों में सादर समर्पित है।

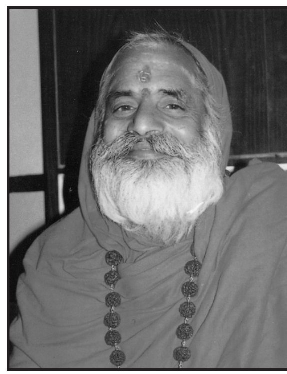
चरणानुरागी :

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आशीर्वचन

भारतीय संस्कृति का आधार सनातन धर्म है। सनातन का अर्थ है जो आदि और अन्त रहित है। अतः यह धर्म अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक रहेगा। इस धर्म को अपनाने वाले को भी यह धर्म 'सनातन' की प्राप्ति करा देता है। ब्रह्म को ही वेदों में सत्य या सनातन कहा है। सनातन धर्म पर आधारित होने के कारण भारतीय संस्कृति भी सनातन संस्कृति है। भारतीय संस्कृति ओंकार-मूलक है। ओंकार ही ब्रह्म है, ओंकार ही आत्मा है, ओंकार ही जगत् है, ओंकार से भिन्न और परे किसी अन्य की सत्ता ही नहीं है। ओंकार से ही सारे वेद प्रकट हुए हैं। वेद अपौरुषेय हैं, अनन्त हैं, सनातन हैं। संस्कृति का विस्तार वेदों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड के अनुसार हुआ। संस्कृति के संवाहक ऋषियों ने मानव मात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस को प्रदान करने वाले जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान को सारे विश्व में फैलाया। भारत-भूमि को इस संस्कृति-प्राकट्य और प्रसार के मूल-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। इस संस्कृति-वीणा की दिव्य झंकार तो 14 भुवनों के आरपार होकर वैकुण्ठ, कैलास और मणिपूर व्यापिनी है।



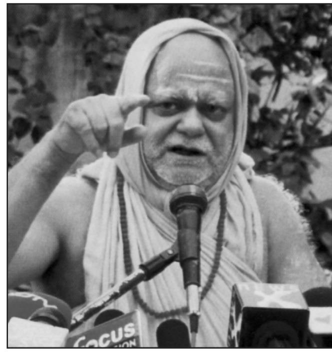
असंख्य महाप्रलयों को, ब्रह्माओं को, कल्पों-मन्वन्तरों और युगों के रूप में प्रवाहित यह अनादि सृष्टि हर कालखण्ड में अपनी विशिष्ट साज-सज्जा को अनावृत करती है। जिस कालखण्ड में तम की शक्तियां प्रकाश की शक्तियों को पराजित कर अट्टहास करती हैं उसी कालखण्ड में तब अवतारों और महापुरुषों के रूप में परम-तत्त्व की मुक्त मुस्कान मानव को प्रेम, शान्ति और सुख का अनुभव कराती है—दिव्य-प्रकाश को फैलाती है।

अवतारों की लीलास्थली एवं ऋषियों की तपोभूमि भारत में संस्कृति का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। संकट के समय में जब इसका बाह्य रूप प्रक्षीण हुआ तब भी यह अन्तःपयस्विनी होकर सतत प्रवाहित होती रही।

प्रस्तुत ग्रंथ में संस्कृति की इस अमरता और इसके वैश्विक रूप का सम्यक् दर्शन होता है। प्रखर मनीषी और उद्‌भट विद्वान् प्रो. हरवंशलाल ओबराय एक चल-विश्वविद्यालय व चल-पुस्तकालय होने के साथ-साथ ब्रह्मविद्या के श्रेष्ठ विद्यार्थी भी थे। एक स्थान पर स्थिर होकर लेखन कार्य में संलग्न रहना उनके स्वभाव में नहीं था। उन्होंने स्वयं लिखने से अधिक लिखवाया और उससे भी अधिक प्रवचनों में अभिव्यक्त किया। उनके द्वारा अभिव्यक्त बहुमूल्य सामग्री को स्वामी श्री सुबोधगिरिजी ने वर्षों तक संभाल कर रखा। संन्यास के पूर्व वे अनेक वर्षों तक प्रो. ओबराय के शिष्य बन कर रहे। उन्होंने सत्-शिष्य बन कर प्रो. ओबराय की सेवा की, उपासना की और उनसे अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक एवं दुर्लभ ज्ञान प्राप्त किया। प्रो. ओबराय ने अपनी प्रखर प्रतिभा, अनुसंधानात्मक वृत्ति तथा संश्लेषक व विश्लेषक प्रज्ञा द्वारा भारतीय संस्कृति के अनेक अज्ञात पक्षों का पता लगाया था। उनकी बहुत कुछ सामग्री तो उनके पश्चात् बचाई नहीं जा सकी। किन्तु सुबोधगिरिजी ने अपने पास की सामग्री को तथा कई अन्य स्रोतों से भी उनकी रचनाओं को एकत्र करके उन्हें लोक कल्याण के लिये प्रकाशित करने के संकल्प को जीवित रखा। प्रभुकृपा से अब उनका संकल्प पूर्ण होने जा रहा है। यह प्रकाशन प्रो. ओबराय के प्रति उनकी सच्ची श्रद्धांजलि है। प्रभु से प्रार्थना है कि वे निरन्तर ज्ञानार्जन करते हुए ब्रह्मविद्या के आलोक को प्राप्त करें।

स्व. डा. हरवंशलाल ओबराय की रचनाओं को इन ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत करने में उनके भ्रातात्रय (डॉ. मदनलाल ओबराय, श्री वृजभूषण ओबराय, श्री चन्द्रप्रकाश ओबराय) का सब प्रकार से श्लाघनीय सहयोग रहा है। उनके इस भावपूर्ण सहयोग के अभाव में ग्रंथों का प्रकाशन असंभव हो जाता। एतदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। उन पर तथा उनके समूचे कुल पर प्रभु की कृपा बरसती रहे—यह शुभ कामना है।

—स्वामी संवित् सोमगिरि



पत्र-1

श्री स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी
मानव-प्रबोधन-प्रन्यास
शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर 334003
राजस्थान

।। श्रीहरिः ।।

—श्रीगणेशाय नमः—

'धर्मनियन्त्रित पक्षपातविहीन-शोषणविनिर्मुक्त सर्वहितप्रद शासनतन्त्र' भारत की अपूर्व विशेषता रही है। यहां के सनातन मनीषियों ने कालक्रम से विलुप्त ज्ञान-विज्ञान को तपोबल से प्रकट करने और विकृत ज्ञान-विज्ञान को विशुद्ध करने के दायित्व का दक्षतापूर्वक निर्वाह किया है। उन्होंने हिरण्यकशिपु, वेन, रावण, दुर्योधन—जैसे दुर्दान्त शासकों को एवं विधर्मियों के कुचक्र को दक्षतापूर्वक विलुप्त कर प्रह्लाद, पृथु, श्रीराम, युधिष्ठिर सरीखे शासकों को उद्भासित कर सर्वहितप्रद शासनतंत्र को प्रतिष्ठित किया; तद्वत् सुधन्वा एवम् शिवाजी जैसे धर्मपरायण-ओजस्विता, शूरता, सुशीलता संपन्न कुशल प्रशासकों को राजपीठ पर पदासीन कर वैदिक साम्राज्य की स्थापना की। इस संदर्भ में देवर्षि नारद, महर्षि भृगु, ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, मुनि पुङ्गव व्यास, भगवत्पाद शंकराचार्य और समर्थ श्रीरामदासादि की भूमिका सराहनीय है। वैदिक वाङ्मय की समृद्धि एवम् स्वस्थ क्रान्ति के माध्यम से वैदिक साम्राज्य की प्रतिष्ठा उक्त मनीषियों की अमिट अद्भुत गाथा है।

भारत की मेधाशक्ति, रक्षाशक्ति, अर्थशक्ति और श्रमशक्ति के विश्वस्तर पर दोहन तथा दुरुपयोग से चिंतित सनातन संस्कृति के प्रति आस्थान्वित डॉ. हरवंशलाल ओबराय की कृतियों के संकलन एवं प्रकाशन में सलंग्न स्वामी संवित्-सुबोधगिरिजी को तदर्थ साधुवाद है।

अनन्त श्री विभूषित स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती श्रीमज्जगद्गुरु-शंकराचार्य
गोवर्द्धनमठ-पुरीपीठ
भाद्रशुक्ल चतुर्दशी 2068 संवत्

पत्र-2

ॐ

श्रीशंकरमठ
आबू (राज.)
23.11.11

श्री स्वामी सुबोधगिरिजी

ॐ नमो नारायणाय।

आप द्वारा प्रेषित सद्ग्रंथ के दो संग्रह पाकर अति प्रसन्नता हुई। एक संग्रह श्री स्वामी शारदानन्दजी (महन्त, झूँसी-इलाहाबाद) को प्रेषित कर दिया। विषयसूची देखकर एवं सम्पादकीय पढ़कर प्रभावित हुए बगैर रहा नहीं जा सकता। आपका श्रम सराहनीय एवं अनुकरणीय है। भारतीय मनीषियों ने इतने सद्रत्न अपनी रचना-पिटारियों में संजोये हैं कि उनकी बहुतायत के चलते उनकी उपेक्षा हो रही है। विषयवार यदि वे प्रसंग उपलब्ध हों तो आधुनिक चेतना उनका मूल्य समझे एवं उनके आलोक से उपकृत हो यह संभव है। वाल्मीकि-व्यास-शंकर आदि के भी वचन वर्गीकृत मिल सकें तो बड़ी उपलब्धि हो। भगवत्प्रेरणा से आप इस तरह की संस्कृति-सेवा करते रहें—इस शिव प्रार्थना सहित

स्वयंप्रकाशगिरि

पत्र-3

।।श्रीहरिः।।

कृष्ण-कुटीर, रतनगढ़ (राज.)

आदरणीय स्वामी संवित् सुबोधगिरिजी,

सादर-सप्रेम नमस्कार। आपने डॉ. हरवंशलाल ओबराय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र के जो तीन खण्ड प्रकाशित किये हैं उन्हें पढ़कर लगता है कि डॉ. ओबराय देश की दुर्लभ विभूति थे। आपने इनकी सामग्री का जिस प्रकार संकलन एवं संपादन किया है, इसके लिए आपको किन शब्दों में धन्यवाद दूं, समझ में नहीं आता। किसी भी प्रकार का धन्यवाद मेरे हृदय की समस्त भावनाओं को व्यक्त नहीं कर पायेगा।

सबसे पहले आपको खण्ड एक के संपादकीय के लिए अनेकानेक धन्यवाद देता हूं। आपने अपने संपादकीय में तीनों खण्डों को अच्छी तरह समझने की दृष्टि प्रदान की है। कहना चाहिए, तीनों खण्डों में जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उसका सार आपके संपादकीय में समाहित हो गया है। आपके संपादकीय को पढ़े बिना डॉ. ओबराय के व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त नहीं होती। आपने डॉ. ओबराय की जीवन-झांकी इस तरह प्रस्तुत की है, जैसे हम उनके जीवन को अपनी आंखों के सामने घटित होते हुए देख रहे हैं। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण भारतीय संस्कृति, सनातन धर्म, देशभक्ति, सामाजिक चेतना को जागृत करने में व्यतीत हुआ। उनका व्यक्तित्व जितना सरल, सौम्य एवं प्रभावकारी था, उनका कृतित्व भी उतना ही प्रखर, राष्ट्रीय चेतना को जगाने वाला, भारत की विभूतियों को उजागर करने वाला एवं भारत के विगत की उपलब्धियों पर प्रकाश डालने वाला सफल प्रयास रहा। उन्होंने पूर्ण निष्पक्षता से विश्व की समस्त विभूतियों के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित किये। उनका ज्ञान अथाह था। शायद ही कोई ऐसा विषय बचा हो, जिसके बारे में उनकी लेखनी न चली हो।

खण्ड एक में उन्होंने राष्ट्रीय समस्याओं एवं इतिहास पर अपने विचार प्रशंसनीय ढंग से प्रस्तुत किये हैं। इनको पढ़कर ज्ञात होता है कि जो लोग राष्ट्रीय समस्याओं एवं इतिहास पर अपने विचार प्रकट करते रहे हैं, वे संकुचित दृष्टि या पक्षपात पूर्ण ढंग से ऐसा करते हैं। डॉ. ओबराय की दृष्टि राष्ट्रीय समस्याओं को पूर्ण निष्पक्षता एवं निर्भीकता से देखती है। उसमें कहीं भी किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है। उनकी रचनाएं पाठक को राष्ट्रीय समस्याओं को गहराई से देखने की क्षमता प्रदान करती है।

दूसरे खण्ड में उन्होंने देश के संत-महात्माओं, साहित्यकारों, धर्मगुरुओं, समाज सुधारकों, भक्त-कवियों, क्रान्तिकारियों एवं विभिन्न क्षेत्रों के अग्रणीय महापुरुषों का बहुत ही सटीक एवं निष्पक्ष विवेचन किया है। इन्हें पढ़कर लगता है कि उनका जीवन देशवासियों को उस सत्य से परिचित कराने में ही समर्पित रहा, जिन लोगों ने संसार के समस्त सुखों का परित्याग कर मानवता के लिए ही अपने आपको समर्पित कर दिया था। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व पाठक को विमुग्ध कर देता है।

तीसरे खण्ड में धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-ज्ञान एवं मनोविज्ञान से सम्बन्धित गंभीर चिंतन एवं व्यापक दृष्टिकोण का दर्शन करते हैं। उन्होंने केवल अध्ययन के आधार पर ही अपने विचार व्यक्त नहीं किये। अध्ययन के साथ गंभीर चिंतन एवं मनन करके ही किसी विषय पर अपनी लेखनी चलायी। उन्होंने जो कुछ लिखा, उसका उद्देश्य केवल यही रहा कि विश्व भारत को तभी समझ सकता है, जब उसे भारतीय समाज के बहुआयामी जीवन के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त हो और जीवन के हर पहलू की प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो। वास्तव में डॉ. ओबराय ने भारत के जिस उज्ज्वलतम स्वरूप को विश्व के सामने रखा है, वह पूर्णता लिए हुए है और भारत की संस्कृति, भारत के इतिहास, भारत के मनस्वी सुपुत्रों, भारत की एकात्मता और आध्यात्मिक एकता को प्रदर्शित करने वाला है। इन पुस्तकों को पढ़कर पाठक विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। मुझे विश्वास है कि डॉ. ओबराय के ये ग्रंथ सदियों तक अपने शाश्वत स्वरूप के द्वारा पाठकों के विचारों को मानवता की सेवा के लिए प्रेरित करते रहेंगे। तटस्थता पाठक के मन में यह भाव पैदा करने में समर्थ होंगे कि भारत का सच्चा स्वरूप समझने के लिए आवश्यक है कि भारत के इतिहास को सही रूप में देखा जाय। उसका मूल्यांकन पूर्ण नष्टतता से किया जाय।

मैं आपको इन पुस्तकों के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूं। आपने इनके प्रकाशन करा जो स्तुत्य प्रयास किया है, वह आपकी अपूर्व क्षमता का दर्शन कराता है। आपका डॉ. ओबराय के प्रति जो समर्पण रहा, वह सर्वथा वंदनीय एवं विस्मित करने वाला है। इस युग में ऐसे शिष्य ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलते।

मैं पुनः पुनः आपके भगीरथ प्रयास को नमन करता हूँ। आप पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न रहें, प्रभु से ही यही मंगलकामना करता हूँ।

अनेकानेक धन्यवाद,

विनीत

सीताराम महर्षि

श्रद्धेय स्वामीजी,

सादर हरि स्मरण।

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र तीनों खण्ड किताब मैंने पढ़ी। आपके प्रयास एवं धैर्य के द्वारा एक अनुपम कृति भारतीय साहित्य ज्ञान भण्डार में जुड़ सकी इसके लिये आपको साधुवाद देते हुए अत्यंत ही हर्ष की अनुभूति होती है। भारतीय दर्शन एवं मनीषियों की जीवनगाथा का जो दिग्दर्शन आपने पूज्यवर के साहित्य से संग्रह किया है वो न केवल धार्मिक चेतना वरन् राष्ट्रीय भावना एवं मानवता को भी एक उत्कृष्ट सोपान पर ले जाने में सक्षम होगा जिसकी आज अत्यंत ही जरूरत है।

आपका प्रयास इस प्रकार ही चलता रहे एवं पल्लवित होता रहे जिससे हम जैसों की प्रेरणा का एक माध्यम बना रहे ऐसी सर्व समर्थ प्रभु से प्रार्थना है। परम पूजनीय श्रीस्वामी ईश्वरानंदगिरिजी एवं परम पूज्य स्वामी संवित् सोमगिरिजी को मेरा शत-शत प्रणाम जिनके आशीर्वाद से ही आप यह कर सकने में सक्षम हुए है।

डॉ. के.के. देवड़ा
पुरुलिया (पश्चिम बंगाल)

आओ! शिष्य बनें

भारत विश्वगुरु था। इसकी परा-अपरा विद्या को प्राप्त करने धरती के कोने-कोने से जिज्ञासु-मुमुक्षु इस पुण्य-भूमि में शिष्य-भाव से आते थे। इसी भूमि से ज्ञान-दीप ले त्यागी-तपस्वी-विद्वान् साधक, आचार्य विदेशों में जाते और ज्ञान-प्रकाश से वहाँ की संस्कृति के अँधियारे को दूर करते थे। इन ज्ञान-वितरकों के प्रेरक ऋषि थे, आत्मज्ञान ही इनका बल था, प्रभुप्रेम ही इनकी गति थी।

कालान्तर में भीषण युद्ध हुए—गृहयुद्ध भी व बाह्य आक्रमण भी। फलतः भारत की क्षात्र-शक्ति निर्बल हुई, बुद्धि-शक्ति अरक्षित हुई, अर्थ-तन्त्र ध्वस्त हुआ, लोक-जीवन दमित व अस्त-व्यस्त हुआ। ऐसे जर्जरित राष्ट्र का परतन्त्र होना स्वाभाविक था। भारत का स्थूल कलेवर पराजित हुआ था, मन व आत्मा नहीं। इसके स्थूल कलेवर में भी स्वातन्त्र्य-रक्त अल्पांश में प्रवाहित होता रहा था। सत्संग-स्वाध्याय, पर्व-परिवार, तीर्थ-तीर्थाटन आदि सांस्कृतिक संस्थानों द्वारा यह भारतीय संस्कृति प्राणन करती रही, मरी नहीं। किन्तु भीषण अत्याचारों के कारण इसका आत्मगीत दिशा-दिशा में मुखरित नहीं हुआ। कुछेक विभूतियों ने आविर्भूत होकर इसके आत्म-दर्शन का उद्घोष किया, किन्तु उसका संचार इसके सर्वांग में न हो सका। दीर्घ परतन्त्रता के पश्चात् प्राप्त तथाकथित स्वतन्त्रता भी दिखावे की सिद्ध हुई। इसकी आत्मा अभी भी मुक्त साँसों के लिये छटपटाती है। इसके पूत अभी भी याचक हैं, उच्छिष्टभोजी हैं, अन्धानुकरण में रत हैं। इस आन्तरिक परतन्त्रता से मुक्त होना ही होगा, क्योंकि इस संस्कृति का स्वधर्म ही आत्मोन्मुखी है, ईश्वरोन्मुखी है। इसके स्वभाव में चारों वर्णों का सामरस्य है। अपने स्वभाव की विरुद्ध दिशा में बहना इसके लिये भयावह है। किन्तु यह अपनी स्वदिशा में गतिमान कैसे हो? कैसे यह अपने विश्वगुरु पद को प्राप्त करे?

यह संस्कृति अपने गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सके—इसके लिये प्रत्येक भारतीय को अपने स्वधर्म को पहचानना होगा। उसको लेकर उसे अपनी संस्कृति से एक लय में रहते हुए स्वकर्म करना होगा। उस स्वकर्म से उसे जगद्गुरु की शिष्यभाव से अर्चना करनी होगी। यों शिष्यभाव की अनगिन धाराएँ मिल कर एक प्रबल पवित्र प्रवाह बनेगा और तब फिर यह संस्कृति विश्वगुरु रूपिणी गंगा होगी, सृष्टि-मूल के गोमुख को पूर्णानन्द उदधि से जोड़ने वाली, मानव मात्र को तारने वाली भागीरथी होगी।

आओ! शिष्य बनें।

स्वात्म-संस्कृति के उन्नयन के लिये भगीरथ-प्रयास करें।

—परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज

सम्पादकीय

जब मैं नवमी-दसवीं और ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ता था तब स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता, मां शारदा, ऋषि अरविन्द घोष, वारीन्द्र घोष, स्वामी रामतीर्थ, रमण महर्षि, लाल-बाल-पाल, मदनमोहन मालवीयजी, वासुदेव बलवन्त फड़के, रासबिहारी बोस, सुभाषचन्द्र बोस, जयप्रकाश नारायण, खुदीराम बोस, प्रफुल्ल चाकी, विनय बादल, दिनेश, बाघा जतिन, रामप्रसाद बिस्मिल, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, दुर्गा भाभी, भाई परमानन्द, शचीन्द्रनाथ बख्शी, डॉ. हेडगेवार, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय, वीर सावरकर, महर्षि दयानन्द, मीराबाई, रविदास, सूर, तुलसी, जगदीशचन्द्र बसु, रानी अहल्या बाई, रानी लक्ष्मीबाई, श्री माँ, कस्तूरबा गांधी, महात्मा गांधी आदि के जीवन व साहित्य से मेरा कुछ-कुछ परिचय हो गया था। प्राय: इन सभी की प्रेरणास्रोत गीता देखकर, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में गीता का अविस्मरणीय अवदान देखकर और वैज्ञानिकों में भी गीता के प्रति श्रद्धा देखकर मेरी भी गीता के प्रति श्रद्धा निर्मित हुई। स्वाधीनता संग्राम की दोनों धाराओं-गरम दल लोकमान्य तिलक आदि एवं नरम दल—गांधी, विनोबा आदि के हाथ में गीता; फिर विप्लवी खुदीराम, रामप्रसाद बिस्मिल, सुभाष बोस के हाथ में गीता; संन्यासी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द घोष के हाथ में गीता; गृहस्थों के हाथ में गीता, उद्योगपति घनश्यामदास बिड़ला के हाथ में गीता, शिक्षक व दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् के हाथ में गीता देखकर गीता के प्रति मेरी भी श्रद्धा उपजी।

जब मैं आई.ए. में था तब मेरी भी भावना बनी कि लोकमान्य तिलक-महात्मा (गांधीजी) की तरह मैं भी गीता के श्लोक कंठस्थ कर लूं ताकि अन्दर-ही-अन्दर जीवनपर्यन्त गीता के श्लोकों पर निरन्तर चिन्तन-मनन, निदिध्यासन चलता रहे।

जब मैं दर्शनशास्त्र में एम.ए. कर रहा था तब एक मैडम गीता पढ़ाती थी। वह अक्सर कहती रहती थी—गीता तो बैलगाड़ी के युग में कही गई, आज तो रॉकेट का युग है। ज्ञान-विज्ञान का युग है। अत: गीता की कोई प्रासंगिकता नहीं रही आज के सन्दर्भ में। इसमें तो केवल पुनरावृत्ति और पुनरावृत्ति मात्र है। गीता

तो विज्ञान से, मनोविज्ञान से, विकासवाद से, मार्क्सवाद से, समाजविज्ञान से खण्डित हो जाती है। मैंने विनम्रता से प्रतिवाद किया और कहा—मैडम! मैं तो यह जानता हूं गीता एक पूर्ण दर्शन है जो न विज्ञान से, न मनोविज्ञान से, न ही मार्क्सवाद से खण्डित होती है। वरन् मण्डित होती है। हां, इनमें जो अपूर्णताएं हैं उसको पूर्णता प्रदान करने की क्षमता, मार्गदर्शन करने की क्षमता गीता में है। आप तो विपरीत बात कह रही हैं। वे इसका उत्तर तो दे नहीं पायी। और यह क्रम कुछ दिनों तक चलता रहा। एक दिन संयोगवशात दर्शन विभाग के प्रमुख संस्कृति विहार के डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी से मिलने आये और उस समय मैं भी वहां उपस्थित था। मैंने अच्छा अवसर समझकर इस विषय को छेड़ दिया...मैडम गीता के विषय में ऐसी-ऐसी टिप्पणियां करती हैं और डॉ. राधाकृष्णन् की किताब से नोट करवाती हैं। डॉ. राधाकृष्णन् की पुस्तक 25 रु. में मिलती है, तो हमारे क्लास करने की क्या आवश्यकता है? डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी ने भी बताया जब उनकी स्वयं की श्रद्धा गीता पर नहीं है तब वह क्या गीता पढ़ाएंगी? तब हेड ने पूछा आप किनसे गीता पढ़ना चाहते हैं। तब मैंने उनसे निवेदन किया डॉ. विद्यार्थीजी (जो रामानुज सम्प्रदाय में निष्ठा रखने वाले, भारतीय दर्शन, गीता व वेदान्त के अधिकारी विद्वान् थे) से। हेड डॉ. रामाशंकर श्रीवास्तवजी को भी यह बात जंच गई और उसी के अनुसार परिवर्तन कर दिया। तब मैडम ने मुझसे क्लास में कहा—आपका जब जन्म भी नहीं हुआ तब से मैं गीता पढ़ रही हूं।

तब से मुझमें और अधिक सम्यक् रूप से गीता का अध्ययन करने की प्रेरणा जगी। मेरे अनुरोध पर डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी की त्रिदिवसीय-व्याख्यानमाला दर्शन विभाग में हुई। तब से मैं प.पू. डॉ. हरवंशलाल ओबराय के सान्निध्य में गीता पढ़ने लगा और उससे सम्बन्धित साहित्य जुटाने लगा।

मेरी तो इच्छा थी गीता के प्रत्येक श्लोक को विधिवत पढ़ूं और आज के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं के सन्दर्भ में भी गीता पढ़ूं। पर डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी की व्यस्तता के कारण बहुत बार प्रयास करने पर भी यह सम्भव नहीं हो सका।

तब से अब तक मेरी यह धारणा है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में गीता जैसा कोई ग्रंथ नहीं है और अवतारी पुरुषों में, महापुरुषों में कृष्ण जैसा कोई व्यक्तित्व नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व इतना अनन्तमुखी है कि यह कहना कठिन है कि वे क्या नहीं थे। योग-योगेश्वर, ज्ञानदाता, सिद्ध, साधक, मित्र, सारथि, सेवक, रक्षक, राष्ट्रनिर्माता, आदर्श कर्मयोगी, आदर्श प्रेमी, आदर्श शासक, सफल राजनीतिज्ञ, शूरशिरोमणि, मानवता के गौरव, लोकनायक, लोकशिक्षक—वे सभी

कुछ तो थे! पिछले 5000 वर्षों की गम्भीर गवेषणा के पश्चात् भी अभी तक उनके बहुरंगी जीवन की अनेकानेक अज्ञात दिशायें खोजनी शेष है।

आचार्य रजनीश कहते हैं विश्वभर में ईश्वर अथवा ईश्वर पुत्रों की जितनी भी परिकल्पनाएं और अवधारणाएं हैं उन सभी में श्रीकृष्ण का स्वरूप सर्वाधिक आह्लादक और आकर्षक है। विदेश-प्रवास के अन्तराल में विभिन्न धर्मावलम्बियों से की गयी बहुविध चर्चाओं में यह तथ्य और भी उभरकर आया कि अब विश्व को ऐसा ईश्वर या मसीहा नहीं चाहिए जो दीन-हीन मुद्रा में क्रॉस पर लटका हो और उसके शरीर पर ठोंकी गयी कीलों से रक्त प्रवाह हो रहा हो—जो आततायियों के सम्मुख बिलकुल लाचार दिख रहा हो और जिसके चेहरे पर अन्याय और अत्याचार से लड़ने का संकल्प रत्ती भर भी नहीं झलक रहा हो। इसके विपरीत विश्व को अब श्रीकृष्ण सरीखा ऐसा ईश्वर चाहिए जो शील और सौन्दर्य से समन्वित होने के साथ ही सर्वशक्तिमान भी हो—हर कदम पर अन्यायियों और अत्याचारियों से डटकर मुकाबला करने के लिए हमें प्रेरित कर रहा हो तथा जीवन को समग्रता में जीने का मंत्र दे रहा हो। अब हमें ऐसा ईश्वर चाहिए जो उदासी और मनहूसियत फैलाने के स्थान पर नाच-गाकर और बांसुरी बजाकर जीवन के क्षण-क्षण में आनन्द और उल्लास का संचार कर रहा हो और ईश्वर का यह स्वरूप कृष्ण के स्वरूप से भिन्न नहीं है। श्रीकृष्ण के इसी आनन्दमय रूप को मथुरा-वृन्दावन में निहारकर मुसलिम कवयित्री ताज के कण्ठ से कदाचित अनायास ये पक्तियां निकल गयी थी—

नन्द के कुमार! कुरबान तेरी सूरत पे,
हों तो मुगलानी, हिन्दुवानी है रहूंगी मैं।

ईसा के विषय में जो यह कहा जाता है वे इतने महान है, मरते वक्त भी सभी को क्षमादान करते हैं। 'पिता उन्हें क्षमा करो, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या करते हैं (ल्यूक 23/34 तथा व्यभिचारिणी स्त्री की कहानी (जान 8/3-11) क्षेपक अंश है। बाइबिल की प्रारम्भिक पाण्डुलिपियों में यह अंश नहीं पाए जाते।

इसके विपरीत जब ईसा को अपनी सूली ढोनी पड़ रही थी, उन्हें अपार वेदना हो रही थी और जब जीसस को गोलगाथा की पहाड़ी पर उनके कंधे पर वजनी सूली को लेकर चढ़ाया गया तो तीन बार रास्ते में गिरे, इस अपार वेदना से कराहते हुए कह उठते हैं—हे God! तुमने भी कष्ट के समय साथ छोड़ दिया। जब उनके हाथ-पैर में कीलें ठोंक दिये। उन्हें प्यास लगी है वे कहते हैं कि मुझे प्यास लगी है, कोई पानी दे दो। उन्हें किसी ने पानी नहीं दिया। वरन् लोगों ने पत्थर फेंके, सड़े छिलके फेंके, गालियां दी, अपमान किया, भाले चुभो-चुभो कर लोगों ने पूछा क्या हुआ तुम्हारे चमत्कारों का? क्या हुआ तुम्हारे परमात्मा का?

तुम कहते थे कि तुम ईश्वर के बेटे हो, अब कहां है तुम्हारा पिता? वह आये और प्रमाण दे। H.G. Wells प्रश्न उठाते हैं God ने अपने पुत्र का ही साथ छोड़ दिया तो उनके शिष्यों का क्या होगा?

ईसा मसीह या इसलाम के पैगम्बर के सौम्य रूप की चर्चा प्रायः कहीं नहीं है। ईसा मसीह का सर्वाधिक प्रसिद्ध चित्र वही है, जिसमें वे रक्तरंजित अवस्था में सूली पर लटके हैं। इसलाम के पैगम्बर का जीवन युद्धों में ही बीता। इसलिए मुसलमान चाहे वे जिस देश में हों, किसी न किसी से लड़ रहे हैं। दूसरे नहीं मिलते तो आपस में ही लड़ते हैं।

गत 2000 साल का अनुभव बताता है कि किसी नगर, गाँव या कबीले पर कब्जे के लिए हुआ आपसी संघर्ष या मृत्युदण्ड पाये, सलीब पर लटके ईसामसीह किसी को सत्य, अहिंसा और प्रेम की शिक्षा नहीं दे सकते। इसलिए इन दोनों मजहबों के अनुयायी अपने जन्मकाल से ही दुनिया के अधिकाधिक जन, धन, भूमि और अन्य धर्मों पर कब्जा करने के लिए लड़ रहे हैं। विश्व में अशान्ति का यही कारण है।

एक पारसी विद्वान् प्रो. फीरोज कावसजी दावर भगवान् कृष्ण की महात्मा ईसा से तुलना करते हुए लिखते हैं—'महात्मा ईसा इतिहास के उन बहुमूल्य रत्नों में से हैं जिनके लिए हम लोगों की सदा आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग करने की इच्छा होती है, परन्तु क्या वे रणभूमि में जाकर युद्ध कर सकते थे या राजदूत का कार्य कर सकते थे? हमारी यह धारणा है कि समस्त संसार के इतिहास में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसका कार्य क्षेत्र इतना अधिक व्यापक रहा हो जितना श्रीकृष्ण का था। उन्होंने अपने कीर्तिमय जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जो-जो लोकोत्तर कार्य किए वे गत पांच सहस्र वर्षों से अटक से लेकर कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक ही नहीं, प्रत्युत सारे जगत् के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में गाए जाते हैं।

वे पुनः आगे लिखते हैं—बालक, विद्यार्थी, मित्र, योद्धा, शासक, राजदूत, तत्त्वदर्शी, योगेश्वर, सिद्ध पुरुष तथा ईश्वर के पूर्णावतार आदि सारे ही रूपों में उनके जीवन की अद्वितीय महानता दृष्टिगोचर होती है। किसी कवि का कथन है कि कीर्तिमय जीवन की कार्य संकुल एक घड़ी भी कीर्ति रहित जीवन के युग से भी श्रेष्ठ है, फिर श्रीकृष्ण ने तो एक सौ पचीस वर्ष की लम्बी एवं पूर्ण आयु प्राप्त की और प्रत्येक घंटे में उन्होंने ऐसे-ऐसे कार्य किये जिनसे उनका नाम तथा यश सदा के लिए अमर हो गया।

आज राष्ट्र जाने-अनजाने में जिन समस्याओं से घिर गया है उससे उबारने की क्षमता यदि किसी ग्रंथ में है तो वह भगवद्गीता है और किसी अवतारी

महापुरुषों में है तो भगवान् श्रीकृष्ण में है। आज सारा विश्व जिन समस्याओं से जूझ रहा है उसे मार्ग दिखाने की क्षमता किसी में है तो वह भगवद्गीता है। ऐसे भी गीता का और भगवान् कृष्ण का अवतरण राष्ट्र की रक्षा के लिए, विश्व की रक्षा के लिए हुआ है। मानव मन को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए हुआ है। पूर्णता की ओर, आनन्द की ओर ले जाने के लिए हुआ है।

हमारा राष्ट्रीय आदर्श वसुधैव कुटुम्बकम् है। हमने सारे विश्व को एक बाजार या उपनिवेश या साम्राज्य नहीं एक परिवार माना क्योंकि हम सब एक ही ईश्वर की अमृत संतान हैं। परिवार बड़ा हो जाने पर जब विभिन्न कारणों से विभिन्न भूखण्डों में वास करता है, तब शरीर से तो दूर होते हैं पर मन एवं हृदय से तब निकट होते हैं। इसलिए हमारे ऋषि कहते हैं—'स्व देशो भुवनत्रयम्'। तीनों ही देश-लोक हमारे अपने हैं।

भारत अग्रजन्मा होने से, 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' होने से, वेद भगवान् ने आदेश दिया—कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। सारे संसार को श्रेष्ठ, गुणवान, संस्कृत बनाओ। बड़े भाई का स्वयं के सुशिक्षित, सज्जन, संस्कारी बनने से काम नहीं चलेगा। उसे अपनी सज्जनता की रक्षा के लिए भी पास-पड़ोस, दूर के, सभी को संस्कारित करना, सुशिक्षित करना उसका दायित्व है और छोटे भाइयों का कर्तव्य है अपने गुरुजनों से, पूज्यजनों से, गुणीजनों से, वृद्धजनों से अपने-अपने कर्तव्य की, आचरण की शिक्षा प्राप्त करे। इसलिए भगवान् मनु विश्ववासियों को आदेश देते हैं—अपने-अपने कर्तव्य की शिक्षा, आचरण की शिक्षा भारत से ग्रहण करें। यह पौराणिक नहीं ऐतिहासिक तथ्य है। भारत ने सदा विश्वमंगल की साधना निःस्वार्थ भाव से, अपनी श्रेष्ठताओं का यथा—धर्म-दर्शन, सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का दान बिना किसी देश की स्वाधीनता को छीने, बिना उसके अर्थतंत्र पर डाका डाले, बिना माँ-बहनों के शील पर आघात किए अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा बिना किसी का और अपना अहित किए की। विश्ववासियों ने भी भारत से शिक्षा व संस्कार ग्रहण कर अपने को कृत-कृत्य, धन्य-धन्य माना।

हमारे ऋषि आदर्शवादी तो थे ही, यथार्थवादी, व्यावहारिक भी थे। वे शांतिकामी, मोक्षकामी थे—ॐ द्यौः शान्ति-रन्तरिक्ष (गं्) शान्तिः पृथिवी शान्ति-रापः शान्ति-रोषधयः शान्तिः, वनस्पतयः शान्तिर्-विश्वेदेवाः शान्तिर्-ब्रह्म शान्तिः सर्व (गं्) शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

अतः हमने सदैव विश्व मंगल की साधना की। भगवान् गीता के 16वें अध्याय में कहते हैं सृष्टि के प्रारम्भ से ही दो प्रकार की सृष्टि है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। 16/6

इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है। दैवी प्रकृति के लोगों पर ही प्रेम और विवेक का शासन कारगर होता है। पर जो आसुरी प्रकृति के हैं—वे तमोगुणी होते हैं एवं उनका मस्तिष्क विकृत और हृदय शुष्क होता है, वे कठोर दण्ड की भाषा ही समझते हैं। प्रेम, विवेक, उदारता को वे दुर्बलता समझते हैं। उनकी भावना होती है सारा संसार उनके सुखोपभोग के लिए है, अन्यों का तो दायित्व उनके मनोनुकूल उनकी सेवा व जीवन समर्पित करना है। इन्हें दण्ड के द्वारा ही वश में, संयम में रखा जा सकता है। इसलिए हमारे ऋषि शांतिकामी, मोक्षकामी के साथ-साथ मन्यु के (क्रोध के, दण्ड के) उपासक भी थे, इसलिए वेद में सैकड़ों शांति मंत्र के साथ मन्यु के, दण्ड के मंत्र भी गुंजायमान हैं। इसलिए हमने शास्त्र के साथ-साथ शस्त्र को भी महत्त्व दिया। शास्त्र के द्वारा हम अपने अन्तःशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर आत्मबोध, स्वरूपबोध प्राप्त करते हैं और शस्त्र द्वारा हम बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर समाज में सुख-शांति, अभय का वातावरण निर्माण करते हैं। स्पष्ट है शास्त्र द्वारा दैवी सम्पदा का अर्जन कर आत्मबोध प्राप्त करें और शस्त्र द्वारा आसुरी शक्तियों का दमन कर उन्हें अपने वश में रखें। ऐसे ही समाज में ज्ञान-विज्ञान का, सभ्यता-संस्कृति का, कला-कौशल व वाणिज्य के विकास का पूरा अवसर मिलता है। अतः ब्रह्मतेज के साथ-साथ क्षात्रतेज को भी समान महत्त्व देते थे। उनमें शील और शक्ति का समन्वय था। हमारे जितने भी देव विग्रह, देवी विग्रह हैं वे जहां अपने भक्तों की कामना के अनुसार एक हाथ से अभय, सुख-समृद्धि, मोक्ष देते हैं, वहीं दूसरे हाथ में शस्त्र धारण किए दुष्टों का दण्ड के द्वारा दलन करते हैं, अपने वश में रखते हैं। हमने किसी पर आघात नहीं किया, पर हम पर किसी ने आघात किया तो उसको बख्शा भी नहीं।

जब रावण ने हमारी संस्कृति पर, हमारे ऋषि-मुनियों पर, हमारी नारी का अपमान किया तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने उसे कुल-कुटुम्ब सहित उखाड़ कर फेंक दिया। जिस रावण के विषय में कहा जाता है—

इक लख पूत, सवा लख नाती,
तिस रावण को, दीया न बाती।

इन्द्रपुत्र जयन्त असुरपना दिखाते हुए सीता माता के प्रति अपराध करता है, भगवान् राम उसे भी बख्शते नहीं। यहाँ तक कि उनके पिता इन्द्र ने भी शरण नहीं दी और उसे दण्ड के साथ प्रायश्चित्त करना पड़ा। हमने व्यापक मानव-कल्याण के लिए समुद्र मंथन के समय आसुरी शक्ति का सहयोग तो लिया, पर उसका पोषण कभी नहीं किया। उनको अमृत पीने नहीं दिया। छल से राहु-केतु ने अमृत पी लिया तो तुरत उनका शिरोच्छेद कर दिया। उन्हें बली होने नहीं दिया, अपने वश में रखा।

सुन्दरलाल ने 'भारत में अंग्रेजी साम्राज्य' पुस्तक लिखी। जिसमें वे बताते हैं कि सिकन्दर के पूर्व भारत पर दो ही आक्रमण हुए। पहले आक्रमण में कोई भी जीवित वापस नहीं लौट सका। दूसरे आक्रमण में केवल सात लोग अपनी पराजय गाथा सुनाने वापस लौट सके।

सिकन्दर के आक्रमण के समय सारा ब्राह्मण समाज सिकन्दर के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और क्षत्रिय राजाओं को अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ किया। इसलिए सिकन्दर ने ब्राह्मण समाज पर कुपित होकर उनका शिरोच्छेद किया। ब्राह्मणों की एक ही सीख थी स्वाभिमान के साथ जीओ और स्वाभिमान के साथ मृत्यु का वरण करो। यही स्वतंत्रता, स्वराज्य की कीमत है। यही कारण है कि सिकन्दर को भारत के द्वार से ही लौटना पड़ा। सैल्यूकस ने आक्रमण की भूल की तो अपनी पुत्री सहित दहेज में चार प्रान्त देने पड़े।

शक, हूण, कुषाणों को प्रारम्भ में थोड़ी सफलता मिली, पर वे शीघ्र ही देश से निष्कासित कर दिये गये और जो बचे वे हममें ही रच-पच और खप गए। उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। वे हमारे साथ एकमेक हो गए।

पर काल का प्रवाह एक-सा नहीं रहता। उसमें उत्थान-पतन के दौर आते रहते हैं जिसमें हम श्रेष्ठ वस्तुओं, परम्पराओं के रहते हुए भी जड़ता में चले जाते हैं। वेद हमारा आधार है जिस पर हमारी सारी संस्कृति टिकी हुई है। उसको लेकर भी हम जब जड़ता में चले गए तो उससे उबारने के लिए भगवान् बुद्ध आते हैं। व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवादों से हटाकर समाज में व्यापक नैतिक जागरण का आन्दोलन चलाते हैं और जब तक बौद्ध धर्म अपने मातृधर्म वेद के प्रति श्रद्धा रखे रहा, उससे पोषण पाता रहा, दोनों देश-विदेश में साथ-साथ बढ़ते रहे। पर कालान्तर में काल के प्रवाह से बौद्धों में विकृति आ गई, वे अपने मातृधर्म से ईर्ष्या करने लगे और वैदिकों को पराजित करने के लिए राष्ट्रद्रोह का आश्रय लेने लगे। तब हम देखते हैं कि आद्य शंकराचार्य का आविर्भाव होता है। उन्होंने बुद्ध को भगवान् विष्णु का, करुणा का अवतार स्वीकार किया, पर बौद्धों को स्वीकार नहीं किया। उन्हें पुनः अपने मातृ वैदिकधर्म में समाविष्ट कर लिया। विश्व के विद्वानों को आश्चर्य होता है, अहिंसा के लिए, बौद्ध दर्शन के लिए सबसे उपयुक्त भूमि भारत में ही बौद्ध नामशेष हो गए और विश्व में बढ़ते रहे। इस प्रकार शंकराचार्यजी ने धर्म के नाम पर मातृधर्म से, वेद से, राष्ट्र से उनके द्रोह को सहन नहीं किया। प्रश्रय और संरक्षण नहीं दिया।

फिर हम देखते हैं बौद्ध एवं जैन धारा के सम्पर्क में आकर हमारा क्षात्रतेज दुर्बल हुआ। जैन धारा के भगवान् महावीर और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध दोनों ही क्षत्रिय वंशी राजा होने से क्षत्रिय राजा और क्षत्रिय उनकी अहिंसा से

प्रभावित होकर क्षत्रिय से वैश्य बन गए। इससे क्षात्रतेज दुर्बल हुआ और विदेशी आक्रान्ताओं का देश पर आक्रमण करने का साहस हुआ। कालान्तर में पुनः हम देखते हैं काल के प्रवाह से पृथ्वीराज के समय हम धर्माभास के शिकार होकर 'विनाशाय च दुष्कृताम्' को भूलकर राष्ट्र के शत्रुओं को क्षमादान करने लगे। व्यक्तिगत अपराधी को तो क्षमा किया जा सकता है, पर राष्ट्र के अपराधी को कभी नहीं और वह भी 17-17 बार....भूल की, धर्माभास की पराकाष्ठा है। जयचन्द्र ने 'वयं पञ्चाधिकशतम्' को भुलाकर मुहम्मद गोरी का साथ देकर स्वयं के लिए और देश के लिए पतन और पराधीनता के द्वार खोल दिए। यथार्थ व्यावहारिकता के अभाव में सद्गुण विकृति के शिकार हुए। तब से हम आज तक धर्माभास के शिकार हैं।

धर्माभास के शिकार भ्रान्त हिन्दू समाज को अंग्रेजों ने और भी दुर्बल एवं भ्रान्त किया। हमारी सारी शिक्षा व्यवस्था और अन्य सारी व्यवस्थाओं को अपने स्वार्थ के अनुकूल ढालकर हमारे मानस को, हमारी रुचि को ही बदल दिया और हमारे ब्रह्मतेज को भी नष्ट कर दिया और देशी राजाओं की सुरक्षा व्यवस्था, सैन्यबल अपने हाथ में लेकर क्षात्रतेज को निस्तेज, निर्वीर्य करने का प्रयास किया। हमारे व्यापार-वाणिज्य, कला-कौशल को नष्ट-भ्रष्ट कर हमें वैश्य कर्म से भी च्युत करने का प्रयास किया।

फिर गांधीजी ने अहिंसा पर अतिरेक बल देकर इस देश के राष्ट्रीय हिन्दू समाज को जाने-अनजाने और निस्तेज किया। मुसलमानों की उद्दण्डता की अनदेखी कर उनको और अधिक हिंसा परायण होने, संगठित होने का अवसर दिया न उनके मनोभाव को, मनोविज्ञान को, महत्त्वाकांक्षा को समझने का प्रयास किया और न देश विभाजन के मूल कारणों को जानने का प्रयास किया। और उनकी उद्दण्डता और हिंसा से डरकर देश विभाजन को स्वीकार कर लिया। एक मां के दो पुत्रों में सम्पत्ति का विभाजन होता है। स्वयं मां का नहीं। भारत भूमि किसी की सम्पत्ति नहीं है या थी। इसको देश के वासियों ने हमेशा अपनी माता के रूप में पूजा है, वंदना की है। माता का विभाजन न कभी हुआ है न कभी स्वीकार्य होगा। गांधीजी ने स्वयं भी कहा था कि भारत का विभाजन मेरी लाश पर होगा। किन्तु यह समझ से परे है कि अन्ततः उन्होंने भारत विभाजन कैसे स्वीकार लिया।

हिन्दू और मुसलमान इन दो सम्प्रदायों को ही भारत भूमि का मालिक गांधीजी ने कैसे मान लिया। हिन्दू हजारों-लाखों वर्षों से इस भूमि पर रहते आये हैं। हमेशा उन्होंने 'जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी' माना है। सनातन धर्म जिसके हिन्दू अनुयायी हैं इस धरती मां की उपज हैं अतः इस भूमि पर पुत्र होने का अधिकार केवल उन्हें ही प्राप्त है। मुसलमान इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं जिसकी

न तो उत्पत्ति इस भूमि से हुई और न ही इस भूमि से उसका दूर-दूर का कोई सम्बन्ध है, तो फिर हिन्दू और मुसलमान को एक तराजू में तोलना न केवल विराट विसंगति है अपितु एक अपराध भी है। गांधीजी ने जाने-अनजाने यह अपराध किया है। जब मुसलमान इस भारत भूमि को भोग भूमि, शत्रु भूमि, नापाक भूमि मानते है। जिन्होंने इस देश (मातृभूमि) को कभी मां के रूप में स्वीकार ही नहीं किया और न ही मां मानकर किसी कर्तव्य को निभाया, ऐसी स्थिति में उनका देश पर कैसा अधिकार? तब फिर विभाजन कैसा? उन्हें भी अंग्रेजों की तरह निकाल बाहर किया जाना चाहिए था। जो यह दलील दी जाती थी बंटवारे के बाद दोनों भाई शान्ति से रहेंगे यह पूरी तौर पर असफल सिद्ध हुई। क्योंकि घृणा एवं द्वेष की नींव पर निर्मित राष्ट्र में कभी शान्ति स्थापित हो नहीं सकती। इतिहास साक्षी है वह अपने जन्मलग्न से अशान्त है और भारत पर निरन्तर युद्ध, षड्यंत्र, आतंक थोप रहा है। अतः जिस हिंसा के भय से विभाजन स्वीकारा उस हिंसा से भी बचे नहीं। क्योंकि हमारे युद्ध-हिंसा को अस्वीकार कर देने से दुष्टों का, शत्रुओं का स्वभाव नहीं बदल जाता। इसलिए वीरता के स्थान पर हमने कायरता का रक्त दिया। यदि वीरता का रक्त देते तो देश का विभाजन रुक जाता। जो लाखों हिन्दू मारे गए, वे स्वाभिमान के साथ जीवित रहते, लाखों हिन्दू ललनाओं की इज्जत लूटी गई पांच हजार हिन्दू स्त्रियों को नग्न कर जुलुस निकाला गया और नारे लगे हँस के लिया पाकिस्तान लड़कर लेगे हिन्दुस्तान। यह संभव नहीं होता और भारत अखंड रहता। न पाकिस्तान का कश्मीर पर आक्रमण होता न कश्मीर की समस्या जन्म लेती और न चीन का साहस होता तिब्बत को हड़पने का, हम पर आक्रमण करने का। न भारत और नेपाल में माओवादियों का संकट खड़ा होता। न इस्लामी आतंकवाद का संकट देश में खड़ा होता न तमिल चीतों का आतंक श्रीलंका में खड़ा होता और भारत एक अखंड शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विश्व में अपनी प्रभावी भूमिका निभाता।

पर हमने देश विभाजन भी स्वीकार कर लिया। जिस घाव के ऑपरेशन के लिए देश का विभाजन स्वीकारा उस घाव को भी रख लिया। देश-विभाजन के पश्चात् मुसलमानों का इस देश में रहने का कौन-सा नैतिक अधिकार बचता था? पर हमने नैतिक अधिकार ही नहीं संविधान के द्वारा विशेष-विशेष सुविधा और संरक्षण प्रदान किया। प्रश्न है अल्पसंख्यक के नाम पर विशेष सुविधाएं दी जाएगी तो वह उनको छोड़कर देश के साथ क्यों एकात्म होगा। द्विराष्ट्र के आधार पर देश का विभाजन हुआ। जब देश विभाजित हो गया। अब विभाजित भारत में एक राष्ट्र ही शेष बचा। और जो मुसलमान इस देश में रह गए अब एक राष्ट्र मानकर ही रहे, भारतीयता को स्वीकार करके ही रहे। केवल देश में जन्म ले लेने से, वास करने मात्र से कोई देश का नागरिक नहीं बन जाता। जो भारत में रहे पर भारतीयता

को अस्वीकारे वह भारत का नागरिक कैसे हो सकता है? उपासना पद्धति भले भिन्न हो, पर राष्ट्रीयता, संस्कृति, पूर्वज, इतिहास एक है। अतः देश विभाजन के पश्चात् अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का विभाजन करना, और अल्पसंख्यक के नाम पर विशेष सुविधा देने का कोई अर्थ नहीं रह गया था। पर देश की विडम्बना है मुसलमानों को अल्पसंख्यक मानकर उन्हें विशेष सुविधा और संरक्षण दिया गया। इसका विरोध स्वयं गांधीजी की शिष्या रैहाना तैय्यब ने गांधीजी को पत्र लिखकर किया—बापू! आप अगर मुसलमानों को वफादार बनाना चाहते हैं तो बाकी शेष हिन्दुस्तानियों से कोई फर्क नहीं करना चाहिए। बापू, मुसलमानों पर यह अन्याय है कि उन्हें अपना दुराग्रह छोड़ने का कोई मौका नहीं देते। और उनकी अनुचित मांगों को पूरी करके उनमें एक कृत्रिम अलगाव पैदा कर देते हैं। इसका प्रमाण स्वयं मेरा अपना खानदान है। आप लोग मुसलमानों से इतने अलग रहे हैं कि आपको उनके मानस की बिलकुल खबर नहीं है। यही कारण है कि पाकिस्तान बन गया और मुझे यकीन है कि अगर आपने नागरी के साथ उर्दू को भी राष्ट्रलिपि बना दिया तो आप हिन्दुस्तान के भीतर एक दूसरा पाकिस्तान खड़ा कर देंगे....वह कहती है मेरी विनती है खुदा के लिए आप मुसलमानों को अपने ही मुल्क में परदेशियों की तरह रहने के लिए बाध्य मत कीजिए। वे तो यही चाहते हैं आप ब्रिटेन और पाकिस्तान का खेल खेलते रहे और मुसलमान हर जगह बाजियां जीतते रहे। बापू मैं बहुत घबराई हुई हूं क्योंकि मैं मुसलमान समाज से वाकिफ (परिचित) हूं। उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को मैं जानती हूं भले ही आप जानने या मानने से इनकार करें।

हमीद दलवाई ने अपनी पुस्तक Muslim Politics in Secular India में लिखा है—मुसलमान, जो उन पर अत्याचार हो रहा है ऐसा नारा लगाते हैं। उनमें से बहुतों से मिला कि आप पर कौन-सा अत्याचार होता है, चूंकि हमीद दलवाई मुसलमान थे अतः स्पष्ट रूप से बताया कि हिन्दुओं का बहुसंख्यक होना ही मुसलमानों पर, इस्लाम पर सबसे बड़ा अत्याचार है जिसके कारण देश का इतना बड़ा हिस्सा मुस्लिम राष्ट्र नहीं बन सका। जब तक हिन्दू समाज बहुसंख्यक रहेगा, तब तक हम इस देश को मुस्लिम राष्ट्र नहीं बना सकते। यही हम पर, इस्लाम पर सबसे बड़ा अत्याचार है।

कांग्रेस में मौलाना अब्बुल कलाम आजाद जो राष्ट्रीय मुसलमान समझे जाते थे उनकी स्थिति के विषय में Muslim Politics in Secular India में हमीद दलवाई स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जिन्ना एक हिस्से में इस्लाम स्थापित कर वहां से सारे देश को धीरे-धीरे ग्रसना चाहते थे और मौलाना अब्बुल कलाम एक बार में सारे देश को इस्लाम में लाना चाहते थे। यही दोनों में अन्तर था। मौलाना अब्बुल कलाम ने जो मुसलमान पाकिस्तान जाना चाहते थे उन्हें रोका,

और समझाया कि यहां के मुसलमानों की स्थिति दुर्बल न करें, आपको यहां बैठे-बैठे ही इसी भारत देश में आपको पाकिस्तान मिल जाएगा। डॉ. अम्बेडकर कहते अन्य पार्टियों में जो मुसलमान हैं वे अपने हित में अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त करने के लिए चौकियों के तुल्य है। कश्मीर तो एक बहाना है इन्हें पूरा हिन्दुस्तान चाहिए। पर दुर्भाग्य से हमारे राजनेता इन तथ्यों को स्वीकारना नहीं चाहते। पर इसे अस्वीकारने से, इससे मुंह छिपा लेने से समस्या समाप्त नहीं होती वरन् और-और उलझती जाती है। यही कारण है कि मुसलमानों की सुविधाओं एवं आरक्षण की मांग और उनके उत्पात निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं और हमारे राजनेता उन्हें अपना वोट बैंक कैसे बनाये रखें इसकी होड़ में लगे हुए हैं।

गांधीजी की तुष्टीकरण की नीति को नेहरूजी ने और व्यापक रूप से लागू किया। जो मुस्लिम लीग देश विभाजन के पाप के कारण मुंह छिपाये हुए थी, उसको नेहरूजी ने पुनर्जीवित किया और वे अपराध पर अपराध करते रहे पर नेहरू ने सदा छाती से लगाए रखा और माफ करते रहे। चीन के आक्रमण एवं भारत भूमि पर कब्जा कर लेने पर—नेहरू वहां तो घास का तिनका भी नहीं उगता, कहते रहे। नेहरूजी की इस उक्ति के विरोध में लोकसभा सदस्य भाई महावीर का प्रत्युत्तर अत्यन्त समीचीन है—उन्होंने कहा कि आपके सर पर कोई बाल नहीं है तो क्या इस पर भी कोई जबरन दखल कर ले तो आपको कोई आपत्ति नहीं होगी? ऐसे नेता जो देश को सदा लुटाते रहे, पिटवाते रहे। हमने मृत्युपर्यन्त ऐसे नेताओं को अपनी छाती से चिपकाए रखा। इसका ही परिणाम है कि आज देश अंतः-बाह्य आतंक से घिर गया है। पुनः देश में विभाजन से बदतर स्थिति निर्मित हो गई है। मुस्लिम व ईसाई तुष्टीकरण ने पंजाब के आतंकवादियों को शह दी, और आज खालिस्तान की मांग के रूप में उपस्थित है। ऐसे ही क्रिश्चियन स्थान नागालैण्ड, मिजोरम, बोरोलैण्ड, कुकीस्थान आदि की मांग के रूप में उपस्थित है। यहां तक कि अवतारी ऋषभदेव के अनुयायी जो अपने आपको जैन कहते हैं। अल्पसंख्यक का दर्जा चाहने लगे हैं। रामकृष्ण परमहंसदेव एवं उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी ने हिन्दुत्व की रक्षा के लिए जितना कार्य किया है शायद ही अन्य किसी महापुरुष ने इतना कार्य किया हो तथापि उनके मस्तिष्क में भी यह दूषित मानसिकता प्रवेश कर गयी है और सुप्रीम कोर्ट में उन्होंने खुले आम अपने आपको हिन्दुओं से अलग एक विशेष अल्पसंख्यक सम्प्रदाय की मान्यता की मांग की थी। सौभाग्यवश सुप्रीम कोर्ट ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया। आज भी महात्मा गांधी के तथाकथित ये अनुयायी इस विष वृक्ष को सिंचित कर रहे हैं, उसे पनपने का अवसर प्रदान कर रहे हैं, हर प्रकार से सहयोग कर रहे हैं वही दूषित मानसिकता भारत एक भूमि है यह न किसी का पावन तीर्थ है न किसी की माता है। उनके दिमाग में, उनके मस्तिष्क में संचारित है। भारत के महान् अद्वितीय भक्त

ऋषि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की अमर वंदना वंदेमातरम् का भी विरोध करने में उनको कोई संकोच नहीं होता।

हमारे आदर्श अप्रिय सत्य को भी उच्चारित करने की आज्ञा नहीं देते। किन्तु जब अप्रिय सत्य नहीं कहने से हमारी देवस्वरूपा भारत मां के अंगछेदन का वातावरण बनता हो तो ऐसे अप्रिय शब्द बोलने में किसी प्रकार का संकोच करने के प्रो. ओबरायजी विरोधी थे।

एकतरफा अहिंसा के प्रचार से हिन्दू समाज निस्तेज हो गया। आज वह मरना, बलिदान देना भूल गया है। जो जाति मरना भूल जाती है वह अपने आदर्श और अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकती। आज हिन्दू व्यक्ति और परिवार के नाते जी रहा है, राजनीतिक बेहोशी में जी रहा है, राष्ट्र के नाते नहीं। किन्तु जिसका राष्ट्र सुरक्षित नहीं है उसका परिवार और पेट छिन जाता है और वह रोम, मिस्र, बेबीलोन की कहानी दुहराता है। इतिहास साक्षी है जहां-जहां हिन्दू घटा, वह देश नहीं रहकर विदेश बन गया। यथा—अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बांग्लादेश बन गया। वहां न उनका पेट, परिवार, न उपासना पद्धति, न देव विग्रह, न मातायें—कोई सुरक्षित नहीं है। कश्मीर घाटी से हिन्दू निष्कासित कर दिए गए। यही स्थिति ईसाई बहुल प्रदेशों में है। आज दुर्भाग्य से साम, दाम, दंड, भेद का प्रयोग हिन्दू समाज को और अधिक तोड़ने, विघटित करने में हो रहा है जबकि इसका प्रयोग शत्रुओं पर किया जाता है। यही कारण है स्वाधीनता के बाद भी मुसलमान एवं ईसाई आक्रमक बने हुए है और हिन्दुओं को अपने आदर्श एवं अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने ही स्वाधीन देश में रक्षात्मक लड़ाई लड़नी पड़ रही है। हिन्दू समाज बार-बार सरकार से गुहार लगा रहे हैं वे दोहरे मानदंड नहीं अपनावे। पर सरकार निरन्तर अनसुना करती जा रही है। आज हिन्दुओं के अपने ही एकमात्र देश में हिन्दू होना मानो एक अपराध जैसा हो गया है। यह विचित्र हास्यास्पद स्थिति है सारे विश्व के सामने। अतः यदि हम स्वाभिमान के साथ राष्ट्र को जीवित रखना चाहते हैं तो प्राणों का मोह छोड़कर अपने प्राण विसर्जन के लिए तत्पर रहना होगा। सुभाष बोस के शब्दों में—तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा—इस भाव को अपने जीवन में लाना होगा। 1200 वर्षों से अवरुद्ध 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कार्य को हाथ में लेना होगा। भगवान् राम, कृष्ण, आद्य शंकराचार्य की दृष्टि को पुनः अपनाना होगा। तब फिर आपकी ओर बुरी दृष्टि डालने की कोई हिम्मत, स्वप्न में नहीं कर सकेगा। जैसा कि प्राचीन भारत में पाते हैं। इसके लिए वीरता का खून देना होगा। नहीं तो कायरता का खून भी देंगे और परतंत्रता को भी भोगेंगे। जैसा कि मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल में हुआ। इनके पक्ष में अपना रक्त देकर अपने को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ेंगे। उसे स्थिर करेंगे। खून तो देना पड़ेगा चाहे वीरता का खून देकर

स्वाभिमान के साथ जीएं या कायरता का खून देकर अपने अस्तित्व को शत्रु के हवाले कर देवें। आज हमारे सत्संग, कथा-प्रवचन सब राजनीतिक बेहोशी एवं देश के कर्तव्य के प्रति उदासीनता उत्पन्न कर रहे हैं। देश लुटता रहे, पिटता रहे। प्रायः सभी कथावाचक और श्रोता, सब मूकदर्शक बने हुए हैं। माँ दुर्गा की, माँ काली की, शक्ति की उपासना हो रही है जिसमें मुख्यतः असुरों के संहार की कथा है और देश आतंक और शत्रुओं से घिर रहा है, राम-कृष्ण की उपासना कर रहे हैं जिन्होंने जीवनपर्यन्त, पूरे अवतारकाल में संघर्ष ही संघर्ष किया। शत्रुओं का दमन किया। और हम उनके अनुयायी शत्रुओं से घिरते जा रहे हैं। परिवार के प्रति, माता-पिता के प्रति कर्तव्यबुद्धि की चर्चा है पर राष्ट्र के प्रति कर्तव्य की कोई चर्चा नहीं।

राष्ट्र के प्रति कर्तव्य निभाए बिना शास्त्र चर्चा, धर्म चर्चा, उपासना, देव-विग्रह, मां-बहनों का शील, ब्रह्मज्ञानी गुरुओं का जीवन आदि कुछ भी सुरक्षित नहीं रहता। शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र चिंतन हो सकता है। बिना शस्त्र के शास्त्र रोते हैं। विश्व की तीन अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियां विश्व के मानचित्र से भारत के अस्तित्व को ही सदा-सदा के लिए मिटा देना चाहती हैं और हममें से बहुत से वोट डालने का भी कष्ट नहीं उठाना चाहते हैं, तो हमें नागरिक सुविधा भी नहीं लेनी चाहिए। पर हमें नागरिक सुविधा तो चाहिए। हमें देश की नागरिकता, भोजन, वस्त्र-आवास व्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा, यातायात की सुविधा, पर्व-त्योहार मनाने की सुविधा, सरकारी नौकरी आदि सारी सुविधाएं तो चाहिए। हमारे वोट नहीं डालने का लाभ तीनों अराष्ट्रीय शक्तियों मुसलमान, ईसाई व कम्युनिस्टों को मिलता है। और वे सरकार बनाने में निर्णायक बन जाते हैं, इस पर हम विचार नहीं करते। आज हिन्दुओं की स्थिति यह है नीचे प्रारब्ध ऊपर परमात्मा की इच्छा के नाम पर सारे अन्याय-अत्याचार सह लेंगे। न उसका विरोध, न प्रतिकार करेंगे और न उसका प्रतिशोध लेंगे। अपने परिवार को स्थापित करने में, स्वयं की, बेटे-बेटी की शिक्षा, नौकरी, विवाह आदि के लिए पूरा जोर लगाएंगे। किसी प्रमाद का परिचय नहीं देंगे, पर देश के प्रति कर्तव्य को भगवान् पर, महामाया की लीला पर छोड़ कर निश्चिंत हो जाते हैं। घर की एक गज जमीन पर गैर द्वारा कब्जे के विरुद्ध झगड़ा, मुकदमा आदि सब करेंगे पर देश की हजारों वर्ग कि.मी. चली जाने पर भी हम उदासीन रहते हैं। हम यह भूल जाते हैं 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। हम धर्म के जितने अंशों की, पक्षों की रक्षा करेंगे उतनी ही वह हमारी रक्षा करेगा। धर्म के अन्तर्गत व्यक्ति का शरीर, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व, चराचर जगत् और विश्व चेतना का समावेश है। हम शरीर धर्म का पालन करेंगे तो शरीर हमारी रक्षा करेगा। परिवार धर्म के पालन से परिवार हमारी रक्षा करेगा। वैसे ही अगर

हम राष्ट्र धर्म का पालन करेंगे, राष्ट्र की सेवा, सुरक्षा व प्रतिष्ठा करेंगे तो राष्ट्र भी हमारी रक्षा करेगा। हमारा पेट, परिवार, सम्मान सबको सुरक्षित रखेगा और हम स्वाभिमान के साथ आगे बढ़ेंगे अन्यथा इसमें से कुछ भी सुरक्षित नहीं रहेगा। इतिहास बार-बार इसका साक्षी रहा है।

इस धर्माभास की स्थिति से गीता और भगवान् कृष्ण ही उबार सकते हैं- अर्जुन भी पारिवारिक स्नेह में पड़कर, धर्माभास का शिकार होता है और युद्ध के विरोध में मिथ्या तर्कों का जाल बुनता है और शेष में कहता है मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह कहकर धनुष छोड़कर रथ के पीछे बैठ जाता है। तब भगवान् जोरदार थप्पड़ के साथ ही अपना मुंह खोलते हुए कहते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। 2/2-3 गीता

भगवान् डांटते हुए कहते हैं—यह तेरे हृदय की उदारता नहीं तुच्छ दुर्बलता है, ज्ञान नहीं अज्ञान है। जो न आर्यों के सेवन योग्य है, न ही स्वर्ग को देने वाला है, न ही कीर्ति को देने वाला है। ऐसी विषम स्थिति में यह मोह तुझे कहां से प्राप्त हुआ? भगवान् कृष्ण न दुर्योधन, दुःशासन को बख्शते हैं, न उनके संरक्षक बनकर खड़े हुए भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य को ही बख्शते हैं। भगवान् कृष्ण तो अपने कुल को भी नहीं बख्शते हैं जिसके बल पर जीवनभर धर्मसंस्थापना के लिए संग्राम करते रहे। जब वे भी असुरपन को प्राप्त हो गए तो उन्हें भी नष्ट करवा दिया। धर्मद्रोह, राष्ट्रद्रोह, असुरपना करने वाला चाहे स्वदेशी कौरव पक्ष हो या विदेशी कालयवन हो या स्वयं अपना ही कुल यादव वंश हो किसी को भगवान् ने क्षमा नहीं किया। अतः देश गीता के अनुसार चलेगा, भगवान् कृष्ण के अनुसार चलेगा तो न कभी धर्माभास का शिकार होगा और न विदेशियों की दाल गलेगी, न उनका चरागाह बनेगा। इसलिए पश्चिम के बहुत से विद्वान् कृष्ण से, शिवाजी से बड़े नाराज हैं, खफा हैं, उन पर बड़े-बड़े आरोप लगाए। धर्म एवं न्याय की प्रतिष्ठा के लिए किए गए युद्ध में वे हिंसा का ही दर्शन करते हैं जबकि उनका स्वयं का सारा इतिहास कपटाचार, व्यभिचार का है, सारी मानवता का अपने हित में शोषण करने वाले, रक्त से स्नान कराने वाले, ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को नष्ट करने वाले रहे हैं। हमारे राम-कृष्ण को भी देश को आतंक से मुक्त करवाने एवं धर्म-न्याय की प्रतिष्ठा के लिए अन्तिम हथियार के रूप में, आवश्यक बुराई के रूप में युद्ध का सहारा लेना पड़ा और इसके विपरीत सेमिटिक परम्परा (विशेषकर इस्लाम-ईसाइयत) ने दुनिया में अपना आतंक थोपने के लिए अपना उपनिवेश

स्थापित करने के लिए अपने विदेशी बर्बर पंथ को स्थापित करने के लिए सब पर युद्ध थोपा। ऐसे कपटाचारी भगवान् कृष्ण पर युद्ध-हिंसा का आरोप लगा रहे हैं ताकि हम भ्रमित होकर उस पथ को, आदर्श को न स्वीकारें ताकि उनके स्वार्थ सिद्ध होते रहें। हमारे लिए राम-रावण का युद्ध, कौरव-पाण्डवों का महाभारत युद्ध अधर्म पर धर्म की विजय का प्रतीक है, लेकिन पाश्चात्य लेखक इसमें केवल हिंसा ही ढूंढ़ते हैं। पाश्चात्य लेखक भटकाने का प्रयास करते हैं। अपने निजी लाभ के लिए विवाद उत्पन्न कर प्रसिद्ध होने का उनका यह छिपा हुआ एजेंडा है।

आज आवश्यकता तो ऐसी है कि घर-घर से राम-कृष्ण, राणाप्रताप-शिवाजी, आजाद, भगतसिंह प्रकट हों। इस स्थिति का हम सब अनुभव भी करते हैं और हम चाहते भी हैं पुनः राम-कृष्ण प्रकट हों पर अपने घर से नहीं पड़ोस से हो। पर इससे काम नहीं चलेगा। जिनको भी अपने देश-धर्म-संस्कृति के प्रति दर्द है उन सबको कुमारिल भट्ट बनना पड़ेगा। उनके आदर्श 'मेरे रहते मैं देश-धर्म-संस्कृति का नाश नहीं होने दूंगा, देश-धर्म-संस्कृति के प्रति मृत्यु-पर्यन्त अपने दायित्व को निभाऊंगा' को स्वीकारना होगा।

हमारा धार्मिक आदर्श सर्वधर्म समभाव है। मनुष्य अपनी चेतना को विश्व चेतना से जोड़ सके, अपना सर्वोच्च विकास कर सके और उसे पूर्णता तक ले जा सके; इसके लिए अनेकों उपासना पद्धतियों, पूजा पद्धतियों, अनेकों देव विग्रहों, अनेकों देवी विग्रहों को स्वीकारा गया है। मानव अनन्त पथ का यात्री है। सबके स्वभाव, अभिरुचि भिन्न-भिन्न हैं। सबके शारीरिक, ऐंद्रियक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास का स्तर भिन्न-भिन्न हैं। अतः सबके लिए एक ही उपासना पद्धति, एक ही विश्वास पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती। अतः नाना प्रकार की उपासना पद्धति अपने देश में और सारे विश्व में प्रचलित रही है, सेमिटिक परम्परा के पूर्व तक। इनमें परस्पर में सामंजस्य था, परस्पर में पूरकता थी। सहअस्तित्व में, जीओ और जीने दो का भाव था। जो सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानती थी, धरती को माँ मानती थी, जिनमें भगवान् पुलिंग भी था, स्त्रीलिंग भी था, वह पुरुष रूप में भी था, स्त्री रूप में भी था। ईसाइयत के पूर्व यूरोप में, इस्लाम के पूर्व अरब में अनेक देव विग्रहों का अस्तित्व था। सारे यूरोप में अनेक देवी-देवताओं के साथ सूर्य पूजा प्रचलित थी। इस्लाम के पूर्व अरब में, मक्का में 360 (तीन सौ साठ) विग्रह थे। देव एवं देवी विग्रह प्रतिष्ठित थे और परस्पर में सामंजस्य था।

इसमें समस्या उत्पन्न हुई सेमिटिक परम्परा के उदय से जो एक ही विश्वास, एक ही ग्रंथ, एक ही इकलौते पुत्र, अन्तिम पैगम्बर, एक ही पुरुष देवविग्रह और एक ही पूजा पद्धति को स्वीकारता है। इसके अलावा सब झूठे हैं, शैतान से प्रेरित

हैं, कुफ्र हैं, काफिर हैं, हिडेन, पैगन हैं जिसका एक ही उचित प्रायश्चित्त है कि इहलोक में निर्मम ढंग से वध और परलोक में अनन्त नरक की आग में जलना। यही उनकी नियति है। ये मानव समाज को दो भागों में बांट देते हैं—विश्वासी और अविश्वासी। अविश्वासी को जीने का कोई अधिकार नहीं है। अविश्वासी के जान-माल-स्त्री सब पर विश्वासी का अधिकार है। इस प्रकार सेमिटिक परम्परा अविश्वासियों के प्रति जहर उगलती है, द्वेष फैलाती है। उनके जान-माल को छीन लेने की चेष्टा करती है। तो क्या इसे धर्म या उपासना पद्धति या पूजा पद्धति कहा जा सकता है? जो व्यक्ति की चेतना को शुद्ध करे, परिष्कृत और व्यापक बनाये, उसमें सद्गुणों का विकास करे, चरित्र का विकास करे, उसे ही धर्म, मत, पंथ या उपासना पद्धति कहा जा सकता है पर जो चेतना को कलुषित करे, संकुचित करे, तुच्छता में, पशुता में, बर्बरता में, हिंसा में, बलात्कार में, व्यभिचार में, असुरता में, पैशाचिकता में ले जाए क्या उसे धर्म या मत-पंथ कहा जा सकता है? जिनकी जीव, जगत्, ईश्वर आदि की अवधारणा ही विकृतियों को लिए हुए है, जिनका स्वयं ईश्वर ही ईर्ष्या विदग्ध है, जो दूसरे के उपास्यों को सहन नहीं कर सकता, जिसकी मुंह लगी जातियां—उम्मा है, चर्च है, देश हैं और—अन्यों के प्रति गजब का कोप बरसाने वाला है। तो क्या इसको ईश्वर कहा जा सकता है? जो मानव को, अपने हित में सारे जगत् को तहस-नहस करने का जो प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति शत्रुता का भाव रखता है। उस पर विजय प्राप्त करने का, उसको भोगने का अधिकार देती है—यह सेमिटिक परम्परा। इसी भाव ने आज पर्यावरण की समस्या को जन्म दिया है। जो वैर करना सिखाती है क्या उसे धर्म, पंथ या उपासना पद्धति कहा जा सकता है? अगर यह किसी का धर्म है तो असुरों का। पापियों, बलात्कारियों, व्यभिचारियों का धर्म हो सकता है। देवों का, मानवों का नहीं और ऐसे असुर-धर्मों के विनाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

कुछ समय पूर्व अमरीका, अफ्रीका, अरब व दक्षिण-पूर्व एशिया के 118 चिंतक-मनीषी एकत्रित हुए। उनमें बहस चली कि आतंकवाद की जड़ कहां है। इसमें से निकलने का रास्ता क्या है? मानव जाति बचेगी कैसे? उसका मार्ग क्या है? अन्त में निष्कर्ष निकला कि 'Only one God, Only one Path.' मेरा भगवान् और मेरा मार्ग। यही एकमेव मार्ग है। इसलिए दूसरे को समाप्त करना, युनिटी नहीं युनीफॉर्मिटी, एकत्व नहीं एकरूपता। जैसा मैं हूं वैसे ही हो जाओ—यह है आतंकवाद की जड़ में पैठी सोच। इसमें उन 118 चिन्तकों का सर्वसम्मत प्रस्ताव था कि इसमें से बाहर निकलना है हमें। प्लुअॅरल गॉड और प्लुअॅरल पॉथ—भगवान् के अनेक रूप हैं और अनेक मार्ग हैं जो सब समान हैं। सब एक ही दिशा में ले जाते हैं। इस बात की ओर दुनिया को ले जाना पड़ेगा और इसलिए

हमें ओरिएण्टल दर्शन—पूर्व के दर्शन की ओर लौटने की आवश्यकता है। यही आने वाले समय में मानव-जाति को बचा सकती है।

जब हम हिन्दुत्व के उत्थान की बात करते हैं तब कहा जाता है कि हिन्दू शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। न यह वेद में मिलता है न उपनिषद् में, न ब्राह्मणों में, न पुराणों में, न रामायण और न ही महाभारत में। वेदों में तो संस्कृति को विश्ववारा संस्कृति कहा गया है। जब भी धर्म का वर्णन हुआ 'एष मानव धर्म' के रूप में उल्लेख हुआ है। बाद में जो सेमिटिक मजहब दुनिया में आए उनके पूर्व की संस्कृतियां एक जैसी थी। भारत में जो प्राचीन विश्व धर्म, विश्व संस्कृति, विश्व जीवनमूल्य थे, उनको सेमिटिक मजहबों के जीवनमूल्यों से भिन्न दिखाने के लिए हिन्दू शब्द भारत में रूढ़ हो गया। यह इसी प्रकार की बात है—घी का अर्थ ही होता है गाय का घी। पर जब से बाजार में अन्य नकली घी भी आए तब उनसे पृथक्ता बतलाने के लिए शुद्ध गाय का घी लिखा जाने लगा।

ऐसे ही सैक्यूलर शब्द भारत की नहीं ईसाइयत की देन है। वहीं इसकी आवश्यकता हुई और वहीं यह शब्द अस्तित्व में आया। सारे यूरोप के इतिहास में चर्च और स्टेट का, धार्मिक शासन और राज्य शासन में परस्पर स्पर्धा, संघर्ष चलता रहा। राज्य शासन की चेष्टा रही धर्म शासन उसके अधीन रहे और धर्म शासन राज्य को अपने अधीन रखकर चलना चाहता था। इसलिए चर्च और सरकार में परस्पर संघर्ष चलते रहते थे और चर्च खुलकर राजनीतिक शक्ति संतुलन, स्पर्धा, संघर्ष, षड्यंत्र, हत्या, रक्तपात, सामूहिक हत्याकांड, अग्नि होम आदि का सहारा लेता था। इन खूनी संघर्षों से उपराम होने के लिए सैक्यूलर शब्द अस्तित्व में आया कि राज्य सत्ता और धर्म सत्ता (चर्च) दोनों एक-दूसरे में दखलंदाजी, हस्तक्षेप नहीं करेगा और राज्य किसी एक पंथ को नहीं सभी पंथों को समान मान्यता, सम्मान, सुरक्षा और सुविधा देगा। पंथ की भिन्नता के आधार पर राज्य उनसे कोई भेदभाव नहीं करेगा। इसी दृष्टि से सैक्यूलर शब्द की उत्पत्ति हुई और यही इसका भाव था।

भारत में कभी भी धर्म शासन और राज्य शासन में संघर्ष नहीं हुआ और न ही राज्य ने पंथों के आधार पर कभी भेदभाव किया। हमारे यहां प्रारम्भ से ही सर्वधर्म समभाव का आदर्श रहा है। यह तो सेमिटिक परम्परा की देन रही है कि वे अपने से किंचित् भिन्न मत को सहते नहीं। न उनके God को ही न उनके अनुयायी को। वे उसको नष्ट करवा देते हैं या कर देते हैं। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व भारत में इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। इसलिए सैक्यूलर शब्द की यहां कोई आवश्यकता भी नहीं हुई। महारात्रि के गहन अंधकार में सैक्यूलर शब्द को संविधान में प्रवेश करवाया गया श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा आपातकाल के समय जब सब

विरोधी पक्ष के नेता जेल के शिकंजों में जकड़े हुए थे। फिर सैक्यूलर शब्द का अर्थ है पंथनिरपेक्षता। राज्य किसी भी एक मत-पंथ का विशेष पक्ष न लेकर सभी पंथों को समान महत्त्व और सुविधा देगा। पर अपने देश में 'धर्म निरपेक्ष' का अर्थ हिन्दुत्व विरोध के रूप में किया गया। हिन्दू धर्म तर्क, विज्ञान, समाज, मनोविज्ञान से सुसंगत है, मानव स्वभाव के अनुकूल, नारी पूजक, पर्यावरण पूजक, प्रकृति पूजक, सत्य-अहिंसा परायण, चराचर जगत् को अपने हृदय में स्थान देने वाला मानव धर्म है। देव धर्म है। विश्व धर्म है। सारे विश्व के भविष्य का आशा केन्द्र है। अपने देश में धर्म निरपेक्ष का अर्थ विदेशी, शत्रु भावापन्न मुसलमान-ईसाई धर्म (पंथ) सापेक्ष है। जबकि ये दोनों ही पंथ अराष्ट्रीय, अमानवीय, घोर हिंसा परायण, पर्यावरण विरोधी, प्रकृति विरोधी, नारी लोलुप, अवैज्ञानिक, अतार्किक, समाज मनोविज्ञान व मानव स्वभाव विरोधी, आसुरी पंथ हैं। यह हमारे देश-धर्म-संस्कृति के साथ घोर विडम्बना है। आत्मवंचना की स्थिति है और सारे विश्व में हास्यास्पद-सी स्थिति है जिससे पता नहीं हम कब मुक्त होंगे।

पारसी समाज जब पुनः भारत की शरण में आया तब हम सजग थे। यद्यपि ये भी हमारे ही, आर्यों के ही अंशज-वंशज थे जो एक समय में आर्यान (ईरान) में जाकर बस गए। अतः दो भाइयों का ही पुनर्मिलन था। फिर भी सजग थे। हमारे राजा ने दूध का गिलास भेजा कि इसमें कुछ भी विजातीय द्रव्य डालेंगे तो फट जाएगा। तो उन्होंने शक्कर डालकर भेजी जो दूध के साथ घुल-मिलकर दूध को और भी स्वादिष्ट, मीठा बना देती है और आज तक पारसी समाज दूध में शक्कर की तरह है, इन्हें कभी पहचान का संकट नहीं खड़ा हुआ। सुख-दुःख, स्वाधीनता-पराधीनता सब समय कंधे से कंधा मिलाते हुए देश-धर्म-संस्कृति के विकास में अपना यशस्वी योगदान भी देते आ रहे हैं। कभी भी समस्या बनकर नहीं रहे हैं। आज भी पारसी समाज में विवाह के अवसर पर प्रत्येक पिता पुत्र से प्रतिज्ञा करवाता है। हमने वचन दिया है—हम हिन्दू समाज के साथ घुल-मिलकर रहेंगे, दूध में शक्कर की तरह और आज तक इसका वे निर्वाह करते आए हैं।

पर इस्लाम एवं ईसाइयत को प्रवेश देते समय यह सजगता नहीं रही। हमने विचार ही नहीं किया कि यह धर्म है भी या नहीं, इसका अपने संदर्भ में और विश्व के सन्दर्भ में क्या अवदान है, इतिहास है। हम अपनी बेटी को दूसरे परिवार में देते समय सजग, पूरी छानबीन के बाद देते हैं, ऐसे ही पार्टनरशिप में व्यवसाय करने में सजगता बरतते हैं। पर राष्ट्र के संदर्भ में इस्लाम व ईसाइयत को प्रवेश देते समय कोई विचार न कर धर्म के नाम पर प्रवेश देकर उन्हें सब प्रकार का संरक्षण एवं सुविधा प्रदान की और आज भी इन दोनों के द्वारा इतने गुल खिलाने के बाद भी हम यह विचार करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं कर रहे हैं कि ये धर्म नहीं

साम्राज्य विस्तार के अंग हैं। विगत 1200 वर्षों से हम धर्माभास के शिकार हैं और आज हिन्दुओं की मनोदशा कुछ ऐसी हो गई है कि सर्वधर्म समभाव के नाम पर उन्हें किसी भी छल-प्रपंच का शिकार बनाया जा सकता है। इसी तरह किसी महापुरुष अथवा किसी संत, सूफी या नबी का नाम लेकर कोई भी कबाड़ उनके गले उतारा जा सकता है। यह एक गंभीर, मानसिक-वैचारिक विकृति तथा संकट का सूचक है। इसे किसी सद्भावना के नाम पर अनदेखा करना अपने आपको ही भुलावा देना है। यह जो धर्माभास की स्थिति है, भ्रम की स्थिति है, इसे गीता और भगवान् कृष्ण को अपनाकर ही दूर किया जा सकता है। स्वयं अर्जुन धर्माभास का शिकार होकर पहले अध्याय में जो धर्म का चित्र खींचता है उसे भगवान् कृष्ण पूर्णतया अस्वीकृत कर धर्म का वास्तविक चित्रण दूसरे अध्याय के 11वें श्लोक से गीता के 18वें अध्याय के अन्त तक करते हैं।

असुर धर्म का उदाहरण तो पहले ही अध्याय में पाते हैं। दुर्योधन, दु:शासन, धृतराष्ट्र असुर धर्म के उदाहरण हैं और इसका सैद्धान्तिक चित्रण भगवान् गीता के 16वें अध्याय में करते हुए कहते हैं इनका जन्म ही 'क्षयाय जगतोऽहिता:' (16/9, गीता) अर्थात् जगत् के विनाश के लिए होता है। भगवान् 16वें अध्याय के 19वें एवं 20वें श्लोक में कहते हैं—

तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। 16/19, गीता

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। 16/20, गीता

उन द्वेष करने वाले, अमंगल और क्रूर नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही डालता रहता हूं।

हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हुए मुझको प्राप्त न होकर फिर उससे भी अधम गति को प्राप्त होते हैं।

चौथे अध्याय में भगवान् स्वयं अपने अवतरण का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। 4/7, गीता

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।। 4/8, गीता

हे भरतवंशी! जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं का सृजन करता हूं (अर्थात् शरीर धारण करके प्रकट होता हूं)।

साधुओं की रक्षा करने के लिए, पापकर्म करने वालों का नाश करने के लिए और धर्म की भली-भांति स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं।

इसमें शक्ति और शील का समन्वय है। शील द्वारा साधुओं की रक्षा और शक्ति द्वारा दुष्टों का नाश। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए दोनों बातें आवश्यक है। इसमें से एक के अभाव में समाज लड़खड़ा जाता है और समाज टिक नहीं सकता। अगर सिर्फ शील द्वारा साधुओं की रक्षा कर दी जाए और दुष्टों को छोड़ दिया जाए तो वे पुनः समय पाकर आतंक मचाने लगेंगे। इतिहास इसका साक्षी है। हमने देश विभाजन भी स्वीकार कर लिया और मुसलमानों को भी रख लिया। फलतः पुनः अपना संख्याबल बढ़ाकर पुनः देश विभाजन जैसी स्थिति निर्माण कर दी है। अतः समाज को संतुलित रखने के लिए शील और शक्ति दोनों आवश्यक है।

भगवान् विभूतियोग में पुनः कहते हैं—दमन करने वालों में मैं दण्ड हूं। **'दण्डो दमयतामस्मि'**। 10/38, गीता

विराट् रूप दर्शनयोग में अर्जुन जिज्ञासा करता है—हे भगवन्! आपने विभूति योग में अपना प्रथम परिचय आत्मा के रूप में दिया। इस विराट् रूप दर्शन में आपका भयानक रूप देखकर मैं कांप गया हूं। आपके अनेक मुखों से अग्नि ज्वालाएं निकल रही हैं और आपके अनन्त फैले हुए मुखों में सभी कौरव वीर भी भस्म हो रहे हैं। यह रहस्य समझ में नहीं आता। आप कौन हैं? मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूं!

उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं-हे अर्जुन! ईश्वरीय न्याय में इनके पापों का फल मिलना प्रारम्भ हो चुका है। स्थूल दृष्टि से कर्म के फल का प्रभाव तुरन्त दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से कर्म का प्रभाव कर्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। जैसे औषधि खाते ही उसका प्रभाव शरीर में शुरू हो जाता है किन्तु स्थूल दृष्टि से उसका प्रभाव तब दिखता है जब बुखार टूट जाता है। पापियों के पाप का प्रभाव तुरन्त शुरू हो गया है। यह दुनिया स्थूल दृष्टि से बाद में देखेगी। डाक्टर को सूक्ष्म लक्षणों से स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पहले ही दिख जाता है, रोगी को बाद में। दिव्य दृष्टि वालों को कर्म का प्रभाव पहले ही दिख जाता है और चर्म दृष्टि वालों को बाद में।

अर्जुन! मेरे दो रूप हैं—अन्त:प्रकृति में आत्मरूप और बाह्य प्रकृति में काल-रूप हूं। मैं आत्म रूप से अन्तर्जगत् पर शासन करता हूं और काल-रूप से बाह्य जगत् पर। भक्तों को मैं आत्मरूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूं किन्तु अभक्तों को कालरूप से वश में रखता हूं और काल बन मृत्युचक्र में घुमाता हूं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।

11/32 गीता

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।

11/33 गीता

मैं लोकों का क्षय करने वाला अत्यधिक बढ़ा हुआ काल हूं। यहां लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं। प्रतिपक्षियों की सेनाओं में जो योद्धागण स्थित हैं वे सब तेरे मारे बिना भी नहीं रहेंगे (अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी उनका नाश होगा ही)।

इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्धि सम्पन्न राज्य को भोग। ये (सब वीर) मेरे द्वारा पहले ही मारे गए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र है। व्यक्ति को ईश्वरीय संकल्प पूरा करने में निमित्त मात्र बन जाना चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर रहेगा, यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा, कर्म में भी सफलता मिलेगी, कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवत संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह काल-रूप बनकर खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय का निमित्त और भागवत संकल्प का सेनानी बनकर अपना कर्तव्य पालन प्रभु की कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

स्पष्ट है गीता के दर्शन को अपनाकर ही असुरधर्मी सेमिटिक परम्परा से मुक्त हो सकते हैं।

सेमिटिक परम्परा विशेषकर ईसाइयत ने पर्यावरण का शोषण करने की प्रेरणा दी है और आधुनिक विज्ञान ने पर्यावरण के शोषण को शक्ति दी है जिससे ग्लोबल वार्मिंग जैसे संकट खड़े हो गए जिससे स्वयं मानव के अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया है। इसके समाधान के लिए अनेक सम्मेलन हुए लेकिन कहीं से इस समस्या का समाधान नहीं निकल पाया। समाधान के लिए आखिरकार सबने भारतीय चिन्तन दर्शन की ओर देखा और इससे मुक्त गीता के यज्ञ चक्र को स्वीकार करके ही हो सकते हैं। जिसका प्रतिपादन गीता के तीसरे अध्याय के 10वें से लेकर 16वें श्लोक तक हुआ है।

आज देश में भ्रष्टाचार की सबसे बड़ी समस्या है। सर्वोच्च सत्ता भ्रष्ट है तो सारा देश नष्ट है। स्वाधीन भारत में भ्रष्टता की कथा स्वयं पंडित नेहरू से प्रारम्भ होती है, पक्षपात (सदैव मुसलमानों व ईसाइयों का पक्ष लिया, हिन्दुओं को दबाने का प्रयास), भाई-भतीजावाद (अपने परिवार व इष्ट-मित्रों के अलावा किसी को बढ़ने नहीं दिया, उठने नहीं दिया)। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के सन् 1945 में अकस्मात् लुप्त हो जाने के पश्चात् जापान सरकार ने स्वाधीन भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को पत्र द्वारा सूचित किया था कि नेताजी की अमानत स्वर्णालंकारों एवं मणिरत्नों से भरे हुए दो बड़े ट्रंक उनके पास सुरक्षित हैं, जो भारत में मंगवा लिए जाने चाहिए। पं. नेहरू ने अपना एक विशेष दूत भेजकर वे दोनों ट्रंक भारत की राजधानी में मंगवा लिए थे, किन्तु बाद में वह अपार रत्नभण्डार किस खाते में या किसकी जेब में गया उसका आज तक समाधान नहीं हो सका है, आदि-आदि। यह भ्रष्टता ऊपर से नीचे की ओर व्यापती है। भ्रष्टाचार झरना है जो ऊपर से नीचे फैलता जाता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। 3/21, गीता

श्रेष्ठ (पुरुष) जो-जो आचरण करता है, अन्य मनुष्य भी वैसा ही (आचरण) करते हैं। वह जिसे (श्रेष्ठ कहकर) प्रमाणित कर देता है, लोग उसी के अनुसार बरतने लगते हैं।

इस भ्रष्टता से मुक्ति हम गीता दर्शन को अपनाकर ही पा सकते हैं। इसी दृष्टि से 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' लेख इसमें शामिल है।

विगत 1200 वर्षों से धर्माभास का शिकार होकर, देश के शत्रु और मित्र की पहचान भुलाकर हमने अपना राष्ट्रीय चरित्र दुर्बल किया। अंग्रेजों ने हमारे राष्ट्रीय चरित्र को दुर्बल करने और व्यक्तिगत चरित्र को भी नष्ट करने और जिन आस्थाओं आधारों पर हम खड़े थे उससे भी च्युत करने के लिए हमारी शिक्षा व्यवस्था एवं अन्यान्य सभी व्यवस्था को बदल दिया। उससे हम मात्र एक क्लर्क की भूमिका निभा सके और व्यवसाय जगत्, उद्योग जगत् में अनेकों टैक्स लगाये। ऐसे कानून बनाए जिससे व्यापारी या उद्योगपति बेईमान, चोरी करने वाला बन जाए या फिर वह मजदूर बन जाए। हमारी संयुक्त परिवार व्यवस्था टूटे। इसके अनुकूल कानून बनाने की शृंखला प्रारम्भ हुई जिससे हमारा व्यक्तिगत चरित्र भी दुर्बल हुआ और हमारे आधारों यथा—वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत और हमारे ऋषि-मुनियों पर अनास्था का निर्माण कर शून्य की स्थिति निर्माण हुई। उसकी भरपाई के लिए हम पश्चिम की जूठी (उच्छिष्ठ) नकल करने वाले, जूठी पत्तल चाटने वाले बन गए। उनके कचरे को, अपसंस्कृति को स्वीकारने वाले बनते

जा रहे हैं। हममें अच्छाई किसी की नहीं। न अपनी न अंग्रेजों की (पश्चिम की, उनमें श्रम के प्रति, अपने कर्तव्य के विषय में जो महत्व बुद्धि है। अपनी भाषा, वेशभूषा, खान-पान देश इतिहास के प्रति जो गौरव बुद्धि है) और बुराई, दोनों की है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि स्व से च्युत व्यक्ति श्रेष्ठ बातों को, प्रेरणा को ग्रहण करने में अक्षम होता है।

नकल और प्रेरणा में अन्तर होता है। नकल में हलकी बातों को, निकृष्ट बातें ग्रहण की जाती हैं। प्रेरणा में श्रेष्ठ बातें ग्रहण करते हैं। नकल में तो सिर्फ बहना होता है, जो सहज होता है। प्रेरणा ग्रहण करना कष्टसाध्य होता है क्योंकि इसमें अपने को तपाना पड़ता है, गलाना पड़ता है। अतः नकल किसी की नहीं, प्रेरणा हर कहीं से। तभी हम देखते हैं कि भगवान् दत्तात्रेय जो 24 गुरु स्वीकारते हैं, उन्होंने पृथ्वी से गाम्भीर्य की, आकाश से उदारता की, सूर्य से दिव्यता की, चन्द्रमा से शीतलता की, अग्नि से ऊर्जा की, शिक्षा ली जो सभी विषयों को भस्मसात् करके प्रकाश उत्पन्न करता है। उन्होंने कीट, पतंग, हरिण, मकड़ी, कुंवारी कन्या, पिंगला नाम की वेश्या तक से जीवनोपयोगी और वैराग्यनिष्ठ शिक्षाएं ग्रहण कीं। काशी में यह नियम है कि ब्राह्ममुहूर्त में संन्यासी गंगा-स्नान करके विश्वनाथजी का गंगाजल से अभिषेक करते हैं, तो आद्य शंकराचार्यजी भी गंगा-स्नान करके काशी विश्वनाथजी का अभिषेक करने जा रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा सामने से एक चाण्डाल सपत्नीक चार कुत्तों के साथ बढ़ा चला आ रहा है। अपने मार्ग को अवरुद्ध होता देखकर आचार्यश्री ने कहा, 'अरे! हटो, हटो। यह सुनकर चाण्डाल ने पूछा, 'हे द्विजवर! आपने अन्नमय शरीर को अन्नमय शरीर से दूर होने के लिए कहा है अथवा चैतन्य को चैतन्य से अलग करने के लिए 'हटो-हटो' कहा है? क्या गंगाजल में या चाण्डाल-गृह के पिछवाड़े के कीचड़ में प्रतिबिम्बित होने से अम्बरमणि सूर्य में कुछ अन्तर आ जाता है? अथवा स्वर्ण कलश या मिट्टी के घड़े में प्रतिबद्ध आकाश में क्या कुछ भेद है? जैसे सूर्य व आकाश प्रतिबिम्बन व उपाधि-ग्रहण से असंग हैं—उसी प्रकार निस्तरंगित सहजानन्दसागररूप प्रत्यागात्मा द्विज, चाण्डाल आदि भेदों से नितरां अस्पृष्ट है, ये भेद महान् भ्रम मात्र हैं।'

यह सुनते ही आचार्य श्रीशंकर तत्क्षण कहते हैं जिसकी ऐसी मति है वह मेरा गुरु है। ऐसा कहकर दण्डवत प्रणाम करते हैं। अतः नकल किसी की नहीं प्रेरणा हर कहीं से। इसी आधार पर हमने ज्ञान के द्वार सदा खुले रखे। जहां से भी श्रेष्ठ बातें प्राप्त हों, उसे ग्रहण करें। पर हम स्वयं 'स्व' से च्युत हों, मतिभ्रम के शिकार हों तो उससे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं कूड़ा-कचरा ही आएगा और स्वाधीनता के बाद से यही सब हो रहा है। इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वयं गीता दर्शन को अपनाकर 'स्व' में स्थित हों, तभी हम अन्यत्र से श्रेष्ठज्ञान ग्रहण करने के पात्र बनेंगे।

आज गीता विश्व की मांग बनती जा रही है। इसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। विदेशों में विविध क्षेत्रों में गीता का उपयोग हो रहा है। पर दुर्भाग्य है हमारे अपने देश की सरकार का क्योंकि वह कोर्ट के निर्णय को भी मान्य नहीं कर रही है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति शम्भूनाथ श्रीवास्तव ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय 'श्यामल रंजन मुखर्जी बनाम निर्मल रंजन मुखर्जी, ए, आई. आर. 2007 में केन्द्र सरकार से कहा कि वह संविधान के अनुच्छेद 51 (क) मूल कर्तव्य के अन्तर्गत भगवद्गीता को राष्ट्रीय धर्मग्रंथ घोषित करे। जब इस कार्य के लिए सरकार आगे नहीं आती तब समाज का, शिक्षण संस्थाओं का दायित्व है कि वे गीता के कार्य को आगे बढ़ावें। इस दृष्टि से गीता के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विचार करने का प्रयास किया है। डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी की कार्यव्यस्तता तथा अचानक दुर्घटना में शरीर शांत हो जाने से कार्य अधूरा रह गया और कई पाठ अधूरे रह गए।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—वे देश भाग्यवान है जो चिरन्तन स्वदेश को देश के इतिहास में खोज लेते हैं। बाल्यकाल में इतिहास ही देश के साथ परिचय करा देता है। किन्तु हमारे यहां बिल्कुल उलटा है। देश का इतिहास ही हमारे स्वदेश को आच्छन्न किये हुए हैं। अंग्रेजों के लड़के यह जानते है कि उनके बाप-दादों मे अनेक युद्ध जीते, अनेक देशों पर अधिकार किया। और वाणिज्य-व्यवसाय बढ़ाया। वे स्वयं भी रणगौरव धनगौरव और वाणिज्यगौरव के अधिकारी बनना चाहते है। हम जानते है कि हमारे पूर्वजों ने देश अधिकार और वाणिज्य-व्यवसाय नहीं किया। यही जानने के लिए है भारतवर्ष का इतिहास। उन्होंने क्या किया हम नहीं जानते।

यह कैसी विडम्बना और दुर्भाग्य की स्थिति है। जबकि इसके विपरीत जितना श्रेष्ठ सात्विक देश इतिहास शास्त्र एवं महापुरुषों की अखण्ड परम्परा हमें प्राप्त हुई वह शायद ही विश्व के अन्य देश को प्राप्त हुई हो?

यह ओबराय समग्र खण्ड पांच में सम्पूर्ण हो रही है। इन पांचों खण्डों में हमारे वास्तविक, गौरवपूर्ण व तेजस्वी देश, इतिहास, शास्त्र, परम्परा, महापुरुषों की अखण्ड परम्परा को उजागर करने का प्रयास किया है। इसमें भारत को भारत की आंख से, वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, जैन-बौद्ध, गुरुग्रंथ साहब की दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। आज भी हमारे विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में भारत को इसलाम एवं ईसाइयत तथा कम्यूनिस्ट की दृष्टि से देखने की दृष्टि प्रभावी है। विश्व के किसी भी देश के इतिहास को आक्रान्ताओं के नाम से न विभाजित किया जाता है और न ही पढ़ाया जाता है। और न ही विदेशी आक्रान्ताओं के नाम से देश में कस्बों-मुहल्लों, सड़कों, नगरों का नामकरण ही होता है। स्वाधीनता के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आना चाहिए था। पर पंडित

नेहरू इन्हीं परम्पराओं में शिक्षित थे और इन्हीं के प्रति गौरवबोध (उनके अनुसार राणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह भ्रमित हिन्दू देशभक्त थे) होने के कारण परिवर्तन तो दूर की बात रही उसमें और अधिक विकार आया। इसलाम, ईसाइयत एवं कम्यूनिज्म की धारा जिस-जिस देश में गयी वहां पूर्व की सभ्यता, संस्कृति, इतिहास एवं धर्म-पंथ को समूल नष्ट करके अपनी विदेशी सभ्यता, संस्कृति, इतिहास एवं पंथ को थोप दिया। भारत इसका अपवाद नहीं है। हमारी पड़ोसी से नहीं पटती तो वह भी हमारी अच्छाई को देख नहीं पाता। वह अच्छाई को भी बुराई के रूप में पेश करता है, प्रसारित करता है। ये तीनों विदेशी शत्रुभावापन्न धारायें जो हमारी संस्कृति को समूल नष्ट करके अपनी विदेशी संस्कृति को थोपना, हमको सदा गुलाम बनाये रखना चाहती है वे हममें अच्छाई को कहां से देखेंगी?

अतः भारत को यथार्थ रूप से समझने के लिए भारत को भारत की आंख से ही देखना होगा। ये पांचों खण्ड भारत को भारत की आंख से देखने की दृष्टि प्रदान करते हैं भारत की समस्याओं के मूल में जाने का और उससे उबरने का मार्ग भी बताते हैं।

पश्चिम में और सारे विश्व में दो प्रकार की शक्तियां हैं। एक तो आसुरी शक्ति है जो अपने देश के हित में अन्यों का, सारी दुनिया का शोषण करना चाहती है। और दूसरी देवी शक्ति, सज्जन शक्ति है जिन्हें अपने देश के साथ-साथ सारी दुनिया की हित चिंता है, उनकी दृष्टि भारत पर है, नवीन नहीं प्राचीन भारत पर है, वैदिक, औपनिषदिक, वैदान्तिक, गीतोक्त भारत पर है, उनको भी सामने लाने का प्रयास किया है। आज की नयी पीढ़ी को अखण्ड भारत और वृहत्तर भारत की जानकारी नहीं है अतः उनके लिए तड़प भी नहीं है। अतः उसको प्रकट करने का प्रयास किया है। वेद भगवान् ने भारतवासियों को लक्ष्य दिया था जिसे 1000-1200 वर्षों से हमने खो सा दिया है उसे पुनः उजागर करने का प्रयास किया है, वह है—'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'। और सचमुच प्रायः सारा विश्व भारत से शिक्षा ग्रहण करना चाह रहा है। इसके लिए आवश्यक है हम इसका सजीव उदाहरण प्रस्तुत करें।

एक ही विषय पर कई प्रवचन थे उनको एक ही प्रवचन में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। पंचम खंड में गीता की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा, गीता का प्रभाव भारतीय मनीषा पर, राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में गीता की भूमिका, वैज्ञानिक जगत् और गीता, गीता के विविध क्षेत्रों में अवदान को विस्तृत और अद्यतन (Up to date) करने का प्रयास किया है। गीता का ध्यान, कबीर के दर्शन पर गीता का प्रभाव, गीता का मनोविज्ञान एवं वर्तमान चारित्रिक संकट के निरसन में गीता का मार्गदर्शन अधूरे थे उसे उनसे प्राप्त दृष्टि (प्रज्ञा) के द्वारा मैंने पूर्ण करने का प्रयास किया है। रामायण की जो सामग्री तीसरे खण्ड में जाने से रह

गयी थी, और एक लेख प्रेस की भूल से अधूरा छपा था, उन सबको परिशिष्ट में संग्रहित किया है। पुनरावृत्ति को हटाने का प्रयास किया पर कतिपय लेखों में विषय खण्डित होने के भय से हटाया नहीं जा सका। पुरुलिया में विश्व हिन्दू परिषद् की स्थापना डॉ. हरवंशलाल ओबराय के कर कमलों से तथा महामण्डलेश्वर परमपूज्य स्वामी विष्णुपुरीजी महाराज और विश्व हिन्दू परिषद् के प्रदेश सचिव श्री बालकृष्ण नायकजी द्वारा जन्माष्टमी-पर्व के दिन हुई और लगातार तीन वर्षों तक डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी का जन्माष्टमी पर प्रवचन हुआ था। प्रथम वर्ष का प्रवचन टेप नहीं किया जा सका। बाद के दोनों प्रवचन इसमें शामिल हैं।

पुस्तक प्रकाशन के निमित्त आर्थिक सहयोग श्री चन्द्रप्रकाश ओबराय देहरादून से 21 हजार, पुरुलिया के श्री विमल शाहजी से 30 हजार, श्री रमेश टीबड़ेवाल से 5 हजार और परिचित एवं मित्रों से 40 हजार रुपये की अग्रिम राशि, श्री बड़ा बाजार कुमार सभा पुस्तकालय कोलकाता से 11 हजार, राजस्थान परिषद् कोलकाता से 11 हजार की अग्रिम राशि प्राप्त हुई। इन सबका हृदय से कृतज्ञ हूं। प्रूफ रीडिंग में श्रद्धेय स्वामी उत्तमानन्दजी, श्री तोलाराम लाठ, श्री अशोक परिहार, श्री विनोद शर्मा, प्रो. मनोहरलाल ओहरी एवं अखिलेश प्रतापसिंह से मदद मिली। इन सबका हृदय से आभारी हूं। हमेशा की तरह सांखला प्रिंटर्स ने पूर्ण सहयोग करते हुए, श्रेष्ठ सुझाव देते हुए तत्परता से मुद्रण कार्य को सुन्दरता से सम्पन्न किया। उनके प्रति विशेष आभार है।

यह पुस्तक पांच खण्डों में पूर्ण हो रही है। मैं इस कार्य में 18 वर्ष की उम्र में जब I.A. में था तब से प्रवृत्त हुआ था। आज 55 वर्ष की अवस्था में ईश्वर की कृपा तथा परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद से पूर्ण हो रहा है। मेरे इस लक्ष्य को साकार होता देखकर अपार संतोष एवं आनन्द की अनुभूति हो रही है। इस पांचवे खण्ड में मेरा स्वयं का भी एक लेख 'भारतीय संस्कृति' शामिल है।

इन पांचों खण्डों में कोई त्रुटि या कमी है तो मनीषीवृन्दों के सुझावों का स्वागत है जिससे अगले संस्करण में उनका यथायोग्य समावेश किया जा सके। मुझे प्रथम तीन खण्डों पर बहुतों से प्रत्यक्ष एवं फोन पर बधाई और शुभकामना प्राप्त हुई और चार पत्र प्राप्त हुए जिसमें दो आशीर्वाद एवं दो बधाई व शुभकामना के पत्र हैं, जो इसी खण्ड में समाविष्ट हैं।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि
सम्पादक व संकलनकर्ता
मो. 09413769139

अनुक्रम

गीता ध्यान

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।

जो भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्नों (शरणागतों) के लिए कल्पवृक्ष (पारिजात) के समान हैं, जो एक हाथ में रथ के घोड़ों की लगाम और चाबुक थामे हुए हैं, जो ज्ञानमुद्रा में अर्जुन को एवं सारे विश्व को ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्र का उपदेश कर रहे हैं—उन गीता रूपी अमृत का दोहन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

प्रपन्न

गीता एवं श्रीकृष्ण की इस स्तुति श्लोक में ही बहुत बड़ा रहस्य गुम्फित है। मानव बिना भगवान् की प्रपत्ति के सम्पत्ति चाहता है। किन्तु उसे मिलती विपत्ति ही है। वास्तव में सारे ऐश्वर्य का स्वामी तो ईश्वर है, समस्त माया का स्वामी महेश्वर है, प्रकृति का स्वामी तो परमेश्वर है, वैभव का स्वामी तो विभु है, सारी प्रभुता तो प्रभु की है और लक्ष्मी तो नारायण की और शक्ति तो शिव की सहचरी है। अतः बिना प्रभु प्रपत्ति के सम्पत्ति की कामना विपत्ति को ही खुला निमंत्रण है। लोक व्यवहार में जब हम दूसरे की सम्पत्ति को लेने की अनधिकार चेष्टा करते हैं तो विपत्ति भी मोल लेनी पड़ती है। इस संसार में आते समय हम एक कौड़ी साथ लेकर नहीं आए और जाते समय एक छदाम भी साथ लेकर नहीं जा सकेंगे। इसलिए यह सम्पत्ति हमारी तो है ही नहीं। सृष्टि के हर मानव की हमारे समान यही स्थिति है। अतः सम्पत्ति किसी भी मानव की नहीं। फिर प्रश्न उठता है यह सम्पत्ति किसकी है? उपनिषद् ने उत्तर दिया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

अर्थात् जगत् में जो कुछ भी है सब प्रभु का है। प्रभु द्वारा रचा हुआ है। प्रभु द्वारा व्याप्त है और प्रभु में व्याप्त है। अतः परमेश्वर के नाम पर कृतज्ञतापूर्वक यज्ञभाव से त्यागपूर्वक समर्पण कर शरणागति की भावना से प्रभु के प्रसाद रूप में

प्रभु की सम्पत्ति को भोगना चाहिए तथा किसी अन्य की सम्पत्ति की ओर गिद्ध-(लोभ) दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। इसमें एक दूसरी ध्वनि यह भी है कि यह धन किसी अन्य का है। अर्थात् जब सब कुछ प्रभु का है तो हम मनुष्य की चोरी कर छूट ही नहीं सकते तो सर्वशक्तिमान की चोरी करके कहां से छूट सकेंगे।

उपनिषद् के इस मंत्र में एक और ध्वनि यह है कि स्वामी प्रभु है। हम मानव प्रभु की सम्पत्ति के न्यासी (Trustee) मात्र हैं। हमें इस सम्पत्ति का व्यक्ति, परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और विश्व के अधिक से अधिक कल्याण के लिए सदुपयोग करना चाहिए। इस Trusteeship की भावना को **'निमित्तमात्रंभव सव्यसाचिन्'** कहकर समझाया गया है।

प्रभु शरणागति (प्रपत्ति) ही गीता का अन्तिम निष्कर्ष है। क्योंकि भगवान् पूरी गीता का सदुपदेश देने के बाद अन्तिम वचन यही कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66, गीता

भगवान् इससे तीन श्लोक पहले भी इसी भाव को अपनी दिव्यवाणी से मुखरित कर रहे हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। 18/62, गीता

शरणागति (प्रपत्ति) गीता का अन्तिम उपदेश मात्र ही न होकर गीता के शुभारम्भ की कुंजी है। प्रथम अध्याय में अर्जुन अनेक तर्क-वितर्क करता रहा। किन्तु भगवान् ने मुख तक नहीं खोला। अर्जुन रो रहा है और भगवान् मुस्करा रहे हैं। दूसरे अध्याय के श्लोक संख्या दो-तीन में भगवान् ने महारथी अर्जुन की दुर्बलता से रोने पर व्यंग्य से ताना तो मारा है पर उपदेश प्रारम्भ नहीं किया है। जब दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन सब तर्क-वितर्क छोड़कर भगवान् के शरणागत होकर प्रार्थना करता है कि मैं आपकी चरण-शरण में आया हूं, आपका शिष्य हूं, मेरे लिए जो कुछ कल्याणकारी मार्ग हो आप आदेश देवें; तभी गीता का वास्तविक सदुपदेश प्रारम्भ हुआ है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।
2/7, गीता

अतः प्रपत्ति गीता का आदि भी है और अन्त भी है। यह प्रपत्ति का सिद्धान्त भारतीय शिक्षादर्शन का आधार तथा गीता ज्ञान की भी कुंजी है। इस कुंजिका

से गीता के दिव्यज्ञान की अलौकिक रत्नमंजूषा खुल जाती है, तब हमें ज्ञान की अमर सम्पत्ति मिल जाती है। अर्जुन के प्रपन्न होने के पश्चात् भगवान् अपने प्यारे शरणागत शिष्य पर सब कुछ निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। मानो वे अपना हृदय ही निकालकर अर्जुन को भेंट कर देते हैं।

'गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे शास्त्रमुत्तमम्'—हे अर्जुन! गीता तो मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम शास्त्र है।

प्रभुप्रपत्ति के निम्नलिखित मंगलमय परिणाम होते हैं—

(क) जीव के व्यक्तिगत अहंकार (अहंता) का लय।

(ख) जीव के व्यक्तिगत स्वामित्व (ममता) का लय।

(ग) जीव की अविद्याजनित मिथ्या तर्क-वितर्क बुद्धि का लोप।

(घ) कचहरी में स्वार्थ से तर्क-वितर्क होता है और भय या हठ से तर्क-वितर्क का लोप प्रपत्ति द्वारा हो जाता है।

(ङ) प्रभु के स्वामित्व में प्रभु की सम्पत्ति का सदुपयोग करने हेतु न्यासी (Trustee) बनने का सुअवसर।

(च) सारा स्वामित्व प्रभु का होने के कारण जीव को मिथ्या व्यक्तिगत स्वामित्व के भार, चिंता एवं कष्ट-क्लेश से मुक्ति।

(छ) जीव में यज्ञ भावना का उदय। अपने से बड़ी इकाई अथवा महान् आदर्श या महान् सत्ता के लिए समर्पण ही यज्ञ भावना है।

(ज) अमर विद्या, ब्रह्मविद्या (गीता ज्ञान) की पात्रता।

(झ) कल्पवृक्ष के समान भगवान् द्वारा संरक्षण एवं मंगल वरदान।

पारिजातः

भगवान् शरणागतों के लिए साक्षात् पारिजात (कल्पवृक्ष) बन जाते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर मनुष्य जो कुछ कल्पना करता अथवा संकल्प करता है वह तुरन्त पूरा हो जाता है। भगवान् ऐसे अलौकिक कल्पवृक्ष हैं जो जीव के मंगलकारी संकल्पों को पूरा करते हैं और अमंगलकारी संकल्पों को अपनी कृपा से सत्-संकल्पों में परिवर्तित कर देते हैं। प्रभु की शरणागति के पश्चात् जीव के मन में दुष्ट कल्पनायें उदित ही नहीं होती क्योंकि उसका मन प्रभु को समर्पित होने के पश्चात् ईश्वरीय संकल्प से परिचालित होने लगता है। जो यह विशेषता भगवान् रूपी विश्वचैतन्यमय कल्पवृक्ष में है वह सामान्य स्थावर चैतन्य लुप्त स्वर्ग के पारिजात नामक कल्पवृक्ष में नहीं है। भगवान् शरणागतों की रक्षा करते हैं। उनका मंगल मार्गदर्शन करते हैं तथा उनके योगक्षेम का भी वहन करते हैं।

द्रौपदी के शरणागत होने पर भगवान् ने उसकी लाज बचायी, धर्मात्मा पाण्डवों के रक्षण, मार्गदर्शन एवं विजयशाली युद्ध संचालन हेतु भगवान् ने क्या कुछ नहीं किया। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अतिथियों के चरण धोए, भोजन की जूठी पत्तलें उठायी, युद्ध में अर्जुन के सारथि बने, घोड़ों की मालिश की। रथ की सफाई की। अपने पीताम्बर में चने भरकर घोड़ों को आहार दिया। अर्जुन के मोहग्रस्त होने पर उसे गीतारूपी अमृत पिलाया। युद्ध में स्वयं निहत्थे रहकर भी सारे युद्ध का संचालन किया। रथ को आवश्यकतानुसार दायें-बायें घुमाते हुए निरन्तर विजय की ओर अग्रसर किया। आने वाली विपत्तियों के प्रति अर्जुन को सचेत किया, होने वाले भीषण आक्रमणों में अर्जुन को प्रत्याक्रमण की युक्ति बताई। भयंकर शस्त्रों के प्रहार पर कभी दायें-बायें वंचना देकर अर्जुन को बचाया। कभी चुटकी का संकेत कर घोड़ों को घुटनों के बल बैठा दिया जिससे भयंकर अस्त्र कृष्ण और अर्जुन के मुकुटों को छेदते हुए ऊपर से निकल गए। कभी भीष्म जैसे इच्छामृत्यु वाले और द्रोणाचार्य जैसे अजेय आचार्य को जीतने की रणनीतियां बताई। कभी भीष्म की एक पाण्डव को मारने की प्रतिज्ञा तुड़वाने हेतु द्रौपदी को ब्राह्ममुहूर्त में भीष्म का अभिवादन करने की युक्ति सिखाई। कभी भीष्म के अर्जुन पर भीषण आक्रमण के समय अपने शरणागत भक्त को बचाने हेतु चाबुक लेकर और रथ का चक्का उठाकर भीष्म की ओर दौड़े। कभी कर्ण की अमोघ शक्ति को निरस्त करने हेतु घटोत्कच को उससे उलझाया और कभी अर्जुन के थके-मांदे एवं असावधान होने पर स्वयं आगे खड़े होकर अपनी छाती पर प्रहार सह लिया और भक्त की रक्षा की। इस प्रकार भगवान् अपने शरणागतों के लिए सचमुच एक कल्पवृक्ष ही बन गए। वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम के मुख से भी शरणागतों के लिए अभयदान की अलौकिक घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(युद्ध काण्ड, अष्टादशसर्ग का 33वां श्लोक)

विभीषण की शरणागति के समय भगवान् सुग्रीव आदि सभी उपस्थित जनसमूह को सम्बोधन करते हुए घोषणा करते हैं, 'जो एक बार भी यह कह कर कि हे भगवान्! मैं आपका ही हूं, मेरे शरणागत होकर याचना करता है उसे मैं सब भूतप्राणियों से अभयदान दे देता हूं। यह मेरा पक्का व्रत है।'

भगवान् राम ने शरणागत भरत को अलौकिक प्रेम का दान दिया। शरणागत केवट को हृदय से लगाया, शरणागत निषादराज गुह को प्रेमाश्रुओं से भिगो दिया, शरणागत जटायु को मोक्ष दान दिया, शरणागत सुग्रीव को मैत्री दान दिया, शरणागत हनुमान् को भक्तिदान दिया, शरणागत अंगद को अभय दान, शरणागत

विभीषण को स्वर्णलंका का साम्राज्य दान दिया, शरणागत अहिल्या का उद्धार किया, शरणागत भीलनी का आतिथ्य स्वीकार कर उसे भक्ति का अमृत प्रदान किया। इस प्रकार शरणागत की रक्षा, उसका मार्गदर्शन, मंगल मांगल्य भगवान् का ही उत्तरदायित्व बन जाता है इसलिए कहा गया है—प्रपन्न पारिजाताय।

तोत्त्रवेत्रैकपाणये

भगवान् श्रीकृष्ण अपने एक हाथ में घोड़ों की लगाम एवं चाबुक को थामे हुए हैं। वे एक आदर्श सारथि हैं। वास्तव में हमारे जीवन रूपी रथ के वे ही चालक हैं और वे ही मालिक हैं। पार्थसारथी के रूप में तो वे अपनी भक्तवत्सलता की लीला कर रहे हैं। शरणागत होने पर भगवान् अपने भक्त के भी सेवक बन सकते हैं। यही दर्शाने के लिए अर्जुन के सारथि हैं, किन्तु एक विलक्षण स्थिति पैदा हुई जब मोह के कारण अर्जुन रोने लगा और भगवान् मुस्कराते रहे। लौकिक दृष्टि से देखने पर लगेगा कि रईस (रथी) रो रहा है और साईस (सारथी) मुस्करा रहा है। किन्तु वास्तव में मालिक तो भगवान् ही हैं। अर्जुन को तो निमित्त मात्र ही बताया गया है। सामान्य रूप से महारथी की आज्ञानुसार सारथि रथ हांकता है पर यहां इस दिव्य सारथि की आज्ञानुसार उसके शरणागत होकर महारथी एक महासमर में युद्ध करके विजय लाभ करता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम और बुद्धि को सारथि एवं सांसारिक विषयों को घोड़ों के चरने योग्य घास-पात आदि कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

1/3/3-4, कठ. उ.

आत्मारूपी महारथी की आज्ञानुसार बुद्धिरूपी सारथि शरीररूपी रथ का संचालन करे, इन्द्रियरूपी वेगवान और चंचल घोड़ों पर मनरूपी सुदृढ़ लगाम रहे जो बुद्धिरूपी सारथि के हाथ में हो। इन्द्रियरूपी घोड़ों को संयमपूर्वक उचित आहार दिया जाए किन्तु रथ के दौड़ते समय मार्ग में इन्द्रियरूपी घोड़े विषयरूपी हरी घास को दायें-बायें देखकर विचलित न हो जावें इसके लिए घोड़ों की आंखों पर दोनों ओर चमड़े के खोपड़े (शंकु) लगाए जाते हैं। इन्हें काबू में रखने के लिए तथा दिशा संचालन के लिए लगाम कसी जाती है। उन्हें सचेत करने और तेज दौड़ाने हेतु चाबुक प्रयोग में लाया जाता है। तब शरीररूपी रथ ठीक दिशा में लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

कठोपनिषद् के इस रथ और गीतोपदेश के रथ में बहुत समानता होते हुए भी एक विलक्षणता यह है कि रथ का वास्तविक मालिक (गुरु) चालक की लीला कर रहा है और अपने एक शरणागत शिष्य को मालिक के सिंहासन पर बैठने का सम्मान दे रहा है।

यदि हम अपने जीवनरूपी रथ की लगाम और चाबुक भगवान् के हाथ में दे दें और अर्जुन के समान शरणागत हो जावें तो वे निश्चय ही हमें इहलोक के संकटों से बचाते हुए रथ को विजय मार्ग की ओर ले जावेंगे और परलोक में भी सब बाधाओं को पार कराते हुए मोक्षधाम तक पहुंचा देंगे।

भगवान् के हाथ में तोत्त्र (लगाम) एवं वेत्र (चाबुक) का प्रतीकात्मक अर्थ भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। चाबुक गति की प्रतीक है और लगाम संयम की। जीवन में गति (Speed, Velocity) के साथ संयम (Control, Resistance) भी अनिवार्य है। गतिहीन जीवन तो मृतक तुल्य है और भीषण रूप से गतिमान किन्तु संयमहीन जीवन तो सर्वनाश का आह्वान है। यदि गाड़ी में प्रचण्ड गति है और गति को संयमित करने के लिए ब्रेक है ही नहीं तो गाड़ी के चालक, मालिक और यात्री किसी भीषण दुर्घटना की ओर वेगपूर्वक बढ़ते जा रहे हैं। आज विज्ञान ने मानव को गति बहुत अधिक दे दी है जिसके कारण उसके विमान, रॉकेट बहुत तीव्र गति से दौड़ने लगे हैं। विज्ञान ने दूरी पर, काल पर, ध्वनि पर, विद्युत् पर, ताप एवं शीत पर भी विजय पाने का प्रयास किया है। इससे मानव की गति बढ़ गई है। भौतिकवाद ने जीवन के सुख-साधनों के प्रलोभन बढ़ाकर, मनुष्य की इच्छाओं को भड़काकर मनुष्य के मन एवं इन्द्रिय को चंचल वेगवान घोड़ों के समान घुड़दौड़ की स्पर्धा में दौड़ा दिया है, किन्तु विज्ञान एवं भौतिकवाद के पास मन की घुड़दौड़ और यानों की उड़ान पर संयम करने अथवा अंकुश लगाने के लिए पर्याप्त युक्ति नहीं है। केवल अध्यात्म ही वह संयम प्रदान करता है जिसके द्वारा गति को वश में करके आवश्यकतानुसार दिशा-दर्शन एवं भोग पर नियंत्रण करके उसे मानव जीवन के लिए मंगलकारी बनाया जा सकता है। सतलुज नदी का जो जल प्रतिवर्ष पंजाब के बहुत बड़े भू-भाग को बाढ़ से ध्वस्त कर देता था उसी की निर्बाध गति को जब भाखड़ा बांध द्वारा संयमित किया गया और जल की शक्ति को आवश्यकतानुसार दिशा-दर्शन एवं नियंत्रण देकर विद्युत् ऊर्जा का उत्पादन किया गया तो भाखड़ा की नहरों का जल एवं उसकी विद्युत् ऊर्जा का बल पंजाब, दिल्ली, राजस्थान राज्य के लिए एक अमूल्य वरदान बन गया। अत: जीवन में गति एवं संयम, दोनों का सुन्दर समन्वय चाहिए। भगवान् के हाथ में तोत्त्र एवं वेत्र इसी समन्वय के प्रतीक हैं।

ज्ञानमुद्राय:

परमेश्वर ज्ञानस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, प्रकाशस्वरूप है। भगवान् का अर्थ ही तेजवान, प्रकाशवान एवं ज्ञानवान है। वेद में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' तथा 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं

ब्रह्म' द्वारा सत्य और अनन्त को ब्रह्म कहा गया है। गीता में भी भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। 4/38, गीता

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र तत्त्व सारे विश्व ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा नहीं है। भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 4/36, गीता

हे अर्जुन! यदि तू सब पापियों से भी अधिक बड़ा पापी हो तब भी तू ज्ञान-रूपी नौका द्वारा नि:संदेह समस्त पापों से तर जाएगा।

वेदान्त मत में सब प्रकार के पाप वास्तव में अज्ञानजनित भूल ही हैं। ज्ञान के प्रकाश से भूल दूर होते ही जीव निष्पाप हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के समस्त पाप ज्ञानरश्मि के स्पर्श से ही लव (क्षण) मात्र में लुप्त हो जाते हैं।

ईसाई मत एक मौलिक पाप (Original sin) की कल्पना करता है। उनके अनुसार आदम ने ईश्वर के मना करने पर भी जो स्वर्ग का फल खा लिया वही मौलिक पाप है जो आज तक समूची मानव जाति को पापी बनाये हुए है। वे यह अंधविश्वास रखते हैं कि मनुष्य चाहे कितने भी पवित्र कर्म करे वह तब तक पाप-मुक्त होकर स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक वह ईसा को अपना व्यक्तिगत मुक्तिदाता नहीं मानता। इसकी तुलना में भारतीय दर्शन का मत है कि प्रत्येक जीव अपने वास्तविक स्वरूप में पवित्र एवं निष्पाप है। उसमें मौलिक पाप के स्थान पर मौलिक दिव्यता है। सृष्टि पाप के बीज से पैदा नहीं हुई, वह सच्चिदानन्दघन से ही प्रकट हुई है। प्रत्येक पाप वास्तव में एक भूल है, जो ईश्वरीय ज्ञान के प्रकट होते ही लुप्त हो जाता है। जैसे रात्रि के घने काले अंधेरे को जो करोड़ों योजन दूरी तक फैला हुआ है उसे न झाड़ू बुहारी से हटाया जा सकता है, न तलवार से काटा जा सकता है, न तोपों से उड़ाया जा सकता है, न ही किसी अन्य उपाय से। किन्तु सूर्य के प्रकाश की प्रथम किरण के स्पर्श मात्र से ही वह करोड़ों योजन तक फैला हुआ भयानक काला अंधेरा लव (क्षण) मात्र में ऐसा लुप्त हो जाता है कि उसका कोई चिह्न मात्र भी नहीं बचता। इसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्य की एक हलकी-सी किरण छू जाने से ही समस्त पाप लुप्त हो जाता है। पाप मानव जीवन का मौलिक अंग नहीं है जैसा कि ईसाइयत मानती है। पाप मानव पर आरोपित है, अत: वह उससे अलग हो सकता है। यदि पाप जीवन का मौलिक अंग होता तो रत्नाकर डाकू कभी निष्पाप महर्षि वाल्मीकि न बन पाता और अपनी पत्नी के काम में अंधा नवयुवक गोस्वामी तुलसीदास न बन पाता। मद्य, मांस, मदिरा का प्रयोग

करने वाला एक बिगड़ा हुआ बनिये का बच्चा (गांधी) महात्मा न बन पाता। वास्तव में मन के बदलने से मानव बदल जाता है। यह हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया भारतीय दर्शन की अमूल्य देन है।

जिस ज्ञान के चमत्कार से हृदय परिवर्तन रूपी परिष्कार होता है वह ज्ञान ब्रह्म का गुण मात्र ही न होकर साक्षात् ब्रह्म ही है। भगवान् कृष्ण स्वयं मूर्तिमान ज्ञान हैं, वे ज्योति पुरुष हैं, वे ज्ञान के अवतार, दिव्य ज्ञानवपु हैं। उनके श्रीमुख से जो गीताज्ञान निःसृत हुआ वह भी समस्त वेद-वेदांग का सार, उपनिषदों का नवनीत तथा ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा है। वह साक्षात् श्रीकृष्ण का हृदय ही है। मानो ज्ञानरूप ब्रह्म का हृदय ही पिघल कर गीतारूपी गीत के रूप में तरंगायमान हो उठा हो।

ज्ञानोपदेश करते समय गुरु की मुख मुद्रा एवं हस्त मुद्रा दोनों उसके अन्तर्ज्ञान की प्रतीक होती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण रथ में सारथि के आसन पर विराजमान तनिक मुड़ कर अर्जुन की ओर देख रहे हैं। उनके नेत्र ज्ञान के समाधान से प्रकाशित हैं। उनके मुखमण्डल पर अपार शान्ति विराजमान हैं। वे ब्राह्मी स्थिति में हैं, वे सारथि के साधारण कर्तव्य से बहुत ऊंचे उठकर एक जगत्गुरु के उच्च आसन पर स्थित हो गए हैं, उनके मुखारविंद से ब्रह्मविद्या योगशास्त्र से समन्वित होकर एक मधुर गीतिका बनकर प्रस्फुटित हो रही है। उनका यह गीतोपदेश का दर्शन ही समस्त गीताज्ञान का सार है। जिसने गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण के इस स्वरूप का ध्यान कर लिया उसे गीता का मर्म सहज सुलभ हो गया। बीज में वृक्ष निहित है। कृष्ण के स्वरूप में उनका समस्त ज्ञान निहित है।

गुरु की मुख मुद्रा के साथ उसकी हस्त मुद्रा का भी महत्त्व है। भारत में पूजा एवं कर्मकाण्ड के लिए अनेक प्रकार की हस्त मुद्रायें प्रचलित हैं। जैसे कमल मुद्रा, घण्टिका मुद्रा, पुष्पांजलि मुद्रा, नमस्कार मुद्रा आदि-आदि। मूर्तिकला में भी अनेक मुद्राओं का प्रयोग होता है जैसे भूमि स्पर्श मुद्रा, संकल्प मुद्रा, आशीर्वाद मुद्रा, अभय मुद्रा, ध्यान मुद्रा, देशना मुद्रा और ज्ञान मुद्रा। ज्ञान मुद्रा में गुरु अपने अंगुष्ठ को तर्जनी अंगुली से स्पर्श करता है। इस प्रकार शेष तीनों अंगुलियां तर्जनी से अलग हो जाती है। तर्जनी उंगली जीव का प्रतीक है। अंगुष्ठ ब्रह्म का प्रतीक है। शेष तीन उंगलियां सत्त्व, रज, तम (तीन गुणों) की प्रतीक हैं। तर्जनी उंगली जो प्रायः तीन गुणों की प्रतीक तीन उंगलियों के सम्पर्क में रहती है वह जब तीनों से पृथक् होकर अंगुष्ठ रूपी ब्रह्म से जुड़ जाती है तब इसे ज्ञान मुद्रा या चिन्मुद्रा कहा जाता है। ब्रह्मज्ञान का उपदेश ज्ञान-मुद्रा में किया जाता है। इसलिए भगवान् की बाह्य स्थिति, उनकी मुख मुद्रा एवं हस्त मुद्रा सभी कुछ उन ज्ञानवपु की ज्ञान मुद्रा की परिचायक हैं।

भगवान् कृष्ण षोडश कला सम्पूर्ण साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर ही हैं। कृष्ण का अर्थ है सबको अपनी ओर आकृष्ट करने वाला। अत: वे सबके आकर्षण के केन्द्र हैं। शैशव में वे बाल लीलाओं के कारण ब्रज के गोप-गोपियों के आकर्षण बिन्दु बने। बालपने में वे कंस के द्वेष के कारण उसके द्वेष के लक्ष्य बने। महाभारत के महासमर में वे जहां पाण्डवों के आकर्षण बिन्दु थे वहां वे कौरव सेनापति भीष्म पितामह आदि के भी इष्टदेव थे। युद्ध के प्रारम्भ में जहां अर्जुन उनसे सहायता मांगने आया था वहां दुर्योधन भी उन्हीं से सहायता की याचना करने पहुंचा था। अत: वे उदात्त सद्गुणों के कारण सभी के आकर्षण बिन्दु थे। ऐसा दिव्य पुरुष, गुरु अथवा जगद्गुरु बनने के योग्य होता है। इसीलिए वे गुरुरूप हमें ज्ञान मुद्रा में गीतोपदेश दे रहे हैं।

गीतामृतदुहे नमः

भगवान् श्रीकृष्ण गीतारूपी अमृत को दुहने वाले हैं। अमृत का वास्तविक अर्थ है जीव को मरण से मुक्ति अथवा मोक्षपद प्राप्ति। किन्तु भाषा एवं साहित्य में लोग जीवन को अधिक लम्बा करने वाले पदार्थ को भी अमृत की उपमा दे देते हैं जैसे अमृतं क्षीरभोजनम् (अर्थात् दूध का भोजन अमृत है)। इसी प्रकार घृतामृत, पंचामृत, चरणामृत, यज्ञामृत, अमृतफल आंवला, अमृता नामक जड़ी बूटी, अमर बेल आदि में अमृत एवं अमर शब्द जीवन को लम्बा करने के गुण के वाचक हैं न कि जीवन को शाश्वत बनाने के वाचक। देवताओं एवं असुरों ने मिलकर जो समुद्र मंथन कर अमृत निकाला और जिसे देवताओं ने पान किया वह भी अधिक लम्बे काल तक स्वर्ग के सुख भोगने में सहायक मात्र है। जीव को सदा के लिए अमर शाश्वत जीवन दिलाने वाला नहीं। गीता के नवम अध्याय में भगवान् कहते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।

9/21, गीता

'वे (देवता) उस विशाल स्वर्गलोक को भोगने के पश्चात् पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः इस मर्त्यलोक में आते हैं। इस प्रकार वेदों में वर्णित सकाम यज्ञों को करने वाले लोग इस आवागमन के चक्र में घूमते रहते हैं।' इससे सिद्ध होता है कि देवता अमृत पीकर भी सच्चे अर्थ में मुक्त अथवा शाश्वत नहीं बन सके। इसकी तुलना में गीता का ज्ञानामृत सच्चे अर्थ में अमृत है क्योंकि इस ब्रह्मज्ञान से जीव मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं।

गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।

'गीतारूपी गंगाजल के पान से मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता।'

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। 8/16, गीता

भूलोक से ब्रह्मा के लोक तक जितने लोक हैं सभी पुनरावर्ती हैं। पर मेरी शरण में आने के बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

यह गीतारूपी अमृत जो वास्तव में भगवान् के हृदय का ज्ञानामृत है वह एक दृष्टिकोण से उपनिषद् रूपी गायों के दोहन से भी प्रकट हुआ है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या का ही नाम है। उपनिषदें प्रारम्भ में मौखिक विद्या रूप ही थीं। बहुत बाद में पुस्तक रूप में लिखी गईं। विद्या एक ज्ञान की ज्योति है जो न कागज में है, न कलम में, न अक्षरों में, न ग्रंथों में, न वाणी में और न प्रश्नोत्तर-वार्तालाप में। वह तो ब्रह्मविद्या है जिनको इन माध्यमों से यदा कदा सीमित मात्रा में प्रकट करने का प्रयास किया जाता है। वास्तविक वेदान्त विद्या या उपनिषद् विद्या ब्रह्मवेत्ता के अन्तर का प्रकाश है और वाणी, अक्षर तथा ग्रंथ केवल उसके बहिरंग संकेत हैं।

सभी उपनिषदें जंगल की कठिन गायों के समान हैं जो किसी साधारण व्यक्ति के द्वारा न वश में की जा सकती हैं और न दोहन की जा सकती हैं। जंगली गायें पालतू गायों की अपेक्षा बहुत अधिक बलशाली एवं दुर्दान्त होती हैं। वे जंगल में पैने सींगों से शेर तक का पेट फाड़ सकती हैं। उन्हें नियंत्रित कर उनका दूध दुह लेना बड़ा कठिन कार्य है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के बड़े दुरूह एवं कठिन आख्यान हैं। ब्रह्मविद्या के मर्म को समझना किसी सामान्य दार्शनिक के वश की बात नहीं है। किन्तु भगवान् कृष्ण एक दिव्य गोपाल हैं जिन्होंने उपनिषद् की कठिन गैया को भी वश में कर अपने प्रिय सखा अर्जुन को गोवत्स बनाकर उसके निमित्त से संसार के सभी सुधीजनों के दुग्धपान (मार्गदर्शन) के लिए गीतारूपी दुग्धामृत का दोहन कर उसे भाषा के रत्नजड़ित प्याले में परोस कर और उसमें काव्य का केसर और संगीत की तान मिलाकर विश्व मानवता के उपभोग के लिए प्रस्तुत किया।

गीता ध्यान

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।

'स्वयं भगवान् ने अपने मुखारविंद से पार्थ के प्रति जो गीता सुनाई, पुराणमुनि वेदव्यास ने महाभारत के मध्य में जिसे बड़ी सुन्दरता से सजाया, महाभारत के 18 पर्वों के बीचोबीच गीतारूपी ज्ञान इस प्रकार सजा हुआ है मानो वह समूची

महाभारत का सार अथवा महाभारतरूपी 18 पखुंड़ियों वाले विशाल कमल के केन्द्र में स्थित उसका मधुकोश अथवा पावन पराग है, जो भगवद्गीता स्वयं 18 अध्याय वाली है, जो अद्वैतरूपी अमृत की वर्षा करने वाली है उस भगवती-भवतारिणी का मैं ध्यान करता हूं।'

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदीकैवतर्कः केशवः।।

'महाभारत की भीषण रणनदी जिसके बड़े विशाल एवं सुदृढ़ तट भीष्म पितामह जैसे इच्छामृत्यु महापुरुष एवं द्रोणाचार्य जैसे अजेय शस्त्र-शास्त्री हैं, जिस रणनदी में जयद्रथ जैसे (अभिमन्यु की हत्या करने वाले) भयंकर योद्धा जलरूप से प्रवाहित हो रहे हैं, जिस नदी में गांधार निवासी गांधारी के भाई कौरवों के मामा छली शकुनी जैसे नीले कमल फैले हुए थे (नीले सुन्दर कमलों को देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाता है और नीचे के गहरे भयंकर जल के प्रति असावधान हो जाता है, कमल के लोभ में आगे बढ़ते ही डूब जाता है।), जिसमें शल्य जैसे बड़े-बड़े घोर घड़ियाल तैर रहे हैं, जिसमें गुरु कृपाचार्य (द्रोणाचार्य के साला) जैसे जल की प्रबल धार बनकर प्रवाहित हो रहे हैं (जिस प्रकार प्रबल जलधार के थपेड़े यात्री या नौका को बार-बार पीछे धकेल देते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य अपने आक्रमण से पाण्डवों की सेना को बार-बार पीछे धकेल देता है) जिस रणनदी में सूर्यपुत्र कर्ण एक भीषण तूफान की तरह प्रवाहित हो रहा था, जिस रणनदी में भयंकर बदले की भावना से पाण्डवों के पुत्रों एवं सेनानियों को धोखे से रात के समय मार डालने वाले अश्वत्थामा और विकर्ण जैसे भयंकर मगरमच्छ तैर रहे थे, जिसमें धन-सत्ता, पद के लोभी और दुष्टता एवं धोखे के सदेह स्वरूप दुर्योधन जैसे भंवर उठ रहे थे वह महाभारत की भयंकरतम रणनदी भी पाण्डव लोग इसी कारण पार कर सके क्योंकि उनके केवट (मल्लाह) स्वयं भगवान् कृष्ण थे।'

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं।
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्।।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा।
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे।।

'कलिमल का नाश करने वाला महाभारत रूपी महान् कमल जो पराशर ऋषि के पुत्र वेदव्यास के पवित्र वचनरूपी सरोवर से प्रकट हुआ, जिसमें गीता

ज्ञान जैसी श्रेष्ठ मीठी सुगन्धि भरी है, जिसमें नाना प्रकार के आख्यानकों का केशर है, जिसमें अनेक हरिकथाओं के सम्बोधन है, लोक में सज्जनरूपी भ्रमर प्रतिदिन जिसका प्रसन्नतापूर्वक रसपान करते हैं, वह हमारा कल्याण करे।'

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः।।

'इस पुण्यमयी गीताशास्त्र का जो पुरुष प्रतिदिन पवित्र होकर अध्ययन करता है वह भय, शोकादि से मुक्त होकर विष्णुपद को प्राप्त करता है।

जीव, ईश्वर और ब्रह्म का अन्तर क्या है? जो माया (प्रकृति) के वश में है वह जीव है, माया (प्रकृति) जिसके वश में है वह ईश्वर है और जो माया (प्रकृति) से नितान्त परे है वह ब्रह्म है। ब्रह्म के सृष्टिकर्ता रूप को ब्रह्मा, पालनकर्ता रूप को विष्णु और संहारकर्ता रूप को शिव कहा जाता है। तत्त्वतः इन तीनों में कोई भेद नहीं है। अतः विष्णु शब्द कहीं ईश्वरवाचक और कहीं ब्रह्मवाचक अर्थ में प्रयोग होता है। कठोपनिषद् में **'तद् विष्णोः परमं पदम्'** इस मंत्र में विष्णु के परमपद को ही परब्रह्म या मोक्ष कहा गया है।

जीव भय और शोक से ग्रस्त रहता है। यदि वह इनसे मुक्त हो जाए तो साक्षात् विष्णु पद को प्राप्त कर ले। जीव का मोह ही उसके भय एवं शोकादि का कारण होता है। मोह का अर्थ मूर्च्छित हो जाना। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अज्ञानजनित आकर्षण को ही मोह कहते हैं। इसमें बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है, विवेक लुप्त हो जाता है और जीव जिन वस्तुओं, घटनाओं या व्यक्तियों से भय अथवा शोक नहीं होना चाहिए उन्हीं से भयभीत होने लगता है और उनका शोक करने लगता है। उदाहरणार्थ—अपने नित्य पहनने वाले कोट से भय का कोई कारण नहीं पर अंधेरे में उसे ही भूत समझ कर डरने लगता है। धुंधले प्रकाश में, अंधेरे में उसकी नींद खुलने पर भयभीत हो जाता है, पर प्रकाश होने पर भय समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान के होते ही मोह लुप्त हो जाता है और भय से मुक्त हो जाता है। नश्वर वस्तुओं, क्षणभंगुर शरीरों और परिवर्तनशील घटनाओं के ठीक स्वरूप को न जानने के कारण उनके प्रति मोह हो जाता है। उनके छिन जाने या नष्ट हो जाने की आशंका से उसके नाश से पहले ही भय होने लगता है और उनके छिन जाने के पश्चात् जीव शोक करने लगता है।

उदाहरण—एक धनी साहूकार धन के प्रति मोह के कारण चिंतित एवं भयभीत रहता है कि हाय! धन लुट न जाए और धन के लुट जाने पर शोक में छाती पीटने लगता है। पहले भय, बाद में शोक। इसी प्रकार मोहग्रस्त माता चिंता

करती रहती है कि कहीं मेरे बच्चे पर संकट न आ जाए और नश्वर शरीर के चले जाने पर शोक में डूब जाती है।

इस भय, शोक, मोह का कारण अज्ञान है जो स्वयं के वास्तविक स्वरूप को भुला देने से, गलत मैं और मेरा को अपना समझ लेते हैं, पर जो गीता की शरण में जाते हैं, उस पर नित्य मनन, चिंतन एवं निदिध्यासन करते हैं उन्हें अपने वास्तविक तात्त्विक स्वरूप का बोध होने लगता है। तब वे भय, शोक, मोह से मुक्त होकर आत्मपद को, विष्णु पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस ऐहिक जगत् में अथवा आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी के कारण सारी बुराई होती है।

मानव जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है तो वह है यही आत्मविश्वास। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी।

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधता अर्थात् उठो! जागो! तथा लक्ष्य प्राप्ति होने तक रुको मत।

—स्वामी विवेकानन्द

× × ×

श्लेगल ने पाया कि भारत सार्वभौम धर्म का आवास है। सर्वाधिक सुसंस्कृत मानव जाति का पालना है। जे.सी. हर्डर ने प्रश्न किया 'यूरोप के लोग आए कहां से?' और स्वयं उत्तर दिया—'एशिया से'। शॉपेनहावर का विचार था कि भारत मानव जाति की पितृभूमि है और उन्होंने आशा व्यक्त की कि एशिया से उद्भूत यूरोपीय जन फिर से अपने मूल घर के धर्मों को अपनाएंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व एवं उसका विश्वव्यापी प्रभाव

भगवान् श्रीकृष्ण से अधिक व्यापक एवं सर्वतोमुखी व्यक्तित्व विश्व के इतिहास में सम्भवत: कोई नहीं हुआ होगा। लोक और परलोक, आदर्श एवं यथार्थ, कर्म एवं ज्ञान, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, शक्ति और शील, लीला और मर्यादा, यज्ञ एवं युद्ध, वैभव एवं विरक्ति, राजनीति एवं ब्रह्मज्ञान—सभी में वे चरमोत्कर्ष पर प्रतिष्ठित अलौकिक महाविभूति हैं।

यानी भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व इतना अनन्तमुखी है कि यह कहना कठिन है कि वे क्या नहीं थे। योग-योगेश्वर, ज्ञानदाता, सिद्ध, साधक, मित्र, सारथि, रक्षक, राष्ट्रनिर्माता, आदर्श कर्मयोगी, आदर्श प्रेमी, आदर्श शासक, सफल राजनीतिज्ञ, शूर शिरोमणि, मानवता के गौरव, लोकनायक, लोक शिक्षक—वे सभी कुछ थे। पिछले 5000 वर्षों की गंभीर गवेषणा के पश्चात् भी अभी तक उनके बहुरंगी जीवन की अनेक-अनेक अज्ञात दिशायें खोजनी शेष हैं।

श्रीकृष्ण भगवान् घोर संकटों के दारुण शूलों के बीच भी मुसकराने वाले फूल थे। जिसके मन में किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता वह सदा प्रसन्नवदन रहता है। भगवान् कृष्ण ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा थे। राग-द्वेष रहित युद्ध भी भगवान् की पूजा की कोटि में परिगणित होता है।

भगवान् कृष्ण का व्यक्तित्व इतना मोहक एवं हृदयस्पर्शी रहा है कि अनेक मुसलमान भक्त यथा रसखान, रहीम, बीबी चाँद, उस्मान, नजीर, मुर्तजा अली, ख्वाजा दिल मुहम्मद, रैहाना तैय्यब जी, अनेक सिक्ख गुरुओं एवं अनेक पश्चिमी ईसाई भक्तों एवं संतों ने भी उन्हें एवं उनकी गीता को अलौकिक काव्य पुष्पांजलियां चढ़ाकर पूजा है।

इंडोनेशिया का मुस्लिम नागरिक भी आज तक श्रीकृष्ण भगवान् की मनीषा एवं भीम, अर्जुन के बल-पौरुष की सौगंध खाता है। थाई देश, कम्बोडिया, लवदेश एवं मलाया आदि में असंख्य श्रीकृष्ण मंदिर विद्यमान हैं। नारा (जापान)

में मुरली मनोहर श्रीकृष्ण की मूर्ति, आर्मेनिया के प्राचीन कृष्ण मंदिर, मंगोल भाषा में प्रचलित कृष्ण काव्य, अरब में हजरत मुहम्मद के चाचा श्री अबुल हिक्म द्वारा राम-कृष्ण की भूमि (भारत) की वंदना। ईरान, इराक, मिस्र, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, अमेरीका आदि में गीता भक्तों की अलौकिक परम्परा, अणु बम के आविष्कारक डॉ. राबर्ट ओपनहीमर की गीता भक्ति तथा आधुनिक काल में सारे पश्चिमी देशों में कृष्ण भावनामृत संघ (हरे कृष्ण आंदोलन) के माध्यम से सहस्रावधि विदेशियों की श्रीकृष्ण भक्ति एवं अमेरीका में न्यू वृंदावन एवं नवीनपुरी नगरी की स्थापना भगवान् कृष्ण के विश्वव्यापी व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हैं।

विश्व मानवता का इतिहास तो अत्यधिक पुरातन है किन्तु मनुष्य के दुःखों के कारणों में बुद्धि का इतिहास तो अधिकाधिक 200 वर्षों का ही है। आधुनिक मनीषा—अर्नाल्ड टायनबी, आलविन टाफलर आदि ने वर्तमान विज्ञान के संदर्भ सहित विश्व के विभिन्न दर्शनों का गहन अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि विश्व की समस्याओं का समाधान, सुख का मार्ग भारत के पास है। भारत की चारित्रिक विशेषता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतोहि कर्म भूरेषा ह्यतोऽन्य भोगभूमयः।।

अर्थात् विश्व में भारत भूमि ही श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य देश भोगभूमियां हैं।

× × ×

प्रत्येक राष्ट्र का एक प्राण केन्द्र होता है और उसी के आधार पर उस राष्ट्र की संरचना और पुनर्जागरण हो सकता है। भारत के लिए यह प्राण केन्द्र धर्म है। देश के पतन का कारण यथार्थ धर्म की शिथिलता है। धर्म भारत का मेरुदण्ड है। इस मेरुदण्ड को ही मजबूत बनाये रखने में भारत का अस्तित्व एवं उन्नति सुनिश्चित है। धर्म मतवाद या बौद्धिक तर्क नहीं अपितु आत्मसाक्षात्कार ही धर्म है, अन्तर्निहित देवत्व का विकास ही धर्म है, शिवज्ञान से जीव सेवा ही धर्म है।

—स्वामी विवेकानन्द

जन्माष्टमी : प्रथम प्रवचन

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः।।

भगवान् कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द, भगवान् वासुदेव सब जीवों में व्यापक हैं अर्थात् उनमें वास करने वाले वसुदेवजी के पुत्र और हरि हैं अर्थात् सब प्रकार के पाप-ताप का हरण करने वाले हैं, जो साक्षात् अनादि अनन्त परब्रह्म परमेश्वर ही हैं, जो शरणागतों के समस्त क्लेशों का नाश करने वाले हैं, जो गोविन्द हैं अर्थात् जो समस्त इन्द्रियों के स्वामी हैं, और सारी इन्द्रियों से जो सारा जगत् प्रतीत होता है, उसके स्वामी हैं; उन भगवान् कृष्णचन्द्र के चरणों में हम पुन-पुनः नमस्कार करते हैं।

भगवान् के एक श्लोक की स्तुति पर थोड़ा विचार करें—

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।

कुरुक्षेत्र की रणस्थली में भगवान् वासुदेव अपने प्रिय सखा अर्जुन को उपदेश कर रहे हैं। उस गीता रत्न में भगवान् का स्वरूप क्या है? प्रपन्न पारिजाताय—जो उनके प्रपन्न होता है शरणागत होता है उसके लिए भगवान् कल्पवृक्ष बन जाते हैं, शरणागतों की समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर देने वाले। उसके मन की अन्तरतम की इच्छाओं को जो उसके लिए कल्याणकारी है, उसको भगवान् पूरा कर देते हैं।

तोत्त्रवेत्रैकपाणये—जो उस कुरुक्षेत्र की रणस्थली में गीता उपदेश की मुद्रा में रथ में बैठे हुए, घोड़ों की लगाम और हाथ में चाबुक थामे हुए जो ज्ञानमुद्रा में अपने प्रिय सखा अर्जुन को उपदेश कर रहे हैं। कृष्णाय—जो सारी सृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले, खींचने वाले, सबको केन्द्रीभूत करने वाले, ऐसे जो ज्ञानमुद्रा में श्रीकृष्ण हैं वो गीता का उपदेश कर रहे हैं। गीतारूपी अमृत का दोहन कर रहे हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूं। इस चित्र को थोड़ा हृदय में बैठाकर निहारें। देखें, कितना आनन्द आता है।

भगवान् शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष हैं। कैसे शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष हैं? जो सर्वतोभावेन भगवान् की चरण शरण में आ जाता है—कि भगवान्! मैं तो आपका हूं। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है
या यूं भी वाह-वाह वा वूं भी वाह-वाह है

कुन्दन के हम बने हैं जो चाहे तू गला ले
दाओ न हो तो हमको तू आज आजमा ले।

हम तो कुन्दन के बने हैं भगवान् जब चाहे तेरी इच्छा हो गलाकर देख ले। कुन्दन को जलने का कौन डर है? अगर विश्वास न हो तो अभी इसी क्षण आजमा कर देख लो? अभी मौत भेज दो, अभी बिजलियां कड़क उठे, बड़ी मुसीबत आ जाए, हम आह कर जाएं, उफ कर जाएं, सी कर जाएं तो कहना इनसान का बच्चा नहीं था। अब तो भगवान् आपकी शरण में आ गए।

जैसी तेरी खुशी हो सब नाच तू नचा ले
हम राजी हैं उसी में जिसमें तेरी रजा हो
या यूं भी वाह-वाह वा वूं भी वाह-वाह है
या दिल से हमको ढहा दे प्यार प्यारे
या तेग खींच जालिम टुकड़े उड़ा हमारे।

सुख में तो सब कहते हैं हां भगवान् बड़ा अच्छा है, बड़ा अच्छा है। पर मुसीबत में, दु:ख में हम भगवान् को गाली देते हैं। हमारा बेटा छीन लिया, यह छीन लिया, वह छीन लिया, हमारा सर्वनाश कर दिया। पर शरणागत ऐसा नहीं कहता है।

अब तक प्यार-प्यारे या दिल से हमको अब तक प्यार-प्यारे
या तो दिल से प्यार कर दे या जालिम तलवार खींचकर मेरे टुकड़े उड़ा दे।
चढ़ाना हो तो आसमानों में चढ़ा दे, मिटाना हो तो मिट्टी में मिला दे।

ऐसा व्यक्ति जो सर्वतोभावेन सब परिस्थितियों में भगवान् की चरण शरण में जाने को तैयार है उसके लिए भगवान् क्या नहीं देंगे? भगवान् उसकी कौन-सी कामना पूरी नहीं करेंगे। भगवान् उसको सर्वस्व देंगे।

प्रपन्न पारिजाताय—जो प्रपन्न है उसके लिए भगवान् कल्पवृक्ष हैं। गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन तर्क करता रहा। भगवान् हम क्यों लड़ें, हमारे गोत्रिय लोग हैं, हमारे वंश का नाश हो जाएगा, कुलधर्म नष्ट हो जाएगा, मर्यादा नष्ट हो जाएगी, स्त्रियां भ्रष्ट हो जाएंगी। वर्णसंकर संतानें पैदा होंगी, सारे कुल का नाश हो जाएगा। वो तो मूर्ख हैं, हम तो समझदार हैं। हम क्यों रक्त से सनी हुई

धरती पर राज्य करें? हम भिक्षा का अन्न खा लेंगे। अर्जुन बहुत बातें करता रहा। भगवान् मुस्कराते रहे और भगवान् ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। क्यों? चेला बहुत सयाना हो गया है, तर्क करता है। करने दो। भगवान् तो उसका मजा ले रहे हैं। उसके तर्क का उत्तर क्या देना, विचित्र स्थिति है भगवान् बने हुए हैं सारथि।

अर्जुन है महारथी
सारथि बैठा है आगे गाड़ी चलाने के लिए
मालिक बैठा ऊंचा, पीछे युद्ध करने के लिए
सारथि का काम है कोच चलाने का,
सारथि का काम है साईस का।
साईस तो आगे है, और रईस तो
गाड़ी का मालिक बनकर पीछे बैठा है
हालत अजीब हो रही है इस दृश्य में
रईस तो रो रहा है और साईस हँस रहा है
अश्रुपूर्ण नेत्रों से अर्जुन कह रहा है—
'सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।' 1/29 गीता

अर्जुन रो रहा है, मेरा अंग-अंग दर्द कर रहा है। मेरे शरीर में कंपकंपी हो रही है, रोंगटे खड़े हो गए, हाथ से गांडीव गिरा जा रहा है, मेरी त्वचा जल रही है, मैं खड़ा ही नहीं रह सकता, अब गिरा, अभी गिरा की स्थिति हो रही है, मेरा मन चक्कर खा रहा है। इस अवस्था में आजकल के किसी डॉ. को दिखाने से कहेंगे कि उसको पेरेलीसिस Paralyse's का Attack हो गया है, मुख सूख रहा है, Blood pressure High हो गया है? डॉ. तो यही निदान करेंगे। पर भगवान् उसकी स्थिति को जान रहे हैं इसलिए उसे किसी चिकित्सालय में नहीं भेजा कि जल्दी इलाज कराओ, इसको क्या हो गया? भगवान् उसकी स्थिति को जान रहे हैं। अतः भगवान् मुस्करा रहे हैं। पहले अर्जुन अपने दुःख से आंसू बहाता रहा, अपनी लाचारी, मजबूरी पर आंसू बहाता रहा और अपने मिथ्यातर्कों को मनवाने के लिए आंसू बहाता रहा तब भगवान् हँसते रहे। पर जब भगवान् के शरणागत होकर आंसू बहाये और कह दिया कि मैं तो अब आपकी चरण शरण में आ गया। अर्जुन ने कहा—भगवन्! कर्तव्य क्या है? अकर्तव्य क्या है? इसको मैं भूल ही गया। कृपणता का दोष मेरे में आ गया। उस कृपणता के दोष से मैं धर्म-अधर्म के वास्तविक अर्थ को भूल गया। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है क्या अकर्तव्य है, इसमें मैं भ्रमित हो गया हूं। इसलिए भगवान् मैं कुछ नहीं जानता। मैं आपकी चरण

शरण में आया हूं। जो उचित हो मुझे शिक्षा देवें। महात्मा गांधी कहते हैं—जब-जब बड़ी समस्याएं आती हैं तो अर्जुन की इस वाणी में मैं रोकर भगवान् के सामने निवेदन करता हूं और भगवान् गीता के प्रकाश में कोई न कोई मार्ग लेकर मेरे सामने स्पष्ट प्रकट हो जाते हैं। ये ले ये मार्ग है और एक चमकता हुआ गीता का श्लोक मेरे सामने आ जाता है और मुझे मार्ग मिल जाता है। अर्जुन की शरणागति का श्लोक हम सबको हृदयंगम होना चाहिए। अर्जुन की शरणागति का श्लोक हमारे हृदय से ध्वनित होना चाहिए। अर्जुन की शरणागति के श्लोक में हम भगवान् को, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर को प्रत्यक्ष सामने करके उसके मुख से गीता सुनने के अधिकारी बन जाते हैं। अतः अर्जुन की शरणागति का श्लोक ऐसी कोई माता या सज्जन न हो जिसे स्मरण न हो और जिसके हृदय से प्रतिदिन एक बार ध्वनित न होवे। अर्जुन की शरणागति का श्लोक क्या है? अर्जुन कहता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

2/7 गीता

अर्जुन कहता है—भगवन्! कृपणता के दोष से मेरा जो वास्तविक स्वभाव है, वीर स्वभाव, क्षत्रिय स्वभाव या धर्मात्मा का जो स्वभाव है वह दब गया है और धर्मतत्त्व के विषय में समूढ़चित्त हुआ मैं आपसे हाथ जोड़कर पूछता हूं, जो कुछ मेरे लिए निश्चितरूप से कल्याणकारी हो अपने मुखारविंद से आदेश दे दीजिये। मैं आपका शिष्य हूं। ये नहीं कहा कि मैं आपका बंधु हूं, भ्राता हूं, यह भी नहीं कहा कि मैं आपका मित्र हूं। आप सारथि मैं तो इस रथ का महारथी हूं, मैं रथ का मालिक हूं, ये नहीं कहा कि मैं पाण्डवों की सेना का सर्वोपरि सेनापति हूं। वह तो यह भी कह सकता था कि आप तो मेरे साले हैं मैं आपका बहनोई हूं। कुछ नहीं, मैं तो आपका शिष्य हूं। मैं आपके प्रपन्न हूं, मैं आपके शरणागत हूं। इसलिए आप मुझे शिक्षा दीजिए। शिक्षा देकर मुझे आप बचाइये। मैं किस हालत में हूं, मुझे रास्ता सूझता नहीं, भगवन्! मुझे रास्ता बताइये। यह है शरणागति, यह है प्रपत्ति। इस प्रपत्ति के गुण से भगवान् सब कुछ खोलकर निछावर कर देते हैं। इसके बाद भगवान् अपना कुछ भी खजाना बाकी नहीं छोड़ते, सारा ही ज्ञान उड़ेल देते हैं। इस प्रपत्ति से पहले भगवान् ने एक शब्द का भी गीता उपदेश नहीं दिया। इस प्रपत्ति के बाद भगवान् ने उपदेश करना शुरू किया।

कार्पण्यदोषो

कृपणता का दोष। आजकल हिन्दी में कृपणता का अर्थ करते हैं कंजूस। तो कंजूसी के दोष से अर्जुन का स्वभाव दब गया? कौन-सी चीज की कंजूसी? इस शब्द को समझने से बड़ा आनन्द होगा। वह कृपणता क्या है? कृपण शब्द आया

है कृपा से। कृपा तो बड़ी बढ़िया चीज है। कृपा बढ़िया चीज है पर आप किसी पर करें तब। कृपा का अर्थ हुआ कृपालु या दयालु व्यक्ति। बड़ा अच्छा, बड़ा महान्। पर दयनीय व्यक्ति है तरस खाने लायक। इसकी स्थिति बड़ी दयनीय है तरस खाने लायक। तो कृपण व्यक्ति दयनीय होता है। उस पर तरस आता है—अरे, किस हालत में पड़ा है। वह दूसरों पर दया नहीं करता। कंजूस व्यक्ति किसी पर दया नहीं करता और उसी कारण से उसकी अवस्था दयनीय बन जाती है। तरस खाने लायक बन जाती है। क्यों तरस खाने लायक बन जाती है? गुरुद्वारा में प्रसाद बंटता है। प्रसाद बंटते हुए में एक आदमी को बहुत बढ़िया कड़ाही हलवा का प्रसाद मिला। उसको थोड़ा लोभ हो गया। उस हाथ को नीचे करके दूसरा हाथ बढ़ाया कि थोड़ा और ले लेवे। आगे हाथ किया तो डांट मिली कि और नहीं मिलेगा और पीछे हाथ किया तो उसको कुत्ता खा गया। यह है दयनीय अवस्था। हाय! तरस आता है। चाहता था डबल हलवा खाऊंगा पर अपना हिस्सा भी नहीं रहा।

एक सज्जन ने कहा हम मन्दिर बना रहे हैं, अयोध्या पहाड़ में बड़ा अच्छा मन्दिर बनेगा, महान् मन्दिर बनेगा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का मन्दिर बनेगा। उनकी चरण धूलि से पवित्र हुई धरती में मन्दिर बनेगा। पर वह कहता है—जा-जा, हम कुछ नहीं देंगे। फिर कहा एक धर्मशाला बनाएंगे और एक वनवासी कल्याण के लिए छात्रावास बनाना है। देखो, मीनाक्षीपुरम् में इतना धर्मान्तरण हो गया है। धर्म जागरण के लिए दे दें। सबने कहा, कुछ तो दे दें। किसी काम के लिए दो, पर कुछ नहीं दिया। अब थोड़ी देर बाद आये डाकू। डाकुओं ने निकाला छुरा, गले को घोंटा। उसने कहा, अरे-अरे, वनवासी कल्याण आश्रम को दान करना है। अरे, अयोध्या पहाड़ के लिए दान करना है, विश्व हिन्दू परिषद को देना है। अब क्या देगा? अब तो धन भी छीनूंगा और तेरा प्राण भी छीनूंगा। तब अफसोस होता है—दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम। तब दयनीय स्थिति है। यह दयनीय है। यह कृपण है। यह ऐसा कार्पण्य का रूप है जिस पर दुनिया तरस खाये कि हाय! इसका कुछ नहीं हुआ। यह जीवन की बाजी हार गया। धन को बचाए रखना चाहता है पर धन बचता तो है नहीं। इस मुट्ठी में पहले पैसा था नहीं, अब पैसा चमक रहा है, कल पुनः हाथ खाली हो जाएगा। हाथ से पकड़े रहोगे पैसों को, न जाने पैसा पहले चला जाए या पैसे को पकड़ा हुआ हाथ ही पहले राख हो जाए। तेरे नोटों की गड्डियों में आग लगेगी या जिस हाथ से पकड़े रहोगे नोट, उसको ही आग लग जाएगी। कौन कह सकता है? अतः उसका सदुपयोग कर लो भाई। नहीं करोगे तो तेरी अवस्था कृपण की अवस्था है। तरस खाने लायक अवस्था है। अतः तरस आता है उन लोगों पर जिन्होंने धन का सदुपयोग नहीं किया। तरस आता है उन लोगों पर जिन्होंने तन का सदुपयोग नहीं किया। तुमने कहा हमारे शरीर पर

चांटा नहीं लगना चाहिए, कांटा नहीं चुभना चाहिए, धूल नहीं लगनी चाहिए। बचा ले कब तक बचाएगा? एक तमाचा काल का लगेगा तो राम नाम सत्य हो जाएगा। न देश की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न धर्म की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न जाति की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न परिवार की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न सम्मान की रक्षा के लिए खड़ा हुआ। और शरीर को बचाता रहा। तन धूल हो गया। तन का कृपण भी तरस खाने योग्य है और मन का कंजूस तो बहुत ही तरस खाने लायक है। कंजूस अन्य को देखता है किसी को देते हुए तो आंसू बहाने लग जाता है। अरे, तू आंसू क्यों बहा रहा है? अरे, तेरे हाथ से कुछ गिर गया है या दूसरे को देते देखकर तेरे कलेजे में कुछ हो गया है। दूसरों को देते देखकर उसके कलेजे में हड़कम्प मच जाता है।

मन की कंजूसी पर अमेरीका के स्कूल में मैंने एक प्रयोग किया।

कितने बच्चे हैं एक क्लास में जान लिया। 50 बच्चे हैं जानकर बच्चों को जो प्रिय है वह उपहार भी ले गया। एक कक्षा में पहुंचा। चपरासी को कहा तो वह सब उपहार एक ट्रे में सजाकर ले आया। फिर मैंने बच्चों से कहा, मैं भारत से आया हूं। आपके लिए कुछ उपहार लाया हूं। सब बच्चे उपहार पाकर खुश हुए। मैंने कुछ बच्चों से पूछा, आप कैसा अनुभव कर रहे हैं। उन्होंने कहा—Wonderful, Wonderful. You Indian very great. आप बड़े महान् हैं। फिर टिफिन का समय हो गया। बच्चे उछलते-कूदते, खेलते रहे। कोई लेमनचूस, चाकलेट खाते रहे—अन्य कक्षा के साथियों को दिखाते रहे। एक भारत से प्रो. ओबराय आए हैं, हमारे लिए ये-ये उपहार लाए हैं। वे बड़े अच्छे हैं, महान् हैं। प्रशंसा करते रहे। और अन्य कक्षा के बच्चों को ईर्ष्या हुई कि हमें नहीं मिला। ये कितने सौभाग्यशाली हैं। वे बड़े चाव से देखते रहे—उन्हें ईर्ष्या होती रही और जिन्हें दिया वे बड़े प्रसन्न थे। प्रशंसा करते रहे। पुनः अन्तिम कक्षा के समय उपस्थित होने पर बच्चों ने खड़े होकर ताली के साथ स्वागत किया, You Indian very great, wonderful. फिर प्रो. ओबराय ने बच्चों से एक निवेदन किया....यहां से थोड़ी ही दूर 4-5 किलोमीटर एक ग्राम है नीग्रो लोगों का। वे बड़े गरीब हैं। उनके यहां बच्चों का एक स्कूल है जिनमें बच्चों के पास सामान का बहुत अभाव है। उनके पास रबर नहीं है, पेन्सिल नहीं है। लेमनचूस, चाकलेट नहीं है, वे खरीदने में असमर्थ है। अतः जो बच्चे अपने प्राप्त किए हुए उपहारों में से कुछ सामग्री उनके लिए सहायतार्थ दे सकें, वे खड़े होकर अपना नाम लिखवा देवें। इस पर पूरी कक्षा में सन्नाटा छा गया। बच्चों को प्राप्त किए हुए उपहारों से ममता पैदा हो चुकी थी। वे एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। यदि विलियम दे तो राबर्ट दे....। तीसरी बार कहने पर 3 बच्चों ने एक-एक टॉफी, रबर, पेंसिल दान में लिखवाई। अन्त में मैंने सभी

बच्चों को आदेश दिया कि वे अपने सामान के डिब्बे हाथ में उठाकर एक पंक्ति में बंधकर मंच तक चले आवें तथा अपना अपना बक्स मेज पर रखते जावें। इससे खिले हुए चेहरे गंभीर हो गए। मुरझा गए....हम न अपने लिए बचा सके और न अन्य के लिए दे सके। मुफ्त में कमीने बन गए। तो मैंने कहा, बिल्कुल ठीक है। जो धन-सम्पत्ति हम संसार में लेकर आए हैं इनमें से क्या एक कौड़ी भी अपने साथ लेकर आए थे। एक कौड़ी तो साथ लेकर आए नहीं, क्या एक छदाम लेकर जा सकते हैं? एक छदाम लेकर जा नहीं सकते। यदि आप लेकर आए नहीं और लेकर जा सकते नहीं, तो धन किसका है? हम मोह से, झूठे मोह से, पाप-पुण्य मोह से मेरा-मेरा-मेरा करते रहते हैं। हम सब कमीने बन रहे हैं। भगवान् की वस्तु, भगवान् का धन, भगवान् का ऐश्वर्य, भगवान् की सम्पत्ति और भगवान् के जगत् के बन्धुओं की सहायता के लिए दे भी नहीं सकते और अपने साथ ले जा भी नहीं सकते। कमीने मुफ्त में बन रहे हैं। ये स्थिति हमारी है। इनके ऊपर क्या तरस नहीं आता। यह है कार्पण्य। यह है तरस खाने लायक कार्य। दूसरों की भलाई के लिए दिया नहीं, अपने लिए बचा नहीं सके, दोनों ओर से रह गए। जिस पर सारी दुनिया आंसू बहाए कि हाय! यह तो अभागा कहीं का नहीं रहा। तरस खाने लायक व्यक्ति कृपण होता है। इसलिए कहता है—'**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**'।

इस कृपणता के दोष से मेरा स्वभाव दब गया है। इसका भाव स्पष्ट है। कहा था भारत भर के एवं एशिया भर के बड़े-बड़े सम्राटों को कि हम धर्मात्मा हैं, राज्य हमारा था। राज्य पाण्डु का था। पाण्डु ने मरते-मरते कहा था कि भाई मैं जा रहा हूं। मेरा बेटा युधिष्ठिर छोटा है तुम थोड़े दिन के लिए संरक्षक बन जाना। फिर जब युधिष्ठिर महाराज बड़े हो जाएं तो इसका राजतिलक कर देना। धृतराष्ट्र के मन में पाप आ गया है। अक्ल का अंधा, नीति का अंधा, शरीर का अंधा, नैतिकता का अंधा, वह बिल्कुल अंधा हो गया है। जो राष्ट्र को धर-पकड़ कर बैठ जाता है। यह मेरा है, मेरा राष्ट्र है वह अंधा धृतराष्ट्र है। यानी जो राष्ट्र को धर-पकड़ कर बैठ जाए, हड़प लेवे, वह धृतराष्ट्र है। पाण्डव लोग हृतराष्ट्र है। राष्ट्र हरण हो गया है। जिनका राष्ट्र था उनका तो हरण हो गया है और जिनका राष्ट्र था ही नहीं वह धर-पकड़ कर बैठे हैं। इसलिए पाण्डवों ने, अर्जुन ने प्रार्थना की—देखो, राज्य हमारा था और हम हो गये धृतराष्ट्र और जिनका था नहीं वे हो गए धृतराष्ट्र। हमारी मदद करो, हमारे धार्मिक कार्य में सहयोग करें। सात अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होकर आई थी उनकी मदद करने के लिए धर्म युद्ध में। पर धर्म युद्ध की वेला में उसके मन में एक विचित्र प्रकार का भाव आ गया मोह का जिससे उसका वीरभाव दब गया था। वह न विजय ही पा सका और न ही इधर कुछ पहले की मन की स्थिति में रह सका। इसलिए दोनों ओर से चला जा रहा है। दो-दो विशाल

अक्षौहिणी की सेना के लोग आए हैं। सबके सब कहेंगे कि तुमने हमें धोखा दिया है, तुमने पाप किया है। हम सब सेनाएं सजाकर इतनी-इतनी दूर से आए हैं, प्राणों का मोह छोड़कर तुम्हारे लिए। तुम्हारे धर्म के लिए प्राण गंवाने आए हैं, तुमने हमारे साथ इतना क्रूर मजाक किया है। अब सारे के सारे अर्जुन को निन्दित करेंगे। अर्जुन ही लांछित होगा। अर्जुन ही सबका शिकार बनेगा। इस तरह की उसकी स्थिति हो गई है। दुनिया को जीतने चला था, अब दुनिया की धिक्कार पाने लायक बन गया है। अर्जुन की स्थिति कृपणता की हो गई। 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'।—इस कृपणता के दोष से मेरा जो क्षत्रियस्वभाव है, वह दब गया है। इसलिए मैं हाथ जोड़कर पूछता हूं धर्म के बारे में। मेरा चित्त समूढ़ हो गया है। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है इसको मैं भूल गया हूं। इसलिए जो मेरे लिए कल्याणकारी है उसे निश्चित रूप से अपने मुखारविंद से कहें। मैं आपका शिष्य हूं। शिष्य कौन होता है? जो गुरु के आदेश को मानकर गुरु की आज्ञानुसार शिक्षा ग्रहण करता है। शिष्य कौन होता है? अनुशासन का पालक शिष्य होता है। अंग्रेजी में शब्द है Disciple. Disciple का मतलब है शिष्य। Disciple से शब्द बना है Discipline. जो Disciple होने की स्थिति है उसे Discipline कहते हैं। शिष्य होने की स्थिति को अनुशासन कहते हैं। शिष्य के समान आचरण करने वाला व्यक्ति अनुशासित व्यक्ति है। इसलिए मैं आपके अनुशासन को मानूंगा, मैं आपका शिष्य हूं। **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'** शाधि के दो अर्थ हैं—आप मुझे शिक्षा देवें और आप मेरी रक्षा करें। और शिक्षा के द्वारा ही गुरु शिष्य की रक्षा करता है। इसलिए भगवान् आप मुझे शिक्षा देकर मेरी रक्षा करें। इस पर भगवान् ने क्या किया? 'प्रपन्नम्' माने क्या है? शरणागति। जब अर्जुन भगवान् के 'प्रपन्न' हो गया तो क्या किया? 'प्रपन्नपारिजाताय' प्रपन्नों के लिए तो भगवान् कल्पवृक्ष हैं। प्रपन्न को क्यों नहीं देंगे। प्रपन्न को तो सब कुछ दे देंगे। तब भगवान् कहते हैं—मेरे प्यारे! तू शरणागत हो गया है, तुमने अपने आपको मेरे चरणों में समर्पित कर दिया है। मैं तुम्हें क्या दूं? हे अर्जुन! मैं तुम्हें अपना हृदय ही निकाल कर दे रहा हूं।

'गीता मे हृदयं पार्थ, गीता मे शास्त्रमुत्तमम्।' पार्थ! गीता तो मेरा हृदय ही है, गीता तो मेरा उत्तम से उत्तम शास्त्र है। हृदय निकालकर मेरे प्यारे को दे रहा हूं जो मेरे शरणागत हो गया। जब कोई भगवान् के शरणागत होता है तो भगवान् अपना हृदय निकालकर दे देते हैं भाई। इसलिए पाण्डवों की पग-पग पर प्रभु ने रक्षा की है। इसलिए शरणागति।

'भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला'

भीष्म और द्रोण ये महाभारत रूपी नदी के दो तट हैं। भीष्म कौन? जो इच्छामृत्यु-प्राप्त हैं। जिनको इच्छामृत्यु का वरदान है, जब तेरी इच्छा हो मरना। और

किनकी इच्छा होती है मरने की? किसी की होती नहीं। और द्रोणाचार्य कौन हैं? द्रोणाचार्य और भी अलग चालाकी वाले हैं। शंकर भगवान् से तो शस्त्र विद्या पाई। उन्होंने कहा, जब तक आप शस्त्र धारण किए रहोगे तो कोई मार ही नहीं सकेगा। उसके बेटे ने तपस्या की तो चिरंजीवी बन गया। द्रोणाचार्य से भगवान् शंकर ने पूछा, आप क्या चाहते हो? तो द्रोणाचार्य ने कहा कि हम अपने बेटे से पहले न मरें। बेटा चिरंजीव और बेटे से पहले मरे नहीं! अपने कान से सुन लेवें कि बेटा मर गया तब हम प्राण छोड़ेंगे। तो चिरंजीवी मरे कैसे? चिरंजीवी को मरना ही नहीं है। इसलिए बेटे से पहले न मरने का वरदान है। बेटे से पहले मर नहीं सकते। इसलिए ये भी एक प्रकार से चिरंजीवी हो बैठे। शस्त्र धारण किए उन्हें कोई पराजित कर ही नहीं सकता। तो भीष्म और द्रोण ये दो तट हैं। 'जयद्रथजला' जयद्रथरूपी जल चल रहा है उस युद्ध की नदी में। महाभारतरूपी नदी में। जयद्रथ रूपी जल कैसा है? जयद्रथ को यह वरदान था कि जो तुम्हारे शीश को कटते हुए, गिरते हुए देख लेगा उसके अपने सिर के हजारों टुकड़े हो जाएंगे। इसलिए उसको कौन मारे? जो उसको मारेगा, उसके शीश को धरती पर गिरते देख लेगा उसके स्वयं के शीश के हजारों टुकड़े हो जाएंगे। तो जयद्रथरूपी जल उसमें भरा हुआ था। और 'कर्णेन वेलाकुला' कर्णरूपी भयंकर लहरें उसमें उठ रही थी। कर्ण के पास अर्जुन के नाश के लिए विशेष शक्ति सुरक्षित थी और बिना भगवान् की कृपा के अर्जुन उससे आमने-सामने के युद्ध में बच नहीं सकता था, कर्ण उसे परास्त कर सकता था। उसमें शल्यरूपी ग्राह चल रहे थे। और कृपाचार्यरूपी उसमें नदी का बहाव था, तूफान लेकर आए हुए थे। और कर्णरूपी उसमें बवण्डर बन गए थे। ऐसी जो नदी थी, महाभारतरूपी युद्ध की नदी को पाण्डव लोग पार कर गए। तो पाण्डव लोग उस रणनदी को पार कर गए—कैसे पार कर गए? कृष्ण भगवान् स्वयं केवट (मल्लाह) बने तभी उस नदी को पार कर सके, नहीं तो उनके लिए असम्भव था। इसलिए अपने प्रपन्नों के लिए भगवान् पारिजात बन जाते हैं। जो शरणागत है उसकी सब इच्छाएं पूरी करेंगे।

'प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये'

हाथ में तोत्त्र है, वेत्र है। तोत्त्र क्या है? घोड़े की लगाम। वेत्र क्या है? घोड़े की चाबुक। चाबुक लगते ही घोड़े सरपट दौड़ने लगते हैं, हवा से बातें करने लगते हैं। खूब तेज दौड़ने लगते हैं। चाबुक है गति का प्रतीक, गति देता है चाबुक। लगाम क्या है? संयम का प्रतीक। जीवन में गति और संयम दोनों चाहिए। जीवन में गति चाहिए, लेकिन साथ में संयम चाहिए। विज्ञान ने मनुष्य को बहुत गति दे दी है पर दुर्भाग्य से संयम नहीं दिया। संयम धर्म दे सकता है, अध्यात्म दे सकता है, उसकी ओर से विज्ञान ने मुंह मोड़ लिया। इसलिए विज्ञान मानवता के सर्वनाश का कारण बन रहा है। चार दिन पहले एक Peace confrence हुई। उसमें हमें भी जाने

और बोलने का अवसर मिला। किस उपलक्ष में कान्फ्रेंस थी? 1945 में हिरोशिमा और नागासाकी पर Atom bomb गिराये गए। तो Atom bomb से वहां सर्वनाश हो गया। दो नगर बिल्कुल ध्वस्त हो गए। 10-10 मील दूर की धरती फटकर जलती हुई आकाश में उठी और कई मील तक उसका लावा आकाश में उठा और फिर गिरा और सारी भूमि को श्मशान में बदल दिया। लाखों-लाख सोये स्त्री-पुरुष, बच्चे चुटकी में नष्ट हो गए। उसकी स्मृति में 6-7 अगस्त को हर वर्ष लोग प्रार्थना करते हैं भगवान् ऐसी विभीषिका से बचाओ। क्यों हुआ? बड़ी विचित्र बात है। अमेरीका ने चेतावनी दी, अल्टीमेटम दिया। अन्तिम बार जापान को कह दिया, आप लोग आत्मसमर्पण करते हैं या नहीं, हार मानते हैं या नहीं। जापान के राजा ने कहा, हम लोग समर्पण करते हैं। किन्तु दिमाग में इतना बवण्डर था, इतनी उग्रता थी, अमेरीका के सेनापतियों के मन में इतना आक्रोश था कि उनके समर्पण वाले वाक्य को जो उन्होंने जापानी भाषा में कहा, उसको अनुवाद करके बताने वाले ने कहा उसके दो अर्थ निकलते थे। थोड़ा-सा उच्चारण के भेद से दूसरा अर्थ निकलता था। उसका दूसरा अर्थ निकलता था हम लोग आत्मसमर्पण पर, हथियार डालने पर विचार कर रहे हैं। उसने कहा, हम हथियार डाल रहे हैं। अनुवादक ने कहा हम हथियार डालने पर विचार कर रहे हैं। अमेरीका के सेनापति को क्रोध आ गया कि अभी तक ये विचार ही कर रहे हैं, उड़ा दो! संयम की कमी से, धीरज की कमी से, दुबारा पूछ लेते कि भई इसका मतलब क्या है? पूछ लेते कि कब तक, कितनी देर में हथियार डालने वाले हैं। तो शायद लाखों-लाख लोगों का विनाश बच जाता। पर उतावले व्यक्ति को संयम कहां है? उतावला सो बावला। इसलिए उतावले व्यक्ति ने दुबारा पूछने का धीरज नहीं रखा। संयम था नहीं। सैनिकों पर नहीं, नगरों पर बम गिरा दो। सोये हुए लोगों पर बम गिरा दिये। हिरोशिमा-नागासाकी बर्बाद हो गए।

विज्ञान ने गति बड़ी दे दी है, पर संयम बिल्कुल नहीं। संयम के अभाव के कारण विज्ञान मानवता के नाश का कारण बन रहा है। धरती पर चलने वाला व्यक्ति गिर जाए, थोड़ी चोट लगती है। स्कूटर वाले को अधिक, मोटरसाइकिल से और अधिक, कार से और अधिक, हवाई जहाज से गिरे तो और अधिक और रॉकेट से गिर जाए तो पता ही न चले कि कहां गिरा। उसके बचने का तो प्रश्न ही नहीं। गति बढ़ती जाती है पर संयम नहीं। जिसकी गाड़ी में केवल एक्सीलेटर ही एक्सीलेटर हैं। खूब दबाता है। दबाता है तो 200 मील की गति से गाड़ी उड़ती जाती है। पर उसमें ब्रेक है ही नहीं। तो उसका सर्वनाश तो उसके माथे पर लिखा ही हुआ है। उसका सर्वनाश होना ही है। उसको कोई बचा ही नहीं सकता। तो मानवता को सर्वनाश से बचाने के लिए भगवान् का संदेश है—चाबुक भी रखो और लगाम

भी रखो, गति भी रखो और संयम भी रखो। गति से तेज दौड़ेंगे और संयम से गलत रास्ते पर जाते हुए रोक भी सकोगे। मोड़ लेना है तो मोड़ ले सकोगे। शत्रु बायें गया है तो बायें जाओगे। लगाम से घोड़ों को काबू कर लोगे और जहां रोकना होगा वहां रोकेंगे और मोड़ना होगा वहां मोड़ेंगे, आहिस्ता गति करना है तो आहिस्ता गति करेंगे। लगाम नहीं तो बेलगाम व्यक्ति संसार में अनर्थ का कारण बनता है। इसलिए भगवान् के गीतारथ के चित्र में बड़ा भारी संदेश छिपा हुआ है—

'तोत्त्रवेत्रैकपाणये ज्ञानमुद्राय कृष्णाय'

ज्ञानमुद्रा में भगवान् हैं। ज्ञानमुद्रा क्या है? अंगुष्ठ से प्रथम अंगुली को छूते हुए बाकी तीन अंगुली को हाथ से दूर कर लेंगे इसका नाम ज्ञानमुद्रा है। इस मुद्रा में ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जाता है। तीन क्या हैं—सत, रज और तम। प्रायः हाथ में यह जो तर्जनी है यह अंगुली जीव है और यह अंगूठा ब्रह्म है। जीव प्रायः तीन गुणों से मिला रहता है, इन्हीं गुणों के फंदे में फंसा रहता है। और तीनों गुणों से अलग होकर ब्रह्म से मिल जाता है। तब ब्रह्मज्ञान का उपदेश होता है। अतः तीन गुणों से पृथक् होकर ब्रह्मज्ञान पाया जा सकता है। इसलिए भगवान् इस मुद्रा में (ज्ञानमुद्रा में) उपदेश कर रहे हैं। हम ज्ञानस्वरूप ही हैं। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अनन्त ज्ञान का नाम ही ब्रह्म है। भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। 4/38, गीता

हे अर्जुन! सारे त्रिभुवन में ज्ञान के समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 4/36, गीता

अरे अर्जुन! तू सब पापियों में सबसे बड़ा पापी क्यों न हो जाए तो भी मैं गारंटी से कहता हूं तू ज्ञान की नौका पर बैठकर सारे पापों से तर जाएगा। ज्ञान क्या है? सत्य की उपलब्धि, सत्य का दर्शन।

अभी माताजी भी अपने प्रवचन में बता रही थी कि भगवान् की कृपा तब बनती है जब मनुष्य सज्जन बन जाता है। जब मनुष्य बुराइयों को छोड़ देता है, सज्जन बन जाता है तब भगवान् की कृपा बनती है। तब भगवान् उसको अपना लेते हैं। इसी को धारण करके चलना चाहिए। पर भगवान् का एक चमत्कार और भी है। वह क्या है? रात को घटाटोप अंधेरा है। इतना अंधेरा इतना अंधेरा कि हाथ को हाथ सूझता नहीं। प्रत्यक्ष अपनी आंख के सामने एक फुट पर, आध फुट पर क्या है, कुछ नहीं सूझता है। वह अंधकार कहां तक फैला हुआ है? करोड़ों योजन तक वह अंधकार फैला हुआ है। उसकी कोई सीमा नहीं। आज जैसे भाद्रपद कृष्ण अष्टमी है तो खूब अंधेरा, भरपूर अंधेरा। इस अंधेरे में कुछ नहीं सूझता। फिर यदि आकाश

में बादल भी हों तो और भी अंधेरा हो जाता है। फिर थोड़ी बूंदाबांदी हो, वर्षा हो तो बिल्कुल ही कुछ भी नहीं सूझता। इस अंधेरे को कोई दूर करना चाहे, कोई मोमबत्ती लेकर जाए तो अंधेरा दूर होगा थोड़ा-सा, चाबुक लेकर मारें अंधेरा भागेगा नहीं, तलवार लेकर काटें, अंधेरा दूर होगा? नहीं। अंधेरे पर बम बरसाएं, अंधेरा दूर होगा? नहीं। झाड़ू-बुहारी करने से अंधेरा दूर होगा? नहीं। जब भी होगा प्रातःकाल एक हलकी-सी सुनहरी किरण इस अंधेरे को छू जाए तो छूते ही करोड़ों योजन का अंधेरा चुटकी में ही सिर पर पांव रखकर कहां चला जाता है, कोई नहीं जानता। सूर्य की एक किरण के छूने मात्र से। भले ही सूर्योदय से आधा घण्टा, पौन घण्टा पहले ही अंधेरा भाग जाता है। वह आ गया सूर्य उग गया। वैसे ही ज्ञान के आने के पहले से ही सब पाप-ताप, कोटि जन्मों के पाप-ताप अपनी गठरी बांध कर न जाने कहां चले जाते हैं, पता ही नहीं चलता। इतना भयानक, इतना दूर तक फैला हुआ काला अंधकार चुटकी बजाते चला गया। कैसे गया? प्रकाश से। जीवन भर का, 84 लाख योनियों के पाप का भण्डार ज्ञान के आते ही एक क्षण में दूर हो जाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! तू पापियों में से सबसे बड़ा पापी क्यों न होवे तब भी तू ज्ञान की नौका में बैठकर सब पापों से मुक्त हो जाएगा। इसलिए भगवान् ज्ञान स्वरूप हैं और ज्ञान मुद्रा में उपदेश कर रहे हैं—

'ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः'

गीता रूपी अमृत का दोहन करने वाले जो भगवान् हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं। गीता अमृत क्यों है? एक अमृत समुद्र मंथन से निकला। उस समुद्र मंथन से निकले हुए अमृत को जब देवों ने पीया तो सुख भोगा। पर देवता भी पुण्य क्षीण हो जाने पर इस मृत्युलोक में आते हैं। हम जानते हैं कि इन्द्र का कई बार पतन हुआ। हम जानते हैं राजा ययाति को इन्द्र बनाया गया और वे भी वहां से गिराये गए। कई ऐसे प्रसंग हम जानते हैं। और गीता में भगवान् ने कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। 9/21,गीता

वे जो पुण्य लोक के लोग हैं वे स्वर्गलोकों के विशाल सुख भोगने के बाद 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक लौट आते हैं। इस प्रकार पुण्य कमाने वाले, पुण्य का फल भोगने वाले आवागमन के चक्र में लगे ही रहते हैं और उनका उद्धार पूरा नहीं होता। लेकिन भगवान् जिस अमृत को पिला रहे हैं गीतारूपी अमृत, उसको पीने के बाद भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! मुझे प्राप्त करने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता है। इसलिए समुद्र मंथन से निकला हुआ जो अमृत था वह तो घटिया था, पीने के बाद मोक्ष नहीं हुआ। उसको पीने के बाद सुख हुआ। उसके बाद हजारों वर्षों तक सुख भोग लेने के बाद फिर उन्हें धरा-धाम

में आना ही पड़ता है। गीता रूपी अमृत पीने के बाद मोक्ष हो जाता है। आदमी मुक्त हो जाता है। इसलिए असली अमृत गीता ही है। इसलिए गीतारूपी अमृत के सामने अन्य सब अमृत तुच्छ हैं। इसलिए 'गीतामृतदुहे नमः' गीतारूपी अमृत का दोहन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को हम नमस्कार करते हैं।

भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।।

एक बार सच्चे मन से भगवान् कृष्ण के चरणों में नमस्कार कर लेने से मनुष्य को दश अश्वमेध यज्ञ का फल तुरन्त मिल जाता है। दश सुमेधी पुण्य वाला भी पुण्य क्षीण होने पर संसार में पुनः जन्म लेता है। पर कृष्ण भगवान् को सच्चे हृदय से एक भी प्रणाम करने वाले को फिर संसार बंधन का मुख नहीं देखना पड़ता है। एक ही नमस्कार में मोक्ष पा जाता है।

मेरे एक मित्र हैं, सेठ हैं। वे नेपाल गए। अच्छे बढ़िया होटल में ठहरे। रोज 150-200 रुपया होटल के एक कमरे का देते रहे। टैक्सी में घूमते रहे। जो पैसा ले गए थे वह 10-15 दिन में समाप्त हो गया। अचानक एक दिन पॉकेट टटोलकर देखा तो घर जाने तक का पैसा नहीं बचा। वे बड़ी मुसीबत में पड़े। वे विमान से गये थे। आते वक्त जैसे-तैसे सीतामढ़ी तक पहुंचे। तीन दिन भूखे रहे। सौ-सौ रुपए का भोजन करने वाले को भूखा रहना पड़ा और बुरी हालत में सीतामढ़ी तक पहुंचे। वहां खोजते-खोजते एक परिचित को ढूंढ़ा। वह भी थोड़ा ही परिचित था। उससे इतना भर पैसा मांगा कि किसी तरह घर लौट सके। लौटने पर मैंने पूछा—सेठजी! कैसी रही आपकी यात्रा? उसने कहा, कुछ न पूछो। दुर्गति हो गई। पैसा सारा खर्च हो गया। वापस आने का पैसा ही नहीं बचा। भगवान् बचाये इस दुर्गति से। सारा मजा किरकिरा हो गया। शुरू में जितना सुख भोगा था, बाद में उतनी ही दुर्गति भोगनी पड़ी।

तो स्वर्ग लोक है भोग भूमि। वहां अपने अच्छे कर्मों का सुख भोग सकते हैं। कर्म भूमि नहीं है। कुछ कमा नहीं सकते। देवता हैं भोग योनि में। अच्छे कर्मों का सुख भोग रहे हैं। पशु भी है भोग योनि में, वे अपने बुरे कर्मों का दुःख भोग रहे हैं। मनुष्य है कर्म योनि में। कुछ पिछले कर्मों का सुख-दुःख भोगता भी है और साथ में नए कर्म कमा सकता है। वेदव्यास कहते हैं कि यह कर्म भूमि है। फल भूमि अलग है। वह स्वर्ग है। केवल फल ही फल है। आप कश्मीर जाएं वहां दस हजार रुपया ले जाएं। खूब पैसा खर्च करें, आनन्द मंगल करें तो खर्चा ही खर्चा कर सकते हैं कमा नहीं सकते। पर पुरुलिया में आप खर्चा भी कर सकते हैं और

कमा भी सकते हैं। कश्मीर में तो कमाई है ही नहीं, तो वहां पर पुण्य क्षीण होने पर धक्का खाकर लौटकर आना ही पड़ता है। तो स्वर्ग लोक में जाने के बाद पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आना पड़ता है।

एक अश्वमेध यज्ञ में कितना बवण्डर है, आप जानते हैं। सारे भूमण्डल में आपके घोड़े को कोई माई का लाल रोक नहीं सके, आपका घोड़ा सारी पृथ्वी को रौंदता हुआ निकल जाए, कोई रोकने वाला नहीं हो। सबके सब राजा नतमस्तक हो जाएं। सब देवताओं को आह्वान करें। सबके सब संत, महर्षि सब आएं। सब प्रसन्न हों। सब अपना-अपना भाग प्राप्त करें। सब देवताओं को आहुतियां मिले। ब्राह्मणों को, महात्माओं को ऋषियों को भोजन मिले। सब प्रसन्न होकर जाएं, तब एक यज्ञ का फल मिलेगा। ऐसे दस अश्वमेध यज्ञ का फल भगवान् श्रीकृष्ण को एक ही प्रणाम करने में मिल जाए। वेदव्यासजी कहते हैं यह भी बहुत कम है। दस अश्वमेध यज्ञ वाला भी पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर संसार में आता ही है। पर कृष्ण भगवान् को सच्चे हृदय से एक प्रणाम करने वाले को फिर से पृथ्वी में आना-जाना नहीं पड़ता—

कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे।।

जिन्होंने भगवान् कृष्ण का व्रत ले लिया। कृष्ण-कृष्ण, गोविन्द-गोविन्द, नारायण। भगवान् का व्रत लिया है भगवान् का नाम जपेंगे। भगवान् का केवल नाम ही नहीं जपना चाहिए भाई। भगवान् ने जो पवित्र चरित्र किए हैं उसका भी अनुसरण करना चाहिए। भगवान् ने अपनी जाति की रक्षा के लिए क्या किया, राष्ट्र की रक्षा के लिए क्या किया? धर्म की रक्षा के लिए क्या किया? धर्मात्माओं की रक्षा के लिए क्या किया? भगवान् ने कैसा यज्ञमय जीवन जीया? जो निरन्तर कृष्ण का अनुस्मरण करते हैं। रात्रि को नींद उचट जाने पर उसके मुख से कृष्ण-कृष्ण, गोविन्द-गोविन्द निकले। नींद खुलने पर मुख से क्या निकलता है उससे पहचान लेना कि व्यक्ति कैसा है? रात्रि को भगवान् की सुन्दर कथा पढ़कर सोओगे, धर्म चर्चा करके सोओगे, दिनभर भगवान् का स्मरण करोगे, रात्रि को भी राम, कृष्ण, गोविन्द। दिनभर संसार के कुचक्रों की चर्चा करते रहोगे, राजनीति के छल-छद्म की चर्चा करते रहोगे। इसको कैसे ठगना चाहिए। इसको मारा जाए। इसने वोट नहीं दिया। यही धंधा चलता रहेगा। रात को सोते समय वैसे ही उपन्यास पढ़ोगे, फिल्म देखकर सोओगे, गन्दी पुस्तकों को पढ़कर सोओगे, मन में वैसे ही संस्कार होंगे और रात्रि में स्वप्न में वैसी ही चीजें आएगी। और नींद खुलेगी वही पुकारोगे। दिन में दुकान में कपड़ा मापने वाला व्यक्ति, व्यापारी दिनभर दुकान में ही रचा-पचा रहता है, दिनभर थक कर रात को घर जाता है, खा-पीकर सो जाता है। तो रात्रि को जो

सपना आता है वही दुकान का सपना आता है। स्वप्न में 6 रुपया मीटर, नहीं-नहीं 5 रु. मीटर। अच्छा ले ले साढ़े पांच रुपया मीटर। और सपने में अपनी ही धोती फाड़ लेता है। अपनी धोती, अपनी चद्दर फाड़ने वाला बेवकूफ कौन होगा? पर करता है क्योंकि दिमाग में वही रहता है। जिसके मन में, बुद्धि में भगवान् रचा-पचा है उसके भगवान् का ही नाम मुख से निकलता है। तो कृष्णव्रता दिनभर कृष्ण का अनुस्मरण करता है, रात्रि में जागकर भी कृष्ण का जाप करे, मुख से कृष्ण-कृष्ण जाप करता है। गुरु नानकदेव कहते हैं—भजो मन मेरे नारायण, गोविन्द माधव। वह साक्षात् कृष्ण ही बन जाता है। जो कृष्ण का व्रत ले लेते हैं, जो कृष्ण का स्मरण करते हैं, रात्रिकाल में कृष्ण को जपते हैं, नींद उचट जाने पर कृष्ण-कृष्ण जपते हैं। वह कृष्ण का ही शरीर है और वह अन्त में श्रीकृष्ण में ही लय हो जाता है। जैसे मंत्रों के साथ घी की आहुति अग्नि में डाली जाती है। तो मंत्रों के साथ घी की आहुति जब दी जाती है तब वह अग्नि रूप बन जाती है। घी को अग्नि में डालने पर घी अग्नि रूप ही हो गया। अर्थात् साक्षात् कृष्ण का ही शरीर बन जाता है। कृष्ण में ही लय हो जाते हैं। कैसे? जैसे मंत्र के साथ घी की आहुति दी जाती है तो घी अग्नि रूप ही बन जाता है। इसलिए कृष्ण का चिन्तन करने वाले, कृष्ण का नामस्मरण करने वाले, कृष्ण का व्रत लेने वाले, कृष्ण के समान आचरण करने वाले, कृष्ण के समान जीवन समर्पित करने वाले कृष्ण रूप बन जाते हैं।

भगवान् कृष्ण कुन्ती माता के पास पहुंचे। मां! देखो, जब पाण्डव लोग वन में थे तो आपने मुझे एक संदेश दिया कि तुम पाण्डवों के पास जा रहे हो। कौरव कुछ मानते ही नहीं। उन्होंने कह दिया कि सूई की नोक के बराबर भी धरती तुम्हें बिना युद्ध के देंगे ही नहीं। जब ऐसा कह दिया तो आपने मुझे एक संदेश दिया। क्या संदेश दिया—कि जिस काल के लिए क्षत्राणियां पुत्र पैदा करती हैं वह काल आ गया है। कुन्ती बड़ी वीर माता है। उसने अपने बच्चों को संदेश दिया। माता के कई रूप होते हैं।

माता का एक रूप है जननी। एक रूप है दीक्षाता। एक रूप है निर्माता, एक रूप है त्राता। जन्म देती है, जन्म देने के बाद प्रथम दीक्षा कौन देती है—माता देती है। गर्भ के बच्चों को भी संस्कार देती है और जन्मने के बाद भी प्रथम संस्कार मां की ही गोद में। मातृ भाषा, मां की गोदी में सीखता है। जो-जो लोरियां मां गाती है, उसकी अमिट छाप उसके मन पर पड़ती है। इसलिए वह बच्चे की दीक्षाता होती है, माता निर्माता भी होती है। माता निर्माण भी करती है। जीजाबाई ने शिवाजी को जन्म दिया। बचपन में लोरियां गाकर दीक्षा दी। फिर उसका निर्माण किया ठीक प्रकार से। संस्कार देकर निर्माण किया। फिर माता परित्राता भी बनती है, माता बच्चे का उद्धार भी करती है। मदालसा अपने बच्चों को कहती है—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि। हे बेटा! तू शुद्ध, बुद्ध, निरंजन है। संसार की माया से अपरिवर्तित। माता कहती है—बेटा! तुमने मुझे मां कहा है। माता कौन है? जो मेरा तारण कर दे वही तो मां है। जो मेरा उद्धार कर दे सो मां है। जो मेरा तारण कर दे सो मां है। तो त्राण कर दे वह मां है। जो त्राण न करे वह कैसी मां है? मां त्राण कैसे करती है? मां कहती है—बेटा! तुमने मेरी कोख से जन्म लिया है, मेरी गोदी में खेला है, मेरा तुमने अमृत रस पान किया है, स्तनपान किया है। याद रख, मुझे मां कहने के बाद तू अन्य किसी को मां न कहना। मुझे मां कहने के बाद अन्य किसी को मां कहने की जरूरत न पड़े। मां क्या कह रही है? सब स्त्रियां तो मां ही हैं। मां कहती है यह तो ठीक है। इस मानव जन्म में आकर इसी एक जन्म में तुझे मोक्ष पाना है। इसी जन्म में तुझे तर जाना है। मानव जन्म में यदि तुमने भगवान् को नहीं पाया, च्युत हो गए। 84 लाख योनि के बाद तुझे मानव का चोला मिला है, इस मानव के चोले में तुमने उद्धार नहीं पाया, इस मानव के चोले में तुमने मोक्ष नहीं पाया तो तुम गिरोगे। गिरकर तुम दूसरी घटिया योनियों में जाओगे, घटिया योनि में जाकर किसी कूकर-सूकर की योनियों में जाओगे। तुम किसी कूकरी को मां, सूकरी को मां कहोगे तो मां का नाम बदनाम हो जाएगा। बेटा! मेरा बेटा है तो प्रतिज्ञा कर इसी जन्म में तुझे मोक्ष पाना है। मैं त्राण करने के लिए आयी हूं। मैं तेरी मां हूं। मैं तेरा त्राण कर रही हूं। इसी जन्म में तू मुक्त हो जाए तब मेरा मातृत्व धन्य हो। यह है मां।

कुन्ती मां है। कुन्ती जननी है दीक्षाता है, निर्माता, परित्राता है। इस मां ने कोई भी कर्तव्य की च्युति नहीं की। यह मां के किसी कर्तव्य से पीछे नहीं रही। उसने भगवान् कृष्ण से कहा—मेरे ऊंचे कंधे वाले शेर जैसे जवान बेटों को कहना—जिस काल के लिए क्षत्राणियां पुत्र पैदा करती हैं वह काल आ गया है। अब क्षत्राणी के दूध को नहीं लजाना। पापी लोग सूई की नोक के बराबर धरती देने को तैयार नहीं हैं। वीर पुत्रो! खड़े हो जाओ। भगवान् कृष्ण ने कुन्ती मां से कहा—मां, मैंने तेरा संदेश पुत्रों को पहुंचा दिया। और तेरे वीर पुत्र खड़े हो गए। तेरे सबसे वीर शिरोमणि पुत्र अर्जुन के पांव लड़खड़ाने लगे, उसकी आंख से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी और वह व्यामोहित हो गया, तब गीतारूपी अमृत पिलाकर खड़ा किया। तब महायुद्ध हुआ। महायुद्ध में सारे कौरव नामशेष हो गए हैं। उनका बीज नाश हो गया है। अब तेरे बेटे सारी धरती के निष्कंटक राज्य के स्वामी हो गये हैं। अतः मां मेरे लिए कुछ और आज्ञा हो तो बताओ। तब कुन्ती माता आंखों में अश्रु भर करके और आंचल फैलाकर कहती हैं—

विपदः सन्तु नः शाश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्।।

हे जगद् गुरो! कुन्ती भगवान् कृष्ण की बूआ है। माता के तुल्य है। भगवान् कृष्ण उसके सामने बच्चे हैं, लेकिन कुन्ती माता भगवान् कृष्ण को कहती है जगत् के गुरु। महाभारत प्रमाण है कि कुन्ती भगवान् कृष्ण को जगद्गुरु कहती है।

बच्चा बड़ा बन जाता है, ऊंचे पद पर चला जाता है तब भी माता-पिता उसे प्यार से घरेलू नाम से ही पुकारते हैं। चाहे वह प्रधानमंत्री पद पर हो या न्यायाधीश के पद पर हो। बड़ा आदमी बच्चों को तो बच्चा कहकर ही बुलाता है। तो कुन्ती बूआ भी कृष्ण को कान्हा, कृष्ण आदि नाम से बुला सकती है। पर कुन्ती भगवान् को जगद्गुरु कहती है। वह कहती है उसने जगद्गुरु को पहचान लिया है। क्या मांगती है? हे जगद्गुरु! हमें पग-पग पर मुसीबतें आती रहे। विपत्ति कब तक आती रहे? शाश्वतकाल तक विपत्तियां आती रहे। पग-पग पर मुसीबतें आती रहे। लोग हैरान हैं। पर कुन्ती कहती है एक मुसीबत बायें हों तो एक दायें, एक आगे तो एक पीछे हो, एक मुसीबत ऊपर हो जो सिर पर पड़ने को ही हो। यानी कदम-कदम पर मुसीबतें आये। लोग हैरान हैं कि देवताओं जैसे पुत्रों की मां होकर, (धर्मात्मा पुत्र, स्वयं धर्मपरायण, कर्तव्यपरायण है) भी इतना दुःख पाया कि हाथ से (सत्ता) राज्य छीन गया! जुए के झूठे पांसे फेंक-फेंक कर राज्य छीन लिया, लाक्षागृह में मां सहित पांचों पुत्रों को जलाने का दुष्कर्म किया गया, भीम को विष का लड्डू खिलाकर नदी में फेंक दिया गया। 12 वर्ष का वनवास, 13वें वर्ष का अज्ञातवास। उसमें भी, वनवास में भी जान से मारने के दुष्प्रयास किए गए। भरी राज्यसभा में पुत्रवधू की साड़ी खींची गई। अरे मां! तुमने क्या थोड़ा दुःख भोगा है। कदम-कदम पर दुःख भोग लिया है। दुःख भोगते-भोगते बूढ़ी हो गई है मां। फिर कहती है कदम-कदम पर दुःख भोगते ही जायें। कदम-कदम पर मुसीबतें ही आए। मां! तू कैसी मां है? मां क्यों विपत्ति मांगती है? भक्तों पर जब भी विपदा आएगी हे भगवान् आप तुरन्त दौड़े चले आओगे। जिससे आपका पुन-पुनः दर्शन हो सके भगवान्। मुसीबतें मुबारक हैं। मुसीबतें धन्य हैं। कम से कम मुसीबतों में आपका दर्शन तो हो जाता है। इसलिए हम मुसीबत मांगते हैं जिससे आपका पुन-पुनः दर्शन होता रहे। जिससे आपका दर्शन होता रहे। आपका दर्शन होने के बाद संसार का दर्शन नहीं करना पड़ता। मोक्ष अपने आप ही हो जाता है। मोक्ष हमसे कौन छीन सकता है। भगवान के दर्शन के बाद मोक्ष तो अपने आप ही हो जाता है। मोक्ष तो मुट्ठी में आ जाएगा यदि भगवान् का दर्शन हो जाए।

आज किसी से भी कहो—चलो, आज धर्मशाला में चलो, कृष्ण जयन्ती है। तो कहेगा, कुछ मिलेगा? प्रसाद मिलेगा। अरे, हमें प्रसाद यहीं पहुंचा देना या प्रसाद मुझे यहीं दे दो न, बाद में वहां बांट देना। लोग प्राप्ति पहले चाहते हैं और भक्ति बाद में चाहते हैं। केवल प्राप्ति ही चाहते हैं भक्ति चाहते ही नहीं। कोई

प्राप्ति के लिए भक्ति करना चाहते हैं। निष्काम भक्त, केवल भगवान् चाहिए और हमें कुछ नहीं चाहिए, केवल प्रभु का दर्शन चाहिए। ऐसी भक्त माता कुन्ती है। हम थोड़ा-सा करते हैं, जो ध्यावे फल पावे कष्ट मिटे तन का, सुख सम्पत्ति घर आवे। हम चाहते हैं हमने घण्टी बजाई, दीया दिखाया...हम चाहते हैं भगवान् को दीया दिखाया, अगरबत्ती दिखाई और खट से हमारे घर के अन्दर सोने-चांदी के छकड़े भरे हुए अपने आप पहुंच जाएं। जो भगवान् की भक्ति में लोभ-लालच रखता है उसकी भक्ति व्यभिचारिणी है। भक्ति को व्यापार मत बनाओ, भक्ति को व्यभिचार मत बनाओ। भक्ति को सदाचार में परिणत करो। भगवान् से दलाली मत करो। भगवान् से कुछ मत मांगो। भगवान् से भगवान् मांगो। इसके लिए जितनी बड़ी मुसीबत आए, ले लो। खाक पर चढ़ा दे या खाक पर सुला दे। राजी हैं उसी में जिसमें तेरी रजा है। यूं भी वाह-वाह है वा वूं भी वाह-वाह है। यह सच्चे भक्त का लक्षण है।

आदर्श माता कैसी है? पाण्डवों का राजतिलक हो गया जिसने तनिक भी इच्छा नहीं की। इतने दुःख पाने के बाद, जीवन में भटकने के बाद, 13 वर्ष के दुःखदाई वनवास एवं अज्ञातवास के बाद अब मेरे पाण्डवों को राज्य मिला है। बुढ़ापे में अब मुझे भी राजमाता का गौरव मिला है। राजमाता के रूप में गौरव के यश को भोगूंगी?—नहीं। युधिष्ठिर महाराज का राजतिलक हुआ है और कुन्ती ने तुरन्त वानप्रस्थ ले लिया। मेरा कर्तव्य पूरा हो गया। मैं धन्य हूं। बच्चों की दीक्षाता, बच्चों की निर्माता, बच्चों की परित्राता। उनको लक्ष्य तक पहुंचा दिया है। अब मुझे कुछ मोह नहीं है। अब बिल्कुल यश-वैभव के मोह को त्यागकर, बिल्कुल शान्तभाव से वन को निकल गई। साथ में गांधारी एवं धृतराष्ट्र को लेकर। साथ में विदुरजी छोड़ने गए। यह है महान् माता। यह माता धन्य है।

जब शाहजी का स्वर्गवास हुआ। जीजाबाई शाहजी की धर्मपत्नी, सती होने लगी। शिवाजी रोने लगे। मां! तूमने मुझे जन्म दिया। तुमने लोरीयां गा-गा कर मुझे संस्कारित किया। तुमने कहा कि हिन्दू पदपादशाही की स्थापना करनी है। मां! जिस पौधे को तूने लगाया, सींचा है, पाला-पोसा है। उस पौधे को फलवान तो होने दो। तुम्हारे संरक्षण में पौधा फल जाए, मैं अपने लक्ष्य तक पहुंच जाऊं, इतना तो करो। मां को हाथ जोड़े। मां मान गई। मां अपना कर्तव्य पालन करती रही। और छत्रपति शिवाजी का राजतिलक हुआ। पांच-पांच बादशाह को पछाड़ कर—बीजापुर, गोलकुण्डा, औरंगजेब, कुछ देशी शक्तियां, कुछ विदेशी शक्तियां। उन्होंने स्वतंत्र हिन्दू राज्य स्थापित किया। राजतिलक हुआ। शहनाइयां बजी, सब ओर गाजे-बाजे हुए। राष्ट्रीय नाच हुए—भाट आए। सब राजाओं ने मस्तक झुकाया। मां ने कहा—बेटा! मेरा कार्य पूरा हो गया है। जिस कार्य के लिए जी रही थी, वह

कार्य पूरा हो गया है। अगली एकादशी पर मैं जाऊंगी। उसके 5-6 दिन बाद एकादशी आई और जीजाबाई ने शरीर छोड़ दिया। गंगाजल, तुलसीदल लिया और शरीर छोड़ दिया। यह है धन्य माता। यह है निर्मोही माता, कर्तव्यपरायण माता, निर्माता माता। यह है परित्राता माता। ऐसी धन्य माता की आवश्यकता इस देश को है। गांधारी की तरह अंधी माता नहीं चाहिए। आंख पर जानबूझकर पट्टी बांध ली है। सब पाप उसके सामने होते रहे और वह नहीं देखने का नाटक करती रही। धृतराष्ट्र तो था ही अंधा। गांधारी के आंखें थी। पतिव्रता के नाम पर जानबूझकर आंखों पर पट्टी बांध ली। क्यों? उसे बेटों के पाप नहीं दिखते? दीखते हैं। क्या उसे सुनाई नहीं देते? देते हैं। रोक नहीं सकती थी? रोक सकती थी। जब द्रौपदी का चीरहरण हो रहा है भरी सभा में, चीत्कार कर रही है। वहां की चीत्कार, उसकी आवाज द्वारिका के श्रीकृष्ण सुन रहे हैं। और उसकी सभा में एक किनारे में उसकी आवाज गांधारी नहीं सुनती? सारी की सारी सभा में शोर मच गया। सारे हस्तिनापुर में शोर मच गया। दुनिया रो उठी है। गांधारी वहां है। वह कड़क कर आ जाती राज्यसभा में। खबरदार! मेरी आंख के सामने मेरे जीते-जी, अपनी पुत्रवधू का अपमान कभी नहीं होने दूंगी। मैं आत्महत्या कर लूंगी यदि ऐसा कुछ हुआ। मैं सब पुत्रों को पुत्र नहीं मानूंगी। मेरा राज कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं बीच में खड़ी हो जाऊंगी, मैं उसको बचाऊंगी। गांधारी भी पुत्र के मोह में अंधी थी। दिखावे के लिए पट्टी थी कि मुझे कुछ नहीं दिख रहा है। एक नारी हमारे भी काल में थी उसे बेटे के कोई पाप दिखाई नहीं देते थे। इस गांधारी ने भगवान् श्रीकृष्ण को भी शाप दे दिया। जा! तूने मेरे सौ बेटे मरवा दिए। जा! तू भी एक शिकारी के हाथ, एक बहेलिए के हाथ से मारा जाएगा। भगवान् ने नमस्कार किया कि मां! तुझे बहुत धन्यवाद। मेरा लीला संवरण का समय आ गया है, तेरा वचन मेरे लिए वरदान बन जाएगा। मुझे शरीर छोड़कर जाना ही है। इसलिए भगवान् ने उसका बहुत धन्यवाद किया। भगवान् ने विनोद में उसकी परीक्षा लेने के लिए एक माया रची। क्या माया रची? भगवान् ने यह माया रची कि एकाएक मरुभूमि का दृश्य उपस्थित हो गया है। दूर-दूर तक कोई वृक्ष नहीं है। पानी का कोई जलाशय नहीं है। सूर्य तप रहा है। रेत उड़ रही है। गांधारी का कंठ सूख गया। गांधारी भूख-प्यास से व्याकुल हो गई। वह खोज रही है कुछ पीने-खाने को मिले। आकाश तप रहा है, गरम लू चल रही है। दूर-दूर तक वृक्ष नहीं। बहुत दूर उसे दिखाई दिया एक बेर का वृक्ष है। बेर में छोटे-छोटे फल लगे हैं। गांधारी दौड़कर वहां गई। कम से कम बेर खाकर प्राण तो बचाऊं। और जब हाथ बढ़ाया तो डाली ऊंची हो गई। उछल कर कोशिश की तो डाली ऊंची रह गई। इस श्मशान भूमि में कोई साजो-सामान, टेबल-चेयर या ऊंचा पत्थर भी नहीं था, जो रखे। उसने सोचा, श्मशान भूमि है। कोई देखता है नहीं। भूख बड़ी सता रही है। भूख से व्याकुल हो उठी। उसने अपने

बेटे की एक लाश को खींचा, उसको रखा। उस पर पांव रख कर डाली पकड़ने की कोशिश की। भगवान् की माया! फिर भी डाली ऊपर रह गई। तब उसे लगा इतने से काम नहीं बना। तब एक बेटे की लाश को और रखा, पांव रखकर डाली पकड़ने की कोशिश की। पर डाली फिर कुछ ऊंची, ऊपर रह गई। सौ बेटों की लाश रखकर—उस पर पांव रखकर वह बेर तोड़ने जा रही है, जब बेर तोड़ने जा रही है तब भगवान् ने हाथ पकड़ लिया। कहा—मां! तुम्हें अपने बेटों से बहुत प्रेम है। मां लज्जित हो गई। माता मोह में अंधी हो गई। कोई प्रेम-व्रेम कुछ नहीं है। अपने प्राण बचाने के लिए पापी बेटों को, जिनके लिए भगवान् कृष्ण को शाप दे रही है, उन्हीं की लाश नीचे रखकर, उन पर चढ़कर बेर खा रही है।

गांधारी और कुन्ती, दोनों ही मां के रूप हैं। आदर्श माता कुन्ती है। जाति के लिए, धर्म के लिए, राष्ट्र के लिए सब कुछ समर्पित करने वाली है। गांधारी दूसरे के राज्य को हड़प कर चुपचाप अपने बेटों की पीठ थपथपाने वाली है। बेटा चुप-चुप। बेटा! तू बहुत अच्छा बेटा है। Black Market का दस हजार कमाकर ले आया, मां को दे दिया। मां कहती है बड़ा अच्छा बेटा है। अरे मां तू आज उसका Black Market का पैसा खाती है और आज तू खुश हो रही है कि बेटे की ब्याह-शादी करनी है तो कर दे। कहती है बेटे की नौकरी तो 400 रुपये की है पर ऊपर से एक हजार रुपया और बना लेता है। ऊपर के एक हजार रुपये से खुश हो रही है। याद रखो मां जो बेटा हराम की कमाई करता है, पाप की कमाई करता है वह एक दिन तुम्हारी साड़ी उतारकर भागेगा। वह एक दिन बाप की तिजोरी खोलकर, पैसा निकाल कर चला जाएगा तब छाती पीटोगी। इसलिए कभी भी पाप को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। मां का कर्तव्य है जिनको जना है उनको दीक्षा दे। उनको दीक्षा दी है तो उनका निर्माण करे। जिनका निर्माण किया है तो उनका त्राण करे। उनको ठीक मार्ग से चलाकर जीवन के लक्ष्य तक पहुंचाये। यह उसका धर्म है। जो त्राण नहीं कर सकती है वह मां कैसी? (जो अपने पितरों का उद्धार नहीं कर सके वह पुत्र कैसा है?)—

पुं नाम नरकात् त्रायते इति पुत्राः।

नरक से अपने पितरों का उद्धार नहीं करता वह पुत्र कैसा? तो जो आदर्श चरित्र है उसका बड़ा सुन्दर विश्लेषण महाभारत में मिलेगा। उस काल में ये बड़े भारी महापुरुष हुए। उन्होंने प्रतिज्ञा की आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा। अतः विवाह नहीं किया। अतः उन्हें पुत्र हुआ नहीं। पुत्र हुए बिना किसी के पिता तो बने नहीं। पर सारे राष्ट्र के पितामह बन गए। बिना पिता बने पितामह बनने वाले भीष्म सारे राष्ट्र के पितामह। वो बड़े महात्मा थे। वह भीष्म पितामह सारे राष्ट्र के पितामह हैं, पितर हैं। जब-जब पितरों को जल दिया जाता है तब सबसे पहले भीष्म

पितामह को जलांजलि देते हैं। अपने-अपने पितरों को लोग जल देते ही हैं। पितृ तर्पण में भीष्म पितामह को जलांजलि पहले देते हैं। वे सबके पितामह हैं जिन्होंने विवाह नहीं किया। जिनकी संतान नहीं हुई। वे सारे राष्ट्र के दादा हैं। उनको बिना जलांजलि दिए तुम्हारे बाप-दादा को मिलेगी नहीं। भीष्म पितामह (जो भगवान् कृष्ण से बड़े थे) 175 वर्ष की अवस्था में युद्ध कर रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण 125 वर्ष की अवस्था में गीतोपदेश कर रहे हैं। वो भीष्म पितामह कहते हैं—जिसका भाव यह है।

दादा अपने से 50 वर्ष छोटे पोते कृष्ण को प्यार से कान्हा, कृष्ण बुला सकता है। भगवान् आप सारे विश्व की योनि हैं और सारे विश्व की प्रलय भी हैं। सारा विश्व आप में ही टिका हुआ है। सबसे प्रारम्भ में आप ही सारी सृष्टि की रचना करते हैं। सारा विश्व आपके वश में है। उन्हीं ने गाया है—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः।।

उन्होंने शरशय्या में पड़े हुए एक हजार नाम गाये हैं विष्णुसहस्रनाम के नाम से। बड़े अद्भुत महापुरुष थे। अब उनकी प्रतिज्ञा थी कि मैं नारी पर कभी हथियार नहीं उठाऊंगा, नारी पर प्रहार नहीं करूंगा। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने शिखण्डी को आगे करके उनके ऊपर प्रहार करवाया। एक बार उन्होंने बड़े वेग से पाण्डवों के ऊपर आक्रमण किया। दुर्योधन ने एक ताना मार दिया। दुर्योधन ने कहा—दादाजी! आप हमारे सेनापति हो, पर मन ही मन पाण्डवों से मिले हुए हो। इसलिए आप पाण्डवों को नहीं मारते। उन्होंने कहा—नीच, पापबुद्धि दुर्योधन! तेरे में अक्ल नहीं है! मैं क्षत्रिय धर्म में डटा हुआ हूं, लाखों-लाख सेना को काटता हूं। तू मेरे को ऐसा कह देता है। मैं क्षत्रिय धर्म को जानता हूं और उसका पालन कर रहा हूं। दुर्योधन ने कहा—आप बेशक लाखों-लाख सेना काटिये न काटिये, पर हमारा वैर तो पांच पाण्डवों से है। यदि पाण्डव बने रहेंगे तो बाकी सेना तो धर्मादे की सेना है। हाथ जोड़कर इकट्ठी की हुई है, उनको मारने से क्या फायदा है। ये नहीं मरेंगे तो यह राज्य हमारा कैसे होगा। ये राज्य पर कब्जा कर लेंगे। असली वैर तो इनसे है। तब भीष्म पितामह ने कहा—अरे पापी! जिसका रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण है उनको मारना कोई आसान कार्य है? अच्छा, तू बहुत कहता है तो कल मैं एक पाण्डव को मारने की प्रतिज्ञा करता हूं। जब ऐसा कह दिया तो पाण्डवों के दल में कोहराम मच गया कि हाय, भीष्म पितामह जिसकी प्रतिज्ञा को कोई टाल नहीं सकता। परशुराम भी जिसको प्रतिज्ञा से नहीं डिगा सके। त्रिभुवन में उनकी प्रतिज्ञा को मिटाने वाला कोई है नहीं। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं एक पाण्डव को मार दूंगा। द्रौपदी विलाप करने लगी। कुन्ती चिन्तित हो गई।

सारे पाण्डवों के शिविर में रोदन मच गया कि भीष्म पितामह ने प्रतिज्ञा की है। भगवान् ने द्रौपदी को कहा, तुम चिन्ता मत करो। हम व्यवस्था करेंगे। वह कैसे? भीष्म की प्रतिज्ञा टालने वाला कोई है ही नहीं। उन्होंने कहा चिन्ता मत करो, सो जाओ, हम व्यवस्था करेंगे। श्रीकृष्ण ने प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में द्रौपदी को जगाया और कहा, चलो मेरे साथ। उठा कर ले गए कि मेरे पीछे चलो। रास्ते में एक नदी आई। उसको कहा अपनी जूतियां उतारो, द्रौपदी ने जूतियां उतारी। भगवान् कृष्ण ने पीताम्बर में जूतियां लपेट ली। उसको कन्धे पर चढ़ाकर नदी पार कराई। छोटी-सी नदी को पार करने के बाद कहा पांव की आवाज मत करो, धीरे-धीरे चलो। और कौरवों का शिविर आ गया। भीष्म पितामह अपने शिविर में प्रातःकाल उठकर ब्रह्म चिन्तन में बैठे थे। उन्होंने कहा, मैं बाहर खड़ा हूं, तुम चुपचाप जाकर उनके चरणों में नमस्कार करो। द्रौपदी ने चुपचाप जाकर भीष्म पितामह को नमस्कार किया तो भीष्म पितामह के मुंह से निकल गया सौभाग्यवतीभव! आशीर्वाद मिल गया—सौभाग्यवतीभव! द्रौपदी अचानक चीत्कार करके बोली, दादाजी! आपका कौन-सा वचन सत्य होगा। कल आपने युद्ध भूमि में कह दिया कि मैं एक पाण्डव को मारूंगा और अभी आपने कह दिया सौभाग्यवतीभव! एक भी पाण्डव मर जाएगा तो मेरा सौभाग्य खण्डित हो जाएगा। आपने कल कहा एक पाण्डव को मारूंगा और अभी कहते हैं सौभाग्यवती भव। सौभाग्यवती भव का अर्थ एक भी पाण्डव मर नहीं सकता। एक भी पाण्डव मर गया तो मेरा सौभाग्य नहीं बचेगा। भीष्म ने हैरान होकर कहा, अरे! द्रौपदी तू है? इतने प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में तेरे को यहां कौन ले आया? दादा जी यह बात छोड़िये, बताइये आपका कौन-सा वचन सत्य है। मैंने तो सोचा मैंने पाण्डवों को मारने की प्रतिज्ञा की है, तो दुर्योधन की पत्नी नमस्कार करने आयी होगी अतः मैंने कह दिया। बता तेरे को लेकर कौन आया? छलिया कृष्ण कहां है? छोड़ो कृष्ण की बात, आप यह बताओ कि आपका कौन-सा वचन सत्य है। फिर उठकर जंगले से बाहर देखा तो पीताम्बर लहरा रहा है। तो दौड़े-दौड़े भीष्म गए और भगवान् कृष्ण के चरणों में नमस्कार किया। भगवान् ने आशीर्वाद देने के लिए ज्योंही हाथ उठाया तो उनके पीताम्बर में लिपटी हुई जूतियां गिर गई। तो भीष्म पितामह ने कहा, यह क्या? तब कृष्ण ने बताया नदी पार करते समय ये जूतियां पीताम्बर में लपेट ली। तब द्रौपदी ने पूछा, दादाजी...? भीष्म पितामह ने भगवान् से कहा, आपने मुझे धर्म संकट में डाल दिया। तब द्रौपदी ने कहा, धर्म संकट-वंकट बाद में होगा पहले यह बताओ आपका वचन कौन-सा सत्य होगा। भीष्म पितामह ने कहा, हे भगवान्! आप जिन भक्तों की जूतियां उठा लें उनको संसार में कौन मार सकता है। भगवान् अपने प्यारे भक्तों की जूतियां उठा लेते हैं। भीष्म ने कहा—अच्छा भगवान्, आपने मेरा एक वचन तुड़वाया है तो मैं आपके

दो वचन तुड़वाकर रहूंगा। यदि आज मैं भगवान् से शस्त्र न उठवा दूं तो मैं गंगापुत्र एवं शांतनु-पुत्र नहीं कहलाऊंगा। और भीष्म पितामह ने बहुत वेग से अर्जुन पर आक्रमण किया। उससे अर्जुन बहुत व्यथित हो गया और अर्जुन घबरा कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। बिल्कुल परेशान हो गया, पसीना आ गया। अर्जुन बिल्कुल रथ से गिरा जा रहा था। भगवान् ने सोचा आज मेरे भक्त पर संकट आ गया। एक बार तो भगवान् चाबुक लेकर दौड़े हैं भीष्म पितामह पर। तो भीष्म ने कहा, हो गया वचन भंग! आपसे शस्त्र उठवा दिया। आज आपसे दो बार शस्त्र उठवाऊंगा। फिर भीष्म ने बड़े वेग से आक्रमण किया तब भगवान् रथ का चक्का उठाकर दौड़े हैं। तब भीष्म ने कहा—आप धन्य हैं भगवन्! आपने एक भक्त के प्राण की रक्षा कर ली और दूसरे भक्त की प्रण की रक्षा कर ली। मेरा प्रण था आपसे दो बार शस्त्र उठवाऊंगा। आपने दो बार शस्त्र उठा लिए। आपने अर्जुन के प्राण की रक्षा और मेरे प्रण की रक्षा कर ली। ऐसे भीष्म पितामह को शरशय्या पर पड़े हुए को कहा कि पाण्डवों को उपदेश देवें। शरीर से रक्त की धारायें बह रही हैं, तीर चुभे हुए हैं, सिर चक्कर खा रहा है, आंखों के सामने अंधेरा छाया हुआ है और इस समय आप कहते हैं मैं उपदेश करूं? भगवान्! दुनिया में आपसे बढ़कर कौन उपदेश कर सकता है। मेरा अन्तिम समय है। आपके मुंह से उपदेश सुनूं तो मेरा भी उद्धार हो जाए। पाण्डवों का भी उद्धार हो जाए। मैं किस तरह से उपदेश करूं? तब भगवान् ने कहा—नहीं, आप पितामह हैं। सबसे बड़े हैं। आपके मुखारविंद से मैं और पाण्डव उपदेश सुनना चाहते हैं। पर मैं उपदेश ऐसी स्थिति में कैसे करूं? तो भगवान् ने कहा, अच्छा! मैं आपको शक्ति देता हूं। तब भगवान् ने उन पर शक्तिपात किया है। जितने दिन तक आप प्राण नहीं छोड़ेंगे उत्तरायण तक, मकर संक्रान्ति के दिन जब सूर्योदय होगा तब तक आपके शरीर में एक भी व्रण, बाण की पीड़ा नहीं होगी। व्यथा नहीं होगी, भूख-प्यास नहीं सताएगी। कुछ कष्ट नहीं होगा। स्मृति पहले के समान उजागर होगी। आप बड़ा सुन्दर उपदेश करोगे। तब भीष्म पितामह ने महाभारत का जो हृदय है अनुशासन पर्व एवं शान्तिपर्व उसमें अद्भुत उपदेश किया है। किसकी शक्ति से उपदेश किया है भगवान् कृष्ण की शक्ति से।

युधिष्ठिर महाराज के राजसूय यज्ञ में विचार हुआ कि सबसे पहले किसकी पूजा की जाए? तो सबने कहा भगवान् श्रीकृष्ण की चरण पादुका की पूजा की जाए। तब शिशुपाल गाली बकने लगा कि वह क्या है, ग्वाला है आदि। बहुत गाली बकने लगा। शिशुपाल गाली बकता था मधुसूदन अंगुली पर गिनते जाते थे। वह बुरे वचन कहता था और वे उंगली पर गिनते जाते थे। जब सौ गाली पूरी हो गई तब भगवान् ने सुदर्शन चक्र से उसकी गर्दन काट दी। भगवान् ने संतुलन नहीं

खोया। शिशुपाल गाली बक रहा है, भगवान् मुसकरा रहे हैं। शिशुपाल को दण्ड दे दिया तो मुसकरा रहे हैं। शिशुपाल की हत्या हो गई तब भी भगवान् मुसकरा रहे हैं।

उसके बाद नकुल सोने के पात्र में जल लेकर आया। उनके चरण पखारे तब भी भगवान् मुस्करा रहे हैं। न निन्दा से व्यथित हुए हैं न हत्या से असंतुलित हुए हैं और न चरण पखारने पर प्रसन्नता से फूलकर कुप्पा हुए हैं। वे एकरस मुसकरा रहे हैं। जीवन में कभी भी, किसी भी परिस्थिति में जिन्होंने आंसू नहीं बहाया। सदैव मुसकराता हुआ भगवान् कृष्ण का मुखारविंद है। भगवान् कृष्ण का सदा मुसकराता हुआ चेहरा है। कौन मुसकरा सकता है? मुसकराने को कहते हैं प्रसादगुण। प्रसादगुण माने प्रसन्नता। प्रसादगुण कब आता है? जो राग-द्वेष से परे हो जाता है उसको प्रसाद कहते हैं। वो हर समय मुसकराता रहता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

जो राग-द्वेष से मुक्त होकर अपने आपको वश में करके कर्तव्यभाव से सब इन्द्रियों का व्यवहार कर रहा है वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है। न कोई राग है और न द्वेष।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। 2/65, गीता

प्रसन्नता में क्या होता है? सब दुःखों की आत्यन्तिक हानि हो जाएगी। प्रसन्नचेतस् व्यक्ति की बुद्धि सत्य में प्रतिष्ठित हो जाएगी। इसलिए भगवान कृष्ण मुस्कान लिए हुए हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। 18/54, गीता

वे ब्रह्मभूत है। क्यों? क्योंकि प्रसन्नात्मा है। अभिमन्यु की मृत्यु पर सारी मानवता रोयी। पर भगवान् ने एक बूंद आंसू नहीं बहाया। भगवान् के मुख पर मुस्कान है। वे सत्य को देख रहे हैं। सत्य को देखने वाले को पता है आत्मा तो कभी मरती नहीं है। शरीरों के मरने के लिए कौन आंसू बहाता है। इसलिए सत्य का द्रष्टा मुस्कराता रहता है। इसलिए ब्रह्मभूतः—ब्रह्मभूत कौन है? जो सदा प्रसन्न रहता है। न शोचति—किसी चीज का शोक नहीं करता है। न कांक्षति—क्यों नहीं शोक करता है? किसी चीज की चाह ही नहीं है, किसी चीज की आकांक्षा ही नहीं है। किसी चीज की आकांक्षा करे, कामना करे और पूरी न हो तो हम हाय-हाय करते हैं। हाय काम, हाय। उनको कोई आकांक्षा ही नहीं है, कामना ही नहीं है। केवल विश्वकल्याण के लिए समर्पित हैं। कर्तव्य पालन करते हुए कर्तव्यपरायण धर्मात्माओं की सहायता के लिए जिन्होंने सब कुछ, सारा जीवन समर्पित कर दिया

है। स्वयं जिनके एक इशारे पर बड़े-बड़े साम्राज्य गिरते एवं उठते हैं। जिनके एक तिनका तोड़ने से जंघा चीर दी जाती है जरासंध की। जिसके एक इशारे से जंघा टूट जाती है दुर्योधन की। सब इशारे होते हैं केवल। बिना रथ पर हथियार उठाए ही सारी 18 अक्षौहिणी सेना में विजय दिलाते हैं और स्वयं एक क्षण के लिए भी राजतिलक नहीं लेते। बाद में लोग कहते हैं महाराज! आप राजतिलक ले लो। तब वे कहते हैं हमारे पूर्वज राजा ययाति ने कहा था यदुवंशी राज्य नहीं करेंगे। ययाति ने चार बेटों से उनकी जवानी मांगी थी। तो पुरु ने जवानी दी थी। यदु ने, तुरु ने, तर्सु ने जवानी नहीं दी। तब महाराज ययाति ने कहा—यदु! तुम्हारे वंशज राज्य नहीं करेंगे। अतः भगवान् कहते हैं और महाराज ययाति ने कह दिया था यदुवंशी राज्य नहीं करेंगे। तो हम राज्य नहीं करेंगे। तो भगवान् मुस्करा कर टाल देते थे। इस प्रकार सर्वतोभावेन—विश्व मंगल के लिए, लोक मंगल के लिए भगवान् का जीवन था।

ऐसा भगवान् का चरित्र है। अभी भगवान् कृष्ण आनन्दकंद के चरणों में अपने हृदय की हरी-भरी क्यारी के सारे के सारे भाव पुष्प अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर के साथ समर्पित करके उनके चरणों में अपना तन-मन-धन प्राण चढ़ाकर प्रार्थना करते हैं, हे श्रीकृष्ण! आपके यज्ञमय जीवन के अनुसार जीवन जीयें। आपके संदेश के अनुसार कर्म संकुल और उत्ताप श्रेष्ठ कर्ममय जीवन जीयें। कर्म को धर्म से जोड़ें। और जीवन में कर्मों के फल की वांछा त्याग देवें और कर्तापन का अहंकार भी अगरबत्ती जलाकर फूंक डाले। अन्त में आपके चरणों में विश्राम पाएं। अन्त समय में आपका पावन नाम हमारे मुखारविंद पर हो। आपकी मनोहर झांकी हमारे सामने हो। हमारी आत्मा आपकी ही महान् आत्मा में विश्राम पाये।

ॐ शान्ति-शान्ति-शान्ति।

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी।
दस्त तेरे बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।।
देव पूजा ठानी तजि कलमा कुरानी।
नमाजहू भुलानी तेरे गुन न तजौंगी मैं।।
सांवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार।
तेरे नेह दाघ में निदाघ ह्वै दहूंगी मैं।।
नंद के कुमार कुरबान तेरी सूरत पर।
हो तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहूंगी मैं।।
—ताज बेगम

जन्माष्टमी : द्वितीय प्रवचन

आज जन्माष्टमी का परम पावन पर्व है।

आज से 5,135 वर्ष पूर्व मथुरा में कंस के कारागार में एक महान् ज्योति का प्राकट्य हुआ। संसार में लगभग 6 अरब लोग हैं। उन सबसे पूछें जेल में कितनों का जन्म होता है? उन सबसे पूछो जेल में कितनों का जन्म हुआ? उँगली में गिनने योग्य लोगों का जन्म जेल में हुआ। जन्म के समय मां-बाप के हाथों में हथकड़ी और पांवों में डण्डाबेड़ी लगी थी। आपको लगेगा शायद उँगली में गिनने योग्य व्यक्ति! कितने ऐसे थे जिनके जन्म के पहले मारने के लिए वचन हो चुका था? जन्मते ही मार दिया जाए यह माता-पिता एवं हत्यारे के बीच तय हो चुका था। कितने ऐसे थे और कितने ऐसे हैं जिनके सात भाई-बहिन को जन्मते ही मार डाला जा चुका था? कितने ऐसे हैं जिनके जन्म पर किसी ने बधाई का एक शब्द नहीं कहा। बधावा नहीं गाया था? उस शुभ घड़ी में किसी ने मां-बाप को बधाई नहीं दी। और कितने ऐसे हैं जिनको जन्मते ही मां की छाती से खींचकर अलग कर दिया गया, गांव में कहीं जाकर छिपा दिया गया, कितने ऐसे हैं छठी के दिन पूतना नाम की राक्षसी स्तनों में विष लगाकर, विष पिलाने के लिए पहुंची, कितने ऐसे हैं जिसको मारने के लिए एक के बाद एक राक्षसों की पंक्ति को बार-बार भेजा गया था—अघासुर, मघासुर, शक्तासुर, लम्बासुर बार-बार ऐसे राक्षसों को भेजकर बार-बार उसको जान से मारने का उपाय करता रहता था, कौन ऐसे हैं जिनको 12 वर्ष की बाल्यावस्था में बुलाया गया राजदरबार में दंगल के लिए। बड़े-बड़े मस्त हाथी शराब पिलाकर छोड़ दिए गए, ऐसे मल्ल जो 10-10 हजार हाथियों का बल रखते थे। उन मल्लों की मल्लशाला में भेजा गया शक्ति परीक्षा के लिए? कितने ऐसे हैं जो अपने पालक माता-पिता से, मित्र मण्डली से, गोप बालकों एवं गोप बालिकाओं से बिछुड़े। जीवन के 125 वर्ष तक पुनः मुख नहीं देखा। कैसे-कैसे विचित्र संकट, कैसी-कैसी आपदाएं इन महापुरुष के जीवन में आई। आज का कोई बढ़िया लेखक जीवनी लिखता है, उसके जीवन में ऐसी दो-चार घटनाएं घटी होती तो गला फाड़-फाड़ कर दुनिया को बताता—मेरे से अधिक अभागा व्यक्ति कोई नहीं। मैं दुनिया का सबसे अधिक अभागा व्यक्ति हूं। जो जन्मते

ही मां-बाप से अलग हुआ। बधाई किसी ने दी नहीं मां-बाप को। 12 वर्ष तक छिपाकर दूसरे गांव में रखा गया। वहां भी मारने के षड्यंत्र चलते रहे। वह कहेगा मैं सचमुच दुनिया का सबसे अभागा व्यक्ति हूं। मेरे जन्म पर किसी ने बधाई नहीं दी। मेरी मौत के सौदे पहले से तय हो चुके थे। अपनी आत्मकथा लिखने वाला कोई भी लेखक ऐसा लिखता। किन्तु भगवान् कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द, भगवान् वासुदेव, नारायण, अन्तर्यामी परमेश्वर, स्थितप्रज्ञ पुरुष, ज्योतिपुरुष ऐसे महान् पुरुष थे। कितने भयंकर संकटों की शृंखलाएं जीवनभर आपदाओं की वह्नि (अग्नि) ज्वालाओं में पड़कर भी उन्होंने जीवन में एक भी आंसू नहीं बहाया, कभी हाय-हाय नहीं की। कभी अपने पर तरस नहीं खाया। और अपने पर तरस दिलवाने के लिए, दुनिया को आकर्षित करने के लिए कोई करुणा की वाणी में नहीं कहा। आत्म ग्लानि, आत्म निन्दा, अपनी दयनीय अवस्था पर दया करने, अपने को तुच्छ, घटिया और अभागा कहना कहीं भी एक शब्द भी भगवान् कृष्ण के मुंह से नहीं निकला। जीवनभर मुस्कराते रहे। मन्द-मन्द मुसकान मुखारविंद पर रही। जैसे फूल होता है। फूल चारो ओर से शूलों से घिरा होता है। दायें-बायें, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे दसों दिशा में शूल से घिरा होता है। और प्रत्येक शूल बड़ा तीखा है, पैना है और प्रत्येक शूल कहता है तनिक हवा का झोंका आएगा हम तेरा कलेजा चीर डालेंगे। सचमुच गुलाब जैसे फूल का कलेजा चीरना शूल के लिए बिल्कुल सम्भव है। फूल जीवन की प्रथम घड़ी से लेकर अन्तिम घड़ी तक मुसकराता रहता है। चारो ओर शूल तने हैं। शूलों के मध्य में फूल मुस्कराता रहता है। फूल कहता है तुम शूल हो। तुम मानव के हृदय को सालने के लिए, शूलने के लिए, चीरने के लिए पैदा हुए। तुम अपना कर्म करो। मैं तो फूल हूं, मैं खिलने के लिए, मुसकराने के लिए, अपनी सुगन्धि बांटने के लिए पैदा हुआ हूं। जीवनभर अपना कार्य करूंगा। तो शूलों से घिरा हुआ फूल, शूलों के मध्य में जिस प्रकार मुसकराता है इस प्रकार से हजारों-हजार आपदाओं के बीच भगवान् जीवन भर मुसकराते रहे। यदि किसी को भगवान् कृष्ण की पूजा करनी है, स्तुति गानी है, प्रशंसा करनी है, जिसको भगवान् कृष्ण अतिप्रिय हैं, इष्ट देवता हैं उसको जीवन में व्रत लेना चाहिए कि हजारों-लाखों शूलों के बीच में मुस्कराता रहूंगा। मैं मन की मलिनता, आत्मग्लानि का शिकार कभी नहीं होऊंगा। यदि मैं कृष्ण का भक्त हूं तो मेरा धर्म है भगवान् कृष्ण के समान जीऊंगा।

सुमन का अर्थ है अच्छे मन वाला। जिसके मन में किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है। जिसके मन में किसी के प्रति कपट कूट चरित्र नहीं है, जिसके मन में किसी के प्रति वैर भाव नहीं है। जो विश्व मंगल के लिए जीता है। जिसके मन में ओछा भाव, कमीना भाव, स्वार्थ का भाव कुछ नहीं है। जो सुमन है, अच्छे मन

वाला है, वह सदा मुस्कराता है। भगवान् कृष्ण का मुस्कराता हुआ मुखमण्डल यह उनके जीवन का सबसे महान् संदेश है। भगवान् कृष्ण के मुख पर मधुर दिव्य मुस्कान उनके जीवन का महानतम संदेश है। यह जिसने नहीं सीखा है उसकी कृष्ण भक्ति वृथा है। हजार मुसीबतें आए पर कृष्णभक्त हमेशा मुस्कराता रहता है। हजारों संकट आएं, हजारों आपदाएं आएं हम कृष्णभक्त मुस्करायेंगे। कृष्ण भक्त आपदाओं पर मुस्कराएंगे, आपदाओं को गले लगाएंगे, आपदाएं हार जाएंगी पर उन्हें पराभूत नहीं कर सकेंगी।

शूल—शूल सबके हृदय को शूलता है। शूल की कुछ प्रतिष्ठा नहीं है। शूल का लोग स्पर्श करने से भी भय खाते हैं। पर फूल को लोग देवता के चरण में चढ़ाते हैं। यदि हमारे जीवन में एक ही काम है जहां मिले वहां सबको शूलते रहे, दूसरों की निन्दा, चुगली करते रहें, जहां मिले दो को लड़ाते रहें, दूसरों के घर फोड़ते रहें, छिद्र खोजते रहें तो हम शूल हैं। शूल को तोड़कर फेंक देते हैं। शूल के साथ किसी की रहने की इच्छा नहीं होती। यदि हम फूल हैं, जीवन में मुसकराते हैं और अपने जीवन के चारित्र्य और पावित्र्य की सुगंधि फैलाते रहे, जो आए उसमें चरित्र एवं पवित्र की सुगंधि फैलाते रहे, मुक्त हस्त से बांटेंगे, बिना शुल्क के, बिना पैसे के बांटेंगे। और बिना किसी भेदभाव के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ग्रामवासी, वनवासी को बिना भेद माने सबको मधुर मुसकान बांटेंगे। जो अपने मुख पर सदैव मुसकान रखते हैं चारित्र्य एवं पावित्र्य की सुगंधि मुक्त हस्त से बांटते हैं तो हम मानवता की फुलवारी के फूल हैं। तब हम देवता के चरण पर नहीं देवता के मस्तक पर चढ़ाने योग्य बन जाएंगे। देवता भी आदर के साथ अपने शीश पर चढ़ा लेंगे। भगवान् कृष्ण मानवता की फुलवारी के ऐसे अन्यतम पावन फूल हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में एक सिद्धान्त कहा—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। 18/54,गीता

जो ब्रह्मभूत है, जो साक्षात् ब्रह्म रूप है, उसकी पहचान, कसौटी क्या है? उसकी कसौटी है, पहचान है कि वह प्रसन्न है। 18 अक्षौहिणी सेना धरती में समा गई। योद्धा, महायोद्धा, रथी-महारथी मारे गए। जब अभिमन्यु की मृत्यु हुई तो सारे पाण्डव दल की आंखें गीली हो गई। मातायें विलाप करने लगी, उनको देखकर कौरव भी विलाप करने लगे। दसों दिशायें रो उठी। पर भगवान् कृष्ण मुस्कराते रहे। रोना कैसे होता है? रोना होता है मोह से, अज्ञान से। जो मोह और अज्ञान से मुक्त है वह रोये क्यों? इसलिए उस दिन भी भगवान् मुस्करा रहे हैं। सबको यथोचित ज्ञान दे रहे हैं। विवेक दे रहे हैं और उनको दुःख सागर से पार जाने का मार्ग बता रहे हैं। जो साक्षात् ब्रह्म हैं। जिन्होंने 5,150 वर्ष पूर्व जन्म लिया। वे साक्षात् ब्रह्मभूत हो गए। क्यों? प्रसन्नात्मा का माप क्या है, प्रसन्नात्मा की कसौटी

क्या है, प्रसन्नात्मा होता क्या है? जो सदा प्रसन्न है उसको जांचने का हमारे पास क्या साधन है? तब कहते हैं 'न शोचति' शोक नहीं करता, बड़ी से बड़ी विपत्ति आ जाए तो वह रोएगा नहीं। हाय-हाय नहीं करेगा, परिस्थिति की शिकायत करेगा नहीं। वह उस परिस्थिति को अपनी अग्निपरीक्षा समझेगा और मुस्कराते हुए उस अग्निपरीक्षा से पार हो जाने के लिए उद्यत हो जाएगा।

स्वामी रामतीर्थ अपने एक गीत में कहते हैं—

कुंदन के हम बने हैं, जब चाहे तू जला ले
वावर न हो तो हमको ले आज आजमा ले।
जैसी तेरी खुशी है, नाच तू नचा ले।
राजी हूं मैं उसी में, जिसमें तेरी रजा है।
यां यूं भी वाह वाह है और यूं भी वाह वाह है।

हम तो कुंदन के बने हैं जी। हम खोटी धातु के टुकड़े नहीं है जी जो डर जाएंगे आग से। हम डरने वाले नहीं है जब तेरी इच्छा हो जलाकर देख ले। यदि तेरी आग से डर जाएं, आग की लपट देखकर भयभीत हो जाएं, यमराज का दण्ड देखकर डर जाएं, काल का छुरा देखकर डर जाएं, विपत्तियां देखकर डर जाएं, शूल देखकर डर जाएं तो समझना घटिया धातु का कोई बना हुआ है। पीली धातु का टुकड़ा है, कुंदन नहीं है। असली सोना नहीं है—

कुंदन के हम बने हैं जब चाहे तू जला ले
वावर न हो तो हमको ले आज आजमा ले।

यदि विश्वास न हो तो भगवान् आज, अभी इसी क्षण आजमा ले। चन्द मुसीबतें ले आ, सब मुसीबतें ले आ, कहर ले आ, इसी समय चारों ओर से विपत्तियां टूट पड़े, कयामत आ जाए, यदि कांप जाएं तो गटर में फेंक देना, नाली में फेंक दो, थूक देने लायक। यदि सच्चे हैं तो हम डरेंगे नहीं।

कुंदन के हम बने हैं जब चाहे तू जला ले
वावर न हो तो हमको ले आज आजमा ले।
जैसी तेरी खुशी हो सब नाच तू नचा ले।
राजी हूं मैं उसी में, जिसमें तेरी रजा है।

फिर स्वामी रामतीर्थ भगवान् से पुकार कर कहते हैं—

या दिल से हमको कर प्यार प्यारे या तेग खींच जालिम टुकड़े उड़ा हमारे।

हे भगवान्! या तो हृदय से हमको प्यार कर ले या तो हाथ में तलवार लेकर हमारे टुकड़े उड़ा दो।

आशिक मगर कलन्दर यूं पुकारे
राजी हूं मैं उसी में, जिसमें तेरी रजा है
यां यूं भी वाह वाह है और यूं भी वाह वाह है।
या अर्श पर चढ़ा दे या खाक में मिला दे
आसमान में चढ़ा दे भगवान् या मिट्टी में मिला दे
राजी हूं मैं उसी में, जिसमें तेरी रजा है
यां यूं भी वाह वाह और यूं भी वाह वाह है।

ब्रह्मभूत व्यक्ति जो है वह प्रसन्नात्मा है और प्रसन्नात्मा की कसौटी क्या है? 'न शोचति' वह कभी शोक नहीं करता। बड़ी से बड़ी मुसीबतें आ जाए वह शोक नहीं करेगा क्योंकि उसकी दृष्टि खिलौनों पर नहीं है, उसकी दृष्टि नाम-रूप पर नहीं है। उसकी दृष्टि नश्वर वस्तुओं पर नहीं है। वह तो अमर वस्तु को देखता है और अमर वस्तु पर कभी संकट पड़ा ही नहीं।

रोते कौन हैं? अज्ञानी। रोते कौन हैं? मोही। रोते कौन हैं? तुच्छ, लोभी, स्वार्थी रोते हैं, तत्त्वदर्शी कभी नहीं रोता है। हम जगन्नाथपुरी गए। समुद्र के तट पर हम खड़े हैं। अनन्त सागर लहरा रहा है। पुरी के सागर का दृश्य बड़ा ही अनोखा है। दुनिया में ऐसा प्यारा दृश्य अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। अचानक बादल आ गया। बादल बरसने लगा, वर्षा में नन्ही-नन्ही बूंदें बरसने लगी। बूंद बरस रही है जैसे किसी बच्चे-बच्ची के आंख से आंसू टपक कर गिर जाए।

नन्ही बूंदें रोयी कि सागर में क्या होगा?

और अनन्त सागर लहरा रहा है। नन्ही-सी बूंद है उस पर नीचे गिरेगी और डूब मरेगी। नन्ही बूंद रोयी सागर में क्या होगा?

सागर बोला—प्रिये, बिन्दु से सिन्धु बनोगी।

सागर ने कहा—अरे! रोती काहे हो? कहां से पैदा हुई हो, कहां से गयी आसमान पर। मेरी गोदी से जन्मी हो, मेरे गर्भ से जन्मी हो, मेरे भीतर से थोड़ी भाप उठकर आसमान पर चली गई और तुम बूंद बन गई! अब बिन्दु से सिन्धु बनने का अवसर आया है। तो इसमें रोने का क्या है? खुशी मनाओ, आनन्द मनाओ। लघु से विराट् बन रहे हो, व्यष्टि से समष्टि में जा रहे हो, जीवात्मा से परमात्मा में मिलने जा रहे हो, एक ही शरीर से सिमटे हुए से तुम अनन्त बनने जा रहे हो। शान्त से अनन्त बनने जा रहे हो, रोने का क्या मतलब, अशांत का क्या मतलब? किस चीज का शोक करोगे भाई! भगवान् से मिलने का शोक! अरे ढोल-शंख बजाओ। प्रभु मिलन की बेला आई है। इसलिए 'न शोचति', वह शोक नहीं करता है। यह तो कसौटी है। कौन भगवान् है 'ब्रह्म भूतो प्रसन्नात्मा' प्रसन्न

कौन रहता है? बड़ी से बड़ी विपत्ति आ जाए जिसे दुनिया विपत्ति समझती है, वह शोक नहीं करता 'न शोचति'।

वह शोक क्यों नहीं करता है? अगली कसौटी बताई 'न कांक्षति' उसकी कोई आकांक्षा ही नहीं है, उसकी कोई कामना ही नहीं है, उसकी आकांक्षा ही नहीं है। याद रखना जो चाह रखता है, आकांक्षा रखता है वह जरूर रोयेगा। कोई कामना, चाहना, आकांक्षा सदा पूरी, सर्वदा पूरी और पूर्ण रूप से पूरी नहीं होती। जो चाहते हैं वह होता नहीं। जो होता है वह भाता नहीं, जो भाता है वह रहता नहीं। मनुष्य कुछ और करना चाहता है वह होता ही नहीं, जो हो रहा है वह अच्छा ही नहीं लगता। जो अच्छा लगता है वह रहता ही नहीं, चला जाता है। यह सारा खेल ही ऐसा है। इसलिए दृष्टि रखो परम तत्त्व पर, शोक का कोई कारण नहीं होगा। आजकल दुनिया में बड़े-बड़े बनावटी भगवान् बन गए हैं और दुकान लग गई है, बाजार लग गए हैं, बड़े-बड़े भगवानों के पोस्टर लग गये हैं। कोई बाल योगेश्वर, कोई बाल भोगेश्वर बना बैठा है। चर्च में जाकर क्रिश्चियन लड़कियों से शादी करता है, बहुत-सा सामान अमेरीका से लाते हुए दिल्ली के हवाई अड्डे पर पकड़ा गया। Excise वालों ने, कस्टम (Custom) वालों ने, इशारा कर दिया Security की ओर कि इसका है, वह बाहर निकलकर फूलमाला पहनवाकर भाग गया। Security ने कागज पत्र देखे तो सब चीजों पर नाम पता लिखा है बाल योगेश्वर का। अब उसकी खोज-पड़ताल हुई। संसद में सवाल उठाया गया, वह फिर चला गया लन्दन। अमेरीका में अखबारों में उसने बड़े-बड़े फोटो छपवाए कि साक्षात् शरीरधारी ईश्वर ने अमेरीका में चरण रखा है, एकदम लोग आओ और उसके साथ इन्टरव्यू करो। बड़े-बड़े विज्ञापन छपवाए फोटो के साथ। वह छपे विज्ञापन। और बाद में जब यहां Custom वालों ने हवाई अड्डे पर सामान पकड़ा। लाखों का सामान तस्करी करके ले आया। तब उन्होंने वही फोटो फिर छापा और नीचे लिखा हिन्दुस्तान का तस्कर खुदा! हिन्दुस्तान का खुदा भी चोर हो गया है। हिन्दुस्तान का खुदा बना बैठा था बाल योगश्वर भगवान्। तस्करी का काम? अब कहो भारत की क्या प्रतिष्ठा बची?

एक आदमी पुरुलिया के बागलता का रहने वाला था। उसने कहा कि मैंने सारी धरती का केन्द्र खोज लिया है। बागलता केन्द्र है सारी धरती का और यहां पर बैठकर सारे विश्व को प्रकाश दूंगा। वह जबलपुर रेलवे वर्कशाप में साधारण क्लर्क था। कुछ तंत्र-मंत्र की साधना करके, कुछ छोटी-मोटी मेस्मरिज्म सीख ली तो वह बन गया तारक ब्रह्म, सदाशिव! वह श्रीकृष्ण का स्वरूप अपने को मानता था। वह अपने को सदाशिव, तारक ब्रह्म मानता था। आदिवासियों की बहुत सी जमीन हड़प ली, इधर-उधर से। आदिवासी बेचारे चिल्लाये, कोर्ट कचहरी में कैसे

जाएं वे गरीब हैं। एक दिन अचानक वनवासी का एक बैल उस भूमि में चरते-चरते चला गया, जो कल तक वनवासी की थी। आनन्दमार्गी साधु ने बैल को बर्छा मार दिया, बैल मर गया। लोगों को बड़ा दुःख हुआ। एक अलुतमान नाम का स्नातक कोलकाता से आया और आकर इनके पास कुछ काम खोजने लगा। उसको कहा—हां, तुमको किसी आनन्दमार्ग के स्कूल में काम दिला देंगे। उसको खिला दी नैफ्थलीन। नैफ्थलीन से चार दिन के लिए आदमी बेहोश हो जाता है, बिल्कुल जड़वत हो जाता है। मृतक जैसा हो जाता है। फिर ले जाकर के बाहर गाड़ दिया। इसको जलाएंगे नहीं, इसको कोई भयानक रोग हो गया है। जलाने से रोग फैल जाएगा। यह बहाना करके उसको गाड़ दिया। फिर गाड़ने के चार दिन बाद उसकी कब्र को खोदा, उसके शरीर को निकाला, उसके हाथ-पैर रगड़े, उसको होश में लाए और फिर कहा देखो भाई तुम मर गए। पुरुलिया के सब लोग जानते हैं तुम मर गये। और हमने तुम्हें पुनः जीवित कर दिया। अब लौटकर पुरुलिया जाओगे तो लोग कहेंगे उसका भूत आ गया है। इसलिए भूत मत बनो, अवधूत बन जाओ। इसलिए भगवा पहनो और हिमाचल प्रदेश में बिलासपुर के आनन्दमार्गी स्कूल में तुम्हारी नियुक्ति की जाती है। उसको बड़ा विचित्र लगा कि यह क्या धंधा हो रहा है। भूत का अवधूत! यह क्या चक्कर है? समझ में नहीं आया। उसने अपने पिता को कलकत्ता में तार कर दिया? पिता कलकत्ता से दौड़े पुरुलिया आए और इधर बाबा का आदेश हुआ कि जो तारक ब्रह्म बने थे जबर्दस्ती ले जाओ। हिमाचल के बिलासपुर पहुंचाओ। यदि रास्ते में न माने, रास्ते में अड़े-गड़े, बहुत बाधा करे तो इसको गाछ के साथ उलटा बांध कर काट दो। उसे जबर्दस्ती घसीट-घसीट कर ले जा रहे थे। टाटा से पार चाण्डील में बार-बार उसने कहा मेरा हृदय कह रहा है मेरे पिता पुरुलिया पहुंच गए हैं। पुरुलिया जाने दो। मैं आगे नहीं जाऊंगा। बहुत रोया। तब उसको गाछ के साथ उलटा बांध कर उसको काट दिया। इधर नर हत्या, उधर गो हत्या। पुरुलिया में आन्दोलन हो गया। बागलता जाकर लोगों ने सारा आश्रम उजाड़ दिया। बाबा ने कहा, कोई बात नहीं, आने दो, हम पानी का एक छींटा मारेंगे सबको भस्म कर देंगे। जब लोग आ गए, 5-6 साधु मारे गए, सब आश्रम उजड़ गया, तो खिड़की से बाबा भागकर कलकत्ता पहुंच गए और कलकत्ता जाकर वहां से फ्लाइट लेकर रांची पहुंच गए और कहा अब धरती का केन्द्र बागलता (पुरुलिया) से रांची आ गया है। रांची में केन्द्र लगाकर वहां चलाते रहे तो वहां पर बुद्धपूर्णिमा पर धर्मचक्र प्रवर्तन करते हैं। उस दिन जुलूस में कुछ कालेज के विद्यार्थियों ने कुछ जिज्ञासा की, बातचीत करनी चाही तो साधु ने उठाकर बर्छा मारना चाहा, कुल्हाड़ा निकाल लिया। छुरा निकाल लिया उससे विद्यार्थी लोगों को बहुत चोट लगी। उस पर विद्यार्थी टूट पड़े और वहां से भी सारा आश्रम उजड़ गया। वहां सारा आश्रम

उजड़ गया, वे पकड़ में नहीं आ सके। वे वहां से भागकर फिर पटना चले गए, जाना था जेल में। तो उनका धरती का केन्द्र घूमता रहा।

ऐसे बड़े-बड़े खुदा बने हुए लोग दुनिया में हैं। उसको अमेरीका के पत्रों ने 'हिन्दुस्तान का हत्यारा खुदा' कहा The Murderer God of Hindustan.

साई बाबा—एक और ऐसा बना हुआ जिसके पास कुछ सिद्धियां तो हैं, लोग आदर करते हैं। वे अपने हाथ से भस्म निकालते रहते हैं। उन्होंने धोखाधड़ी तो नहीं की पर हाथ से भस्म निकालने को लेकर अमेरीका ने लिखा था हिन्दुस्तान का जादूगर खुदा।

एक और जबलपुर में दर्शनशास्त्र के व्याख्याता थे श्री रजनीश। और धीरे-धीरे हर चीज को चौंकाने वाले ढंग से कहकर कुछ लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया और सेठ गोविन्द दास भी उनके प्रभाव में आए। फिर मुंबई में उन्होंने केन्द्र किया। फिर पुणे में केन्द्र किया। वे वहां लोगों को नंगा नचाते थे। वहां से वे अमेरीका चले गए। अमेरीका के पत्रों ने लिखा हिन्दुस्तान का नंगा खुदा Nude God of Hindustan.

एक महेश योगी है, जो खूब ठगते हैं Meditation के नाम पर। मोटी-मोटी फीस लेते हैं, काफी पैसा बना लिया है, विमान बना लिया है। उनको अमेरीका ने Luxurious God of India कहा। ऐसे बहुत से लोग खुदा बने बैठे हैं, लेकिन गीता में भगवान् ने जो परीक्षा दी है, कसौटी दी है—

ब्रह्मभूतः—ब्रह्मभूत कौन है? प्रसन्नात्मा। सदा प्रसन्न रहता है। उसकी कसौटी क्या है 'न शोचति' कभी शोक नहीं करता। उसकी कसौटी क्या है? वह कोई आकांक्षा ही नहीं करता।

चाह गई चिन्ता गई मनवां बेपरवाह,
जिनको कछु न चाहिए सो जग साहनसाह।

जिनके अन्दर चाह बची हुई है। समझो, वह स्वार्थी है। अंग्रेजी के शब्द Want का अर्थ है—चाह। want का दूसरा अर्थ है—कमी। He died for want of water. पानी की कमी से मर गया। रोगी ऑक्सीजन की कमी से मर गया। Patient died for want of oxygen. Want का अर्थ है कमी। कमी किसको होती है? जिसके अन्दर कमी हो वही इच्छा करता है। शरीर में कमी ही कमी है। मन में कमी ही कमी है। शरीर और मन में जीने वाला कमियों में जीता है। इसलिए कमियों के कारण से चाह करता है। और कमी के कारण चाह करने वाला, कमी के कारण स्वार्थ की पूर्ति करने वाला, कमी के कारण हाय-हाय करने वाला निम्न स्तर होता है। और क्या ऐसे लोगों से कोई भगवान् बनता है। कोई कमी नहीं

है, कोई चाह नहीं। रंच मात्र भी स्वार्थ नहीं है। केवल परमार्थ के लिए जीता है। कुछ नहीं चाहिए। कुछ नहीं चाहिए केवल विश्व कल्याण के लिए जीता है। वह भगवान् है। जिसकी अपनी ही चाह है वह भगवान् कैसा? निम्न स्तर का है। कोई थोड़ी मात्रा में निम्न स्तर का है, कोई अधिक मात्रा में निम्न स्तर का है। कमीनापन तब मिटता है जब हमारी कमी मिट जाती है।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। 2/55, गीता

जब सब प्रकार की कामनाओं को त्याग देता है प्रजाहाति कामः। मन में आने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है। आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट है। आत्मानन्द में संतुष्ट है। आत्मा तो शहंशाहों का शहंशाह है। आत्मा साक्षात् परमात्म रूप है। सारा त्रिभुवन का राज्य तो तुम्हारे पास है। हाथ फैलाकर भीख का कटोरा लेकर दुनिया के पास तू क्या मांगता है? यदि तू मांगता है, कमी वाला है तो तू कमीना है। यदि कुछ नहीं मांगता तब तू शहंशाह है।

उसकी अक्ल ठीक ठिकाने पर है। भगवान् ने कसौटियां दी हैं आदमी को परखने के लिए। सिद्धपुरुषों को परखने के लिए, स्थितप्रज्ञों को परखने के लिए। भगवान् ने कहा कि जो अपनी आत्मा को अपने वश में रखे, सिर्फ शरीर के निर्वाह के लिए इन्द्रियों से विषयों का भोग लेता है। वह व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है। और जो सदा प्रसन्न रहता है उसको प्रसादगुण प्राप्त होता है। उस प्रसाद गुण से, प्रसन्नता से सुख—दु:खों की हानि हो जाती है। इसलिए भगवान् कहते हैं—

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते। 2/65, गीता

लेकिन प्रसाद में आए कैसे? राग-द्वेष छोड़कर

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

राग-द्वेष को छोड़कर, राग-द्वेष से वियुक्त होकर अपने आपको वश में रखते हुए, इन्द्रियों से शरीर निर्वाह के लिए जितना भोग चाहिए उतना ही लेने वाला व्यक्ति प्रसाद गुण को प्राप्त होता है। सदा प्रसन्नता को प्राप्त होता है। तब सब दु:खों की आत्यन्तिक हानि हो जाती है। सब दु:ख दूर होते हैं।

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। 2/65, गीता

प्रसन्नचेतस् जो व्यक्ति है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है। उसकी बुद्धि सत्य में प्रतिष्ठित हो जाती है। उसकी बुद्धि सत्य को देखती है। सत्य दर्शन करती, सत्य का भोजन करती है क्योंकि उसको और कोई लाग-लपेट नहीं है। राग-द्वेष

नहीं है। उसका चित्त सदा प्रसन्न है। मन में मैल नहीं है, चित्त में कलुष नहीं है। चित्त में वैर है नहीं, चित्त में द्वेष नहीं है, चित्त में रियायत नहीं है। किसी के प्रति, इसलिए चित्त की डांवांडोल की स्थिति नहीं रही। चित्त स्थिति के द्वारा बुद्धि स्थिर हो गई। और ब्रह्म तत्त्व में, परम तत्त्व में और ईश्वरतत्त्व में टिक जाती है। राग-द्वेष—राग और द्वेष महाकपटी हैं। महाशत्रु हैं, मानवता खो देने वाली है। राग क्या है? जिनको अपना समझते हैं उनको अनुचित रियायत करना राग है। और द्वेष क्या है? जिनको पराया समझते हैं उन पर अनुचित अत्याचार करना द्वेष है। जानो सज्जनो और माताओ! संसार राग-द्वेष का ही नाम है। कोई अपने हैं, कोई पराये हैं। अपनों की रियायत परायों की शत्रुता निभाता है। और आधी दुनिया घरों में, घाटों में, वेश्यालयों में, मदिरालयों में शराब पीकर, नाच करके भोग विलास करती है। आधी दुनिया कोर्ट कचहरी में जाकर भाई-भाई पर, मित्रों पर, आत्मीयों पर मुकदमा करके, द्वेष प्रदर्शित करती हैं।

इस जीव ने मानो राग और द्वेष की आग लगा रखी है। एक रोग, एक आग लगा दी राग की। एक पेट्रोल की बोतल लेकर कपड़ों पर छींट दी है और दायें हाथ से आग लगा रहा है। नीचे से ऊपर और राग-द्वेष की अग्नि में जीव जल रहा है और ये जीव हाय-हाय कर रहा है, चिल्ला रहा है, हाय बचाओ, हाय बचाओ। यह आग किसने लगाई है? स्वयं आपने ही लगाई। स्वयं राग-द्वेष की आग लगाता है और फिर चिल्लाता है तो जल मर, तेरा कोई उपाय नहीं है। राग-द्वेष की अग्नि में जल रहा है। स्वामी रामतीर्थ के पास एक अमरीकी महिला आई—

मेरा एकमात्र इकलौता बच्चा मर गया है। मुझे शान्ति दीजिये। स्वामीजी ने कहा—पुत्र को चिर निद्रा में सोने दो शान्ति हो जायेगी। यदि तुम में मातृत्व शेष है तो इस हब्शी बच्चे को उठा ले और अपने पुत्र की तरह पाल। या तो राग छोड़ दे या द्वेष। अपना जो चला गया है उसका राग नहीं छूटता है, पराया जो अभाव में पड़ा है उसका द्वेष नहीं छूटता है। या तो राग छोड़ या द्वेष छोड़, यदि तुम से दोनों में से कोई नहीं छूटते तो शान्ति का और कोई रास्ता नहीं है। कोई उपाय न देखकर नीग्रो बच्चे को अपने बेटे की तरह पाला। इससे उसे शान्ति मिली।

हम घर में सत्यनारायण व्रत की कथा करते हैं। खीर पकवान बनाते हैं। घर में बड़ा आनन्द मंगल होता है। उसमें आदिवासी का बच्चा भूखा है। कई दिनों से भोजन नहीं मिला है। सतुआ के बीज खाता है, कुछ जड़ें खोद-खोद करके खाता है, भूखा सो जाता है। उसको डॉक्टर के पास जाने के लिए कार नहीं है, डॉक्टर की फीस का पैसा नहीं है, दवा का पैसा नहीं है। हमारे यहां बधाइयां हो रही है, बहुत अच्छा कार्यक्रम है भाई। क्या हम अपने सुख-साधनों में से उसको बांट सकते हैं। या हमारी पूजा में आ जाए, ब्याह-शादी में आ जाए, जूठे टुकड़े उठाने

के लिए आए। अरे-अरे! भागो-भागो। अरे! इसको मारो-मारो, इसको भगाओ-भगाओ। अरे, यह क्या मानवता बची है। जो अभाव में है उसको दुत्कारते रहेंगे। उससे द्वेष रखते रहेंगे तो क्या भगवान् सत्यनारायण हमसे प्रसन्न हो जाएंगे?

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों के द्वारा विषयों का चरन करो? अपने आत्मा को अपने आत्मा के वश में रखो। तो तुम्हें सदा प्रसन्नता मिलेगी। तुम्हारे चित्त में मलिनता नहीं आएगी। चेहरे पर निन्दा का, चिन्ता का भाव, घृणा का भाव नहीं आएगा। तेरे चेहरे पर सदा हंसी मुस्कान, दिव्य मुस्कान रहेगी और इससे तेरे सब दुःखों की हानि हो जाएगी। इसलिए सदा एक बात की गांठ बांध लें। भगवान् कृष्ण सदा मुस्कराते हैं। वह शूलों के बीच में खिले हुए फूल हैं। मानवता की फुलवारी के पावनतम पुष्प हैं। जो जीवन भर मुस्कराते रहे। जीवन भर शान्ति फैलाते रहे और जीवन भर पावित्र्य की सुगंधि फैलाते रहे और आने वाले युग-युग के लिए उनका संदेश और उनकी सादगी, चारित्र्य की, पावित्र्य की सुगंधि युग-युग को प्रेरित करती रही।

रामायण एवं महाभारत काल की तुलना—रामायण की तुलना में महाभारत काल में हमारा चरित्र काफी गिर चुका था। रामायण का पिता अपनी जिह्वा से राम को वनवास जाने की बात कह नहीं सकता। रामायण का पुत्र पिता के दिए हुए वचन की रक्षा के लिए तपस्या की अग्नि में अपने को जला सकता था। महाभारत काल में वह मर्यादाएं विश्रृंखलित हो गयी। धृतराष्ट्र जैसा पिता अपने पापी बेटे को भी गलत काम से रोकता नहीं, और रोक सकता भी नहीं। रामायण के भाई ने भाई के लिए उत्सर्ग किया। अयोध्या के निष्कंटक राज्य को भाई ने भाई के लिए त्याग दिया। तिनके के समान छोड़ कर के चला गया। दूसरा भाई उसकी खोज में विलाप करता हुआ उसको मनाने के लिए गया। भाई के न लौटकर आने पर भाई की पादुका को 14 वर्ष तक पूजता रहा।

दुर्योधन—महाभारत काल का भाई अपने ही भाई के राज्य को छीनने के लिए षड्यंत्र करता रहता था। महाभारत का भाई दुर्योधन युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के राज्य को उनको देने की बात तो सोचता ही नहीं, किसी प्रकार से उनसे राज्य छीन लिया जाए और इनको मार्ग के कंटक के रूप में पांडवों को निकाल दिया जाए, इनको जान से मार दिया जाए इसकी चेष्टा करता रहता था। इसलिए कि दुर्योधन बड़ा दुष्ट योद्धा था। दुर्नीति से, दुष्टता से जो युद्ध करता है वह दुर्योधन है। वह छल से कपट से दूसरे को खत्म करना चाहता था। बहादुरी से लड़ने वाला योद्धा नहीं था। वह छल से युद्ध करने वाला योद्धा था। गुरु द्रोणाचार्य

खेल प्रतियोगिता—बचपन में खेलों की प्रतियोगिता का कार्यक्रम रखा। उस खेल प्रतियोगिता में अर्जुन ने धनुर्विद्या में प्रथम स्थान प्राप्त किया। कोई भी अर्जुन के मुकाबले में न पांडवों में से न कौरवों में टिक सका। मल्लयुद्ध में भीमसेन ने उठा-उठा कर, बार-बार दुर्योधन, दु:शासन को पटकनी दी। दोनों को बार-बार धूल चटा दी। गदायुद्ध में भीम और दुर्योधन लगभग समान दिखते थे। पर भीम ने अपने अधिक बल के कारण दुर्योधन को परास्त कर दिया। दुर्योधन ने इस बच्चों की खेल प्रतियोगिता में विजय पाने वाले खिलाड़ी को सम्मान देने के बहाने कहा कि अच्छा भीम! तुम खेलों में सबसे अच्छा आये हो, तुम जीत गए। तुमने प्रथम स्थान पाया है। आओ, आपके सम्मान में हम आपको मिष्टान्न-भोज देते हैं। मिठाई खिलाते हैं। और भोज के नाम पर विष के लड्डू भीमसेन को खिला दिए। मान लीजिये रांची कालेज का बोकारो की कालेज से हॉकी का खेल हो। बोकारो स्टील कालेज वाले जीत जाएं। रांची कालेज वाले हार जाएं। जीत-हार तो किसी न किसी की होती ही है। खेल भावना यह कहती है जो जीता है उसको बधाई दो। और मन को गंभीर रखो। मन में ओछा भाव, तुच्छ भाव, कृपण भाव न हो। लेकिन यदि रांची कालेज के छात्र कहें बोकारो कालेज के छात्रों को आओ भाई तुम्हारी जीत हुई है। अब हम तुम्हारी जीत की खुशी में भोज देंगे। पार्टी देंगे। उस पार्टी में उनको कुछ विषैली चीज खिला दें। तो सारा संसार रांची कालेज के विद्यार्थियों को लानत भेजेगा, धिक्कारेगा। नीच आदमी ने खेल में जीतने वाले को मिठाई के बहाने विष खिला दिया। ऐसा नीच योद्धा दुर्योधन था। भीमसेन को विष के लड्डू खिलाकर गंगा नदी में फेंक दिया। भीमसेन का भाग्य समझिये वह बेहोश होकर नदी के तल में चला गया। वहां कुछ विषैले सर्पों ने उसको डंक मारे। सर्पों का विष चढ़ने से, पहले जो लड्डू का विष था, विष ने विष को मार दिया और लड्डू का विष उतर गया। उसको होश आ गया और वह तैरते हुए ऊपर आ गया। उसकी जान बच गई। लेकिन आपके सामने एक चित्र आ गया कि ये पापी क्या कर सकते हैं? तनिक बड़ा होने पर इस खेल में जो बच्चों के खेल की चर्चा हमने की, उस खेल में एक और प्रसंग आया वह भी बड़ा रोचक है। धनुर्विद्या—अर्जुन और कर्ण—धनुर्विद्या में अर्जुन सबसे आगे निकला। तब दुर्योधन ने कहा अच्छा हम सब तो अर्जुन से हार गए। अर्जुन कर्ण का मुकाबला करके दिखाये। हमारे पास वीर कर्ण है, जो अर्जुन की टक्कर का है। अर्जुन तो तैयार हो गया अच्छा कर्ण से मुकाबला करेंगे, पर कृपाचार्य ने कहा, नहीं। यह तो राजकुमारों की प्रतियोगिता है। राजकुमारों की आपस में प्रतियोगिता हो रही है। इसमें किसी दूसरे को दखल देने का अधिकार नहीं है। ये कर्ण राजकुमार नहीं है। यह सूत पुत्र है। यह रथवान का बेटा है। इसको पालने वाली राधा थी, इसका पिता सूत-कर्म करता था, रथों का काम करता था। उसने इसका पालन किया इसलिए सब लोग उसको रथवान

का बेटा मानते थे। इसलिए कृपाचार्य ने कहा यह भाग नहीं ले सकता। राजकुमारों की प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता। दुर्योधन ने कहा, अच्छा! इसको राजकुमार नहीं मानते इसलिए इसको प्रतियोगिता में अनुमति नहीं देते हैं। मैं तुरन्त अभी इसका राजतिलक करके अंगदेश का राज्य अर्थात् मुंगेर और भागलपुर का राज्य मैं इसको देता हूं। अब राजतिलक हो जाने से कर्ण भी राजा हो गया है। इसलिए राजकुमारों की प्रतियोगिता में यह भाग ले सकता है। तब भीमसेन ने ठहाका लगा करके कहा—क्या गधे को चन्दन का लेप करने से घोड़ा हो जाता है। कर्ण का राजतिलक कर दिया तो क्या कर्ण सूतपुत्र से राजपुत्र बन जाएगा। इससे कर्ण और दुर्योधन के मन में वैर की गांठ पड़ गई।

लाक्षागृह—पांडवों के तनिक बड़ा होने पर उनके लिए लाक्षागृह में लाख का भवन बनाया उसमें माता समेत जला देने का षड्यंत्र दुष्ट दुर्योधन ने किया। विदुरजी के द्वारा उनको सूचना मिल जाने पर वे लोग समय पर निकल गए। उस लाक्षागृह में पांच और अतिथि थे जो अपनी विधवा मां के साथ रात को वहां आकर ठहरे थे। वो भस्म हो गए। दूसरे दिन पांच जवानों का शव और एक स्त्री का शव देखकर दुर्योधन ने कहा, जीवन की सबसे बड़ी मेरी मनोकामना पूरी हो गई। मैंने पांचों पांडवों को भस्म कर दिया। उनकी मां को भी भस्म कर दिया। इससे आपको उसके चित्त का दर्पण मिलता है। वह किस प्रकार का व्यक्ति है।

वनवास और लक्ष्मण—रामायण काल का भाई, भाई के लिए जान निछावर करने के लिए तैयार है। लक्ष्मण को किसी ने वनवास नहीं दिया। न वनवास की चर्चा में वह कहीं आता है। न राज्यतिलक के झगड़े में कहीं आता है। स्वेच्छा से अपने भाई की रक्षा के लिए, भाई की सेवा के लिए कठोर तपस्या करके भाई का साथ देता है। भाई की रक्षा करता है। भाई के लिए प्राण निछावर के लिए तैयार है। जब हनुमानजी संजीवन औषध लेने के लिए आए और अचानक भरतजी यह सोच कर के कि यह आकाश में उड़ने वाला व्यक्ति कौन है? तीर मार दिया। हनुमानजी के उतरने पर सम्वाद मिला कि लक्ष्मण मूर्च्छित है और उसकी रक्षा के लिए जल्दी संजीवन औषध ले जाना जरूरी है। तब माता सुमित्रा ने एक सम्वाद भेजा। प्रभुराम की रक्षा के लिए जो मेरा लाल गया था वह यदि बेहोश पड़ा है। उसने यदि आंखें बंद कर ली और यदि वह बलिदान हो गया है तो मेरे पास दूसरा लाल है शत्रुघ्न। मैं उसको भेज देती हूं और शत्रुघ्न को कहा, जाओ। एक भाई तो भाई के लिए निछावर हो चुका है। अब उसकी मर्यादा को आगे तुम बढ़ाओ। ये रामायण काल के भाई थे। भाई के लिए भाई प्राण निछावर करने वाला। महाभारत काल का भाई कसाई हो गया था। भाई का प्राण पीने वाला, भाई का खून पीने वाला, भाई को विष पिलाने वाला, भाई को लाक्षागृह

में जलाने वाला, भाई से राज्य छीनने वाला, धोखे के पांसे फेंककर भाई का राज्य लूटने वाला।

रामायणकाल का भाई जिसने वनवास काल में भाभी का मुख नहीं देखा—और रामायण काल के भाई ने वनवास तक के काल में अपनी भाभी का मुख नहीं देखा था—उसके चरण देखे थे। आभूषणों की पहचान के समय लक्ष्मण कहते हैं—हे प्रभुराम! मैं सीतामाता का न मस्तकमणि पहचान सकता हूं, न केयूरमणि पहचान सकता हूं, न कुण्डल पहचान सकता हूं। मैं तो उनके पांव के नूपुर, पाइजेब पहचान सकता हूं। क्योंकि नित्य मैंने तो उनके चरणों में प्रणाम किया। यह तो रामायण काल का भाई है। महाभारत काल का भाई भरी सभा में अपनी भाभी की दुर्गति करने वाला, भाभी का तिरस्कार करने वाला, भाभी की साड़ी उतारने का पाप कृत्य करने वाला, ऐसा भाई हो गया। इसलिए इस परिप्रेक्ष्य में आप देखें। इतने भयंकर प्रकार के पापी, चरित्रहीन, अविवेकी, मर्यादाहीन लोगों के बढ़ जाने के कारण अब उनको समझाने वाले सब उपाय भी समाप्त हो जाने के कारण युद्ध अनिवार्य हो गया। युद्ध के सिवा और कोई रास्ता नहीं बचा।

भगवान् कृष्ण का अंतिम बार दुर्योधन को समझाने का प्रयास—भगवान् कृष्ण भी अंतिम बार दुर्योधन को समझाने गए और कहा—हे दुर्योधन! राज्य तो पाण्डवों का है, पाण्डु अमानत के रूप में रखकर गए थे धृतराष्ट्र के पास। धृतराष्ट्र अमानत में खयानत कर रहा है। तुम सब बेईमान बन रहे हो। 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास दे दिया, उसको भी उन्होंने भोग लिया। तुमने और भी बड़े-बड़े पाप किए हैं। अब अन्तिम समझौते के रूप में कम से कम उनको पांच गांव दे दो। इन्द्रप्रस्थ, तिलप्रस्थ (मेरठ की तरफ का गांव है जिसे आजकल तिरुपत कहते हैं), याज्ञप्रस्थ, जिसे बागपत कहते हैं, पाणिप्रस्थ जिसे आजकल पानीपत कहते हैं और सोनप्रस्थ जिसे सोनीपत कहते हैं। ये दिल्ली के पास हैं। ये पांच गांव दे दो, इसके आधार पर ये बेचारे जी लेंगे। उस पापी दुर्योधन ने कहा—केशव! सूई के नोक के बराबर भी धरती मैं बिना युद्ध के नहीं दूंगा और भगवान् कृष्ण जो समझाने के लिए गए थे उन्हीं को बांधने की व्यर्थ कोशिश की।

हस्तिनापुर दुर्योधन की राजधानी थी। उसकी सेना, उसके सेवक सब थे। भगवान् कृष्ण ने जब अपनी एक भुजा उठाई, एक भुजा में उसने देखा लाखों-लाख सैनिक उनकी एक भुजा में नजर आए और तब हताश और भयकम्पित होकर दुर्योधन गिर गया। शान्तिदूत बनकर आये कृष्ण का यह सम्मान किया दुर्योधन ने।

भगवान् कृष्ण—भगवान् कृष्ण पर कुछ लोग कभी-कभी कीचड़ उछालने की कोशिश करते हैं। भगवान् कृष्ण ने व्रज में जितनी भी लीलायें की तब वह केवल नौ वर्ष के थे। नौ वर्ष की अवस्था में कंस को मारने के लिए निकले हैं।

कंस ने निमंत्रण भेजा है, कंस बड़ा कपटी है। भरी सभा में बच्चों को बुलाता है और कहता है— देखो भाई! यह पिटारी में लड्डू है, पेड़ा है, बर्फी है, मिठाइयां है। और जैसे ही बच्चे पिटारी खोलते हैं उसमें सांप, बिच्छू निकलते हैं। निकलते ही बच्चों को डस लेते हैं। पापी कंस ठहाका मारकर हंसता था—हा-हा। जो दूसरों को सता-सता करके, नन्हे बच्चों को मरवा कर सुख मानता है, वह तो पिशाच नहीं नर-पिशाच ही है। हे कृष्ण! आप मत जाओ। भगवान् कृष्ण कहते हैं—मैं तुम्हारे सिर पर हाथ रखकर सौगंध खाकर कहता हूं। इसको मारकर आऊंगा। अरे, तुम्हारे इतने-इतने छोटे हाथ तुम उसको मार पाओगे। अच्छा सौगंध खाओ उसको मारने के बाद तुम लौटकर आओगे। अच्छा सौगंध खाता हूं उसको मारने के बाद लौट कर आऊंगा। मारने के लिए गए। उसे केशों से पकड़ कर धरती पर घसीट कर घूसों से मार डाला और राजगीर में उसका श्वसुर था जरासंध। अरे तेरी लड़की विधवा हो गयी। कंस मारा गया। उसकी लड़की कंस की पत्नी थी। मैं बदला चुकाने जाऊंगा। बहुत बड़ी विशाल सेना लेकर चढ़ गया मथुरा पर। अब भगवान् कृष्ण बाल लीलायें करने वाले हैं, गोप बालाओं को वचन दिया मुझे जाना है। बलराम कहते हैं व्यक्तिगत प्रेम का वचन अपने स्थान पर है पर राष्ट्र का कर्तव्य उससे ऊंचा है श्रीकृष्ण। राष्ट्र पर विपत्ति आयी है। जरासंध चढ़ आया है। जरासंध का मुकाबला करना है। सत्रह बार जरासंध ने हमला किया। सत्रह बार मुकाबला किया। अन्त में जरासंध ने सोचा अब तो कोई उपाय नहीं है। ऐसे वीर हैं बलराम और कृष्ण। इनसे पार पाना कठिन है। अतः यूनान का राजा था कालयवन। उससे समझौता किया और कहा एक ओर से तुम बढ़ोगे और एक ओर से मैं बढ़ूंगा और उनको दोनों ओर से घेर लेंगे और खत्म कर देंगे। कालयवन बहुत-सी फौज लेकर आया। श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा—देखो! बार-बार मथुरा में युद्ध होने से सैनिक तो मरते ही मरते हैं, साथ में जनता पर बड़ी विपत्ति आ जाती है। सारा शहर उजड़ जाता है। बहुत से निरपराध नर-नारी भी मर जाते हैं। मथुरा से खींचकर इसे दूसरी जगह ले जाएं। अतः हम मथुरा में युद्ध नहीं करेंगे। इसलिए कालयवन जब ललकारता हुआ आया तो बलराम और कृष्ण एक पहाड़ी पर भाग लिए। अरे-अरे! तू रण छोड़कर भाग गया। अरे, इसकी चिन्ता नहीं। आगे जाकर गुफा थी उसके द्वार पर कुछ आभूषण फेंक दिए और गुफा के एक कोने में जाकर छिप गये। वहां मुचुकुन्द नामक एक राजा था। जिसने देवासुर संग्राम में बहुत भारी युद्ध किया था। फिर उसने वर चाहा कि मैं युद्ध में बहुत थक गया हूं। मैं विश्राम चाहता हूं। मुझे कोई उठायें नहीं। जो मुझे उठाएगा, नींद खोलेगा उस पर मेरे नेत्रों की दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जाएगा। उसे यह वर मिला हुआ था। इसलिए वह सोया हुआ था। भगवान् कृष्ण ने उन पर अपनी पीताम्बर उढ़ा दी और स्वयं कोने में छिप गये। जब कालयवन आया तो कहा, अरे कायर! तू भागकर यहां सो गया है। उठ, मुझसे

युद्ध कर। उसने उठाने के लिए लात मारी और मुचुकुन्द ने ज्योंही नेत्र खोले उसके नेत्रों की ज्योति से कालयवन भस्म हो गया। इस तरह युद्ध से कालयवन को ध्वस्त करके फिर चले गए द्वारिका। द्वारिका में पश्चिम से कोई आक्रान्ता आक्रमण न कर सके, युद्ध न कर सके इसलिए द्वारिका में समुद्र के बीच गढ़ बनाया। पश्चिम के आक्रमण को रोकने के लिए। फिर वहां से गए प्राग्ज्योतिषपुर असम के गोहाटी में, वहां नरकासुर ने 16 हजार ललनाओं को बंदी बनाकर रखा था। उनको मुक्त कराने के लिए नरकासुर का वध कर उनको मुक्त किया। बच्चों को मुक्त कर अपने माता-पिता के घरों में भेजा। लेकिन माता-पिता ने कहा भई शत्रुओं के घर में रही हुई लड़कियों को हम नहीं रखेंगे। समाज की रूढियों के कारण उन्हें स्थान नहीं मिला। तो भगवान् कृष्ण ने कहा मेरे देश की बेटियों को बाजारू औरत नहीं बनने देंगे। इसलिए केवल इनको सम्मान की उपाधि देने के लिए रानी का सम्मान दिया जाएगा। इसलिए मथुरा में इन रानियों के लिए 16 हजार भवन बनाए। ऐसा क्रान्तिकारी कदम भगवान् कृष्ण ने उठाया भारत की बेटियों की इज्जत को बचाने के लिए।

फिर पाण्डवों पर विपत्ति आयी उसमें लग गए। जीवनभर संग्रामों में लगे रहे। कभी शिशुपाल के वध में, तो कभी इसके तो कभी उसके, तो कभी रुक्मिणी-हरण में। तो सारे जीवन भर संग्राम में लगे रहे। इसलिए पुनः उन्हें मथुरा और वृंदावन में जाकर बृज के गोप-बालों से, बृज की गोप-बालाओं से मिलने का सुयोग कभी नहीं मिला। 9 वर्ष की अवस्था में जो बच्चा बाल लीलायें करता था उसके ऊपर कीचड़ उछालने वाला, कितना बड़ा नीच पापी है। उसके मन में कितना बड़ा पाप होगा। भगवान् पर पाप उछालकर अपने मन का पाप उछालना चाहता है। जो 9 वर्ष की अवस्था में बृज छोड़ गए और फिर बृज में जीवनभर पांव रखा ही नहीं। अवसर ही नहीं मिला। इसलिए भरे दरबार में जब द्रौपदी का चीरहरण हो रहा है तो द्रौपदी किसको पुकारती है। भरे दरबार में किसी की साड़ी खींच रहा है, किसी का केश खींच रहा है, किसी को भरे दरबार में अपमानित कर रहा हो। क्या वह औरत किसी गुण्डे को पुकारेगी? कभी नहीं पुकार सकती है। किसी चरित्रहीन व्यक्ति को पुकारेगी? कभी नहीं पुकार सकती है। द्रौपदी का चीरहरण करना चाह रहा है दुःशासन। क्योंकि द्रौपदी पुकारती—हे कृष्ण, हे द्वारिकावासी! तो कृष्ण के समान पवित्र चरित्र वाला कोई नहीं था। एक औरत का अपमान हो रहा है। तो क्या वह ऐसे का नाम पुकार सकती है जो पहले ही का गुण्डा है। नहीं पुकार सकती। सारे आलोचकों को द्रौपदी का यही वचन थप्पड़ मार रहा है। द्रौपदी उस संकट में पुकार किसको रही है। पुकार रही है कृष्ण को। उससे पवित्र चरित्रवाला कोई था नहीं। सबसे पावनतम चरित्र को पुकारती

है। भगवान् कृष्ण को आने में कुछ विलम्ब हुआ। द्रौपदी ने कहा—हे कृष्ण! हे अन्तर्यामी! तब भगवान् कृष्ण तुरन्त प्रकट हो गए। द्रौपदी ने बाद में कहा आपने आने में बहुत विलम्ब किया। कृष्ण ने कहा तुमने पुकारा हे द्वारकावासी, द्वारिका तो बहुत दूर है न। इसलिए द्वारिका से हस्तिनापुर आने में रथ को कई दिन लग जाते हैं और जैसे ही तुमने कहा—हे कृष्ण, हे अन्तर्यामी! तो अन्तर्यामी को प्रकट होने में तो एक क्षण भी नहीं लगता है। इतना अपने पुत्रों को, सज्जनों को, मित्रों को, शिष्यों को सब कुछ समझाता रहता हूं कभी मत कहो यह ऊपर वाले की कृपा है। यह हिन्दू की शब्दावली नहीं है। ऊपर कुछ नहीं होता है। मुसलमान, ईसाइयों की कल्पना है खुदा सातवें आसमान पर, चौथे आसमान पर बैठा है। यह हिन्दू की कल्पना नहीं है। हिन्दू की कल्पना है भगवान् अन्तर्यामी है! मेरा प्रभु मेरे साथ है। जो प्रभु मेरे से दूर है वह मेरी क्या मदद करेगा। जो प्रभु मेरे संग है वह हर पल में, हर श्वास-श्वास में, हर प्राण-प्राण में, पग-पग पर मेरा सहारा बनेगा। हर पग-पग पर मेरा मार्गदर्शन कर रहा है। मेरे शरीर रूपी रथ को चलाने वाला सारथि है। उसके मार्गदर्शन में चलता हूं। इसलिए निरन्तर कहो भीतर वाला, अन्तर्यामी की कृपा से। ऊपर वाले की कृपा है यह मुहावरा छोड़ दो। यह मुहावरा मुसलमानों से आ गया है। ऊपर वाले की बात मत करो, ऊपर वाला कुछ नहीं होता। अन्तर्वाले की बात करो। डॉ. राधाकृष्ण ने एक कथा लिखी है। पुराणों की एक कथा अपनी शब्दावली में बनाकर लिखी है। वैकुण्ठ में भगवान् बैठे हैं। लक्ष्मी चरण दबा रही है। भगवान् ने कहा, गरुड़ को बुलाओ, गरुड़ को बुलाओ। गरुड़ को क्यों बुलाओ? बोले, मेरे भक्त पर विपत्ति आयी है। संकट आया है। लक्ष्मी ने कहा, थोड़ा रुकें। भगवान् ने कहा नहीं, मुझे तुरन्त जाना है, भक्त ने पुकारा है। भक्त पर विपत्ति आयी है। गरुड़ पर बैठकर भगवान् बड़े वेग से गए फिर कुछ क्षण बाद लौटकर आ गए। लक्ष्मी ने कहा, भक्त की रक्षा हो गई। भक्त की रक्षा हो सकी। तब भगवान् ने कहां, हां लक्ष्मी मैं तो पहुंचा, पर मेरे पहुंचने से पहले अन्तर का नारायण पहुंच चुका था। इसलिए मेरा प्रभु अन्तर्यामी है। मेरा प्रभु मेरे अन्तर में है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। 18/61, गीता

ईश्वर सब भूतों के हृदय में स्थित रहता ही है और जैसे यंत्र में आरूढ़ कलपुर्जों को यंत्र घुमाता जाता है। ठीक इसी प्रकार अन्तर में बैठा हुआ ईश्वर सब जीवों को माया से यंत्रवत घुमाता है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10/20, गीता

गीता भगवान् का हृदय है न। इसलिए भगवान् कहते हैं गीता मे हृदयम् पार्थ। गीता मे शास्त्रमुत्तमम्। भगवान् कृष्ण के जन्म के दिन भगवान् के हृदय में झांककर तो देखो। भगवान् कहते हैं—हे गुडाकेश! मैं सब भूतों के हृदय में बैठा हुआ आत्मा हूं। गुडाकेश-निद्रा को जीतने वाले अर्जुन। अज्ञान की निद्रा को जीतने वाले हे अर्जुन! मैं तो आत्मा हूं। सब भूतों के हृदय में बैठा हूं। मैं सबका आदि हूं। सबका मध्यम भी मैं ही हूं। सब भूतों का अन्त भी मैं हूं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। 15/15, गीता

मैं सबके हृदय में बैठा हुआ हूं। मेरे से ही सबको स्मृति होती है, ज्ञान होता है, उनका भुलाना भी मेरे द्वारा ही होता है। सब वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूं। वेदान्त का कर्ता भी मैं हूं। वेदों का सच्चा ज्ञाता भी मैं हूं। तो बार-बार प्रभु कह रहे हैं मैं तेरे अन्तर में हूं, अन्तर में स्थित हूं। सर्वस्व चाहं हृदि सन्निविष्टो तो भगवान् की वाणी को हटा करके, भगवान् की वाणी को काट करके कुरान की वाणी मत बोलो। बाइबिल की भी वाणी मत बोलो। मेरा प्रभु मेरा अन्तर्यामी। वैकुण्ठ-वैकुण्ठ-वैकुण्ठ। अरे क्या है वैकुण्ठ भाई। अरे वैकुण्ठ यह है भाई जब मन में कोई कामना नहीं बची। चाह की पूर्ति हो जाए तो लोभ बढ़ता है। चाह की पूर्ति जब तक नहीं होती तब तक चिन्ता बढ़ती है। चाह की पूर्ति हो जाने के बाद उसकी रक्षा की चिन्ता बढ़ती है। चाह की पूर्ति में बाधा आ जाए तो कुण्ठा होती है। और चाह की पूर्ति में बाधा डालने वाले पर ही क्रोध आता है। ये विकार हैं सब। चिन्ता, कुढ़न, क्रोध, कुण्ठा ये सब मन के मैल हैं, मन की गन्दगियां हैं। इसका मूल कारण मन की चाह है। इसलिए चाह गई चिन्ता गई, मनवा बेपरवाह। जिसके मन में कोई कुण्ठा नहीं बची, मन में कोई राग नहीं—द्वेष नहीं बचा जिसके अन्दर, कोई कुण्ठा नहीं बची उसका हृदय मन्दिर वैकुण्ठ। वैकुण्ठ यानी कुण्ठा मुक्त। मेरे हृदय के वैकुण्ठ में मेरा प्रभु विराजता है। इसको छोड़कर मैं कौन-से भगवान् को खोजने जाऊं। मेरा प्रभु मेरे संग में है। मेरे वैकुण्ठ में है। हृदय को पवित्र करो। हृदय को कुण्ठा से रहित करो। वैकुण्ठवासी ईश्वर का दर्शन निश्चय ही इसी हृदय में होगा। यह नकद धर्म है। इसी जीवन में यहीं पर जीवन्मुक्त होकर रहेंगे। वह उधार धर्म है जिसमें मरने के बाद कयामत के दिन के बाद जब 10 हजार साल के दस हजार युग बीत जाएंगे तब खुदा की कचहरी खुलेगी, तब कर्मों का फैसला होगा। तब उद्धार होगा।

अवतार इसीलिए हुआ उस काल में बहुत नैतिक पतन हो गया था। भाई भ्रातृत्व से गिर गया था। स्वामी स्वामित्व से गिर गया था। शिष्य शिष्यत्व से गिर गया था। कहां रामायण काल का शिष्य और कहां महाभारत काल का शिष्य।

कहां गुरु की भक्ति रामायण काल में और कहां गुरु के ऊपर आक्रमण करने के धंधे महाभारत काल में, छल कपट। ऐसे काल में भगवान् के अवतार की नितान्त आवश्यकता थी। इसलिए भगवान् ने उस काल में अवतार लिया। और यदि कोई अवतार को अनुकूल न माने तो दिव्य महापुरुष। जिसकी तुलना का महापुरुष आज तक दुनिया के इतिहास ने दूसरा पैदा ही नहीं किया है। ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया है। आपको जैसे रुचे वैसे ही मानें। पर बात एक ही है। ऐसे दिव्य पुरुष का अवतरण हुआ, जन्म हुआ, जिसने जीवन की प्रत्येक श्वास, प्रत्येक पल, जीवन का प्रत्येक दिन, जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्र की सेवा में, विश्व की सेवा में, युग के निर्माण में समर्पित कर दिया। अपने लिए जिसने कुछ नहीं चाहा। सदा जहां धर्म है वहां कृष्ण दौड़ कर जाते हैं।

यतो धर्मस्ततो जयः।

जहां धर्म है भगवान् कृष्ण वहीं है। धर्म के संगी, धर्म का साथ देने वाले। जहां पर धर्मात्माओं पर कष्ट पड़ेगा वहां भगवान् दौड़कर जाएंगे।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। 4/8, गीता

तीन कार्य हैं भगवान् के। साधुओं का परित्राण करना और जो दुष्ट लोग हैं उनका विनाश करना। धर्म की संस्थापना के लिए संभवामि युगे-युगे। आज से बीस वर्ष पहले संदीपनी साधनालय, मुंबई में विश्व हिन्दू परिषद का जन्म हुआ था। किसके लिए? इसी कार्य के लिए। सज्जनों के परित्राण के लिए। जो भारत के सच्चे पुत्र हैं, जो भारत की, भारतीयता की रक्षा करते हैं, उसका परित्राण करना। और जो भारत के टुकड़े करना चाहते हैं, भारत को लूटना चाहते हैं, भारत को बर्बाद करना चाहते हैं, उनके विनाश के लिए। और जो धर्म-धर्म का नाम लेते रहते हैं पर धर्म हमारे जीवन से उड़ गया है। हम Empty Label bottles बन गए हैं। खाली बोतल, लेबल लगाया है शुद्ध नेपाली मधु। मूल्य बीस रुपया। उठाकर देखा तो मधु की एक बूंद नहीं। दूसरी बोतल ली उसमें भी मधु की एक बूंद नहीं, मूल्य बीस रुपया।

अरे, हिन्दू! तू Empty bottle हिन्दू बन गया है। नाम रखा है हिन्दू का, हिन्दुत्व का। हिन्दुत्व का मधु तेरे अन्दर से गायब हो चुका है। इसलिए 1200-1300 साल से तू ठोकरें खा रहा है। क्या हूण, क्या शक, क्या यहूदी, क्या यवन, क्या तुर्क, क्या पठान, क्या मुगल, क्या संगाल, पठान, अंग्रेज की। चीनी, यूनानी, पाकिस्तान, बांग्लादेशी, अमरीकी, सब तुमको लात मार रहे हैं। तू जागता क्यों नहीं है? तू जागता क्यों नहीं, तू पहचान अपने आपको। अपने हिन्दुत्व के मधु को जागने

दे। अपने आपको हिन्दुत्व के मधु से भर ले। सच्चा हिन्दू बनकर जीना सीख। तब हिन्दुस्तान बचेगा। इसलिए धर्म संस्थापनार्थाय, धर्म की संस्थापना के लिए भगवान् कहते हैं मैं युग-युग में अवतार लेता हूं। जो यह तीन काम करे वह भगवान् का, काम करता है। जो भी दुनिया का, किसी भी मुल्क का कोई भी व्यक्ति हो यह तीन काम करे—साधु-सज्जनों का परित्राण करे, दुष्टों का विनाश करे और धर्म अर्थात् (कर्तव्य की चेतना उसको धर्म कहते हैं।) कर्तव्य की चेतना की स्थापना करे। सब कोई अपने-अपने कर्तव्य का निष्काम भाव से पालन करे। इसकी संस्थापना करे वही आदमी भगवान् का कार्य कर रहा है। जिसने इसी के लिए जीवन लगा दिया, वह भगवान् ही बन गया। भगवान् ने दरवाजे बंद नहीं कर दिए। कुरान के दरवाजे बंद हो चुके हैं। बाइबिल के दरवाजे बंद हो चुके हैं, उनकी बंद प्रयोगशाला है। डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं हिन्दुत्व अध्यात्म क्षेत्र की खुली प्रयोगशाला है, जिसको प्रवेश करना हो उसका स्वागत है। इसलिए भगवान् यह नहीं कहते कि केवल मैं भगवान् हो गया बस। वरन् हर व्यक्ति के अन्दर भगवान् का ही बीज है। अन्तर्यामी उसके अन्दर है। अन्तर के भगवान् को जान लो तो भगवान् हो गया। हर व्यक्ति को भगवान् की उपलब्धि, भगवान् की प्राप्ति होती है। हर व्यक्ति को भागवत स्वरूप बनने का अधिकार है। यह भगवान् ने गीता में बताया है।

भगवान् का राष्ट्र को संदेश क्या है? राष्ट्र के नाम भगवान् का संदेश सुनो—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।

11/33, गीता

अरे हिन्दू उठो! सोये मत रहो, पड़े मत रहो। गिड़गिड़ाते मत रहो। दूसरे का चरण चुम्बन मत करो। कमर सीधी करके उठो। भारत उठो। यश लाभ करो। यशस्वी जीवन जीना सीखो। शत्रुओं को जीतो, शत्रुओं को कभी मत क्षमा करो। शत्रुओं को जीत लो। जो शत्रु पश्चात्ताप करे उसे मन से जीत लो। जो पश्चात्ताप न करे उनको युद्ध में जीत लो। जीतो जरूर। शत्रु को जरूर जीतो। शत्रु को छोड़ो मत। पहली बात कहते हैं। अरे भारत उठो, गर्दन सीधी करो, मान-सम्मान के साथ। दूसरी बात कही यशस्वी जीवन जीओ। यह मत कहो कि—

रूखी सूखी खाय के ठण्डा पानी पी
देख परायी चुपड़ी न तरसावे जीव।

दरिद्री का जीवन, अभाव का जीवन, जैसे-तैसे धक्का खाने वाला जीवन मत जीओ। यशस्वी जीवन जीओ। सब कहे शत्रु को जाने दो, जाने दो। नहीं, काहे जाने दो, शत्रु को जीत लो। पश्चात्ताप करे तो मन से जीतो न पश्चात्ताप करे तो युद्ध में जीतो। असि-धार से जीतो। जीतो जरूर। समृद्ध राज्य मांगो। वैभवशाली

जीवन जीओ। हां, भोगी मत बनो, विलासी मत बनो। अपने राष्ट्र को वैभवशाली बनाओ। समृद्ध राज्य भोगो। भगवान् का आदेश है। मैं नहीं कह रहा हूं, भगवान् कह रहे हैं।

पांचवीं बात भगवान् कहते हैं पापियों को स्वयं भगवान् ही मार देता है। ईश्वरीय शक्ति हमारे साथ है जब हम धर्म पर टिके हुए हैं। डरो मत, भगवान् उसको मारेगा ही। हे अर्जुन! तुम निमित्त मात्र बन जाओ। हे अर्जुन! तुम अहंकार मत करो कि मैंने मारा है। तभी ईश्वरीय शक्ति तुम्हारे साथ है। वैभवशाली राज्य भोगो, शत्रुओं को मारो। पर घमण्ड मत करो, नम्रतापूर्वक रहो।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर।

हे भगवान्! आपकी वस्तु आपके ही श्रीचरणों में समर्पित करता हूं। हे प्रभु! सम्मुख प्रकट होकर इसे ग्रहण करें तथा हम पर प्रसन्न हों। इन छः सूत्रों में सारा राष्ट्रीय तत्त्वदर्शन आ गया। पूरा राष्ट्रीय दर्शन राष्ट्र को कैसे जीना चाहिए इसमें पूरा आ गया।

शेक्सपियर के अध्येता—मेरे एक मित्र हैं। उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में जाकर शेक्सपियर पर विशेष अध्ययन किया। ऑक्सफोर्ड से बहुत बढ़िया ज्ञान प्राप्त करके अंग्रेजी के और विशेषकर शेक्सपियर के बहुत अच्छे व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे मुझे कहते थे प्रो. ओबराय, हम क्या करें? गीता हम पढ़ते हैं, तो बड़ी कठिन लगती है। हमारे पल्ले नहीं पड़ती। मैंने कहा, आप कैसे पढ़ते हैं? कहते हैं, सुबह उठते हैं। जल्दी-जल्दी तैयार होते हैं, नाश्ता सामने आ जाता है। तब पत्नी से कहते हैं दो मिनट रुको हम जरा गीतापाठ कर लेवें। फिर दो-चार श्लोक करके फिर जल्दी से नाश्ता करके कालेज भागते हैं। मैंने कहा, आपने तो गीतापाठ की रीति बना ली है। किसी तरीके से दो-चार श्लोक पढ़ना चाहिए। आप गीतापाठ के साथ न्याय नहीं करते। उन्होंने कहा—सो कैसे? हम तो गीतापाठ किए बिना कुछ खाते-पीते नहीं। मैंने कहा—देखिये, आपको शेक्सपियर का अध्ययन करते हुए कितना समय हो गया। उसने कहा सोलह साल तक तो एम.ए. पास किया, फिर ऑक्सफोर्ड में गया, विशेषाध्ययन के लिए। छह साल मैं वहां रहा। ऑक्सफोर्ड में रहकर, इंग्लैंड में रहकर मैंने शेक्सपियर का घर, उसके नाटक मंचन के स्थान, उसके सम्बन्ध के जितने स्थान हैं, ऐतिहासिक स्थान हैं सबका अध्ययन किया। उसने कहा 24 वर्ष यह हो गए, बीस वर्ष पढ़ाते हुए हो गए। 44 वर्ष से मेरा सम्पर्क हो गया शेक्सपियर से।

तो शेक्सपियर के बारे में जितना जानना चाहिए सब कुछ जान लिया है? नहीं जी, अभी तो हमने शेक्सपियर का शतांश भी नहीं जाना, सहस्रांश भी नहीं

जाना। शेक्सपियर तो बहुत गंभीर है। कुछ उसका अंश जाना। मैंने कहा—एक मनुष्य के, साधारण मनुष्य के साधारण नाटकों का अध्ययन करने के लिए आपने जीवन के 44 (चौंवालिस) वर्ष बर्बाद कर दिए और अभी आप कहते हैं आपने उसका शतांश नहीं जाना, सहस्रांश नहीं जाना। तो यह जो Divine play है। यह जो दिव्य नाटक है, ईश्वरीय नाटक है इस नाटक का अध्ययन करने के लिए आपने कितना समय दिया। एक मनुष्य के नाटक का अध्ययन करने के लिए जीवन के 44 वर्ष लगा दिए और ईश्वरीय नाटक, दिव्य नाटक के लिए आपके पास दो-चार सेकंड से अधिक समय नहीं निकलता?

तो कहता है, गीता नाटक है बहुत बढ़िया।

गीता नाटक कैसे? गीता में नाटकीय रोचकता है। इसमें मानो तीन बार पर्दा खुलता है।

पहला पर्दा उठता है। अर्जुन विषाद योग पहला अध्याय है। पहले पर्दे में एक गुरु-शिष्य प्रकट होते हैं। धृतराष्ट्र चूंकि पूछता है। तो पूछने वाले को शिष्य मान लिया जाता है और संजय चूंकि बताता है और संजय को दिव्यदृष्टि भी मिली हुई है, इसलिए उसको गुरु मान लिया जाता है। यह गुरु-शिष्य संवाद है।

यहां धृतराष्ट्र अपने बेटों के मोह में अंधा हुआ लोभी विषादी है जिसने अपने छोटे भाई के पुत्रों का राज्य हड़प लिया है और वह दुःखी है कहीं वीर पाण्डव उनसे यह राज्य छीन कर वापस न ले लेवें। गांधारी भी अपने पुत्रों का पाप न देखकर भगवान् कृष्ण को ही शाप दे बैठती है।

गीता नाटक का दूसरा पर्दा उठता है। दूसरे पर्दे में पुनः एक गुरु शिष्य प्रकट होते हैं। शिष्य दुर्योधन है, गुरु द्रोणाचार्य है। दुर्योधन भी स्वार्थी विषादी है, पापी-विषादी है, कुटिल विषादी है, ईर्ष्यालु विषादी है। दुर्योधन विषाद कर रहा है हाय! हमारी पाप की हंडिया फूटने ही वाली है। अब हमें कोई बचा नहीं सकेगा।

तीसरा पट्ट खुलता है जिसमें गीता के वास्तविक गायक भगवान् कृष्ण हैं और गीता का वास्तविक अधिकारी पात्र महावीर अर्जुन है। अर्जुन को भी विषाद है—हाय! ये हमारे वंशज मारे जायेंगे। इसलिए अर्जुन सात्त्विक विषादी है। उसको अपने स्वार्थ के लिए विषाद नहीं है। दूसरों के हित के लिए उसे विषाद हैं। है तो पापी, पर पापी होते हुए भी गोतिया हैं—भाई-भतीजा, चाचा-ताऊ, मामा, गुरु पितामह, श्वसुर आदि हैं।

भगवान् कृष्ण ने कहा—न्याय में, नीति में अपना-पराया कोई नहीं। सब समान हैं। एक आपने गांधारी देखी। दूसरी इंदिरा गांधी। जिसने अपने जीवनकाल

में इमरजेंसी लगाई। जिसने अपने बेटे संजय के सब पापों पर पट्टी बांध ली थी कि मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। जो मरजी करे। ढाई सौ साल पहले भारत में एक और रानी भी हुई है।

रानी अहल्या बाई—वह रानी थी अहल्या बाई। उस अहल्या बाई ने बहुत यज्ञ-याग आदि करके एक पुत्र प्राप्त किया। पुत्र नन्हा था। उसका पति पानीपत की तीसरी लड़ाई में बलिदान हो गया। पति के साथ सती होना चाहती थी। सब लोगों ने कहा—आपने इतने यज्ञ-योग आदि करके एक पुत्र प्राप्त किया है। इस पुत्र की रक्षा के लिए आप शरीर को मत त्यागो। उसने स्वीकार कर लिया। पुत्र की संरक्षिका बन गई। बड़ी धर्मपरायण थी। नीतिपरायण थी। उसी के अनुसार राज्य चलाती थी। पुत्र जवान हो गया। राजतिलक के योग्य हो गया। तब अचानक एक विचित्र घटना घटी। रानी के दरबार में शिकायत पहुंची। हे धर्मात्मा रानी! आपका जवान बेटा कुछ ऐसा पाप कर चुका है जिस पाप के लिए प्रजाजन में कोई वैसा पाप करे, चरित्रहीनता का पाप, यौनाचार का पाप, यौन की उच्छृंखलता का पाप, आप उसको प्राणदण्ड देती। रानी ने कहा—अच्छा! रानी ने जांच-पड़ताल की। देखा, ठीक है। रानी ने आदेश दिया—जाओ, मेरे इकलौते जवान बेटे को, जिसका राजतिलक कुछ दिन में होने वाला था, कहा कि इसको हाथी के पांव के नीचे कुचलवा दो। सारी प्रजा रो उठी, मंत्रीगण रो उठे। रानी ने कहा, नहीं! न्याय में अपना-पराया कोई नहीं है। सारी प्रजायें मेरी संतान हैं। सब प्रजाजन मेरे पुत्र हैं। जो न्याय इनके लिए है वही न्याय इसके लिए भी है। सब प्रजाजनों के रोते हुए भी उसने अपने बेटे को हाथी के पांव के नीचे कुचलवा दिया। एक आंसू नहीं बहाया। प्रजा रो रही हैं। और, जब उसका प्राण शांत हो गया। शरीर शांत हो गया। तब रानी ने कहा—अच्छा प्रजाजनो! जो मेरा रानी के नाते कर्तव्य था वह मैंने किया है। अब मुझे मां का कर्तव्य पूरा करना है। रानी का लिबास उतारा। और सफेद साड़ी पहनकर रानी ने जो विलाप किया उससे दसों दिशायें रो उठी। बड़ा कारुणिक दृश्य हुआ। उसने कहा, मुझे रानी का कर्तव्य भी निभाना है, मां का कर्तव्य भी निभाना है। अपने हाथों जाकर उसका अग्नि संस्कार किया। उसकी छोटी-सी समाधि, नर्मदा नदी के किनारे मध्यप्रदेश के महेश्वर स्थान पर आज भी है। रानी यह थी अहल्या बाई जिसने गीता के सिद्धान्त के अनुसार अपने-पराये में कोई भेद नहीं किया। न्याय में सब समान हैं।

गीता के अनुसार चलने से जीवन कितना पवित्र, कितना श्रेष्ठ बनता है। और गीता के सिद्धान्तों की अवहेलना करने से हम कितने पतित हो जाते हैं।

भारतीय सेना के प्रथम सर्वोच्च जनरल करिअप्पा और उसके पिताजी—भारत के स्वाधीन होने के बाद जनरल करिअप्पा भारत के सर्वोच्च

सैन्य अधिकारी थे। उनसे मैंने वार्त्तालाप किया। मैंने पूछा, आपके जीवन में सबसे बड़ा महापुरुष कौन था जिससे आपने कुछ सीखा और उसकी छाप आपके जीवन पर पड़ी? वे मुसकराकर बोले, मेरे जीवन में सबसे बड़ा महापुरुष मेरे अपने पूज्य पिताजी थे। उन्होंने कहा, मेरे पिता मजिस्ट्रेट थे। एक संबंधी के यहां किसी का स्वर्गवास हो गया। उनको वहां पहुंचना था दूर गांव में वह स्थान था। दूसरे दिन प्रात:काल कचहरी में सेशन कोर्ट में पहुंचना था, आवागमन का कोई साधन नहीं मिलने पर वे सारी रात पैदल चले। प्रात:काल अपनी कचहरी में उपस्थित हुए। ऐसी थी उनकी कर्तव्यपरायणता।

एक हमारे संबंधी थे। बहुत बूढ़े थे। उन बूढ़े संबंधी पर कोई केस बन गया। वह केस कई छोटी, बाहर की दूसरी अदालतों से होते-होते मेरे पिता की कचहरी में पहुंच गया। मेरे पिताजी को फैसला करना था। उस वृद्ध पुरुष ने सोचा अब तो अपने संबंधी के पास केस पहुंच गया है। कोई चिन्ता वाली बात नहीं। उनको पत्र लिखा मैं अमुक तिथि को आ रहा हूं। तो कार लेकर मेरे पिता उसकी अगवानी के लिए गए। उनका चरण स्पर्श किया, घर लाए। घर लाकर उनको खूब बढ़िया ढंग से भोजन करवाया। इतनी उनकी खातिर की। उनको लगा अब तो इनको कुछ कहने की जरूरत ही नहीं। यह मुझको पहचानता है ही। कल इसकी कचहरी में मेरा केस है। तो इतना मेरा आदर कर रहा है तो अब तो मैं इस केस से मुक्त हो जाऊंगा। दूसरे दिन जब कचहरी खुली। यह व्यक्ति जिसने उनके घर में ही खाया था, सोया था। कचहरी खुली तो दोनों ओर के वकीलों से बात की, बहस की फाइल के अनुसार। इन्होंने न्यायबुद्धि से निर्णय दिया। मजिस्ट्रेट ने उस व्यक्ति को जो उनका संबंधी था, उनको छ: महीने का कठोर कारावास दिया। वह बार-बार कोशिश करे मजिस्ट्रेट की ओर देखूं तो सही। मजिस्ट्रेट मेरी ओर देखे तो सही। क्या मुझे पहचान नहीं रहा है। दिन में दस बार मेरे चरण स्पर्श करता था, बढ़िया खाना खिलाता था। मेरी ओर देखता तक नहीं है। लेकिन वह अपनी फाइल की ओर देख रहा है व्यक्ति की ओर बिल्कुल देख ही नहीं रहा है। उनको कारागार भेज दिया। जिसको कारागार भेजा गया मन में बड़ा पछतावा रहा। यह क्या हो गया? मैंने तो सोचा था मेरा केस ठीक तो जाएगा। मुझे कारागार भेज दिया। जब उसकी छ: माह की अवधि पूरी हुई उस दिन पुन: जेल के गेट पर कार लेकर मेरे पिता पहुंच गए। वे जेल से निकले तो पुन: उनका चरण स्पर्श किया। पुन: अपनी कार में बैठाकर अपने घर ले गए, उनका स्वागत किया। ये मेरे पिता थे जो कर्तव्य था, वही किया। कर्तव्य तलवार की धार है। उस पर चलने वाला आदमी बहादुर होना चाहिए। न्यायप्रिय होना चाहिए। विवेकी होना चाहिए। वह अपने-पराये का भेद करने वाला नहीं होना चाहिए।

न उसके मन में राग था न द्वेष था। राग है अपनों के प्रति नाजायज रियायत। द्वेष है पराये के प्रति नाजायज नफरत। नाजायज वैर, नाजायज कटुता। यह द्वेष है। राग-द्वेष दोनों से बचकर चलना है। भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

जो राग और द्वेष दोनों से निर्लिप्त होकर और अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता हुआ संसार के सब कर्तव्य निभाता है वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है। वह मंद-मंद मुस्कराता रहता है। उसको भय का कोई कारण नहीं।

फूल को, कुसुम को हम कहते हैं सुमन। फूल का नाम है सुमन। फूल जिन्दगी के प्रथम श्वास से लेकर जीवन के अन्तिम श्वास तक मुसकराते रहते हैं। फूल के चारों ओर शूल पड़े हुए हैं। शूल कहते हैं अरे फूल! तू मुसकराता क्यों है? तनिक हवा का झोंका आएगा हम तेरा कलेजा चीर डालेंगे। दायें शूल, बायें शूल, आगे शूल, पीछे शूल, ऊपर शूल, नीचे शूल। चारों ओर शूलों से घिरा हुआ फूल मुस्कराता है। कहता है, अरे शूलो! तुम तो शूल हो। तुम्हारा काम ही किसी को दु:ख देना है, किसी को सालना है। मैं सुमन हूं। मेरा काम मुस्कराना है। क्यों? क्योंकि मैं सुमन हूं। सुमन कौन? सुमन अच्छे मन वाला। जिसके मन में किसी के प्रति राग नहीं है। किसी के प्रति द्वेष नहीं है। वह सुमन है। उसका मन अच्छा है। उसके मन में मैल है नहीं। इसलिए वह जिन्दगीभर मुस्कराता रहता है। राग-द्वेष से वियुक्त हो कर जो सबका परिपालन करता है।

राम प्यारे और सरदार प्रतापसिंह—समाज में दो ही बड़े रोग लगे हुए हैं। राग, अपनों के प्रति अनुचित रियायत। अपने बेटों के सब गुनाह माफ। उनके गुनाहों को देखना ही नहीं। बड़े-बड़े गुनाह किये जा रहे हैं उनको माफ किए जा रहे हैं। परायों के प्रति द्वेष। ऐ, तू मेरे सामने आंख दिखाता है तेरी गर्दन मरोड़ दूंगा। कामरेड राम प्यारे जो खुद कांग्रेस का मेम्बर था। विधानसभा में इतना ही कहा प्रतापसिंह को—सरदार साहब! अपनी इज्जत की रक्षा करो। आपके बेटों ने आपका नाम बदनाम कर रखा है। ईंट के भट्टों वालों से ईंट लेकर पैसे नहीं देते। सरकार को बिजली का पैसा नहीं चुकाते। सिनेमाघर बना लिया। किसी से लकड़ी ली और फर्नीचर लिया उसका पैसा नहीं देते। मिलिटरी अफसर की बीबी आती है सिनेमाघर में वहां पर उसके साथ बदमाशी हो जाती है। उसके चरित्र पर हमला हो जाता है। शीलहरण हो जाता है। क्या-क्या पाप कर रहे हैं। आप अपनी इज्जत बचाइए। ये क्या हो रहा है? उसका इतना कहना था कि—अच्छा! तेरा मगज (मानस) ठीक करूंगा।

उसी दिन वह बेचारा चण्डीगढ़ से बस में बैठकर (करनाल में उसकी कांस्टिट्युएंसी थी।) थाने के सामने बस से उतरा। तो 32 गुण्डों ने एक साथ उस पर प्रहार करके उसके शरीर में घाव ही घाव कर दिए। मरते-मरते बचा। तीन-चार महीने के बाद कई घाव लिए हुए और स्ट्रेचर पर डालकर लोग उसको ले गए पंडित नेहरू को दिखाने के लिए। आपके प्यारे सरदार प्रतापसिंह ने क्या किया। उन्होंने कहा, मैं क्या कर सकता हूं। पंजाब में रहना है उनके साथ बना करके रहना पड़ेगा। अत्याचारी के साथ बनाकर रखनी पड़ेगी। ये क्या है? राग है और द्वेष है। सुन्दर प्यारे कुछ भी करे, उनके पुत्र वीरेन्द्र प्यारे कुछ भी करें वह सह जाए क्योंकि वह अपना है। और उसका नाम लेकर अपनी इज्जत बचाने के लिए मेरे पर थोड़ा-सा भी लांछन लगाए, मुझे समझाए तो वह सह्य नहीं होगा। तो अपने और पराये का यह जो भेद है। हम क्या कर रहे हैं, जो अपने हैं, अपनों के कारण कुम्भापरवरी कर रहे हैं। अपनों के कारण Freedism हो रही है। अपनों के कारण अपनों को नौकरियां दी जा रही हैं। अपनों के कारण भाई-भतीजावाद चल रहा है और पराये के कारण दूसरों के गांवों के गांवों पर हमले किए जा रहे हैं। दूसरों की बस्तियां उजाड़ी जा रही है। और दूसरों को आधे रास्ते में रोककर गोली मारी जा रही है। पूरे गांव में जाकर उनके घर को चारों ओर से घेरकर उनके घरों में आग लगाई जा रही है। पूरे के पूरे परिवार में उसके साथ किसी का द्वेष हो गया। हाथी ले जाकर के हाथी से रात में उनकी सोयी हुई अवस्था में उनकी खोपड़ियों को पांव के नीचे कुचलवा दिया गया है। राग और द्वेष—राग और द्वेष, नाइट क्लबों में शराब पीकर परायी औरतों की बगल में हाथ देकर नाचने वाले लोग राग की अग्नि में जल रहे हैं। कोर्ट-कचहरी में भाई-भाई पर केस करने वाले, गोतिया गोतिया से झगड़ने वाले, बाप पर फरसा लेकर दौड़ने वाले, मां को लात मारने वाले द्वेष की अग्नि से जल रहे हैं। राग और द्वेष की अग्नि से समाज जल रहा है। इसलिए हमें गीता का अमृत चाहिए उसको बचाने के लिए।

गीता वह बिना तेल का दीपक है जो अनन्त काल तक हमारे ज्ञान मन्दिर में प्रकाश करता रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक ग्रंथ भले ही खूब चमके किन्तु हमारे लघु दीपक का प्रकाश उन सबसे अधिक चमककर उन्हें ग्रस लेगा।

—द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

गीता का विश्वव्यापी प्रभाव

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविंद से निःसृत, श्रीमद्भगवद्गीता के वैचारिक जादू ने प्राचीनकाल से लेकर आधुनिककाल (यानी आज) तक के समग्र विश्व के मनीषियों को प्रभावित किया है।

मिस्र के पिरामिड—ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व मिस्र के प्राचीनतम पिरामिडों में शव (ममी) को सुरक्षित रखने के लिए भारतीय मलमल के कपड़े और भारतीय वृक्ष सागवान की लकड़ी का प्रयोग तो होता ही था। आत्मा की अमरता के लिए लिखित गीता में जो श्लोक है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20, गीता

इसका इजिप्टियन भाषा में अनुवाद मिस्र के राजा के पिरामिड के ऊपर सागवान की लकड़ी पर लिखा हुआ पाया गया है।

वेदमूर्ति पंडित श्री दामोदरपाद सातलेवकरजी ने लिखा है—मिस्र देश के पिरामिड में एक लकड़ी की मूर्ति मिली है। इस मूर्ति पर गीता के—

जीवभूतः सनातनः 15/7, गीता

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। 15/8, गीता

इस श्लोक का शब्दशः अनुवाद मिला है। इस मूर्ति के साथ जो वस्तुएं उस कब्र में मिली वे भारतीय वस्तुएं थी। (देखो अमरीकन नेशनल ज्योग्राफिकल मेगजीन, अक्टूबर 1941 का अंक)। जीव दूसरा जन्म लेता है, यह पुनर्जन्मवाद मिस्रवासियों के तत्त्वज्ञान में नहीं था। इसलिए मुर्दे को सुखाकर रख देते थे। ऐसे देश की कब्र में भारतीय वस्तुओं के साथ भारतीय विचार, गीता का ही विचार मिलना एक आश्चर्यजनक बात है। यह अनुवाद गीता के श्लोक का ही है, ऐसा वचन दूसरी जगह नहीं है।

यह कब्र विक्रमादित्य से पूर्व तीन सहस्र वर्षों के समय की है।

गीता का राजकीय तत्त्वालोचन, पृष्ठ -6 (7)

यूनान पर गीता का प्रभाव

जिस यूनान को यूरोप अपने विचारों की जननी मानता है वह स्वयं भारत से प्रभावित एवं प्रेरित रहा है। यूनानी दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन के प्रभाव के उपरान्त यूनानी दर्शन में आत्मा की अमरता का उल्लेख किया। उसके पहले यूनानी भाषा में आत्मा शब्द नहीं था। यूनानी दर्शन में आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म सिद्धान्त आदि की चर्चा सर्वप्रथम पाइथोगोरस में मिलती है। उसके पूर्व के यूनानी दार्शनिक थेलीज जल को, अनेक्जीमीनर अग्नि को, ऐनेग्जिमिनस वायु को परम तत्त्व के रूप में मानते थे। वे सभी जड़वादी थे।

पाइथोगोरस (550 ई. पूर्व) भारतीय दर्शनधारा से इतना अधिक प्रभावित है कि उसे भारतीय परम्परा में पृथ्वी गुरु कहा जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह भारत की यात्रा पर आया। किन्तु यह निश्चित है कि वह ईरान तक आया था। जहां उस काल में आर्य राजा कुरू (Cyres) साइरस का शासन था और अनेक आर्य ब्राह्मण वहां प्रचाररत थे। यह भूलना नहीं चाहिए कि उस समय तक न ईसा का जन्म हुआ न मुहम्मद का। इसलिए उस काल के पारसी जाति के आर्य होने के साथ-साथ धर्म से भी आर्य थे। ईरान का प्राचीन नाम आर्यान देश था। आर्यावर्त्त और आर्यान की परम्परा एवं पूजा-पद्धति, विश्वास, भाषा एवं जीवन-पद्धति सभी समान थी। अत: पारसी विद्वानों के सम्पर्क में आने का अर्थ भारतीय आर्य विद्वानों के सम्पर्क में आना ही था।

पाइथोगोरस का आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का सिद्धान्त निश्चित रूप से भारत की ही देन है। संस्कृत का आत्मा शब्द पाली में अत्ता हो गया है। भगवान् बुद्ध की वाणी है—

अत्ताहि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परोसिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।

अर्थात् आत्मा ही आत्मा का नाथ है, आत्मा के सिवा अन्य नाथ कैसे हो सकता है? अपने आपको अच्छी प्रकार वश में कर लेने पर मनुष्य दुर्लभ नाथ को प्राप्त करता है। यह अत्ता शब्द ही यूनानी भाषा में अतो हो गया है। इससे ग्रीक और लैटिन भाषा में Auto शब्द बना है। इसका अर्थ भी Self आत्मा ही है। जैसे Automatic स्वचालित, Autonomous आत्मनामी, Automobile अपने आप चलने वाली गाड़ी। आत्मा के लिए दूसरा शब्द है—स्व। इससे ग्रीक एवं लैटिन भाषा में शब्द बना है Suicide (स्वसूद यानी स्वयं को मारना)

संस्कृत में मधुसूदन का अर्थ मधुदैत्य को मारने वाला, अरिसूदन का अर्थ शत्रुओं को मारने वाला। ग्रीक एवं लैटिन में Couseui का अर्थ है अपना कारण

आप अर्थात् Auto-Self स्वयंभू। इस प्रकार भारत ने यूनान एवं रोम को केवल आत्मा सम्बन्धी विचार ही नहीं दिए बल्कि आत्मा के लिए शब्द भी दिए जो उनके अपने शब्द भण्डार में नहीं थे।

सुकरात के मानस पर भारतीय प्रभाव

युजेबीस (Eusebius) नामक विद्वान् ने अरस्तू द्वारा प्लेटो दर्शन पर लिखित ग्रंथ का उद्धरण दिया है जिसमें यह वर्णन है कि एक भारतीय दार्शनिक एथेंस नगर में आया और सुकरात से दार्शनिक शास्त्रार्थ किया। जब सुकरात ने यह कहा कि दर्शन मानव जीवन के विषय में जिज्ञासा करता है। इस पर भारतीय दार्शनिक मुस्कराया और उत्तर दिया—कोई भी मानव जीवन और उसकी समस्याओं के विषय में तब तक नहीं जान सकता जब तक दैवीय-तत्त्वों के बारे में न जान ले। इससे भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अलौकिक को जानने के पश्चात् ही लौकिक के रहस्य खुलते हैं। सुकरात इस भारतीय विचारक से बड़ा प्रभावित हुआ। सुकरात भारत के ऋषियों के समान निष्काम एवं निर्लोभ-वृत्ति से जीकर यूनान के युवकों को विवेक से ज्ञान प्राप्त करने की शिक्षा देता था। उसका कथन था Know Thyself, Knowledge is Power. (अपने-आपको जानो, ज्ञान ही शक्ति है।) यह उपनिषदों के आत्मानं विद्धि का ही अनुवाद है। अपनी विवेकपूर्ण दार्शनिक मान्यताओं के लिए बलिदान होने वाला सत्यवीर सुकरात संसार के सभी विवेकशील लोगों के लिए एक महान् आदर्श बन गया।

प्लेटो

सुकरात का योग्यतम शिष्य प्लेटो था। सुकरात के लिखित विचार प्राय: नहीं मिलते। उसके विचारों को लिखित रूप में प्लेटो ने ही अमर बना दिया। वास्तव में प्लेटो का दर्शन मूलत: सुकरात का ही दर्शन है। जिस प्रकार विवेकानन्द का दर्शन उनके गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस का ही दर्शन है।

प्लेटो (427 ई. पूर्व से 347 ई. पूर्व) पाइथोगोरियन विचारधारा का प्रशंसक था। यह माना जाता है कि वह एशिया के देशों की सांस्कृतिक यात्रा पर आया था। वह ईरान तथा सम्भवत: भारत की यात्रा पर आया था। उसका यह मत कि आत्मा जड़ प्रकृति के बंधन में पड़कर अपने आपको भूल जाता है और इससे मुक्ति ही आनन्द प्राप्ति का एकमात्र उपाय है—सांख्यदर्शन के विचार से मिलता-जुलता है। हॉपकिन्स (Hopkins) नामक लेखक का कथन है कि प्लेटो सांख्य विचारधारा से परिपूर्ण है जो उसने पाइथोगोरस के माध्यम से प्राप्त कर उस पर अपना तार्किक चिन्तन किया होगा।

कठोपनिषद् में कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च।। (1/3/3)

इंद्रियाणि हयानाहुर् विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर् मनीषिणः।। (1/3/4)

आत्मा को तुम रथी जानो। शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जानो और मन को लगाम। मनीषी (यानी ज्ञानी) इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं (और) विषयों को चरागाह। आत्मा के इन्द्रिय और मन से युक्त होने पर उसे भोक्ता कहते हैं।

प्लेटो ने भी रथ और घोड़े की यही उपमा शरीर-इन्द्रिय और आत्मा के वर्णन में प्रयोग की है। यह निश्चय ही भारतीय दर्शन का ही प्रभाव है। अर्विक (Urwick) का विश्वास था कि प्लेटो ने Republic में जो कुछ कहा वह मात्र भारतीय विचारों का पुनर्कथन है।

प्लेटो ने आदर्श समाज को रक्षक, सैनिक और कामगार में विभाजित कर भारतीय वर्ण-व्यवस्था को ही दूसरे शब्दों में प्रस्तुत किया है। Republic के सातवें अध्याय में प्लेटो दृश्यमान जगत् की असत्यता और सत्य की अदृश्यता को समझाने के लिए एक गुफा की उपमा देता है, जिसमें प्रकाश पीछे की ओर से आ रहा है और हमारा मुख दीवार की ओर है। जिस पर हमारी अपनी ही छाया पड़ रही है तथा जिसे हम सच समझकर उसकी ओर लपकते हैं, किन्तु वह सारा दृश्य मिथ्या ही निकलता है। इस प्रकार माया को छाया और सत्य को प्रकाश के रूप में प्रस्तुत करना वैदांतिक विचार है। व्यक्त जगत् अव्यक्त सत्य की ही छाया है। जगत् की सब वस्तुएं प्रारम्भ में अव्यक्त रहती हैं, मध्यकाल में व्यक्त होती हैं और अंत में पुनः अव्यक्त में ही लय हो जाती है—यह गीता का कथन है। व्यक्त वस्तुओं की पहचान के लिए कोई नाम और रूप कल्पित किया जाता है। वह नाम-रूप इन्द्रियगोचर होने के कारण सत् प्रतीत होता है। किन्तु सत् का कभी नाश या लोप नहीं होना चाहिए। असत् सदा टिकता नहीं और सत् कभी मिटता नहीं।

नासतो विद्यते भावो—गीता की इसी कसौटी के आधार पर नाम-रूपात्मक जगत् दिखाई देते हुए भी, इन्द्रियगोचर होते हुए भी अन्ततोगत्वा सत् नहीं प्रमाणित होता। जो दिखाई देते हुए भी वास्तव में न हो उसे ही गीता ने माया तथा शंकराचार्य ने प्रतिभासित कहा है। जगत् भास रहा है किन्तु है नहीं। स्वप्न का संसार भासते हुए भी वास्तविक नहीं। मरुभूमि का जल और रज्जु में सर्प, जल में बिन्दु, लहर, तरंग, वाष्प, नदी, तालाब, सिंधु भासते हुए भी सत् नहीं। क्योंकि उनकी सत्ता त्रिकालाबाधित नहीं है। सत् भासने का कारण भी यही है कि वे भासते समय हमारी सत्ता से कुछ अंश लेकर, नाम-रूप का आवरण ओढ़कर भासने लगते हैं।

यदि रस्सी और अंधेरा न हो तो सर्प की भ्रान्ति कैसे हो? सारी जादूगरी जादूगर पर टिकी हुई है। सारे जल के विकार जल पर ही टिके हुए हैं। किन्तु नाम-रूप के आवरण से वे जल तत्त्व को ढककर जल की क्षणिक प्रतिभासिक सत्ता से ही सत् जैसे दिखाई देते हैं। कबीर ने भी माया की छाया के साथ उपमा दी है—

माया छाया एक सी विरला जाने कोय।
भक्ता के पीछे फिरे सम्मुख भागे सोय।

प्लेटो ने भारतीय दर्शन के इस तत्त्व को ऐसी ही सुन्दर उपमा से समझाया। गुफा के द्वार पर सूर्य का प्रकाश या यज्ञ-अग्नि का प्रकाश है। हमारे हाथ संसार की भोग-विलास की हथकड़ी से बंधे हुए हैं। पीछे के प्रकाश से हमें अपनी ही छाया सामने दीवार पर पड़ती दिखाई देती है। पीछे मुड़कर देखने में असमर्थ हम छाया को ही सत् मानकर उसकी ओर लपकते हैं पर हाथ कुछ नहीं लगता। प्लेटो ने इस यूनानी कथा को भी प्रतीकात्मक रूप से स्वीकार किया है कि ज्यूज (Zeus) नामक देवता द्वारा Phanes को निगल जाने के पश्चात् एक संसार-रूपी विशाल अण्डा हुआ जिसमें सारी सृष्टि प्रकट हुई। यह मनुस्मृति में वर्णित हिरण्यगर्भ रूपी एक सुनहले अण्डे (ब्रह्माण्ड) का ही वर्णन है जिसमें से ब्रह्मा और सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

रोलिनसन (Rawlinson) नामक इतिहासकार का कथन है कि ये समानताएं इतनी अधिक निकट और मिलती-जुलती हैं कि उन्हें एक आकस्मिक घटना कहकर टाला नहीं जा सकता। प्लेटो की भाषा और उपनिषदों में कभी-कभी विस्मयकारी समानता दिखाई देती है। गार्वे का यह कथन बहुत सच है कि यूनानी विचार जगत् ईरान के माध्यम से भारतीय विचारधारा से प्रभावित हुआ और सांख्य और वेदांत के दर्शन भारत से ही यूनान में पहुंचे।

प्लेटो ने काव्यात्मक प्रतिभा के साथ अपने विचारों को बड़े रोचक वार्तालाप में प्रकट किया। लानाकूपर (Lana Cooper) के मत में वार्तालाप शैली नाटक के बाद यूनानी प्रतिभा द्वारा आविष्कृत सबसे श्रेष्ठ साहित्यिक शैली है। वास्तव में प्लेटो से बहुत पहले काव्यात्मक वार्तालाप शैली में आध्यात्मिक रहस्यों को प्रकट करने की परम्परा भारत में प्रतिष्ठित हुई थी। स्वयं वेद ही काव्यमय आध्यात्मिक-ग्रंथ है। उपनिषद् एवं गीता में काव्यात्मक वार्तालाप में आध्यात्मिक तत्त्वों का निदर्शन है। गीता में काव्य-संगीत, कथोपकथन के साथ-साथ नाटकीय तत्त्व भी हैं। इसलिए प्लेटो अपनी आध्यात्मिक कविताओं व काव्यात्मक कथोपकथन शैली के लिए भारत के ही ऋणी हैं।

उपनिषद् में नारद एवं सनत्कुमार का रोचक संवाद है जिसमें देवर्षि नारद पांच वर्ष के ब्रह्मज्ञानी बालक सनत्कुमार से प्रार्थना करते हैं कि उन्होंने सब विद्याएं प्राप्त

कर ली हैं फिर भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। नारदजी अपनी सारी विद्याएं गिनाते हैं। इस पर सनत्कुमार पूछते हैं नारदजी से कि आपने सब कुछ जान लिया तो जानने वाले को भी जाना कि नहीं? इस प्रकार नारदजी को अपनी भूल का भान होता है। सनत्कुमारजी बताते हैं दृश्य का सारा ज्ञान अपरा-विद्या (छोटी विद्या) है। इससे ऊपर पराविद्या है जिसमें द्रष्टा का ज्ञान, ज्ञाता का ज्ञान प्राप्त होता है। हूबहू ऐसा ही सम्वाद प्लेटो तथा उनके शिष्य अरस्तू के बीच हुआ। अरस्तू ने सब विज्ञानों का अध्ययन करने के पश्चात् फिजिक्स पर अध्ययन करके पूछा कि मैंने पदार्थ और ऊर्जा का पूरा अध्ययन कर लिया है। फिर भी मुझे लगता है कि बहुत कुछ छूट गया है। तब प्लेटो मुस्कराकर कहता है कि फिजिक्स के अध्ययन से ऊपर एक अन्य विद्या है जिसका नाम Metaphysics है। Physics से लौकिक शक्ति प्राप्त होती है और Metaphysics से आध्यात्मिक-शान्ति। यह स्पष्ट ही अपराविद्या-पराविद्या का भेद, दृश्य और द्रष्टा का भेद, जगत् और जगदीश्वर का भेद है।

अरस्तू

प्लेटो का शिष्य अरस्तू एक महान् मेधावी एवं ज्ञान की सब विधाओं में प्रवेश रखने वाला सर्वस्पर्शी, प्रतिभासम्पन्न महापुरुष था। उसकी Politics ने आधुनिक राजनीति दर्शन की नींव रखी। उसकी Politics में दुखांत नाटकों की एकता के प्रथम बीज मिलते हैं। उसका On the Soul विषय का निबंध आधुनिक मनोविज्ञान की नींव बन गया। वह प्रथम मार्गदर्शक जीव-वैज्ञानिक भी था। वह विचारों के सम्बन्ध और साहचर्य के सिद्धान्त का भी द्रष्टा था। वह अनेक विज्ञानों का प्रथम वैज्ञानिक तथा अनेक विचारों का प्रथम विचारक माना जाता है। प्लेटो स्वयं उसे अपने विद्यालय की प्रतिभा Intellect of School मानता था और विचार जगत् उसे Father of all Sciences मानता है।

मेकेदोनिया के राजा फिलिप ने अपने होनहार पुत्र सिकन्दर को अरस्तू के पास शिक्षा के लिए समर्पित किया। उसने अरस्तू के जन्म के नगर Stargirite का पुनर्निर्माण करा दिया। सिकन्दर कहता था—'मेरे पिता ने मुझे जन्म दिया पर गुरु अरस्तू ने मुझे जीवन को योग्यतापूर्वक जीना सिखाया। मेरे पिता मुझे स्वर्ग से धरती पर लाए, गुरु ने पुनः स्वर्ग प्राप्ति का रास्ता बताया।' इस गुरु-भक्ति में भारतीय परम्परा की ही छाप है। सिकन्दर ने अपने गुरु को गुरुदक्षिणा में धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त अत्यन्त अमूल्य ग्रंथों की पाण्डुलिपियां भी भेंट कीं जो उसे अपने शासन एवं दिग्विजय के काल में प्राप्त हुई। सिकन्दर ने अपने गुरु की जीव-वैज्ञानिक खोजों के काल में एक हजार व्यक्ति सहयोग के लिए दिए, जो पशु-पक्षियों और जलचरों की आदतों का अध्ययन कर अरस्तू के वैज्ञानिक विषय-लेखन में सहयोग करते थे।

अरस्तू स्वयं पश्चिम का महानतम विचारक एवं वैज्ञानिक होते हुए भी भारतीय ज्ञान के लिए ललक रखता था। मेकरिनल नामक प्रसिद्ध लेखक ने सिकन्दर के आक्रमणों पर एक पुस्तक लिखी। मैगस्थनीज नामक इतिहासकार ने अपने ग्रंथ Indica में उसका उद्धरण देते हुए लिखा है कि सिकन्दर जब भारत पर आक्रमण के लिए निकला तब उसके गुरु अरस्तू ने उसे आदेश दिया कि वह भारत से लौटते समय उसके लिए दो उपहार लेकर आये—एक गीता और दूसरा भारत का श्रेष्ठ संत। सिकन्दर जब भारत से लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नामक अपने प्रतिनिधि को एक भारतीय संत को ढूंढ़कर साथ ले चलने के लिए भेजा। एक संत तो साथ चल पड़ा परन्तु दूसरे ने जिसका नाम डेंडीमीज था, लिखा है—साथ चलने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। डेंडीमीज का भारतीय नाम दण्डी स्वामी हो सकता है। सिकन्दर के दूत ने कहा, 'जूपीटर का पुत्र आपको धन से मालामाल कर देगा। भारतीय संत ने हंसकर उत्तर दिया—'हमारे रहने के लिए शस्य श्यामला भारत है, पहनने के लिए वल्कल वस्त्र, पीने के लिए गंगाजल, खाने के लिए पावभर आटा बहुत है। हम आत्मधन के धनी हैं। वह आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र सिकन्दर हमें क्या दे सकता है!'

ईसा के मानस पर गीता का स्पष्ट प्रभाव—यह छह बिन्दुओं से दर्शाया जा सकता है—

(क) ईसा के पूर्व मध्यपूर्व के देशों में भारतीय प्रचारक।

(ख) ईसा के देश में भारतीय आर्यों का शासन।

(ग) क्या ईसा स्वयं भारत में शिक्षा पाने आये?

(घ) क्या ईसा का स्वर्गवास भारत में ही हुआ?

(ङ) ईसा के जीवन पर कृष्ण का प्रभाव और ईसा के संदेश पर गीता की छाप।

(च) ईसा के जीवन पर बुद्ध का प्रभाव और ईसा के दर्शन पर बौद्ध धर्म की छाप।

यह कम लोगों को ज्ञात है कि ईसा से दो शताब्दी पूर्व यूफ्रेटीज नदी के ऊपरी तट पर वान-झील के पश्चिम में एक हिन्दू उपनिवेश था, जिसमें हिन्दू मन्दिर बने हुए थे, जिनमें एक कृष्ण का मंदिर भी था। चौथी शताब्दी में सेंट ग्रेगरी ने अपने अनुयायियों की सहायता से हिन्दू उपनिवेश को पराजित करके हिन्दू-मन्दिरों को गिरवा दिया था। इसका उल्लेख आर.सी. मजूमदार ने India's contribution to world thought and culture नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में किया है। उस पुस्तक में जो स्वामी विवेकानन्द की शती में प्रकाशित हुई।

मध्यपूर्व में गीता के अवतार सिद्धान्त का प्रभाव

महात्मा ईसा का नाम जीसस जो धीरे-धीरे यीशु, ईसा आदि रूढ़ हो गया। क्राइस्ट उनका नाम न होकर Title उपनाम या उपाधि नाम था।

कृष्ण से कृष्टो शब्द बना।

कृष्ण और ईसा के चरित्र एवं उपदेशों में समानता

ईसाई पादरियों द्वारा गीता को बाइबिल के Sermon of mount के बाद का, उससे प्रभावित बतलाना। गीता और बाइबिल में समानता। लोकमान्य तिलक का पादरी लारेन्सर को उत्तर।

जो प्राचीन होगा वही नवीन को प्रभावित करेगा।

कृष्ण एवं गीता की प्राचीनता ईसा एवं बाइबिल से निर्विवाद है।

ईसा युग के चार शताब्दी पूर्व सेल्युकस का ग्रीक राजदूत मैगस्थनीज भारत आया था एवं महाराजा चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा। उसके अभिलेखों में पुरायुगीन भारत में कृष्ण की उपासना से सम्बन्धित अधिकतम ऐतिहासिक प्रामाणिक तथ्य उद्घाटित हुए हैं। मैगस्थनीज ने कृष्ण को भारतीय हरक्युलस कहा। उसका कथन है कि शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति में कृष्ण सर्वश्रेष्ठ मानव थे। उन्होंने सम्पूर्ण संसार से दुष्कर्म का नामोनिशान मिटा अनेक नगर स्थापित किए एवं उनकी मृत्यु होने पर उन्हें दैवी सम्मान प्रदान किया गया। मैगस्थनीज ने कृष्ण के जन्म स्थान मथुरा नगर का उल्लेख किया।

गीता तत्त्वचिन्तन में अभेदानन्दजी के लेख से, पृष्ठ 284

मैगस्थनीज का कहना है कि डायोनिसियस से चन्द्रगुप्त तक 153 पीढ़ियां हो चुकी हैं और डायोनिसियस से 15 पीढ़ी बाद हिरक्लीज हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रगुप्त से 153-15=138 पीढ़ी पूर्व हिरक्लीज अर्थात् श्रीकृष्ण हुए। 138 पीढ़ियों में कितना समय गुजरा? ऐतिहासिक लोग प्राचीन वंशों की गणना करते हुए एक पीढ़ी को 20 वर्ष का समय देते हैं। इस प्रकार चन्द्रगुप्त से 138×20=2,760 वर्ष पूर्व हिरक्लीज यानी श्रीकृष्ण हुए। चन्द्रगुप्त का क्या काल है? चन्द्रगुप्त का काल ईसा से 312 वर्ष पूर्व माना जाता है। ऐसी हालत में हिरक्लीज अर्थात् श्रीकृष्ण ईसा से 2,760+312= 3,072 वर्ष पूर्व हुए। आजकल ईस्वी सन् 2012 चल रहा है इसलिए श्रीकृष्ण आज से 3072+2012= 5084 वर्ष पूर्व हुए। यही गीता का काल है।

वही, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृष्ठ 317

ईसा के सन्देश पर भारतीयता की छाप—आचार्य नरदेव शास्त्री लिखते

हैं—मैंने बाइबिल को कई बार आद्योपान्त पढ़ा है। उसमें कैसे-कैसे भावपूर्ण सुन्दर उपदेश हैं, वे उपनिषदों के सार हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

ईसाई धर्म में जो ईसा पर ईमान लाने की बात कही गई है वह विशुद्ध भारत की है। वह भगवान् कृष्ण की उक्ति की ही पुनरुक्ति है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66, गीता

नजरथ का वह महान् पैगम्बर पूछता है—'जब स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विराजमान है तो उसे ढूंढ़ने को अन्यत्र कहां जा रहे हैं।'

एक और स्थान पर अध्यात्मवादियों की भांति ईसा कहते हैं—उन वस्तुओं से मत डरो जो शरीर को मारने वाली हैं, उससे बढ़कर और कुछ नहीं कर सकती।

डा. लारिन्सर गीता के जर्मन अनुवाद की पुस्तक में गीता और बाइबिल के भावों में साम्य दिखलाते हैं, उदाहरणार्थ—

ईसा भी भगवान् कृष्ण की भांति उस साधना का उपदेश देते हुए कहते हैं—'उस दिन तुम्हें ज्ञात हो जाएगा कि मैं अपने पिता में वर्तमान हूं। तुम मुझ में वर्तमान हो व मैं तुम में वर्तमान हूं। क्या तुम्हें याद है?'

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि। 4/35, गीता

एक अन्य स्थान पर ईसा कहते हैं—'जो मुझे प्यार करता है वह मेरे पिता का प्यारा होगा और उसे प्यार करेगा।'

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। 7/17, गीता

वेदान्त का प्रभाव

अपनी महान् वाणी से ईसा ने जगत् में घोषणा की, 'दुनिया के लोगो! इस बात को भलीभांति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर में अवस्थित है, मैं और मेरा पिता अभिन्न हैं। साहस कर खड़े हो जाओ और घोषणा करो कि मैं केवल ईश्वर तुल्य ही नहीं स्वयं ईश्वर हूं। अपने हृदय में मुझे प्रतीति हो गई है कि मैं और मेरा पिता एक और अभिन्न हैं।'

सुविज्ञ पाठक इसमें भगवान् शंकराचार्य के जीवो ब्रह्मैव नापरः तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि, सोऽहम् की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुन सकते हैं।

ईसा पर भारत के योगियों का भी प्रभाव था जिसकी झलक बाइबिल में दिखाई देती है। डॉ. पाल ब्रनटन ने अपनी पुस्तक Hidden Teaching Beyond yoga. P. 55 में इस प्रकार लिखा है—

इन्जील (न्यू टेस्टामेंट) के खण्डों के ध्यानपूर्वक अनुशीलन, अध्ययन से यह प्रकट होता है कि यद्यपि उनमें अधिकांश को सरलता से निम्नलिखित श्रेणी तक शुद्ध मजहबी विषय के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है तथापि उनमें होकर उच्च श्रेणी के रहस्यवाद की भी एक हलकी-सी धारा लगातार प्रवाहित हो रही है। स्वर्गिक राज्य तुम्हारे भीतर है। (इस वाक्य का) तनिक-सा भी सम्बन्ध शासकीय मजहब से नहीं है और यह पूर्णतया योगियों तथा रहस्यवादियों के अनुभव की ओर संकेत करता है। (उद्धृत-परमेश्वर पुत्र ईसा—ले. जगदीश्वर प्रसाद, वानप्रस्थ, पृष्ठ 60)

बौद्ध धर्म का प्रभाव

लोकमान्य तिलक के मतानुसार महात्मा ईसा पर बौद्ध धर्म का भी पर्याप्त प्रभाव है—'ईसा से 2000 वर्ष पूर्व एशिया, एसीन नामक संन्यासियों का पंथ यहूदियों के देश में था। वे अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और मद्य-मांस से दूर रहा करते थे। उनका प्रधान मठ मृत समुद्र के पश्चिमी किनारे एंगदी में था। स्वयं ईसा ने इनका मान्यतापूर्वक वर्णन किया है। ईसा ने स्वयं भी सम्भवतः इसी धर्म की दीक्षा ली।

दत्त साहब ने अपने इतिहास में बौद्ध और ईसाई धर्म की अद्भुत समानता के अनेक उदाहरण दिए हैं।

ईसाई धर्म में अहिंसा, जीवदया, करुणा, मैत्री, प्रेम और सेवा जैसे महान् नैतिक आदर्श सीधे बौद्धधर्म से उधार लिए हुए हैं।

इस प्रकार महात्मा ईसा और उनके ईसाई धर्म पर भारत एवं भारतीयता की छाप इतनी गहरी है कि सहज ही मुख से निकल पड़ता है—

था हिन्दुओं का शिष्य ईसा यह पता भी चला
ईसाईयों का धर्म भी है, बौद्ध सांचे में ढला।

(मैथिलीशरण गुप्त)

रामकृष्ण मिशन के स्वामी प्रभवानन्दजी ने इस विषय पर स्वतंत्र रूप से शोध कर पुस्तक लिखी है—The Sermon on the mount according to vedanta जिसमें स्पष्ट रूप से बाइबिल पर गीता और वेदान्त का प्रभाव दिखलाया है।

अरब पर भारतीय प्रभाव—इस्लाम से पूर्व अरब के मानस पर हिन्दू संस्कृति ने अपनी महान् छाप छोड़ी है।

अरब में इस्लाम के उदय के पूर्व अनेक भारतीय (विशेषकर ब्राह्मण) बड़ी संख्या में रहते थे। मक्केश्वर महादेव की पूजा करते थे। स्वयं हजरत मुहम्मद के

चाचा अबुल हिक्म की भारत एवं शिव की स्तुति में लिखी हुई कविताएं प्राप्त हुई हैं। वहां की प्राचीन कविताओं में विक्रमादित्य, वेद, भगवान् कृष्ण, वेदव्यास और भारत की स्तुतियां भी मिलती हैं।

अरब में आज से लगभग 3000 वर्ष पूर्व आकाश से गिरने वाले तारे के गर्म लावे से एक अर्ध-गोलाकार शिवलिंग बन गया था। उसकी पूजा खजूर की पत्तियों एवं आबेजमजम के पानी से होती थी। पुजारी कुरैशी कहलाते थे। हजरत मुहम्मद स्वयं कुरैशी थे किन्तु अशिक्षित थे। मिर्गी के दौरे पड़ते थे। एक अनपढ़ ऊंट चराने वाले थे।

केन्द्रीय पिंड के चारों ओर 360 देवता थे। इसमें नवग्रह, दुर्गा देवी की मूर्तियां थी, बोधिसत्व की मूर्तियां थी, बुद्ध की मूर्तियां थी। मैक्समूलर का कहना है बुद्ध शब्द से अरबी का बुत शब्द बना हुआ है।

हजरत मुहम्मद साहब का मंदिर के पंडाओं से विरोध होने पर सब मूर्तियां तोड़ दी गई। किन्तु बड़े संगे-अस्वद की मूर्ति को तोड़ नहीं पाए वरन् उसे चूमा। खजूर की पत्तियों एवं आबेजमजम के पानी से इनकी पूजा (ईडा) की।

अरबी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव अभी भी इन शब्दों में देखा सकता है—

मखः (यज्ञ)	से मक्का
अश्वेत (काला)	संगे-अस्वद (काला पत्थर)
नमाष्ट	नमाज
ईडागृह से ईदगाह	
शिवरात्रि (शिव की बरात वाली रात्रि)	शबे बारात (शबे=रात्रि)
गंगाजल	आबेजमजम (मक्का का वह पानी का स्रोत जिसके जल में कीड़े नहीं पड़ते)।
बिल्व पत्र	खजूर की पत्तियों से पूजना
तीर्थयात्रा में पवित्र, नया वस्त्र धोती पहनना	हज में नए सफेद वस्त्र बिना सिले हुए धोती (बिना लांग) एवं चद्दर
तीर्थ में सिर मुण्डन	हज में सिर मुण्डन
तीर्थ में मन्दिर की परिक्रमा	काबा के मन्दिर की परिक्रमा
उपवास	उपवास, रोजा
शंकर के मस्तक पर शशिकला	नया चन्द्रमा अरब एवं मुस्लिम देशों का ध्वज चिह्न

दो प्रकार के शिव पूजन	असुर भाव से शिव पूजन के कारण
(1) सात्त्विक भाव शंकराचार्य, मार्केण्डेय	असुर गुरु शुक्राचार्य के
(2) आसुरी भाव—रावण, त्रिपुरासुर, भस्मासुर, शुक्रवार	शुक्रवार को विशेष जुमा (समूह की नमाज)

अरब में बसे हुए एक ब्राह्मण परिवार में ही एक महान् ज्योतिष हुआ जिसका नाम यवनाचार्य प्रसिद्ध है और जिसका भारतीय ज्योतिष-ग्रंथों में उल्लेख है।

मुहम्मद पैगम्बर—भारत से मुझे दिव्य सुगंधि मिलती है।

स्वयं अरब नाम पर संस्कृत भाषा का प्रभाव है। अरब अच्छे नस्ल के घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था। इसी आधार पर 'अर्ब' से अरब नाम पड़ गया।

कुरान पर गीता का स्पष्ट प्रभाव पड़ा जिसे सुन्दरलाल ने 'गीता और कुरान' पुस्तक में दर्शाया है। सूफियों की वाणी में गीता की गूंज है।

अलबेरूनी

महमूद गजनवी भारत में अपने साथ बुखारा के राजकुमार अलबेरूनी को कैद करके लाया था। अलबेरूनी का यहां के हिन्दू विद्वानों से गहरा लगाव था। उसने महमूद गजनवी की कैद में रह कर ही युद्धकाल में बड़ी कठिनाई से संस्कृत, ज्योतिष, गणित आदि पढ़ी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत' (जो तात्कालिक हिन्दुस्तान का चित्र है) में उसने भगवद्गीता के कई श्लोक उद्धृत किए हैं। उसने गीता को आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ी उच्चकोटि की पवित्र पुस्तक बताया।

जहां महमूद गजनवी जो सिर्फ इस देश को तबाह-बरबाद करने और लूटने में ही इस्लाम की सेवा समझता था, वहीं अलबेरूनी एक खोजी लेखक था जो महमूद गजनवी के साथ ही आया था। पर उसने यहां के एक बच्चे तक को न सताया वरन् जो कुछ वह अपने जीवन में सीख सकता था, उसकी शिक्षा ली और भारत पर पुस्तक लिख डाली।

फैजी

मुगल काल में अकबर के आदेश से फैजी ने गीता का अनुवाद फारसी भाषा में किया। इसके पूर्व फिरोजशाह तुगलक ने गीता का अनुवाद फारसी में कराया था। फैजी का अनुवाद प्रसिद्ध है।

दाराशिकोह

उसने हिन्दू गुरुओं के चरणों में बैठकर उपनिषद्, गीता, रामायण का अध्ययन किया। दाराशिकोह जो औरंगजेब का बड़ा भाई था उसने इस किताब का नाम 'सेर

अकबर' रखा और भूमिका में गीता की अद्भुत प्रशंसा करते हुए लिखा है गीता परम आनन्द का अमर स्रोत है। वह परम सत्य को पाने का पथ प्रदर्शक है। गीता हमें ब्रह्म का ज्ञान कराती है। यह वर्तमान और भविष्य के गहन रहस्यों को सरलता से समझाती है। इसके संकलनकर्ता (लेखक) महर्षि वेदव्यास थे।

डॉ. मोहम्मद हाफिज सैयद

गीता के उपदेश बिना किसी भेदभाव के सबके लिए आवश्यक हैं। इस ग्रंथ पर अहिन्दुओं का उतना ही अधिकार है जितना किसी भारतीय अथवा हिन्दू कहलाने वाले का है।

अन्तिम मुगल बादशाह जफर स्वयं गीता से बहुत प्रभावित था। उसने गीता के 3/37 श्लोक का भाव पिरोते हुए कहा है—

जफर आदमी उसको न जानिएगा,
चाहे कितना हो इल्मो फहमे बका।
जिसे ऐश में यादे खुदा न रही,
जिसे तैश में खौफे खुदा न रहा।

अर्थात् कोई व्यक्ति कितना ही पढ़ा-लिखा विद्वान् क्यों न हो वह मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है जिसे ऐश में (ऐश्वर्य में) ईश्वर की याद न रहे, जिसे तैश में (क्रोधावेश में) ईश्वर के दण्ड विधान का भय भी न रहे। ऐश्वर्य में भी अंधा होकर ईश्वर के प्रेम को भूल जाता है और क्रोधावेश में भी अंधा होकर ईश्वर के न्यायविधान को भूल जाता है।

मैंने भगवद्गीता को सर्वदा महानतम सम्मानयुक्त प्रशंसा की दृष्टि से देखा है।

सर मोहम्मद इकबाल (इस्लाम के विश्वकवि)

1917 में जिन्ना ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा था—रामायण और महाभारत इस देश के राष्ट्रीय महाकाव्य हैं। इनको समझे बिना आप भारत से एकात्म नहीं हो सकते।

लाहौर के ख्वाजा दिल मुहम्मद ने गीता का उर्दू पद्य में अनुवाद करते हुए लिखा—

मुसीबत से सबको बचाती है गीता,
पाथमे सदाकत सुनाती है गीता।
जो गिरते हैं गलती से इस सर जमीं पर,
उठाकर फलक पर बिठाती है गीता।

वे अनुवाद के प्रारम्भ में लिखते हैं—सात सौ फूलों की माला गीता है। यह माला करोड़ों इनसानों के हाथों में पहुंच चुकी है लेकिन अभी तक इसकी ताजगी, नफासत, इसकी खुशबू में कोई फर्क नहीं आया।..... इस फूल की माला में अजीब खुशबू है और उस खुशबू में अजीब तासीर है। इस माला को पहनो तो दिल-दिमाग पर अमिट प्रभाव छा जाता है।

हजरत मौलना सय्यद हबीब साहब (सम्पादक, सियासत लाहौर) अपने उर्दू अखबार में जिसका नाम उन्होंने 'जुबैर हिन्द' रखा, लिखते हैं—हिन्दी में मैंने रामायण, महाभारत और असंख्य किताबों का अध्ययन किया, मगर जिस किताब ने मेरे दिल व दिमाग पर कब्जा कर लिया, जिसका नशा मुझे आज तक मालूम होता है, वह है श्रीमद्भगवद्गीता।

सन् 1941-42 की बात है। डा. सैयद महमूद जो उस समय कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य थे तथा बाद में बिहार के मंत्री रहे। अपने विद्यार्थी काल की घटना बताते थे जब वे जर्मनी में कानून का अध्ययन करने गए थे। एक जर्मन प्रो. महोदय ने उन्हें विश्वविद्यालय के प्रांगण में रोककर गीता के विषय में कुछ सवाल पूछे। डा. महमूद भौचक्के रह गए और उन्होंने कहा—मैं एक मुसलमान हूं, मैंने गीता नहीं पढ़ी। वह प्रो. आश्चर्यचकित था। उसने कहा—इससे क्या फर्क पड़ता है। मैं एक ईसाई हूं, आप एक मुसलमान हो सकते हैं, यहूदी हो सकते हैं, अन्य कुछ भी हो सकते हैं, पर आपके पास गीता के रूप में आपके देश में एक खजाना है और आपने उसे नहीं पढ़ा। आप भारतीय कैसे कहला सकते हैं? आपको ये चीजें जाननी चाहिएं। यह आपकी राष्ट्रीय धरोहर है। यह किसी धर्म विशेष की धरोहर नहीं। डा. महमूद के लिए यह एक नया अनुभव था। उसके पहले किसी ने ऐसा सुझाव नहीं दिया था। लेकिन उसके बाद उन्होंने गीता पढ़ी और वहां से लौटने पर इस घटना की चर्चा गांधीजी से की।

गांधीजी ने उन्हें सलाह दी थी कि जब भी कोई समझदार व्यक्ति आपसे मिल जाए तब इस बात की चर्चा आप जरूर कर दें।

कृष्णभक्त मुस्लिम बहन-रैहाना तैयबजी

गुजरात के मुस्लिम परिवार में जन्मी बहन रैहाना तैयबजी अब्बास तैयबजी की सुपुत्री हैं। भारतीयता से ओत-प्रोत मुस्लिम महिला हैं। गांधीजी की शिष्या हैं। वह गीता को विश्व का अद्वितीय शास्त्र मानती हैं। वह अपनी आत्मकथा में लिखती हैं—'सन् 1923 में मेरे जीवन में गीताजी प्रकट हुई। 'यंग इंडिया' में बापू द्वारा गीता की तारीफ पढ़ी। मैंने गीता को पढ़ा और उसे पढ़ते-पढ़ते मेरे दिल, दिमाग, मेरे समस्त प्राणों पर गोया बिजलियां गिरती चली गईं। मैं पागल

हो गई। विह्वल हो गई। व्याकुल हो गई। मैंने लगातार उसे 20 बार पढ़ लिया पर हाथ से न रख सकी। रात को तकिये तले रखकर सोती। मेरी आँखों के सामने एक अद्‌भुत, सुन्दर, तेजोमय, आनन्दमय दुनिया गोया खुल गई। गीता के सात सौ श्लोकों में मुझे चौदह ब्रह्माण्डों के रहस्य नजर आने लगे। मेरे सभी सवालों के एकदम जवाब मिल गए। हर उलझन का सुलझाव मिल गया। हर अंधेरे का दीपक मिल गया। हर गुमराही में रहनुमा (मार्गदर्शक) मिल गया। गीता में मुझे सब कुछ मिल गया।'

मेरे परिवार वाले व अन्य कुछ मजहबी मुसलमान मुझे गीता पढ़ते देखकर, कृष्ण भक्ति के भजन गाते देखकर काफी क्रुद्ध होते थे। पर मैं विवश थी। और ये मेरे पूर्व जन्म के संस्कार ही मुझे यह सब करने को बाध्य करते थे।

रैहाना बहिन भारत भूमि को परम पावन व पुण्यभूमि मानती हैं। उनका कहना है—भारत धर्मप्राण योगियों का परम पवित्र देश है। अन्य पश्चिमी देश भोगियों के देश हैं। भारत की भूमि पर भगवान् के मंगलमय चरण पड़े हैं, इसकी पवित्र धरती पर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अवतार लेकर लीलाएं की हैं। त्याग एवं वैराग्य का यह केन्द्र रहा है। अत: यदि भोगी देश योगी भारत से प्रेरणा ग्रहण करें तो ठीक। किन्तु, आज तो उलटी गंगा बह रही है। जहां कभी पश्चिमी देश भारत को धर्म भूमि, योगियों का महान् पवित्र देश मानकर उससे शिक्षा ग्रहण करते थे। वहां आज हम भारतीय उलटे भोगी देशों को गुरु मानकर उनका अंधानुकरण करने में ही गौरव का अनुभव कर रहे हैं। भारत के अध:पतन का एक यही कारण है।

कृष्ण के मुस्लिम भक्त—सनम साहब

अजमेर की सुप्रसिद्ध कृष्ण लाइब्रेरी के संस्थापक मोहम्मद याकूब (सनम साहब) मुसलमान जाति में उत्पन्न हुए। वे उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं के महान् विद्वान् थे। उन्होंने भारतीय दर्शन व हिन्दू धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया और उनके हृदय में भारतीयता के प्रति अनुराग उत्पन्न होता गया। गीता एवं महाभारत ने उनके हृदय को विशेष रूप से प्रभावित किया। काशी जाकर श्रीमती एनी बेसेंट से भेंट की और उनके श्रीमुख से गीता तत्त्व को सुनकर वे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हुए। 11 दिसम्बर, 1911 को उन्होंने संत श्री सरसमाधुरीशरणजी से श्रीकृष्ण भक्ति की दीक्षा ली और अपना समस्त जीवन कृष्ण भक्ति में लगा दिया। उन्हें काफिर की उपाधि से भी विभूषित किया गया। किन्तु वे जीवन के अन्तिम क्षणों तक भारतीयता से ही सराबोर रहे। वे बहुत सुन्दर प्रवचन करते थे और ब्राह्मण भी उनके विद्वत्तापूर्ण भाषण को सुनकर झूम उठते थे। वे कहते हैं श्रीकृष्ण के तीन रूप हैं—(1) प्रेम, (2) जीवन और (3) आनन्द। प्रेम ही जीवन का विधान है। जीवन की सत्यता

का आधार है। जीवन का मुख्य उद्देश्य आनन्द है। यह तीनों श्रीकृष्ण की निराकार विभूतियां हैं। सृष्टिमात्र में व्याप्त हैं।

भारत के भूतपूर्व उपराष्ट्रपति स्व. श्री मोहम्मद करीम छागला आजीवन गीता के गीत गाते रहे। उनकी हिन्दू धर्मग्रंथों में असीम आस्था थी। उन्हें वे राष्ट्रीय ग्रन्थ मानते थे। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक भारतवासी, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो, हिन्दू है।

सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश महामहिम बेग साहब ने गीता का अध्ययन कर अपने विचार तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को एक विशेष नोट लिख, प्रेषित कर राय दी थी कि यह एक ऐसी अनमोल पुस्तक है जो सभी मजहब तो क्या मनुष्य मात्र के पढ़ने की जरूरी किताब है। इसका अध्ययन शिक्षण संस्थाओं में प्रारम्भ से लेकर कालेज तक अनिवार्य होना चाहिए। हकीकत तो यह है कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता भारत की सही पहचान है।

ईरान के मुस्लिम संत मेहरबान शहरयार (मेहर बाबा) ने कहा था कि गीता केवल हिन्दुओं के लिए नहीं है, यह तो मनुष्य मात्र के लिए है। धरती पर बसने वाली सभी जातियां गीता को जीवन में उतार लें तो सम्पूर्ण संसार प्रेममय बन जाए तथा सभी झगड़े-फसाद समूल नष्ट हो जाएं।

टर्की के प्रधानमंत्री—तुर्कीस्तान के प्रधानमंत्री मुसलमान हैं। गीता का नित्य पारायण करते हैं। पत्रकार पूछते हैं—आप गीता पढ़ते हैं क्या? हां पढ़ता हूं। उन्होंने कहा—यह कुफ्र की दुकान है। उन्होंने कहा—It gives me light consolation and solution how to solve and takle the problem. उसने कहा, इस्लाम से निकाल दिए जाएंगे। उन्होंने कहा मुल्ला-मौलवियों ने मुझे इस्लाम नहीं दिया। खुदा ने दिया है, ये कौन होते हैं मुझे इस्लाम से निकाल देंगे। पर मैं गीता रोज पढ़ता हूं। यह मुझे जीवन की समस्याओं का समाधान देती है और इसलिए उन्होंने गीता के कुछ श्लोकों को To devlop and control the morality. आज तुर्की के अन्दर वह उनकी शिक्षा का हिस्सा है।

भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. अबुल कलामजी भी नियमित गीता का स्वाध्याय करते हैं।

संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् तथा वर्ष 2001 में राष्ट्रीय सद्‌भावना पुरस्कार से सम्मानित आचार्य हनीफखां कहते हैं कि 'मेरा पंथ इस्लाम है किन्तु मेरा जीवन जीने का मार्ग श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है।

इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण—महाभारत और रामायण हमारे राष्ट्रीय महाग्रंथ हैं।

इण्डोनेशिया के मुसलमान राम को अपना राष्ट्रीय महापुरुष National Hero मानते हैं। वे बड़ी श्रद्धा के साथ रामलीला खेलते हैं। इस पर पाकिस्तान के राजदूत ने कहा कि कुरान में रामलीला का आदेश कहां है? इस पर इंडोनेशिया के राजदूत ने कहा—We have not changed our history. We cannot change our blood.

यदि भारत के मुसलमान इंडोनेशिया की तरह होते तो देश का विभाजन नहीं होता। सिंध, आधा पंजाब भारत से अलग नहीं होता। संस्कृति की उपेक्षा से देश की हत्या हो जाती है। 99 प्रतिशत मुस्लिम में हिन्दू रक्त है। यदि वे भारत की संस्कृति के प्रति उदार और श्रद्धाशील होते तो देश की हत्या नहीं होती।

यदि मुसलमान पुनः भारतीय संस्कृति को मानने लग जाए तो पुनः अपनी मातृभूमि पा सकता है। जब 1400 साल बाद यहूदी अपनी मातृभूमि को वापस पा सकता है तो हम पुनः एक क्यों नहीं हो सकते। अवश्य एक होंगे, गयी हुई भूमि वापस प्राप्त करने का सबको स्वप्न देखना चाहिए।

आज प्रश्न उठता है भारत के मुसलमानों की समस्या का हल क्या है? क्या रहीम और रसखान ने मार्गदर्शन नहीं किया, उशाउल्ला खां ने मार्गदर्शन नहीं किया। ये मुसलमान रहते हुए भारतीय संस्कृति को अपना सकते हैं तो अन्य क्यों नहीं?

यदि आज पुनः रहीम, रसखान, उशाउल्ला खां के पदचिह्नों पर चलने का संकल्प ले सके तो वह दिन दूर नहीं है जब भारत पुनः अखण्ड होगा और भारत का भाग्य क्षितिज पुनः मुसकाने लगेगा।

आधुनिक यूरोप में गीता का सर्वप्रथम परिचय 1776 ई. में हुआ जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के आदेश पर सर विल्किन्स ने गीता का अंग्रेजी अनुवाद किया। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अंग्रेज प्रशासकों ने अपनी न्यायिक एवं प्रशासनिक सुविधा के लिए गीता का अनुवाद कराया जिसने पूरे यूरोप के विचार जगत् में उथल-पुथल मचा दी। इसकी भूमिका में स्वयं गवर्नर जनरल वारेन हस्टिंग्स ने लिखा—'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के ध्वस्त हो जाने के उपरान्त भी भारतीय दर्शन के अमर गायक पूजे जाते रहेंगे। वह पुनः कहता है गीता का उपदेश किसी भी जाति को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने में अद्वितीय है।

दो वर्ष बाद फ्रेंच विद्वान् डुपरो ने गीता का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया। गीता का 700 श्लोक का छोटा-सा काव्य जिसने भोगवाद से पीड़ित पश्चिम की आत्मा को अत्यधिक शान्ति प्रदान की है। दार्शनिक श्लेगल इसको देखकर स्तम्भित हो गया। वह कहता है, 'यूरोप का सर्वोच्च दर्शन, उसका बौद्धिक अध्यात्मवाद जो यूनानी दार्शनिकों से प्रारम्भ हुआ, प्राच्य अध्यात्मवाद के अनन्त

प्रकाश एवं प्रखर तेज के सम्मुख ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्याह्न के प्रखर सूर्य के दिव्य प्रकाश के भरपूर वेग के सम्मुख एक मन्द-सी चिनगारी हो जो धीरे-धीरे टिमटिमा रही है और किसी भी समय बुझ सकती है।' मैजिनी के जीवन पर इसके उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ा। मृत्युशय्या पर पड़े हुए शोपनहार को गीता से इतना आत्मबल मिला कि वह स्वस्थ हो गया और उसे असीम शान्ति प्राप्त हुई।

जर्मन दार्शनिक शोपनहार तथा काण्ट, दोनों के दर्शन पर गीता के कर्तव्यवाद एवं निष्काम कर्मयोग की स्पष्ट छाप है। काण्ट भूगोल और Astronomy का शिक्षक था। वह कहता है मुझे भूगोल पढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न देशों की जानकारी करनी पड़ती थी। इसके साथ उन देशों का परिचय भी करना पड़ता था। इस तरह से मैं भारत से परिचित हुआ। मैं जैसे-जैसे उसका अध्ययन करता गया वैसे-वैसे उसके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गई।.....मैंने उसके तत्त्व चिन्तन में रुचि ली। गीता और उपनिषदों का फ्रेंच भाषा में जो अनुवाद छपा मैंने उसे पढ़ा और उसको मैंने आजीवन स्मृत रखा।

काण्ट पर गीता का ऐसा रंग चढ़ा कि वह भूगोल और Astronomy छोड़कर दार्शनिक बन गया। उसके दर्शन पर गीता का पूरा प्रभाव है।

काण्ट नैतिकता की कसौटी देते हुए कहता है प्रत्येक कार्य करते हुए विचार रखो कि तुम Kingdom of ends के सदस्य हो। प्रत्येक मानव अपने-आपमें एक End उद्देश्य, लक्ष्य है। वह मात्र दूसरों के हित या स्वार्थपूर्ति का साधन मात्र नहीं है। यह संसार एक Kingdom of ends मानव जाति में एक लक्ष्य है। वह किसी अन्य की सुख-सुविधा के लिए साधन मात्र नहीं अतः अपने आपको जीवन में एक उद्देश्य या लक्ष्य मानकर दूसरे मानव को भी अपने समान लक्ष्य मानकर हम सदा व्यवहार करें।

वह कहता है Moral laws without all ifs and but and condition. गीता के duty for the sake का पूरा प्रभाव उसके नैतिक सिद्धान्त पर पड़ा।

	काण्ट	**गीता**
(1)	कर्तव्य कर्तव्य के लिए किसी फल की आकांक्षा से रहित।	**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।** **मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।** 2/47, गीता
(2)	Nothing is good except the goodwill भाव संशुद्धि के अतिरिक्त विश्व में कोई वस्तु वरेण्य नहीं है।	**मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।** **भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।** 17/16, गीता

(3) शुद्ध विवेक राग-द्वेष से मुक्त है। नैतिक सिद्धान्त देश, काल, परिस्थिति, भावना निरपेक्ष सिद्धान्त है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।
12/17, गीता

महान् संगीतकार लुडविन वान बीथोवन—बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि महान् जर्मन संगीतज्ञ लुडविन बीथोवन भारतीय वेदान्त से प्रभावित थे। उन्होंने कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अतिरिक्त उपनिषद् और भगवद्गीता का भी अध्ययन किया था। बीथोवन ने अपनी डेस्क पर श्रीकृष्ण के इस संदेश को जड़वाकर रख लिया था। संदेश यह था—'जो है वह मैं हूं। जो था वह मैं हूं और मैं ही हूं वह जो सदा रहेगा।'

जर्मन कुमार की कथा—जोजेफ बर्बर नाम के अन्तर्राष्ट्रीय धर्म नियम (कानून) के महान् विशेषज्ञ हैं। हिटलर उनका परामर्श लिया करता था। वे कई वर्ष भारत में रहे। अपने प्रथम समागम में सन् 1950 के आसपास मैंने (पंडित भगवद्यत) उनसे पूछा—प्रिय महाशय! आप भारतीय बातों की ओर कैसे झुके। उत्तर में बोले—बर्लिन पर विमानों द्वारा बम गिर रहे थे। कारणवश मैं भूमिगत रक्षागृह के कोने में पड़ा था। विमान लौट गए। सायरन बजे। रक्षागृह के अन्दर ठहरे व्यक्ति दूसरे स्थान पर जाने के लिए दौड़ रहे थे। उस बम गिरने के स्थान के पास ही एक युवती देर से खड़ी थी। वह दौड़ी नहीं। मैं आश्चर्यचकित उसके पास पहुंचा। पूछा—आप जाती नहीं हैं? वह बोली, नहीं। क्यों? लोगों की गति देख रही हूं। क्या तुम्हारे मन में भय नहीं है? युवती बोली—अणु मात्र भी नहीं। मैंने और अधिक आश्चर्य से कहा, क्यों? उसने शांत भाव से उत्तर दिया—महाशय! मैंने गीता पढ़ी है। मृत्यु और जीवन समान हैं। मेरे रोंगटे खड़े थे। मैं सोच नहीं सका कि ग्रंथ पढ़ने का इस पर ऐसा प्रभाव हुआ। बस उसी क्षण से मेरे हृदय में आर्य संस्कृति के प्रति श्रद्धा जम गई। मैं गीता पढ़ता हूं। ।। इति।।

कर्नल आल्काट ने एक ऐसे आदमी की कथा लिखी है जो भू-मर्ग की खान में कुछ पढ़ रहा था। वह अपने विश्राम का काल अध्ययन में लगा रहा था और आल्काट महाशय के पूछने पर उत्तर दिया—गीता पढ़ रहा हूं।

चेकोस्लोवाकिया के प्रथम राष्ट्रपति मैसरिक का प्रेरणास्पद संस्मरण—सन् 1930 की बात होगी। भारतीयों का एक दल योरप भ्रमण हेतु गया था। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् चेकोस्लोवाकिया, एक नया राष्ट्र, योरप में बना था। योरोप के अन्य देशों का भ्रमण करते-करते जब यह दल चेकोस्लोवाकिया देश का संग्रहालय देखने के लिए पहुंचा तो एक बड़े हॉल के मध्य एक सुन्दर

अलमारी में स्वर्ण मंडित एक पुस्तक देखकर स्तम्भित हुआ। पूछने पर कि इतने बड़े हॉल के बीचोबीच एक अलमारी में केवल एक ही पुस्तक क्यों रखी गई है, गाइड ने एक मनोरंजक तथा प्रेरणास्पद कथा सुनाई। उसने कहा—हमारे गणतंत्र देश के प्रथम राष्ट्रपति जनरल मैसरिक महोदय की स्मृति स्वरूप यह पुस्तक रखी गई है। सन् 1917 के जर्मन युद्ध में जनरल मैसरिक महोदय रूस में बंदी बना लिए गए थे और उन्हें मृत्युदंड दिया गया।

दो सप्ताह बाद उन्हें फांसी पर झूलना था। अतः वे मृत्युदण्ड पाए हुए कैदियों की कोठरी में खिन्न और चिंतित मन से गिन-गिनकर अपने दिन काट रहे थे। उनकी काल कोठरी की बगल में मृत्युदण्ड प्राप्त एक अन्य फ्रेंच जनरल मस्ती और मौज में गाते-बजाते रह रहे थे जैसे उन्हें पता ही न हो कि दो हफ्ते बाद उन्हें संसार छोड़ देना है। राष्ट्रपति महोदय ने उनसे इस विशेष मस्ती का कारण पूछा। फ्रेंच जनरल का जवाब था—'यह शरीर तो नाशवान है अतः फिर नाशवान वस्तु के लिए शोक और क्या मोह।' पर यह भावना और तदनुसार आचरण कैसे सम्भव बने, पुनः प्रश्न हुआ। साथी ने एक पुस्तक भेंट करते हुए कहा—'मुझे इस ग्रंथ से शोक-मोह निवारण की प्रेरणा प्राप्त हुई, इसे आप भी देखें और निर्भय बनकर प्रसन्न मन रहें।' मैसरिक महोदय ने उस पुस्तक का अध्ययन और मनन किया और उनके विचारों में गहरा परिवर्तन हुआ। दैवयोग से उन्हीं दिनों रूस में अक्टूबर क्रान्ति सफल हुई और जारशाही का तख्ता उलट गया। फलस्वरूप मृत्युदण्ड प्राप्त सब बन्दी जेलों से छोड़ दिए गए और युद्ध के बाद जब हमारा नया राष्ट्र बना और इसके प्रथम राष्ट्रपति जनरल मैसरिक चुने गए तो उन्होंने उस भेंट की हुई पुस्तक को जिसके अध्ययन और मनन से उन्हें शान्ति और संतोष प्राप्त हुआ था, अपने पिछले बन्दी जीवन की स्मृति स्वरूप राष्ट्र को भेंट कर दिया। प्रतिनिधि दल उस पुस्तक को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। पश्चिम के हजारों मील दूर विदेशी राष्ट्र में इतना उच्च सम्मान प्राप्त वह पुस्तक उन्हीं के भारत देश की श्रीमद्भगवद्गीता थी।

अमेरीका के बहुत बड़े दार्शनिक थोरो, हम तो उसके दीवाने हैं। हमने उस पर Thesis लिखी है। हम उसकी भूमि पर होकर आए हैं। हमने उनके बारे में बहुत प्यार से पढ़ा है। हम समझते हैं कि थोरो के ऊपर हम निछावर हो जाएं। अमेरीका का दार्शनिक जो बोस्टन में रहने वाला था। यह बोस्टन में अपना घर छोड़ करके वहां से 15-20 किलोमीटर दूर वोल्डेन नामक तालाब था, जंगल था, वहां आश्रम बनाकर रहता था। एक बार इमर्सन से मिलने को आया। इमर्सन उससे पत्राचार करता रहता था। थोरो पूछता है इस सप्ताह का सबसे बड़ा समाचार क्या है। इमर्सन कहता है सबसे अच्छी खबर यह है चार्ल्स विल्किन्स का अंग्रेजी गीता

अनुवाद मेरी लाइब्रेरी में पहुंच चुका है। थोरो ने उस गीता को देखा और कहा—मैं अपने आश्रम में पढ़ने के लिए ले जाता हूं। इमर्सन ने कहा, मैंने लाइब्रेरी के लिए मंगाया है पढ़ने के लिए। थोरो ने कहा, गीता लाइब्रेरी में पढ़ने की वस्तु नहीं है। गीता आश्रम में पढ़ने की वस्तु है। तो मैं क्या करूंगा? तुम रोज मेरे पास आओ प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्त में। रोज इमर्सन बोस्टन से 20-25 मील दूर वाल्डेन में थोरो के आश्रम में गीता पढ़ने जाता था। एक दिन देखा कि थोरो की चौकी के नीचे बहुत से सांप पड़े हुए हैं और थोरो ध्यान मग्न था, वह डरकर चला गया। फिर दो घण्टा बाद पुन: आया तो उसने थोरो से कहा कि आप यहां न पढ़ें। यहां आपके प्राणों को खतरा है। सांपों से, जंगली पशुओं से। थोरो ने कहा, तुम मुंह छिपाकर पीठ करके तुरन्त चले जाओ और कभी अपना मुंह मत दिखाना। गीता मुझे आत्मा की अमरता का संदेश देती है और तुम मौत का भय दिखाते हो। मैंने तो मौत को भी फांसी दे दी है और तुम मुझे मौत से डराते हो। तब इमर्सन ने माफी मांगी कि ऐसी गलती फिर कभी नहीं होगी। और तब उसे समझ में आया गीता लाइब्रेरी में पढ़ने की वस्तु नहीं वरन् आश्रम में पढ़ने का ग्रंथ है।

जब थोरो जंगल की नदी में स्नान करता था तब मछलियां उसके ऊपर आकर खेलने लगती थी, गिलहरियां उसके कंधों पर नाचने लगती थी, पक्षी उसके हाथ और कंधे पर कलरव करते थे। पर जब इमर्सन आता था तो उसे देखकर सभी मछलियां पानी में भाग जाती थी, गिलहरियां वृक्षों पर चढ़ जाती थी। पक्षी उड़ जाते थे। तब इमर्सन ने पूछा, मुझे देखते ही क्यों भाग जाती हैं। तब थोरो ने कहा, तुम अवश्य मांस खाते होगे। ये सब जानते हैं कौन मेरा रक्षक और प्रेमी है और कौन मेरा भक्षक है। यह कहकर थोरो ने इमर्सन का मांस खाना छुड़वाया।

हेनरी थोरो और इमर्सन—ये दोनों नाम सिर्फ अमेरीका में ही नहीं वरन् सभी यूरोपीय देशों में गूंज गए। क्यों? स्वामी रामतीर्थ ने हेनरी थोरो को ब्रह्मनिष्ठ बताया। क्यों? स्वयं इमर्सन की कलम से थोरो के जीवन का एक शब्दचित्र देखिये। थोरो के लिए इमर्सन लिखता है कि—'मैं थोरो से मिलने उस निर्जन विपिन में गया जहां वह एकान्तवास कर रहा था। तो क्या देखता हूं कि इस वन में सर्प बहुत हैं, मधुमक्खियों की भरमार है और कई-कई सर्प तो अक्सर थोरो की बांहों में तो कभी पैरों पर चढ़ चिपट जाते थे। लेकिन थोरो न उन्हें अपने शरीर से परे करता था और न किंचित् भी उनसे डरता था। और वे उसके पैरों व बांहों में चिपटे रहते थे। उनका बिस्तर देखा तो उसमें तमाम मधुमक्खियां डेरा जमाए हुए थी। गोया वे थोरो की मित्र हों और थोरो उन्हीं मधुमक्खियों से सटे बिस्तर पर आराम से बैठकर पढ़ता-लिखता रहता, चिन्तन-मनन करता। एक भी मधुमक्खी को न वह बिस्तर से हटाने की कोशिश करता न उसकी परवाह

ही करता। थोरो पढ़ता रहता उस पर सुखासीन हो और मधुमक्खियां उसके साथ तराने गाती रहती।

एक दिन थोरो के साथ उस विपिन में घूम रहा था तो उससे पूछ लिया कि इस इलाके के जो प्राचीन निवासी, वनवासी लोग हैं, जो तीर-कमान रखते हैं—उनके तीर तो यहां देखने को मिल सकते हैं न? थोरो ने जवाब दिया—क्यों नहीं। जिस जगह चाहो वे तीर देख सकते हो, कहने के साथ ही वे बगल की एक झाड़ी में झुके और फौरन वहां से वनवासी लोगों का एक तीर उठाकर मुझे थमा दिया, कहा—'यह लो तीर उन लोगों का है। है न वही' मैं चकित हुआ। मुंह से तीर शब्द निकलते ही थोरो को यहां इतनी आसानी से कैसे मिल गया? इसी को शायद दृष्टि सृष्टिवाद कहते हैं।

फिर थोरो ने इमर्सन को अपना लिखा ग्रंथ वाल्डन (Waldone) दिखाया। इमर्सन ने उसमें देखा, भगवद्‌गीता और उपनिषदों की महिमा थोरो ने जगह-जगह दर्ज कर रखी है। थोरो ने उस ग्रंथ (वाल्डन) में लिखा है—सवेरे उठते ही मैं अपने दिल और दिमाग को, विवेक को भगवद्‌गीता रूपी पवित्रतम गंगाजल से स्नान कराता हूं। गीता का तत्त्वज्ञान सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है—इसे हजारों साल पहले देवताओं ने ही लिखा था लेकिन तब से आज तक दुनिया में इसकी टक्कर का ग्रंथ नहीं लिखा जा सका। आज के युग में नई सभ्यता ने असीम वैज्ञानिक प्रगति तथा शिक्षा में कितने ही कीर्त्तिमान कायम किए हों, लेकिन गीता ज्ञान की तुलना में ये सब उपलब्धियां बहुत छोटी मालूम पड़ती हैं, नगण्य प्राय। गीता का ज्ञान हमारी परिकल्पना और विचारों से इतना परे और पृथक् लगता है कि सोचना पड़ता है कि 'गीता' किसी और ही युग की देन है।

संसार में कितने ही स्मारक खड़े किए गए। मिस्र देश के पिरामिड भी बने लेकिन मैं देखता हूं कि उस पुरानी दुनिया के जितने भी स्मारक हैं—वे सब मिलकर भी गीता का मुकाबला नहीं कर सकते क्योंकि मेरे विचार से 'गीता' उस प्राचीन युग का श्रेष्ठतम स्मारक है और वह महान् ज्ञान-स्मारक है।

हेनरी थोरो जीवनान्त तक उपनिषदों और गीता के तत्त्वज्ञान को अन्तर में बसाए रहा—उसे जीवन में उतारने में सचेष्ट रहा। इसका अभ्यास करता रहा। आजीवन अविवाहित और विरक्त जीवन बिताया। यही हाल इमर्सन का था। उसके प्रेरणास्रोत भी 'गीता और उपनिषद्' ही थे। अपने लेखन के पदे-पदे वह 'गीता' और उपनिषद् को बतौर प्रमाण पिरोता चलता था और यही वह इमर्सन था—जिसने पश्चिम के वैचारिक जगत् में नयी जागृति पैदा की और अमेरीका का सर्व प्रसिद्ध रचनाकार माना गया।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अंतिम बार अमेरीका गये थे तो उन्होंने महात्मा थोरो के घर जाकर उनके आश्रम के दर्शन किए। आश्रम स्वामी से, रवीन्द्र ने पूछा कि महात्मा थोरो किस वस्तु को सबसे अधिक प्यार करते थे? गृहस्वामी ने एक पुस्तक दिखाकर कहा कि इसी वस्तु को वह सबसे अधिक प्यार करते थे, उनकी स्मृति की रक्षा के लिए यह पुस्तक पूज्यभाव से सुरक्षित रखी गई थी। उत्कंठापूर्वक कवीन्द्र ने जब उस पुस्तक को देखा तो वह पुस्तक गीता थी।

थोरो गोलोक में केवल 32-33 वर्ष जीया फिर उसके बाद शरीर छोड़कर चला गया। बड़ा ही तेजस्वी आदमी था। थोरो की स्मृति को लेकर इमर्सन ने गीता का प्रचार शुरू किया। इमर्सन एक चर्च में पादरी था। और उसने रविवार को चर्च में गीता पढ़ानी प्रारम्भ की। लोगों ने शिकायत की तुम्हें बाइबिल पढ़ाने को रखा गया है, तुम काफिरों की पुस्तक क्यों पढ़ा रहे हो। उसने कहा यदि तुम्हें Universal Bible चाहिए तो वह भगवद्गीता है। यदि आपको क्रिश्चियन बाइबिल चाहिए तो यही पड़ी रहने दो। उसने चर्च की नौकरी त्याग दी लेकिन भगवद्गीता को ह्रदय से लगाया। और सारे संसार में भगवद्गीता का प्रचार शुरू किया। उस समय इंग्लैण्ड में बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ था, उसका नाम था कार्लाइल। अंग्रेजी का बहुत बड़ा लेखक था। इंग्लैण्ड में कार्लाइस यूनिवर्सिटी है। कार्लाइल ने कहा—मेरे मित्र! तुम डालरों के देश से आए हो। तुम मेरे लिए क्या उपहार लाए हो? उसने कहा—मुझे शर्मिन्दा मत करो। सांस्कृतिक दृष्टि से हम दिवालिये हैं। हमारे पास अपना कुछ भी नहीं है। हमारी जाति यूरोप से गई है, धर्म हमारा यहूदियों का दिया हुआ है, इजराइल से गया हुआ है। इसलिए अमेरीकन नाम से अपना कुछ है ही नहीं जो आपको हम कुछ दे सकें। और आंखों में आंसू आ गए। अरे यार, मैंने उपहार मांगा और तुम आंसू बहाने लगे। तो तुमने मुझसे आज उपहार मांगा है तो आज मैं तुम्हें जीवन की सबसे बड़ी दौलत बांट रहा हूं। जिसे मैं किसी को नहीं दे सकता था। मेरे लिए पावनतम और पवित्रतम वस्तु थी पर आज आपने उपहार मांगा तो दे रहा हूं। उसने जेब से भगवद्गीता की पोथी निकाली। मेरे मित्र! गुरु थोरो प्रतिदिन प्रात:काल गीता के अमृत जल से स्नान करते थे, इस गीता का पाठ प्रतिदिन करते थे। गीता का पाठ करते हुए श्रद्धा के आंसुओं से पवित्र हुई गीता की पोथी मेरी जिन्दगी की सबसे बड़ी दौलत थी यही गीता की पोथी आपको दे रहा हूं। कार्लाइल ने उसकी पीठ पर हाथ रखा और कहा—मेरे मित्र! जैसे लगता है तुम मेरे मन की बात ताड़ गए हो। क्या तुम मुझे देने के लिए गीता लाए हो? मैं तुझे देने के लिए क्या लाया था? मैं भी तुझे देने के लिए भगवद्गीता ही लाया था। और कार्लाइल ने भी अपनी जेब से भगवद्गीता निकाली और इमर्सन को दी। कार्लाइल इंग्लैण्ड

का सबसे बड़ा दार्शनिक, और इमर्सन अमेरीका का सबसे बड़ा दार्शनिक परस्पर मिलते हैं, इंग्लैण्ड में मिलते हैं और परस्पर गीता भेंट करते हैं।

यह घटना एक मैगजीन में छपी। और वह मैगजीन मसूरी से एक युवक को, जो नया-नया एम.ए. पास करके Philosophy का Lecturer लगा था, उसके हाथ में मैगजीन पड़ी। रात भर वह मैगजीन पढ़ता रहा। उसने पढ़ा इंग्लैण्ड का सबसे बड़ा दार्शनिक और अमेरीका का सबसे बड़ा दार्शनिक एक-दूसरे से इंग्लैण्ड में मिलने पर एक-दूसरे को भगवद्गीता भेंट करते हैं। तब हमें पाश्चात्य दर्शन से क्या लेना है? जब पश्चिम वाले भी गीता पर मुग्ध हैं तो उसने पाश्चात्य दर्शन की किताबों को ताक पर रख दिया और गीता स्वाध्याय में लग गया। धर्म क्षेत्रे-कुरु क्षेत्रे....।

उस भगवद्गीता की कृपा से वह हिन्दुत्व का, भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा व्याख्याता और इस युग की दार्शनिक मनीषा का मणिमुकुट बना। डॉ. राधाकृष्णन् भारत का राष्ट्रपति भी हुआ। उस राधाकृष्णन् के जीवन में परिवर्तन करने वाली है यह भगवद्गीता। जिसको गीता ने कितना महान् व्याख्याता बना दिया।

इस घटना का प्रभाव भाई परमानन्द पर भी हुआ। वे कहते हैं अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के बाद मुझे खयाल हुआ कि वह कौन-सी पुस्तक है जिसे मैं अपने स्वाध्याय के लिए हर समय अपने साथ रख सकता हूं। कार्लाइल की लिखी किताब 'सारटर रिसार्टस' ने मेरे दिल पर इतना गहरा असर डाला कि मैंने उसे अपना साथी बना लिया। कुछ समय गुजर गया। अब मुझे यह बात पढ़ने को मिली कि एक बार अमेरीका का एकमात्र प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन कार्लाइल से मिलने गया। विदा के समय कार्लाइल ने इमर्सन को भगवद्गीता की एक प्रति उपहार स्वरूप भेंट की, इस घटना ने मेरे अन्दर परिवर्तन उत्पन्न किया। मैंने 'सारटर रिसार्टस' को अलग रख दिया और उसकी जगह भगवद्गीता को अपने साथ कर लिया।

अमेरीका का पत्रकार क्रिस्टोफर ईश्रवुड, वह कहता है जब मैं बच्चा था तो मुझे Sunday bible school में भेजा गया। तब वहां पर उसको यह कल्पना दी गई कि एक खुदा दूर ऊपर सातवें आसमान पर बैठा है और उसकी कचहरी अभी बंद है। कयामत के दिन के बाद उसकी कचहरी खुलेगी। उसने Sunday bible school में पढ़ाने वाली Lady teacher से पूछा, कयामत कब आएगी? उसने कहा— देखो जी! दस-दस हजार वर्ष के दस हजार युग बीत जाएंगे उसके बाद कयामत का दिन आएगा तब खुदा की कचहरी खुलेगी। तब आदमी के अच्छे-बुरे कर्मों का फैसला होगा। उसने कहा—मेरी बाल बुद्धि ने ठोकर मारकर कहा, ऐसे खुदा की क्या जरूरत? मैं जी रहा हूं, आज मेरे साथ कोई अन्याय करे, मेरा सामान छीन लेवे, अन्यायपूर्वक मुझे थप्पड़ मार दे, चोट मार दे, मेरा धर्म लूट ले,

मेरा सामान लूट ले, मेरी इज्जत पर हमला करे, मुझे तो न्याय चाहिए। खुदा के राज्य की कचहरी तो बंद है। कब तक? 10000×10000 दस हजार गुणा दस हजार वर्ष यानी अरबों वर्ष तक, ऐसे खुदा की क्या जरूरत है? कहते हैं इससे तो एक धरती का मजिस्ट्रेट भी खुदा से बहुत अच्छा होगा। ऐसा खुदा बेकार है। ऐसे खुदा को लेकर मैं क्या करूं। मुझे ऐसे भगवान् में विश्वास नहीं है। तो कान मरोड़कर टीचर ने कहा—कहो ईश्वर है। नहीं, मैं नहीं मानता ऐसे खुदा को। मैं ऐसे खुदा को मानने को तैयार नहीं हूं। और उसने बाइबिल स्कूल छोड़ दी। बहुत पहले लोगों ने ईसा को फांसी पर चढ़ाया था। मैंने खुदा को ही फांसी पर चढ़ा दिया। कोई खुदा नहीं। वह इसी विश्वास में जीने लगा। लड़का होशियार था। बुद्धि का तेज था। पढ़-लिख गया। कुछ कविता लिखने लगा, कुछ लेख लिखने लगा, धीरे-धीरे उपन्यास भी लिखने लगा। गहरे विचारों पर लेख लिखने लगा। अच्छा पैसा कमाने लगा। भवन बना लिए, कारें बना ली, सामाजिक प्रतिष्ठा भी हो गई। कहने लगा खुदा कुछ नहीं है। खुदा के बिना ही भवन बना लिया। कारें बना ली, प्रतिष्ठा बना ली। खुदा कुछ नहीं है। खुदा का मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है। खुदा के बिना मैं बहुत कुछ सफल हो गया हूं। अतः बिना ईश्वर की कृपा के मैं लेखक, साहित्यकार, उपन्यासकार, पत्रकार, कवि बन गया हूं। खुदा कुछ नहीं है। मनुष्य ही सब कुछ है। अचानक कोरिया में युद्ध छिड़ा तो चीन ने कोरिया पर हमला कर दिया। उत्तरी कोरिया को चीन ने खा लिया। दक्षिणी कोरिया की रक्षा के लिए अमेरीका ने Jump किया। अमेरीका को 10-12 हजार मील दूर से सैनिक उड़ाकर लाने पड़ते थे। चीन का प्रदेश साथ लगता था। चीन ने लगभग सत्तर लाख सैनिकों को स्वाहा कर दिया। अमेरीका को धूल चाटनी पड़ी। वहां ईश्रवुड ने देखा—अमेरीका के खूब सुन्दर, गोरे-चिट्टे जवान सैनिक खूब चमकते हुए, उछलते हुए गीत गाते हुए आ रहे हैं और अचानक एक बम गिरता है और मनुष्य के शरीर के चिथड़े उड़ जाते हैं। वह कहता है मैंने सोचा था कि मनुष्य सब कुछ है। और इस मनुष्य की यह दुर्दशा। मनुष्य तो राक्षस है। मनुष्य मनुष्य को मार रहा है, मनुष्य-मनुष्य को खा रहा है। क्या हो रहा है? मैं समझा था जवानी ही सब कुछ है और यहां जवानी के चिथड़े उड़ रहे हैं। सबसे धनी देश अमेरीका के खूबसूरत जवान बड़ी उमंगों से उछलते-कूदते हुए, गाते-संगीत बजाते हुए, कोई गिटार बजा रहा है, रणभूमि में उछलते हुए आते हैं, चीन बम गिरा रहा है और उन सैनिकों की बोटी-बोटी बिखर गई। मैंने बहुत से भवन बनाए हैं। यहां भी बहुत से भवन हैं। एक बम गिरता है भवन का जर्रा-जर्रा बिखर जाता है। मैंने सोचा पैसा सब कुछ है, पर बड़े-बड़े बैंकों को आग लगती है और गड्डियों के गड्डी नोट जलकर राख। नोटों की गड्डियां जिनके नम्बर और नाम दिख रहे हैं पर जलकर राख हो गए हैं। मैंने सोचा मनुष्य सब कुछ है। मनुष्य भेड़िया है। मैंने सोचा जवानी सब

कुछ है। जवानी जलकर खाक हो रही है। मैंने सोचा भवन सब कुछ है, भवन के ईंट-पत्थर बिखर रहे हैं। मैंने सोचा धन सब कुछ है। धन धूल में बिखर रहा है। फिर मैंने सोचा खुदा को मैंने छोड़ दिया। खुदा में विश्वास नहीं है, खुदा को मैंने माना नहीं। मैंने सोचा मनुष्य सब कुछ है, धन सब कुछ है, भवन सब कुछ है, कारें सब कुछ है ये सब कुछ तो भस्म हो रहे हैं। खुदा को मैं मानता नहीं हूं। तो मैं किसके लिए जीऊं। मनुष्य के लिए जो भेड़िया हो रहा है जवानी के लिए जो धूल हो रही है, भवन जिसकी ईंटें बिखर रही है। खुदा के लिए जिसको मैं मानता ही नहीं हूं। क्योंकि वह मेरे से बहुत दूर सातवें आसमान पर बैठा है जो एक अरब वर्ष बाद मेरे अच्छे-बुरे का फैसला करेगा। पर ऐसा ईश्वर मेरे किस काम का? तो प्रश्न शेष रह जाता है मैं किसके लिए जीऊं?

तो वह हताश-निराश चोट खाये हुए व्यक्ति के समान अमेरीका में लौटकर आया। खोजता रहा मैं किसके लिए जीऊं। क्या जीवन जीने योग्य है? बार-बार अपने आप से पूछता कि मैं किसके लिए जीऊं। मुझे कोई खूँटी नहीं मिली जिस पर मैं जिन्दगी को टांग सकूं। जिन्दगी को जीने के लिए कोई खूँटी, कोई आधार, कोई विश्वास, कोई आस्था चाहिए।

गीता में भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।। 17/3, गीता

पुरुष श्रद्धामय है। जो जिसकी श्रद्धा वही वह स्वयं है। उसकी श्रद्धा छीन लो तो वह मिट्टी के तुल्य है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की ज्वलन्त राष्ट्रभक्ति छीन लो, भगवान रामचन्द्रजी की मर्यादा छीन लो, उनकी मातृ एवं पितृ भक्ति छीन लो, तब राम दो कौड़ी का नहीं बचा। भगवान् कृष्ण का निष्काम कर्मयोग छीन लो, फिर क्या बचेगा? गांधी से सत्य, अहिंसा छीन लो तब गांधीजी का क्या मूल्य बचेगा, ईसा से प्रेम छीन लो, बुद्ध से करुणा छीन लो, महावीर से जीवदया छीन लो। 'श्रद्धामयो अयम पुरुषः' भगवान् कहते हैं—मनुष्य श्रद्धामय है। जो जिसकी श्रद्धा है वही वह स्वयं है। जो शरीर उसका दिखता है वह उसका असल व्यक्ति नहीं है। सुभाष शरीर नहीं है। शरीर तो कभी का लुप्त एवं गुप्त हो गया है। जिस सुभाष को हम रोज पूजते हैं उसकी श्रद्धा को पूजते हैं। गांधी का शरीर तो गोली का निशाना बनकर कबका खत्म हो गया है। गांधीजी को जो सम्मान देते हैं वह उनकी श्रद्धा को देते हैं। हरिश्चन्द्र का, राम का, कृष्ण का शरीर कहां है? सबके शरीर समा गए हैं। तब पूज क्यों रहे हैं? उसकी श्रद्धा को पूज रहे हैं।

पुरुष श्रद्धामय है। जो उसकी श्रद्धा है वही तो स्वयं वह है। असली मनुष्य श्रद्धामय है। दिखने वाला मनुष्य बाहर का लिफाफा है। लिफाफा छिन जाएगा,

फट जाएगा, लुप्त हो जाएगा। श्रद्धा मिटेगी नहीं, श्रद्धा अमर रहेगी। श्रद्धा को लोग युग-युग तक पूजेंगे। क्रिस्टोफर ईश्रवुड कहता है मैं ईश्वर को इसलिए नहीं पूजता क्योंकि मेरी श्रद्धा नहीं बची। मुझे जीवन को टांगने के लिए कोई खूंटी नहीं बची। क्या जीवन जीने योग्य है? बार-बार अपने को पूछता है? अन्त में निष्कर्ष निकला जीवन जीने योग्य नहीं है? क्योंकि कोई खूंटी नहीं मिली जिस पर जीवन को टांग सके। बढ़िया सूट सिलवाया। घर में लाया तो टांगने के लिए खूंटी नहीं मिली। बढ़िया को धूल में कहां फेंके? जीवन के लिए खूंटी चाहिए वह उसको मिल नहीं रही है। जीवन जीने योग्य नहीं है? मैं आत्महत्या कर लूंगा। आत्महत्या का विचार करके कई बार जंगल के किनारे गया, नदियों के किनारे गया, समुद्र के किनारे गया। फिर सोचा कि शायद जीने का कोई कारण मिल जाए। फिर एक दिन ईश्रवुड ने अपने को कोसा कि तू कमीना हो गया है, तुम कायर हो, डरपोक हो, तुम रोज निश्चय करते हो आत्महत्या कर लोगे फिर लौट आते हो। आज तुम आत्महत्या कर लोगे। अगर तुम सच्चे बाप के बेटे हो तो आज आत्महत्या करके रहोगे। यह निश्चय करके घर से निकला। पिस्तौल को भर लिया। छह गोली उसमें भरी हुई है आज अपने को खत्म कर लोगे।

जब चला तो अमेरीका के कैलीफोर्निया स्टेट में होलीवुड नामक बड़ा प्रसिद्ध नगर है। जहां पर पश्चिम की फिल्म अभिनेत्रियां, फिल्म अभिनेता बहुत ज्यादा रहते हैं। जैसे बम्बई को कहा जाता है। बालीवुड फिल्म इंडस्ट्री के कारण। तो पश्चिम में होलीवुड अमेरीका में है जो फिल्म इंडस्ट्री का बहुत बड़ा केन्द्र है। संयोगवशात वहां एक रामकृष्ण मिशन है। रामकृष्ण मिशन के स्वामी प्रभवानन्दजी कुछ शिष्यों के साथ बैठे हुए थे और सत्संग-गोष्ठी कर रहे थे। आधा दरवाजा आश्रम का खुला हुआ है। ईश्रवुड बाहर से जा रहा है। जेब में पिस्तौल लिए हुए जा रहा है। स्वामीजी ने देखा, अरे! ये कौन? ईश्रवुड है क्या? क्यों जा रहा है? हां स्वामीजी, यह ईश्रवुड है। क्या हो गया इसको। बाल बिखरे हुए, फटे हुए कपड़े पहने हुए, चेहरे से उसके हवाइयां उड़ रही है। अजीब किस्म की ड्रेस पहने हुआ है, कैसे जा रहा है? इतना बड़ा आदमी, इतना बड़ा लेखक कैसे जा रहा है? शिष्यों ने कहा— हां-हां, स्वामीजी! कुछ समय से पगला गया है। कहता है आत्महत्या करूंगा? स्वामी ने कहा, बुलाओ-बुलाओ। उसे कौन बुलाएगा? स्वामीजी ने कहा, नहीं, बुलाओ उसे। तब उसे बुलाया। दरवाजे पर रुक गया। और स्वामीजी को गाली देने लगा। स्वामी ने कहा, आओ, बैठो, मन की बातचीत करो। क्या बात है बताओ। नहीं स्वामी! धर्म के ठेकेदारों से मुझे बहुत घृणा है, मैं नहीं सुनूंगा आपकी बात। क्या करने जा रहे हो? मैं आत्महत्या करने जा रहा हूं। आज मैंने प्रतिज्ञा की है कि अगर असल बाप का बेटा हूं तो

आत्महत्या करके रहूंगा। स्वामीजी ने कहा तुम आत्महत्या के लिए स्वतंत्र हो, कोई तुम्हें रोक नहीं सकता। मेरी बात सुनने के बाद आत्महत्या का स्कोप बना रहेगा। आत्महत्या तो उसके बाद भी कर ही सकते हो। आत्महत्या करने के बाद तो मेरी बात सुनने नहीं आ सकते हो। आओ, मेरे से बातचीत करो। ईश्रवुड ने कहा—ओ स्वामी! मैं तेरी बात केवल एक शर्त पर सुन सकता हूं। स्वामीजी ने कहा, क्या बात है? अगर आप मुझे शान्ति नहीं दे सके तो मैं अपने को गोली मार दूंगा। स्वामीजी ने कहा— आओ प्यारे, आ जाओ। हम इसके लिए भी तैयार हैं। बड़े अचम्भे में, विस्मय से भरे मन से ईश्रवुड आया। उसको थाम करके स्वामीजी ने कहा, क्या बात है? क्यों तुम इतने परेशान होते हो? स्वामीजी मैं आत्महत्या करने जा रहा हूं। क्या मतलब इसका? I kill myself. स्वामीजी ने कहा Kill you self. क्या तुम अपने आप की हत्या कर सकते हो? हां। स्वामी ने कहा लिख दो, तो उसने लिख दिया। स्वामीजी ने कहा क्या तुम अपने Self को मार सकते हो? उसने कहा yes. स्वामीजी ने कहा, कैसे? पिस्तौल निकाल कर दिखाया। स्टीगर दबाया, गोली चली और मैं खत्म हुआ। स्वामीजी ने कहा, आखिरकार तुम केवल अपने शरीर को ही मारोगे न। Self को कैसे मारोगे। उसने कहा, ओ स्वामी! Body ही तो Self है। ईश्रवुड तुम भूल कर रहे हो। Body Self नहीं बिल्कुल। सारी दुनिया कहती है Body Self है आप कहते हैं Body Self नहीं है। तब स्वामीजी ने उसको ऐसी प्रणाली में डाला जैसा कि स्वामी रामतीर्थ में और टिहरी गढ़वाल के नरेश राजा कीर्तिशाह के बीच में हुआ। एक बार टिहरी गढ़वाल के नरेश ने पूछा—स्वामीजी! क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं। स्वामीजी ने हंसकर कह दिया, नहीं। तो उसने कहा वाह स्वामीजी आप दुनिया के देशों में अमेरीका में, जापान में इतना प्रचार करके आए हैं और आप कहते हैं ईश्वर में विश्वास नहीं करते हैं। तब स्वामीजी ने कहा, भोले राजा To see God is to be God. ईश्वर को देखने से ईश्वर ही बन जाता है। जानई तुम्ही तुम्ही होई जाई। **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।** ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म बन जाता है। हम तो नित्य ब्रह्म के साथ ही विहार करते हैं उसके साथ रहते हैं। उनके साथ हंसते-गाते, खेलते खाते, उठते-बैठते हैं। वह तो मेरा सबसे प्यारा सबसे निकटतम है। मेरे अन्तर में ही बैठा है। और आप कहते हैं विश्वास। तो विश्वास तो उसका किया जाता है जिसको देखा न हो, जो बहुत दूर हो, तब हम कहते हैं विश्वास कर लो, मान लो। मानने वाली बात नहीं है, जानने की बात है। जान लिया है तो बन गया।

कीर्तिशाह—तब स्वामीजी! क्या आप मेरी ईश्वर से भेंट करवा देने की कृपा करेंगे?

स्वामीजी—क्यों नहीं, अवश्य। देरी क्या है? आप जल्दी ही साक्षात्कार के लिए आवेदन पत्र बनाइये। तो जल्दी ही कागज लेकर आवेदन तैयार किया।

राजा कीर्तिशाह ने आवेदन पत्र में लिखा—हे सर्वशक्तिमान परमेश्वर! सादर निवेदन है कि मुझे आपसे साक्षात्कार की अनुमति प्रदान की जाए।

—आपका विश्वासी, कीर्तिशाह

स्वामीजी—राजा! आप अपने पत्र में पक्का नाम-पता लिख दो।

कीर्तिशाह—स्वामीजी मैंने अपना नाम कीर्तिशाह लिख दिया है। और पक्का पता, महाराजा टिहरी गढ़वाल राज्य भी लिख दिया है।

स्वामीजी—राजा! क्या तुम्हारा कीर्तिशाह वास्तविक नाम है?

राजा—हां स्वामीजी!

स्वामीजी—जब आप माता के गर्भ से प्रकट हुए तो क्या यह नाम आपके माथे पर लिखा था?

राजा—नहीं स्वामीजी! यह नाम तो कुछ वर्षों बाद घर वालों ने ज्योतिष के परामर्श पर रख दिया।

स्वामीजी—बोतलें किसी और Factory में बनती है और लेबल किसी और Factory में लगती है। इसलिए मनुष्य नाम लेकर नहीं आता। नाम जन्मजात नहीं होते। नाम तो कल्पित होते हैं। केवल लोक व्यवहार के लिए कल्पना से रख लिया जाता है और आवश्यकतानुसार बदले भी जा सकते हैं। इसलिए आप नाम नहीं है। नाम आपके शरीर पर अस्थायी रूप से चिपकाया हुआ लेबल मात्र है जो संसार ने दिया है और संसार ही छीन लेगा। आपका व्यक्तित्व नाम से पृथक्, नाम के बंधन से मुक्त, अनामी है।

एक नाम वाले अनेक मनुष्य होते हैं। एक मनुष्य के अनेक नाम भी होते हैं। एक का नाम है रामदास। रामदास के नाम की लाटरी निकल आए एक लाख रु. की तो बहुत से रामदास नाम के व्यक्ति निकल आएंगे कि मेरा नाम रामदास, तो मेरा नाम रामदास। और रामदास के नाम पर वारंट निकल आए तो सब रामदास भागेंगे। एक व्यक्ति के अनेक नाम हैं कोई घर का नाम, कोई स्कूल का नाम, कोई मित्र का नाम, कोई प्यार का नाम, कोई कोर्ट कचहरी का नाम। पशुओं और मनुष्यों में भी समान नाम होते हैं। एक रंगीला मस्त ग्वाला है जिसने अपने खटाल की भैंसों का नाम फिल्मी अभिनेत्रियों पर रखा है। वह पुकारता है हेमामालिनी तो एक भैंस दौड़ी आती है, तो किसी को लता मंगेशकर। उसको वह लता मंगेशकर के नाम से पुकारता है तो वह दौड़ी आती है भैंस। लोगों को आश्चर्य होता है नाम

पुकार रहा है लता मंगेशकर पर दौड़ी आती है भैंस। रांची की गोशाला में गायों के नाम हैं किसी का सीता तो किसी का दमयन्ती, सावित्री आदि। तो मनुष्य-पशु के समान नाम हैं।

नाम परिवर्तनशील है। नश्वर है। क्षणिक है। धर्म परिवर्तन के साथ नाम भी बदल जाता है। अत: मैं नाम नहीं हूं। नामों ने भेद डाल रखा है। सबके नाम भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन सबके रखे हुए कल्पित नाम भिन्न-भिन्न हैं। सबका सत्य, स्वाभाविक जन्मजात नाम एक ही है। सबका अपना प्यारा नाम एक ही है। सब अपने को मैं ही कहते हैं। हमने कहा रामदास बात सुनना, रामदास कहता है—हां जी। मैं सुन रहा हूं। मैंने कहा—कृष्ण कुमार! इधर आओ। कृष्ण कुमार कहता है हां जी, मैं इधर ही आ रहा हूं। Please William come here. Yes sir, I am coming here. यहां भी 'I' अपने को ही कहता है। दुनिया के छह अरब लोग अपने को मैं ही कहते हैं। किसी पंडित ने या गुरुद्वारे, चर्च ने उसका नाम मैं नहीं रखा है। किसी ने उसको सिखाया नहीं है 'मैं' नाम। इस नाम को रखने के लिए कोई Ceremony उत्सव नहीं हुआ, नाम के रखने पर लड्डू नहीं बांटे गए। सबका सहज स्वाभाविक ईश्वर प्रदत्त नाम है मैं। मैं—मैं के लिए संस्कृत में नाम है आत्मा। अत: राजा बताओ तुम्हारा असली नाम क्या है?

कीर्तिशाह।

अरे, यह झूठा नाम है।

राजा—हां, स्वामीजी! यह नाम तो झूठा, कल्पित, संकेत मात्र है। मैं नाम को छोड़कर अपना शेष परिचय लिख देता हूं—साढ़े पांच फुट कद, 36 इंच छाती, ऐसा रंग, रूप आदि।

स्वामीजी—राजा! यह तो शरीर का वर्तमान परिचय है, आपका परिचय नहीं। शरीर भी परिवर्तनशील और विकारी है। इस शरीर की कहानी मां के गर्भ में एक शुक्र के कीड़े से प्रारम्भ हुई, जिसे खुली आंख से देखा भी नहीं जा सकता। क्या उस वीर्य के कीटाणु का साढ़े पांच फुट कद, 36 इंच छाती और दो मन भार माना जा सकता है? गर्भ के अन्दर शुक्र कीट अनेक रूप बदलता है। शरीर के जन्म के समय वह बहुत छोटा एवं कोमल होता है। भ्रूण से शिशु, बाल, किशोर, तरुण, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, रोगी, मृतक इन सब रूपों में निरन्तर परिवर्तित होता हुआ यह शरीर श्मशान की धूलि के कण में समाप्त हो जाता है। शुक्र के कीड़े से लेकर श्मशान की राख के कण तक निरन्तर परिवर्तित होने वाले रूपों में आप अपना व्यक्तित्व कहां खोजोगे? राजा! तुम रूपों को धारण करने वाले, फिर भी रूपों से पृथक्, विकारी रूपों के बीच में अविकारी—रूपों की लीला के बीच अरूपी

हो। न नाम तुम्हारा सही परिचय है और न रूप। आवेदन-पत्र पर पक्का नाम-पता लिखो तो परमेश्वर से तुरन्त भेंट करवा दूं।

राजा कीर्तिशाह—तब स्वामीजी केवल इतना ही लिख देता हूं—राजा, टिहरी, गढ़वाल राज।

स्वामीजी—राजा! क्या यह आपका पक्का पता है?

राजा कीर्तिशाह—हां स्वामीजी! हम सदा से इस राज्य के शासक हैं।

स्वामी राम—एक समय था तुम्हारा यह शरीर ही नहीं था, एक समय है, यह शरीर है, एक समय पुनः होगा जब यह शरीर नहीं रहेगा। 30 वर्ष पूर्व तुम इस राज्य के राजा नहीं थे, 60 वर्ष के पश्चात् तुम राज्य के राजा नहीं रहोगे। अतः यह पक्का पता कैसे हुआ?

राजा कीर्तिशाह—महाराज! राजा तो बदलता है, किन्तु राज्य तो स्थायी है। अतः केवल राज्य का नाम ही पक्का पता है।

स्वामीजी—राजा! तुम अपनी टिहरी गढ़वाल रियासत को रो रहे हो, एक समय था जब यह धरती ही नहीं थी, एक समय है जब यह धरती है, एक समय पुनः होगा जब यह धरती नहीं रहेगी। तब तुम्हारा पक्का पता कहाँ रहा?

राजा—तब स्वामीजी! इस प्रकार से तो जगत् में कुछ भी पक्का नहीं है।

मैं देख्यो निरधार, यह जग कांचो कांच सो—बिहारी

स्वामीजी—राजा! अगर तू अपना पक्का पता जान ले तो मैं एक क्षण में तुम्हारी परमेश्वर से भेंट करवा देता हूं।

राजा कीर्तिशाह—मुझे कुछ समझ में नहीं आता, क्या कहूं?

स्वामीजी—अच्छा राजा! क्या यह ताज तुम्हारा है?

राजा कीर्तिशाह—हां, स्वामीजी।

स्वामीजी—राजा! क्या तुम ताज हो?

राजा कीर्तिशाह—नहीं स्वामीजी।

स्वामीजी—क्या यह सिर तुम्हारा है? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम सिर हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या यह मुख तुम्हारा है? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम मुख हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या यह भुजाएं तुम्हारी हैं? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम भुजाएं हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या यह छाती तुम्हारी है? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम छाती हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या यह पेट तुम्हारा है? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम पेट हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या ये जंघाएं तुम्हारी हैं? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम जंघाएं हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या ये पांव तुम्हारे हैं? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम पांव हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या यह जूते तुम्हारे हैं? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम जूते हो? राजा = नहीं

स्वामीजी—क्या यह शरीर तुम्हारा है? राजा = हां

स्वामीजी—क्या तुम शरीर हो?

राजा—(सोचकर) नहीं स्वामीजी! शरीर के प्रत्येक अंग को छूकर मैंने निश्चय कर लिया है कि शरीर मेरा तो है, पर मैं स्वयं शरीर नहीं हूं।

स्वामीजी—राजा! फिर तुम क्या हो?

राजा—स्वामीजी सम्भवतः मैं मन हूं। क्योंकि मन द्वारा ही मुझे भान होता है कि मैं शरीर का स्वामी हूं।

स्वामी—राजा! तुम्हारा मन क्या कभी गलती करता है, कभी भूल करता है? तब मन की भूल या चंचलता ज्ञात होने पर क्या तुम मन की ताड़ना करते हो?

राजा—हां, स्वामीजी! मैं मन को भूल, अपराध करने पर बहुत फटकारता हूं।

स्वामीजी—तब राजा! मन तुम्हारा नौकर जैसा है, जिसकी भूलों के लिए तुम उसे डांट-फटकार एवं दण्ड देते हो, तो तुम मन कैसे हो? तुम तो मन रूपी नौकर पर शासन करने वाले हो। बताओ, तुम कौन हो?

राजा—स्वामीजी! शायद मैं बुद्धि हूं, क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही मन की भूलों का ज्ञान होता है।

स्वामी—राजा! तुम कभी कहते हो, कि 'यह कठिन विषय मेरी बुद्धि से परे है।' कभी कहते हो, 'अरे! उस समय मेरी अकल ही मारी गई थी।' इसका अर्थ है कि बुद्धि की असमर्थता एवं बुद्धि की भूल को भी आप जानते हैं।

राजा—हां स्वामीजी! बुद्धि की अयोग्यता, बुद्धि की सीमा, बुद्धि की असमर्थता तथा बुद्धि के भ्रम को बाद में मैं ही जान लेता हूं।

स्वामीजी—राजा! तुम कौन हो?

तुम आत्मा हो। यह आत्मा सबमें पिरोया हुआ है। सिर्फ मनुष्यों में नहीं जीव मात्र में यह आत्मा पिरोया हुआ है। मैं के लिए संस्कृत में चार शब्द हैं—मैं, अहम्, स्वयं, निज। हम कहते हैं गाय स्वयं रम्भाने लगी। कुत्ता स्वयं भौंकने लगा। तो कुत्ते के लिए भी स्वयं का प्रयोग होता है। हाथी स्वयं चिंघाड़ने लगा, गदहा स्वयं रेंकने लगा। तो हाथी, गदहे में स्वयं शब्द लगा हुआ है। मोर स्वयं नाचने लगा। मोर में भी स्वयं है....

बादल स्वयं गरजने लगे

धरती स्वयं डोलने लगी

धूल स्वयं उड़ने लगी

कीट-कीटाणु स्वयं काटने लगे।

जड़ चेतन सबमें स्वयं पिरोया हुआ है, मैं पिरोया हुआ है।

इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। 6/30, गीता

भगवान् का घोषणापत्र देखो जो मुझे सर्वत्र देखता, All Person at all thing at all time at all place at all ways. सब मनुष्य, सब जीव, हर वस्तु, सब कालों में, सब स्थानों में, सब रास्तों में। यह जो भगवान् का रूप है, कितना महान् है। कौन दुनिया का धर्म इस रूप को बता सकता है? इसकी तुलना में किसने क्या कहा है? दुनिया भर के धर्मों को चुनौती देकर आप कह सकते हैं भगवान् ने इसमें जो परब्रह्म का रूप, ईश्वर का रूप स्थापित किया है इसकी तुलना में किसी के पास भी दुनिया में कहीं भी कुछ नहीं है।

इसलिए गीता कहती है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।' जो मुझे सर्वत्र देखता है। जो सर्व में मुझे देखता है और सर्व को मुझमें देखता है उसको मैं कभी नहीं भूल सकता हूं। वह मुझे कभी नहीं भूलता है। वह मेरे में है, मैं उसमें हूं। इसलिए राजा कीर्तिशाह को बताया गया—मैं हूं, कुछ हूं और सदा सर्वदा हूं। मैं का नाम है आत्मा। उस आत्मा के पक्के ठिकाने में तुम टिक जाओ तो एक क्षण में तुम्हारी इन्टरव्यू हो जाए भगवान् से। वहां स्वामी प्रभवानन्दजी ने ईशरवुड को उसी प्रकार से सारा

समझाया कि हे ईशरवुड, असली मैं को तू जाने नहीं। असली मैं को जानते ही तुझे पता लगेगा कि असली मैं को कोई मार सकता ही नहीं। तुम क्या मारोगे। दुनिया की कोई शक्ति उसे नहीं मार सकती। मैं सबको मार सके तो मार सके उस मैं को मार सकने वाली शक्ति संसार में किसी के पास नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। 2/23, गीता

उसको कोई शस्त्र मार नहीं सकता है उसको कोई आग जला नहीं सकती है। उसको पानी गीला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती। रूस के बाद दुनिया का सबसे बड़ा देश बेल्जियम है और अमेरीका में सबसे बड़ा देश बेल्जियम है। वहां के प्रो. ने कहा, यह जो आप कहते हैं—

नैनं छिन्दंति.... 2/23, गीता

इसमें आप विश्वास क्यों करते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं इसलिए करते हैं या इसमें आपके पास कोई वैज्ञानिक प्रमाण है। मैंने कहा इसका वैज्ञानिक प्रमाण है। सो कैसे? इसका वैज्ञानिक प्रमाण यह है—

दुनिया का कोई शस्त्र किस वस्तु को काट सकता है। वह शस्त्र अपने से स्थूल वस्तु को काट सकता है। यदि शस्त्र है उसमें धार है तो धार से मोटी वस्तु को काट सकता है। उससे अधिक पतली चीज को कभी नहीं काट सकेगा। ब्लेड की धार अपने से मोटी चीज को काट सकेगी। अपने से अधिक पतली चीज को नहीं काट सकेगी। ब्लेड की धार को आप खड़े दाव में किसी चाकू से काटकर दो भाग करना चाहें असम्भव है, वह नहीं कर सकते। चाकू अपने से मोटी चीज को काट सकता है अपने से बारीक को नहीं काट सकता है। पतले कागज की धार को खड़े दाव में आप ब्लेड से काटना चाहें यदि कागज की मोटाई ब्लेड के बराबर है तो उस स्थिति में ब्लेड उसे कभी नहीं काट सकेगा। ब्लेड से मोटा है तो ब्लेड उसे शायद काट सके। इसलिए हर शस्त्र अपने से कुछ मोटी चीज को काट सकता है। मोटी चीज में छेद कर सकता है। अपने से बारीक में, सूक्ष्म में छेद नहीं कर सकता है। आत्मा स्थूल है ही नहीं, भौतिक है ही नहीं। वह चेतना है। उसकी लम्बाई, मोटाई, चौड़ाई कुछ है नहीं। दुनिया का कौन शस्त्र उसको काट सकेगा, बताओ? कोई शस्त्र नहीं काट सकेगा। उसको आग जला नहीं सकती। अनेक भौतिक वस्तुओं में भी अनेक भौतिक तत्त्वों को आग नहीं जला सकती। आग पानी को नहीं जला सकती। आग वायु को भी नहीं जला सकती। आकाश तत्त्व को भी नहीं जला सकती। केवल पृथ्वी के भी उन तत्त्वों को जला सकती है जिनमें कार्बन है। जिनमें कार्बन न हो उसको भी नहीं जला सकती। वह जो 'फायर प्रूफ पेंट' कर लेते हैं दुकानों के सामने, मकानों के सामने जिसको आग जला नहीं सकती। एस्बेस्ट्रेट शीट है उसके ऊपर आग रख दीजिये वह नहीं जलेगा।

एस्बेस्ट्रेट शीट को आग नहीं जला सकती। आग अनेक भौतिक वस्तुओं को नहीं जला सकती। पांच तत्त्वों में से केवल पृथ्वी तत्त्व की उन चीजों को जला सकती है जिनमें कार्बन हो। आत्मा भौतिक है ही नहीं। न वह पृथ्वी है न जल, न अग्नि है, न वायु है और न वह आकाश है। न वह कार्बन है न बिना कार्बन है। वह इन सबसे परे है भला वह आग कैसे जलाएगी। न इसको पानी गीला कर सकता, पानी किस को गीला कर सकता है। पानी क्या आकाश को गीला कर सकता है, नहीं कर सकता। इतनी वर्षा होती है क्या आकाश गीला होता है। पानी क्या अग्नि को गीला कर सकता है, नहीं कर सकता। पानी केवल धरती को गीला कर सकता है। धरती की भी उन चीजों को गीला करता है जिनके अन्दर छेद हो। कपड़े में छेद है अतः पानी घुसकर गीला कर देता है। लेकिन मोमजामा है, उस पर पानी फिसल जाता है। प्लास्टिक पर से पानी फिसल जाता है। अतः उसे गीला नहीं कर सकता। जिसमें छेद होगा उसमें पानी घुसेगा। उसको गीला करेगा। आत्मा गीला कैसे हो सकता है? जब कोई शस्त्र उसको छेद कर ही नहीं सकता, छेद हो, जल प्रवेश करे तब तो गीला हो। न छेद हो, न जल ठहरे तब पानी गीला कैसे कर सकता है। सूखने का प्रश्न तब हो जब गीला हो। जब गीला ही न हो तो सूखने का प्रश्न कहां हो? कितना वैज्ञानिक चिंतन है हमारा।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। 2/23, गीता

जिसके सामने अमेरीका के अला विमा आर्मी जो पगला गए थे क्रिश्चियन दर्शन से Philosophy से। वे आकर नतमस्तक हो जाते हैं। ईशरवुड कहता है कि स्वामीजी मुझे बड़ी शान्ति मिली है। कल मैं फिर आऊंगा। धीरे-धीरे रोज आने लगा। बड़ी उसकी इतनी श्रद्धा हुई। धीरे-धीरे सारी की सारी सम्पत्ति गरीबों को बांट दी। सब काम छोड़ दिया। केवल सफेद कुरता और पाजामा पहनकर कभी सफेद कुरता और मद्रासी लूंगी पहन करके रामकृष्ण मिशन के होलीवुड में रहता है। वहां पर अपना लेखन का कार्य करता है। पुस्तकें लिखता है। वहां प्रभवानन्दजी से मिलकर भगवद्गीता का पदानुवाद किया। Bhagawat Gita The song of God by क्रिस्टोफर ईशरवुड और स्वामी प्रभवानन्द। वह पुस्तक इस समय दुनिया में Best Seller बनी हुई है। पहले दुनिया में एनी बेसेन्ट की जो पुस्तक भगवद्गीता पर थी उसकी बड़ी मांग थी। अब ईशरवुड की गीता की बहुत मांग है। ईशरवुड के अपने जीवन में परिवर्तन ला दिया गीता ने। गीता ने उसे आत्महत्या से बचा दिया। गीता ने उसको नया जीवन दे दिया। उसने सात लेख लिखे जो हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली में छपे कि How I become a Hindu. मैं कैसे हिन्दू बना। How I become a vedantee. Gita save my life. गीता ने मेरा जीवन

कैसे बचाया सोचो हम भारतवासी हैं। हम भगवान् कृष्ण के देश वाले हैं। और हमारे ज्ञान से पश्चिम के लोग, संसारभर के लोग भी लाभान्वित हो रहे हैं और हम उससे वंचित हो रहे हैं। कितने दुर्भाग्य की बात है इसलिए भगवान् कृष्ण के महान् संदेश को हम हृदयंगम करें।

वैदिक साहित्य विशेषकर उपनिषदों, वेदान्त और भगवद्‌गीता की प्रशंसा में आयरिश कवि जी. डब्ल्यू. रसेल का निम्न उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसे पढ़कर प्रत्येक भारतवासी अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत के बारे में गर्व कर सकता है—इस काल के लोगों-गेटे, वड्‌र्सवर्थ, इमर्सन और थोरो में यह ज्ञान और जीवन शक्ति कुछ अंश में मिलेगी, लेकिन जो कुछ भी इन्होंने कहा है उससे बहुत अधिक पूर्व के महान् और पवित्र ग्रंथों में मिलेगा। भगवद्‌गीता और उपनिषदों में सभी बातों के बारे में ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे लगता है उनके रचने वालों ने हजारों भाव भरे पुराने जन्मों में पैठकर ही....इतने अधिकार के साथ उन बातों को लिखा है जिन्हें आत्मा निश्चित समझती है।

श्रीयुत् एफ.टी. बूक्स साहब ने कहा है—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता भारतवर्ष में यत्र-तत्र बिखरे हुए अनेक ग्रंथों को जोड़ने वाली एक अप्रतिम शृंखला है और भविष्य के राष्ट्रीय जीवन की एक अमूल्य निधि है। भारतवर्ष का राष्ट्रीय धर्मग्रंथ होने के लिए आवश्यक समस्त गुण इसमें एकत्र किए गए हैं। इतना ही नहीं, भविष्य में समस्त संसार का धर्मग्रंथ होने की अनुपम योग्यता इसमें है। समस्त मानव जाति के भविष्य को अत्यन्त उज्ज्वल बनाने के लिए भारत के वैभवशाली भूतकाल की यह एक अपूर्व निधि है।

(कल्याण शिवांक 659 या 639)

भगवद्‌गीता के अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रंथ नहीं है जिसकी भारतवर्ष में इतनी प्रसिद्धि हुई है और जिसको ईश्वरीय संगीत मानकर भारत में सभी प्रेम करते हैं।

एडविन आर्नाल्ड (गीता का आंग्ल पद्यानुवाद सांग सेलेशियल)

धन्य हैं वे लोग जिन्हें महान् ग्रंथ के महानायक कृष्ण की भूमि में जन्म लेने का सौभाग्य मिला। वे धन्य इसलिए भी कि वे गीता रूपी अमृत का पान कर अमर्त्य हो जाएंगे? जब मैं गीता पढ़ता हूं तो लगता है कि मैंने जीवन के इस सार को पाने में बड़ी देर कर दी। पाश्चात्य जिस धर्म की सृष्टि अब तक नहीं कर सकता वह उदात्त धर्म इसमें विद्यमान है।—मैक्समूलर

कनाडा के प्रेसिडेन्ट मिस्टर टयूडो ने जब गीता पढ़ी तो वे दंग रह गए। मिस्टर टयूडो ने कहा—मैंने बाइबिल पढ़ी, एंजिल पढ़ा और भी कई धर्मग्रंथ पढ़े। सब

ग्रंथ अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं, लेकिन हिन्दुओं का यह श्रीमद्भगवद्गीता रूपी ग्रंथ तो अद्भुत है। इसमें किसी मजहब, मत, पंथ, सम्प्रदाय की निंदा-स्तुति नहीं है, बल्कि इसमें तो मानव मात्र के विकास की बात है। शरीर स्वस्थ, मन प्रसन्न और बुद्धि में समत्व योग का, ब्रह्म ज्ञान का प्रकाश जगाने वाला ग्रंथ भगवद्गीता है। उन्होंने लिखा—Geeta is not The Bible of Hindu but it is the Bible of humanity.

पाश्चात्य संस्कृति के प्रसिद्ध लेखक प्रोफेसर श्री आटाण्ट्रास, (ब्रेसलाऊ यूनिवर्सिटी, जर्मनी) के अनुसार भगवद्गीता के अतिरिक्त ऐसा कोई दूसरा भारतीय ग्रंथ नहीं है जिसकी भारतवर्ष में एवं अन्यान्य देशों में दूर तक इतनी प्रसिद्धि हुई हो। जिसको ईश्वरीय संगीत मानकर हिन्दुस्तान के सभी लोग इतना प्रेम करते हैं।

सर जान वुडरफ—गीता भारतीय साहित्य का सर्वोत्तम रत्न है।

टी.एस. इलियट ने गीता को मानव वाङ्मय की अमूल्य निधि कहा है।

जापान के शिन्तो धर्म पर भी गीता का प्रभाव है। चीन के कन्फ्यूशियस धर्म एवं ताओ धर्म में भी गीता के सत् विवेक तथा शासन की कार्यक्षमता के समन्वय का संदेश है। चीन में प्रथम शती में महायान बौद्ध धर्म के साथ-साथ गीता भी पहुंची तथा चीनी भाषा में अनूदित हुई।

'गीता सिर्फ व्यक्तियों या राष्ट्र विशेष का नहीं बल्कि समग्र विश्व के संकट निवारण हेतु अपरिहार्य ग्रंथ है'—इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण।

'दुनिया के सब धर्मग्रंथ आदमी को सही मार्ग पर लाने में असमर्थ रहे हैं। मगर पृथ्वी पर एक पुस्तक ऐसी भी है जो भविष्य में हर व्यक्ति का मार्गदर्शन करने जा रही है और उस पुस्तक का नाम है', श्रीमद्भगवद्गीता।

यह पुस्तक सही अर्थों में धर्मग्रंथ नहीं है, आदमी के मनोविज्ञान को उघाड़ने वाली चिकित्सा पद्धति है, जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई जैसी सम्प्रदायवादी उपाधियों से अलग हटकर आदमी को इन्द्रियों का एक ऐसा जाल मानती है जिसमें 'ईश्वर' की सम्भावनाएं छिपी पड़ी हैं। आदमी को अगर सचमुच सम्पूर्ण मनुष्य बनना है तो गीता के अतिरिक्त उसका और कोई हितैषी नहीं। भविष्य में जो संन्यास फलित होगा वह न पादरियों का संन्यास होगा, न बौद्धों का। वह संन्यास कृष्ण द्वारा बताया गया संन्यास होगा जिसमें आदमी संसार में जीता हुआ भी भीतर से रूपान्तरित हो जाता है।

साइमन सायफर्ट (अमरीकी विद्वान्)

गीता की गूंज कैलीफोर्निया के आध्यात्मिक आकाश पर। डॉ. कैलाश वाजपेयी 12.8.79 हिन्दुस्तान, नई दिल्ली।

बंगाल के एक श्रेष्ठ संत

महानामव्रत ब्रह्मचारी जब इंग्लैण्ड गए तब कुछ ईसाई सज्जन उन्हें अपने पुस्तकालय में ले गए और दिखाया कि बाइबिल को विश्व में प्रथम स्थान प्राप्त है। गीता द्वितीय स्थान पर है। वहां ब्रह्मचारीजी मौन रहे। पर शाम की सभा में उन्होंने कहा कि बाइबिल का विश्व में प्रथम स्थान प्राप्त करने का कारण बाइबिल सोसायटी है जिसे विश्व की ईसाई सरकारें एवं उद्योगों के व्यक्तिगत प्रतिष्ठान दोनों ही एक निश्चित परिमाण में अर्थ एवं सभी प्रकार का सहयोग प्रदान करते हैं। फलतः आप अपने प्रयास एवं खर्च से बाइबिल का विश्व की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद, निशुल्क वितरण एवं प्रचार का कार्य करते हैं।

पर अपने देश में गीता प्रचार के लिए कोई गीता सोसायटी नहीं है, न इसके लिए सरकार से किसी प्रकार का सहयोग प्राप्त होता है वरन् विरोध ही, बाधा ही प्राप्त होती है। ईसाई राष्ट्रों के स्कूलों में बाइबिल अनिवार्य है। पर अपने देश में हिन्दी प्राइवेट स्कूलों में भी जहां गीता पढ़ाई जाती है वहां भी सरकार बाधा देती है। ईसाई परिवारों, स्कूलों, प्राइवेट एवं सरकारी दफ्तरों में बाइबिल को सम्मान एवं प्रचार प्रसार का अवसर प्राप्त है। पर यह सारी बातें अपने देश के न परिवार में है, न स्कूल-कालेजों में है न सरकारी-गैरसरकारी दफ्तरों में प्राप्त है। हमने गीता के प्रचार के लिए न अपने देश में ही और न विश्व में ही प्रयास किया। न यहां के प्राइवेट प्रतिष्ठान ही गीता प्रचार के लिए कोई सहयोग प्रदान करते हैं।

यह तो गीता की अपनी विशिष्टता है, गीता के वैचारिक आकर्षण से गीता स्वयं विश्व में द्वितीय स्थान रखती है। विश्व के विद्वान् स्वयं गीता के विचारों से प्रभावित एवं प्रेरित होकर अपने-अपने देश की भाषा में, अपनी मेहनत एवं खर्च से बड़े परिश्रम एवं कष्ट के साथ गीता का अनुवाद करते हैं। और स्वयं ही अपने देश में गीता प्रचार जनकल्याणार्थ किया है। आप थोड़ी सी उदारता दिखावें और अपनी सोसायटी, यानी चर्चों में प्रार्थना के पश्चात् मात्र इतना कहें कि गीता अच्छा ग्रंथ है। इसे भी पढ़ना चाहिए। तब देखें गीता प्रथम स्थान को प्राप्त करती है या नहीं। जब गीता के लिए कोई सोसायटी नहीं है, सरकार एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठानों का कोई सहयोग नहीं है, न इसकी चर्चा परिवारों में है, न स्कूल, कालेज एवं दफ्तरों में है। तब इसके पश्चात् भी गीता स्वयं की विशिष्टता के कारण द्वितीय स्थान पर है तो मैं इसे प्रथम स्थान ही मानता हूं।

एक वस्तु चल सकती है दो कारणों से या तो धक्का या फिर आकर्षण। या तो पुश या पुल। बाइबिल चल रही है पीछे के धक्के के जोर पर। गीता चल रही है विश्व मानव के प्राणों के आकर्षण से। अब किसका कितना महत्त्व है आप लोग ही विचार कर लीजिये।

इसी प्रकार की घटना स्वामी विवेकानन्दजी के साथ है। पादरी लोग उनको एक पुस्तकालय में ले गए जहां गीता सबसे नीचे रखी थी और बाइबिल सबसे ऊपर। स्वामी विवेकानन्दजी ने पादरियों के भाव को भांप कर तुरन्त कहा—Very good foundation. जब तक गीता नींव में रहेगी, दुनिया के सभी धर्म जीवित रहेंगे, फलेंगे-फूलेंगे और गीता के वहां से हटते ही सब धर्म धराशायी हो जाएंगे। और स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा गीता को खींचते ही सभी ग्रंथ गिर पड़े।

लन्दन में स्वामी विवेकानन्द की जर्मन के प्राच्यविशारद प्रोफेसर मैक्समूलर से भेंट हुई थी। दोनों का परिचय प्रगाढ़ मित्रता में परिणत हुआ। जब स्वामीजी भारत लौटने के लिए मैक्समूलर से विदा लेने लगे, तो उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि स्वदेश पहुंचने के बाद मेरे लिए कोई ऐसी वस्तु उपहार स्वरूप भिजवाइए जो भारतवासियों का वैशिष्ट्य हो, भारतीय संस्कृति का प्रतीक तथा प्रतिनिधि हो। भारत लौटने पर स्वामीजी ने मैक्समूलर के प्रेमपूर्वक अनुरोध को ध्यान में रखकर वह वस्तु तत्काल भिजवा दी थी—वह थी भगवद्गीता की एक प्रति।

आस्ट्रिया की राजधानी वियना में स्थित विशाल पुस्तकालय में एक भारतीय पत्रकार द्वारा वहां के पुस्तकालय के अध्यक्ष से कई पुस्तकों की जानकारी मांगने पर उसने प्रसन्नतापूर्वक सब पुस्तकों के बारे में बताया। आखिर में उसने पूछा आपके यहां की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक कौन-सी है? उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा आप मेरे साथ आइये और वह उसे आखिरी मंजिल पर एक छोटे और सुन्दर कक्ष में ले गया। वहां बहुत ही आकर्षक और सजे हुए बक्से में से एक पुस्तक निकाल कर पत्रकार के हाथ में दी। उस पुस्तक को देखकर पत्रकार महोदय चकित रह गए क्योंकि वह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता थी।

पादरी स्टोक्स सत्यानंद बना

शिमला से लगभग 35 मील दूर कोरखाई में ईसाई प्रचार सेन्टर स्थापित किया गया था। सन् 1904 की बात है। अमरीकी नवयुवक पादरी मि. स्टोक्स केन्द्र का प्रमुख था। युवा पादरी प्रतिदिन गले में दूध की शीशी लटकाता है। डिब्बे में पकी हुई खिचड़ी और थैले में दवाइयां लेता है। प्रतिदिन पहाड़ी के गांवों में पहुँच कर बीमारों की सेवा करता। भूखों के लिए धन देकर भोजन की व्यवस्था करता व गरीबी का लाभ उठाकर धर्म परिवर्तन कराता। कुछ ही दिनों में युवा पादरी गरीबों में देवता की तरह पूजा जाने लगा।

एक दिन अचानक रिटायर्ड सिविल सर्जन तथा प्रसिद्ध सन्त स्वामी सत्यानन्द जी महाराज हिमालय की यात्रा से जाते समय कोरखाई के पास पहुँचे। सूर्यास्त का

समय था। अचानक जैसे ही पादरी स्टोक्स सपरिवार घूमने जा रहा था कि उसने तेजस्वी संन्यासी को जाते देखा। परिचय के बाद पादरी ने स्वामीजी से रात्रि अपनी कुटिया में बिताने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने स्वीकार कर लिया। रात्रि शयन के पूर्व स्वामीजी ने गीता का पाठ किया। पादरी को गीता के विषय में जिज्ञासा हुई। गीता के विषय में स्वामीजी से विचार हुआ तब गीता का ज्ञान सुनकर आश्चर्यचकित होकर स्वामीजी को कुछ दिन के लिए और रहकर सत्संग की प्रार्थना की। और वह गीता के तत्त्वज्ञान से इतना प्रभावित हुआ और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गीता का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपयोगी है। इसलिए गीता के प्रति समर्पित होने में ही जीवन की सार्थकता है। और उसने घोषणा की, 'मैं भारत में ईसाइयत के प्रचार के लिए आया था। किन्तु, आज गीता व भगवान् कृष्ण के तत्त्व को समझकर सनातन धर्म की शरण ग्रहण करता हूं।' स्टोक्स ने स्वेच्छा से अपना नाम बदल कर सत्यानन्द रखा तथा कुटिया के पास भगवान् कृष्ण के मंदिर की स्थापना कराई। वह आजन्म गीता व भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करता रहा। भगवान् कृष्ण के इस वाक्य—'जो मनुष्य खुद कमाकर खुद खा जाता है वह अन्न नहीं खाता बल्कि पाप खाता है।' इसने उसे आजीवन चमत्कृत रखा।

आस्ट्रियाई युवक जार्ज सीब्रा वियना विश्वविद्यालय में थीसिस की तैयारी करते समय भारतीय दर्शन के प्रति आकर्षित हुआ और भारत आकर ऋषिकेश में गंगा के पुनीत दर्शनों एवं गंगा तट के वातावरण से उन्हें अपार शान्ति प्राप्त हुई। इसके बाद भगवान् श्रीराम के पावन चरणों में पवित्र अयोध्या नगरी में तीन वर्ष तक साधना की। और राम के नाम के महत्त्व को समझकर कहते हैं—'राम नाम तो मेरे लिए सत्य है ही, भारत ही सत्य का दूसरा नाम है। भारत केवल मेरे लिए ही नहीं, अपितु विश्व के लिए ही मोक्ष भूमि है। भारत अवतारों की धरा है। और इस तरह समूचे संसार के लिए कल्याण की धरा है। मेरा दिल कहता है भारत ही दुनिया का दिल है।

वे अन्यत्र कहते हैं—'पाश्चात्य देशों की मानसिक पराधीनता की भावना ने इस धर्मप्राण देश की आत्मा को इतना जकड़ा हुआ है कि विदेशी के मुंह से भारतीय संस्कृति का गुणगान सुनकर उनमें आत्म विश्वास पैदा होता है। मैं जब भारतीय धर्म, समाज, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता का गुणगान करता हूं तो भारतवासियों के चेहरे पर चमक आ जाती है। भारत को सिर्फ एक बार जागना है। फिर तो वह ऐसा उठेगा कि संसार को ज्ञान का अद्‌भुत प्रकाश देगा। भारत का धर्म ज्ञान-विज्ञान सम्मत है। इसलिए मैं भारत के ज्ञान सम्मत भक्ति भाव पर आस्था रखता हूं और जब मुझे किसी भक्त के दर्शन होते हैं तो मैं उनके सम्मुख साष्टांग दण्डवत करता हूं। बाद में वे जार्ज सीब्रा से स्वामी जयकुमार बन गए।

अमरीकी महिला दयामाता—भारतीय योगी परमहंस योगीनंदजी महाराज

ने अमेरीका में जिन व्यक्तियों को भारतीय बनाया उनमें दयामाता उल्लेखनीय हैं। दयामाता को धर्मप्राण भारतीयों को अमेरीका का अन्धानुकरण करते देखकर अत्यन्त आश्चर्य व दु:ख होता है। हम अमरीकी तो भौतिकवाद से ऊबकर भारतीयता की शरण में आ रहे हैं और आप भारतीय अमेरीका-इंग्लैण्ड को अपना आदर्श मानते हैं।

दयामाता ने स्पष्ट गर्व के साथ कहा—भारतवर्ष हमारी आध्यात्मिक मातृभूमि है। पुण्यभूमि है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि भारतीय संस्कृति व भारतीय दर्शन को समझने व उस पर आचरण करने से ही विश्व को सच्चा सुख और शान्ति मिल सकती है।

श्रीयुत जार्ज सिडनी अरंडेल (प्रधान थियोसोफिकल सोसाइटी)—गीता जो संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है उसके सम्बन्ध में भला मैं क्या लिखूं। यों तो गीता के अतिरिक्त और भी कई महान् ग्रंथ हैं। परन्तु, भगवद्‌गीता की तो बात ही निराली है। वह ईश्वरों का ईश्वर परम महेश्वर का दिव्य संगीत है।

गीता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारत के लम्बे पराधीनता के काल में भी जब भारतीय स्वयं इसके प्रचार-प्रसार के लिए कुछ भी उद्योग नहीं कर रहे थे तब भी इसके वैचारिक जादू से, अलौकिक प्रभा से प्रभावित होकर विश्व के मनीषियों ने पहले स्वयं संस्कृत भाषा सीखी एवं गीता का अध्ययन किया, फिर उन्होंने अपनी-अपनी भाषा में अपने खर्चे से अनुवाद करके उसका प्रचार-प्रसार अपने-अपने देश में किया।

इस प्रकार पश्चिम के दार्शनिक गीता पर मुग्ध हैं, जर्मनी के दार्शनिक गीता पर मुग्ध हैं, इंग्लैण्ड के दार्शनिक मुग्ध हैं, फ्रांस के दार्शनिक मुग्ध हैं, युगोस्लाविया का राष्ट्रपति गीता पर मुग्ध है। सब दुनिया के लोग गीता पर मुग्ध हैं। सारी दुनिया उस पर कुर्बान हुई जा रही है। पारसी मुग्ध हैं, यहूदी मुग्ध हैं, मुसलमान मुग्ध हैं, दुनिया का कोई कोना नहीं जिसको गीता ने प्रभावित न किया हो।

लन्दन म्यूजियम में जाकर देखें। लन्दन म्यूजियम में बहुत बड़ा पुस्तकालय है। वह संसार का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। उसके मुख्यद्वार पर एक show Case में गीता की पुस्तक सजी है।

संसार में सबसे अधिक भाषाओं में अनूदित और संसार के सबसे मेधावी पुरुषों को सबसे अधिक चमत्कृत करने वाली यह महान् पुस्तक भगवद्‌गीता है। दुनिया उसकी महत्ता पहचानती है, महत्त्व पहचानती है। इसलिए संसार का कोई कोना नहीं है जहां भगवद्‌गीता का प्रचार नहीं हुआ। उसका चमत्कार नहीं हुआ है। पर हम ही उसको भूल रहे हैं। कितनी दुर्भाग्य की बात है!

गीता का प्रभाव भारतीय मनीषा पर

भगवान् ने जब अर्जुन को गीतोपदेश दे दिया तब कृष्ण ने अर्जुन से पूछा कि तुम्हारा मोहांधकार समाप्त हुआ या नहीं। तब अर्जुन ने कहा—हां, मेरा मोह और अज्ञान दूर हो गया है। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। अर्जुन के रथ पर फहरा रही ध्वजा पर हनुमानजी बैठे हुए थे। उन्होंने भी गीता सुनी। तब हनुमान ने ध्वजा से नीचे आकर प्रणाम करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा कि मैंने भी आपकी कृपा से गीता श्रवण की है। तब कृष्णजी ने कहा कि तुमने गुरु की बिना अनुमति लिए गीता सुनकर महान् अपराध किया है। फिर गुरु का स्थान हमेशा ऊपर होता है और शिष्य का नीचे। तुमने गुरु से भी ऊंचे आसन में स्थित होकर सुना। यह और भी बड़ा अपराध है। तब हनुमानजी ने इसका प्रायश्चित्त पूछा तब भगवान् ने कहा तुम प्रायश्चित्त स्वरूप पिशाच बनोगे और तुम गीता पर पैशाची भाष्य लिखो जो तुमने सुना और समझा। तब हनुमानजी ने पैशाची भाष्य लिखा है जिसकी हस्तलिपि कापी को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मदनमोहन मालवीयजी ने सुरक्षित रखा था। उस पैशाचिक भाष्य में हनुमानजी कहते हैं—मैं एक छलांग में सात समुद्र पार कर गया पर गीता का एक-एक श्लोक सात सौ समुद्र के समान है।

बुद्ध के दर्शन एवं वाणी में गीता का अधिकतम प्रभाव है। बुद्ध का मध्यम मार्ग सीधे गीता से लिया गया है। आत्मा ही आत्मा का बंधु है, गीता का भाव है।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपने ग्रंथ Geeta and Kalidas में कालिदास के साहित्य पर गीता का स्पष्ट प्रभाव दिखलाया है। गुरुग्रंथ तो गीता ज्ञान का ही पंजाबी रूपान्तरण है।

मध्य युग के संतों पर भी गीता का स्पष्ट प्रभाव है। भारतीय परम्परा में प्राय: सभी आचार्यों, विद्वानों और स्वातंत्र्य सेनानियों को गीता ने प्रभावित किया है।

आद्य शंकराचार्यजी—नित्यानन्द के सुधासागर में सज्जनों के लिए नीले रंग का घनश्याम प्रकट हुआ। उस नीले मेघ के अपने मुखारविंद से अमृतधारा की वर्षा हुई। ऐ चित्त रूपी चातक! तुम क्यों अमृत रूपी जल का पान नहीं करते। क्या तुम्हें किसी ने मारा है या तुम सोये हुए पड़े हो।

जम्भेश्वरजी महाराज—श्रीकृष्ण भगवान् की वाणी गीता कोई सामान्य कविता नहीं है, अपितु वह तो अनहद नाद है। वह किसी कवि की कल्पित कविता नहीं है, तुम्हारे अन्दर बैठे हुए अज्ञान को नष्ट करने वाली महाऔषधि है।

श्रीरामकृष्ण—श्री रामकृष्ण के वचन गीता के उपदेश को व्यावहारिक उदाहरणों से समझाते हैं। उनके गीता के विषय में उद्‌गार उनकी गहन श्रद्धा को दर्शाते हैं। 'संपूर्ण गीता के अध्ययन का ज्ञान केवल दस बार गीता, गीता, गीता बोलने से मिल जाता है। बोलते-बोलते यह तागी तागी तागी हो जाता है अर्थात् त्यागी त्यागी। यह स्थिति आन्तरिक और बाह्य रूप से भौतिक सुखों को त्यागने से मिलती है।

श्री विवेकानन्द—शिकागो विश्वधर्म सम्मेलन के महानायक स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—उपनिषदों के उद्यानों से निकाले हुए सुन्दर सुगन्धित पुष्पों का गुच्छा ही भगवद्‌गीता है। गीता सड़े हुए, मुरझाए हुए, झुर्रियों भरे पीले चेहरों वाले कर्मयोगी नहीं चाहती। वह हृष्ट-पुष्ट, बलवान, हंसमुख और खिले हुए चेहरे चाहती हैं। गीता इस विश्व को प्रभु का विराट् स्वरूप कहती हुई हर पुष्प को उपदेश देती है कि वह भरपूर साहस के साथ विश्वयज्ञ में अपना भाग डाले।

भगिनी निवेदिता—गीता भारत की रक्तशिराओं में रक्त, अस्थियों में अस्थि है। यह ग्रंथ युद्ध का शंखनाद है। इसका अध्यात्म मानवता और अन्य वस्तुओं से पलायन नहीं है—यह ज्ञान रूपी दहकती अग्नि जो तमस, अहम् को नष्ट करती है। इसका प्रभाव सर्वत्र एवं गहन है। यह पलायन नहीं, नई शक्ति, विजय शक्ति, ऊर्जा का पुंज—एक नया जीवन देती है गीता। गीता भारत की प्राणवायु है। गीता के कारण ही भारत जीवित रहेगा।

लोकमान्य तिलक—मेरे जीवन का कोई भी दिन ऐसा नहीं गया है जिस दिन मैंने गीता के श्लोकों पर मनन न किया हो।

लाला लाजपतराय—जब संदेह का राक्षस आपको भयभीत कर मार्गच्युत करना चाहता है, तब प्रत्येक समय साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का आपके पास रहना कठिन है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भगवान् ने अनन्त संदेश गीता द्वारा दिए हैं।

डॉ. एनी बेसेन्ट—भारत में आई। वह थियोसोफी समाज के द्वारा भारत में अनेक प्रकार के ज्ञान की शिक्षा भारतीयों को देना चाहती थी।

तब बनारस के एक साधु ने कहा—तुम भारतीयों को नयी शिक्षा नहीं दे रही हो। यह तो सब हमारी ही बात है और उस बनारस के साधु ने उसे गीता की पुस्तक दी। वह उसे पढ़कर चमत्कृत हो गयी और कहने लगी इससे बढ़कर

भारतीयों को शिक्षा देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। डॉ. एनी बेसेन्ट ने गीता को समझने के लिए संस्कृत भाषा सीखी।

मदनमोहन मालवीय—मेरा विश्वास है कि पृथ्वी मण्डल की प्रचलित भाषाओं में भगवान् श्रीकृष्ण की कही हुई भगवद्गीता के समान छोटे वपु में इतना विपुल ज्ञानपूर्ण दूसरा कोई ग्रंथ नहीं है।

ऋषि अरविन्द—गीता अक्षय मणियों की खान है। यदि युग-युग तक इस खान से मणियां निकालते रहें तब भी भावी कर्णधार इसमें से सर्वदा नवीन-नवीन अमूल्य मणि-माणिक्य प्राप्त कर प्रसन्न और चकित होते रहेंगे।

साधु टी.एल. वास्वानी—गीता में भगवान् कृष्ण के विचार भरे पड़े हैं। यह ग्रंथ इतना अमूल्य है और अध्यात्म भाव में पूर्ण है कि मैं समय-समय पर परमात्मा से यह प्रार्थना करता आया हूं कि मुझ पर इतनी दया करे और शक्ति प्रदान करे जिससे मैं मृत्युपर्यन्त इस संदेश को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा सकूं।

महर्षि रमण—श्रीकृष्ण का उद्घोष था—स्वयं को जानो। यही भावना श्री रमण महर्षि के उपदेशों का सार है। वे ज्ञान के जिज्ञासुओं को समझाते हैं—यह जानो कि मैं कौन हूं। यह आत्मज्ञान का सरल उपाय है।

रमण महर्षि ने भगवद्गीता से 42 श्लोक चुने और इस मंथन को नाम दिया—गीतासार। रमण महर्षि के उपदेशसार में संस्कृत के कई श्लोक हैं जो गीता के उपदेशों पर आधारित हैं।

स्वामी शिवानन्द—दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश के संस्थापक परमपूज्य स्वामी शिवानन्द सरस्वती कहते हैं—श्रीमद्भगवद्गीता एक सार्वभौमिक ग्रंथ है। यह मानव के लिए अनादि पथ-प्रदर्शक है। यह उसे असत्य से सत्य की ओर, तम से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाती है।

महात्मा गांधी—मैं चाहता हूं कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओं में बल्कि सभी शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाई जाए। जब कभी मुझे निराशा घेरती है और कहीं से कोई प्रकाश-किरण नहीं मिलती, तब मैं गीता माता की शरण में जाता हूं, गीता का कोई न कोई श्लोक चमकता हुआ समाधान के रूप में आ जाता है और मैं मुस्कराने लगता हूं। मेरा जीवन बाह्य कठिनाइयों व दु:खों से भरा पड़ा है, लेकिन उनका मेरे ऊपर कोई अमिट प्रभाव नहीं पड़ सका है तो इसका श्रेय भगवद्गीता की शिक्षा को ही जाता है।

विनोबा भावे—मां के दूध पर मेरा शरीर जितना पला है, उससे कहीं अधिक मेरा हृदय व बुद्धि गीता के दूध से पोषित हुए हैं।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—गीता जीवन के सर्वोच्च लक्ष्यों को हृदयंगम करने में सहायता देती है। इसमें धर्म की उन मूल धारणाओं पर जोर है, जो न केवल प्राचीन ही है, न केवल आधुनिक ही, बल्कि शाश्वत है।

ए.सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद—'गीता रूपी सुधा-धारा श्री भगवान के मुखारविन्द से निस्पन्दित है, जबकि गंगा उनके चरणाविंद से निकलती है।....आज के युग का मानव इच्छुक है कि सबके लिए एक ही ईश्वर, एक ही धर्म और एक ही व्यवसाय हो। अतः सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ही सार्वभौम शास्त्र हो—श्रीमद्भगवद्गीता। सबके लिए एक ही आराध्य हो—श्रीकृष्ण और एक ही मन्त्र हो—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे तथा सम्पूर्ण जगत् के लिए एक ही उद्यम हो—भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लीन रहना।'

स्वामी रामसुखदासजी—गीता में साधक के लिए उपयोगी सम्पूर्ण सामग्री है। गीता का मुख्य लक्ष्य मनुष्य मात्र का कल्याण करना है।

भारत का 1950 का संविधान—भारत के संविधान की मूल प्रति में 'नीति निर्देशक तत्त्वों' के चौथे अध्याय के पहले अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण का चित्र है।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने 10 सितम्बर, 07 को दिए गए एक महत्त्वपूर्ण निर्णय में केन्द्र सरकार से कहा है कि वह संविधान के अनुच्छेद 51 (क) के अन्तर्गत भगवद्गीता को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र घोषित करे। संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय पक्षी, राष्ट्रीय पुष्प तथा राष्ट्रीय गीत की भांति राष्ट्रीय धर्मग्रंथ भी घोषित किया जाना चाहिए क्योंकि देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में प्रेरणास्रोत रही भगवद्गीता भारतीय जीवन पद्धति है। भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य बनता है कि वह इस राष्ट्रीय धरोहर की रक्षा करे और इसके आदर्शों का अनुसरण करे।

यह महत्त्वपूर्ण फैसला देते हुए इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा है कि नैतिक और सामाजिक मूल्यों की संवाहक तथा हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय की प्रतिनिधि गीता भारत का धर्मशास्त्र है। संविधान के मूल कर्तव्यों के तहत राज्य का दायित्व है कि वह 'भगवद्गीता' को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र की मान्यता दे। न्यायालय ने यह भी महत्त्वपूर्ण बात कही कि इस देश में जो ईसाई, पारसी, मुस्लिम या यहूदी नहीं है वे सब हिन्दू हैं। भारत में जन्मे सभी सम्प्रदाय बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि हिन्दुत्व का हिस्सा हैं और संविधान के अनुच्छेद 25 व 26 के अन्तर्गत हिन्दुओं को भी अपने सम्प्रदाय के संरक्षण का अधिकार प्राप्त है।

केन्द्र सरकार को न्यायालय ने ही ध्यान दिलाया है कि गीता भारत की आत्मा है। गीता सभी सम्प्रदायों की 'मार्गदर्शक शक्ति' है। गीता सनातन सत्य को उजागर करती है। इसलिए यह किसी सम्प्रदाय विशेष का ग्रंथ न होकर पूरी मानवता का सद्ग्रंथ है, पूरे मानव समाज को एकसूत्र में बांधने वाला ग्रंथ है।

लेकिन उच्च न्यायालय की उक्त टिप्पणी के साथ सेकुलर प्रलाप शुरू हो गया। कानून मंत्री श्री हंसराज भारद्वाज ने कुरान और बाइबिल को भी भारत का धर्मशास्त्र बताया। मुस्लिम पर्सनल बोर्ड को तो विरोध करना ही करना था।

विश्व इतिहास के महानतम् पुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा महाभारत काल के सर्वश्रेष्ठ योद्धा अर्जुन के बीच का संवाद है भगवद्गीता। देखा जाए तो हमारे देश की पहचान हैं गीता और रामायण। गीता को नकारने वाले हमारे देश के इतिहास, संस्कृति और पहचान को नकार रहे हैं।

सुनीता विलियम्स—मेरी अन्तरिक्ष यात्रा में मेरे पास रखी गीता निरन्तर मेरा उत्साह बढ़ाती रही, तभी में 195 दिनों तक अन्तरिक्ष में रहने का विश्व कीर्त्तिमान स्थापित कर सकी।

ईसा मसीह ने कहा कि 'अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो' परन्तु ईसाई सभ्यता ने ऐसा कभी नहीं किया। हमारी पूरी सभ्यता में ऐसा किसी ने नहीं कहा, न किसी भगवान् ने, न किसी सद्ग्रन्थ ने कि 'अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो' परन्तु हम हमेशा ऐसा ही करते हैं, हममें प्रतिशोध लेने की भावना नहीं है यह सभ्यतागत न्यूनता है।

—डॉ. अबुल कलाम

कबीर के दर्शन पर गीता का प्रभाव

आनन्दकन्द, मुरलीमनोहर, करुणानिधान, भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रकटी पुण्यकारिणी, दु:खहारिणी, अघनाशी, सुखराशि, मोक्षदायिनी विश्व की अमर संगीतिका गीता एक ऐसी पावन अमृतधारा के समान है, जिसमें मज्जन कर भारत भूमि के अनेकानेक महापुरुष आत्मज्ञान की ज्योति से चमत्कृत हो दिव्यानंद को प्राप्त हुए। गीता ब्रह्मज्ञान की एक चिर प्रज्वलित दीपिका है जिसकी ज्योति में पड़ कर असंख्य हिन्दू कुन्दन बन गए। गीता में भरे हुए विस्तृत ज्ञान भण्डार का प्रभाव सभी महापुरुषों पर पड़ा। यही कारण है कि इस दिव्य देन की महानता के सम्बन्ध में विश्व के सभी प्रमुख विचारक एवं दार्शनिकों में मतैक्य है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतीय धर्म और समाज में नूतन क्रान्ति लाने वाले सन्तकवि कबीर ने जन्म लेकर हिन्दी साहित्य को एक नए रुख पर मोड़ दिया। जनसाधारण की भाषा में उन्होंने धर्म के गंभीरतम तत्त्वों का जैसा सुन्दर निरूपण किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर के साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने से हमें उनके दर्शन पर गीता का स्पष्ट प्रभाव एवं अमिट छाप दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो गीता के मूलभावों का भाषान्तर ही कबीर के साहित्य का मूल है। अनेकानेक विषयों पर कबीर और गीता के दृष्टिकोणों में बहुत समानता है।

संसार की नश्वरता—इस सम्बन्ध में कबीर की स्पष्टोक्ति है कि कालचक्र में सभी को पिस जाना है—आज अथवा कल।

चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।।

माली आवत देख के कलिया करे पुकारि।
फूली फूली चुनि लई काल्ह हमारी बारि।।

और गीता का मत है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्। 9/33, गीता

स्थितप्रज्ञ जहां कबीर के मतानुसार निरेच्छय व्यक्ति ही सच्चा संत है—

चाह गई चिंता मिटी मनुवां बेपरवाह।
जिनको कुछ न चाहिए, सो जग साहनसाह।।

वहां गीता में भी कामना त्याग पर ही बल दिया गया है।

प्रजहाति यदा कामान्....। 2/55, गीता

देह की नश्वरता—कबीर ने बड़ी ही सुन्दर उपमाओं द्वारा देह की अनित्यता को सरल एवं स्पष्ट रूप से बताया है।

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात।
देखत ही छिपि जाएगा, ज्यों तारा परभात।।

हाड़ जले ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देख करि, भये 'कबीर' उदास।।

गीता में भी देह को अन्तवान कहा गया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।। 2/18, गीता

कबीर का दोहा—आया है सो जाएगा, राजा, रंक, फकीर और गीता के जातस्य ही ध्रुवे मृत्युं....(2/27 श्लोक) में समानार्थकता विस्मयोत्पादक है।

आत्मा अमर है—कबीर महान् आत्मदर्शी थे। वे स्वयं को अविनाशी एवं अमर ब्रह्मात्म का अनुरूप मानते हैं—

राम मरे तो मैं मरूं न तो मरे बलाय।
पारब्रह्म का बालका मरे न मारा जाए।।

और गीता में भगवान् अपने प्रिय सखा अर्जुन को उपदेश करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः..... 2/23, गीता

जीव में ब्रह्म—कबीर स्थान-स्थान पर मूढ़ प्राणी को बाहर जंगलों में ईश्वर को ढूंढ़ने पर फटकारते हुए कहते हैं—

तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में वास,
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
ज्यों नैनन में पूतरी........
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः 10/20, गीता

निष्काम कर्मयोग—कबीर के अनुसार निष्काम कर्म में ही कर्म का वास्तविक महत्त्व है अन्यथा कर्म केवल ढोंग है—

वृक्ष कबहुं नहि फल भखे नदी न संचे नीर।
परमारथ के कारणे साधुन धरा शरीर।।

गीता में तो स्थान-स्थान पर निष्काम कर्म पर बल दिया गया है।

कर्मणैव हि संसिद्धि.... 3/20, गीता

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। 2/47, गीता

चंचल मन—मन बड़ा चंचल है। इसे वश में करने से सर्व सिद्धियां सुलभ हो जाती हैं।

बाजीगर का बान्दरा, ऐसा मनुज हो साथ।
नाना नाच नचाय के राखत अपने हाथ।।

अर्जुन अधीर हो कृष्ण से कह उठे—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण....। 6/34, गीता

सुख-दुःख में समानता—सच्चा साधु वही है जो सुख-दुःख में, हर्ष-विषाद में समान रूप से ईश्वरोपासना करे—

दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय,
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय।
सुख के भाव झिलपड़े...

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है—

सुखदुःखे समे कृत्वा.....। 2/38, गीता

सन्तोष—संतोष ही सुख का मूल है। सब सुखों का निधान है।

गोधन गजधन वाजिधन और रतन धन खानि।
जब आवे सन्तोष धन सब धन धूरि समानी।।
साईं इतना दीजिये जितना कुटुंब समाय।
ता मैं भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाए।।

गीता में भगवान् कामना रहित प्राणी का निर्माण करने को उद्यत हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। 2/71, गीता

मिथ्या आडम्बर—कबीर सरल एवं शुद्ध चित्त वाले थे। वे सभी कर्मों में मिथ्याडम्बर से कोसों दूर रहते थे। यहां तक कि प्रभु ध्यान में भी वे दिखावे को अनुचित मानते थे—

माला तो कर में फिरै जीभ फिरे मुख मांहि।
मनुवा तो चहुं दिशि फिरै, यह तो सुमिरन नाहि।।

गीता में भी भगवान् ने इन्द्रियों का दमन कर मन से विषयों का भोग करने वालों की आलोचना की है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 3/6, गीता

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में गीता की भूमिका

हमारे देश की राष्ट्रीयता धार्मिक, सांस्कृतिक अधिक रही है। हमारे देश में जितनी क्रान्तियां एवं परिवर्तन हुए हैं वह आध्यात्मिक हैं। हमारे प्राय: सारे युग प्रवर्तक महापुरुष आध्यात्मिक थे। चाहे प्राचीनकाल में स्वतंत्रता संग्राम हो, चाहे मध्ययुग में, चाहे वर्तमान स्वाधीनता संग्राम में, गीता की विशेष प्रभावी भूमिका रही है।

चाहे भारत पर कैसा भी विदेशी आघात हुआ हो भारत ने, हिन्दू समाज ने, कभी भी अपने-आपको पराजित नहीं माना। निरन्तर संघर्षरत रहे। यह गीता का ही प्रताप है। इसलिए सिकन्दर को भारत के द्वार से वापस लौटना पड़ा।

सिकन्दर अरस्तू का शिष्य था। अरस्तू स्वयं पश्चिम का महानतम विचारक एवं वैज्ञानिक होते हुए भी भारतीय ज्ञान के लिए ललक रखता था। मेकनिरल नामक प्रसिद्ध लेखक ने सिकन्दर के आक्रमणों पर एक पुस्तक लिखी। मेगस्थनीज नामक इतिहासकार ने अपने ग्रंथ Indica में उसका उद्धरण देते हुए लिखा है कि सिकन्दर जब भारत पर आक्रमण के लिए निकला तब उसके गुरु अरस्तू ने उसे आदेश दिया कि वह भारत से लौटते समय उसके लिए दो उपहार लेकर आवे—एक गीता और दूसरा भारत का श्रेष्ठ संत। सिकन्दर जब भारत से लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रीटस नामक अपने प्रतिनिधि को एक भारतीय संत को ढूंढ़कर साथ ले चलने के लिए भेजा। एक संत तो साथ चल पड़ा परन्तु दूसरे ने जिसका नाम डेंडीमीज था, लिखा है—साथ चलने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। डेंडीमीज का भारतीय नाम दण्डी स्वामी हो सकता है। कई आमंत्रण भेजने पर भी वह सिकन्दर से मिलने नहीं आया। तब क्रुद्ध होकर सिकन्दर ने सेक्रेटस नामक अपने एक अधिकारी को उस सर्वसंग-परित्यागी संन्यासी के पास इस आदेश के साथ भेजा—'जो प्रत्यक्ष जुपिटर (देवता) का पुत्र है, ऐसे जगज्जेता सम्राट् सिकन्दर ने तुम्हें बुलाया है, जो तुम्हें धन से मालामाल कर देगा और यदि नहीं आओगे, तो वहीं तुम्हारा शिरोच्छेद कर दिया जायेगा।

यह धमकी सुनकर वह संन्यासी खिलखिलाकर हंस पड़ा। उसने उत्तर दिया—सिकन्दर जैसा और जिस अर्थ में देवता का पुत्र है, वैसा ही और उसी

अर्थ में मैं भी देवता का पुत्र हूं। सिकन्दर का जगज्जेता होने का दंभ व्यर्थ है। उसने अभी तो व्यास नदी का तीर भी नहीं देखा है। उस पार जिन शूरवीर भारतीयों के राज्य हैं और उनसे भी आगे जो मगध का प्रबल साम्राज्य है, उनके साथ युद्ध करने के बाद यदि सिकन्दर जीवित शेष रहता है, तो वह जगज्जेता है या नहीं—इस पर विचार करेंगे। सिकन्दर मुझे धन का लालच दे रहा है। जाकर उससे कहो कि मुझ जैसे संन्यासी ऐसी वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं। हमारे रहने के लिए शस्य श्यामल भारत, पहनने के लिए वल्कल वस्त्र, पीने के लिए गंगाजल, खाने के लिए पाव भर आटा बहुत है जिसे मेरी मातृभूमि मुझे माता की ममता से दे रही है। हम आत्मधन के धनी हैं। वह आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र सिकन्दर हमें क्या दे सकता है। सिकन्दर मेरा सिर कटवा देगा, तो अधिक-से-अधिक यही होगा कि वह सिर और शेष धड़ जिस मिट्टी से बना है, उसी में मिल जायेगा। परन्तु वह मेरी आत्मा का हनन नहीं कर सकता। मेरी आत्मा अमर है, अच्छेद्य है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। 2/23, गीता

सिकन्दर से कहो कि जो लोग सत्ता और स्वर्ण के दास हैं और मृत्यु से डरते हैं, उन्हीं को ऐसी धमकियां दे। हमारे सामने सिकन्दर जैसे मर्त्य मानव की ये धमकियां गीदड़ भभकियां होती है, क्योंकि सच्चा संन्यासी न स्वर्ण के वश में होता है और न ही मृत्यु से डरता है। जाओ, मैं नहीं आता।'

ऐसे ही एक यति से भेंट होने पर सिकन्दर ने उनसे पूछा—'मैं भारत विजय कर सकूंगा या नहीं?' यह सुनकर वह यति चुप रहा, किन्तु उसने एक ऐसा चमड़ा मंगवाया, जिसके दोनों सिरे या किनारे सूखकर और ऐंठकर धनुष की भांति वक्र तथा कड़े हो गये थे। तब उसने सिकन्दर से कहा, 'यह चमड़ा सपाट बिछाकर तू उस पर अकेला ही बैठ।'

सिकन्दर ने स्वयं और उसकी आज्ञा से उसके किसी अधिकारी ने उस चमड़े के वक्र सिरे को दबाकर उस पर बैठने की बहुत चेष्टा की, परन्तु वह एक सिरा दबाता, तो दूसरा कड़ा सिरा खट से ऊपर उठ जाता और उस सिरे को बलपूर्वक दबाता तो पहला कड़ा, ऐंठा सिरा खट से ऊपर उठ जाता। बहुत प्रयत्न करने पर भी उस चमड़े को सपाट बिछाकर उस पर अकेले बैठना उसके लिए सम्भव नहीं हुआ। उस ओर इंगित कर उस यति ने कहा—'तुम्हारे भारत विजय अभियान की यही दशा होगी। तुम प्रदेश जीतते हुए आगे बढ़ोगे तब तक पीछे जीते हुए प्रदेश तुम्हारे विरुद्ध विद्रोह कर, तुम्हारी सत्ता उखाड़ फेंकेंगे। उन्हें दंड देने के लिए तुम पीछे मुड़ोगे, तो आगे के जीते हुए प्रदेश तुम्हारा शासन अस्वीकार कर विद्रोह

करेंगे और स्वतंत्र हो जाएंगे। इस प्रकार अखिल भारत का सम्राट् बनना तुम्हारे लिए असंभव है। इस अभियान में तुम सफल नहीं हो सकते।'

इसी क्रम में बहुत से विद्वानों से उसका साक्षात् हुआ जिसमें दस विद्वानों के साथ उसका वार्त्तालाप बहुत प्रसिद्ध है। वे सब वास्तविक ज्ञानी और तपस्वी थे जिन्हें अपने भरे दरबार में मूर्ख सिद्ध कर उन्हें अपमानित करना चाहता था। इनमें अधिकांश ब्राह्मण थे और उन ब्राह्मणों में कुछ तपस्वी साधु भी थे।

उनमें से एक वयोवृद्ध संत को एक ओर खड़ा कर कहा—'तुम्हारे सभी साथियों से मैं बारी-बारी से कुछ प्रश्न पूछने वाला हूं। तुम्हें उन सबके उत्तर सुनकर यह निर्णय करना होगा कि किसका उत्तर सर्वश्रेष्ठ है। उसे ही मैं सर्वप्रथम फांसी पर चढ़ाऊंगा, उसके पश्चात् औरों को। उस दरबार में यूनान के भी अनेक विद्वान् उपस्थित थे। सिकन्दर ने पहले विद्वान् से प्रश्न किया, इस संसार में मृतों की संख्या अधिक है या जीवितों की?

प्रथम विद्वान् ने उत्तर दिया, 'इस संसार में मरे हुओं का कोई अस्तित्व नहीं है अतः जीवितों की ही संख्या अधिक है।

सिकन्दर ने दूसरे से पूछा, पृथ्वी पर अधिक प्राणी हैं या समुद्र में?

उसने उत्तर दिया, 'समुद्र पृथ्वी का ही भाग है, अतः सभी प्राणी पृथ्वी पर ही हैं।'

तदनन्तर तीसरे से पूछा, इस संसार में सर्वाधिक बुद्धिमान् कौन है?

इसके उत्तर में उसने कहा, 'बुद्धिमान् मनुष्य को भी अभी तक जिसकी जानकारी नहीं हो पाई, वह मनुष्य ही सर्वाधिक बुद्धिमान् है।

सिकन्दर ने चौथे से प्रश्न किया—'सिन्ध की जनता को मेरे विरुद्ध विद्रोह करने के लिए क्यों उकसाया?

उसने निर्भयता से उत्तर दिया कि मैं चाहता था कि वह जीये तो जीये स्वाभिमान के साथ और मरे तो स्वाभिमान के साथ।

फिर पांचवें से पूछा—पहले क्या बनाया गया, दिन या रात?

बेधड़क उत्तर दिया—दिन, रात से एक दिन पहले।

सिकन्दर कुछ समझ न सका, चकरा गया, झल्लाया सा उसने पूछा—क्या मतलब?

'मतलब कि असम्भव प्रश्नों का उत्तर भी असम्भव ही होता है।'

सिकन्दर कुछ हतप्रभ हो चला था। उसे लगा कि अपनी विजयों के बावजूद वह कुछ ऐसों के बीच खड़ा है जो हारकर भी उससे हारे नहीं और नंगे होकर भी

उसे तुच्छ समझते हैं। उसने छठे से पूछा—मनुष्य किस प्रकार दुनिया का प्यारा हो सकता है? साधु बोला—बहुत ताकत पर, पर साथ ही प्रजा का प्यारा होकर, जिससे प्रजा उससे डरे नहीं।

सिकन्दर ने सातवें विद्वान् तपस्वी से पूछा—मनुष्य देवता कैसे बन सकता है?

उसने उत्तर दिया—अमनुजकर्मा होकर। डूबते सिकन्दर को जैसे सूखी जमीन मिली। क्योंकि वह स्वयं अमनुजकर्मा था। अपने को देवताओं का वंशज वह मानता, कहता भी था।

फिर आठवें तपस्वी से पूछा—जीवन और मृत्यु दोनों में अधिक बलवान कौन है?

तपस्वी बोला—जीवन, क्योंकि वह भयानक से भयानक तकलीफ बर्दाश्त कर सकता है।

फिर सिकन्दर ने नौवें तपस्वी से पूछा—कब तक जीना इज्जत से जीना है?

उत्तर मिला—जब तक मनुष्य यह न सोचने लग जाए कि अब जीने से मर जाना अच्छा है।

अब सिकन्दर ने जज बनाये साधु से पूछा किसका उत्तर सर्वश्रेष्ठ है?

वह साधु भला अपने मित्रों की जान कैसे ले सकता था अतः उसने बड़ी युक्ति से कहा—एक से बढ़कर एक है।

जज का उत्तर स्वयं सिकन्दर के लिए पहेली बन गया, कुछ समझ नहीं पाया। इससे सिकन्दर अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसने उस विद्वान् से कहा कि तुम जान-बूझकर टेढ़े-मेढ़े उत्तर दे रहे हो, अतः सर्वप्रथम तुम्हें ही फांसी देनी होगी।

तब उस विद्वान् ने अत्यन्त शान्तिपूर्वक गम्भीर वाणी में कहा, 'राजन्! मैंने अपना काम योग्य रीति से किया है। मेरा निर्णय कितना उपयुक्त है, यह समझने के लिए विवेक शक्ति की आवश्यकता होती है। इस समय क्रोध और द्वेष के कारण तुम्हारी विवेक शक्ति नष्ट हो गई है। तुम्हारे जैसे राजा के लिए यह बात लज्जाजनक है।

वहां उपस्थित यूनानी विद्वानों ने उन भारतीय विद्वानों की एक स्वर से प्रशंसा की। उन्होंने सिकन्दर से कहा, 'हे राजाधिराज! यदि आप इन नर-रत्नों की हत्या करते हैं, तो आपके साथ ही यूनान देश की बदनामी होगी। सारा संसार हमें इस बात के लिए धिक्कारेगा। अतः आप ऐसे विद्वानों को मुक्त कर उन्हें गौरवान्वित करें, यही श्रेयस्कर है।'

यूनानी पंडितों की यह बात सिकन्दर को स्वीकार करनी पड़ी। उसने विद्वानों से क्षमायाचना करके अत्यन्त सम्मानपूर्वक उन्हें मुक्त कर दिया।

जो एक यति सिकन्दर के साथ चल पड़ा था, उसने भी ईरान की सीमा पर पहुंचकर सिकन्दर से प्रार्थना की कि मेरे लिए चिता तैयार की जाय, मैं इस शरीर को जला देना चाहता हूं। सिकन्दर ने पूछा, क्या बात है? उसने कहा, मेरी अवस्था अब अस्सी वर्ष से अधिक हो गई है, मुझे कभी ज्वर या कोई रोग नहीं हुआ। अब मुझे बुखार आया है। जिससे यह शरीर अपवित्र हो गया है और मैं इसे त्याग देना चाहता हूं। सिकन्दर ने सब प्रकार से यत्न किया और समझाया कि अपना विचार बदल दें, परन्तु जब वह न माना तो चिता तैयार की गई। उसके हाथ में रत्न थे जिन्हें वह चारों तरफ फेंकता जाता था। वह सीधा जाकर चिता पर चढ़ गया और उसे आग लगा दी।

स्पष्ट है सिकन्दर के समय कैसा अद्भुत प्रभाव गीता का संत समाज पर, ब्राह्मण समाज पर, क्षत्रिय समाज पर था जिसके फलस्वरूप सब एक साथ सिकन्दर के विरुद्ध उठ खड़े हुए। फलतः उसे भारत के द्वार से ही वापस लौटना पड़ा। जीवित अपने देश भी नहीं पहुंच पाया। रास्ते में ही प्राण निकल गये।

सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस को अपनी पुत्री सहित चार प्रान्त देकर समझौता करना पड़ा। शक-हूण, कुशाण को शीघ्र ही देश से निष्कासित कर दिया और जो देश में रह गए उन्हें अपने में पचा लिया, आत्मसात् कर लिया। जब दुनिया में इस्लाम की आंधी चली तो उसने स्पेन से लेकर इंडोनेशिया तक को अपने में लील लिया। वहां की पूर्व सभ्यता-संस्कृति को नष्ट कर अपने इस्लाम को थोप दिया। वहां भारत में इस दृष्टि से कुछ भी सफलता उन्हें नहीं मिली।

'दीने मुहम्मदी का बेबाक बेड़ा,
न जेजों में ठैरा न कुलजम में अटका।
किये जिसने तै चलके सातों समुन्दर,
वह डूबा दहाने में गंगा के आखिर।।'

अर्थात् अरब देश का वह निडर बेड़ा जिसकी ध्वजा विश्वभर में फहरा चुकी थी, किसी प्रकार का भय जिसका मार्ग न रोक सका था, जो अरब और ब्लूचीस्तान के मध्य वाली खाड़ी में भी नहीं रुका था और लाल सागर में भी नहीं झिझका था, जिसने सातों समुद्र ढाल के नीचे कर लिए थे, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया।

इस्लाम से हमारा संघर्ष प्रारम्भ में मुहम्मद बिन कासिम (712 ई.) से प्रारम्भ होता है जो आज तक जारी है। इस बीच सन् 1757 से सन् 1947 तक

अंग्रेजों से टक्कर ली। अंग्रेजों के विषय में कहा जाता था इनके राज्य में सूर्यास्त नहीं होता। उनको भी देश से निष्कासित करके ही दम लिया।

आधुनिक समय में देश के राष्ट्रीय जागरण में, राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में गीता का अविस्मरणीय अवदान है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में उद्दीप्त इस राष्ट्रीय जागृति की प्रेरणाशक्ति धार्मिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक निष्ठा थी। इसलिए इसे धार्मिक राष्ट्रीयता के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख प्रणेता बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष सभी प्रगाढ़ धार्मिक निष्ठा के व्यक्ति थे। लाला लाजपतराय स्वधर्म और स्वदेश को एक ही तत्त्व के दो रूप मानते थे। उनके अनुसार देशभक्ति को धर्मनिष्ठा का स्वरूप देकर उसे ही जीवन-मरण का लक्ष्य निर्धारित करने में मानव जीवन की सार्थकता है। इस धार्मिक प्रवृत्ति ने उन्हें राष्ट्र में परमात्म दर्शन करने की शक्ति दी।

देशभक्ति को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने में गीता का निष्काम कर्मयोग, आत्म समर्पण योग, आत्मा की अमरता और स्थितप्रज्ञ दर्शन तथा स्वामी विवेकानन्द द्वारा उपदिष्ट वेदान्त दर्शन का सर्वाधिक योग था। स्वामी विवेकानन्दजी आधुनिक समय में सर्वप्रथम वेदान्त के सत्य को गिरि-कन्दराओं में अवस्थित कतिपय संन्यासियों के हाथ से निकाल कर जनसाधारण की सम्पत्ति बना देना चाहते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि इसी के माध्यम से यह सोया हुआ देश जागेगा और लोगों में आत्मविश्वास की उत्पत्ति होगी। उन्होंने यह भी कहा कि मेरी प्रार्थना है कि आगामी 50 वर्षों तक भारत के सारे देवी-देवता तिरोहित हो जायें, एकमात्र भारत माता ही पूज्य देवी के रूप में प्रतिष्ठित रहे तभी हम अन्य देवी-देवताओं की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं। इस यथार्थ उद्घोष के ठीक 50 वर्षों के अन्दर अर्थात् 1947 में भारत को स्वाधीनता प्राप्त हो गई।

यह अलग बात है स्वाधीन भारत को सही नेतृत्व नहीं मिलने से भारत की जो भूमिका देश के संदर्भ में और विश्व के संदर्भ में होनी चाहिए थी वह नहीं हो सकी, स्वयं पथच्युत होकर अन्तर-बाह्य संकटों से पुनः घिर गया है। अतः स्वामी जी के निवेदन में इतना संशोधन अवश्य कर लेना चाहिए 'स्वामी जी के पचास-वर्ष', अभी पूरे नहीं हुए हैं। और हम सचमुच में देखते हैं कि इसने सारे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को प्रेरित किया। स्वाधीनता आन्दोलन में चाहे अहिंस मार्गी हो या सहिंस मार्गी दोनों का लक्ष्य देश की स्वाधीनता था। इसलिए दोनों का पाथेय भी एक था। यही कारण है कि गांधीजी के हाथ में गीता देखते हैं तो भूदान आन्दोलन के प्रवर्तक विनोबा भावे के हाथ में भी गीता तो क्रान्तिधर्मा तिलक के हाथ में गीता और प्रायः सभी विप्लवी बन्धुओं के हाथ में गीता देखते हैं। 16 वर्ष

का युवक खुदीराम बोस गीता के श्लोक गाता हुआ हंसते-हंसते फांसी के फंदे को चूम लेता है—

एक बार बिदाय दे मां फिरे आसी,
हांसी-हांसी पोड़बो फांसी देखबे भारतवासी।

रामप्रसाद बिस्मिल फांसी के दिन भी स्नानादि से निवृत्त होकर दैनिक पूजा-पाठ के बाद, दैनिक व्यायाम भी करके दो दिन पूर्व लोकमान्य तिलक द्वारा प्रेषित गीता का पाठ करते हुए हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ जाता है। फांसी के समय 10 पौण्ड वजन बढ़ जाता है।

इधर, सन् 1909 को लन्दन के इम्पीरियल इंस्टिट्यूट के जहांगीर हॉल में मदनलाल ढींगरा ने सर करजन वायली नामक एक अंग्रेज अधिकारी को गोली का निशाना बना दिया। अंग्रेजों की भरी हुई सभा में एक भारतीय हिन्दू युवक के इतने साहस को देखकर अंग्रेज कांप उठे।

मदनलाल ढींगरा ने अदालत में निर्भीकतापूर्वक वक्तव्य देते हुए कहा—हिन्दू के नाते मैं यह अनुभव करता हूं मेरे देश के साथ किया गया अन्याय ईश्वर का अपमान करने के तुल्य है। मेरे देश का कार्य ही भगवान् राम का कार्य है। उसकी सेवा ही कृष्ण की सेवा है। धन और बुद्धिबल से निर्धन मेरे सरीखे अकिंचन् पुत्र के पास माता के श्रीचरणों में समर्पित करने के लिए अपनी रक्तांजलि के अतिरिक्त है भी क्या? अत: मैं उसे ही उसकी पावन वेदी पर समर्पित कर रहा हूं।

जब तक हमारा देश स्वतंत्र नहीं हो जाता भगवान् कृष्ण इन शब्दों के द्वारा हमें प्रबोधित करते रहेंगे—'यदि तुम युद्ध करते हुए मर जाते हो तो तुम्हें स्वर्ग प्राप्त होगा, यदि सफल होते हो तो तुम पृथ्वीतल पर राज्य करोगे।'

आत्मा अमर है। यदि मेरे देशवासियों में से हर एक मरने से पूर्व कम से कम दो अंग्रेजों की जान ले तो माता की मुक्ति एक दिन का काम है।

'ईश्वर से मेरी अन्तिम प्रार्थना है कि मैं तब तक भारत में जन्मता और पुन: मरता रहूं जब तक भारत माता स्वतंत्र न हो जाए।' इस प्रकार मदन ढींगरा के हाथ में भी गीता।

अरविन्द घोष के हाथ में गीता। उन्होंने भगवद्गीता का स्पेशल Edition छपवाया था। जिसके मुखपृष्ठ पर भारत माता का चित्र था। भारत माता एक हाथ में गीता लिए हुए और एक हाथ में तलवार लिए हुए। और जितने भी क्रान्तिकारियों को देशभक्ति की प्रतिज्ञा करवाते थे उसके एक हाथ में गीता पकड़वाते और एक हाथ में तलवार पकड़वाते थे। गीता में पुन: भारत माता का चित्र था, जिसमें भारत माता पुन: एक हाथ में गीता और दूसरे हाथ में तलवार

लिए हुए है। और वन्देमातरम् का गीत गवाते थे। इस तरह अरविन्द घोष ने अपने छोटे भाई वारीन्द्र घोष को, स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्र दत्त को भी इसी तरह से दीक्षा दी थी। उस गीता पर अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया। क्योंकि जितने क्रान्तिकारियों के घरों में खोज होती उस घर में बारूद मिलता, बम के मसाले मिलते, गीता मिलती। अन्य समय में, फांसी के समय में भी गीता उनके साथ होती थी। तो अंग्रेज सरकार ने सोचा गीता में और बम के गोलों में कुछ सम्बन्ध होगा। इसलिए क्रान्तिकारी बम के गोले भी रखते हैं, गीता भी रखते हैं। उन्होंने कुछ Intelligence Department के Officer लगवाये कि तुम खोज करके बताओ गीता में बन बनाने के फार्मूले कहां-कहां है?

श्री अरविन्दजी को जब इस बात का पता लगा तब उन्होंने कहा—अरे, तुम से जाहिल और मूर्ख आदमी दुनिया में और कोई नहीं है अंग्रेजों। तुम्हारी अक्ल में समझ में नहीं आता कि गीता में बम बनाने के फार्मूले नहीं हैं। गीता तो आत्म बम बनाने का कारखाना है। उसमें वह फार्मूले हैं जिससे व्यक्ति आत्म बम बन जाता है जिससे दुनिया के सारे बम और सारे हथियारों के सामने आदमी निर्भीक खड़ा रह सकता है। वह आत्मा की शक्ति देती है, जिससे वह किसी शस्त्र से डरता नहीं। उस अमर आत्मा का संदेश गीता देती है।

अरविन्दजी एक पत्रिका निकालते थे, जिसका नाम था युगान्तर। युगान्तर में ऐसे-ऐसे क्रान्तिकारी लेख लिखते थे, तो उस युगान्तर पर प्रतिबंध लगा दिया सरकार ने। युगान्तर का संस्करण 'अन्डर ग्राउंड' छपने लगा, छिप करके भूमिगत छपने लगा। उस युगान्तर पत्रिका को क्रान्तिकारियों एवं अन्य घरों तक पहुंचाने का जिम्मा लिया कुछ नवयुवकों ने। उन नवयुवकों में एक हनुमान प्रसाद पोद्दार भी थे। जो बाद में गीताप्रेस के संस्थापकों में एक थे। उस समय वे कलकत्ता में थे। साधारण दलाली का छोटा-मोटा धंधा करते थे। वो अरविन्दजी के सम्पर्क में आए। तो वह क्या करते 'सनलाइट' साबुन का पैकेट लेते। सनलाइट साबुन के पैकेट को खोलकर साबुन पर पहले युगान्तर का पेपर लपेटते थे और उसके ऊपर फिर सनलाइट का रेपर आदि लगाकर लोगों के घर-घर तक पहुंचाते थे। और गीता की प्रतियां जिस पर सरकार ने प्रतिबंध लगाया था उसको पहुंचाते थे। एक बार वो पकड़े गए। उन्होंने पूछा—क्या करता है? क्या करता हूं? गरीब आदमी हूं साबुन बेचता हूं। पेट पालने का धंधा करता हूं। जब अखबार पकड़ी गयी तब अखबार को देखा। युगान्तर का मूल्य क्या लिखा है? पहले युगान्तर का मूल्य होता था एक पैसा। अब जब प्रतिबंध लगा दिया सरकार ने, पेपर 'अन्डर ग्राउंड' छपने लगा, भूमिगत हो गया तब उस पर मूल्य क्या छपता? युगान्तर का मूल्य फिरंगीर काटा मुण्डु। युगान्तर का मूल्य फिरंगी का कटा हुआ सिर। पटना में पढ़ते

थे जयप्रकाश। कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज में सुभाष चन्द्र बोस पढ़ते थे। सुभाष बोस जयप्रकाश से लगभग दस वर्ष बड़े थे और स्वामी विवेकानन्दजी को प्रत्यक्ष देखा था बचपन में। उस समय प्रेसीडेन्सी कालेज में विवेकानन्दजी के भक्तों के दो दल हो गये थे। एक दल कहता था विवेकानन्द ने कहा है फुटबाल खेलकर आप जल्दी भगवान् के निकट पहुंचोगे, उसको पाओगे। एक मरियल-सा, दुबला-सा विद्यार्थी स्वामी विवेकानन्द के पास आया। स्वामीजी! गीता के इस श्लोक का अर्थ बताइये। स्वामीजी ने परिचय पूछा तो बताया मैं तृतीय वर्ष स्नातक का छात्र हूं। इतना दुबला-पतला। क्या आप व्यायाम करते हो? नहीं स्वामीजी, व्यायाम तो नहीं करता। बस, पढ़ता रहता हूं। स्वामीजी ने कहा—जा, गीता को छोड़। जाओ फुटबाल खेलो। तुम्हें पता है गीता का उपदेश भगवान् ने विश्व के सबसे शिरोमणि योद्धा को, संसार के परमवीर को यह गीता का उपदेश दिया है। क्या दुबले-पतले आदमी के लिए गीता का उपदेश है। जाओ, जाकर व्यायाम करो, व्यायाम करने से तुम्हारा शरीर बलिष्ठ होगा। नया, ताजा खून तुम्हारी नसों में दौड़ेगा। तब तुमको गीता का श्लोक अधिक अच्छी तरह समझ में आएगा। और स्वामीजी ने एक वचन कहा—आप फुटबाल खेल करके भगवान् को जल्दी पा लोगे भगवद्गीता पढ़ने की अपेक्षा। तो कुछ ने यही वचन पकड़कर (स्वामी विवेकानन्द के) कुछ भक्त फुटबाल खेलने लगे। और विवेकानन्द के भक्तों का दूसरा दल विवेकानन्दजी की आध्यात्मिक पुस्तकें एवं गीता पढ़ते थे। सुभाष बोस से भी उन्होंने पूछा। आप क्या करेंगे, फुटबाल खेलेंगे या गीता पढ़ेंगे। सुभाष ने कहा, दोनों करूंगा। सो कैसे? तो उन्होंने कहा विवेकानन्द जो अमेरीका गया वह फुटबाल का टूर्नामेंट खेलने नहीं गया था। वह वहां अध्यात्म का उपदेश करने के लिए गया था। विवेकानन्द अध्यात्म का प्रचारक है। स्वामी विवेकानन्दजी के आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़ेंगे, गीता को जरूर पढ़ेंगे और साथ में फुटबाल भी खेलेंगे। पर विलक्षण ढंग से खेलेंगे। कैसा फुटबाल खेलोगे? अरविन्दजी के युगान्तर का मूल्य छपा होता था—युगान्तर मूल्य फिरंगीर काटा मुण्डु। युगान्तर का मूल्य फिरंगी का कटा हुआ सिर। तो फिरंगी के कटे हुए मुण्ड से हम फुटबाल खेलेंगे।

इन बातों को जयप्रकाशजी ने सुना तो जयप्रकाश नारायण चमत्कृत हो गए। गीता में इतनी शक्ति है। लोगों को इतना बल देती है। वह बहुत प्रभावित हुआ। कालेज में जाते हुए गीता साथ ले जाते। जब कोई पीरियड खाली होता तो उसमें गीता पढ़ते। अपने साथियों को पढ़ाते। गीता का जादू जयप्रकाश के मन पर काम करने लगा।

बाद में देखा गांधी जैसे शान्तिवादी के हाथ में भी गीता है। अरविन्द जैसे क्रान्तिकारियों के हाथ में गीता है। तिलकजी का गीता भाष्य आ गया। फिर धीरे-

धीरे विनोबाजी के प्रभाव में आ गए। विनोबाजी के गीता प्रवचन से प्रभावित हुए। उन्होंने व्रत बना लिया मैं प्रतिदिन स्नान करके गीता-पाठ करके ही कुछ खान-पान करूंगा। और वे जीवन के अन्तिम दिन तक गीतापाठ करते रहे और धीरे-धीरे जाने-अनजाने गीता के निष्काम कर्मयोग की छाप उनके मन पर पड़ गई। जिसके कारण एक व्यक्ति पिछले सैकड़ों वर्षों के इतिहास में हुआ जिसने अपने पेट के लिए, अपने पद के लिए अपने परिवार के लिए, प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए कुछ नहीं किया। सब कुछ समाज के लिए किया। ये निष्काम कर्मयोगी व्यक्ति कैसे बना? गीता के चमत्कार से बना है। गीता ने बड़ा जादू किया है। गीता ने मरे पड़े हुए लोगों को नया जीवन दिया है। गीता ने हताश पड़े राष्ट्र को नव चेतना दी है।

भारत के महापुरुष जापान गए थे। वहां जापान का एक नौजवान 'तारपीडो' चालक था। तारपीडो चलाने के लिए जा रहा था। उन्होंने कहा तारपीडो चालक तुम तारपीडो चलाने जा रहे हो। हां, जा रहा हूं। जापान के तारपीडो ऐसे बने थे जिनमें एक व्यक्ति का बलिदान देना जरूरी था। अमेरीका के और जर्मन के तारपीडो ऐसे थे जिसमें चालक बच जाता था। तारपीडो छूटता था जहाज को फाड़ देता था, पनडुब्बी फूटती थी, जहाज को फाड़ देती थी लेकिन चालक बच जाता था। लेकिन जापान के तारपीडो में चालक को अपना बलिदान देना पड़ता था। बढ़िया वस्त्र पहन करके, सुन्दर फूलमालाएं पहन करके, घर वालों से प्रेम से मिलकर सबसे आशीर्वाद लेकर जा रहा था। भारत के एक महापुरुष ने पूछा— कहां जा रहा है? उसने कहा मैं तारपीडो चलाने जा रहा हूं। इसका मतलब स्पष्ट है आज आप लौट करके आने वाले नहीं हैं। आज आपकी मृत्यु निश्चित है। फिर भी आप इतने प्रसन्न क्यों हैं? इतने बढ़िया कपड़े क्यों पहने हैं? इतनी फूलमालाएं क्यों पहनी है? इतने आनन्दित क्यों नजर आ रहे हैं? उस नौजवान ने चेहरे पर थोड़ा नफरत का भाव लाते हुए कहा—क्या श्रीमान् मैं जान सकता हूं आप कौन देश से आए हैं? मैं भारत से आया हूं। उसने कहा—ओह! आप भगवान् कृष्ण के देश से आए हैं? उसने अपनी जेब से भगवद्गीता की पुस्तक निकाली। यह अमरता का ताबीज हमारे पास है। जब तक मैं इसको जानता हूं, मृत्यु नाम की वस्तु नहीं जानता।

इंडोनेशिया की स्वाधीनता के अवसर पर लोगों ने हाथ में गीता लेकर स्वाधीनता की रक्षा की शपथ ली। राष्ट्रपति सुकर्ण ने कहा कि हममें अर्जुन का बल और कृष्ण की बुद्धि है। बाली द्वीप के लोगों ने भगवद्गीता को हाथ में लेकर स्वाधीनता की शपथ ली। आचार्य कृष्णकान्त शास्त्री कहते हैं—ब्रिटिश सेना के पहले हिन्दू पुरोहित होने के नाते मैंने देखा है कि ब्रिटिश सेना को गीता का उपदेश

देने से उनका मनोबल बढ़ा है तथा अब सेना युद्ध के मैदान में फल की चिंता किए बिना अपने कर्तव्य का पालन कर रही है।

इस प्रकार गीता ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को ही नहीं विश्व के अनेक देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों को अपना अमर बल प्रदान किया है और भविष्य में करती रहेगी।

पर दुर्भाग्य से 1947 में सच्चे अर्थ में स्वराज्य की स्थापना न होने से वह संघर्ष आज भी जारी है। न केवल राजनीतिक स्तर पर वरन् इसके अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी स्तरों पर जारी है। जो भारत को पुनः स्व में प्रतिष्ठित करके ही विराम लेगा। **यह गीता का ही प्रताप है। गीता की प्रेरणा है। गीता के निष्काम कर्मयोग, आत्मा की अमरता, स्थितप्रज्ञ दर्शन और आत्मसमर्पण योग का ही यह प्रभाव है कि हम कभी थके नहीं, हार मानी नहीं। सदैव कर्तव्य पथ, विजयपथ पर अग्रसर रहे हैं और रहेंगे।**

जब तक देश की राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दू का सैनिकीकरण नहीं किया जाएगा तब तक भारत की स्वाधीनता, उसकी सीमाएं, उसकी सभ्यता व संस्कृति कदापि सुरक्षित नहीं रह सकेगी।

—वीर सावरकर

वैज्ञानिक जगत् और गीता

राबर्ट ओपेनहाइमर—यह एक अत्यन्त विस्मयकारी तथ्य है कि 16 जुलाई, 1945 को अमेरीका के न्यूमेक्सिको रेगिस्तान में प्रथम अणुबम का परीक्षण किया जा रहा था, तो आविष्कारक राबर्ट ओपेनहाइमर ने ज्योंही आकाश में अनन्त सूर्यों के प्रकाश के समान प्रचण्ड अग्नि ज्वालाओं को बम के विस्फोट के साथ ही देखा तो उन्हें गीता के विराट् रूप के दर्शन की स्मृति हो आई और वे जेब से गीता निकालकर एकादश अध्याय का श्लोक गाने लगे जबकि ईसाई होने के नाते बाइबिल का वचन स्मृति में आना चाहिए था पर उन्हें गीता का श्लोक स्मरण आता है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। 11/12, गीता

आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से जो प्रकाश उत्पन्न होवे वह कदाचित् विश्वरूप परमात्मा के तेज सदृश हो।

शीघ्र ही इस ज्योति का रूप विकराल हो गया—मानो समस्त आकाश—पाताल को अपनी दैत्याकार लपटों में आवृत कर लेगी। ओपेनहाइमर को लगा कि मैं काल रूप में परिणत हो गया और उन्हें पुनः गीता का उद्घोष याद आ गया—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। 11/32, गीता

लोको का नाश करने वाला प्रवृद्ध महाकाल हू मैं। इस समय लोकों को नष्ट करने को प्रवृत्त हुआ हूं।

अणुबम के इस भयावह काल रूप को देखकर उन्हें ग्लानि हुई कि राजनीतिज्ञ लोग इसका दुरुपयोग करेंगे। अतः इसका उन्होंने विरोध किया। और तुरन्त लार्ड एलोमोस्ट प्रोजक्ट जहां का वह डायरेक्टर था वहां से त्यागपत्र देकर वह रामकृष्ण मिशन में चला गया। गीतापाठ करता रहा और सन् 1963-1964 में उन्होंने शरीर छोड़ा।

इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक भी गीता के महत्त्व को स्वीकारते हैं, क्योंकि इसमें प्राचीन धार्मिक रूढियों तथा कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान की खोज के लिए सूक्ष्म परमाणु से लेकर विशालकाय तारों की ओर उन्मुख

होते हैं, उसकी झलक उन्हें गीता में भी दिखाई देती है। यही कारण है कि अनेक वैज्ञानिक सुबह और शाम गीता के श्लोकों पर मनन और चिन्तन करते हैं तथा कुछ तो रात में उसे बगल में लेकर सोते भी हैं। यही कारण है कि नोबेल पुरस्कार प्राप्त जीवविज्ञानी अलडास हक्सले गीता का अनुवाद करते हैं और गीता को सच्चे अर्थ में 'शाश्वत दर्शन' की संज्ञा दी है। स्वामी प्रणवानन्द की लिखित गीता की भूमिका में हक्सले लिखते हैं— गीता शाश्वत दर्शन के कभी भी रचे गए सबसे स्पष्ट और सबसे सर्वाङ्ग सम्पूर्ण सारांशों में एक है। इसलिए न केवल भारतीयों के लिए, अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के लिए इसका स्थाई मूल्य है। सम्भवतः भगवद्गीता शाश्वत दर्शन का सबसे अच्छा सुसंगत आध्यात्मिक विवरण है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुम्बोल्ट ने कहा था संसार में जितने भी ग्रंथ हैं, उनमें भगवद्गीता जैसे सूक्ष्म और उन्नत विचार कहीं नहीं मिलते। स्वदेश में गणितज्ञ नारलिकर ने गीता कंठस्थ की है। आज पश्चिम का विज्ञान तीन कारणों से भारतीय तत्त्वज्ञान की ओर आकृष्ट हो रहा है— (1) संसार की व्याख्या विज्ञान के द्वारा असमर्थ पाकर (2) नैतिक कारण जिससे विज्ञान का दुरुपयोग न हो (3) भारतीय तत्त्वदर्शन से परिचित होने से।

बर्गसाँ—रावलपिंडी में रहने वाला व्यक्ति विदेश गया तो बर्गसा से मिलने गया। बर्गसा ने भारत से आए हुए व्यक्ति का स्वागत किया और कहा मुझे संस्कृत में गीता का मूल सुनाओ। उसने कहा उसकी पढ़ाई का माध्यम उर्दू था। अतः वह संस्कृत नहीं जानता है इसलिए वह संस्कृत में गीता का मूल नहीं सुना सकता है। अगर आप चाहें तो उसका अनुवाद अंग्रेजी में सुना सकता हूं। तब बर्गसा उसे अपने कमरे में ले गया जिसमें एक सोने की पेटिका में रखी हुई थी संस्कृत की मूल गीता। उसने कहा—अनुवादों से तो मेरी लाइब्रेरी भरी पड़ी है। मैं तो संस्कृत में ही गीता का मूल सुनना चाहता हूं। और फिर बर्गसा ने कहा अब मुझे समझ में आया आज भारत गुलाम क्यों है? गीता को भुला देने के कारण अन्यथा गीता का देश गुलाम नहीं हो सकता।

सुनीता विलियम्स जो भारत की पुत्री हैं, गुजरात की बेटी हैं, पर अब वह अमेरीका की नागरिक हैं। जब उसने अन्तरिक्ष में वैज्ञानिक शोध के लिए कई माह वहां व्यतीत किया तो वह अपने साथ भगवद्गीता ले जाती है।

पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अबुल कलाम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अग्नि की उड़ान' में लिखा है—वे 'गीता' से बहुत प्रभावित हैं। वे निरन्तर विशेषतया कठिन परिस्थिति में गीता का अध्ययन करने पर संतुष्टि लाभ करते हैं और इससे उन्हें समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है।

पंडित नेहरूजी जब आइंस्टीन से मिलने गए तो उन्होंने आश्चर्यचकित होकर देखा उनकी टेबुल पर गीता रखी है, जिसका वे नियमित स्वाध्याय करते हैं।

गीता का जीवन के विविध क्षेत्रों में अवदान

कुशल प्रशासन बनने में गीता का अवदान

एक बार स्वामी रंगानाथानन्दजी सन् 1949 में हैदराबाद में राज्य के सैन्य-प्रशासक जनरल जे.एन. चौधरी से भेंट करने गए। वहां स्वामीजी ने देखा उनकी मेज पर गीता की एक प्रति रखी है। तब स्वामीजी ने जनरल चौधरी से पूछा क्या आप गीता पढ़ते हैं? तब उन्होंने थके स्वर में उत्तर दिया, 'हां', जब कभी मैं थकान महसूस करता हूं और कुछ शान्ति पाना चाहता हूं तब मैं गीता की कुछ पंक्तियां पढ़ लेता हूं। तब स्वामीजी ने कहा इसका यह उद्देश्य तो नहीं है। इस टिप्पणी पर विस्मित होकर उन्होंने पूछा, 'क्या आपका तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक का हमें थोड़ी-सी मानसिक शान्ति देने के अलावा और भी कोई उपयोग है? तब स्वामीजी ने कहा—हां, यह ग्रंथ मात्र मानसिक शान्ति देने के लिए नहीं है, यह लोगों की सेवा करने हेतु आपमें शक्ति संचार करने के लिए है, आपको एक जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिए है। इसमें जीवन तथा कर्म का एक सर्वांगीण दर्शन है।

जनरल चौधरी आश्चर्यचकित रह गए और मुझसे बारम्बार पूछने लगे, तो क्या आपका तात्पर्य यह है कि इस प्रान्त के सैन्य-प्रशासक के रूप में मेरे लिए इसकी कोई प्रासंगिकता है? स्वामीजी ने कहा, ठीक ऐसा ही है। हमें इस बात को समझ लेना होगा कि सभी कर्मठ नर-नारियों, सभी उत्तरदायित्व वहन करने वाले लोगों को जीवन तथा कर्म के एक दर्शन की आवश्यकता होती है। गीता इसे 'योग' रूपी एक सहज शब्द के माध्यम से प्रस्तुत करती है। हमने अब तक इसे समझा नहीं है। गीता के चौथे अध्याय का पहला ही श्लोक लीजिये। श्रीकृष्ण वहां हमें बताते हैं, मैंने यह योग दर्शन उत्तरदायित्व वहन करने वालों को दिया था, ताकि इस दर्शन के द्वारा वे शक्तिमान होकर लोगों की सेवा, सुरक्षा तथा पोषण प्रदान कर सकें। इस ग्रंथ का यही उद्देश्य है। स्वामीजी ने इसी बात पर बारम्बार बल दिया और उन्होंने भी बारम्बार पूछा, 'क्या मैं इस प्रान्त के प्रशासक के रूप में एक अधिक कुशल व्यक्ति बनने के लिए इस पुस्तक से कुछ

सीख सकता हूं? स्वामीजी ने कहा, 'अवश्य, उत्तरदायित्व निभाने वाले सभी नर-नारियों को सर्वजन हिताय कार्य करने की प्रेरणा देना—यही तो इस पुस्तक का उद्देश्य है। यही तो इस पुस्तक का स्वभाव है, यह आपको सुलाने के लिए नहीं है। यह समाज के सभी लोगों की भलाई करने हेतु आपको वह परम मानवीय भाव तथा संकल्प देने के लिए है।

इससे जनरल चौधरी को गीता पर एक सम्यक् यथार्थ दृष्टि मिली, बड़े प्रसन्न हुए।

उद्धृत भगवद्गीता का सार्वजनीन संदेश, ले. स्वामी रंगानाथानन्द, पृष्ठ 2-3

अपराध शमन में गीता का अवदान

Every Saint has past. every sinner has future. प्रत्येक सज्जन का अतीत अच्छा था, तो आज वे साधु हैं, सज्जन हैं, प्रत्येक पापी के पास भविष्य है। यदि वह अपने आज को सुधार लेता है, वह साधु हो जाता है। जब हम अपनी त्रुटियों को स्वीकार कर उचित प्रायश्चित्त कर लेते हैं तो वह त्रुटि न रहकर विकास का साधन बन जाती है, विकास की सीढ़ी बन जाती है।

जब हम गिरते हैं तब भगवान् बार-बार हमें उठने का अवसर देते हैं। क्योंकि मनुष्य अपने मूल स्वरूप में दिव्य है, पर जब उस पर अज्ञान का, गलत मान्यता का, गलत संग का पर्दा पड़े तब जीवन में अपराध होने लगते हैं।

पर सत्संग के प्रभाव से मानव का मन बदलते ही, हृदय में परिवर्तन होते ही, बुद्धि सुधरते ही मानव पुनः साधु बन जाता है। गीता के चौथे अध्याय में भगवान कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 4/36, गीता

यदि तू समस्त पापियों से अधिक पाप करने वाला भी है, तो भी (इस) ज्ञान रूप नाव के द्वारा तू ही सम्पूर्ण पाप (समुद्र) से भलीभांति तर जाएगा।

पुनः भगवान् नौवें अध्याय में कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। 9/30, गीता

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी (मनुष्य) भी अनन्यचित्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माना जाना चाहिए क्योंकि वह यथार्थ निश्चय करने वाला हो गया है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। 9/31, गीता

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा चिरन्तन शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

चम्बल की घाटियों के डाकुओं को अपनी भूल का अहसास होने पर संत विनोबा भावे के सामने आत्मसमर्पण किया। विनोबा भावे ने उन्हें एक-एक प्रति मानस तथा गीता की भेंट में दी।

किरण बेदी ने भी तिहाड़ जेल में बच्चों में अपराध शमन के लिए गीता का सफल प्रयोग किया। पुरी के शंकराचार्य स्वामी निश्चलानन्दजी महाराज का गीता का प्रवचन मृत्युदण्ड प्राप्त कैदियों के बीच में हुआ। परम पूज्य स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज का प्रवचन जेल में हुआ आदि-आदि। स्वयं मेरा प्रवचन जेल में कैदियों के बीच में हुआ।

चिकित्सा जगत् में गीता की महत्ता

यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस वस्तु का विचार करता रहता है वैसा ही बनता जाता है। इसे संस्कृत में कीट-भृंगी न्याय कहते हैं। जाल में फंसा हुआ कीड़ा भृंगी का ध्यान करते-करते भृंगी ही बन जाता है। भगवान् का चिन्तन करने से वह धीरे-धीरे भगवान् ही बनता जाता है और शैतान के चिन्तन से शैतान बन जाता है। भक्ति में भगवान् का निरन्तर ध्यान करने से भागवत् गुण भक्त में अपने आप आने लगते हैं। सेमिटिक परम्परा को छोड़कर प्रायः सभी धर्मों में भगवान् को सर्वश्रेष्ठ गुणों का प्रतीक माना गया है। इसलिए मानवता के गुण विकास के लिए भक्ति और उपासना का बहुत बड़ा महत्त्व है। निराशा का चिन्तन करने से निराशा ही मिलती है और आशावादी चिन्तक को आशा। केवल कल्पना मात्र के विष से भी लोग मरते देखे गए हैं और काल्पनिक चमत्कारी आशीर्वाद से बड़े-बड़े महारोगी स्वस्थ होते हुए देखे गए हैं। बहुत से श्रद्धा उपचारक बिना औषधि केवल मंत्र या विश्वास के बल पर इलाज करते हैं। मन्दिरों, मठों और आश्रमों में अनेक असाध्य रोगी औषधि विज्ञान से निराश होकर पहुंचते हैं। मानव की सीमित शक्ति के ऊपर सर्वशक्तिमान की सत्ता है। जिसको मानव नहीं बचा सकता उसको भगवान् बचा लेगा। और सचमुच इसका बहुत बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। चाहे उसे भगवान् ठीक करते हैं या मनोवैज्ञानिक की भाषा में उसका मन ही उसे ठीक कर देता है। प्रभाव होता अवश्य है। दार्शनिक दृष्टि से देखें तो मन ही भगवान् की ज्योति है। वैकुण्ठवासी भगवान् सहायता करे या न करे अन्तर्यामी भगवान् तुरन्त ही कर देता है।

जब गांधीजी का अपना सगा पुत्र रामदास मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ था और सभी डॉक्टरों ने निराशाजनक जवाब दे दिया था, उस समय भी गांधीजी का राम पर विश्वास चलायमान नहीं हुआ था। कुछ डॉक्टरों ने कहा कि उसे अण्डा और मांस इत्यादि दिए बिना बचने की एक प्रतिशत भी सम्भावना नहीं है। गांधीजी

ने आपद् धर्म का बहाना करके बच्चे के प्राण बचाने के लिए हिंसा को स्वीकार नहीं किया। सारी रात राम का नाम स्मरण करते रहे और बच्चे के मुंह में गंगाजल डालते रहे। उनकी निष्ठा के चमत्कार से बच्चा सर्वथा निरोग हो गया।

प्रत्येक मानसिक चिकित्सालय में धर्म प्रचार एवं पूजा पाठ के लिए प्रावधान रखा जाता है क्योंकि जहां डॉक्टर हार जाते हैं वहां अध्यात्म अपना प्रभाव दिखाता है। बड़े-बड़े मानसिक चिकित्सकों का कथन है कि मानसिक रोगी का तीन-चौथाई उपचार तो भजन-पूजन, उपासना प्रणाली से ही हो जाता है। मात्र एक-चौथाई उपचार औषधियों से होता है।

भोगवादी देशों में जहां ईश्वर भक्ति एवं उपासना का उचित स्थान नहीं वहां मानसिक रोग एवं आत्महत्या के काण्ड सबसे अधिक होते हैं।

उद्योग, व्यवसाय-प्रबंधन जगत् और गीता

पाश्चात्य अर्थशास्त्र और मार्क्सवाद दोनों ही अर्थशास्त्र के व्यापार में नैतिकता का दखल नहीं स्वीकारते। दोनों तीन मान्यताओं को लेकर चलते हैं— मनुष्य जन्म से स्वार्थी है, जीवन का परम लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति है और अर्थ के व्यापार में नैतिकता का दखल नहीं होना चाहिए। लार्ड काइनिस ने 1930 में कहा और एक शताब्दी तक हमें अपने-आपको और अन्यों को भी यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि अच्छाई ही बुराई है और बुराई ही अच्छाई है। क्योंकि बुराई ही परिणामकारक है अच्छाई नहीं। कुछ दिनों तक लोभ और लालच को हम लोग अपना भगवान् मानें। क्योंकि उसीके आधार पर हम गरीबी की अंधेरी सुरंग से बाहर निकलकर प्रकाश का दर्शन कर सकेंगे।

अत: व्यापार का, बाजार का, उद्योग का एक ही सिद्धान्त है मुनाफा, लाभ, लालच। जिसका निष्काम कर्म के साथ कोई मेल नहीं है। 80-90 के दशक तक लालच ही अच्छा है सिद्धान्त वाक्य था। पर अब एक-दो दशकों से स्थिति बदल गई है और कर्म का सिद्धान्त व्यावसायिक जगत् का, औद्योगिक जगत् का सूत्रवाक्य बनता जा रहा है। आज के दौर में गीता धार्मिक ग्रंथ ही नहीं रही, बल्कि कारोबारी महाग्रंथ का रूप ले चुकी है। गीता में मैनेजमेंट फार्मूलों से लेकर लीडरशिप के गुणों और बिजनैस के सूत्रों की भरमार है। यही वजह है कि देश ही नहीं विदेशों के दिग्गज प्रबंधन संस्थान भी गीता ज्ञान को अपनाने लगे हैं।

बहुत से बड़े-बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में, औद्योगिक प्रतिष्ठानों में विधिवत गीता की कक्षाएं लगती हैं ताकि सभी में मन-बुद्धि का संतुलन रहे, परस्पर आत्मीय भाव रहे। सभी प्रतिष्ठान अपने कार्य को, भगवान् का कार्य समझें। जब उसे अपना कार्य या भगवान् का कार्य समझेंगे तब कामचोरी का

अवकाश नहीं रहता। उत्पादन और गुणवत्ता दोनों श्रेष्ठ होती है। कामगार आन्दोलन के कारण उत्पादन में एक घण्टे का भी व्यवधान नहीं होता, यद्यपि कारखानों में अनेक यूनियनें कार्यरत होते हुए भी परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। कारखानों में सहनाववतु सहनो भुनक्तु का मंत्र चरितार्थ है। मशीन को नहीं मनुष्य को महत्ता देते हैं। प्रबन्धक स्वयं को सम्पूर्ण का एक घटक मानते हैं। इससे कामगार एवं प्रबंधक का भेद तिरोहित हो जाता है। सामान्य कामगार भी सहजता से प्रबंध निदेशक से संवाद कर सकता है। कामगरों को उचित मेहनताना और बोनस भी प्राप्त होता है। परस्पर में सामूहिक कार्यक्रम एवं भोज भी होते हैं। इस प्रकार एक आत्मिक परिवेश और समष्टि भावना, समष्टि मन बन जाता है। जिसमें लाभ-हानि एवं संकट को साथ-साथ झेलने की एवं उबरने की भावना बन जाती है।

प्रथम जापान में इसका सफल प्रयोग हुआ है और अपने देश के भी कई व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों में अच्छी सफलता मिल रही है।

आज दुनिया की बड़ी से बड़ी कम्पनियों के सीईओ यानी मुख्य अधिशासी अधिकारी व तमाम वरिष्ठ प्रबंधक भगवद्गीता का व्याख्यान सुनने जमा हो रहे हैं। यहां तक कि कुछ ने तो भगवद्गीता पढ़ाने वालों से ट्यूशन लेना शुरू कर दिया है। जैसे कि जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी के सीईओ जैफ्री आर. इमैल्ट को एक शिक्षक घर पर भगवद्गीता पढ़ाने आता है ताकि वे अपनी कम्पनी में सही और संतुलित निर्णय ले सकें। अगर भगवद्गीता केवल धर्मशास्त्र के रूप में मानी जाती तो ऐसा सम्भव नहीं था कि अपने धर्म के प्रति कट्टर यहूदी और ईसाई उद्योगपति और अधिकारी अपने जीवन और व्यवसाय की समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिए भगवद्गीता का ज्ञान बटोर रहे होते।

इतना ही नहीं, दुनिया के श्रेष्ठतम प्रबंधकीय संस्थान जैसे हारवर्ड बिजनैस स्कूल, कैलोग स्कूल ऑफ बिजनैस, रॉस स्कूल ऑफ बिजनैस, वारटन बिजनैस स्कूल में भगवद्गीता का पाठ्यक्रम पढ़ाया जा रहा है। जब पूरी दुनिया में विभिन्न धर्मों के मानने वाले साधन सम्पन्न, उच्च पदासीन व ताकतवर लोग भगवद्गीता के ज्ञान को लेने को आतुर हैं और इस ज्ञान से अपने जीवन को सुधार रहे हैं।

गीता को वेद और उपनिषदों का निचोड़ माना जाता है। गीता ज्ञान का खजाना है। गीता को आत्मसात् करने वाला मैनेजर शायद ही कभी नाकामयाबी से घबराता है। वास्तव में गीता में हर वो ज्ञान है जो किसी भी मैनेजर के लिए जरूरी माना जाता है। दुनिया को सबसे बेहतरीन पेशेवर मैनेजर देने वाला संस्थान आई.आई.एम. भी समय-समय पर अपने छात्रों को गीता का कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग का पाठ पढ़ाता है।

दुनिया की कई कॉरपोरेट कम्पनियों में कर्मचारियों का नैतिक बल, नेतृत्व क्षमता, कार्यदक्षता, व्यक्तित्व निखारने के लिए गीता के सूत्रवाक्यों का जमकर सहारा लिया जा रहा है। भारत में तो दफ्तर की दीवारों पर गीता के प्रेरणादायी सूत्रवाक्य खूब लिखे दिख जाते हैं।

भारत की सबसे बड़ी जीवन बीमा कम्पनी एल.आई.सी. का तो ध्येयवाक्य **'योगक्षेमंवहाम्यहम्'** ही गीता से उठाया हुआ है। इसी ध्येयवाक्य के साथ एल.आई.सी. आज भी बीमा क्षेत्र का अग्रणी बना हुआ है।

दिल्ली मेट्रो रेल कॉरपोरेशन ने बहुत ही थोड़े समय में बेहतर कार्यशैली और प्रबंधन के चलते अपनी साख कायम कर ली है। इसके पीछे भी कहीं न कहीं गीता का ज्ञान है। डी.एम.आर.सी. सम्भवत: पहला ऐसा संस्थान है जहां सेवा आरम्भ करने पर कर्मचारी को स्वामी विद्याप्रकाशानंद द्वारा लिखित 'गीता मकरंद' की एक प्रति पढ़ने के लिए दी जाती है। इसके अलावा दिल्ली मेट्रो समय-समय पर मोटिवेशन के वर्कशाप भी आयोजित करती है। इसमें गीता के मर्मज्ञों को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस कवायद का सकारात्मक असर दिखा है। कर्मचारियों में टीम भावना और डेडलाइन के प्रति समर्पण है। भ्रष्टाचार, तनाव, कामचोरी जैसी कमियां यहां न के बराबर हैं। खुद दिल्ली मेट्रो के कर्ता-धर्ता और मेट्रोमैन के नाम से विख्यात ई. श्रीधरन गीता से गहरे प्रभावित हैं।

निष्काम कर्म कॉरपोरेट जगत् का नया नारा है। पिछले कुछ सालों में गीता में निहित मैनेजमेंट के मंत्रों का ज्ञान कराने वाली कई किताबें लिखी गई हैं। इनमें प्रमुख है—स्वामी सोमेश्वरानन्द की बिजनैस मैनेजमेंट 'द गीता वे', अरुण कुमार की 'मैनेजमेंट लीडरशिप थ्रू भगवद्गीता', स्वामी बोधानन्द की 'द गीता एंड मैनेजमेंट' और ए.के. श्रीवास्तव की 'भगवद्गीता : इकोनॉमिक डवलपमेंट एंड मैनेजमेंट। नेपाली मैनेजमेंट गुरु पूजन रोका ने अपनी किताब 'भगवद्गीता आन इफेक्टिव लीडरशिप' में गीता में निहित नेतृत्व के सिद्धान्तों को आधुनिक मैनेजमेंट के लिए कारगर बताया है।

खेल जगत् और गीता

सुनील गावस्कर क्रिकेट जगत् में अपने समय के महान् खिलाड़ी रहे हैं। वे अपनी सफलता का रहस्य गीता के तीन सूत्रों में बताते हैं—Discipline अनुशासन, Devotion भक्ति और Dedication समर्पण।

अभ्यास में प्रमाद नहीं।

ईश्वर में दृढ़ निष्ठा।

अपने में से सर्वोत्तम को अभिव्यक्त होने दो और फल ईश्वर पर छोड़ दो।

संवित् शूटिंग एवं गीता

गीता एवं शास्त्रों के मर्मज्ञ, वैज्ञानिक-संत, बालकों व युवाओं के चिर प्रेरक, सरल-सरस-सौम्य संन्यासी परम पूज्य श्री स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज ने वर्ष 2002 में भारत में विश्व के श्रेष्ठतम निशानेबाजों को बीकानेर में तैयार करने के उद्देश्य से आश्रम में संवित् शूटिंग संस्थान की स्थापना की। यह मुख्यत: एकाग्रता का खेल है, जो क्षात्रतेज, शौर्य को भी जगाने वाला है। संवित् शूटिंग संस्थान का ध्येयवाक्य है—

प्रणवो धनु, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। (मुण्डकोपनिषद्, 2.4)

ओंकार ही धनुष है, आत्मा बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमाद रहित मनुष्य द्वारा ही बींधा जाने योग्य है। अत: बाण की तरह उस लक्ष्य से तन्मय हो जाना चाहिए।

इस खेल में विशेषकर गीता के छठे अध्याय से पर्याप्त सहायता मिल रही है और पूज्यश्री के आशीर्वाद से श्रेष्ठ निशानेबाज तैयार हो रहे हैं। जिनमें आत्मविश्वास, एकाग्रता, धैर्य, वीरता, शौर्य, सत्यनिष्ठा, तप, तितिक्षा तथा सहभागिता की भावना आदि चारित्रिक गुणों का विकास हो रहा है। शूटिंग संस्थान के निशानेबाजों भावना शर्मा ने राष्ट्रीय स्तर की नमन शर्मा ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर की निशानेबाजी प्रतियोगिताओं में अनेकों पदक जीतकर बीकानेर, मरुनगर की राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर की पहचान बनाई है।

न्यूजर्सी में स्थापित अमेरीका की सेटन हाल यूनिवर्सिटी जिसमें 10,800 छात्र हैं सभी छात्रों के लिए गीता पढ़ना अनिवार्य कर दिया है।

आज रूस के राष्ट्रपति मेदवेदेव ओमकार (ॐ) ध्वनि के साथ-साथ राष्ट्रपति पद की शपथ ले रहे हैं।

त्रिनिदाद और टोबैगो की प्रधानमंत्री कमला प्रसाद बिसेसर 26 जून, 2010 को नोस्ली (पोर्ट ऑफ स्पेन) में एक गरिमामय समारोह में, गीता हाथ में लेकर प्रधानमंत्री पद की शपथ लेती है।

जिस संस्कृत भाषा को मृत भाषा घोषित किया था अंग्रेजों ने, किन्तु उसे अब विश्व के वैज्ञानिकों, भाषाशास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने विश्व की श्रेष्ठ भाषा घोषित किया है तथा विश्व के वैज्ञानिकों की भावी भाषा बतलाया है।

विश्व के 35 देशों के 450 विश्वविद्यालयों में संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन होता है। अमेरीका के विश्वप्रसिद्ध अंतरिक्ष अनुसंधान केन्द्र (नासा) के वैज्ञानिक डा. रिक ब्रिक ने विधिवत शोध कर निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत

संगणक (कम्प्यूटर) के लिए सहज और सर्वशुद्ध भाषा है। केवल संस्कृत ही एकमात्र भाषा है जिसकी ध्वनि हमारे मानवीय स्वर यंत्र के अनुसार है। लेखन और उच्चारण में कोई अन्तर नहीं है। मूल भाषा के नियमों के अन्तर्गत ही लाखों नए शब्द बनाने की सामर्थ्य केवल संस्कृत भाषा में ही है। किसी भी नए उपकरण अथवा वैज्ञानिक विधि का छोटा सारगर्भित नाम देने की सामर्थ्य केवल संस्कृत में है। पांच हजार वर्ष पूर्व गीता में प्रयुक्त संस्कृत भाषा तथा वर्तमान में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के स्वरूप में किसी प्रकार का अंतर नहीं है। जबकि विश्व की किसी भी भाषा का स्वरूप 100-200 वर्षों के बाद इतना बदल जाता है कि भावी पीढ़ियों को समझने हेतु शब्दकोश तथा भाषा वैज्ञानिकों की सहायता लेनी पड़ती है। विश्व की किसी भी भाषा में लिखे वैज्ञानिक साहित्य को एक हजार वर्ष बाद जब अध्येता पढ़ेगा उसे समझने में कठिनाई होगी, यह कठिनाई संस्कृत भाषा में लिखे साहित्य के साथ होने वाली नहीं है। अनेक समृद्ध क्षेत्रीय भाषाओं के उपरान्त भी बड़े-बड़े भारतीय विद्वानों द्वारा स्थायी प्रकृति का साहित्य संस्कृत भाषा में ही लिखने के कारण इस भाषा का शाश्वत स्वरूप है।

2006 अमेरीका White House में दीपावली मनाई गई जिसमें President बुश को आमंत्रित किया गया और घी के दीये जलाए गए। पूरा White House भगवामय हो गया। लंदन में हाउस ऑफ कामंस में इसे मानव मात्र की सुख-समृद्धि का उत्सव मानकर मनाया जा रहा है।

12 जुलाई, 2008, संयुक्त राष्ट्र अमेरीका की सीनेट की बैठक का (कांग्रेस के कार्यक्रम का) हवन से शुभारम्भ हुआ। गीता के श्लोक व वेदमंत्रों का पाठ कश्मीरी पंडित राजन जैद ने सम्पन्न कराया।

10 दिसम्बर को अमेरीका की सबसे बड़ी डेमोक्रेटिक पार्टी ने अपने अधिवेशन का शुभारम्भ उसी प्रकार से किया जिस प्रकार White House में गीता के श्लोकों का पाठ, वेदों की ऋचाओं का पाठ व शान्तिमंत्र के गायन से किया।

यूनेस्को ने वैदिक मंत्रोच्चार की पद्धति को अन्तरराष्ट्रीय धरोहर घोषित किया है।

अमेरीका के पूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन, वर्तमान ओबामा हनुमानजी के भक्त हैं। गले में हनुमान का लॉकेट है।

10 सितम्बर, 2008 (हिन्दुस्तान टाइम्स) जिनेवा में Big Bang theory के अध्ययन को लेकर किए जा रहे प्रयोग को लेकर धरती के काफी नीचे सुरंग बनायी। उसमें एक विस्फोट करना था। उसमें पूरे विश्व के वैज्ञानिक लगे हैं, जिसमें भारत के 200 वैज्ञानिक हैं। इस संस्था का नाम सी.ई.आर.एन. है।

इसका जो वैज्ञानिकों का अधिवेशन हुआ था उसकी अध्यक्षता नटराज की दो मीटर की बड़ी मूर्ति ने की।

बिल क्लिंटन जब राष्ट्रपति थे तो उनके साथ में उपराष्ट्रपति अलगोर थे। इस समय दुनिया में ग्लोबल वार्मिंग के बारे में सर्वाधिक इनिशिएटिव लेकर प्रचार करने वाला कोई व्यक्ति है तो वह अलगोर हैं। अलगोर उस समय उपराष्ट्रपति थे और वहां पर पृथ्वी सम्मेलन हुआ था। उस पृथ्वी सम्मेलन के उद्घाटन में अलगोर ने एक वाक्य कहा था कि पिछले तीन सौ सालों से हम लोग गलत मार्ग पर चल रहे हैं। अब समय आ गया है कि हम पुनर्चिन्तन करें और मार्गदर्शन के लिए पूर्व की ओर मुड़ें। इस समय और इस दिशा में जाना है तो होलिस्टिक थिंकिंग का जो कॉन्सेप्ट, जो मदर अर्थ का कॉन्सेप्ट भारत ने बहुत पहले दिया है, उसे अपनाएं। उस कान्फ्रेंस में अथर्ववेद का जो भूमि सूक्त है वह दुनिया के इकोलोजी के लोगों के लिए मास्टर प्रिन्ट हो सकता है, उसका अंग्रेजी अनुवाद सबको दिया गया। सबने कहा कि इसमें हमने जो कुछ सोचा वह सब कुछ है। उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। जो परिदृश्य खड़ा हुआ है इसमें आदमी को लगता है कि हमें कहीं इधर आना पड़ेगा।

वैश्विक ताप की समस्या अमेरीका और यूरोपीय देशों की जीवनशैली के कारण ही उत्पन्न हुई है। इसके समाधान के लिए अनेक सम्मेलन हुए, लेकिन कहीं से भी इस समस्या का समाधान नहीं निकल पाया। समाधान के लिए आखिरकार सबने भारतीय चिन्तन दर्शन की ओर देखा। दुनिया के अनेक देशों ने भारतीय चिन्तन दर्शन को विभिन्न समस्याओं के समाधान के रूप में स्वीकार किया है।

राजीव गांधी जब प्रधानमंत्री बने और भारत से परिचय कराने के लिए भारत उत्सव का आयोजन मास्को में किया जिसका उद्घाटन राष्ट्रपति गोर्बाचोव ने किया। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में कहा आज दुनिया सर्वनाश की ओर जा रही है, उसे विनाश से बचाने के लिए अत्यन्त मूल्यवान सिद्धान्त, तत्त्व, जीवन-मूल्य भारत ही दे सकता है। इस अवसर पर उन्होंने गीता के दो श्लोक भी कहे—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62, गीता

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63, गीता

जिसका अर्थ है कि जब मनुष्य का मन मोह में पड़ जाता है तो वह दानव बन जाता है। गुणों की सम्पत्ति नष्ट करने का प्रयास करता है। सबकी हत्या करने का प्रयास करता है। सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः मन को नियंत्रित

करो। यदि मन नियंत्रित रहा तो सब कुछ ठीक रहेगा। यह कार्यक्रम दूरदर्शन में दिखाया गया था।

पश्चिम में परिवार जीवन, समाज जीवन समाप्तप्राय हो गया है। इसके बड़े दुष्परिणाम आ रहे हैं। अनैतिक सम्बन्ध और लावारिस बच्चों की फौज विस्फोटक स्थिति में पहुंच रही है। मार्गरेट थैचर इंग्लैण्ड की प्रधानमंत्री, जब वे प्रधानमंत्री पद से मुक्त हुईं तब एक भारतीय परिवार में एक सप्ताह तक रही। उसने कहा कि आने वाले समय में इंग्लैण्ड के समाज को अगर बचना है तो जितनी जल्दी हो सके भारतीय पारिवारिक मूल्यों को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इंग्लैण्ड में लंदन के मेयर (महापौर) स्वामीनारायण सम्प्रदाय द्वारा बनाए गए मंदिर को देखने गए। मंदिर में भारतीय और पौराणिक पात्रों पर बनी झांकियों को देखा। उसमें प्रह्लाद और ध्रुवजी की भी झांकी थी। उनके दर्शन करते-करते श्रवण कुमार की झांकी के सामने रुक गए। उसे बड़ा विचित्र लगा। एक युवक है, उसके बलिष्ठ कंधे पर एक विचित्र-सी चीज है, कांवड़ के जैसी। और एक बूढ़ा, एक बूढ़ी उसमें बैठे हैं। उसमें एक जवान और बूढ़ा-बुढ़िया से क्या तालमेल है? क्योंकि वहां तो सम्बन्ध रहता नहीं है। तो उसने पूछा कि क्या है यह? उसे बताया कि एक भारतीय पात्र है। एक युवक था, यह उसके मां-बाप हैं, उनकी इच्छा थी तीर्थयात्रा करने की। उनकी इच्छा पूरी करने के लिए उसने शादी वगैरह नहीं की। पहले यह करूंगा फिर उसके बाद अपना सुख, उनको लेकर सारे भारत में घूमकर यात्रा कराई। वह मेयर कहता है कि क्या यह सम्भव है? कंधे पर लेकर जवान लड़का और जवानी में ऐशो आराम करने के बजाय बूढ़े मां-बाप को ढोकर के ले जा रहा है क्या यह सम्भव है? लौट कर आने के बाद लन्दन की स्कूलों में एक सर्कूलर निकाला कि अपने बच्चों को मंदिर देखने के लिए भेजो कि चरित्र क्या होता है, जीवनमूल्य क्या होता है। इसकी तो हमें जरूरत है? इस प्रकार आज पाश्चात्य जगत् भारतीय पारिवारिक मूल्यों की ओर, जीवनमूल्यों की ओर आकृष्ट हो रहा है।

आज वे भारतीय विवाह पद्धति की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

आज अमेरीका विचारों से हिन्दू होता जा रहा है। ऐसे सर्वे प्रकाश में आ रहे हैं। एक लेख में ऋग्वेद की उस ऋचा का उल्लेख किया गया है जिसमें कहा गया है कि सत्य एक है और विद्वान् इसे कई प्रकार से कहते हैं। इसी तरह हिन्दू मानते हैं कि ईश्वर की ओर जाने के कई रास्ते हो सकते हैं। ईसाइयत और कुरान भी इसमें शामिल है। ऐसा नहीं कि कोई भी रास्ता दूसरे से श्रेष्ठ है। अधिकतर पारम्परिक और रूढिवादी ईसाइयों को इस तरह से सोचने के बारे में नहीं सिखाया जाता है। लेकिन अमरीकी अब पुरानी सोच को छोड़ रहे हैं। 30 फीसदी अमरीकी खुद को धार्मिक के बजाय आध्यात्मिक बताते हैं।

आज वे कैमिकल के स्थान पर हरित को, तुलसी, आंवला, हलदी, ग्वारपाठा आदि को स्वीकार रहे हैं। योग और आयुर्वेद को स्वीकार कर रहे हैं।

लातविया में रघुरामजी गए थे तो वार्तालाप में कहा युवकों को एकत्रित करोगे तो मैं गीता के बारे में बतलाऊंगा। तो उन्होंने कहा, बताने की कोई जरूरत नहीं है। तो उन्हें लगा कि गीता से विरोध होगा शायद इसलिए बोले—क्यों? बोले वो ऐसा है हमारे यहां पर स्कूल के पाठ्यक्रम में गीता है।

इस प्रकार आज दुनिया गीता, योग, आयुर्वेद, अध्यात्म, जीवन-मूल्य, पारिवारिक मूल्य, पवित्रता, शाकाहारी भोजन, हिन्दू त्योहार आदि की तरफ निरन्तर आकृष्ट होती जा रही है।

जीवन के हर क्षेत्र में गीता की महती भूमिका देखकर ही तथा भारतीय संस्कृति का सार होने से परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज ने गीता लिखित प्रतियोगिता सन् 1995 में प्रारम्भ की ताकि बच्चे प्रारम्भ से ही गीता से जुड़ जाए। गीता से जुड़ते ही वह पूरी भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, पूर्वजों, महापुरुषों, भगवान कृष्ण, परम्परा व इतिहास से जुड़ जाता है। उसे जीवन के प्रारम्भ से ही पूरे जीवन का नक्शा और जीवन का वास्तविक लक्ष्य मिल जाता है। बच्चों के कारण उनके अभिभावक एवं आचार्य भी गीता से जुड़ जाते हैं। इस प्रकार परिवार एवं विद्यालय भी गीता से जुड़ जाते हैं। सरकार तो धर्मनिरपेक्षता के कारण गीता की शिक्षा देती नहीं है। इसलिए परम पूज्य गुरुदेव जैसे अनेक संत इस कार्य को कर रहे हैं। जैसे सांभरलेक में योगी रमणनाथजी महाराज। आदि-आदि। आज गीता प्रतियोगिता एक विशाल वटवृक्ष का रूप ले चुका है। 2010 में 2,06,975 एवं 2011 में 1,75,380 छात्रों की इसमें भागीदारी रही।

विदेशियों, विधर्मियों को स्वीकारने में अत्यधिक लचीलापन। बाहर से कोई आये चाहे दूसरा धर्म हो, चाहे दूसरा राजा अथवा कोई पूर्णतया अजनबी, हम उनकी ओर तुरन्त श्रद्धामय हो जाते हैं, जबकि अपने ही लोगों को स्वीकार करने में हम कम उदार होते हैं।

—डॉ. अबुल कलाम

× × ×

हम गर्व करते हैं अपनी सहनशीलता पर। परन्तु अत्यधिक सहनशीलता कोई सद्‌गुण नहीं है, यह एक कमजोरी है। इतिहास ने बार-बार हमें यह सिखाया है कि सहनशीलता कभी भी महान् सद्‌गुण नहीं है।

—डॉ. अबुल कलाम

गीता के प्रति निष्ठा के दो प्रेरणास्पद प्रसंग

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे शब्द से भगवद्गीता प्रारम्भ होती है। गीता के आदि में धर्म शब्द का उच्चारण करने से गीता-शास्त्र का मंगल भी सम्पन्न हो गया।

एक है इन्दौर की महारानी अहिल्या बाई होल्कर—प्रमुख विद्वानों से गीता की गौरव गरिमा सुनकर महारानी ने राज दरबार में गीता कथा की व्यवस्था की। राज दरबार, विद्वानों और पंडितों की महती सभा में राज पंडित ने कथा प्रारम्भ की। प्रथम श्लोक का चौथाई पद 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' सुनते ही महारानी ने पंडितजी को रोक दिया और कथा बंद करने को कहा। सभी लोग आश्चर्यचकित रह गए और पंडितजी घबरा गए। किस अपराध पर कथा रोकी गई, किसी के कुछ समझ में नहीं आया।

महारानी अहिल्या बाई ने पंडितजी को सम्बोधित करते हुए कहा, 'आपने गीता माहात्म्य को पढ़ते हुए कहा था कि गीता का एक, आधा, या चौथाई शब्द ही आवागमन के चक्र से मुक्त कर ईश्वर साक्षात्कार कराने की शक्ति रखता है, तब अब आगे पढ़ने से क्या लाभ? आपने जो एक पद पढ़ा है उसे मैंने भी समझा है। 'क्षेत्रे-क्षेत्रे धर्म कुरु' जहां रहो, जिस परिस्थिति में रहो, जैसे भी रहो धर्म का ही आचरण करो। मेरे सम्पूर्ण जीवन के लिए गीता का संदेश, प्रेरणास्पद वाक्य, आचरण करने के लिए पर्याप्त है। अब मैं आगे सुनकर और क्या करूंगी?' अपने कर्मक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाना है।

अमेरीका के लब्धप्रतिष्ठ दार्शनिक, विद्वान् बिन्डेल बिल्की ने क्षेत्रे-क्षेत्रे धर्म कुरु, पद की क्या ही प्रभावोत्पादक व्याख्या की है—

Do all the good you can.
To all the people you can.
In all the places you can.
As long as you ever can.

अर्थात् सदैव जितना भी तुम कर सको सभी स्थानों पर सभी का पूरा भला करो।

भारत के परतंत्र रहने पर एक अंग्रेज दार्शनिक ने क्या ही मार्मिक बात कही थी—

It is a wonder that a nation which prosseses a book like gita, continues to be a slave. आश्चर्य की बात है कि एक राष्ट्र जिसके पास गीता जैसी पुस्तक है, गुलाम बना हुआ है।

भक्त सम्राट् श्री चैतन्यदेव महाप्रभु जब दक्षिण भारत की यात्रा पर थे तब उन्होंने एक दिन एक मनुष्य को गीता पढ़ते हुए देखा। थोड़ी ही दूरी पर एक दूसरा मनुष्य गीता को सुन-सुनकर अविरल अश्रुधारा बहा रहा था। श्री चैतन्यदेवजी ने उस मनुष्य से पूछा कि क्या आप गीता समझ रहे हैं? उत्तर दिया—नहीं, मैं इसको कुछ भी नहीं समझता। प्रश्न हुआ फिर इस प्रकार से रो क्यों रहे हैं? उत्तर था मैं तो गीता सुनते समय यही देख रहा हूं कि रथ में बैठे हुए अर्जुन के सामने भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं। मैं इसे देखकर ही रो रहा हूं। यह है गीता के प्रति दृढ़निष्ठा एवं भक्ति।

एक बार घनश्याम दास बिड़ला ने महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी से निवेदन किया कि आप अपना जीवन चरित्र लिखिये। इस पर उन्होंने कहा 'जीवन चरित्र पढ़ना हो तो श्रीमद्भागवत पढ़ो मेरे जीवन में क्या रखा है।' इससे भारत की इतिहास के प्रति दृष्टि प्राप्त होती है। व्यासजी ने वेदों का सम्पादन किया, महाभारत, भागवत, अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र एवं वेदान्त सूत्र की रचना की पर स्वयं के विषय में कोई विवरण नहीं दिया। इसी परम्परा का निर्वहन हम बुद्ध, महावीर, आदि शंकर, रामानुज, मध्व, तुलसी, कबीर, मीरा आदि में पाते हैं। पर यह परिपाटी 100-150 साल से बदल गयी है। अतः पश्चिमी देशों का यह कहना कि भारत के लोगों को इतिहास का बोध नहीं। उन्हें लिखना नहीं आता। वस्तुतः वे भारतीय दृष्टि से परिचित नहीं हैं। पश्चिम के इतिहास में किसी शासक की कितनी शादियां हुई, किसके साथ अवैध सम्बन्ध थे, किस देश को अपनी ताकत के बल पर हथियाया आदि का वर्णन मिलता है। ऐसे इतिहास का संग्रहालय हमने कभी नहीं बनाया। हमने हमेशा समाजोपयोगी इतिहास का संग्रह किया। इसी दृष्टि से रामायण, महाभारत, पुराण, आर्यप्रणीत इतिहास ग्रंथ है।

—एडविन आर्नाल्ड

गीता की भूमिका और समन्वय

मानव मन की तीन मुख्य प्रवृत्तियां हैं—ज्ञानात्मक (Cognition), रागात्मक (Affection) तथा संकल्पात्मक (Conception) इन्हें सरल शब्दों में Knowing, feeling, willing कह सकते हैं। इनके अनुरूप जीवन के तीन शाश्वत मूल्य हैं—सत्यं शिवं सुन्दरम्। जानने की इच्छा ज्यों-ज्यों सत्य को अधिक अच्छी रीति से जानती जाती है त्यों-त्यों जिज्ञासा की तृप्ति होती जाती है। जिज्ञासा की पूर्ण तृप्ति पूर्ण सत्य को जानकर ही होती है। रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य पश्चिमी विचारकों ने सुन्दरम् को माना है। सुन्दर वस्तु के प्रति राग-अनुराग स्वाभाविक रूप से होता है। भारतीय विचारकों ने रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य भक्ति को माना है क्योंकि सबसे महान् के प्रति सबसे पवित्र एवं पूर्ण निःस्वार्थ अनुराग का नाम ही भक्ति है। बहिरंग सौन्दर्य, केवल शरीर का मांसल सौन्दर्य, उसके रूप-रंग, नैन-नक्श एवं अंग-प्रत्यंगों के लावण्य एवं मोहकता तक सीमित है। इसका वर्णन साहित्य में श्रृंगाररस के रूप में किया जाता है। तथा मांसल सौन्दर्य का संयमहीन आकर्षण मनुष्य को पथभ्रष्ट करके व्यभिचारी भी बना देता है। रागात्मक प्रवृत्ति का लक्ष्य है सौन्दर्य अर्थात् जीवन ऐसा सुन्दर बन जाए अथवा ऐसे परम सौन्दर्य की उपलब्धि हो जाए कि तन, मन, धन, प्राण निछावर हो जाए और इस जीवन समर्पण में परमानन्द की प्राप्ति हो जाए। बहिरंग सौन्दर्य का उपासक सौन्दर्य खोजते-खोजते अपने जीवन को इतना असुन्दर, कुरूप एवं कुत्सित बना लेता है कि वह काम का क्षुद्र कीड़ा भर बनकर रह जाता है।

बहिरंग सौन्दर्य के अतिरिक्त एक आन्तरिक सौन्दर्य है जो मनुष्य के मन को सौम्य, बुद्धि को पुष्ट, चित्त को सन्तुष्ट, अहम् को निर्मल एवं आत्मा के आनन्द को सम्पुष्ट बना देता है। जिसका तन सुन्दर और मन मैला है, जिसका अंग-प्रत्यंग मोहक और हृदय कुटिल है ऐसे व्यक्ति को सुन्दर कहना सौन्दर्य का अपमान ही होगा। इस प्रकार जो हृदय का सुन्दर है वही सच्चा भक्त हो सकता है। भक्ति हृदय की सुन्दर फुलवारी के अनुपम भाव-पुष्पों का विश्वमंगलकारी आध्यात्मिक पराग है।

मानव की संकल्पात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य शिवम् अर्थात् कल्याण (goodness) है। संकल्प कर्म का बीज है और कर्म संकल्प का पादप (पौधा) है। संकल्परूपी बीज सूक्ष्म होने से प्राय: अदृश्य रहता है किन्तु उसी सूक्ष्म बीज से प्रकट होने वाला कर्मरूपी वृक्ष प्रकट एवं प्रत्यक्ष होता है। संकल्प कर्म की मानसिक अवस्था है और कर्म संकल्प का भौतिक एवं शारीरिक संस्करण है।

इन तीन जीवन-मूल्यों का अध्ययन करने के लिए दर्शन के निम्नलिखित विषय हैं—

सत्य के अध्ययन के लिए तर्कशास्त्र और तत्त्वज्ञान है। तर्कशास्त्र वाक्य या प्रमेय की तर्कशुद्धता, उसके औचित्य की परख करता है। तत्त्वज्ञान चरम-परम सत्य की खोज करता है। सुन्दर के अध्ययन के लिए यूनानी दर्शन में सौन्दर्यशास्त्र Asthetic नाम का विषय है। भारत में सौन्दर्यशास्त्र का साहित्य एवं कला के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। किन्तु हृदय के सौन्दर्य (भक्ति) का अध्ययन भक्तियोग के अन्तर्गत किया जाता है। पश्चिम में धर्म के अध्ययन को Theology कहते हैं और बाइबिल में जो ईश्वर को प्रेम तत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है वह वास्तव में भक्ति तत्त्व का ही दूसरा नाम है। किन्तु जहां भारत में भक्तियोग के औचित्य-अनौचित्य पर खुले मस्तिष्क से दार्शनिक मीमांसा की जाती है, वहां पश्चिमी ईसाई जगत् में ईश्वर प्रेम को अंधविश्वास के रूप में मानने के लिए आग्रह है।

कल्याण या goodness के मूल्य का अध्ययन करने के लिए नीतिशास्त्र (Ethics) का विषय है। भारत में नीति के स्वतंत्र ग्रंथ भी बहुत हैं। शुक्र नीति, विदुर नीति, चाणक्य नीति आदि। किन्तु बहुलांश में नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के साथ उसके अविभाज्य अंग के रूप में ही माना गया है। अत: भारत में जो धर्मसम्मत है वही नैतिक है और जो अनैतिक है वह धर्म दृष्टि से पाप है।

इन तीनों जीवनमूल्यों के अनुरूप ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। जीव सीमित चेतना वाला है। वह परम चैतन्य को प्राप्त करना चाहता है। व्यक्तिगत चेतना को परम चेतना तक ले जाने के लिए मनुष्य के पास चेतना के अतिरिक्त और कोई सीढ़ी नहीं है। यदि उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति प्रबल है तो उसे चरम परम सत्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। हम सब कुछ न कुछ जानते हैं तथा जानने की जिज्ञासा सदा लिए रहते हैं। किन्तु बहुत कुछ जानकर भी हम ज्ञानी नहीं कहलाते क्योंकि हमने चरम परम सत्य को नहीं जाना। यदि हमारी जानने की धुन तब तक संतुष्ट न होवे जब तक परम सत्य की उपलब्धि न हो जाए—तब हमारी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति ही हमें ज्ञानयोग का साधक

बना देगी। ज्ञानात्मक प्रवृत्ति सबमें है। किसी में प्रबल, किसी में सामान्य। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जानना है तो पूर्ण को जानो। यही ज्ञानयोग है।

इसी प्रकार सुख-दु:ख मानने की प्रवृत्ति सबमें है किन्तु हम संसार की नश्वर वस्तुओं के लिए सुख-दु:ख भोगते हुए जीवन व्यर्थ गंवाते चले जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं सुख-दु:ख का अनुभव करना है। अपना हर्ष-शोक, अपना संयोग-वियोग, अपने हृदय का स्वभाव पूर्ण के लिए समर्पित कर दो। उसी के वियोग में आंसू बहाओ। उसी की मिलन इच्छा के लिए व्याकुल बनो तथा उसी के संयोग के आनन्द गीत गाओ। उसी के साथ अपना आध्यात्मिक परिणय कर लो। यह है भक्तियोग।

प्रत्येक जीव कुछ-न-कुछ संकल्प तथा संकल्पजनित कर्म करता ही रहता है। बिना कर्म के वह क्षणभर टिक ही नहीं सकता। भगवान् कहते हैं अपने समस्त कर्म और कर्मों के संकल्प पूर्ण के लिए समर्पित करो। मनुष्य नश्वर जीवों (मित्रों, पुत्रों, सम्बन्धियों, परिचितों, शत्रुओं आदि) के लिए कर्म करता रहता है। ये कर्म जिनके लिए किए जाते हैं, वे मर्त्य हैं। कर्म का कर्ता भी मर्त्य है और जिस उद्देश्य या फल-प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है वह भी नश्वर है। अत: काल का एक तमाचा लगते ही कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान आदि का सारा महल चूर-चूर हो जाता है। किन्तु कर्म का सूक्ष्म बंधन जीव के गले की फांसी बनकर अगले जन्मों में नचाता रहता है। यदि हम अपने कर्मों को पूर्ण के लिए समर्पित कर दें तो कर्ता, कर्म सब धन्य हो जाएं और कर्म भी मुक्ति का साधक बन जाए।

चित्त की तीन प्रमुख वृत्तियां या प्रवृत्तियां हैं—ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं संकल्पात्मक।

यदि चित्त की इन वृत्तियों को भगवान् से जोड़ दें तब भी मोक्ष हो जाएगा और यदि चित्त की वृत्तियों को रोक कर चित्त को ही परम सत्य के चिन्तन, ध्यान एवं समाधि में लय कर दें तो भी परमेश्वर की प्राप्ति हो जाएगी। यह योग मार्ग है या राजयोग (पातंजलयोग) है।

राजयोग	चिदाभास को चिदाकाश में लय करना समाधि है।
योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:	(योग मार्ग)
चित् (चैतन्य)	चित्त को चित् में लय करना योग
(चित्) चित्त	(मन का चिन्तन करने वाला रूप)

↓

ज्ञानात्मक (ज्ञानयोग)   रागात्मक (भक्तियोग)   संकल्पात्मक (कर्मयोग)

चित्त-वृत्तियों को रोकने के दो प्रकार हो सकते हैं—

(क) चित्त की वृत्तियों को दृढ़ संकल्प से बाहर भटकने से रोकना। जब चित्त को बाहर कुछ भोग सामग्री नहीं मिलती, तो चित्त अन्तर्मुखी होकर अपने मूल को खोजने लगता है। मानव के व्यक्तित्व का केन्द्र आत्मा चित्त को अपनी ओर खींचने लगता है। तब भी अकस्मात् एवं अनायास समाधि जैसी स्थिति आ जाती है। कई बार बाहर की वृत्तियां बंद हो जाने पर भी चित्त आत्मा से तार नहीं जोड़ पाता। उस काल में चित्त कुछ क्षणों तक बाहर के प्रति बेसुध और अन्तर में शून्य जैसी स्थिति में हो जाता है। अचानक किसी के बुलाने या छूने से हमारी यह बाहर की बेसुधी और अन्दर की शून्यता भंग होती है।

(ख) यदि मनुष्य प्रतिदिन परमेश्वर के ध्यान का अभ्यास करे तो चित्त का परमेश्वर के ध्यान में लय होते ही चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियां अपने आप रुक जाती है। इसलिए परम तत्त्व का चिन्तन चित्त की समाधि में बहुत उपयोगी है। इसी कारण एक योगी का मन पर नियंत्रण मेस्मेरिज्म Mesmerism करने वाले जादूगर की तुलना में बहुत अच्छा होता है। मन को एकाग्र करने से मन की शक्तियों का विकास होता है। जैसे व्यायाम करने से शारीरिक शक्ति का विकास होता है। प्राणायाम करने से प्राणशक्ति का विकास होता है, उसी प्रकार मन की एकाग्रता से मन:शक्ति का विकास होता है। जैसे तन का बलिष्ठ व्यक्ति बल का सदुपयोग करके अबला, अनाथ, असहायों अथवा समाज एवं राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। बल का प्रदर्शन मात्र करके समाज पर प्रभाव और अपने अहंकार को बढ़ा सकता है। और शरीर बल का दुरुपयोग करके दुर्बलों, असहायों, निराश्रितों को सता सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम द्वारा प्राण के तार को प्राणेश्वर, परमेश्वर से जोड़कर साधक जीवन को सफल सिद्ध कर सकता है। प्राण को अधिक देर तक रोक कर अपने प्राण स्तंभन का प्रदर्शन कर सकता है। छाती से लोहे की छड़ को मोड़ना, छाती पर हाथी या मोटर चढ़ाना प्राणशक्ति के प्रदर्शन हैं। कबड्डी का खिलाड़ी भी प्राण को अधिक देर तक रोक सकता है। किन्तु वह योगी नहीं बन जाता है। प्राणशक्ति के अभ्यासी प्राण शक्ति के विचित्र प्रयोग और दुरुपयोग भी करते रहते हैं। व्रजरोली क्रिया द्वारा मूत्रेन्द्रिय से घी को चढ़ा लिया जाता है। और ऐसा विचित्र साधक जनता के सामने मूत्र विसर्जन करके यह तमाशा दिखाता है कि उसके पेशाब में दीये जलते हैं। इस तरह के खेल दिखाकर जनता को ठगना प्राण साधना का दुरुपयोग है। मन को एकाग्र करने और दृष्टि को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने से प्रात:काल सूर्योदय के समय लेटकर सूर्य की रश्मियों को नेत्रों द्वारा पान करने से तथा 'नाभि' के पास सूर्यचक्र पर हाथों की उँगलियां रखकर लम्बा श्वास-प्रश्वास लेने से धीरे-धीरे

नेत्रों की शक्ति, हाथ की उँगलियों के पोरों की शक्ति तथा मन की संकल्प शक्ति का विकास होने लगता है। इस विकसित संकल्प शक्ति का सदुपयोग समाज हित, राष्ट्र हित या परमेश्वर की प्राप्ति के लिए लगा देने से व्यक्ति साधना में सिद्धि को प्राप्त करता है। जैसे बालकों में ध्रुव और प्रौढ़ों में रामकृष्ण परमहंस, श्रीअरविन्द आदि।

विकसित मन:शक्ति का खेल तमाशे में प्रदर्शन करना मेस्मेरिज्म या इन्द्रजाल का खेल है। फ्रांस में डॉक्टर मेस्मर ने मन की एकाग्रता की साधना कर ऐसे खेल दिखाने प्रारम्भ किए। उन्हीं के नाम पर इसे मेस्मेरिज्म कहा जाने लगा। विकसित मन:शक्ति का प्रदर्शन पैसा कमाने और अहंकार बढ़ाने का उपाय है। विकसित मन:शक्ति का दुरुपयोग कर इससे मारन, उच्चाटन और मोहन आदि वामाचारी तंत्र के घटिया खेल हैं। सच्चा योगी निष्काम, अहंकारमुक्त होकर अपने एकाग्र एवं निर्मल मन द्वारा परब्रह्म परमेश्वर का ध्यान करता है। प्रदर्शनप्रिय जादूगर सकाम, स्वार्थयुक्त, अहंकार की भूख को लिए हुए मन:शक्ति के खेल दिखाता है। मन:शक्ति से दूसरों का नाश एवं अनिष्ट करने वाले द्वेष से दग्ध, क्रोध से बेचैन, प्रतिशोध की भावना से पीड़ित कामी, क्रोधी, मोही, अहंकारी व्यक्ति होते हैं।

ज्ञानयोग का सूत्र है Know the perfect.

भक्तियोग का सूत्र है Feel for the perfect.

कर्मयोग का सूत्र है Act for the perfect.

राजयोग का सूत्र है Meditate for the perfect.

वास्तव में ये चारों योग को सरलता से समझाने के लिए चार भिन्न-भिन्न मार्गों या साधना पथों के रूप में वर्णित किए जाते हैं और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य गीता में इन भिन्न-भिन्न चार योगों का प्रतिपादन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में चारों योग हैं इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु आचार्यों का यह हठ कि गीता में एक उन्हीं का प्रिय योग ही है दूसरा नहीं, यह साम्प्रदायिक दुराग्रह है जो कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। मानो पहले से किसी एक पथ को जानता है, फिर उस पथ पर और प्रदर्शक पर श्रद्धा विश्वास करता है। फिर उस पथ पर चलने का कर्म करता है और वह कर्म करते हुए मन को इधर-उधर विचलित नहीं होने देता है। तब लक्ष्य तक पहुंचता है। तो लक्ष्य और पथ को जानना ज्ञानयोग है, पथ और प्रदर्शक पर विश्वास करना भक्ति योग है, पथ पर चलना कर्मयोग है और पथ से विचलित न होने का संकल्प राजयोग है। इस प्रकार चारों योगों के समन्वय से सफलता मिलती है। कुछ आचार्य ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों योगों की योगत्रयी का समन्वय गीता में मानते हैं। विवेकानन्द, शिवानन्द

आदि महापुरुष ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोग चारों का समन्वय मानते हैं। श्री अरविन्द, शिवानन्द एवं हरिहर गीता के योग को समन्वय योग का नाम देते हैं। बिना ज्ञान के भक्ति अंधभक्ति बनेगी, कर्म अंधे कुएं की छलांग होगा या मूर्ख का पागलपन होगा। योग की सफलता केवल स्वप्न मात्र रह जाएगी। बिना भक्ति के ज्ञान रुखा तर्क मात्र होगा, कर्म जड़ मशीनी क्रिया मात्र और योग जादूगरी का खेल। बिना कर्म के ज्ञान दंभ मात्र होगा, भक्ति वाग्विलास मात्र एवं समाज के लिए बेकार क्रिया होगी और योग थोथा शब्दजाल मात्र रह जाएगा। बिना संयम योग के ज्ञान की साधना करने वाला अज्ञान में भटक जाएगा, भक्ति पंडागिरी एवं स्वार्थपूर्ति का व्यवसाय बन जाएगी। कर्म विकर्म बन जाएगा। योगी भोगी बन जाएगा। अतः इनमें से किसी एक योग से भी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अन्य तीनों योगों का कुछ-न-कुछ सहयोग अपेक्षित रहता है।

यदि भारत की इस एकता को ढूँढ़ना है तो वह आपको न तो विदेशी आक्रमणों के इतिहास में प्रतिबिम्बित मिलेगी न समय-समय पर हुए विभिन्न राज्यों के उद्‌भव में, न किसी भी महान् सम्राट् के साम्राज्य विस्तार में। वास्तव में यह एकता हमारी प्राचीन संस्कृति की एक आत्मिक आकांक्षा का फल थी, उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के महत्त्वबोध का फल थी—जो अन्य सभी मूल्यों की बजाय कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। और यह भावना विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनों के युगों की लम्बी यात्रा के बाद आज भी यों की यों जीवन्त है।

—एस.एन. दासगुप्त

श्रीमद्भगवद्गीता

नामकरण

श्री=शुभ, लक्ष्मी, विभूति, तेज, वैभव, दिव्यता

भगवत् = भगवान्-भग = तेज—भगवान् तेजवान

गीता = गीतिका—गीत स्त्रीलिंग रूप में।

श्रीमद्भगवद्गीता = भगवान् का दिव्य गीत।

The Song Divine

The Song Celestial

The Song of God.

जीव का रोना? तथा भगवान् का गाना

गीता का प्रथम अध्याय अर्जुन का विषाद योग है। विषाद का अर्थ है दु:ख। दु:ख में जीव रोता है। प्रत्येक जीव रोते हुए जन्म लेता है। शैशव में भोजन के लिए रोता है, जवानी में कामनापूर्ति के लिए रोता है, प्रौढ़ावस्था में रोजी-रोटी के लिए रोता है, दरिद्रता में अभाव के कारण रोता है, सम्पन्नता में क्षति, चिन्ता, ईर्ष्या, वैर, वैमनस्य के कारण रोता है, वृद्धावस्था में चिन्ता से रोता है, रुग्णावस्था में मृत्यु के भय से रोता है, रोते हुए मरता है और समाज को रुला कर जाता है।

जीव के दु:ख के कारण

(1) तीन ताप=आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

(2) पंच क्लेश=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मृत्यु का भय)

अर्जुन का विषाद जीव के रोने का प्रतीक है। इसके उपचार के लिए भगवान् गीता सुनाते हैं। अत: गीता का प्रथम संदेश है—हे जीव! अपना रोना छोड़कर भगवान् का गाना गाओ।

गीता—आनन्द का प्रस्फुटन

गीत आनन्द में गाया जाता है। हृदय में आनन्द की तरंग ही गीत के रूप में

स्फुटित होती है। आनन्द से जब हृदय की वीणा झंकृत होने लगती है तभी गीत का अवतार होता है।

गीत का जन्म कहां से

(1) स्थूल दृष्टि से रेडियो का बक्सा।

(2) उससे सूक्ष्म—बिजली के तार से, रेडियो स्टेशन भवन, रेडियो स्टेशन का स्टूडियो (कमरा), ध्वनि रिसीवर (यंत्र)।

गायक के मुख से।

गायक के कण्ठ से।

गायक के हृदय से।

आत्मा की झंकार=गीत।

गीता

सच्चिदानन्दकंद भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मा की झंकार।

भगवान् का हृदय

भगवान् स्वयं कहते हैं—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे शास्त्रमुत्तमम्।

(हे अर्जुन! गीता मेरा हृदय है, यही मेरा उत्तम शास्त्र है)

सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द—आनन्दों के घन—आनन्द के स्रोत, आनन्दों के आनन्द—परम आनन्द। अतः उनके द्वारा गाया हुआ गीत आनन्द का गीत, परमानन्द का गीत है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।। तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.6

The eternal spiritual music of India—गीता भारत का शाश्वत अध्यात्म संगीत है। कहीं भी विश्वभर में अध्यात्म को गीत में समझाकर नहीं बताया। भारत में सर्वोच्च ज्ञान को एक गीत के माधुर्य के साथ गाकर प्रस्तुत किया। यह विश्व का एकमात्र दार्शनिक गीत है। दर्शन को लोगों ने बहुत दुरूह भाषा एवं गद्य में प्रस्तुत किया है। भारत ने अपने दर्शन को एक संगीत के माध्यम से व्यक्त किया है। संसार का एकमात्र दार्शनिक गीत है—श्रीमद्भगवद्गीता।

गीता का अनुष्टुप् छन्द

छन्द का अर्थ है दीप्ति पाना या आनन्द करना। पद्यबंध या पद्य की जाति को भी छन्द कहते हैं, पद्य की विभिन्न आकृति छन्द के द्वारा ही प्रकट होती है और उसके द्वारा मन को भी विशेष आनन्द मिलता है। भाषा में यह आनन्द या रस न हो तो वह कविता न होगी। मन के विभिन्न भावों को भाषा में व्यक्त करते समय हम विभिन्न छन्दों में वाक्यरचना करते हैं। इस समय छन्द के ताल पर ताल एक ऐसा स्पन्दन होता है जिससे हमारी तदनुकूल मनोवृत्तियां भी स्पन्दित हो उठती हैं। जो मन में बीजावस्था में रहता है, वह जब प्रकाशोन्मुख होता है तभी उसकी गति का हम अनुभव करते हैं। वह गति ही छन्द है।

कविता तभी सत्य होती है जब हम एक विशेष भाव से अनुप्राणित होते हैं और जब उस अनुप्राणन-क्रिया को हम भाषा में व्यक्त करना चाहते हैं तब तदनुकूल छन्द भी अपने आप स्फुटित हो उठते हैं। छन्द वस्तुतः एक अद्‌भुत शक्ति है। युद्ध के समय बाजे भी छन्द में बजते हैं और उसके श्रवण मात्र से योद्धाओं के सोये हुए मनोवेग जाग उठते हैं। फलतः उनका हृदय युद्ध के लिए नाच उठता है। युद्ध में मृत्यु हो सकती है, यह भय उस समय उनके हृदय से दूर हो जाता है। इसी प्रकार प्रभात में भैरवी रागिनी सुनने पर मनुष्य का चित्त स्वतः अज्ञात-अलक्ष्य की ओर दौड़ लगाना चाहता है, न जाने कौन-सा अभाव, कौन-सी विरह व्यथा चित्त को आकुल कर देती है, सारा चित्त वेदना से भर जाता है। इसी प्रकार विहाग राग निर्जन रात्रि में सुनने पर श्रोता के हृदय में एक अननुभूत व्यथा जाग उठती है, न जाने किसके लिए चित्त बिलख-बिलख कर रो उठता है।

हमारे अन्तःकरण में भी अनेक वृत्तियां सुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं। सुर, ताल और लय के द्वारा उनको प्रबुद्ध किया जाता है। संगीत के सुर, ताल, लय के द्वारा जिस प्रकार अन्तःकरण की सुप्त वृत्तियां जागृत हो सकती हैं, उसी प्रकार वेद के छन्द सोयी हुई आध्यात्मिक वृत्तियों को जगा सकते हैं। वेद में बहुत से छन्द हैं और उन छन्दों या सुरों में एक अज्ञात सुप्त शक्ति को जगा देने की प्रचेष्टा रहती है। जब तक अन्तःकरण के सुप्त भाव स्फुटित नहीं होते तब तक

साधना सफल नहीं होती। यही कारण है कि समस्त साधनाओं के मंत्र एक-एक भाव को प्रस्फुटित करने की प्रक्रिया या छन्द मात्र हैं। अवश्य ही बाहर से देखने पर सारे छन्द कुछ अक्षरों की योजना मात्र जान पड़ते हैं। हम इन छन्दों के साथ विशेष परिचित हैं। परन्तु अन्तर राज्य में भी इसी प्रकार नाना छन्दों की क्रिया होती है। उदाहरणार्थ गायत्री छन्द को लीजिये। बाहर से देखने पर यह छः अक्षरों का वैदिक छन्द विशेष है, परन्तु इसकी आध्यात्मिक शक्ति है—

(4) **'गायन्तं गायत्री गायंत त्रायसे यस्मान्, गायत्री त्वं ततः स्मृता'** अर्थात् जो गान या अन्तःस्फुरित शक्ति उपासक को भवबंधन से मुक्त करती है वही गायत्री छन्द है। इसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द भी भवमोचनकारी शक्ति विशेष है। सात व्याहृतियों के द्वारा जिस प्रकार गायत्री छन्द को अधिकृत किया जाता है उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द की भी साधना है।

(5) अनुष्टुप् का अर्थ है सरस्वतीया विद्यारूपिणी शक्ति अर्थात् वह ज्ञान जिसके उदय होने पर भवबंधन छूट जाता है।

'अत्+स्तुभ' धातु का अर्थ है—स्तब्ध होना। इस गीता मंत्रमाला का छन्द है स्तब्ध होना। अर्थात् साधना बल से जब शक्ति स्फुरित होती है तो मन बाह्य विषयों से उपराम हो जाता है, वह अन्तर्मुखी होकर जगत् को भूल जाता है—इसी स्वर में, इसी छन्द में भगवद्गीता प्रणीत हुई है। अतएव गीता सारे शास्त्रों का निचोड़, मोक्षप्रद और जीवों का महाकल्याणसाधन करने वाला मंत्र है।

(6) **गीता के देवता श्रीकृष्ण परमात्मा—**श्रीकृष्ण परमात्मा गीता मंत्रमाला के देवता हैं। देवता को समझकर उनका चिन्तन नहीं किया गया तो मंत्र चैतन्य न होगा। श्रीकृष्ण किसी के कल्पित देवता नहीं हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मवाचक शब्द है, अतएव श्रीकृष्ण परमात्मा के वाचक, परब्रह्म, स्वयं भगवान् हैं। मूढ़ लोग उनको 'मानुषींतनुमाश्रितम्' समझकर उनकी अवज्ञा करते हैं। वे उनको ठीक से समझ नहीं पाते। अनेक महापुरुषों ने मनुष्य देह को धारण किया है, साधारण दृष्टि से वह सामान्य पुरुष ही जान पड़ते हैं, परन्तु यह हमारी बुद्धि में नहीं आता कि मनुष्य देह को कोई अतिमानव पुरुष आश्रय किये बैठा है।

कृष्ण, ब्रह्म या परमात्मा सब एक के ही निर्देशक हैं—

परमात्मा परब्रह्म निर्गुण प्रकृतेः परः।
कार्यकारणताश्रयः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।।

'कृष्ण' शब्द से शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा का ही बोध होता है। 'कृष्ण' शब्द ब्रह्मवाचक क्यों है? कृष्ण शब्द कृष् धातु से बना है। कृष् का अर्थ है आकर्षण करना। जो जीव को आकर्षण करते हैं। किधर आकर्षण करते हैं? अपनी

ही ओर जीव को खींच लेना उसका स्वभाव है। साधारणतः जीव विषयों की ओर अत्यन्त आकृष्ट होता है। जीव का मन क्षणभर भी विषय का त्याग कर नहीं रह सकता। तो क्या जीव किसी एक ही विषय में बहुत समय तक रह सकता है। उसका मन क्षण-क्षण में एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ता रहता है। इस प्रकार चंचल और विक्षिप्त स्वभाव होने के कारण वह व्यभिचारिणी स्त्री के समान पतित है। इस प्रकार विषय में विक्षिप्त, पतित मन को जो अपने चरण प्रान्त की ओर खींचकर पवित्र करते हैं, कलुष पंक से उद्धार करते हैं, वही सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण हैं।

अब एक बार विचार करके देखो कि हमारा मन इतना चंचल क्यों है? किसके लिए है? शान्तिपूर्वक थोड़ा विचार करने पर यह समझ में आ जाएगा कि आनन्द पाने के लिए ही मन एक विषय से दूसरे में घूमता रहता है। आनन्द ही मन का उपभोग्य है, वही उसकी एकमात्र लोभनीय वस्तु है। आनन्द पाने की आशा से ही वह अस्थिर होकर जहां-तहां की ठोकरें खाता फिरता है।

जिन आक्रमणकारियों ने इस भूमि पर कब्जा किया और जनता पर शासन किया चाहे वे यूनानी हों, हूण हों, शक हों, पठान हों या मुगल हों, वे यहां के जनमानस पर शासन नहीं कर पाये। ये राजनीतिक उथल-पुथल इसी तरह आती और जाती रही जैसे तूफान आता और जाता है, मौसम आते और जाते हैं—एक सामान्य प्राकृतिक या भौतिक घटना के रूप में, जिसका प्रभाव हिन्दू संस्कृति की आध्यात्मिक एकता पर कभी नहीं पड़ा।

—एस.एन. दासगुप्त

संक्षेप में सम्पूर्ण गीता

अध्याय 1

नामकरण : विषादयोग

विषय-वस्तु : युद्ध सज्जा और अर्जुन का व्यामोह।

समस्या : (क) जीवन-मृत्यु विवेक के विषय में संशय।
(ख) अपने-पराये के विषय में राग-द्वेष।
(ग) कर्तव्य और अकर्तव्य (धर्म और अधर्म)।
(घ) दो कर्तव्यों की टक्कर में किसे चुनना।

उपचार : भगवान् का मौन और मंद मुस्कान।

विशेष : धृतराष्ट्र तमोगुणी विषादी, मोही, कामी, राज्यभोग के छिन जाने का भय।

दुर्योधन : रजोगुणी, विषादी, द्वेषी, इसका रजोगुण तमोन्मुखी है। दुर्योधन के युद्ध का अन्तिम उद्देश्य दूसरे के राज्य को हड़प कर राज्यभोग करना।

अर्जुन : सात्त्विक विषाद, तीनों गुणों में श्रेष्ठ और सच्चा विषाद भी भगवान् के साथ तार जोड़ देता है।

विशेष स्मरणीय श्लोक : अर्जुन का व्यामोह 28, 30

अध्याय 2

नामकरण : सांख्ययोग

विषय-वस्तु : सांख्ययोग ज्ञान के अर्थ में—
आत्म-अनात्म विवेक
आत्मा की अमरता
स्वधर्म की महत्ता
निष्काम कर्मयोग का संकेत

आदर्श कर्मयोगी के लिए बुद्धि का संतुलन अनिवार्य। **(स्थितप्रज्ञ दर्शन)**

समस्या : क्या मैं मरूंगा या ये मरेंगे? मेरा स्वधर्म क्या है? और क्या संकट देखकर स्वधर्म का त्याग कर देना चाहिए या नहीं?

उपचार : (क) तत्त्व दृष्टि से कोई मरता नहीं, किन्तु लोक मर्यादा हेतु संसार के रंगमंच पर दुष्टों का संहार करना अनिवार्य। जैसे नाटक में किसी के मारने पर कोई मरता नहीं। नाटक के पूर्व रामजी और रावण जीवित हैं। नाटक के मंच पर राम के धनुष बाण से रावण आहत होकर छटपटाते हुए मरता है। फिर खेल समाप्त होने पर दोनों आपस में अभिवादन करते हैं और परस्पर में एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। आहा! आपने तीर कितने सुन्दर ढंग से चलाया तो दूसरा आपने मरने का कितना सुन्दर पोज किया। जिस प्रकार नाटक में रावण नहीं मरता। उसी प्रकार संसार रूपी नाटक में दुष्टों को उनकी दुष्टाई का फल देना समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

(ख) यह तत्त्व दृष्टि प्रथम में सुपाच्य नहीं होगी।

(ग) इसका दुरुपयोग भी साधारण लोग अपनी रक्षा के लिए कर सकते हैं। या इस तत्त्व की आड़ में अत्याचार अनाचार भी कर सकते हैं। जैसे डकैत द्वारा लोगों को सताया जाना, मारा जाना और फिर अपनी रक्षा के लिए मजिस्ट्रेट के सामने यह दलील पेश करना कि कृष्ण जैसे दार्शनिक का कहना है कि तत्त्व की दृष्टि से न तो कोई मर सकता है और न ही मारा जा सकता है तब मैं हत्यारा कैसे? अत: श्रीकृष्ण ने तुरन्त बाद ही में स्वधर्म की महत्ता बताई जिससे लोक मर्यादा बनी रहे। जो हमारे पहले से निर्धारित कर्तव्य हैं वही स्वधर्म है। तब तत्त्वज्ञान के साथ-साथ स्वधर्म पालन आवश्यक है। स्वधर्म का त्याग कभी नहीं होना चाहिए। चाहे साधारण अवस्था हो। विपरीत स्थिति में तो और भी त्यागना नहीं चाहिए। स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है। उसे त्यागना किसी भी हालत में नहीं। Duty supreme है।

स्वधर्म : (1) अपने-पराये के भेद के ऊपर। न्याय में सब समान।

(2) परिस्थिति निरपेक्ष। प्रत्येक परिस्थिति में स्वधर्म का पालन होना चाहिए।

यदि जंगल में ब्रह्मज्ञान वरेण्य है तो युद्ध में भी लागू होना चाहिए। शान्ति में और क्रान्ति में यानी सब स्थितियों में।

(3) धर्म व्यक्तिगत, कुलतंत्र, जातिगत इच्छा-अनिच्छा से ऊपर है।

(4) **धर्म :** अच्छे-बुरे फल, अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम से मुक्त है। अच्छे कर्म द्वारा प्रतिकूल परिणाम भी मिले (भगतसिंह को फांसी भी मिले) तो वरेण्य है, बुरे कर्म द्वारा यदि अनुकूल परिणाम मिले (Black Market द्वारा धन) तो भी बुरा। इसलिए स्वधर्म पालन निष्काम कर्मयोग की भावना से होना चाहिए।

Dharm—'Duty' should not be at the mercy of—

(1) Circumstances

(2) Personal likes or dislikes

(3) Favours and Prejudice (राग-द्वेष)

(4) Kinsman and Aliens (अपना-पराया)

(5) Favourable or unfavorable fruit of consequence (Kant).

Moral law is categoricaly imperative

नैतिक नियम स्पष्ट पात्र, परिस्थिति, देश-काल निरपेक्ष आदेश है। (कान्ट)

Imperative—अनिवार्य आदेश (not optional)

Categorical स्पष्ट परिस्थिति निरपेक्ष (not conditional)

विशेष : द्वितीय अध्याय गीता भवन की नींव है। आगे जितने भी उपदेश आने वाले हैं उनका संकेत दे दिया गया है।

(1) जीवन शास्त्र—इसमें जीवन शास्त्र भी बताया गया है। जैसे आत्मा की अमरता।

(2) जीवन की कला—इसमें जीवन की कला भी बताई गई है। जैसे, समभाव, दु:ख-सुख, लाभ-हानि में समभाव। इसी को समत्वयोग भी कहते हैं।

(3) स्वधर्म की निष्काम साधना।

(4) जीवन के शास्त्र और कला का समन्वय : अथवा सांख्य योग और कर्मयोग का समन्वय भी बताया गया है। (स्थितप्रज्ञ दर्शन)।

गीता से पूर्व लोग योग समाधि एकांत में बैठकर करते थे। पर श्रीकृष्ण ने गीता में जिस समाधिस्थ पुरुष का वर्णन किया है, वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-उठते, युद्ध-शान्ति, कोलाहल-शांत स्थान में यानी सब अवस्थाओं में बुद्धि के सम होने के कारण समाधिस्थ माना जाता है।

(5) स्थितप्रज्ञ का अन्तिम परिणाम ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्म निर्वाण या ब्रह्म-प्राप्ति भी बता दिया गया है।

Theory—आत्मा

Practice—कर्मयोग

Technique—समभाव, स्थितप्रज्ञ

Fruit—ब्रह्म-प्राप्ति

स्मरणीय श्लोक :

अर्जुन को जीवन-मृत्यु के भ्रम और विवेक का अभाव-6

अर्जुन की शरणागति —7

सत्-असत् की कसौटी—16

आत्मा की अमरता का श्लोक—20, 22, 23

स्वधर्म की दृष्टि —30, 37, 38

सम दृष्टि, निष्काम कर्मयोग—47, 48, 49, 50

स्थितप्रज्ञ—55, 56, 59, 62, 63, 64, 65

अध्याय 3

नामकरण : कर्मयोग

विषय-वस्तु : सांख्ययोग तथा कर्मयोग रूपी दो निष्ठाएं—

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग

यज्ञ तत्त्व का निरूपण

लोक संग्रह हेतु कर्म

बड़ों के आचरण से शिक्षा

पापाचरण के दो कारण—काम एवं क्रोध।

समस्या : द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ के ब्रह्मज्ञान एवं ब्राह्मी-स्थिति को सर्वोच्च बताया गया है। यह ज्ञान मार्ग यदि श्रेष्ठ है तो युद्ध जैसे भीषण कर्म में क्यों लगूँ?

यदि मैं कर्म करूंगा तो कर्मों के चक्कर में बंध जाऊंगा (यज्ञ कर्म)।

यदि मैं कर्म करूंगा तो वस्तुओं का, विषयों का, तत्सम्बन्धी मनोभावों का, राग का, छल-कपट का, द्वेष का, वैर का, स्वार्थ का रंग मेरे चित्त पर चढ़ेगा। क्योंकि कर्म मनुष्य को रंग देता है।

(निष्काम कर्म से मन मलिन न होकर शुद्ध होता है।)

यदि मैं कर्म न करूं तो क्या हानि है? निष्काम कर्म या यज्ञार्थ कर्म ठीक है तो स्वार्थ कर्म और पाप कर्म मनुष्य करता ही क्यों है?

उपचार : यह सच है कि बुद्धि या ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है, किन्तु कर्म की साधना के बिना ज्ञान मिलता नहीं।

(क) आजीविका—शरीर यात्रा हेतु कर्म की आवश्यकता है अन्यथा शरीर रूपी साधन नष्ट हो जाएगा। ज्ञानेन्द्रियां मुर्झा जाएंगी। मन और बुद्धि भी क्षीण होकर बेकार हो जाएँगे और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होगी। प्रथम में मनुष्य शरीर से लगा रहता है। फिर शरीर से ऊपर उठता है, तो इन्द्रियां, फिर इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, फिर मन से सूक्ष्म बुद्धि और अंत में आत्मज्ञान प्राप्त करता है। अगर कर्म नहीं करेंगे तो शरीर शिथिल हो जाएगा। तब शरीर को भोजन भी नहीं मिलेगा। तब ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

(ख) समाज सेवा : यज्ञ कर्म भी बिना कर्मयोग के नहीं हो सकता। यज्ञार्थ कर्म मुक्त करता है, स्वार्थ कर्म बांधता है।

(ग) चित्त शुद्धि (संसिद्धि) निष्काम सेवा द्वारा ही सम्भव है।

(घ) कर्म ही मन को मैला करता है और कर्म के द्वारा ही चित्त शुद्ध होता है। जैसे साबुन से वस्त्र साफ किए जाते हैं पर साबुन का वस्त्र में लगा रहना भी वस्त्र में गंदगी का बने रहना है। अत: उसके झाग को भी साफ करना आवश्यक है। उसी प्रकार कर्म करके कर्म का संग, कर्तापन का अहंकार और फल की वासना धोकर निकाल देनी चाहिए।

(ङ) लोक संग्रह : समाज में मर्यादा संस्थापन के लिए, लोक शिक्षण के लिए भी कर्म अनिवार्य है। छोटे लोग बड़े को देखकर आचरण करते हैं। यदि मैं (स्वयं श्रीकृष्ण) कर्म छोड़ दूं तो मेरी देखादेखी सब लोग निकम्मे हो जाएं तो कर्तव्यों की गड़बड़ी से प्रजाओं का नाश हो जाए। इसलिए जो कर्तव्य कर्म को त्यागता है वह मानो सारी मानवता का हत्यारा बनता है। (श्लोक 22, 23, 24)

मनुष्य की कामना (काम, स्वार्थ) ही मनुष्य को पाप कर्म में प्रेरित करती है। व्यक्तिगत लाभ के लिए, लोभ के लिए, स्वार्थ के लिए, कामना के लिए किया हुआ कर्म स्वार्थ कर्म है। समष्टि के कल्याण के लिए किया हुआ कर्म यज्ञार्थ कर्म है। जब कामनापूर्ति में अनुकूल परिणाम हो तो मनुष्य का लोभ बढ़ता जाता है और वह स्वार्थ में अंधा हो जाता है।

जब कामनापूर्ति में बाधा आती है या प्रतिकूल परिस्थिति होती है तब काम अंधे क्रोध में बदल जाता है। अत: अन्धे लोभ, अन्धे क्रोध, राग-द्वेष से बचने के लिए मनुष्य को कर्म को ही निष्काम बना लेना चाहिए। कर्म रूपी सर्प का काम-रूपी विष निकाल दिया जाए तो वह कर्म मनुष्य को मारने वाला या बांधने वाला

न बनकर शंकर के समान भूषण बन जाएगा। जो कर्म छोड़ता है वह नीचे गिरता है और जो कर्म के फल को छोड़ता है वह ऊपर उठता है।

विशेष : तीसरा अध्याय गीता ज्ञान की कुंजी है। यानी सभी रहस्य यहीं से खुलने वाले हैं। यदि अर्जुन ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग की एक-दूसरे से श्रेष्ठता का प्रश्न नहीं उठाता तो गीता दूसरे अध्याय के पश्चात् समाप्त हो जाती क्योंकि भगवान् ने गीता में जो-जो मुख्य विषय प्रतिपादित किए हैं वह उन्होंने दूसरे अध्याय में बता दिया है। (1) आत्मा की अमरता (2) स्वधर्म की महत्ता (3) निष्काम कर्म, स्थितप्रज्ञ और ब्रह्म निर्वाण रूपी जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बता चुके हैं। अतः अर्जुन का फिर प्रश्न करना यह सिद्ध करता है कि वह अच्छा जिज्ञासु है। सिद्धान्त तो जान गया पर व्यवहार में क्या कठिनाई है उसके निवारण के लिए भगवान् ने 16 अध्याय और बताये।

स्मरणीय श्लोक : यज्ञ तत्त्व—7, 13, 14, 16

आचार द्वारा शिक्षा—21, 22

कर्मफल का निर्णय—23, 24

स्वधर्म महिमा—35

आत्मा की सर्वोपरिता—42

अध्याय 4

नामकरण : ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

विषय-वस्तु : (1) निष्काम कर्मयोग के उपदेश की परम्परा—ब्रह्म से सूर्य को, सूर्य से सूर्य पुत्र मनु को, मनु से मनु पुत्र इक्ष्वाकु को, उसी परम्परा में आगे जनक को, पुनः कृष्ण द्वारा अर्जुन को। 1, 2, 3, 4 श्लोक

(2) कर्म, अकर्म, विकर्म।

(3) बाह्य कर्म एवं आभ्यंतर कर्म।

समस्या : (1) हे भगवान्! यह कर्मयोग का उपदेश नया है अथवा प्राचीन परम्परा से चला आ रहा है।

(2) भगवान् कृष्ण का जन्म द्वापर का और सूर्य का जन्म सृष्टि के प्रारम्भ का है। तब उन्होंने प्रथम उपदेश सूर्य को कैसे दिया?

(3) चातुर्वर्ण्य में कर्तव्य कर्मों का भिन्न-भिन्न विभाग कैसे हुआ?

(4) कर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या जो कुछ बाहर से शरीर की क्रिया की जाती है वही है कर्म? या कर्म उससे कुछ अधिक गहन तत्त्व है?

उपचार : एवम् परम्परा प्राप्तम्। भारत में परम्परा का महत्त्व है और पश्चिम में नवीनता का। भारत में परम्परा का इतना महत्त्व है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपने ऊपर कोई Credit नहीं लिया। भगवान् बुद्ध ने हिन्दू विचारधारा से भिन्न विचार व्यक्त किए पर उन्होंने भी अपने विचारों को चार आर्यसत्य कहा। अतः भारतीय मनीषी किसी भी तथ्य को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए परम्परा से सिद्ध करते हैं।

(2) अवतार सिद्धान्त—मैं इस जन्म में कृष्ण के रूप में हूं। इससे पहले कई रूपों में प्रकट हो चुका हूं। अवतार का हेतु है परित्राणाय साधुनाम् (सज्जनों की रक्षा) विनाशाय च दुष्कृताम् (दुष्टों का विनाश)। इसमें शक्ति और शील का समन्वय। शील द्वारा साधुओं की रक्षा और शक्ति द्वारा दुष्टों का नाश। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दोनों बातें आवश्यक हैं। इसमें से एक के अभाव में समाज लड़खड़ा जाता है और समाज टिक नहीं सकता। अगर सिर्फ शील द्वारा साधुओं की रक्षा कर दी जाए और दुष्टों को छोड़ दिया जाए तो वे पुनः समय पाकर आतंक मचाने लगेंगे। अतः समाज को संतुलित ढंग से कायम रखने के लिए दोनों आवश्यक हैं।

(3) गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चारों वर्णों की व्यवस्था मैंने की है पर मैं उनसे निर्लिप्त हूं। ब्राह्मण का कार्य है ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना। मैं तुझे गीता ज्ञान का उपदेश दे रहा हूं। क्षत्रिय का काम है सत्य के लिए शस्त्र उठाना। मैं युद्ध का संचालन करके क्षत्रिय कर्म कर रहा हूं। वैश्य का कार्य है समाज की आर्थिक एवं व्यावसायिक व्यवस्था बनाए रखना। गोपालन करने से मैं वैश्य का कर्म कर रहा हूं और शूद्र का काम है समाज की सेवा जो रथ हांक कर मैं समाज की सेवा कर रहा हूं। फिर भी इन चारों कर्मों से अलिप्त हूं। अतः चारों कर्मों को करके भी मनुष्य को कर्म में असंग रहना चाहिए।

(4) कर्म का बहिरंग रूप तो शारीरिक क्रिया है उससे भ्रान्ति पैदा हो जाती है। जैसे एक सर्जन और एक डाकू दोनों छुरे द्वारा किसी व्यक्ति का पेट चीरते हैं पर दोनों की आन्तरिक भावना भिन्न-भिन्न होने के कारण दोनों का कर्म भिन्न-भिन्न माना जाएगा। बाह्य कर्म की तुलना में आन्तरिक कर्म अधिक महत्त्वपूर्ण है। तदर्थ भावसंशुद्धि अनिवार्य है। इसके लिए निम्नलिखित साधनों की अपेक्षा है—

(1) इन्द्रिय निग्रह, (2) तप (तपस्वी), (3) समत्वबुद्धि, (4) स्वाध्याय (स्वयं के विषय में अध्ययन यानी आत्मा), (5) संयम, (6) यज्ञ भावना, (7) गुरुजनों के सामने प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा, ज्ञान की प्राप्ति और ब्रह्मार्पण-बुद्धि।

विशेष : इस अध्याय में कर्म का जैसा सूक्ष्म विवेचन किया गया है वैसा अन्य अध्याय में नहीं मिलता।

कर्म : बाह्य यानी शारीरिक कर्म।

अकर्म : कर्म करते हुए कर्तापन की भावना का अभाव।

विकर्म : व्याख्याकार इसके दो अर्थ करते हैं। अधिकांश व्याख्याकार विपरीत कर्म मानते हैं। विनोबा भावे इसका अर्थ करते हैं विशेष कर्म। यह मानसिक कर्म है। इसी में भावना, इन्द्रिय निग्रह आदि सभी बातें आ जाती हैं। चौथे अध्याय का आधा भाग इसी की व्याख्या है—

जब कर्म की धारा—

मन की धारा—

श्रद्धा की धारा से जुड़ जाती है, वही विकर्म है।

बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है।

ब्रह्मयज्ञ में अर्पण, हवि, अग्नि, होता और ब्रह्म कर्म करने वालों द्वारा प्राप्तव्य फल सब कुछ ब्रह्म रूप हो जाता है।

यज्ञ के प्रकार : (1) देव पूजन यज्ञ, (2) ब्रह्मचर्य यज्ञ, (3) संयम यज्ञ, (4) इन्द्रिय संयम यज्ञ, (5) आत्मसंयम यज्ञ, (6) द्रव्य यज्ञ, (7) तप यज्ञ, (8) योग यज्ञ, (9) स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ, और (10) प्राणायाम यज्ञ—श्लोक 29, 30

गीता का शिक्षा दर्शन : (1) द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है।

(2) ज्ञान-प्राप्ति का उपाय प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा।

ज्ञान की सार्थकता की शर्त—श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय संयम।

ज्ञान की सर्वोच्च महत्ता : ज्ञान त्रिभुवन में पवित्रतम वस्तु है। आत्मज्ञान युक्त कर्ता को कर्म नहीं बांध सकता। इस तरह ज्ञानयुक्त व्यक्ति संन्यास भावना (त्याग, यज्ञ भावना) से जब कर्म करता है तभी वह सच्चा निष्काम कर्मयोगी कहलाता है। इसलिए इसे ज्ञानकर्मसंन्यास योग कहते हैं। ज्ञान युक्त कर्म करें और संन्यास युक्त फल यानी फल त्याग की भावना रखें।

हमें ज्ञान होना चाहिए—

आत्मा—अनात्मा

सत्य—असत्य

करने योग्य कर्म और न करने योग्य कर्म आदि का ज्ञान। सिर्फ ज्ञान ही नहीं। सिर्फ ज्ञान है तो वह अधूरा है। अतः कार्यरूप देने के लिए कर्मयोगी बनना। पर जिस प्रकार बिना कर्म के ज्ञान अधूरा है उसी प्रकार बिना ज्ञान के कर्म अधूरा है। बिना ज्ञान के कर्म अंधविश्वासी और गलत कार्यों में मनुष्य को कर्मशील बनाएगा। अतः ज्ञान और कर्म दोनों चाहिएं। यदि केवल तात्त्विक विचार हो और उसके साथ कर्म का जोड़ न रहे तो वह अकर्म हो जाता है और कर्म, क्रिया और उसका विचार न रहा तो कर्म अनेक बार विकर्म हो जाता है।

स्मरणीय श्लोक : अवतार सिद्धान्त—7, 8

कर्म, अकर्म और विकर्म—17, 18

ब्रह्म यज्ञ—24

ज्ञान यज्ञ या शिक्षा दर्शन—33, 34, 36, 37, 38, 39

अध्याय 5

नामकरण : कर्मसंन्यासयोग।

विषय-वस्तु : यह अध्याय ज्ञान कर्म संन्यास योग की आगे की व्याख्या करता है। अतः इसमें ज्ञान (सांख्य) और कर्मयोग (निष्काम कर्मयोग) यानी गीता के योग मार्ग का तुलनात्मक महत्त्व दर्शाया गया है और दोनों की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन करता है।

समस्या : अर्जुन पूछता है हे भगवान्! तीसरे अध्याय में आपने कर्म की अनिवार्यता बताई। (कर्म के बिना यह सृष्टि पल भर भी नहीं चल सकती)। चौथे अध्याय के प्रारम्भ में आपने कर्म की सूक्ष्म व्याख्या की। कर्म, अकर्म और विकर्म समझाया। बाह्य कर्म तथा आभ्यंतर कर्म बताया। किन्तु अध्याय के अन्त में आप धीरे-धीरे कर्म, यज्ञ कर्म, यज्ञ कर्म के प्रकार, ज्ञान यज्ञ, ज्ञान यज्ञ की महत्ता समझाते हुए अंत में ज्ञान को सर्वोपरि बताने लगे।

(1) हे भगवान्! कर्म की महत्ता बताकर फिर ज्ञान की महत्ता बताने लगे अतः कर्म और ज्ञान में कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है?

(2) अर्जुन पूछता है ये दोनों मार्ग क्या एक-दूसरे के विरोधी हैं?

(3) हे भगवान्! संसार के प्रपंच में रहते हुए और संसार का कर्म करते हुए कोई संसार के कीचड़ से कैसे बच सकता है?

(4) चौथे अध्याय में भगवान् ने बताया कि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाला बुद्धिमान् है। किन्तु कर्म-अकर्म का सांख्य और योग से क्या सम्बन्ध है?

(5) सिद्धि अवस्था में योग एवं सांख्य दोनों बराबर हैं। किन्तु साधक अवस्था में और साधन की दृष्टि से कौन-सा महत्त्वपूर्ण है?

(6) आदर्श कर्मयोगी के बाद आदर्श संन्यासी के लक्षण बताए।

उपचार : ईश्वर-प्राप्ति के दो प्रसिद्ध मार्ग हैं। सांख्य (ज्ञान मार्ग) निवृत्ति (कर्म संन्यास मार्ग) दूसरा योग अर्थात् निष्काम कर्मयोग, प्रवृत्ति मार्ग, संसार के कर्तव्यों को निष्काम भावना से पूरा करते हुए भगवान् की प्राप्ति का मार्ग।

इन दोनों मार्गों का फल एक ही है—मोक्ष। पर निष्काम कर्मयोग अधिक सुगम एवं समाज के लिए अधिक कल्याणकारी है। श्लोक 2 व 4—आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च। अपने मोक्ष की प्राप्ति एवं जगत् के हित दोनों सध जाते हैं। मानव जीवन के दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। कार्य प्रवृत्ति का और भाव निवृत्ति का होना चाहिए। मगर प्रवृत्ति मार्ग में फंस नहीं जाना चाहिए।

जीवन क्या है?

सागर में जलभार मुखर भर देना

कुसमित पुलिनों की माया से कुछ नहीं लेना।

यदि गंगा हिमालय से निकले और सागर में मिल जाए तो गंगा से क्या लाभ या उसकी महिमा गाने वाला कौन रहेगा? गंगा को तो सागर से मिलना ही है। अतः वह सागर में तो मिले पर साथ ही साथ समाज का भी भला करे। अपने आस-पास की मिट्टी को सींच दे, उर्वर बनाए। तभी समाज में उसकी पूछ होगी और लोग उससे कुछ सीखेंगे। उसी प्रकार मानव जीवन है। मगर हां, उसे प्रवृत्ति मार्ग में फंस नहीं जाना चाहिए।

भगवान् कहते हैं—नहीं। दोनों एक-दूसरे के पूरक बल्कि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बाल बुद्धि वाले इन्हें अलग-अलग एवं विरोधी समझते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि दोनों तत्त्व से एक ही हैं। दोनों का प्राप्तव्य लक्ष्य एक ही है। दोनों में से एक में ठीक प्रकार से स्थित हो जाने पर दोनों का ही फल मिल जाता है। हां, लोक-कल्याण में कर्मयोग अधिक महत्त्व का सिद्ध होता है।

संसार में रहे किन्तु संसार का बनकर न रहे। नौका जल में रहे किन्तु जल नौका में न आ जाए। जब हम शुद्ध कर्तव्य भावना से संसार में रहकर कर्तव्य कर्म करते हैं और कर्म का साथ-संग नहीं रखते। कर्तापन का अहंकार छोड़ देते हैं और कर्मफल की आसक्ति भी छोड़ देते हैं तब कर्म न हमें रंग सकता है न हमें अहंकारी बनाता है और न फल की आसक्ति में हमें बंदी बनाता है। तब हम जल में कमल सदृश रहते हुए सरोवर के जल या कीचड़ से कभी मलिन नहीं होते। 'जिस तरह तालाब के पानी में रहता है कमल।' (स्वामी रामतीर्थ)

संसार में रहने की वृत्ति—मन में संसार का प्रवेश नहीं होने देना। राग-द्वेष से मन में संसार का प्रवेश। स्नेह के कारण भी और वैर के कारण भी। कर्म में बहो नहीं यानी हाय फल! हाय फल! न करें और कर्तापन का अभाव। उदाहरण के लिए अजंता के कलाकारों ने पहाड़ काटकर मूर्तियां बनायीं पर किसी ने उन पर अपना नाम अंकित नहीं किया।

कर्म और अकर्म का विषय और ज्ञान और योग का विषय दोनों आपस में बहुत घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं—

सांख्य मार्ग	**योग मार्ग**
(निवृत्ति, संन्यास) कर्म न करते हुए भी सब कर्म किये हो ऐसा भाव होना।	(निष्काम कर्मयोग) सब कर्म करके भी ऐसी अनुभूति होना जैसे मैंने कुछ किया ही न हो।
अकर्म में कर्म का दर्शन। संन्यासी की अकर्म दशा। कर्तापन का अभाव। जैसे—रामकृष्ण देव।	कर्म में अकर्म दर्शन। कर्मयोगी की अकर्म दशा। कर्तापन का अभाव। जैसे—विवेकानन्द।

संन्यास केवल अन्तिम भूमिका (सिद्धि) होने योग्य है। साधन अवस्था में कर्मयोग ही सुगम और अधिक कल्याणकारी है। साधन अवस्था में कर्मयोगी बहुत उत्तम साधक माना जाता है और अधिकांश ज्ञानयोगियों का भी कर्मयोग की साधना द्वारा ज्ञान योग तक पहुंचना संभव होता है। निष्काम कर्मयोग द्वारा चित्त शुद्धि हो जाने पर ज्ञान अपने आप प्रकाशित हो उठता है। अतः सच्चा ज्ञानी निष्काम कर्मयोग को साधन रूप से अपनाता है और ज्ञानसिद्ध जीवन्मुक्त हो जाने पर भी उसे लोक संग्रह के लिए अपनाए रखता है। जैसे—गांधी चित्त शुद्धि के लिए। भगवान् मुक्त ही हैं। लोक संग्रह के लिए कर्म कर रहे हैं। प्रथम में चित्त शुद्धि और बाद में लोक संग्रह के लिए यानी कर्म अनवरत चल रहा है, छूटता नहीं।

एक आदर्श संन्यासी का लक्षण श्लोक 13-27 तक—संन्यासी की अकर्म दशा में कुछ न करते हुए भी सब कुछ हो रहा है। क्योंकि उसका अहंकार गल गया है और सर्वशक्तिमान से जुड़ गया है। उसमें कोई बहिर्भाव नहीं है। बिना कर्म के स्वाभाविक कर्म हो रहा है और कर्तापन का अभाव है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष या आत्मा निर्लिप्त द्रष्टा है। सृष्टि की सारी लीलायें तो प्रकृति ही कर रही है। इसलिए इन्द्रियां इन्द्रियों में बरत रही हैं, गुण गुणों में बरत रहे हैं और मैं केवल द्रष्टा हूं। जैसे—नाटक में रामलीला में राम पीताम्बर पहनकर, जटा लगाकर, धनुष धारण कर और रावण का मुखौटा पहने हुए

एक पात्र से युद्ध करता है और उसे मारता है। नाटक की समाप्ति पर आप पर्दे के पीछे जाकर देखें तब न वहां राम और न वहां रावण है। केवल राम का पीताम्बर, धनुष, जटा, रावण का मुखौटा, हनुमान का मुखौटा आदि पड़ा है। चिन्तन करने पर विचार आता है कि मुखौटा का मुखौटा से युद्ध होता है। वस्त्र का वस्त्र से। राग-द्वेष आदि का व्यवहार हुआ, तो सारी रामलीला वास्तव में वेशों और भेषों की, परस्पर राग-द्वेष की लीला है। इसी प्रकार सृष्टि केवल गुणों का गुणों से खेल है। पुरुष तो निर्लिप्त, अकर्ता, द्रष्टा है।

ब्रह्मज्ञानी समदर्शी हो जाता है। क्योंकि वह नाम-रूप को न देखकर उसके पीछे के तत्त्व का दर्शन करता है—श्लोक 18, 19। नाम-रूप को देखने वाला सुखी-दुःखी होता रहता है किन्तु तत्त्वदर्शी सुख-दुःख दोनों में समान और फिर दोनों से परे हो जाता है। योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है।

विशेष : पंचम अध्याय और द्वादश अध्याय में कुछ समानता है। पंचम अध्याय में ज्ञान और कर्म की परस्पर तुलना, समन्वय और उनकी तात्त्विक एकता दर्शायी गई है।

द्वादश अध्याय में निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति की परस्पर तुलना, सम्बन्ध और तात्त्विक एकता दर्शायी गई है। जैसे—कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म छिपा है। जैसे ज्ञान रूपी फल को पाने के लिए कर्म रूपी बीज अनिवार्य है। जैसे कर्मयोग में आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्म समर्पण बुद्धि पहले से ही मिली हुई है। उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना में सगुण ब्रह्म के दिव्य गुणों का समावेश हो जाता है और सगुण ब्रह्म की भक्ति में निर्गुण ब्रह्म का तत्त्व आ ही जाता है। जैसे आर्य-समाजी—हे भगवान्! तुम दयालु हो, कृपालु हो। गुणों के बिना कोई भी वस्तु बेकार है। जो सगुण की उपासना कर रहा है वह भी तत्त्व में सर्वव्यापक एक को मानता है। मूर्ति तो एक प्रतीक के रूप में है। मूर्ति को सर्वव्यापक निराकार मानना अर्थात् सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं। श्रुति, पुराण-वेद सब यही गा रहे हैं। रामकृष्ण परमहंस देव ने एक उपमा से इसे साफ कर दिया है—वाष्प वायु रूप में दिखाई नहीं देता, निराकार। वही वृष्टि के रूप में गतिशील जल फिर वही जम कर मूर्ति रूप में साकार हो गया। ज्ञान में ब्रह्म निर्गुण, कर्म में गतिशील जल की तरह और भक्ति में ठोस यानी मूर्ति रूप।

पांचवें अ. तक गीता के मुख्य विषय की परिसमाप्ति हो जाती है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, यज्ञ तत्त्व, समता योग, ब्रह्म निर्वाण।

छठे अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक के इन 12 अध्यायों में निष्काम कर्मयोग की सिद्धि के लिए त्रिविध साधनों का प्रतिपादन किया गया है। अ. 6 से 12 तक सात अध्यायों में उपासना कांड का प्रतिपादन किया गया है। अ. 6

से 8 में प्रधान रूप से अव्यक्त (निराकार) की उपासना और 9 से 12 तक चारों अध्याय में प्रधान रूप से सगुण (व्यक्त) की उपासना का उपदेश है। भक्ति और कर्म का यह मेल और समन्वय बड़ा अद्भुत है। भक्ति की रीति से सब कर्मों को करके संन्यासी की अकर्म दशा को पा लेना (मैंने कुछ किया ही नहीं, सब कुछ प्रभु का किया)। यह एक प्रकार की निर्गुण उपासना बन जाती है।

इसी प्रकार सत् कर्म करके योगी द्वारा अलिप्त अकर्म दशा बनाए रखना सगुणोपासना बन जाती है।

कर्म — संन्यासी की अकर्म दशा—निर्गुण उपासना
कर्म — कर्मयोगी की अकर्म (अलिप्त दशा) सगुण उपासना।

इसलिए पांचवां अ. गीता में उपदेश के सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तिम अध्याय बन जाता है। शेष तो इस सिद्धान्त की सिद्धि के लिए साधन रूप से कहे गये हैं।

स्मरणीय श्लोक : ज्ञान कर्म समुच्चय—4, 5

सम दर्शन—18, 19

अध्याय 6

नामकरण : ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग

विषय-वस्तु : छठे अध्याय से आठवें अध्याय तक अव्यक्त अक्षरब्रह्म की उपासना का निरूपण है। अव्यक्त अक्षरब्रह्म के दो अर्थ हैं—

(क) निराकार ब्रह्म जिसका क्षरण (decay) नहीं होता। अ+क्षर।

(ख) ओंकार—एक अक्षर वाला

उस अक्षर ब्रह्म की उपासना दो प्रकार से होती है—

(1) पातंजल योग द्वारा

(2) ज्ञान योग द्वारा

गीता के छठे अध्याय में मुख्य रूप से ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग की चर्चा है। जैसे गीता में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, कर्म और ध्यानयोग (रजोगुण) सबकी महत्ता स्वीकार की गई है। किन्तु यदि ज्ञान के प्रकाश से योगसाधना द्वारा मन के संयम से और हृदय की श्रद्धा-भक्ति से समन्वित होकर निष्काम कर्म किया जाए तो वह गीता की दृष्टि में सबसे विशेष महत्त्व का होगा।

समस्या : (1) हे भगवान्! कर्म तो रजोगुण से होता है और शान्ति सतोगुण में मिलती है। इसलिए कर्म द्वारा शान्ति कैसे मिलेगी?

(2) अच्छे कार्यकर्ता का मन किस स्थिति में रहना चाहिए?

(3) निष्काम कर्मयोगी के लिए मन की कैसी साधना चाहिए?

(4) आदर्श ध्यानयोगी या कर्मयोगी को भोजन आदि कैसे करना चाहिए?

(5) कर्मयोगी का मन शांत, एकांत और निर्मल होने पर उसे कर्म से क्या मिलता है?

(6) मन बड़ा चंचल है उसको वश में करना उतना ही कठिन है जितना तेज आंधी को मुट्ठी में बांधना।

उपचार : (1) कर्मयोग पर आरूढ़ होने के लिए मनुष्य को कर्म करना अनिवार्य है। किन्तु कर्म के बंधन एवं अशान्ति से बचने के लिए मनुष्य को धीरे-धीरे निष्कामता की ओर बढ़ना चाहिए। जब कर्मयोग पर अच्छी प्रकार से आरूढ़ हो जाता है तब मन का वेग शांत हो जाता है और कर्म स्वाभाविक रूप से अपने आप होने लगते हैं। उदाहरण के लिए साइकिल चलाना सीखने के समय मनुष्य को बहुत ध्यान लगाना पड़ता है। हैंडल पर ध्यान देने से पैडल भूल जाता है और पैडल पर ध्यान देने से ब्रेक को भूल जाता है। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करते-करते और कई बार गिरते-उठते हुए पुनः प्रयास करते-करते धीरे-धीरे साइकिल चलाना एक स्वाभाविक कर्म बन जाता है। तब साइकिल चलाते हुए दिमाग पर बोझ नहीं पड़ता। वह हंसते-खेलते, बातचीत करते, गाना गाते चलता जाता है। साइकिल अपने आप चलती जाती है।

(2) अच्छा कार्यकर्ता वही है जिसका मन अपने वश में है। मन जीते जग जीते। मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है यदि उसका मन अपने वश में हो। अन्यथा मन के बेकाबू होने पर मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है—श्लोक 5, 6, 7।

(3) (क) मन पर वशीकरण। मन हमारा सेवक है। जो हमारे वश में होना चाहिए न कि इसके विपरीत हम ही उसके गुलाम हो जाएं।

(ख) समत्व योग : मन सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, सोना-मिट्टी, मित्र-शत्रु सब व्यक्तियों में, परिस्थितियों में सम रहे। (स्थितप्रज्ञ)

(ग) एकांत में आत्मचिन्तन।

(घ) एकाग्रता : उचित स्थान पर, उचित आसन पर मेरुदण्ड सीधा, दृष्टि सीधी एवं नासिकाग्र पर रख कर ब्रह्मचर्य पालन करते हुए दैनिक ध्यान को एकाग्र मन से करें। मन की बिखरी शक्तियों को एकाग्र करें। मन को एक बिन्दु पर एकाग्र कर लिया जाए तो अपार शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे सूर्य की रश्मि बिखरी

रहती है तो सामान्य-सी रहती है पर थोड़ी रश्मियों को इकट्ठा करें तो उसमें अग्नि स्फुलिंग पैदा हो जाता है। सामान्य व्यक्ति का मन एकाग्र की जगह बहुकाग्र बना रहता है।

(ङ) भगवान् द्वारा योगी के चित्त की उपमा दीपक की निष्कम्प शिखा के सर्वोच्च बिन्दु से की गई है जो कि बहुत सूक्ष्म होती है। उस पर मन स्थिर कर लिया जाए तब वह योग का अधिकारी हो जाता है।

(4) युक्ताहारविहारस्य—जो व्यक्ति उचित मात्रा में उचित समय पर उचित विधि से खान-पान, विश्राम-जागरण आदि समस्त कर्तव्य कर्म करता है उसके लिए योग बड़ा सरल, दुःखों को दूर करने वाला बन जाता है। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर भगवान् बुद्ध ने अपना मध्यम मार्ग प्रतिपादित किया। (वीणा की तार न ढीली रहे कि आवाज ही न निकले और न इतनी कसी जाए कि वह टूट जाए)। इसीसे अरस्तू ने भी कहा है कि सद्गुण दो अतियों के बीच की स्वर्णिम सन्धि है।

(5) अभ्यास और वैराग्य द्वारा जब चित् शांत, एकाग्र और निर्मल हो जाता है तब वह ध्यानयोगी सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को देखता है। अथवा सब भूतों में ब्रह्म को ही देखता है। परिणामस्वरूप वह किसी का अपकार नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपना अपकार नहीं कर सकता। जब मैं सब में हूं तब किस को लूटूं, किसको ठगूं, किसका गला काटूं?

यह ठीक है कि मन बड़ा चंचल है। मन को वश में करने के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। वैराग्य मन की भूमि के फालतू झाड़-झंखाड को साफ करने के लिए है। जिससे मन की भूमि साफ हो जाएगी और अभ्यास मन की भूमिका में नए संस्कार के बीज बोने में।

विशेष : मन की साधना का सर्वोत्तम मार्गदर्शन करता है। अच्छे कार्यकर्ता का मन खूब अच्छा चाहिए यथा कर्म का संकल्प, पवित्रता, कर्म के भले-बुरे की पहचान, कर्म से लाभ-हानि का बोध। कर्म प्रेरक भगवान् का विचार और कर्मों को भगवान् को समर्पण करने की भावना सब कुछ एक निर्मल, एकाग्र और नियंत्रित मन पर ही अवलम्बित है।

स्मरणीय श्लोक—आत्मोद्धार—3, 5, 6

मध्यम मार्ग—16, 17

एकाग्रता ध्यानयोग—19

सर्वभूतात्म दर्शन—29, 30, 31, 32

मनोनिग्रह (मन को वश में करना)—34, 35

अध्याय 7

नामकरण : ज्ञानविज्ञानयोग

विषय वस्तु : आजकल ज्ञान एवं विज्ञान शब्द प्रचलित है। किन्तु प्राचीन और वर्तमान अर्थों में अन्तर हो गया, ज्ञान का अर्थ जानना। इस ज्ञान की परम परिणति परम सत्य के ज्ञान में होती है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। आजकल बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म विश्लेषण से प्राप्त ज्ञान (Science) के लिए विज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। ज्ञान के अन्दर (आत्मा) का अध्ययन है और विज्ञान में बाहर की प्रकृति का अध्ययन है। इस अर्थ में ज्ञान और विज्ञान आत्मा एवं प्रकृति का अध्ययन माना जाता है। कुछ व्याख्याकार ज्ञान एवं विज्ञान का अर्थ सिद्धान्त और व्यवहार (Theory and practice) के अर्थ में लेते हैं। ज्ञान सिद्धान्त है और विज्ञान व्यवहार है। यदि ज्ञान को व्यवहार में नहीं उतारा जा सकता है तो वह बेकार ही रहता है। सिद्धान्त साधना में परिणत होकर ही उपयोगी बनता है।

समस्या : हे भगवान्! आपने बहुत ऊंचे ज्ञान का व्याख्यान किया है और ध्यानयोग द्वारा पहले अपने अन्तर में नारायण दर्शन और फिर सारे विश्व में नारायण दर्शन का सिद्धान्त बताया है। किन्तु इस ज्ञान को प्रत्यक्ष जगत् में व्यवहार में कैसे उतारा जाए। इसलिए पुरुष और प्रकृति का रहस्य समझाइये। सिद्धान्त और साधना का सम्बन्ध समझाइये।

(1) जीवन तत्त्व क्या है? सब भूतों का आदि-बीज क्या है?

(2) प्रकृति के ये तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं। ये गुण कहां से आए?

(3) हे भगवान्! प्रकृति और माया में क्या सम्बन्ध है।

(4) आपकी शरण में आने वाले भक्त कितने प्रकार के होते हैं?

(5) हे भगवान्! जो प्राणी आपको स्वरूप से नहीं जानते उनके अज्ञान का कारण क्या है?

उपचार : (क) अर्जुन! हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए प्रयास करता है और प्रयास करने वाले हजारों साधकों में कोई एक मुझे पाता है इसलिए मुझे पाने वालों में कोई लाखों में एक भाग्यवान पुरुष होता है।

(ख) मेरी प्रकृति दो प्रकार की है—

(i) अपरा प्रकृति—यह बाह्य प्रकृति है। यह जड़ प्रकृति है। इसके आठ अंग हैं। पंच तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश और तीन अन्दर की

इन्द्रियां—मन, बुद्धि और अहंकार। यह सारा जगत् मेरी इच्छानुसार मेरी अष्टधा बाह्य प्रकृति या अपरा प्रकृति से बना है।

(ii) परा प्रकृति मेरे अन्दर की प्रकृति या चेतन प्रकृति है जो सारे जगत् को धारण कर रही है।

ईश्वर की दो प्रकृति है। उसी प्रकार मनुष्य में भी दो प्रकृति है। जब परस्पर में दो व्यक्तियों के कुशल मंगल पूछने पर—कि कहो, कैसी रही? तब वह प्रथम में बाह्य प्रकृति के विषय में बतलाता है। आज बूंदाबांदी हुई, आकाश गीला है, धरती भी गीली है। तब दूसरा व्यक्ति कहता है नहीं भाई, अपनी प्रकृति (विषय में) के बारे में बताओ। तो कहता है मैं आनन्द में हूं। अतः मनुष्य में भी दो प्रकृति हैं—बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति।

जब मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति (मनःस्थिति) सबल या सुदृढ़ रहती है तब बाह्य प्रकृति ठीक नहीं रहने पर भी बाह्य प्रकृति उसकी मनःस्थिति को बिगाड़ नहीं सकती और न ही कर्तव्यच्युत ही कर सकती है। वरन् परिस्थिति जितनी विपरीत रहती है वह उतने ही उत्साह से अपने कर्तव्यपथ पर अग्रसर होता है। किसी शायर ने कहा है—

तन की क्षुधा मन के इरादों को गिरा सकती नहीं
मन हो मजबूत तो शर्मसार बना सकती नहीं
घास की रोटी खाने वाले प्रताप और तुलसी को
भूख हरगिज गद्दार बना सकती नहीं।

पर जब मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति अच्छी नहीं रहती है तब बाह्य प्रकृति अच्छी होते हुए भी उसे खराब लगती है यानी बाह्य प्रकृति आन्तरिक प्रकृति के अनुसार ढल जाती है।

रात्रि की चांदनी की छटा उसे मनोरम न लगकर व्यथा देने वाली लगती है। उसे लगेगा कि चाँद मानो शोक से पीला पड़ गया है। तारे उसके बिखरे हुए अश्रुबिन्दु हैं और काली रात्रि (काला महाकाश) उसके बिखरे हुए बाल हैं। मनुष्य के अन्दर की प्रकृति ठीक नहीं तो मनुष्य दुर्बल सिंह हो जाता है—

तन की हवस मन को गुनहगार बना देती है
बांध के बांघ को शर्मसार बना देती है
भूखे पेट को त्याग सिखाने वालो!
भूख मनुष्य को गद्दार बना देती है।

इस तरह दो प्रकार की प्रकृति है—आन्तरिक और बाह्य। दोनों ईश्वर के अधीन यानी ईश्वर की दो दासियां हैं (1) जड़ और (2) चेतन। ईश्वर तो द्रष्टा रहता है।

जड़ प्रकृति चेतना के अभाव में कुछ नहीं कर सकती। जड़ में से चेतना निकाल दी जाए तो जड़ निष्क्रिय है (मुर्दा है)। अगर प्रताप से चेतना निकाल दी जाए तो प्रताप में कुछ बचता है? उसका सम्पूर्ण शौर्य व साहस समाप्त। उसे सम्मानित किया जाए या लांछित किया जाए तो भी उस पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं अतः चेतना के अभाव में जड़ व्यर्थ है। अतः ज्ञान से विज्ञान हो रहा है। हो रहा है विज्ञान में पर हो रहा है ज्ञान से। वैज्ञानिकों में आत्म चेतना है तभी तो विज्ञान की ओर अग्रसर हैं। यही ज्ञान-विज्ञान का सम्बन्ध है।

(ग) मैं ही सारे जगत् का प्रभव और प्रलय हूं। मेरे में सब कुछ इस प्रकार गूंथा हुआ है जैसे कि माला में सूत के मनके गूंथे हुए हैं। सूत की माला में सूत के मनके गूंथे हुए हैं। अगर सूत की माला से सूत ही निकाल दी जाए तो कुछ नहीं बचता। उसी प्रकार सृष्टि में से ईश्वर को निकाल दिया जाए तो सृष्टि ही नहीं बचेगी—

(2) जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु। 7/9, गीता
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। 7/10, गीता

(3) ये सब गुण मेरी प्रकृति के ही हैं। प्रकृति मेरी ही शक्ति है इसलिए सब मेरे ही गुण हैं। पर चमत्कार ये है ना यह तीनों गुण मुझमें है और न मैं उनमें बंधा हूं। जैसे दस मकानों का मालिक हूं, तो क्या दस मकान मुझ में (यानी मेरे अन्दर) हैं और क्या मैं 10 मकानों में बंधा हुआ हूं? यानी क्या दस मकानों के अन्दर मैं हूं और क्या मैं यहीं तक सीमित हूं।

अगर ईश्वर में गुण रहे तो ईश्वर जीव हो जाएगा। क्योंकि गुण जीव में है। और अगर ईश्वर सृष्टि में बंध जाते हैं तो प्रभु की प्रभुता ही नहीं रहेगी, यानी मकान मालिक की मिल्कियत ही समाप्त हो जाएगी।

(4) अष्टधा प्रकृति अपने तीनों गुणों से जो अनेकानेक प्रकार के व्यक्तियों और वस्तुओं की रचना करती हैं यही प्रकृति का प्रपंच है। इसमें भूल जाने का ही नाम माया है। इस माया प्रपंच से निकलना बहुत कठिन है। किन्तु जो प्रकृति के स्वामी मुझ परमेश्वर की शरण में आ जाते हैं वे माया का समुद्र पार कर जाते हैं।

जादूगरी अन्य लोगों को भ्रम में डालती है, किन्तु स्वयं जादूगर को नहीं। जो जादू का रहस्य जान ले या स्वयं जादूगर बन जाए उसे जादू से ठगा नहीं जा सकता।

(5) चार प्रकार के भक्त मेरी शरण में आते हैं।

(क) धर्मात्मा (अर्थार्थी)—युधिष्ठिर

(ख) आर्त (दु:खी)—द्रौपदी

(ग) जिज्ञासु—नचिकेता

(घ) ज्ञानी—याज्ञवल्क्य

भक्तों को तीन कोटि में बांटा जा सकता है—(1) सकाम भक्ति वाले—कुछ लोग समाजसेवा इसलिए करते हैं ताकि समाज में मान मिले। इस प्रकार से कुछ समाजसेवा तो हो जाती है।

फल के लिए भी शुभ कर्म करना शुभ ही है। प्रारम्भ में प्रसाद के लालच में बच्चे मन्दिर जाते हैं। धीरे-धीरे वे लालच भुला करके श्रद्धा से जाने लगते हैं। बच्चा प्रारम्भ में पुरस्कार या शाबासी के लिए अच्छा काम करता है। बाद में हो सकता है उसे अच्छाई से इतना प्रेम हो जाए कि वह बिना पुरस्कार या प्रतिष्ठा के शुभ कर्म करने लगे। इसलिए प्रारम्भ में या बाल बुद्धि वाले व्यक्ति का सकाम होना बुरा नहीं है। किन्तु सदा स्वार्थी बना रहना अभीष्ट नहीं।

(2) निष्काम किन्तु एकांगी भक्ति करने वाले—ये तीन प्रकार के होते हैं—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु। शुभ कर्म करके भगवान् से सुख-सौख्य मांगना। व्रत-अनुष्ठान करके भगवान् से संकट निवारण के लिए प्रार्थना करना। यज्ञ करके पुत्र मांगना। भगवान् के सामने शरणागत होकर ज्ञान मांगना। ये सब सकाम और निष्काम के बीच की स्थिति है। इसे एकांगी निष्काम कहा जाता है। जैसे जीजाबाई का धर्म और राष्ट्र की रक्षार्थ हेतु पुत्र मांगना।

(3) पूर्ण निष्काम—भक्त ज्ञानी होता है। वह भगवान् के स्वरूप को जानकर भगवान् के प्रति भक्ति कर रहा है। किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा के लिए नहीं। भगवान् कहते हैं ज्ञानी तो मेरा अपना स्वरूप ही है। वह सब ओर केवल वासुदेव का ही दर्शन करता है।

इच्छा-द्वेष (राग-द्वेष) के कारण सुख और दु:ख, अपने-पराये, मित्र-शत्रु आदि के द्वन्द्व पैदा होते हैं। उन द्वंद्वों में मनुष्य को मोह पड़ जाता है। अर्थात् राग-द्वेष से पैदा हुए द्वंद्व मनुष्य के मन को अंधे छल अथवा अंधे बल से अपनी ओर खींच लेते हैं। इस तरह बुद्धि पर जो मोह रूपी पर्दा पड़ा रह जाता है उसी का नाम अज्ञान है।

विशेष : प्रकृति और पुरुष का विवेचन भारतीय दर्शन का आधारभूत प्रश्न है। महाभारत काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका आख्यान ज्ञान-विज्ञान के रूप में किया है। महर्षि कपिल ने सांख्य दर्शन में उसको पुरुष और प्रकृति के रूप में

समझाया है। जहां सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व माने जाते हैं। वहां गीता और वेदान्त में अधिकांशतः प्रकृति को पुरुष की ही शक्ति, पुरुष के अधीन मानकर उसकी व्याख्या की गई है। इसलिए अन्तिम तत्त्व ब्रह्म ही बच जाता है।

स्मरणीय श्लोक—परा अपरा प्रकृति—4, 5

सृष्टि (सनातन बीज)—6, 10

माया से पार जाना—14

चार प्रकार के भक्त —16

अध्याय 8

नामकरण : अक्षरब्रह्मयोग

विषय-वस्तु : आठवें अध्याय में निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन है।

समस्या : (1) हे भगवान्! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? आपने आत्मा की चर्चा, ब्रह्म की चर्चा और फिर कर्म की चर्चा की। इनमें परस्पर में सम्बन्ध क्या है?

(2) अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ क्या हैं? जिनकी आपने सातवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में चर्चा की।

(3) यदि आप जीवन में अधियज्ञ रूप हैं और मरणोत्तर मोक्ष में अक्षरब्रह्म हैं। तब मानव का जीवन में आपके प्रति क्या करना कर्तव्य है और मरते समय क्या करना उसका कर्तव्य है?

(4) यदि अन्तिम स्मरण से ही मोक्ष मिलता है तो जीवन भर स्मरण करने और कर्म करने की क्या आवश्यकता है?

(5) यदि प्रभु का चिन्तन ही कर्तव्य है तो कर्म की क्या आवश्यकता है?

(6) अव्यक्त अक्षरब्रह्म का उपासक ध्यानयोगी अन्तिम समय में प्राण को कैसे छोड़ता है?

(7) मुक्त होने पर उसे क्या स्थिति प्राप्त होती है?

(8) ब्रह्म लोक और ब्रह्म पुनरावृत्ति कैसे माने जाएं?

(9) योगी की मोक्ष गति और पुण्य गति में क्या अन्तर है?

उपचार : परम अक्षर ही ब्रह्म है। अपना आत्मभाव ही अध्यात्म है। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला त्याग (यज्ञ) ही कर्म है।

(1) भाव = अस्तित्व, सत्ता, स्थायित्व, कल्याण।

अभाव= नाश, कमी, सत्तालोप।

जीवात्मा — (मोक्ष में) अक्षरब्रह्म
जीवात्मा — (विश्व कल्याण में) यज्ञ कर्म

आत्मा शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ले तो वही ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं, कर्म तो जगत् के लिए है। अत: ब्रह्म का भाव रखते हुए जगत् हिताय से मोक्ष की प्राप्ति भी और जगत् का हित भी अभीष्ट है।

(2) (क) उत्पत्ति और विनाश वाले सब भौतिक पदार्थ अधिभूत कहलाते हैं (क्षर भाव)।

(ख) अधिदेव हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा का नाम है। ये उन देवी शक्तियों के नाम हैं जो प्रकृति का संचालन करती हैं। जिन्हें देवता नाम से पुकारा जाता है। जैसे—इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, सूर्य, चन्द्र। ये अधिभूत को वश में रखते हैं और उसे संचालित करते हैं।

(ग) सब जीवों का पालन करने वाला, सबके देह में विष्णु रूप से स्थित मैं ही हूं।

अधि—उपसर्ग—अधीन या नीचे।

अधियज्ञ—वह यज्ञ तत्त्व (स्वयं ईश्वर ही) जिसके अधीन सारा विश्व है।

ब्रह्माण्ड में भी यज्ञ हो रहा है और मनुष्य के शरीर में भी यज्ञ चल रहा है। इसी से सृष्टि चल रही है।

(3) अन्त मति सो गति। अंतकाल में जो मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है वह मुझे ही प्राप्त होता है।

(4) मनुष्य जीवनभर जो चिन्तन करता रहता है अन्तिम समय में उसी का ध्यान उसे आता है। मनुष्य को इसलिए जीवनभर पवित्र भाव से भगवान् का चिन्तन करना चाहिए ताकि अन्तिम घड़ी में उसे भगवान् का ध्यान आवे। यदि जीवनभर क्षर के व्यवहार और ध्यान में लगा रहा तो अन्तिम समय में क्षर का ही ध्यान आएगा? यदि अक्षरब्रह्म की सतत साधना चलती रही तो अन्त समय अक्षरब्रह्म का ध्यान आएगा। जीवनभर की साधना (व्रत, नियम, अनुष्ठान, जप, ध्यान, यज्ञ, शुभ कर्म, स्वाध्याय-सत्संग) सब इसलिए की जाती है ताकि मन निरन्तर प्रभु के रंग में रंगा रहे। और जीवन की अन्तिम घड़ी मीठी हो जाए। मृत्यु जीवन की अन्तिम परीक्षा है। यदि मनुष्य प्रारम्भिक परीक्षाओं में पास होता गया और अन्तिम परीक्षा में फेल हो गया तो बड़े घाटे का सौदा होगा।

(5) **तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।** 8/7, गीता

हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर (कर्तव्य कर्म, संघर्ष कर्म), करता जा।

कर से कर्म करो विधि नाना
मन राखो जहां कृपा निधाना। (तुलसी)

इस प्रकार सतत स्मरण के साथ कर्तव्य कर्म पालन का मेल बिठा लेने से निम्नलिखित लाभ हैं—

(क) स्मरण और सेवा साथ-साथ चलेगी। न तो नारायण का स्मरण छूटेगा और न नारायण की सेवा।

(ख) अपनी मुक्ति और जगत् का भला, दोनों पूरे हो जाएंगे।

(ग) ब्रह्मतेज एवं क्षात्रतेज, शक्ति एवं शील, बल एवं बुद्धि, कर्म एवं धर्म, यज्ञ एवं युद्ध, दीन-दुनिया, इहलोक-परलोक, जगत्-जगत्पति दोनों का समन्वय हो जाएगा।

(घ) बिना प्रभु स्मरण के युद्ध अत्याचार बन जाएगा। बिना शील के शक्ति आततायी हो जाएगी। बिना शक्ति के शील दुर्बल हो जाता है। बिना कर्तव्य पालन के उपासना जीवन को एकांगी एवं असफल बना देती है। इसलिए इसे निरन्तर स्मरण करते हुए कर्तव्य करते रहना चाहिए।

(ङ) जब प्रभु का स्मरण करते हुए कर्तव्य करेंगे तो कर्तव्यपथ से विचलित नहीं होंगे। तब हम प्रभु के दिव्य न्याय के यंत्र बन जाएंगे। प्रभु की इच्छानुसार कर्म करेंगे और हमारे कर्म में सर्वशक्तिमान प्रभु की अलौकिक शक्ति भी आ जाएगी।

(च) जीवन में कर्तव्य पालन से विश्व कल्याण में सहायक होंगे और प्रभु का स्मरण करते-करते शरीर छूट जाएगा तो मोक्ष प्राप्त होगा। यह गीता का सबसे बड़ा उपदेश माना जाता है।

(6) वह (ध्यानयोगी) योगबल से चित्त को भृकुटि के मध्य में स्थापन करके ओमकार स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करता हुआ प्राण छोड़ता है और मुक्त हो जाता है।

(7) भूलोक से ब्रह्मलोक तक सब लोक पुनरावृत्ति ही हैं। किन्तु मुझे प्राप्त करने के बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

(8) मनुष्यों के एक हजार चतुर्युग (1000 सत्य, 1000 द्वापर, 1000 त्रेता और 1000 कलियुग) अर्थात् चार हजार युग बीतने पर ब्रह्माजी का एक दिन का समय पूरा होता है। इसी प्रकार 4000 (हजार) युग और बीतने पर एक रात्रि का काल पूरा होता है। इस प्रकार मनुष्यों के आठ हजार युग बीत जाने पर ब्रह्माजी

का एक दिन-रात का काल पूरा होता है। इसी को 365 दिन से गुणा करने पर एक वर्ष और पुनः 100 से गुणा करने पर पूर्ण आयु। इस प्रकार महाप्रलय में ब्रह्माजी भी बदल जाते हैं। इसलिए चींटी से ब्रह्माजी तक पुनरावृत्ति है। किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर जीव स्वयं ब्रह्म ही बन जाता है। इसलिए वह पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होता है।

(9) (क) जब योगी सकाम भावना से या एकांगी भावना से पुण्य कर्म करता है तब वह मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाकर स्वर्ग आदि सुख भोगता है और पुण्य क्षीण होने पर पुन-पुनः संसार में आता है। इसे दक्षिणायन मार्ग अथवा कृष्ण गति या चन्द्र गति भी कहा जाता है।

(ख) जब योगी पूर्ण निष्काम होकर शरीर छोड़ता है तब वह तेजस्वी सूर्य के समान ब्रह्मलोक में लय हो मुक्त हो जाता है। इसे उत्तरायण यात्रा या शुक्ल मार्ग या सूर्य मार्ग कहा जाता है। ऐसा योगी वेद का अध्ययन, तप, दान आदि के पुण्य फल से भी आगे बढ़कर सनातन परम पद को पाता है।

विशेष : इस अध्याय में जीवन को सतत साधना और मृत्यु को प्रभु मिलन का महापर्व बनाने की कला दर्शायी गयी है।

स्मरणीय श्लोक—

अन्त गति —5

हृदय एवं मन से प्रभु हस्ते कर्म—7

ओमकार ब्रह्म—13

पुनर्जन्म (संसार चक्र) से मुक्ति —16

कर्मयोग की सर्वोपरि श्रेष्ठता—28

अध्याय 9

नामकरण : राजविद्याराजगुह्ययोग

विषय-वस्तु : इसमें भगवान् सब विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ राजविद्या तथा सब रहस्यों में सर्वोत्तम रहस्य राजविद्या-राजगुह्य का भेद बताते हैं। सारे महाभारत के मध्य में गीता, गीता के मध्य में स्थित नवम् अध्याय गीता का मानो हृदय ही है। संत ज्ञानेश्वरजी इसी अध्याय का पाठ करते हुए समाधिस्थ हो जाते थे तथा इसी का पाठ करते हुए महासमाधि भी ली।

नवम् अध्याय से द्वादश अध्याय तक सगुण भक्ति का निरूपण है। किन्तु नवम् अध्याय में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों का सबसे बड़ा रहस्य खोल दिया है। जो परम गूढ़ है उसको भगवान् ने सर्वसुलभ बना दिया।

धर्म रूपी बीज से जो वेद रूपी वृक्ष हुआ उसका गीता सुमधुर फल है। नवम् अध्याय में वेद के बंद कपाट खोलकर उसका रहस्य सरल ढंग से प्रकट कर दिया गया है।

समस्या : (क) हे भगवान्! आप व्यक्त रूप से श्रीकृष्ण हैं और आठवें अध्याय में आप अव्यक्त की उपासना में अपने को अव्यक्त अक्षरब्रह्म बताते हैं।

(ख) आपका जगत् से क्या सम्बन्ध है और कैसा सम्बन्ध है? जगत् किसने बनाया, कौन सृष्टा है, कौन व्याप्त है? क्या सृष्टा सृष्टि में है या सृष्टि सृष्टा में है? ये रहस्य मुझे समझाइये।

(ग) आप, पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध क्या है? क्या सृष्टि प्रकृति ही करती है या आप करते हैं या आप दोनों मिलकर करते हैं?

(घ) ईश्वर की उपासना का सरलतम मार्ग क्या है? हे भगवान्! क्या आपको कुछ लोग प्रिय और अप्रिय होते हैं?

उपचार : मुझ अव्यक्त (अमूर्त) द्वारा यह सारा जगत् व्यक्त हुआ है। जैसे अदृश्य वाष्प द्वारा जल एवं बर्फ व्यक्त हो जाते हैं। वास्तव में मैं अव्यक्त ब्रह्म ही हूं। जैसे इस शरीर रूपी बिन्दु में व्यक्त हूं। उसी प्रकार इस जगत् रूपी सिन्धु में व्यक्त हूं। जिस प्रकार जल तत्त्व सत् है और बिन्दु का नाम और रूप असत् है। उसी प्रकार सिन्धु में मात्र जल तत्त्व ही सत् है और सिन्धु का नाम और रूप, दोनों असत् हैं।

सृष्टि, सृष्टा का रहस्य : मुझ अव्यक्त ब्रह्म के संकल्प से ही जगत् व्यक्त हो जाता है। मैं जगत् का पृथक् कारण न होकर जगत् का अन्तर्भूत कारण हूं। सामान्य विज्ञान में कारण को कार्य से पृथक् मानकर कहा जाता है कि कारण कार्य को पैदा करता है। जैसे बादल जल को पैदा करता है। बिजली गर्मी पैदा करती है आदि। किन्तु उच्च विज्ञान और वेदान्त की मान्यता है कि कारण कार्य में अन्तर्भूत रहता है। वह कार्य से भिन्न नहीं है। कारण ही कार्य बन जाता है। बीज ही वृक्ष बन जाता है। बर्फ ही जल बन जाता है। इसी प्रकार अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्त जगत् बन जाता है। सृष्टा ही सृष्टि बन जाता है। इसलिए सामान्य विज्ञान में पृथक् कारणवाद (Transient causality) कहा जाता है और उच्च विज्ञान में अन्तर्भूत कारणवाद (Imminent causality) कहा जाता है। (गुप्त रूप से वर्तमान, गुह्य रूप से व्याप्त सिर्फ खुलने की देरी है।)

(ग) अन्तर्भूत कारणवाद में भी बीज या कारण अपने आपको परिवर्तित करके या गला करके कार्य बनता है। जैसे बीज गलकर वृक्ष बन जाता है। बर्फ गलकर पानी बन जाता है। परब्रह्म सृष्टि का ऐसा सनातन बीज है जो असंख्य

कोटि-ब्रह्माण्डों की रचना करके भी वह स्वयं नष्ट नहीं होता। इसलिए ब्रह्म अव्यक्त बीज या सनातन कारण कहा जाता है।

(घ) मैं ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण, दोनों हूं। अर्थात् सृष्टि बनाने वाला भी और जिस पदार्थ से सृष्टि बनी है वह भी मैं ही हूं। द्वैतवादी मानते हैं कि पुरुष सृष्टिकर्ता निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण है। पर वेदान्त उससे आगे बढ़कर मानता है कि प्रकृति परमेश्वर की ही शक्ति है। जो परमेश्वर से प्रकट होती है। और अन्त में परमेश्वर में ही लय हो जाती है। अतः ब्रह्म सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है जिसमें निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों अभिन्न है, भिन्न नहीं हैं।

(ङ) मैं सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हूं। कोई भी लौकिक सृष्टा (इंजीनियर आदि) यंत्र या वस्तु को बनाकर अणु-अणु में व्याप्त नहीं हो सकता। कोई भी लौकिक सृष्टा वस्तु बनाकर उसके जर्रे-जर्रे में प्रवेश नहीं कर सकता। प्रभु की इस पूर्ण व्याप्ति का भेद जब खुलता है तब रहस्यदर्शी भक्त सारे विश्व में उसी का दर्शन करने लगता है—'सीयराम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

साहित्य में अनुभूति को रहस्यवाद कहते हैं। यह सृष्टि का सबसे बड़ा रहस्य है। इसलिए इसे राजगुह्य विद्या कहते हैं। जब यह रहस्य खुल जाता है तब सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं—

दो चार दिवस नहीं
दूर है मंजिल
अरे प्रथम रश्मि के पथ पर मैं
निकला जग के निर्जन पथ पर
मैं छोड़ चला हूं पदचिह्नों को
ग्रह और नक्षत्रों पर
निज घर जाने के हेतु
अज्ञात द्वार कितने छाने
जिस प्रिय को खोजा जीवनभर
वह बैठा था मन के भीतर।

नर में नारायण, जनता ही जनार्दन है, नारायण नर के अन्दर है, यही रहस्य है। अन्तर्मुखी दृष्टि से खोज अन्दर करते हैं और बहिर्मुखी दृष्टि से बाहर खोजना चाहते हैं तब मिलता नहीं है पर अन्तर्मुखी दृष्टि से खोजने से मिलता है—

ढूंढता फिरता हूं मैं इकबाल अपने आपको
आप ही गोया (=मानो) मुसाफिर आप ही मंजिल मैं हूं।

(च) आठवें अध्याय तक जिस अव्यक्त ब्रह्म की उपासना बतायी गई है वही नवम् अध्याय में जन-जन में व्याप्त हो गई है। अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही व्यक्ति (मनुष्य) है।

(छ) भगवान् ने निराकार की उपासना के पश्चात् साकार की उपासना बताई है। जो मनुष्य पहले मन को एकाग्र करके चित्त को निर्मल करके आत्म चिन्तन द्वारा अन्तर्मुखी साधना से अपने भीतर की ब्रह्मज्योति का दर्शन कर लेगा वही जब नेत्र खोलेगा तो बाहर भी सब ओर उसे सर्वत्र सर्वव्यापी दीखेगा। पहले एकाग्र दर्शन द्वारा अपते भीतर राम को देखने वाला जब नेत्र खोलता है तो समग्र दर्शन की अनुभूति से गाने लगता है—

सीयराम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

बिना एकाग्र हुए समग्र दर्शन संभव नहीं है।

(ज) सब भूत प्राणी मुझ पर अवलम्बित है किन्तु मैं उन पर अवलम्बित नहीं हूं। जैसे बिन्दु, वीचि (तरंग), फेन, बुलबुले, ज्वार-भाटा, वाष्प, बादल, वर्षा, पानी, हिमपात, नदी, नाला, तालाब, बावली, कुआं, नहर, छापड़, दरिया, महानदी, समुद्र, महासमुद्र सब कुछ जल पर अवलम्बित है। किन्तु जल उनमें से किसी पर अवलम्बित नहीं है।

(झ) मेरी योगमाया ऐसी है। सब भूत प्राणी मेरे से उत्पन्न होते हैं, मेरे पर अवलम्बित भी हैं। मैं उनके अणु-अणु में व्याप्त भी हूं किन्तु कोई भूत प्राणी ना मेरे में स्थित है और ना मेरे में व्याप्त है। सब भूतों को जन्म देने वाला और उनका पालन करने वाला, उनको आधार देने वाली मेरी आत्मा भूतों में स्थित नहीं है। मेरी सत्ता, स्फूर्ति एवं संकल्प मात्र से ही सब उत्पन्न हो रहे (श्लोक 4, 5, 6, 7) हैं। मैं सब उत्पन्न सबमें व्याप्त हूं, पर किसी में कैद नहीं हूं। पराधीन नहीं हो सकता हूं। सर्वनिवासी सदा अलेपा तोही संग समाहि। काहे रे वन खोजन जाय—गुरु तेगबहादुर का कथन। ब्रह्म सब में निवास करता है किन्तु अलिप्त रहता है। आत्मा भौतिक जगत् में व्याप्त होती है उसे परिचालित करती है। किन्तु भौतिक जगत् न आत्मा में व्याप्त हो सकता है और न ही उसका परिचालन कर सकता है।

आत्मा से भौतिकता की ओर संचालन क्रिया चलती है, किन्तु भौतिकता द्वारा आत्मा का संचालन नहीं हो सकता। One way traffic, किसी भी भूत की मजाल नहीं कि वह ब्रह्म में प्रवेश कर सके। खेल में मजाल नहीं कि वह खिलाड़ी को मोहित कर ले।

(ञ) सृष्टा सृष्टि में अलिप्त रूप से व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। मठाकाश में मठ के रूप में, घटाकाश में घट के रूप में, कोटि-

कोटि वस्तुओं में कोटि-कोटि भिन्न रूपों में व्याप्त है। किन्तु, आकाश न लिप्त होता है न आकाश को कोई लिप्त कर सकता है। जो मन का दुर्बल होता है, लिप्त हो जाता है। जो तन का दुर्बल है वह बंदी हो जाता है।

(4) प्रकृति-पुरुष—वास्तव में प्रकृति मेरी ही रचना शक्ति का नाम है। यह कोई मेरे से पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जैसे पूर्व अध्याय में बताया मेरी प्रकृति (शक्ति) दो प्रकार की है—

(क) परा-प्रकृति—मेरी आन्तरिक चेतना शक्ति।

(ख) अपरा प्रकृति (आठ अंगों वाली जड़ रचना करने वाली)—मेरी अध्यक्षता में मेरे संकल्पानुसार मेरे भृकुटि के संकेत मात्र से प्रकृति चराचर (जड़) जगत् को रचती है। इसलिए वास्तविक सृष्टा मैं ही हूं। क्योंकि मेरी सत्ता और स्फूर्ति से प्रकृति जगत् को रचती है और प्रत्यक्ष सृष्टा प्रकृति बन जाती है। सेनापति के आदेशानुसार सैनिक युद्ध में लड़कर विजय प्राप्त किया करते हैं।

ईश्वर उपासना का सरलतम मार्ग—भगवान् के नाम का निरन्तर संकीर्तन करना, भगवान् को नित्य नमस्कार करते हुए पूजन एक पवित्र नाम यज्ञ है जो सबके लिए सुलभ है। अन्य यज्ञों में स्त्रियों एवं शूद्रों का भले ही अधिकार नहीं हो, किन्तु नाम यज्ञ में सबका अधिकार है। मेरी अनन्य भक्ति करने से बड़े-बड़े दुराचारी भी साधु एवं सदाचारी बन जाते हैं। स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि सब मुक्त हो जाते हैं।

ईश्वर सबके लिए समान : मैं सब भूत प्राणियों में समान रूप से हूं। किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं। किन्तु जो मुझे अनन्य भक्ति से भजन करते हैं वे तो मेरे में ही निवास करते हैं और मैं उनमें निवास करता हूं। इसलिए यदि वे परमप्रिय हों, तो अचम्भा ही क्या है? क्योंकि वे मेरे आत्मरूप ही हैं और आत्मा सबको परमप्रिय होती ही है। (श्लोक 29)

प्रश्न—भक्ति में आपको क्या भेंट करें?

उत्तर—यदि कोई भक्तिपूर्वक पुष्प, फल, जल भी भेंट करता है तो मैं उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूं। विदुर का शाक, गजेन्द्र के फूल, भीलनी के बेर और केवट के जल से तृप्त हो जाता हूं। (श्लोक 26)

प्रश्न—ज्ञान यज्ञ के द्वारा आपको कैसे पूजा जाए?

उत्तर—हे अर्जुन! यह जान लो कि मैं ही सब जीवों की गति, सबका भर्ता, प्रमुख साक्षी, निवास, शरण, सच्चा मित्र, सबका जन्म स्थान, प्रलय, मध्य का पड़ाव, सूक्ष्म भूतों का घर और सृष्टि का अव्यय बीज हूं। गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। (श्लोक 18)

इसमें ईश्वरज्ञान का सार कह दिया गया है।

प्रश्न—देवताओं, पितरों, भौतिक सम्पदाओं को पूजने वालों की क्या गति होती है?

उत्तर—भौतिक वस्तुओं का चिन्तन करने वाले जड़ता की ओर बढ़ते जाते हैं। पितरों की उपासना करने वालों में पितरों के गुण आ जाते हैं और देवताओं के उपासकों में देवताओं के गुण आ जाते हैं और मुझ ब्रह्म की उपासना करने वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं। (श्लोक 25)

प्रश्न—सम्पूर्ण समर्पण का स्वरूप क्या है?

उत्तर—**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। 9/27, गीता

हे अर्जुन! जो कुछ खाता है, हवन करता है, देता है, लेता है, तपस्या करता है। वह सब कर्म मेरे को समर्पण कर दे।

प्रश्न—हे भगवान्! आपको निरन्तर याद करते रहें या अपने कर्म आपको भेंट करते रहें? भक्ति और कर्म में कौन-सा उत्तम है?

उत्तर—भगवान् का स्मरण करो। यदि भगवान् का स्मरण करते हुए कर्म करेंगे, तो कर्मफल फेंकना नहीं पड़ेगा। उसे भगवान् को समर्पण करना पड़ेगा। इस तरह कर्म भी उत्तम होगा और भक्ति भी। जो इन्द्रिय, मन को प्रभु प्रेम से भटकाती है उन इन्द्रियों को प्रभु को अर्पण करें। सगुण भक्त नेत्रों से भगवान् का दर्शन करता है, कान से कीर्ति को सुनता है, मुख से प्रसाद ग्रहण करता है और हाथों से पुष्पमाला बनाता है, पूजन करता है—पांव से तीर्थ-यात्रा करता है। इस प्रकार सब इन्द्रियों को भगवान् को अर्पित कर देता है। अर्पण बुद्धि से सारा जीवन प्रभुमय बन जाता है।

प्रश्न—हे अर्जुन! जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन और उपासना करते हैं वे लोग मेरे से नित्य जुड़े रहते हैं। इसलिए उनके योगक्षेम से भरण-पोषण, रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व मेरे कन्धों पर आ जाता है। (श्लोक 22)

प्रश्न—जो अभी तक पथ भ्रष्ट रहे हैं, दुराचारी और पापाचारी बन गए। उनके उद्धार की कोई आशा है?

उत्तर—हां, अर्जुन! मेरी शरण में आने से बड़े से बड़ा पापी भी शुद्ध होकर पुण्यात्मा बन जाता है जैसे रात के गहन अंधकार को न झाड़ू से बुहारा जा सकता है न तोप से समाप्त किया जा सकता है। करोड़ों योजन तक फैला हुआ घना अंधेरा सूर्य की प्रथम किरण के छूते ही न जाने कहां भाग जाता है। उसी प्रकार

ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की ज्ञान रश्मि के स्पर्श से कोटि-कोटि जन्मों के पाप समूल भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार पापी के लिए भी पुण्यात्मा बनने का मार्ग खुला है—

Every saint has a past & every sinner has a future.

विशेष : महाभारत का हृदय गीता और गीता का हृदय नवम् अध्याय। इसमें रहस्यों का रहस्य प्रकट किया गया है कि परमेश्वर मानव से दूर नहीं है। उसके निकटतम, अपने आप के हृदय मंदिर में विराजमान है। इसमें अध्यात्म विद्या का गुप्त रहस्य प्रकट किया गया है। ज्ञान की सर्वोच्च भूमिका का दिग्दर्शन है। कर्मयोग में सर्वस्व समर्पण और भक्ति का अनन्य चिन्तन, दोनों का मधुर मेल है।

स्मरणीय श्लोक—

प्रभु की गति—18

पुनर्जन्म—21

योगक्षेमं—22

फलम् पुष्पम् फलम् तोयम्—26, 27

समर्पण, पतितों के उद्धार की उज्ज्वल आशा—30, 34

अध्याय 10

नामकरण : विभूतिचिंतनयोग

विभू—सर्वव्यापक, शक्तिशाली, महान्।

विभूता—स्वामित्व, प्रभुत्व, ऐश्वर्य, शक्ति, व्यापकता।

विभूति—शक्ति, महत्ता, प्रभुता, ऐश्वर्य, समृद्धि, प्रकाश, कौशल।

विभूति योग का अर्थ है भगवान् की शक्ति। भिन्न-भिन्न वस्तुओं एवं व्यक्तियों में प्रकाश।

नवम् अध्याय में जिस भगवान् का स्वरूप बताया गया। आठवें अध्याय में जिसे अव्यक्त बताया गया और नवम् में उसे चराचर में व्याप्त बताया गया। उसी का विशद् विश्लेषण करने के लिए विभूतियोग बताया गया।

प्रश्न—निराकार ईश्वर (अव्यक्त ब्रह्म) व्यक्त जगत् में व्याप्त कैसे है? क्या यह मात्र कल्पना है? अथवा अंधश्रद्धा की मान्यता है। अथवा जगत् के हर पदार्थ में प्रभु की विभूति, प्रभु का सौन्दर्य, ऐश्वर्य और महत्ता का कुछ परिचय मिलता है? (संसार में बहुलता एकदम स्पष्ट है)

उत्तर—हे अर्जुन! मैं सारे जगत् का रचयिता हूं? मेरे द्वारा प्रेरित होकर ही सारा

जगत् चेष्टा करता है और सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त भी हूं और तनिक विचार करने से प्रत्येक वस्तु में जो ईश्वरीय विभूति छिपी है वह प्रकाशित हो जाती है।

प्रश्न—आपकी सबसे प्रथम और प्रधान विभूति क्या है?

उत्तर—अहमात्मा गुडाकेश—श्लोक 20

हे अर्जुन! सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूं।

प्रश्न—ये भिन्न-भिन्न देवी-देवता क्या हैं?

उत्तर—सब देवता मेरी ही विभूति हैं। मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, नक्षत्रों में चन्द्रमा, देवताओं में इन्द्र, रुद्रों में शंकर, सेनापतियों में स्कन्द हूं। प्रजनन करने वालों में कामदेव हूं, शस्त्रधारियों में राम, हरण करने वालों में काल देवता हूं। यादवों में वासुदेव और पाण्डवों में अर्जुन हूं।

प्रश्न—शास्त्रों एवं ऋषि-मुनियों में आपकी विभूति कहां विशेष रूप से प्रकट हुई है?

उत्तर—सप्तऋषि मेरे संकल्प से पैदा हुए हैं। पुरोहितों में देवगुरु बृहस्पति हूं, महर्षियों में महर्षि भृगु हूं, मुनियों में व्यास हूं, कवियों में शुक्राचार्य। वेदों में मैं सामवेद हूं। छन्दों में गायत्री। विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूं।

प्रश्न—मनुष्यों में आपकी विभूति और असुरों में आपकी विभूति कैसे प्रकट होती है?

उत्तर—मनुष्यों में राजा, सिद्धों में कपिल मुनि (प्रथम दार्शनिक), राम, कृष्ण और अर्जुन इन मनुष्य रूपों में मेरी ही विभूति का प्रकाश है। इसके अतिरिक्त जहां-जहां भी ऐश्वर्य, कान्ति, शक्ति दिखाई दे उसे मेरे अंश से उत्पन्न हुआ जान। दैत्यों में प्रह्लाद, असुरों में विभीषण।

प्रश्न—पशु-पक्षियों में आपकी विभूति कैसे प्रकट होती है?

उत्तर—पशुओं में वनराज सिंह हूं, सात्त्विक पशुओं में गो, गऊओं में कामधेनु, हाथियों में ऐरावत हाथी, घोड़ों में उच्चैःश्रवा, पक्षी में गरुड़, सर्पों में वासुकि, नागों में अनन्तनाग, मछलियों में मगरमच्छ हूं।

प्रश्न—जड़-पदार्थों में आपकी विभूति कैसे प्रकट होती है?

उत्तर—हे अर्जुन! पर्वतों में हिमालय, सरिताओं में सागर, वृक्षों में पीपल, नदियों में गंगा, पुष्पों में कमल, अक्षरों में ॐ, गुह्यो (रहस्यों) में मौन, छलों में द्यूतक्रीड़ा।

प्रश्न—सब जीवों में आपकी विभूति कैसे व्याप्त है?

उत्तर—हे अर्जुन! मैं जीवों का जीवन, प्राणियों की चेतना, इन्द्रियों में मन, नारियों में कीर्ति, श्री, वाक् मेधा, स्मृति, धृति, क्षमा मैं हूं। वरन् सब भूतों का बीज मैं ही हूं। इस सृष्टि का ही अन्त नहीं है वरन् समस्त सृष्टि के अणु-अणु में मेरी ही विभूति छिपी हुई है। अतः मेरे विभूति कथन का अन्त कहां होगा? फिर चमत्कार यह है कि सारी सृष्टि की गणना करने पर भी मेरी विभूति का पार नहीं पाया जा सकता। क्योंकि सारी सृष्टि को मैं एक अंश मात्र से धारण किये हुए हूं। मेरे चरण धूलि के एक कण से कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पैदा हो जाते हैं। सृष्टि की हर वस्तु, सब प्रयोजन एक ही ईश्वर में छिपा हुआ है। जिसका उद्देश्य विश्वकल्याण रूपी महायज्ञ है।

विशेष : यह योग बड़ा मधुर योग है। प्रकृति के अणु-अणु में प्रभु की विभूति का दर्शन होने से सारी सृष्टि प्रभुमय दिखाई देती है। कण-कण में भगवान् और कंकर में शंकर के दर्शन की ये पद्धति भारतीय चिन्तन की अद्‌भुत विशेषता है। विभूति के दृष्टिकोण से प्रकृति को देखने से अणु-अणु में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है और सब कुछ ब्रह्ममय बन जाता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

जहां-जहां शक्ति, ऐश्वर्य, महत्ता है वहां-वहां ईश्वर की विभूति है ऐसा जान।

स्मरणीय श्लोक—

प्रभु ही आत्मा—20

प्रभु की विभूतियां—30, 34

अध्याय 11

नामकरण : विश्वरूपदर्शनयोग

विषय-वस्तु : नवम् अध्याय मानो एक माता के तुल्य है। वह (राजविद्या गुह्य) इस अध्याय के मानो दो पुत्र दशम् और एकादश। दशम् अध्याय में नवम् में वर्णित सर्वव्यापक विभू की विभूति का दर्शन है और एकादश में सारे विश्व में व्याप्त परमेश्वर का विश्वरूप दर्शन।

समस्या : हे भगवान्! नवम् अध्याय में आपने यह सबसे बड़ा रहस्य बताया कि परमेश्वर दूर नहीं है। वह सर्वव्यापक और निकटतम है। जब मुझे यह जिज्ञासा हुई कि सृष्टि के अनेकत्व में तथा नानाविध रूपों में एक ही परमेश्वर का प्रकाश कैसे है, तो दशम् अध्याय में आपने विभूतियोग दर्शन द्वारा दर्शाया कि जड़-चेतन में, मनुष्य-गंधर्व में, असुर, राक्षस, देव, ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी, पर्वत, नदी, वृक्ष

आदि सबमें ईश्वरीय विभूति फैली है। यह जो सर्वत्र प्रभु दर्शन आपने कराया है क्या उसका एकत्र दर्शन हो सकता है (सब में प्रभु, अब प्रभु में सब दिखाइये) सब में ईश्वर है। किसी में खुले रूप में और किसी में ढके हुए रूप में प्रभु है। अगर सब में ईश्वर नहीं है तब रत्नाकर डाकू से वाल्मीकि, तुलसी से गोस्वामी तुलसीदास, बिगड़े हुए बनिये के बच्चे से गांधी कैसे बन गए? दोनों बातें कैसे सिद्ध हो कि जगत् के हर अणु में प्रकाश है तब क्या ईश्वर में जगत् के अणु-अणु को दिखा सकते हैं।

उत्तर—हे अर्जुन! सम्पूर्ण चराचर जगत् को तू मेरे ही शरीर में एक जगह स्थित देख। पर एकत्र दर्शन बड़ा दुर्लभ एवं दुष्कर है। बचपन में माता यशोदा को मैंने अपने मुख के भीतर ब्रह्माण्ड दिखाया तो वह विस्मित हो गई। दुर्योधन के दरबार में जब शान्तिदूत बनकर गया और उसने मुझे बंदी बनाने की धृष्टता करनी चाही तो मैंने अपनी एक भुजा में अनन्त सेनाएं दिखाकर उसे भयभीत कर दिया। हे अर्जुन! मैं तेरे प्रेम और भक्ति से प्रसन्न होकर जो विराट् रूप दिखा रहा हूं वह सबसे विलक्षण है। इसका उद्देश्य न मां को विस्मित करना है और न दुश्मन को डराना वरन् उसका उद्देश्य है अपने प्रिय जिज्ञासु भक्त को अपनी विभूति का एकत्र दर्शन कराना।

प्रश्न—यह बात तो समझ में आती है कि प्रकृति के अणु-अणु में ईश्वर है पर सब प्रकृति ईश्वर में देखकर अर्जुन चकरा जाता है। क्या साधारण दृष्टि से विश्वरूप का दर्शन हो सकता है?

उत्तर—साधारण दृष्टि से विश्व दर्शन हो सकता है पर विश्व रूप (विश्व ईश्वर में) दर्शन नहीं हो सकता। चर्म दृष्टि से अनेकता में बंटा हुआ जगत् दीखेगा। किन्तु मर्म दृष्टि से सारी अनेकता को अपने भीतर समाहित किये हुए एकता का दर्शन होता है। (चर्म दृष्टि से संसार में अनेकता दिखेगी, नाम-रूप में बिखरी दिखेगी) दृष्टियों वाला उदाहरण।

प्रश्न—हे भगवान्! आपके विराट् रूप में सब देवों को, असुरों, गंधर्वों को, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र, तारा, नदी, पर्वत, ऋषि-मुनि, महर्षि, सिद्ध सबको एक साथ देख रहा हूं। यह पहेली समझ में नहीं आती।

उत्तर—विभूति में आपको जो सृष्टि में सृष्टा का प्रकाश बताया था उसी सृष्टा में समस्त सृष्टि की एकत्र लीला भी देखो—

यह सैर अजब अनोखा कि राम मुझ में मैं राम में हूं।
जहाज दरिया में और दरिया जहाज में भी तो देखिये।
यह जिस्म किश्ती है राम दरिया कि राम मुझ में है, मैं राम में हूं।

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है
बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहि समाया
यह तथ कहो ग्यानी (ज्ञानी)।

प्रश्न—आपके अनेक मुखों से अग्नि ज्वालाएं निकल रही हैं और आपके अनन्त फैले हुए मुखों में सभी कौरव वीर भी भस्म हो रहे हैं। यह रहस्य समझ में नहीं आता।

उत्तर—हे अर्जुन! ईश्वरीय न्याय में इनके पापों का फल मिलना प्रारम्भ हो चुका है। स्थूल दृष्टि से कर्म के फल का प्रभाव तुरन्त दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से कर्म का प्रभाव कर्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। जैसे औषधि खाते ही उसका प्रभाव शरीर में शुरू हो जाता है, किन्तु स्थूल दृष्टि से उसका प्रभाव दिखता है जब बुखार टूट जाता है। पापियों के पाप का प्रभाव तुरन्त शुरू हो गया है यह दुनिया स्थूल दृष्टि से बाद में देखेगी। डॉक्टर को सूक्ष्म लक्षणों से स्वास्थ्य पर प्रभाव पहले ही दिख जाता है। रोगी को बाद में। दिव्य दृष्टि वालों को कर्म का प्रभाव पहले ही दीख जाता है और चर्म दृष्टि वालों को बाद में।

प्रश्न—हे भगवान्! आपने विभूतियोग में अपना प्रथम परिचय आत्मा के रूप में दिया। इस विराट्-रूप दर्शन में आपका यह भयानक रूप देखकर मैं कांप गया हूं। आप कौन हैं, मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूं!

उत्तर—अर्जुन! मेरे दो रूप हैं।

(क) अन्त:प्रकृति में आत्मरूप और बाह्यप्रकृति में कालरूप। मैं आत्मरूप से अंत: पर शासन करता हूं और कालरूप से बाह्य जगत् पर।

जगत् देश-काल परिच्छिन्न है अत: देश इसको सीमित करता है और काल इसको खा जाता है। आत्मा देश-काल से परे, अकाल और अविनाशी है और भक्तों को मैं आत्मरूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूं। किन्तु, अभक्तों को काल रूप से वश में रखता हूं और काल बन मृत्यु चक्कर में घुमाता हूं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत:।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिता: प्रत्यनीकेषु योधा:।। 11/32, गीता

अणुबम के प्रथम आविष्कारक रॉबर्ट ओपेनहाइमर को 16 जुलाई, 1945 के दिन अणुबम के प्रथम परीक्षण के अवसर पर विस्फोट की लपलपाती हुई अग्नि-जिह्वाओं में भगवान् के विराट् रूप की अनुभूति हुई। उसी दिन से विज्ञान एवं अन्तरिक्ष शोध के कार्य को त्यागकर गीता का भक्त बन गया।

प्रश्न—हे भगवान्! मुझे यह विराट् रूप देखकर कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या कर रहा हूं। भय, विस्मय और रोमांच से आपके इस अनन्त रूप के सामने मैं भौचक्का-सा कांप रहा हूं। प्रारम्भ में सम्बन्धियों के मोह से किंकर्तव्यविमूढ होकर कांपने लगा था और मेरे हाथ से गांडीव गिर गया था। अब मैं आपके विस्मयकारक विराट् रूप को देखकर और अपनी तुच्छता देखकर श्रद्धामिश्रित विस्मय से कांप रहा हूं। तीनों लोकों में व्याप्त विराट् रूप को देखकर मेरी तुच्छ बुद्धि चकरा गई है। मैं क्या करूं और क्या न करूं?

उत्तर—हे अर्जुन! प्रारम्भ में तू पंडितपने की बात कर रहा था, तेरे में अहम् था, सम्बन्धों के मोह (अहंकार) के ऊपर पाण्डित्य का आवरण चढ़ाकर बातें कर रहा था। तेरी क्षत्रिय प्रकृति तुम्हें अन्दर से युद्ध करने के लिए प्रेरित करती थी, किन्तु तेरा मोह (अहंकार) युद्ध से रोकता था। इसलिए इन दोनों के बीच में मन के इधर-उधर झूलने से तू कांपने लगा था। अब मेरे विराट् रूप के सामने तेरे अहंकार को चोट लगी और तुझे भान हो रहा है कि विराट् के सामने मैं शूर-शिरोमणि महारथी अर्जुन एक तृण के समान, तुच्छ हूं। इसलिए इस विराट् का आदेश न मानने से मेरी क्या गति होगी? इसी आशंका से कांपने लगा कि मैं विराट् का अंग होते हुए यदि विराट् के आदेश का पालन नहीं करूंगा तो मेरा अस्तित्व कहां बचेगा? हे अर्जुन!—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33

(क) तस्मात्वमुत्तिष्ठः हे अर्जुन! तुम खड़े हो जाओ। कर्तव्यपथ पर डट जाओ। सदा आशावान रहो। सदा आगे बढ़ने के लिए सिद्ध रहो।

(ख) यशोलभस्व—यशस्वी जीवन जीओ। अपयश से बचो। सफलता के लिए पुरुषार्थ करो। जो राष्ट्र सम्मानित जीवन नहीं बिताता, मिट जाता है।

(ग) जित्वा शत्रू—शत्रुओं को जीतो। चिर विजय की कामना ही राष्ट्र का आधार है। निरन्तर विजय की साधना करो। पराजय, पराधीनता जीवन की सबसे बड़ी लानत है। बाहर के शत्रुओं को भी जीतो और भीतर के शत्रुओं (देशद्रोही तत्त्वों) को भी जीतो। इसके अतिरिक्त मन के शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को भी जीतो। जो स्वयं को जीत नहीं सकता वह जगत् को क्या जीतेगा?

(घ) भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्—समृद्धशाली, वैभवशाली राज्य को भोगो। राष्ट्र को परम वैभव की महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए। व्यक्तिगत वैभव विलासिता है। राष्ट्रीय वैभव ऐतिहासिक गौरव का मानबिन्दु है।

राष्ट्र का वैभव राज्य के वैभव से अधिक मूल्यवान है। राष्ट्र समृद्ध होगा तो राज्य के बदलने पर भी समृद्धि बनी रहेगी। केवल राज्य शान-शौकत में रहे और राष्ट्र कंगाल रहे तो न राज्य बचेगा न राष्ट्र। कंगाल राष्ट्र वैभवशाली सत्ताधीशों के साथ विद्रोह करेगा और सत्ताधीश राष्ट्र के जन-गण की छातियों पर गोली चलाएगा।

(ङ) मयैवैत निहताः पूर्वमेव—ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। ईश्वरीय न्याय से कोई बच नहीं सकता। चाहे मानवीय न्याय में कुछ देर के लिए बच जाए।

(च) ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति—हे अर्जुन! तेरे बिना भी ये सब योद्धा नहीं बचेंगे। अतः व्यक्ति को कर्तापन का अहंकार नहीं होना चाहिए। क्योंकि जिसको ईश्वर ही मारना चाहे उसे कौन बचा सकता है?

(छ) निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्—हे अर्जुन! तू निमित्त मात्र बन जा। व्यक्ति को ईश्वरीय संकल्प को पूरा करने में निमित्त मात्र बन जाना चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी। कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवत-संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह काल रूप बनकर हमें ही खा जाएगा। स्वधर्म का पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय के निमित्त और भागवत संकल्प के सेनानी बनकर अपना कर्तव्य पालन प्रभु की कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

विशेष : विराट् रूप दर्शन गीता का बड़ा मार्मिक अध्याय है। इसमें मानव का अहंकार ठोकर खाता है और उसे अपनी तुच्छता का भान होता है। मानव के सारे अहम् उस विराट् के सामने गल जाते हैं और उसे सारे विश्व का नियमन करने वाली विराट् शक्ति का दर्शन होता है। इस अध्याय के पश्चात् अर्जुन श्रीकृष्ण को मित्र, सखा और गुरु मात्र ही न मानकर परब्रह्म परमेश्वर के रूप में पहचानने लगा और इसके पश्चात् उसने भगवान् से तर्कयुद्ध बंद कर दिया। और विनम्र होकर उनके आदेश को मानने के लिए प्रस्तुत होता है।

स्मरणीय श्लोक—

विराट् रूप दर्शन—18, 32

अर्जुन द्वारा क्षमायाचना, स्तुति—38, 41, 43

अध्याय 12

नामकरण : भक्तियोग

विषय-वस्तु : भक्ति ब्रह्म की रसात्मक अनुभूति है।

मानव चेतना के तीन पहलू हैं—

(1) ज्ञानात्मक (Knowing)

(2) रागात्मक (Feeling)

(3) संकल्पात्मक (Willing)

जीवन का लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति। जीव में व्यक्तिगत चेतना है और ब्रह्म विश्व चेतना का नाम है। इसलिए ब्रह्म-प्राप्ति के तीन मार्ग हो सकते हैं—

(क) Know the perfect पूर्ण को जानो (ज्ञान योग)।

(ख) Feel for the perfect पूर्ण के लिए सुख-दुःख, संयोग-वियोग, हर्ष-विषाद सब कुछ समर्पित कर दो (भक्ति योग)।

(ग) Act for the perfect पूर्ण के लिए कर्म करो (कर्मयोग)।

गीता के द्वितीय अध्याय में कर्मयोग का बीज है, तृतीय अध्याय में कर्मयोग का महत्त्व है, चतुर्थ में कर्म और ज्ञान से त्याग का समन्वय है। पांचवें में कर्म और ज्ञान (सांख्य और योग) दोनों की सिद्धावस्था में एकता तथा साधनावस्था में कर्मयोग की अधिक उपादेयता का वर्णन है। गीता का मुख्य उपदेश अर्जुन को निष्काम कर्मयोग में लगाना है। उसके लिए भक्ति और ज्ञान आदर्श कर्मयोगी की तैयारी हेतु अनिवार्य है। अध्याय 6 से 9 तक अव्यक्त (निराकार) की उपासना ध्यानयोग द्वारा तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति द्वारा दर्शायी गयी है। दशम अध्याय से द्वादश अध्याय तक व्यक्त की उपासना अर्थात् सगुण भक्ति का निरूपण है। दशम में सर्वत्र ईश्वर दर्शन, एकादश में एकत्र और द्वादश में भक्ति का पूर्ण परिपाक दर्शाया गया है। जिस निर्गुण की उपासना करते हैं ध्यान द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा उसी को सगुण रूप में सर्वत्र देखते हैं। उसी विश्वरूप (विराट् रूप) में एकत्र देखते हैं। दिव्य दृष्टि से निराकार को साकार देखकर भक्त कर्म किस प्रकार से करे यह द्वादश अध्याय में बताया गया।

तैयारी कर्मयोग की—इसकी मनोभूमिका तैयार करने के लिए भक्तियोग 12 तक। 13 से 17 तक ज्ञान योग की चर्चा विस्तार से है। आदर्श कर्मयोगी को तत्त्व से भटकना नहीं चाहिए। इसलिए ज्ञान योग।

समस्या : अ. 6 से 8 तक अव्यक्त की महिमा और 9 से 12 अ. तक व्यक्त की महिमा गाई। कृपया बतावें दोनों का फल क्या है? और दोनों में श्रेष्ठ कौन-सा है?

उत्तर—हे अर्जुन! अव्यक्त की उपासना दो प्रकार से हो सकती है—

(क) योग मार्ग (पातंजलि योग, हठयोग, अष्टांग योग, कुण्डलिनी योग, प्राणायाम साधना, अनहद नाद, तंत्र साधना, तितिक्षा, सहन करने की साधना, पंचाग्नि तप, घोर तपस्या, तापस कष्ट साधना।

(ख) ज्ञानाश्रयी भक्ति—ईश्वर को निर्गुण-निराकार मानते हुए ज्ञानमिश्रित भक्ति (कबीर, नानक, दादू आदि) संतों का मार्ग—

ॐ कार साधना, गायत्री साधना, संध्या, यज्ञ, हवन, शून्य तत्त्व का चिन्तन आदि। व्यक्त की उपासना में भगवान् के सगुण-साकार रूप की अथवा किसी मानव शरीर में ईश्वरीय विभूति की, किसी देवता, ऋषि-महर्षि, किसी सिद्ध, संत की प्रतीक मूर्ति की पूजा है। इन दोनों का अन्तिम फल एक ही है। साकार और निराकार, दोनों उपासना मार्ग से लोग मुझे ही पाते हैं। हां, निर्गुण की उपासना में एक फल सगुण की अपेक्षा अधिक मिलता है। वह है अधिक क्लेश। अतः सगुण और निर्गुण दोनों भक्ति मार्गों में सगुण ही शीघ्र फलदायी होता है। मानव शरीरधारी को निर्गुण निराकार पर मन टिकाना होता है इसलिए निर्गुण साधना में फल उठाना वैसे ही वृथा है जैसे एक सती का जो ऐसे पति के देहान्त पर सती होकर चिता पर चढ़ जाती है जिससे उसका विवाह हुआ ही नहीं।

प्रश्न—हे भगवान्! निष्काम कर्मयोग के उपदेश में भक्ति के ऐसे विस्तृत विश्लेषण का क्या महत्त्व है?

उत्तर—संस्कृत में भक्ति शब्द भज धातु से बना है। जिसका अर्थ है सेवा करना। (भज सेवायाम)

अतः सच्ची भक्ति कर्म से ही प्रतिफलित होती है। जिस गुरु या इष्ट के प्रति हमारी श्रद्धा-भक्ति होती है उसके प्रति सेवा की भावना होना अनिवार्य है। देशभक्ति का लक्षण है देश के प्रति सेवा। बिना सेवा कर्म के भक्ति मात्र आडम्बर, छल या नाटक रह जाती है। कर्म में श्रद्धा, ईश्वर में श्रद्धा, नर में नारायण तथा जीव में शिव के प्रति श्रद्धा भावना होने पर मनुष्य सब कर्मों को प्रभु की प्रीति के लिए करने लगता है। प्रत्येक जीव में शिव दिखने पर किसी जीव के प्रति किए कर्म का अहंकार मन में पैदा नहीं हो सकता। श्लोक 6-8। इस प्रकार सच्चे भक्त का मन भगवान् के ध्यान में लगा रहता है और हाथ जीव की सेवा में लगे रहते हैं। श्लोक 6-8।

पांचवें अध्याय (कर्मयोग) और 12वें अध्याय के भक्ति योग में बड़ी समता है।

पांचवां अध्याय = कर्म की भाषा में भक्ति तत्त्व।

12वां अध्याय-भक्ति की भाषा में कर्म तत्त्व।

पंचम अध्याय में कर्म सिद्धान्त की पूर्णाहुति (अन्तिम कथन)

द्वादश अध्याय में भक्ति की पूर्णाहुति (अन्तिम आख्यान)

पंचम अध्याय—

(1) कर्मयोग—कर्मों की सगुण साधना (2) सांख्य योग—संन्यास कर्मों का त्याग (निर्गुण साधना)

द्वादश अध्याय—

(1) सगुण भक्ति, (2) निर्गुण भक्ति।

पंचम अध्याय—सांख्य की अपेक्षा कर्मयोग अधिक उपयोगी है।

द्वादश अध्याय—निर्गुण निराकार की भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति अधिक सरल एवं सहज है।

संन्यासी—अकर्म में कर्म (कर्म निष्काम)

निर्गुणोपासना—शून्य की भक्ति (भक्ति निराकार)

कर्मयोगी—कर्म में अकर्म (कर्म साकार)

सगुण भक्ति—भक्ति साकार

प्रश्न—ईश्वर का परोक्ष ज्ञान अथवा ईश्वर के नाम स्मरण का अभ्यास या ईश्वर का ध्यान या ईश्वर के निमित्त सब कर्मों के फल का त्याग। इन भिन्न-भिन्न मार्गों में कौन-सा अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है?

श्रेयो ही ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते। 12/12, गीता

(क) अभ्यास से ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है—यदि कोई बिना समझे भगवान् के नाम-जप आदि का अभ्यास कर रहा है तो उसकी अपेक्षा भगवान् के स्वरूप का बौद्धिक (अपने से भिन्न देखते हुए) परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है।

(ख) परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा आत्मध्यान (अपनी आत्मा में प्रभु का निरन्तर चिन्तन करना अधिक श्रेष्ठ है)।

(ग) ध्यान की अपेक्षा सर्व कर्मों के फल का त्याग और भी कल्याणकारी है।

प्रश्न—सच्चा भक्त और स्थितप्रज्ञ, इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर—सच्चा भक्त स्थितप्रज्ञ ही होता है। वह सब प्राणियों में ब्रह्म को देखता है। इसलिए किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से ममता नहीं, अपने प्रति अहंकार नहीं, अपने में आत्म संतुष्ट, फल या पुरस्कार की अपेक्षा न करने वाला, कर्तापन के अहंकार का त्यागी, मन और बुद्धि को मेरे में समर्पण करने वाला होता है।

प्रश्न—द्वितीय अध्याय में आपने समत्वयोग की चर्चा की। फिर पुनः छठे अध्याय में आपने समत्वदर्शी की महिमा गाई है, सातवें में आपने ज्ञानी भक्त को अपना आत्मा ही कहा। हे भगवान्! इस भक्ति योग में आदर्श भक्त के लक्षणों में और समत्वदर्शी में क्या अन्तर है?

उत्तर—हे अर्जुन! आदर्श भक्त समत्वदर्शी तो होता ही है। जब वह सुख-दु:ख, हानि-लाभ, मित्र-शत्रु, निंदा-स्तुति, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में अपने मन को सम रख सकता है। तभी वह निरन्तर भक्ति भी करने के योग्य बनता है। जब मन ही द्वन्द्वों के बीच झूलता रहे तो भक्ति का हो सकना असम्भव है। ज्ञानी भक्त इसलिए मेरी आत्मा है क्योंकि वह जन-जन और कण-कण में मेरा ही दर्शन करता है। जब सब मैं ही हूं तो कौन पराया, कौन बेगाना, कौन शत्रु बचेगा? इसलिए द्वन्दों में मन को सम रखने के बाद सारे विश्व के नानात्व में एक ही ब्रह्म का दर्शन होने से भक्त समदर्शी बन जाता है। कर्मयोगी इसी समदर्शन के आधार पर नर के भीतर के नारायण की पूजा करने लगता है। इस प्रकार ज्ञानयुक्त भक्ति प्रेरित निष्काम कर्मयोगी गीता का आदर्श पुरुष है।

काल रूप—विज्ञान काल परिच्छिन्न, काल द्वारा सीमित वस्तुओं का ही अध्ययन करता है। जाग्रत्, स्वप्न में हम काल में जीते हैं, सुषुप्ति में हम जीते हैं काल में, पर उसका भान नहीं होता।

जो जड़ जगत् में ही फंसे हुए हैं उन पर भगवान् भी काल रूप बनकर शासन करते हैं। उन्हें बार-बार मरना पड़ता है।

आत्म रूप—आत्म तत्त्व कालातीत तत्त्व की खोज करता है। समाधिवस्था या आत्मचिन्तन में हम शरीर से काल में जीते हुए भी Eternity अकाल सत्ता में चले जाते हैं। उस समय काल हमें नहीं खा सकता।

जो आत्म तत्त्व को पहचानते हैं वे अमर की उपासना से अमर हो जाते हैं।

विशेष : द्वादश अध्याय धर्म रूपी अमृत है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का मार्ग Head, Heart and Hand है। भगवान् ने इस अध्याय को धर्म रूपी अमृत कहा। भगवान् कहते हैं कि जो इस धर्ममय अमृत को पढ़ते हैं और पढ़कर उसे अपने जीवन में उतारते हैं वे भक्त मुझे अति प्रिय हैं।

स्मरणीय श्लोक—

साकार-निराकार की उपासना—2, 3, 4

त्याग से निरन्तर शान्ति—12

अध्याय 13

नामकरण : क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

विषय-वस्तु : आत्म-अनात्म का विवेक। इसमें ज्ञान योग के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों को जड़-चेतन के भेद या आत्मा-अनात्मा के अन्तर से बड़ी सुन्दर रीति से दर्शाया गया है। दूसरे अध्याय में जो सत्-असत् का भेद दर्शाया गया है और आत्मा की शाश्वत सत्ता का सिद्धान्त संक्षेप में दिया गया है, उसी आत्मा के महत्त्व को इस अध्याय में विस्तार से दर्शाया गया है।

ईश्वर-प्राप्ति के साधन

(क) अव्यक्तोपासना में ध्यान तत्त्व (पातंजल योग मार्ग)।

(ख) सगुण भक्ति में प्रेम तत्त्व (वैष्णव सम्प्रदाय)।

(ग) ज्ञान मार्ग में विवेक विचार तत्त्व (सांख्य, वेदान्त)।

प्रश्न—शरीर ही मनुष्य का प्रथम बाह्य परिचय है। क्या शरीर को मानव मानकर काम नहीं चल सकता?

उत्तर—हे अर्जुन! शरीर तो मात्र एक यंत्र है। और जो इस क्षेत्र को जानने वाला आत्मा है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। ये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक, आत्म-अनात्म का विवेक, जड़-चेतन का विवेक, यह ज्ञान योग का प्रथम पाठ है।

प्रश्न—क्षेत्र (शरीर) आदि के वर्णन में क्या-क्या सम्मिलित है और क्षेत्र के विकार क्या-क्या हो सकते हैं?

उत्तर—क्षेत्र की परिभाषा में आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ आ जाता है—

(क) पांच महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश।

(ख) पांच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, कान, नाक, रसना एवं त्वचा।

(ग) पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, वाणी, उपस्थ एवं गुदा।

(घ) विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध (इन्द्रियों के विषय)।

(ङ) अंतःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

यह क्षेत्र जड़ होने के कारण विकारी है इसके निम्नलिखित विकार होते हैं—

इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, देह की स्थूलता, देह की साधारण चेतना, धारण करने की शक्ति आदि। जैसे खेत बीज को धारण करता है। उसी प्रकार यह शरीर भी खेत के समान है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार आदि को धारण करता है।

तुलसी यह तन खेत, मनसा भया किसान,
पाप-पुण्य दो बीज हैं, बवे सो करे निदान।

प्रश्न—क्षेत्रज्ञ आपने वह बताया जो क्षेत्र का ज्ञान रखता है। कृपया ज्ञान के लक्षण बताइये?

उत्तर—सच्चे ज्ञान के निम्नलिखित लक्षण हैं—अमानित्व (निरहंकार भावना), अदम्भित (दम्भ या आडम्बर का न होना), अहिंसा, क्षमा, आर्जव (सरलता), गुरुसेवा, शौच (पवित्रता, शुचिता), स्थैर्य (स्थिरता), मनो-इन्द्रियनिग्रह, वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि के दोषों का विचार करना, घर-गृहस्थी, धन आदि में अनासक्ति, चित्त की समता वाला (हर्ष-शोक आदि में), मुझमें अनन्य भक्ति, एकान्त एवं शुद्ध देश में रहने वाला स्वभाव, भीड़ से अरुचि, अध्यात्म ज्ञान में स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ (परब्रह्म परमेश्वर) का सर्वत्र दर्शन। ये सब ज्ञान के लक्षण हैं। इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है।

प्रश्न—परब्रह्म का स्वरूप कैसा है?

उत्तर—सब ओर उसके हाथ-पैर हैं। आंखें, सिर-मुख हैं, कान हैं और सबको व्याप्त करके विराजमान है। वह इन्द्रियों से रहित होते हुए भी इन्द्रियों के समस्त विषयों को जानने वाला है। वह विभक्तों में अविभक्त है, ज्योतियों में ज्योति है। ज्ञान, ज्ञेय और सबके हृदय में विराजमान है।

प्रश्न—प्रकृति और पुरुष का क्या सम्बन्ध है? कार्य और करण की उत्पत्ति में क्या प्रकृति हेतु है?

उत्तर—प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, सांख्यशास्त्र में दोनों अनादि हैं। राग-द्वेष आदि विकार प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

कार्य = पांच तत्त्व और पांच विषय।

करण = पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, और चार अन्तःकरण।

प्रश्न—भोक्ता कौन है?

उत्तर—दुःख-सुख को भोगने में जीवात्मा हेतु है।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी किस दृष्टि से देखता है?

उत्तर—**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।**
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

विशेष : ज्ञान योग का अत्यन्त सुन्दर निर्देशन इस अध्याय में दिया गया है। इसमें सांख्य दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त बहुत सुन्दर रीति से दर्शाये गए हैं और अन्त में वेदान्त के ब्रह्म का आत्मरूप से दर्शन भी बड़ा मनोहरकारी है। ज्ञान के लक्षणों में सब ओर से ज्ञान की उत्तम से उत्तम परिभाषा दी गई है।

स्मरणीय श्लोक—

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ—1

सर्वव्यापक विभु—13, 27

मन-मन्दिर प्रभु की परम ज्योति—17

ध्यानयोग—15

अध्याय 14

नामकरण : गुणत्रयविभागयोग

विषय-वस्तु : यहां से गीता के ज्ञान योग के अन्तर्गत गीता का समाज दर्शन प्रारम्भ होता है। पुरुष की सत्ता-स्फूर्ति से प्रकृति जगत् को रचती है और तीन गुणों के आधार पर सारे जगत् को नचाती है। गुणों की मात्रा घटने-बढ़ने से समाज में अज्ञान, संघर्ष, शान्ति की मात्रा कम-अधिक होने से कोटि-कोटि व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले बन जाते हैं। पुरुष ने इच्छा की, प्रकृति ने रचना करके अपने गुणों की मुहर लगा दी और प्रकृति में इतनी अदल-बदल होती रहती है कि सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं और एक ही व्यक्ति में तीनों गुण इतने घटते-बढ़ते रहने से व्यक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्था होती है।

रजोगुण सत्त्वगुण की ओर—अर्जुन, गांधी, तिलक।

रजोगुण तमोगुण की ओर—दुर्योधन, कंस।

समस्या : हे भगवान्! आपने आत्म-अनात्म, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद बताया। किन्तु इन दोनों के सम्बन्ध से सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है यह स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—प्रकृति का एक नाम महत् ब्रह्म भी है। इसे वेदान्ती लोग माया भी कहते हैं। इसी के कारण आत्मतत्त्व अज्ञान के पर्दे में छिप जाता है। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर पहले बुद्धि तत्त्व, फिर मन, फिर अहंकार, फिर अहंकार से पंचमहाभूत, उससे पांच विषय, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां है। तब ही जीव के मन में प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम घुस जाते हैं। विषयों के प्रति वासना पैदा हो जाती है। तब चार प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं।

(क) उद्भिज (वनस्पति)—जल और पृथ्वी तत्त्व की प्रबलता होने पर केवल तमोगुण रहता है तब वृक्ष व वनस्पतियां पैदा होती हैं।

(ख) स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले कीट-कीटाणु)—जल तत्त्व और तेज (अग्नि तत्त्व) के साथ तम और रज गुणों का मेल होने से स्वेदज (पसीने के) कीट-कीटाणु पैदा होते हैं। जूं, खटमल, मच्छर आदि। मनुष्य के शरीर में, पशु के

शरीर में, प्रकृति के शरीर में इन कारणों के कारण कीट-कीटाणु और चर्म रोग पैदा होते हैं।

(ग) अंडज (पक्षी आदि जो अण्डे से पैदा होते हैं)—आकाश एवं वायु तत्त्व के मेल द्वारा तम और रज गुण के प्रभाव से अंडज जीव उत्पन्न होते हैं।

(घ) जारज—(वीर्य से उत्पन्न होना)—पांच तत्त्वों का मेल पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और तीनों गुणों का सहयोग होने पर जारज जीव उत्पन्न होते हैं।

हे अर्जुन! सब योनियों में महत् (प्रकृति) तो माता रूप है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूं। श्लोक 3-4।

प्रश्न—हे भगवान्! प्रकृति के तीन गुणों का परिचय दीजिये।

उत्तर—हे अर्जुन! सत्त्व गुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है, तमोगुण अधम है। सत्त्व शान्ति में, रजोगुण संघर्ष में और तमोगुण अज्ञान में है। सत्त्व गुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह होता है। सत्त्व गुण ऊपर उठाता है। रजोगुण मध्य में बनाए रखता है और तमोगुण नीचे गिराता है।

प्रश्न—हे भगवान्! ये तीनों गुण क्या एक ही मात्रा में रहते हैं या घटते-बढ़ते रहते हैं?

उत्तर—ये सदा घटते-बढ़ते रहते हैं। प्रातःकाल के समय बाहर की प्रकृति में सत्त्व गुण का प्राबल्य, मध्य में रजोगुण की अधिकता और रात्रि में तमोगुण की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार लोगों की अन्तःप्रकृति में भी भिन्न-भिन्न गुणों का प्राबल्य घटता-बढ़ता रहता है। ब्राह्ममुहूर्त के सत्त्व प्रधान समय में भी तमोगुणी प्रकृति का व्यक्ति सोया रहता है और उसी समय रजोगुणी व्यक्ति जागकर खेत में हल चलाने लग जाता है। हथौड़ा, मशीन चलाने लगता है। दिन के रजोगुणी समय में भी सत्त्वगुणी व्यक्ति स्वाध्याय, शास्त्र अध्ययन, गीतापाठ करता है। रजोगुणी परिश्रम, संघर्ष में लगा रहता है। और तमोगुणी उस समय भी प्रमाद में (अनुपयोगी कार्यों में) समय बिताता है। तमोगुण के तीन लक्षण—निद्रा, आलस्य, प्रमाद है। रात्रि के समय में निद्रा, ब्राह्ममुहूर्त में आलस्य और दिन में प्रमाद। रात्रि के तमोगुण के समय में भी योगी सत्त्व गुण की साधना करता है। रजोगुणी (सैनिक आदि) रात्रिकाल में भी युद्ध करते हैं और तमोगुणी तो सोता है। इस प्रकार बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के गुण परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किन्तु अंतःप्रकृति के गुण ही अधिक शक्तिशाली होते हैं। बाह्य प्रकृति ब्रह्माण्ड अन्तः-प्रकृति पिण्ड में दोनों के घात-प्रतिघात में अन्तःप्रकृति बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेती है।

प्रश्न—इन गुणों को बांधने वाला क्यों माना गया है?

उत्तर—गुण = रज्जु, रस्सी।

हे अर्जुन! गुण का अर्थ ही बंधन है। इन तीनों गुणों का अलग-अलग बंधन है। पर ये एक-दूसरे को दबाकर अपना प्रभाव बढ़ा लेते हैं। रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है।

(क) **तमोगुण—**निद्रा, आलस्य, प्रमाद में ऐसा बांधता है कि मनुष्य को पशु, कीट आदि योनियों में भटकाता है।

(ख) **रजोगुण—**संघर्ष, लोभ, विजय की आकांक्षा, युद्ध आदि कर्म में लगाता है। ज्यों-ज्यों संघर्ष करता है त्यों-त्यों संघर्ष बढ़ता है। लोभ से लोभ बढ़ता ही जाता है, स्वार्थ का पेट कभी भरता ही नहीं। कर्म का दलदल हर पग पर मनुष्य को और गहरा धँसाता जाता है। यदि तमोन्मुखी रजोगुण हो तो घोर एवं क्रूर कर्मों में लगाता है—हिटलर, चंगेज खां, रावण, कंस आदि। यदि सत्त्वोन्मुखी रजोगुण हो तो विजेता, राष्ट्रनिर्माता, समाज विधाता, अवतारी पुरुष बना देता है। जैसे तिलक, रामकृष्ण, गुरुगोविन्द सिंह आदि।

(ग) **सत्त्व गुण—**ज्ञान का अहंकार, सुख-शान्ति के लोभ में बांध देता है। एक व्यक्ति आलस्य त्यागकर कर्मशील बनता है, कर्मों से अच्छी कमाई होने के पश्चात् उसे संसार से वैराग्य हो जाता है। वह साधु बनकर सत्संग-स्वाध्याय करता है। धीरे-धीरे सत्त्वगुण से बुद्धि निर्मल हो जाती है और उसमें ज्ञान का प्रकाश होता है। फिर वह दूसरे को ज्ञान का उपदेश देने लगता है। फिर चेले-चेलियां बनाने लगता है। घर-बार त्यागकर हिमालय में, हरिद्वार में ज्ञान साधना के लिए गया था पर वहां बहुत से आश्रम बना लेता है। चेले-चेलियों का वहां भी संसार बन जाता है। इस तरह सत्त्वगुण से रजोगुण में फिसल जाता है। सत्त्वगुण फिसलने वाला स्थान है। चार व्यक्तियों का परिवार छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है पर मान, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए मठ आदि स्थापित करके हजारों चेले-चेलियों का परिवार खोल लेता है।

अपने ज्ञान का अहंकार हो जाने से वह मनुष्य पुनः रज और तम की ओर बढ़ता है। दूसरे महात्माओं से अपने को श्रेष्ठ मानने पर संघर्ष बढ़ता है। साधुओं, मठाधीशों की सम्पत्ति के केस कचहरी में चलते हैं। जब किसी ज्ञानी की समाज में प्रतिष्ठा हो जाती है तब वह चर्म पुजाने वाला प्रमादी व्यक्ति बन जाता है, मठ की सम्पत्ति बढ़ने पर दुर्व्यसनों की ओर झुकाव होता है। भांग, चरस, गांजा, निद्रा, आलस्य, मांस खाना, दिन में सोना आदि का तमोगुणी लक्षण देश के 5-6 लाख बाबाओं में पाया जाता है।

प्रश्न—हे भगवान्! इन गुणों के दुष्परिणाम से बचने के लिए क्या उपाय हैं और तीनों गुण के बंधन से मुक्त होने का क्या उपाय है?

उत्तर—हे अर्जुन! तमोगुण को जीतने के लिए दैनिक व्यायाम, शारीरिक श्रम अनिवार्य है। आलसी व्यक्ति समाज का कोढ़ है। वह स्वयं कुछ नहीं करता दूसरों की कमाई पर जीता है। समाज में आलस्य दो प्रकार के होते हैं—

(क) दरिद्रों का आलस्य—कंगाल, भिखमंगे।

(ख) धनवानों का आलस्य—व्यापारी, धनिक।

जो दरिद्र हैं वे रुंड (धड़) के समान हैं। जिनके पास बुद्धि का प्रकाश नहीं है। दूसरी ओर बुद्धिमान्, चतुर, पढ़े-लिखे, व्यवसायी, अफसर मुण्ड के समान हैं जिनके पास खोपड़ी तो है पर शारीरिक श्रम नहीं करते। यानी रुंड नहीं हैं। वे भी आलसी हैं। समाज ऐसे रुंडों और मुण्डों से भरा हुआ है। कटे हुए राहु और केतु समाज के लिए अभिशाप हैं। इसलिए तमोगुण को विजय करने के लिए शारीरिक श्रम प्रत्येक को करना चाहिए। रजोगुण को विजय करने के लिए मनुष्य को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। मनुष्य दिनभर परिश्रम करने के बाद सो जाता है और जागने के बाद फिर परिश्रम करता है। परिश्रम रजोगुण है। और सोना तमोगुण है। इस तरह रजोगुण और तमोगुण की ठोकरें खाता रहता है। इसलिए उसे स्वधर्म का पालन करना चाहिए, सत्त्व गुण का ध्यान करके अपने फलों को भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए।

तमोगुणी कर्ता = आलसी, प्रमादी, निद्रालु। कुम्भकर्ण को मार डालो।

रजोगुणी कर्ता = सकाम कर्मी, रजोगुणी रावण का कलेजा चीर डालो।

सत्त्वगुणी कर्ता = निष्काम कर्मयोगी—सत्त्वगुणी, विभीषण को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दो।

विशेष : इन तीन गुणों के विश्लेषण से मानव की अन्त:प्रकृति के रहस्य खुलते हैं और समाज रचना की दृष्टि स्पष्ट होती है। एक आदर्श कर्मयोगी को यदि इन तीनों गुणों के प्रभाव का सम्यक् ज्ञान रहेगा तो वह न कर्म से भागेगा और न कर्म को मात्र स्वार्थ या मजदूरी के लिए करेगा। वरन् निष्काम कर्मयोगी बन कर भगवान् की प्रीति के लिए सब काम करेगा।

स्मरणीय श्लोक—

प्रकृति के तीन गुण—5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12

अध्याय 15

नामकरण : पुरुषोत्तमयोग या पूर्णयोग

विषय-वस्तु : इसमें संसार रूपी वृक्ष का आलंकारिक एवं तात्त्विक वर्णन। प्रकृति-पुरुष से परे पुरुषोत्तम शुद्ध ब्रह्म तत्त्व एवं जीवन्मुक्त के लक्षण आदि बताये गए हैं।

समस्या : हे भगवान्! प्रकृति और पुरुष का जो सम्बन्ध आपने 13वें अध्याय में बताया और 14वें में प्रकृति द्वारा तीन गुणों के मेल से सृष्टिरचना का जो क्रम समझाया वह बड़ा ज्ञानवर्धक रहा। अब आप यह समझाइये कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष के इस मायाजाल से मुक्ति का क्या उपाय है?

हे भगवान्! मुझे यह पहेली समझ में नहीं आई। अतः इसे अभिधा (सरल शैली) में न समझाकर लक्षणा शैली में समझाइये।

उत्तर—हे अर्जुन! मैं इसे एक पहेली से समझाता हूं। एक उलटा पीपल का वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर, शाखा नीचे है। जिसके पत्तों में वेद मंत्र हैं। जिसकी शाखाएं ऊपर और नीचे चारों ओर फैली हुई है, जो प्रकृति के गुणों से बढ़ती है। जिसमें विषय रूपी कोंपलें लगती है। जिसमें देव, मनुष्य, त्रियक् आदि ऊपर-नीचे की योनियों की शाखाएं फैली हुई हैं और मनुष्य योनि को कर्म के बंधन में डालने वाली है।

मेरे प्यारे अर्जुन, इसमें वृक्ष के प्रतीक से जगत् की पहेली की ओर संकेत किया गया है। इसमें निम्नलिखित रहस्य भरे पड़े हैं—

(क) उलटा पीपल का वृक्ष मनुष्य का शरीर भी माना जा सकता है। क्योंकि मनुष्यता का मूल उसकी बुद्धि में है जो सबसे ऊपर मस्तिष्क में केन्द्रित है। नीचे की ओर शाखा-प्रशाखाएं हैं। इसी के आधार पर मनुष्य की मानवता के विकास को मापा जा सकता है।

(ख) योग की परिभाषा में जीवन की सारी प्रगति लंगोटी के स्थान (मूलाधारचक्र) से लेकर ब्रह्मरंध्र (चोटी के स्थान) तक उठने में है। मन पर संयम और इन्द्रिय निग्रह करने से मूलाधार में सोयी पड़ी कुण्डलिनी शक्ति जागती है और धीरे-धीरे ऊपर उठती है। एक-एक मण्डल को पार करने से एक-एक सिद्धि मिलती है। मेरुदण्ड एक मेरु (पर्वत) के समान है जिससे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर उठती हुई ब्रह्मरंध्र रूपी कैलास में शिव से मिलती है। इस प्रकार कन्याकुमारी से उठकर कैलास तक पहुंचने पर शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है।

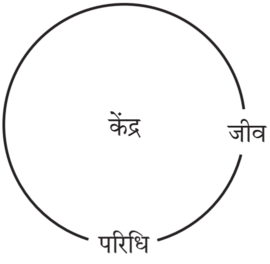
(ग) मानव के शरीर में जीवन-मूल्यों का माप तंत्र भी लगा हुआ है। जो जीवन-मूल्य अपेक्षाकृत उच्च होते हैं उनमें निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं—

(1) शक्ति का व्यय कम और फल अपेक्षाकृत अधिक।

(2) अधिक लोगों में बांटने की क्षमता।

(3) Productivity वह जीवन-मूल्य जिसका प्रयोग होने से नष्ट हो जाता है तो घटिया जीवन-मूल्य और यदि प्रयोग से बढ़ता है तो उस दृष्टि से उच्च जीवन-मूल्य है।

Sex (काम)—तृप्ति सबसे घटिया जीवन-मूल्य है क्योंकि इसमें शक्ति का व्यय अधिक और प्राप्त सुख कम होता है। इसे सगे भाई से भी बांटा नहीं जा सकता। और यह प्रयोग से क्षीण हो जाती है, बढ़ती नहीं है। इसके ऊपर पेट का स्थान अतः रोटी का जीवन-मूल्य काम तृप्ति से अधिक है। इसमें काम की अपेक्षा शक्ति कम लगाकर सुख अधिक प्राप्त किया जाता है। भोजन को मित्र, बंधु, अतिथि और निर्धन के साथ बांटा जा सकता है। इसलिए भोजन का मूल्य काम-सुख से अधिक है। उसके ऊपर वस्तु का मूल्य है उसके ऊपर बाहुबल, उसके ऊपर कंठ (गायन विद्या), उसके ऊपर वक्तृत्व शक्ति, उसके ऊपर दार्शनिक और सबसे ऊपर ब्रह्मज्ञान का मूल्य है। इस प्रकार मानव जीवन की साधना का मापदण्ड मानव शरीर में ही बना हुआ है।



(घ) यह उलटा वृक्ष पीपल का वृक्ष है। संसार रूपी वृक्ष है। नक्षत्र वैज्ञानिक शब्दावली में अर्ध का अर्थ केन्द्र और अधा का अर्थ परिधि होता है। अतः सृष्टि के मूल केन्द्र में ब्रह्म और बाहर की परिधि में प्रकृति है। केन्द्र एक बिन्दु है जिस पर परिधि अवलम्बित है। किन्तु बिन्दु की कोई लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं होती। पर उन्हीं बिन्दुओं से बनने वाली गोल परिधि रेखा का आकार स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार पुरुष (ब्रह्म) के निराकार होते हुए भी उसके द्वारा निर्मित सृष्टि साकार दिखने लगती है। प्रकृति में परिवर्तन चक्र या आवागमन चक्र चल रहा है। प्रकृति के इस चक्र में भटकना ही भटकना है। इस चक्र का अन्त नहीं है। केन्द्र में शान्ति है—

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।।

इसके उत्तर में ब्रह्मज्ञानी पुत्र कमाल ने कहा—

चलती चक्की देख के, दिया कमाल हंसाय।
कील सहारे जो रहे सो क्यों पीसा जाय।।

इस प्रकार जो प्रकृति के, चक्की के परिधि में रहते हैं, पिस जाते हैं और जो केन्द्र रूपी ब्रह्म की शरण चले जाते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। परिधि से केन्द्र की ओर आर-पार जाने वाली रेखा को व्यास कहते हैं। अतः जब जीव किसी व्यास गुरु का सहारा लेकर परिधि से केन्द्र की ओर छलांग लगाता है तो मुक्त हो जाता है।

(ङ) संसार रूपी वृक्ष को पीपल (अश्वत्थ) इसलिए कहा गया है कि वह श्व (कल) तक टिकने वाला नहीं है। संसार अ+श्व+त्थम (कल तक स्थिर रहने

वाला नहीं) है। अर्ध का अर्थ महानता, तेज, अमरता, आदि भी लिया जाता है। अधा का अर्थ पतन, दुःख, मृत्यु आदि भी लिया जाता है। इस संसार रूपी वृक्ष का मूल अमर वस्तु है किन्तु उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं में नश्वर वस्तु एवं प्राणी हैं। मूल सूक्ष्म होता है और शाखा-प्रशाखा विस्तृत। ब्रह्म सूक्ष्म है किन्तु जगत् का विस्तार बड़ा है जैसे बिन्दु ही परिधि में समाया हुआ है। उसी प्रकार निराकार ब्रह्म ही साकार ब्रह्म में समाया है। जगत् के अणु-अणु में ईश्वर की ही विभूति, पत्ते-पत्ते में वेदमंत्रों के समान छिपी हुई है। प्रकृति के तीन गुणों से इस संसार रूपी वृक्ष की शाखा-प्रशाखा ऊपर-नीचे फैलती है, प्रकृति के पांच तत्त्व, पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं पांच कर्मेन्द्रियां के द्वारा पांच विषयों की ओर (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की ओर) खींचते हैं। जिससे संसार रूपी वृक्ष की नयी-नयी कोंपलें उगती जाती हैं। जैसे राजा शान्तनु ने रजोगुण से प्रेरित होकर चक्षु रूपी इन्द्रिय से सत्यवती नामक मत्स्य कन्या के रूप को देखा और इच्छा की कि यह मेरी रानी होनी चाहिए। इससे मन में संकल्प रूपी कोंपल पैदा हो गई जिससे आगे चलकर महाभारत रूपी विराट् वृक्ष पैदा हो गया। यह बढ़ता ही बढ़ता जाता है। नये कोंपल से, शाखा-प्रशाखा से, नया वृक्ष बन जाता है। उससे अंहता-ममता और वासना रूपी जड़ें फैलती है। और भिन्न-भिन्न योनियों के कर्मों के अनुसार बांध देती है। पीपल की जड़ें जल्दी बढ़ती नहीं। इसका बीज भी इतना वीर्यवान होता है कि वह पक्षियों द्वारा खा लेने के पश्चात् भी उनकी बीट में से वृक्ष अंकुरित होने लगते हैं। इस प्रकार संसार के प्रपंच को कोई कितना ही त्यागे उसके सूक्ष्म संस्कार (बीज में) से पुनः-पुनः नया संसार पैदा हो जाता है। बड़ और पीपल की जटायें वृक्ष की शाखाओं से निकलकर नीचे आकर जब धरती को स्पर्श करती हैं तो स्वयं ही जड़ (मूल) के समान बन जाती है और कुछ समय के पश्चात् उन जटाओं से उतनी संख्या में नए वृक्ष निर्माण हो जाते हैं। इस प्रकार संसार रूपी वृक्ष बढ़ता ही जाता है।

प्रश्न—हे भगवान्! इस भयानक विस्तार वाले संसार रूपी वृक्ष का निराकरण कैसे हो सकता है?

उत्तर—हे अर्जुन! इस संसार रूपी वृक्ष का विचार करने से इसका रूप दिखाई नहीं देता। इसका आदि-अन्त भी दिखाई नहीं देता। इसकी स्थिति भी दिखाई नहीं देती पर इस अहंता-ममता और वासना रूप दृढ़ मूलों वाले संसार रूपी वृक्ष को काटने का एक उपाय है अर्थात् दृढ़ वैराग्य रूपी शस्त्र से इसे काटा जा सकता है।

प्रश्न—संसार रूपी वृक्ष को वैराग्य से काटने के पश्चात् मनुष्य को किस लक्ष्य की खोज करनी चाहिए?

उत्तर—हे अर्जुन! उसे केन्द्र की शान्ति चाहिए। अतः उसे ऐसे पद को खोजना चाहिए जिसमें पहुंचने के बाद फिर आवागमन के चक्र में से लौटकर न आना पड़े। उस परम ज्योति के पद को न सूर्य प्रकाशित करता है न चन्द्र और न अग्नि ही। क्योंकि इनके प्रकाश भी सीमित हैं और यह स्वयं अपना प्रकाश भी परब्रह्म से ही उधार लेते हैं।

प्रश्न—ऐसे परम पद को पाने के अधिकारी कैसे होते हैं?

उत्तर—जिन्हें न मान है और न मोह, जिन्होंने संग दोष (सब वस्तुओं, व्यक्तियों, कर्मों से) को जीत लिया है, जो निरन्तर अध्यात्म में लगे हैं, जिनकी सब कामनायें दूर हो गई हैं, जो द्वन्द्वों से वियुक्त हैं (सुख-दुःख आदि), वे ज्ञानीजन उस परम पद को पाते हैं।

(1) काम निवृत्त, (2) क्रोध का प्रश्न नहीं (जब काम नहीं तो क्रोध नहीं), (3) लोभ का स्थान नहीं (कामपूर्ति से लोभ होता है तथा काम में बाधा से क्रोध, (4) मोह से रहित (जीत संगदोष), (5) अहंकार विजय (निर्मान) मान भावना से रहित, (6) द्वन्द्वों से मुक्त (दुःख-सुख, जय-पराजय, हानि-लाभ), (7) निरन्तर आत्मचिन्तन करने वाला।

प्रश्न—जीवात्मा का शुद्ध आत्मा से क्या अन्तर है?

उत्तर—हे अर्जुन! जीवात्मा मेरा अंश है जो जीवों के भीतर है। वह प्रकृति में स्थित पांच इन्द्रियों और मन को अपनी ओर खींचता है। जब एक शरीर को छोड़ता है तब जीवात्मा पहले शरीर के मन, इन्द्रिय आदि को लेकर दूसरे शरीर में जाता है। ये सूक्ष्म शरीर (मन) एवं संस्कार स्थूल शरीर के मरने पर मरते नहीं। यही पूंजी है जो जीव अगले जन्म तक ले जाता है। इसकी तुलना में शुद्ध आत्मा तो स्वयं मैं ही हूं। इसलिए वेदान्त में शुद्ध आत्मा को ही ब्रह्म माना गया है। मैं ही सबके हृदय में आत्मरूप से स्थित हूं, मेरे द्वारा ही सब जीवों को स्मृति, ज्ञान और अपोहन (अनावश्यक बातों की विस्मृति) हो रहा है। सब वेदों का सार मैं ही हूं।

प्रश्न—भक्ति और ज्ञान को आप मिलाकर कथन करते हैं और निष्कर्ष में कर्म की महत्ता भी दर्शाते हैं। कृपया इसके महत्त्व को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—हे अर्जुन! बिना आत्मज्ञान के त्रिगुणात्मक संसार से पार जाना असम्भव है, किन्तु ज्ञान जब भक्ति से समन्वित होता है तब साधना सुगम हो जाती है और ज्ञान भी रसीला बन जाता है। सेवा की त्रिपुटी है सेव्य, सेवक और सेवा साधना। पुरुषोत्तम परमात्मा सेव्य है, जीवात्मा सेवक और नानारूपात्मक सृष्टि सेवा का सुन्दर साधन है। अतः सृष्टि के नश्वर सब रंग-बिरंगे फूलों को लेकर जीव सेवक के समान सृष्टा सेव्य की पूजा में चढ़ा देता है। सारे जीवन को

पूजा बन जाना चाहिए। भक्ति तो अहंकार शून्य सेवा ही है। इसलिए जैसे 12वें अध्याय में बताया सच्चा भक्त कर्मशील सेवा परायण बन जाता है। इस तरह भक्ति कर्म में फलती है। उसमें ज्ञान रूपी प्रकाश भी तब आ मिलता है जब अपने में और सबमें पुरुष का दर्शन करते हैं। इस तरह कर्म में भक्ति का पुट है और ज्ञान का योग देने से जीवन दिव्य रसायन बन गया।

प्रश्न—हे भगवान्! सांख्य में जो प्रकृति और पुरुष का भेद बताया गया है क्या वह अन्तिम है? या अधिक ऊंचे ज्ञान की प्राप्ति के लिए सीढ़ी है।

उत्तर—हे अर्जुन! अध्यात्म की कोई चर्चा तब तक की ही नहीं जा सकती जब तक जड़-चेतन, क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, पुरुष-प्रकृति का भेद न बताया जाए। किन्तु ये भेद ही अन्तिम वचन नहीं हैं। परम तत्त्व तो भेद से परे अभेद है, द्वैत से परे अद्वैत है। अतः क्षर और अक्षर इन दोनों से परे मैं पुरुषोत्तम हूं जिसमें प्रकृति और पुरुष के सब भेद लय हो जाते हैं। यह मेरा गुह्यतम शास्त्र है इसे पूर्ण योग समझो।

विशेष : पुरुष शब्द कई बार भ्रान्ति पैदा करता है क्योंकि कुछ दार्शनिक इसे आत्मा के अर्थ में प्रयोग करते हैं, कुछ जीवात्मा के अर्थ में, कुछ परमात्मा के अर्थ में। इसलिए इस अध्याय में शुद्ध ब्रह्म को सबसे पृथक्, अलिप्त परम तत्त्व के रूप में पुरुषोत्तम नाम देकर भ्रान्ति दूर कर दी गई है।

संसार चक्र की विशेष व्याख्या—

निमित्त कारण Efficient Cause

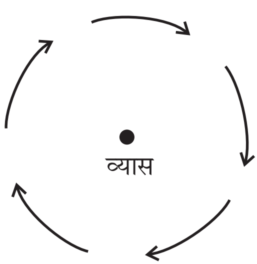
उपादान कारण Material Cause

व्यापक कारण Imminent Cause

सृष्टि और सृष्टा को जानने वाला गुरु

परिधि को भेदने वाला गुरु

परिधि के ओर-छोर को जानने वाला



(1) संसार एक चक्र के समान है।

(2) चक्र सीमित होते हुए भी अनादि अनन्त प्रतीत होता है। Begining less, Endless

(3) चक्र एक रेखा से घिरा हुआ है।

(4) रेखा बिन्दुओं की अनवरत शृंखला का नाम है।

(5) रेखा की मात्र लम्बाई होती है मोटाई-चौड़ाई नहीं।

A Line has a length and no width, thickness

(6) केन्द्र भी एक बिन्दु है और वृत्त बिन्दुओं की रेखा का पूर्ण चक्र है।

(7) बिन्दु दो रेखाओं के काटने से बनता है।

When two lines cross a point is made.

वास्तव में बिन्दु की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई कुछ भी नहीं होती। हम सापेक्ष बिन्दु बना सकते हैं। निरपेक्ष (शुद्ध) बिन्दु बनाना ही असम्भव है।

(8) वृत्त बिन्दु (केन्द्र) पर अवलम्बित है। केन्द्र नहीं तो वृत्त नहीं।

वृत्त की रेखा भी बिन्दुओं से बनी है।

(9) बिन्दु ही वृत्त का निमित्त कारण है और बिन्दु ही वृत्त का उपादान कारण है।

बिन्दु ही वृत्त में व्यापक है।

(10) निराकार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है (सृष्टा)।

निराकार ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है (पदार्थ)।

निराकार ब्रह्म ही जगत् में व्यापक है।

(11) तत् सृष्ट्वा तामेवानु प्रविशत—वेद।

उसने सृष्टि रची वही उसमें प्रवेश कर गया।

(12) बिन्दु निराकार है, किन्तु वृत्त का आकार बन जाता है।

(13) सृष्टि का आकार तत्त्वतः नहीं है, किन्तु व्यवहार में दीखता है। यही भ्रान्ति है, माया है। सृष्टि रूपी कदली वृक्ष को ज्यों-ज्यों विश्लेषण करके छीलते जावें, धीरे-धीरे सब कुछ समाप्त हो जाता है। कुछ नहीं बचता है। (जल तत्त्व को छोड़कर, बुदबुद, फेन, तरंग, वीचि, लहर, ज्वार-भाटा, वाष्प, बादल, मूसलाधार वर्षा, हिमपात, नदी, नद, नाला, तालाब, कूप, बावली, झरना, समुद्र, महासमुद्र सभी मिथ्या निकलते हैं।) माया अनिर्वचनीय है।

The world is an unreal Reality (श्री अरविन्द)

आकार, नाम-रूप मिथ्या है, धोखा है।

(14) वृत्त के एक छोर से दूसरे छोर तक केन्द्र को स्पर्श करने वाली रेखा को व्यास कहते हैं। व्यास-विस्तार सृष्टि के एक छोर से दूसरे छोर तक समग्र को प्रकाशित करने वाला व्यास है।

(15) जीव एक परिधि पर स्थित बिन्दु के समान है। वह संसार चक्र में घूमता रहता है।

पुनर्जन्म चक्र

कर्मचक्र

परिवर्तन चक्र।

अनन्त चक्रों में घूमते हुए भी उसकी गर्दिश (घूमने) का अन्त नहीं आता।

संसार चक्र का आदि-अंत दिखाई नहीं देता।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे, कृपयापारे पाहि मुरारे।।—शंकराचार्य

परिधि में गुलामी, परवशता, घूमने में परवशता। केन्द्र में घुमाने की शक्ति।

(16) कबीर—**चलती चक्की देखिके, दिया कबीरा रोय।**
दुइ पाटन के बीच में, साबत बचा न कोय।।

दो पाट द्वैत के हैं, प्रत्येक गुण का विरोधी गुण भी है—सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मित्र-शत्रु, अपना-पराया। जहां प्रकृति है वहां द्वैत है।

कमाल—**चलती चक्की देखिके, दिया कमाल हास।**
उनको चक्की क्या कहे, जो कीली के पास।।

जो दाने (जीव) केन्द्र (चैतन्य सत्ता) अपने मूल की ओर जाते हैं वे मुक्त हो जाते हैं।

केन्द्र में शान्ति	परिधि में चक्कर
केन्द्र में नियन्त्रण कर्ता	परिधि में परवशता, बंधन
(नियन्ता)	(नियंत्रित)


चलती चक्की

(17) शान्ति के जिज्ञासु साधक को परिधि से केन्द्र में छलांग लगानी चाहिए।

(18) परिधि को केन्द्र से जोड़ने वाली रेखा व्यास है। अतः जब जीव किसी व्यास (गुरु) की शरण लेकर परिधि से केन्द्र में छलांग लगाता है तब मुक्त हो जाता है। बिन्दु निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसको बनाने के लिए आधार चाहिए। अतः सापेक्ष है। और परिधि में इसलिए सीमित याने स्थानबद्ध और कालकवलित हो जाता है। कोई भी वस्तु बनाई जाएगी तो वह साकार ही हो सकती है। वस्तु निर्माण के लिए निमित्त, उपादान कारण आवश्यक है। ब्रह्म की मूर्ति बनाने में निमित्त कारण निर्माता और उपादान कारण पदार्थ, (जिससे वस्तु निर्मित की जाएगी) आवश्यक है। अतः निर्मित वस्तु साकार ही होगी यानी उसका नाम-रूप होगा और जो तत्त्व यानी उपादान कारण पर टिका रहता है। उसको निकाल देने पर कुछ नहीं बचता।

स्मरणीय श्लोक—

उलटा पीपल का वृक्ष—1, 2, 3

अध्याय 16

नामकरण : देवासुरसम्पद्विभागयोग

विषय-वस्तु : गीता के समाज दर्शन में प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर समाज के नानाविध लोगों की मानसिक रचना दर्शायी गई है (14वां अ.)। फिर अध्याय 15 में तीन गुणों के बंधन वाली प्रकृति का चक्र और उसके परे पुरुष एवं पुरुषोत्तम का दिग्दर्शन कराया गया है। जब जीव सर्वत्र पुरुषोत्तम का दर्शन करने लगता है तब उसमें दैवी गुण प्रकट होने लगते हैं। इसलिए पुरुषोत्तम योग के पश्चात् इन दैवी गुणों की चर्चा 16वें अ. में की गई है।

प्रश्न—हे भगवान्! जब सर्वत्र पुरुषोत्तम दर्शन होने लगेंगे तब मानव को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मिल जायेगा। किन्तु किसी व्यक्ति ने सचमुच पुषोत्तम दर्शन का दिव्य लक्ष्य पा लिया है अथवा केवल ईश्वर दर्शन का ढोंग कर रहा है यह कैसे परखा जा सकता है?

उत्तर—हे अर्जुन! पुरुषोत्तम दर्शन की पूर्ण प्रभा दिव्य गुणों के रूप में प्रकट होती है। जिसने दिव्य दर्शन पाया है अथवा पाने की साधना कर रहा है उसके व्यवहार में दैवी गुणों का प्रकाश आ जाता है। उन लक्षणों से पता लगता है कि वह दिव्य साधक है अथवा ढोंगी मात्र है।

प्रश्न—हे भगवान्! वे दैवीय गुण कौन-से हैं?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्योदय होने से पहले इसकी प्रभा पूर्व दिशा में फैल जाती है। उसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन से पूर्व साधक के जीवन में कुछ दिव्य गुणों की छटा अपने आप परिलक्षित होने लगती है—

(क) अभयम्—निर्भयता—यह सब गुणों का सर्वप्रथम दैवीय गुण है। यह दैवीय सम्पद का सेनापति है। यदि सेनापति ही हार जाए तो सारी सेना भी बेकार हो जाती है। जिसमें सब दैवीय गुण हैं पर निर्भयता नहीं है उसके सब गुण वृथा चले जाते हैं। यदि किसी में भक्ति, विनय, शास्त्रज्ञान, धन, बल, माधुर्य, कला है, सब गुण हैं पर सत्य को सत्य कहने की हिम्मत नहीं या ध्येयपथ पर बढ़ने की निर्भयता नहीं है तो वह कभी भी लक्ष्य को नहीं पा सकेगा।

भय के प्रकार—रोग का भय, बदनामी का भय, गुलामी का भय, स्वजन की मृत्यु का भय, अपनी मृत्यु का भय, व्यापार में क्षति का भय, प्रतिष्ठाहनन का भय, निन्दा का भय, अपमान का भय, भूत-प्रेत से भय, पुनर्जन्म का भय, निम्न योनि में पतन का भय, अनिश्चित भविष्य का भय आदि। भय का मुख्य कारण कर्तव्यच्युति, अज्ञान, तन-मन की दुर्बलता एवं अपराध है।

सत्त्व संशुद्धि—अन्त:करण की शुद्धि। जब मनुष्य शुद्ध अन्त:करण से कोई काम करता है तो उसके मन में किसी के प्रति मोह, ममता का मालिन्य नहीं रहता। शंकराचार्य ने चित्त शुद्धि के लिए निष्काम कर्मयोग अनिवार्य बताया। महर्षि पतंजलि ने इसके लिए योगशास्त्र लिखा है। गीता में कहा है कि यदि सत्त्व संशुद्धि हो तो सारी दुनिया की हत्या करने से भी पाप नहीं लगेगा। एक डॉक्टर और हत्यारे के बाह्य कर्म में समानता के होते हुए भी भाव संशुद्धि के कारण डॉक्टर निर्दोष और हत्यारा अपराधी है।

ज्ञान योग व्यवस्थित—ज्ञान और योग (= कर्मयोग) का समुच्चय एक दैवी गुण है। दान एक प्रकार का विश्व कल्याण यज्ञ है। दान से मनुष्य उदार, परोपकारी बनता है और दान के अभाव से स्वार्थी एवं लोभी बनता है। द्रव्य दान की अपेक्षा विद्यादान श्रेष्ठ है और सर्वोपरि दान अध्यात्मविद्या का है। भारत में आज भी दान की मात्रा अधिक किन्तु उसका सामाजिक सदुपयोग बहुत कम है। 56 लाख साधुओं के दैनिक भोजन में कम से कम सवा करोड़ रुपया दैनिक दान खाते में लगता है। उसके अतिरिक्त कई लाख भिखारियों अथवा विधवाओं, विद्यालयों आदि पर बहुत बड़ा दैनिक व्यय होता है। इस दैनिक ढाई-तीन करोड़ रुपये के दान का सामाजिक सदुपयोग कुछ भी नहीं है।

दान के सहारे पलकर कुछ मठाधीश बन गए हैं और कुछ दान के अभाव में भूखों मर रहे हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जो दान भावना का शोषण करके आलसी और निकम्मे बन गए। इसके विपरीत ईसाइयों का दान मात्रा में कुछ कम होने पर भी व्यवस्थित होता है जिसका सामाजिक सदुपयोग उनके हित में बड़ा लाभकारी होता है।

दम-इन्द्रिय निग्रह, यज्ञ भावना, स्वाध्याय (स्व—अर्थात् आत्मा का अध्ययन)

तप—किसी महत् कार्य के लिए कष्ट उठाना, आर्जव-सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, निंदा-चुगली का अभाव, भूत दया, लोभहीनता, कोमलता, लोक लज्जा, चंचलता का अभाव—तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, अद्रोह, अधिक मान का अभाव ये सब दैवी सम्पत्ति पुरुष के लक्षण हैं। जिनमें इन गुणों की प्रभा प्रकाशित होने लगे उसे प्रभु रूपी सूर्य के दर्शन का लाभ होगा ही होगा। इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रश्न—हे भगवान्! इसके विपरीत लक्षण वाले पुरुष कैसे होते हैं?

उत्तर—हे अर्जुन! इसके विपरीत आसुरी सम्पद के लक्षण हैं। दम्भ (पाखंड), दर्प (घमण्ड), अभिमान (अपने को शरीर मानते रहना), क्रोध, कठोर वाणी, अज्ञान,

आसुरी सम्पद के लक्षण हैं। वे नास्तिक लोग मानते हैं कि बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से सारा संसार पैदा हो गया। वे कामी, क्रोधी, सैकड़ों आशाओं की डोरी से बंधे हुए बहुत-सी वस्तुओं का संग्रह करते हैं। यह सोचते हैं कि इस व्यक्ति को आज मारा। उसको कल मारूंगा। मैं ही ईश्वर हूं, भोगी, सिद्ध हूं। इस प्रकार मनमाने आचरण करने वाले शास्त्र-विधि छोड़कर भटकते रहते हैं।

विशेष : इस अध्याय में भगवान् ने सच्चे साधक के लक्षण, आदर्श कर्मयोगी के गुण दर्शाये और साथ ही नास्तिक, भोगी, ढोंगी, पाखण्डी लोगों के लक्षण भी बता दिए ताकि कर्मयोगी आसुरी सम्पद से बचकर दैवीय सम्पत्ति को ग्रहण करे। दैवीय सम्पत्ति वाले मानो देवता बन जाए और धरती स्वर्ग।

दैवीय सम्पद में अभय को प्रथम गुण बताया गया है। किन्तु, अन्तिम गुण विनयशीलता, अभिमान-शून्यता को बताया गया। दैवीय सम्पत्ति रूपी सेना के आगे अभय रूपी गुण सेनापति के समान होना चाहिए और विनम्रता, विनयशीलता का गुण सेना की पीछे से रक्षा करने के लिए चाहिए।

आदर्श कर्मयोगी निर्भय रहे किन्तु अभिमानी न बने। कई दुष्ट लोग निडर होते हैं पर अभिमान के विष से जले रहते हैं। निर्भय हो और इतना हो कि सत्य के लिए यम से लड़ जाए पर अभिमान न हो कि मैं कर रहा हूं। सब कुछ ईश्वर कर रहे हैं।

स्मरणीय श्लोक—

दैवी सम्पद्—1, 2, 3

आसुरी सम्पद्—4, 5, 12, 13, 14, 15, 16

अध्याय 17

नामकरण : श्रद्धात्रयविभागयोग या साधक का कार्यक्रम—

विषय : श्रद्धा का महत्त्व और तीन गुणों के अनुसार त्रिविध श्रद्धा, तीन प्रकार के तप, तीन प्रकार के यज्ञ, तीन प्रकार के दान, ओम्तत्सत् का अर्थगौरव यह सब कुछ सत्रहवें अध्याय में वर्णित है। जल में प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्यों के केवल शारीरिक मल का त्याग कराता है किन्तु गीताशास्त्र के ज्ञान जल के स्नान से संसार मल का नाश होता है।

प्रश्न—हे भगवान्! आपने बताया कि जो आसुरी सम्पद वाले शास्त्रविधि को छोड़कर मनमानी करते हैं वे न इहलोक में सुखी है और न परलोक में परमगति पाते हैं। किन्तु हे भगवान्! जो शास्त्रविधि को नहीं जानते किन्तु श्रद्धालु अवश्य है उनकी निष्ठा कैसी है?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के आधार पर जैसे बाह्य प्रकृति, अन्त:प्रकृति मानव की मनोवैज्ञानिक शैलियां बंटी हुई है, उसी प्रकार श्रद्धा भी तीन प्रकार की है। वास्तविक मानव को उसकी अन्दर की श्रद्धा से ही पहचाना जाता है।

बाह्य प्रकृति—ब्राह्ममुहूर्त में सत्त्व गुणी, दिन में परिश्रम के समय रजोगुणी, रात्रि में निद्रा के समय तमोगुणी।

अंत:प्रकृति—ब्राह्ममुहूर्त में शान्त, निर्मल बुद्धि, सुख, दिन में दुर्धर्ष कर्म, संघर्ष, परिश्रम, कठोर कर्म, तप सकाम, रात्रि में निद्रा, आलस्य (प्रात:), प्रमाद (दिन में)।

मानव प्रकार—सत्त्वगुणी—संत, ज्ञानी, परमहंस, संन्यासी, वैरागी।

रजोगुणी—(क) तमोन्मुखी रजोगुण—आततायी (ख) सत्त्वोन्मुखी रजोगुण—विजेता, राष्ट्रनिर्माता, अवतार।

तमोगुणी—आलसी, भिखारी, व्यसनी।

(क) पंगु, आलसी, कंगाल, आलसी, (रुंड)।

(ख) धनवान, आलसी, व्यवसायी (मुण्ड)।

पूजा त्रय—सत्त्व गुणी देव पूजा।

(क) सत्त्व गुणी—देव पूजा।

(ख) रजोगुणी—यक्ष और राक्षस की पूजा।

(ग) तमोगुणी—भूत-प्रेत की पूजा।

आहार—सत्त्वगुणी—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख प्रीति को बढ़ाने वाला, रसयुक्त चिकने और अधिक देर तक भोजन सार का प्रभाव रखने वाला और मन को प्रिय लगने वाला सात्त्विक आहार है।

शंकराचार्य के मत में रसना के अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के संस्कार प्राप्त किए जाते हैं। वे आहार ही हैं।

आंख द्वारा पवित्र दर्शन।

कान द्वारा पवित्र श्रवण।

नासिका द्वारा पवित्र गंध।

जिह्वा द्वारा पवित्र भोजन।

त्वचा द्वारा पवित्र स्पर्श।

आहार= इन्द्रियों द्वारा विषयों का आहरण (लेना)। सब इन्द्रियों से सात्त्विक संस्कार प्राप्त करें।

रजोगुणी आहार—कटु, अम्लीय, कड़वा, बहुत लवण युक्त, तीखा, रूखा, दाहकारक, दु:ख, चिन्ता और रोग उत्पन्न करने वाला आहार राजस है। आंख के द्वारा संघर्ष के चित्र, कामुक, मादक चित्र, युद्ध का दृश्य, काम भड़काने वाला दृश्य। कान द्वारा काम भड़काने वाली गाथा का श्रवण। नासिका द्वारा तेज, मादक गंध, वाणी द्वारा झगड़े झंझट, संघर्ष की चर्चा। रसना द्वारा मसालेदार भोजन। त्वचा द्वारा कामोद्दीपक स्पर्श। क्लब में मद्यपान कर परायी स्त्रियों के साथ नाचना, हाथ मिलाना, आलिंगन, चुम्बन इत्यादि करना।

तमोगुणी आहार—बासी, आधा पका, रस रहित, दुर्गन्ध युक्त, पुनः गर्म किया हुआ, जूठा, अपवित्र आहार तामस है।

आंख द्वारा मादक, निद्रालु, प्रमादी, आलस्यपूर्ण चित्रों को देखना। प्रमादी, अश्लील चरित्रों से सम्बन्धित पुस्तकों को पढ़ना।

कान द्वारा ऐसी ही तमोगुणी घटनाओं या कथाओं को सुनना, वाणी द्वारा तमोगुणी घटनाओं की चर्चाएं एवं गप-शप करना।

नासिका द्वारा प्रमाद, आलस्य, निद्रा बढ़ाने वाले मादक पदार्थ सूंघना। आधी बेहोशी को सुख मानना। त्वचा द्वारा माया फैलाने वाले तमोगुणी स्पर्श करना। भयंकर मादक पदार्थ पी हुई नायिका द्वारा फौज के सेनापति को थपकियां देकर सुलाना, गद्दों की माया, फूलों की माया, नरम घास, बगिया, सुन्दरियां देखना और उनमें फंस जाना।

कोई नरम गद्दों में, कोई पुष्प शय्या में, कोई मधुबाला के आलिंगन में, निद्रा के आलस्य में बद्ध हो जाता है।

यज्ञ के प्रकार

सात्त्विक—निष्काम भाव से शास्त्रविधि के अनुसार मन के समाधान के साथ किया हुआ यज्ञ सात्त्विक होता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन यज्ञ, राणा प्रताप का जीवन यज्ञ, महाराजा रघु का सर्वस्व दान यज्ञ।

राजस—जो यज्ञ दिखावे के लिए या फल के उद्देश्य से किया जाता है वह सकाम यज्ञ राजस कहा जाता है। जैसे पुत्र कामना के लिए यज्ञ।

तामस—जो शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान रहित, बिना मित्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किया जाता है वह तामस यज्ञ कहलाता है। जैसे मेघनाथ द्वारा मांस-रक्त की आहुतियों से राम-लक्ष्मण के नाश हेतु किया गया यज्ञ। तंत्र पद्धति के यज्ञ जो दूसरे को मारने, उच्चाटन एवं सम्मोहन के लिए किये जाते हैं। वे सब तामस यज्ञ कहलाते हैं।

(1) तप के तीन प्रकार—सात्त्विक तप वह कष्ट सहन करने की सिद्धता है जिसके द्वारा तमोगुण और रजोगुण दबकर सत्त्व गुण का विकास होता है यह सात्त्विक तप तीन प्रकार का है—

(क) शारीरिक तप (तपस्या)—देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् का पूजन, शरीर की पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा।

(ख) वाङ्मय तप—वाणी से उद्वेगकारी वाक्य न बोलना। सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना, स्वाध्याय का अभ्यास।

(ग) मानस तप—मन की प्रफुल्लता, शांत भाव, मौन, मन का निग्रह और अंत:करण की पवित्रता।

(2) राजस तप—सत्कार, मान, पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड के लिए किया जाने वाला अनिश्चित और क्षणिक फल देने वाला तप राजस तप। जैसे किसी राजनीतिक कार्यकर्ता द्वारा भूख हड़ताल, अनशन, किसी राजनीतिक स्वार्थ के लिए आत्मदाह की धमकी।

(3) तामस तप—जो तप मूर्खतापूर्वक, हठ से, मन-वाणी और शरीर की पीड़ा और दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है वह तामस तप कहलाता है। जैसे पंचाग्नि तप, कांटों की शय्या पर लेटना, वृक्ष से उलटा लटकना, अपना अंगच्छेद कर इष्टदेव को चढ़ाना, अति अविवेकपूर्वक भूख हड़ताल द्वारा अपने शरीर और स्वास्थ्य को नष्ट करना।

दान के प्रकार—(क) सात्त्विक—जो दान कर्तव्य भावना से देश-काल-पात्र का विचार करके बिना बदले में उपकार की इच्छा के दिया जाता है वह दान सात्त्विक है। जैसे—भामाशाह ने राणा प्रताप को अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी।

(ख) राजसी दान—इसमें देश-काल-पात्र का विचार है पर दबाव के कारण जो बदले में, उपकार के प्रयोजन से अथवा फल के उद्देश्य से क्लेशपूर्वक दान किया जाता है जैसे चंदा, चिट्ठा आदि में जो दान दिया जाता है। वह राजस दान है।

(ग) तामसी दान—देश-काल-पात्र के विचार के बिना कुपात्र को तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है। जैसे भिखारी के पीछे पड़ जाने पर पिंड छुड़ाने के लिए पैसा फेंक देना। भांग, चरस, गांजा पीने वाले साधुओं को दान देना।

त्याग के प्रकार—(क) सात्त्विक त्याग—शास्त्रविधि नियत कर्तव्य कर्म को करते हुए कर्म में आसक्ति और फल का त्याग सात्त्विक त्याग है।

राजस त्याग—दान के समान लोक प्रतिष्ठा अथवा लोक लाज अथवा किसी फल की प्राप्ति हेतु त्याग राजस त्याग है।

तामस त्याग—अज्ञानपूर्वक, मोहजनित, अनिच्छापूर्वक, किसी क्षुद्र उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया गया त्याग तामस कहलाता है। किसी विषय के चक्र में फंस कर सम्पत्ति त्यागना। नाचने वाली पर प्रसन्न होकर उसको सम्पत्ति दे देना। किसी के नाश के लिए वैर भाव से उसके विरुद्ध मामला-मुकदमा लड़ते हुए झोंक में आकर सम्पत्ति त्याग देना। दुर्योधन का त्याग वैर भाव (कर्ण को अंगदेश का राजा बनाना) का त्याग था।

ओम्तत्सत्—समर्पण का मंत्र है। ओम् का अर्थ है परमात्मा। तत्—वह अर्थात् सृष्टि से अलिप्त, सत् का अर्थ है शुभ मंगलमय प्रत्येक समर्पण।

ओम्तत्सत्—समर्पण मंत्र के साथ होना चाहिए।

वह परमेश्वर ही सत् है। इस सारी सृष्टि का स्वामी होते हुए भी वह इससे अलिप्त है। वही एकमात्र सत् वस्तु है। मैं साधक हूं वह भगवान् है और सारी सृष्टि उसकी पूजा की सामग्री है।

विशेष : बुद्ध की पहचान करुणा से, महावीर की जीवदया से, राम की मर्यादा पालन से, हरिश्चन्द्र की सत्य निष्ठा से ही हो सकती है। इस श्रद्धा को छोड़कर इन महापुरुषों में कुछ बचता ही नहीं। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो—17/3, गीता

श्रद्धा ही वास्तविक परिचय है और शरीर के भीतर सच्चा मानव श्रद्धा ही है। जैसी श्रद्धा वैसा व्यक्ति। श्रद्धा ही वास्तविक मानव है।

इस अध्याय में तीन गुणों के आधार पर यज्ञ, दान, तप का विश्लेषण करके फिर सात्त्विक यज्ञ, दान, तप को भी 'ओम्तत्सत्' मंत्र के साथ ईश्वरार्पण बुद्धि से करने का दिव्य संदेश दिया गया है।

स्मरणीय श्लोक—

श्रद्धा—3

आहार शुद्धि—7, 8, 9, 10

सात्त्विक यज्ञ—11, 12, 13

मानस तप (भाव से शुद्धि)—16

दान के तीन रूप—20, 21, 22

अध्याय 18

नामकरण : मोक्षसंन्यासयोग

विषय-वस्तु : यह गीता रूपी भवन का स्वर्ण कलश है। इसमें सम्पूर्ण गीता के चुने हुए सिद्धान्तों के सार का पुनः कथन किया गया है।

(क) संन्यास और त्याग के विषय में सांख्य मतानुसार विवेचन।

(ख) कर्म के पांच हेतु—त्रिविध कर्म, त्रिविध ज्ञान, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख।

चार वर्णों के धर्म। ज्ञान निष्ठा। प्रभु शरणागति सहित निष्काम कर्मयोग।

प्रश्न—हे भगवान्! संन्यास और त्याग में सूक्ष्म भेद क्या है?

उत्तर—हे अर्जुन! कितने ही विद्वान् काम्य कर्मों के न्यास (त्याग) को संन्यास कहते हैं। और बुद्धिमान् लोग कर्मों को ही न त्यागते हुए सब कर्मों के फल त्याग को ही सच्चा त्याग मानते हैं।

प्रश्न—क्या जो संन्यासी कर्मों को त्याज्य मानते हैं उन्हें यज्ञ, दान, तप, कर्म भी त्याग देना चाहिए?

उत्तर—हे अर्जुन! मेरा निश्चित मत है कि यज्ञ, दान, तप (और निष्काम कर्मयोग) पवित्र करने वाले हैं। इसलिए यह नहीं त्यागना चाहिए। तप द्वारा शरीर का ऋण, दान द्वारा समाज का ऋण और यज्ञ द्वारा सृष्टि का ऋण चुकाया जाता है। यज्ञ, दान और तप को सात्त्विक बनाकर इनका फल भगवान् के लिए त्याग देना चाहिए।

प्रश्न—कर्म के हेतु क्या हैं? हे भगवान्! कर्ता कौन है?

उत्तर—सांख्य सिद्धान्त में कर्म के पांच हेतु माने गए हैं। अधिष्ठान (आधार), कर्ता, करण (इन्द्रियां), नाना प्रकार की चेष्टायें और दैव। शरीर, वाणी और मन द्वारा जो भी कर्म हो रहे हैं उनमें यही पांच हेतु हैं।

हे अर्जुन! कर्म करने में यही पांच हेतु हैं फिर भी विवेक बुद्धि विहीन व्यक्ति असङ्ग एवं साक्षी आत्मा को कर्ता मान लेते हैं। मैं तो कर्ता नहीं हूं पर मैं कार्य करता हूं ऐसे अभिमान वाला अन्तःकरण ही कर्ता माना जाता है। जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जल के चंचल होने से सूर्य का बिम्ब कटा-फटा दिखाई देता है और बाल बुद्धि वाले व्यक्ति प्रतिबिम्ब को देखकर ये कहें कि सूर्य टूट-फूट गया है। उसी प्रकार कर्म तो अहंकार युक्त अंतःकरण करता है किन्तु अध्यास आत्मा का परिचायक मैं शब्द का प्रयोग करता रहता है। अतः हे अर्जुन! कर्तापन का अहंकार छोड़ देवे और कर्म में बुद्धि लिप्त न होवे वह शुद्ध चित्त से कर्तव्य पालन करता हुआ यदि समस्त प्राणियों को भी मार डाले तो भी वह नहीं मारता और न ही वह कर्मों के बंधन में फंसता है। जैसे दण्डाधिकारी शुद्ध कर्तव्य भाव से घोर अपराध में लिप्त अपराधी को मृत्युदंड देता है पर हत्यारा नहीं माना जाता। सैनिक बिना व्यक्तिगत राग-द्वेष के राष्ट्रहित के लिए युद्ध भूमि में सैकड़ों-

हजारों शत्रुपक्षीय लोगों को मारता है, किन्तु वह नर हत्या के लिए दण्डित न होकर राष्ट्र रक्षा के लिए परमवीर चक्र पाता है।

प्रश्न—हे भगवान्! तीन प्रकार की कर्म प्रेरणा क्या है? और तीन प्रकार के कर्म संग्रह (क्रिया के आश्रय) कौन-से हैं?

उत्तर—हे अर्जुन! बिना ज्ञान के कोई कर्म नहीं हो सकता। तीन कर्म चोदना (प्रेरणा) है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता।

(क) ज्ञान—विषय का ज्ञान, लक्ष्य का ज्ञान, क्रिया का ज्ञान, मार्ग का ज्ञान।

(ख) ज्ञेय—जानने योग्य वस्तु।

(ग) ज्ञाता—परिज्ञाता, अन्तःकरण उपाधि से परिकल्पित भोक्ता।

कर्म के तीन संग्रह अर्थात् तीन आश्रय हैं—

(क) करण—इन्द्रियां—5+5+4 (पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां एवं अन्तःकरण चतुष्टय)।

(ख) कर्म—वास्तविक क्रिया।

(ग) कर्ता—अहंकार युक्त अंतःकरण।

छह कारक

कर्म संग्रह	कर्ता 1 कर्ता—राम ने
	कर्म 2 कर्म—रावण को
	करण 3 करण—धनुष द्वारा (से)।
कर्म चोदना	ज्ञेय 4 सम्प्रदान—मर्यादा संस्थापना के लिए
	ज्ञान 5 अपादान—प्राण से वंचित कर
	ज्ञाता 6 अधिकरण—शान्ति का राज्य स्थापित किया।

इन कारकों से आत्मा निर्लिप्त एवं असङ्ग रहती है। सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है। सबके नेत्रों को प्रकाश देता है। सबको कर्मों में प्रेरित करता है किन्तु लोगों के नेत्र के दोषों से सदा निर्लिप्त रहता है। उसी प्रकाश से कोई आध्यात्मिक स्वाध्याय करता है और कोई अपवित्र पुस्तकें पढ़ता है, पाप कर्म करता है, सूर्य कमल को भी प्रकाशित करता है और मल को भी प्रकाशित करता है। पर मल और कमल दोनों से अलिप्त रहता है। इसी प्रकार सबके अन्तर में जो आत्मा रूपी चैतन्य है वह उन्हें सत्ता-स्फूर्ति देता है किन्तु उनके अच्छे-बुरे कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

सात्त्विक	राजसी	तामसी
कर्म : जो कर्म शास्त्रविधि से, कर्तापन के अभिमान से रहित, बिना फल की इच्छा के, बिना राग-द्वेष के किया जाता है वह कर्म सात्त्विक होता है।	जो कर्म बहुत परिश्रम से, फल की इच्छा से युक्त, अहंकार से युक्त राजस कर्म कहलाता है।	ज्ञान रहित, परिणाम—हानि, हिंसा, सामर्थ्य का विचार बिना किया जाने वाला कर्म तामस है। इसमें सामर्थ्य का विचार नहीं होने के कारण कार्य पूरा हो ही नहीं पाता। अधूरा छूट जाता है। परिणामस्वरूप कार्य के लिए की गई सारी मेहनत बेकार जाती है।
कर्ता : आसक्ति रहित, अहंकार रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त, हर्ष-शोक में सम, निष्काम कर्मयोगी सात्त्विक कर्ता कहलाता है। इसका परिणाम शान्ति, चित् की प्रसन्नता, समवृत्ति ही है।	आसक्ति युक्त फल का लोभी, दूसरों को कष्ट देने वाला, पशु धर्मचारी, हर्ष शोक से लिपायमान होने वाला कर्ता राजस कहलाता है। इसका परिणाम लोभ, मोह, हिंसा द्वेष, संघर्ष, अशान्ति है।	विक्षिप्त चित्त वाला, मूर्ख, घमण्डी, धूर्त, निकम्मा, आलसी, दूसरों की आजीविका का नाशक, दीर्घ सूत्री, कामी, टाल-मटोल करने वाला तामस कर्ता है।
बुद्धि : जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, बंधन और मोक्ष को तत्त्व से जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है।	जिस बुद्धि से धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का यथार्थ बोध नहीं होता—जैसे अर्जुन की जिज्ञासा, वह राजसी बुद्धि है।	बुद्धि—जो अज्ञान एवं अहंकार से भरी हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मान लेती है और अर्थ का अनर्थ करती है वह बुद्धि तामसी है। जैसे दुर्योधन का दुष्कर्म।
धृति : धीरज-मनु भगवान् ने धर्म के 10 लक्षणों में सबसे प्रथम धृति को गिना है। तुलसीदास कहते हैं— धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद् काल परखिये चारी। धृति दैवी सम्पद है।		

धारणा : जिस अव्यभिचारी धारणा से ध्यानयोग द्वारा मनुष्य मन, प्राण, इन्द्रियों को भगवान् के ध्यान में लगाता है वह सात्त्विक है।	फल की इच्छा से अति आसक्ति, धर्म-अर्थ काम को धारण करने वाली धारणा राजस है।	दुष्ट व्यक्ति द्वारा निंदा, भय, चिंता, दुःख, नशा, उन्मत्तता को धारण करने वाली धारणा तामस है।
सुख : जो प्रारम्भ में विष के समान कड़वा लगे। परिणाम में अमृत के तुल्य हों और आत्म बुद्धि की कृपा से उत्पन्न हुए हों वह सुख सात्त्विक है—श्लोक 37	जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है और भोग काल में अमृत के समान भासता है और परिणाम में विष के समान है वह राजस सुख है—श्लोक-38	जो सुख निद्रा, आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न हुआ, भोग काल में और परिणाम काल दोनों में व्यक्ति को मोहित करने वाला है वह तामस सुख। यानी प्रारम्भ से अन्त तक मोहित करने वाला सुख।

प्रश्न—हे भगवान्! चार वर्णों के स्वधर्म क्या-क्या हैं?

उत्तर—(क) ब्राह्मण का स्वधर्म—मन-इन्द्रिय का निग्रह, बाहर-भीतर की शुद्धि, तपस्या, सरलता, क्षमा, अस्मिता, शास्त्रज्ञान और ब्रह्म तत्त्व का अनुभव।

(ख) क्षत्रिय—शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में दृढ़ता, दान, राज्य पालन, प्रजा पालन।

(ग) वैश्य—कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य कर्म।

(घ) शूद्र—परिचर्या (अन्य वर्णों की सेवा), श्रमिक, किसान, हलवाहा, चमार, बढ़ई, रथवान, कुम्हार आदि के कर्म।

हे अर्जुन! अपना स्वधर्म यदि कम गुण वाला, कम चमक-दमक वाला दिखाई देता है तो भी वह दूसरे के सजधज वाले धर्म की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी है। स्वधर्म तो माता के समान है। माता कंगाल हो या कुरूप हो तो भी हमारे प्रति जो कल्याण भावना उसके मन में है वह किसी धनवान एवं रूपवान वेश्या के मन में नहीं हो सकती।

इसलिए धर्म की तुलना मां से की गई है। मनुष्य आजकल पदों एवं सम्बन्धियों का चुनाव करने लगा है। पंच, सरपंच, मुखिया, विधायक,

संसदसदस्य, मंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, मित्र, साझेदार, पति-पत्नी, मालिक-नौकर—सबका चुनाव किया जा सकता है। किन्तु हम कभी अपनी मां का चुनाव नहीं कर सकते। क्योंकि उसी ने हमारा चुनाव करके हमें धारण किया है। इसी स्वधर्म की गोदी में हमने जन्म लिया है। हमें उसके चुनाव का या बदलने का अधिकार नहीं। हमारा एक ही कर्तव्य है कि हम अपने प्राण से स्वधर्म का पालन करें। उदाहरण—गो को घास खिलाना, मछली को पानी में रखना। इनके घटिया धर्म में ही इनका कल्याण है। स्वधर्म जन्म के साथ ही आता है, आरोपित नहीं किया जा सकता। बाद में अंगीकार किया हुआ नहीं, बदला हुआ नहीं, वह तो जन्म से ही निश्चित है। गाय को रसगुल्ला खिलाना और मछली को दूध में रखना अधर्म है।

प्रश्न—हे प्रभु! ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त के लक्षण क्या हैं?

उत्तर—ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा—श्लोक 54

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। 18/54, गीता

(क) ब्रह्म भूतः—ब्रह्म श्रोत्रिय।

(1) वह विद्वान् जिसने वेदों में वर्णित ब्रह्म के ज्ञान को सुना है।

(2) ब्रह्मनिष्ठ वह है जिसकी सम्पूर्ण निष्ठा या श्रद्धा ब्रह्म में केन्द्रित हो गई है।

(3) ब्रह्मभूत वह है जिसने अपनी अनुभूति द्वारा ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लिया।

(4) प्रसन्नात्मा—ऐसा व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है।

(5) न शोचति—वह किसी वस्तु के प्रति शोक नहीं करता।

(6) न काङ्क्षति—वह शोक इसलिए नहीं करता क्योंकि उसे किसी वस्तु की आकांक्षा ही नहीं है—

चाह गई चिन्ता गई मनवा बेपरवाह
जिनको कछु नहीं चाहिए सो शाहन के शाह।

(7) समः सर्वेषु भूतेषु—वह सब भूत प्राणियों में समान एक ब्रह्म का ही दर्शन करता है।

प्रभु शरणागति सहित निष्काम कर्मयोग—हे भगवान! अब अन्त में मेरे लिए आदेश क्या है? आपने ब्रह्मभूत ज्ञानी की इतनी महिमा गाई। तीन अध्यायों में कर्मयोग का विशेष आख्यान किया। शेष सभी अध्यायों में पुनः कर्मयोग और

स्वधर्म पालन की प्रेरणा आप देते रहे। कर्मयोगी बनने हेतु मन के निग्रह के लिए ध्यानयोग बताया। अव्यक्त की उपासना बताई, फिर व्यक्त-सगुण की उपासना भी समझाई। नवम् अध्याय में आपने नर में छिपे नारायण का दिग्दर्शन कराया। दशम् में आपने सृष्टि में सृष्टा की विभूति दर्शायी, एकादश में आपने सृष्टा के विराट् रूप में सारी सृष्टि को एकत्र दिखाया। फिर सगुण भक्ति का कर्म में प्रतिफलन समझाया। फिर ज्ञान योग में आत्म-अनात्म का भेद समझाया, फिर पुरुष की लीला, प्रकृति के तीन गुण, मानव के प्रकार, श्रद्धाओं के स्तर आदि समझाये। पुरुष-प्रकृति से परे, पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन भी किया। सृष्टि, समाज और शरीर का ऋण चुकाने के लिए यज्ञ, दान और तप का महत्त्व भी बताया। यज्ञ भावना से कर्म करने के लिए आदर्श कर्म और आदर्श कार्यकर्ता के लक्षण भी बताए और अब ब्रह्मज्ञानी का स्वरूप भी समझाया। अब आप ही बताइये मेरे लिए क्या करना योग्य है?

हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है। वह अन्दर से सबको ऐसे चला रहा है जिस प्रकार यंत्र पर कसे हुए कलपुर्जे यंत्र के साथ घूमते हैं। इसलिए उसी हृदय मंदिर में स्थित ईश्वर की शरण में जाओ, सम्पूर्ण भाव से उसके प्रति अपने आपको समर्पित कर दो। वे अन्तर्यामी अन्दर से ही आपका मार्गदर्शन करेंगे।

अपने तन से मुझ परमेश्वर को नमस्कार करो।

अपने मन से मुझ परमेश्वर का मनन करो।

अपने धन से मुझ परमेश्वर का यजन (यज्ञ) करो।

मन की तार मेरे से जोड़े रखो।

बुद्धि से मेरा चिन्तन करो।

अपने सब कार्य मुझे समर्पित कर दो।

प्रभु के दिए तन, प्रभु के दिए मन, प्रभु के दिए धन से, प्रभु की दी हुई इन्द्रियों से, प्रभु की दी हुई बुद्धि के प्रकाश से, प्रभु की दी हुई आत्मा की ज्योति से, प्रभु के बनाए जगत् में, प्रभु के उत्पन्न किए हुए जीवों के प्रति प्रभु के आदेशानुसार अन्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा से जो कर्तव्य कर्म किए जाते हैं उन कर्मों के पुष्पों से भगवान् की पूजा करके और कर्मों का फल भगवान् के चरणों पर नैवेद्य रूप में चढ़ाकर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है—श्लोक 46

अतः हे अर्जुन! यदि कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में तुम्हें कोई भी शंका बाकी हो तो सब धर्म-अधर्म के बखेड़े को छोड़कर तू मेरी शरण में आ जा। मैं अन्तर्यामी तुझे उचित कर्तव्य में प्रेरित कर, कर्तव्य पालन करवा लूंगा और तुझे कोई भी पाप छू नहीं सकेगा। जब तक जीव अपने अहंकार

से युक्त अंत:करण द्वारा कोई कर्म करता है तब तक वह कर्मों के जंजाल में फंसा रहता है और कर्म बंधन में बंध जाता है। जब ईश्वर के प्रति समर्पित बुद्धि से कर्म करता है तब ईश्वरीय ज्ञान उसे सतपथ दिखाता है। ईश्वर भक्ति उसकी निष्ठा को बनाए रखती है। ईश्वरीय शक्ति उसे महान् बल देती है। वह ईश्वरीय न्याय का यंत्र बन जाता है। उसका कर्म ईश्वरीय कर्म बन जाता है। और ईश्वरीय कर्म का फल ईश्वर को ही पहुंच जाता है। जीव कर्म के बंधन से और कर्मफल की वासना से मुक्त हो जाता है।

(1)	भूमिका—अर्जुन का व्यामोह	
(2)	जीवन शास्त्र, जीवन कला (नींव)	
(3)	कर्मयोग	अ. 2 से 5 तक सम्पूर्ण सिद्धान्त कथन
(4)	ज्ञान कर्म संन्यास योग (अकर्म दशा)	
(5)	ज्ञान कर्म समुच्चय	
(6)	साधन—ध्यान योग	आदर्श कर्मयोगी बनने हेतु साधन-1 निर्गुणोपासना
(7)	अव्यक्त भक्ति	
(8)	सातत्ययोग (निरन्तर साधना)	
(9)	सम्पूर्ण समर्पण योग (राजयोग)	आदर्श कर्मयोगी साधन-2 सगुणोपासना
(10)	भगवत् या विभूति योग (प्रत्येक भिन्न वस्तु में वही)	
(11)	विश्व दर्शन योग (सब मिलकर वह एक है)	
(12)	सगुण भक्ति	
(13)	आत्म-अनात्म विवेक	ज्ञान मार्ग
(14)	गुण त्रय विभाग योग	
(15)	पुरुषोत्तम योग—पूर्ण योग	
(16)	देवासुर संपद विभाग योग	मानव को देवता बनाने वाले दिव्य गुण
(17)	श्रद्धा त्रय विभाग योग	(सत्त्व, रज, तम)
(18)	मोक्ष संन्यास योग	(गीता का सार-संक्षेप) कलश स्थापना।

चर्म (स्थूल)—बुदबुद, लहर, ज्वार

तर्क दृष्टि—सब में जल तत्त्व का एक सिद्धान्त

विभूति दृष्टि—सब में जल की महिमा

तत्त्व दृष्टि—सबमें एक जल ही जल, जल में ही बुलबुले, बुलबुले में जल।

दिव्य दृष्टि—बिन्दु में सिन्धु। सृष्टा में सारी सृष्टि समाई है।

सिन्धु में बिन्दु तत्त्व, बिन्दु में सिन्धु तत्त्व।

जगत् में ईश्वर तत्त्व दृष्टि

ईश्वर में जगत् दिव्य दृष्टि।

विशेष : इस अध्याय में गीताशास्त्र का अन्तिम निर्णायक वचन कहा गया है। इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वय भी कर दिया गया है। गीता के समस्त महान् उपदेशों की रत्नों की सुव्यवस्थित माला पिरो दी गई है और गीताशास्त्र की फलश्रुति भी बता दी गई है। भगवान् कहते हैं जो अन्य भक्तों को मेरे इस परम गुह्य शास्त्र को समझाएगा, उससे बढ़कर मेरा अधिक प्यारा सारे पृथ्वीतल में दूसरा कोई नहीं होगा, श्लोक 68, 69 गीता की इस पंक्ति ने सेठ जयदयाल गोयन्का को गीताप्रेस की स्थापना के लिए प्रेरणा दी।

गीता के भवन की नींव द्वितीय अध्याय में रखी गई जिसके अध्याय 3, 4, 5 में कर्मयोग के सुन्दर कोष्ठ निर्माण किए गए हैं।

अध्याय छह में ध्यान योग का साधना शिविर है—अध्याय 7, 8 व 9 में अव्यक्त ब्रह्म की प्रणव साधना के प्रमुख प्रासाद हैं।

अध्याय 10 में विभूति का विहार है। एकादश में विश्व व्यापी विराट् का दिव्य दर्शन है। द्वादश में सगुण भक्ति की सुन्दर सरिता है। त्रयोदश में आत्मविवेक की अट्टालिका और चतुर्दश में माया का महल है। पंचदश में पुरुषोत्तम की झांकी है। षोडश में दैवी सम्पद का देवालय है। 17वें में श्रद्धात्रयी की श्रद्धांजलि है और अन्तिम अध्याय में गीता का पावन ज्ञान गुम्फित है। भक्ति भावित कर्मयोग के मन्दिर का स्वर्णकलश है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव।। (यजु. 30/3)

हे देव सवितः समस्त दुर्गुणों को हमसे दूर कीजिये, और जो कल्याणप्रद है, उसे हमें प्राप्त कराइए।

दृष्टि	अनेकता	विभाजित विभक्त	परस्पर विपरीत द्वंद्वमय	नश्वर	असम्बद्ध
चर्म-दृष्टि	✓	✓	✓	✓	✓
तर्क दृष्टि	अनेकता में एकरूपता (एकता नहीं सिद्धान्त में)	विभक्त में कुछ सम्बन्ध	द्वन्द्व अनिवार्य	✓	असम्बद्ध में कुछ सम्बद्ध
विभूति-दृष्टि	अनेकता में एकता का प्रकाश, सर्वत्र दर्शन (स्थूल में सूक्ष्म दर्शन)	विभक्त में अविभक्त	नि:द्वंन्द्व	अविनश्वर	सब कुछ में ईश्वरीय सम्बन्ध
तत्त्व-दृष्टि	अनेकता में एकता	अविभक्त	✓	✓	दूसरा है ही नहीं अत: एक ही एक अद्वैतदर्शन (सम्बन्ध तो एक से अधिक में होता है)
दिव्य-दृष्टि	एकता में अनेकता की लीला। जैसे आकाश बंटा हुआ-सा दिखता है।				

गुण = (1) विशेषता, रस्सी, रज्जु, बंधन। प्रकृति के तीन गुण सत्, रज, तम। तीन गुणों के आधार पर भिन्न-भिन्न अंश में तीनों गुणों को धारण करने वाले व्यक्तियों और वस्तुओं की संख्या असंख्य।

सत्त्व	रज	तम
100	99	99
99	100	99

□□

सगुण= 3 गुणों वाला, अनेक गुणों वाला।

निर्गुण= गुणों से परे, गुणों के बंधन से मुक्त, गुणों की रस्सी से परे।

समस्त गुण प्रभु के हैं, प्रभु पर आश्रित हैं, किन्तु प्रभु को बांध नहीं सकते।

जगत् गुरु शंकराचार्य ने कहा कि ब्रह्म के जो भी गुण बताए जाएंगे उसमें ब्रह्म सीमित हो जाएगा। यदि ब्रह्म कृपालु है तो कठोर कौन है? क्या ब्रह्म के सिवाय और सत्ता भी है? यदि बड़ा है—तो छोटा कौन है? अतः ब्रह्म के निषेधात्मक गुण ही बताये जा सकते हैं—

अजर= न बूढ़ा होने वाला

अमर= न मरने वाला

अविनाशी

अक्षर

निरुपाधि—बिना उपाधि के

अगोचर

अद्वैत

यदि आज कुछ शताब्दियों की निष्क्रियता के बाद भारत में पुनः एक चेतना आ रही है तो वह उसकी अपनी मूलभूत एकता, प्रगति और सभ्यता की अपनी थातियों के बल पर है न कि किन्हीं ऐसे मूल्यों की वजह से जो उसने किसी अन्य देश से उधार लिए हों। इसलिए जो कोई भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा क्षमताओं का सही अध्ययन करना चाहता हो उसके लिए यह अनिवार्य सा हो जाता है कि वह भारतीय विचार दर्शन के इतिहास का सही अर्थों में अध्ययन करे क्योंकि वही एक धुरी है जिसके चारों ओर भारत के उन मूल्यों का विकास होता रहा है जो यहां की सर्वोत्तम उपलब्धि कही जा सकती है।

—एस.एन. दासगुप्त

गीता का मनोविज्ञान

श्रीमद्भगवद्गीता अध्यात्म का एक महान् ग्रंथ माना जाता है। अध्यात्म की स्थापना जितने सुन्दर व मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रीमद्भगवद्गीता में की गई है उतनी सम्भवत: किसी अन्य अध्यात्म ग्रंथ में नहीं मिलेगी। वैसे तो बिना मनोविज्ञान के आधार के अध्यात्म की भित्ति खड़ी भी नहीं हो सकती। किन्तु श्रीगीता वार्तालाप शैली का अध्यात्म ग्रंथ होने के कारण अर्जुन के मन के अथवा मानव मन के सभी मानसिक प्रश्न एवं मनोवैज्ञानिक संदेह सीधे ही ज्ञानस्वरूप-सर्वान्तर्यामी गुरु के सामने प्रस्तुत हो जाते हैं तथा उनका सर्वश्रेष्ठ समाधान भी प्राप्त हो जाता है।

मानव का बहिरंग जड़ शरीर है, तथा उसका अंतरंग परम चैतन्य आत्मा है। बहिरंग को जानने के लिए पांच ज्ञानेन्द्रियां (चक्षु, नासिका, रसना, कर्ण और त्वचा) हैं। मानव के अंतरंग को पहचानने में सहायता करने वाली चार अन्दर की इन्द्रियां हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

मन संकल्प-विकल्प करता है। मन साधारण अवस्था में कल्पित वस्तुओं को मान लेता है। जाग्रत् एवं विवेकी मन वस्तु के मूल की खोज करता हुआ मनन करता है। बुद्धि का काम विचार करना है। सामान्य बुद्धि सांसारिक घटनाक्रम अथवा मानसिक घटनाक्रम का विचार करती है। वह वचनों को तर्क की कसौटी पर कस कर उनके सही अथवा गलत का निर्णय करती है। सूक्ष्म बुद्धि, जाग्रत् प्रज्ञा, ब्रह्मविषयिनी बुद्धि, ऋतम्भरा प्रज्ञा सांसारिक बातों या विचारों में न उलझकर परम तत्त्व के विषय में विचार करती हैं। चित्त का कार्य चिन्तन करना है। साधारण चित्त या चंचल चित्त चिंता करता रहता है। शुद्ध, निर्मल चित्त परम तत्त्व का चिन्तन करने लगता है।

अहंकार का अर्थ है—मैं का भाव। दूषित अहं जीवात्मा बनकर सांसारिक कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता बना रहता है। उस अहं के लिए मित्र-शत्रु, अपने-पराये, प्रिय-अप्रिय सभी सांसारिक द्वैत-प्रपंच बने रहते हैं। जब मनन, चिन्तन और विचार द्वारा अहं शुद्ध हो जाता है तो शुद्ध आत्मा, विशुद्ध आत्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग

आत्मा का दर्शन होता है क्योंकि यह शुद्ध आत्मा शुद्ध चैतन्य है जो व्यक्तिगत नामों, रूपों से अलिप्त है। देश-काल, पात्र, परिस्थिति सबके बन्धन से मुक्त है। इसलिए वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सर्वस्पर्शी, सर्व परिस्थितियों का स्वामी होते हुए भी परिस्थिति निरपेक्ष होता है। अतः यह निर्लिप्त आत्मा ही विश्वात्मा, जगदात्मा, परमात्मा का रूप है। यही अध्यात्म दर्शन है अर्थात् आत्मा का दर्शन।

अन्तःकरण चतुष्टय (अन्दर की चार इन्द्रियां—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) वास्तव में अन्तःकरण या मन के चार प्रकार हैं। अतः मन मानव के बहिरंग और मानव के अंतरंग के बीच की सबसे मूल्यवान कड़ी है। यही जड़-चेतन की ग्रंथि है। शरीर की जड़ता से आत्मा की चेतना में प्रवेश करने का एकमात्र राजद्वार मन ही है। अतः अध्यात्म की मीमांसा बिना मन का मंथन और विश्लेषण किए हो ही नहीं सकती। बाहर की ज्ञानेन्द्रियों से दृश्य को जाना जा सकता है, जो परिवर्तनशील है, नश्वर है, क्षणभंगुर है। अन्दर की इन्द्रियों से द्रष्टा को पहचानने में सहायता मिलती है।

गीता की समस्या मुख्यतया मन की ही समस्या है। अर्जुन के मन में भय तथा शोक, दो मानसिक विकार उत्पन्न हो गए थे। इन दोनों विकारों के अनेकानेक कारण हो सकते हैं। किन्तु दोनों का सबसे बड़ा सम्मिलित कारण व्यामोह था।

भय रूपी मानसिक विकार के साथ

(1) नैतिक दृष्टि से भय का प्रमुख कारण है—कर्तव्यच्युति। जब मनुष्य अपने नियत नैतिक कर्तव्य का पालन नहीं करता तो भीतर से उसकी अन्तरात्मा ही उसको दुत्कारने लगती है जिससे वह अन्यथा स्वस्थ एवं बलवान होते हुए भी मानसिक दुर्बलता से भयभीत होने लगता है। उदाहरण—दारासिंह नामक प्रसिद्ध पहलवान प्रारम्भ में चोरी-डकैती का धंधा करता था। जो व्यक्ति कुश्ती के मैदान में दस पहलवानों को धूल चटा सकता है वही जब चोरी जैसा अनैतिक कार्य करने जाता है तो भीतर से इतना भयभीत रहता है कि तनिक रोशनी से या चूहे के खटके के भय से भाग खड़ा होता है।

(2) एक राजा के भण्डार से किसी मूल्यवान रत्नाभूषण की चोरी हो गई। बहुत प्रयास करने पर भी जब चोर का पता न लगा तो राजा के मंत्री ने नगर के सभी नागरिकों की सभा बुलाई। उसने कहा कि वास्तविक चोर का हमें पता लग गया है। वह इसी सभा में उपस्थित भी है। यदि वह स्वयं अपराध स्वीकार कर लेता है तो उसे कठोर दण्ड नहीं दिया जाएगा। कुछ समय तक प्रतीक्षा करने पर भी जब चोर ने आत्मसमर्पण नहीं किया तो मंत्री ने मनोवैज्ञानिक युक्ति लगाई। उसने कहा, चोर हमारी आंखों के सामने है, हम उसे देख रहे हैं। उसने अभी तक आत्मसमर्पण नहीं किया है। हमें विवश होकर भरी सभा में उसकी पहचान बतानी

पड़ेगी। देखो, जो राजा के भण्डार से आभूषण चुराने वाला है उसकी दाढ़ी पर एक तिनका लगा हुआ है। वास्तव में तिनका किसी की दाढ़ी पर नहीं लगा हुआ था पर चोर भीतर से भयभीत था अतः उसने दाढ़ी मलनी शुरू की और वह पकड़ा गया।

कर्तव्य में च्युति ही भय का कारण है। इसलिए रेल में टिकट न खरीदने वाला टिकट निरीक्षक से डरता रहता है। कक्षा में पाठ पढ़कर न जाने वाला अध्यापक से डरता रहता है। पढ़ाई से जी चुराने वाला परीक्षा से डरता रहता है। कालाधन कमाने वाला, मिलावट करने वाला, बेईमानी करने वाला, राजदण्ड से भयभीत रहता है। जिसने कर्तव्य पूरे किये हैं और चोरी-चकारी की नहीं, उसे सृष्टि की कोई भी शक्ति भयभीत नहीं कर सकती।

धृतराष्ट्र ने अमानत में खयानत करके पांडु का राज्य पांडु के बेटों को न सौंपकर स्वयं अपने परिवार पोषण के लिए दबा लिया था। इसलिए गीता के प्रथम श्लोक में ही धृतराष्ट्र भयभीत होकर संजय से पूछता है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए लड़ने की इच्छा वाले मेरे और पांडु के बेटों ने क्या किया?

धृतराष्ट्र के भय का विश्लेषण

(क) जब कोई शासक सत्ता के मद में अंधा होकर राष्ट्र को अपनी निजी जागीर समझकर अपने स्वार्थ के पंजे के नीचे दबाकर धर बैठता है तो वह धृतराष्ट्र का स्वरूप बन जाता है। **धृतं राष्ट्रमनेन इति धृतराष्ट्रः।** राज्य पांडु का था, राज्यधर्मानुसार अंधा व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। पांडु की अकस्मात् मृत्यु होने पर उसके भाई धृतराष्ट्र को अल्पकाल के लिए राज्य अमानत के रूप में दिया गया था ताकि युधिष्ठिर (महाराजा) के युवा होने पर उनका राजतिलक कर उन्हें राज्य सौंप दिया जाए। किन्तु एक बार सत्ता का लोभ, ऐश्वर्य की चाट या प्रभुता का मद लग जाने पर उसे छोड़ना सहज नहीं है। अतः धृतराष्ट्र नैतिक दृष्टि से अंधा होकर भाई की धरोहर को हड़प जाना चाहता था। अतः सदा उसे यही भय लगा रहता था कि कहीं यह साम्राज्य धर्मात्मा एवं बलवान पांडव वापस न ले लें अथवा युद्ध में कहीं पांडवों की विजय होकर राज्यसत्ता हमारे हाथ से निकल न जाए।

(ख) प्रायः सामान्य परिस्थिति में जो व्यक्ति झूठ बोलकर बेईमानी से किसी का अधिकार छीनता रहता है, वही तीर्थ स्थल पर वहां के पवित्र संस्कारों के प्रभाव से पुनः नैतिक वार्ता बोलने लगता है तथा दूसरे की हड़पी हुई अमानत को लौटा देने के लिए उद्यत हो जाता है। धृतराष्ट्र को यही भय है कि कुरुक्षेत्र जो उन्हीं के महान् पूर्वज महाराजा कुरु द्वारा स्थापित किया हुआ एक महान् तीर्थ है जहां उन्होंने बदरीनारायण के ऋषि-मुनियों को हिमालय की बर्फीली जलवायु से तपस्या की सुविधा के लिए बुलाकर सरस्वती तीर्थ पर लाकर बसाये थे। जहां

अनेक ज्ञान-सत्र एवं महायज्ञ हो चुके थे। वहां पहुंचकर तीर्थ के पावन संस्कारों तथा अपने पूर्वजों की पवित्र कीर्ति के स्मरण से कहीं पापी दुर्योधन का मन बदल तो नहीं जाएगा और पांडवों को उनके राज्य का भाग लौटा तो नहीं देंगे। इसी चिन्ता से भयभीत होकर धृतराष्ट्र संजय से पूछता है—धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए मेरे तथा पांडु के पुत्रों ने क्या किया?

(ग) धृतराष्ट्र जब कहता है मेरे और पांडु के बेटे तो इस शब्दावली में भी वह पांडु के बेटों को (अपने स्वर्गवासी भाई के सौंपे हुए बेटों को) 'मामकाः' मेरे बेटे से भिन्न गिन रहा है जो नैतिक दृष्टि से पाप है। फिर एक राजा के रूप में भी उसे अपने और पराये के बेटों में भेद-भाव नहीं रखना चाहिए। राजा के लिए सब प्रजाएं समान रूप से उसकी संतान के तुल्य है। प्रजा का शाब्दिक अर्थ ही संतान है **प्रजायते इति प्रजाः।** राजा समस्त प्रजाओं का धर्म का पिता माना जाता है। अपने घर में जन्मे हुए बेटों और प्रजाजनों में भेद-भाव रखना अन्याय है। धृतराष्ट्र अपने पापी बेटों के प्रति राग रखता है और अपने दिवंगत भाई पांडु के धर्मात्मा बेटों से द्वेष रखता है। इसलिए वह भयभीत है कि कहीं यह राज्यसत्ता, अन्याय से बटोरा हुआ ऐश्वर्य छिन न जाए।

(घ) धृतराष्ट्र ने युद्ध को अनिवार्य जानकर युद्ध से एक दिन पूर्व एक अन्तिम कूटनीतिक चाल चली थी। उसने संजय के द्वारा वीर शिरोमणि अर्जुन को पथभ्रमित करने के लिए यह संदेश भेजा था कि आप पांडव धर्मात्मा लोग हैं, आपने 13 वर्ष वन में तपस्या की है। आप विवेकी, धर्मशील एवं दयालु भी हैं। मेरे बेटे दुःशासनादि दुष्ट और हठी हैं। वे हमारी अच्छी सीख को भी नहीं मानते। यह संसार एक घिनौना कीचड़ है। आप धर्मात्मा पांडव भाइयों के रक्तपात के इस पापपंक में क्यों उतरते हैं? आप तपस्या द्वारा शीघ्र ही भगवान् को पा लें, व्यर्थ में राज्य के लिए रक्तपात करके तपस्या मार्ग छोड़कर इस विषय-भोग के गड्ढे में मत उतरिये। धृतराष्ट्र की इस उलटी सीख का कुछ प्रभाव हुआ या नहीं, उसका अन्तिम कूटनीतिक तीर सफल हुआ या नहीं, यही जानने के लिए बेचैन धृतराष्ट्र पूछता है युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पांडु पुत्रों ने क्या किया?

(ङ) वास्तव में पांडवों को सताने के लिए जितने षड्यंत्र रचे गए उन सबके पीछे धृतराष्ट्र की कुबुद्धि एवं परोक्ष या छिपी हुई सहमति रहती थी, ऊपर से दुर्योधन-दुःशासन अन्याय, अत्याचार करते थे। किन्तु, भीतर से अंधे धृतराष्ट्र की कुटिल नीति काम करती रहती थी। महाभारत के युद्ध के अन्त में सब कौरवों का नाश हो जाने पर जब धृतराष्ट्र पांडवों के प्रति पितृ स्नेह दर्शाने के लिए उनसे गले मिलकर वन में जाने को तैयार होता है तब भी दुर्योधन-दुःशासन को मारने वाले भीमसेन के प्रति उसके मन में द्वेष का विष भरा हुआ था। भगवान् कृष्ण ने भीमसेन

के स्थान पर एक कांसे की मूर्ति आगे बढ़ा दी और द्वेष से जले हृदय वाले धृतराष्ट्र ने उसे भी अपने आलिंगन में बांधकर खण्ड-खण्ड कर दिया। इस प्रकार अंधा धृतराष्ट्र शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक—सभी दृष्टि से अंधा ही था। अन्तिम समय में जंगल की आग में जल जाने से पूर्व धृतराष्ट्र ने विदुर के सामने स्वीकार किया कि मैंने जीवनभर अनीति, अन्याय, अत्याचार, अपराध किए और करवाए और जगत् को धोखा देने के लिए उस पर आंख मीचता रहा। कर्तव्यच्युति का सीधा परिणाम है—भय।

यहां धृतराष्ट्र लोभी, विषादी है वहां गांधारी मोही, विषादी है। वह आंखें रहते हुए भी अपने पापी बेटों की काली करतूतों पर जान-बूझकर आंख मीच लेने वाली है। मोहांध माता है। वह अपने घोर पापकर्मी बेटों को मोहान्ध होने के कारण कोई शाप नहीं देती किन्तु धर्मात्मा पांडुओं का मार्गदर्शन करने वाले भगवान् कृष्ण को शाप दे बैठती है।

भगवान् गांधारी के पुत्रमोह का नग्न चित्र प्रस्तुत करने हेतु एक अनोखी लीला रचते हैं। गांधारी अपने सौ बेटों के मृत शव को लेकर विलाप कर रही है। एक-एक रुंड एवं मुण्ड को लेकर विलाप कर रही है। एक-एक रुंड एवं मुण्ड को हृदय से लगाकर करुणाजनक विलाप करती हुई कहती है—हे बेटे! मैं तुम पर सौ-सौ प्राण निछावर कर दूं। अचानक श्मशान भूमि में चारों ओर भयानक मरुभूमि का दृश्य बन जाता है। दूर-दूर तक कोई वृक्ष अथवा जलाशय नहीं है। गांधारी भूख-प्यास से तड़पने लगती है। बहुत दूर एक बेर का वृक्ष दिखाई देता है। वह बेर तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाती है तो डाली कुछ अंगुल ऊपर रह जाती है। जंगल में ऊपर उठने के लिए और कोई दूसरा साधन न होने पर वह अपने एक बेटे की लाश खींच कर लाती है और उस पर चढ़कर बेर लेने का प्रयास करती है किन्तु टहनी पुनः कुछ अंगुल ऊपर रह जाती है। गांधारी दूसरे बेटे के शव को ऊपर रखती है। फिर भी टहनी कुछ ऊपर ही रह जाती है। इस प्रकार सौ बेटों के शव को रखकर जब वह बेर की टहनी पकड़ने लगती है तब भगवान् कृष्ण उसका हाथ पकड़ लेते हैं और पूछते हैं क्या यही बेटे तुम्हें प्राणों से अधिक प्यारे थे। तुम्हारा पेट का मोह बेटों के मोह से कहीं अधिक बढ़कर है। इस पर गांधारी बहुत लज्जित हुई।

दुर्योधन के भय की मीमांसा

दुर्योधन छली एवं अत्याचारी है, विषादी है। क्योंकि उसने पांडवों के साथ पग-पग पर छल किया और अत्याचार द्वारा उनके नाश का दुष्ट प्रयास किया है, इसलिए वह मन में बड़ा भयभीत है। वह कहता है—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। 1/10, गीता

11 अक्षौहिणी प्रशिक्षित एवं वेतनभोगी सेना के होते हुए भी और पांडवों के पास धर्मार्थ संग्रह की हुई अप्रशिक्षित, अवैतनिक (कच्ची) सेना के होते हुए भी दुर्योधन अपने पापों के कारण भीतर ही भीतर भयभीत है। वह कहता है भीम द्वारा रक्षित पांडवों की (थोड़ी) सेना भी पर्याप्त है और भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी (बड़ी) सेना अपर्याप्त है। वह पुनः चिंतित होकर कहता है कि आप सब चारों ओर से भीष्म पितामह की रक्षा करें जबकि भीष्म पितामह उस युग के महानतम योद्धा, अपराजेय वीर एवं इच्छामृत्यु प्राप्त महापुरुष थे। अनीति से भय होता है और भय में अटल पर्वत भी डगमगाते हुए प्रतीत होते हैं।

दु:शासन दुष्टतापूर्ण, क्रूर, अत्याचारी शासन का प्रतीक है। प्रत्येक निरंकुश आततायी शासक अपने अत्याचारों के कारण दूसरों की अपेक्षा अपने से ही अधिक भयभीत रहता है।

अर्जुन की स्थिति

गीता की मुख्य समस्या मनोवैज्ञानिक ही है। अर्जुन जो युद्ध भूमि में उछल-उछल कर शत्रुओं को मारने के लिए उतावला हो रहा था, वह अचानक हथियार फेंककर रोने क्यों लगा? उसका मुख क्यों सूखने लगा? उसका शरीर क्यों कांपने लगा? उसका सिर क्यों चक्कर खाने लगा? वह रोमांचित क्यों हो गया? दस-दस हजार महारथियों को पराजित करने वाले महारथी, वीर शिरोमणि अर्जुन के हाथ से सेर दो सेर वजन का गांडीव क्यों गिरने लगा? अर्जुन की इस परिस्थिति और शारीरिक लक्षणों को देखकर कोई चिकित्सक कह सकता है कि उसे फालिज (लकवा) था। उसे पक्षाघात का आकस्मिक आघात पहुंचा था। ऐसे रोगों में रक्तचाप की कमी या अधिकता के कारण दिल बैठने लगता है अथवा बहुत पसीना आकर दिल बहुत तेजी से धड़कने लगता है। चेतना लुप्त होने लगती है। शरीर अकर्मण्य हो जाता है। किसी विशेष अंग को पूरा रक्त न पहुंच पाने के कारण वह अंग पक्षाघात के आक्रमण से निर्जीव या मृतप्राय-सा हो जाता है। यदि हृदय से बायीं भुजा को रक्त पहुंचाने वाली सूक्ष्म शिरा में बाधा उत्पन्न हो जाए तो हाथ को रक्त की आपूर्ति न होने के कारण हाथ चेतना शून्य-सा होने लगता है और हाथ में पकड़ी हुई कोई भी वस्तु, किताब, कलम, धनुष या बंदूक अपने आप नीचे गिर जाती है। अर्जुन के शारीरिक लक्षणों की बहिरंग परीक्षा करने पर कोई भी डॉक्टर उसे लकवा का रोगी कह सकता है।

किन्तु अर्जुन को कोई शारीरिक रोग नहीं लग गया था। उसे अस्पताल में ले जाकर लम्बा उपचार कराने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उसकी मुख्य समस्या तो मानसिक ही थी। अतः कुछ मिनट के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं समाधान के उपरान्त वह पुनः उसी शरीर के साथ, उसी रणभूमि में, उसी रथ में

बैठे हुए, उसी फेंके हुए गांडीव को पुनः उठाकर अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करने को उद्यत हो जाता है। और विश्व के महानतम महायुद्ध का सर्वोपरि श्रेष्ठ विजेता बन जाता है।

अर्जुन मनोरोग से ग्रस्त कोई पुराना मानसिक रोगी भी नहीं था जिसके लिए उसे किसी मानसिक आरोग्यशाला में भरती करके लम्बे इलाज की आवश्यकता पड़ती। न वह शारीरिक रोग से ग्रस्त था, न मानसिक रोग से। उसे तो अकस्मात् कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में, छोटे और बड़े कर्तव्यों के संघर्ष में निर्णय लेने की क्षमता में, मानव के वास्तविक स्वरूप एवं सृष्टि में उसके जीवनोद्देश्य के विषय में कुछ भ्रान्ति ने आ जकड़ा था। वह भय और शोक से ग्रस्त हुआ एक मानसिक उलझन में फंस गया था। भगवद्गीता अर्जुन की मानसिक उलझन तथा अर्जुन जैसी परिस्थिति में प्रत्येक मानव के सामने उपस्थित होने वाली ऐसी ही मानसिक उलझन का बड़ा सुन्दर, सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त एवं क्रिया से सम्मिलित मनोवैज्ञानिक समाधान है।

(क) 'उपोद्घात'—गीता में कर्तव्य को स्वधर्म कहा गया है। यह पहले व्याख्या की जा चुकी है कि कर्तव्य की च्युति से भय उत्पन्न होता है। यह समस्या तब और भी जटिल बन जाती है, जब मनुष्य के सम्मुख समान रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने वाले कर्तव्य परस्पर एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए एक साथ अपना-अपना प्रबल आग्रह प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रायः मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है कि किस कर्तव्य का पालन करे और किसे छोड़ दे। उदाहरण—

(1) एक जापानी युवक युद्धकाल में सेना में भरती होने के लिए गया। भरती अधिकारी ने जब यह जाना कि पीछे केवल इसकी बूढ़ी माता है, जिसके पालन-पोषण का दूसरा साधन नहीं है तो उसे वापस घर भेज दिया।

(2) शेक्सपियर के नाटक 'हेमलेट' में हेमलेट का चाचा उसके पिता की हत्या करके उसकी मां से विवाह कर लेता है। बड़े होने पर जब हेमलेट को ज्ञात हो जाता है कि यही मेरे पिता का हत्यारा है, तो वह संकल्प करता है कि मैं पिता के हत्यारे को अवश्य दण्ड दूंगा। पर जब चाचा की हत्या करने जाता है तब उसकी मां अपील करती है कि मुझे विधवा मत बनाओ। मृत पिता के प्रति वफादारी और जीवित माता के दाम्पत्य जीवन की रक्षा, दोनों कर्तव्यों के परस्पर समान आग्रह के कारण हेमलेट मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हो जाता है और भगवान् कृष्ण जैसा मार्गदर्शक न मिलने के कारण पागल हो जाता है।

(3) एक मजिस्ट्रेट जो हत्या के आरोप में अनेक हत्यारों को फांसी का दण्ड दे चुका था, अपने बेटे को हत्या के अपराध में बंदी देखता है और उस केस

में उचित दण्ड का निर्णय भी उसे ही करना है। तब न्यायनिष्ठा और पुत्रवत्सलता दोनों कर्तव्यों के बीच मजिस्ट्रेट का विवेक लुप्त होने लगता है, सिर चक्कर खाने लगता है। उसका शरीर कांपने लगता है। उसे सब ओर अंधेरा ही अंधेरा दीखता है। एक ओर कुआं, दूसरी ओर खाई। उसके हाथ से लेखनी गिरने लगती है और वह चेतना शून्य होने लगता है।

राजा दशरथ को प्रण-पालन और राम के प्रति प्रेम और न्याय दोनों कर्तव्यों के बीच भीषण टक्कर होने के कारण चेतना शून्य होकर विलाप करते हुए प्राण तजना पड़ा। ऐसी परिस्थिति प्रत्येक मानव के जीवन में आ सकती है। उसे उचित मानसिक बल एवं मनोवैज्ञानिक समाधान के लिए गीता माता की शरण में आना चाहिए। महात्मा गांधी स्वयं कहते हैं—'जब मैं भीषण समस्याओं से घिर जाता हूं, चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है, प्रकाश की एक किरण भी दृष्टिगोचर नहीं होती, तब मैं गीता माता की शरण में जाता हूं। गीता माता कामधेनु है। आज तक इसने किसी को भी निराश नहीं लौटाया। अकस्मात् गीता माता मुझे किसी श्लोक में उचित हल बता देती है, और मैं प्रसन्नता से मुसकराने लगता हूं।'

हमने देखा कि कर्तव्यच्युति से भय होता है। हमने यह भी देखा कि कर्तव्यों की आपसी टक्कर से भय, शोक और अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो जाता है। जगत् की दृष्टि से भय का कारण कर्तव्यच्युति या कर्तव्यों का द्वन्द्व है क्योंकि कर्तव्य जगत् में अन्य जीवों के प्रति किये जा सकते हैं। किन्तु जो जीव और जगत् दोनों के प्रति कर्तव्यों को कुछ महत्त्व देता ही न हो, भय उसे भी होता है। उसका एक भय तो यह है कि यदि मैं किसी के प्रति कर्तव्य का पालन नहीं करता तो मेरे प्रति कोई क्यों कर्तव्य का पालन करेगा। मेरा साथ कौन देगा। या मुझे कोई रुग्णावस्था में औषधि देने वाला और मरने पर कन्धा देने वाला मिलेगा या नहीं।

जो न कर्तव्य माने और न दूसरों के व्यवहार की आशंका से चिंतित हो, निपट अकेला किसी जंगल में समय बिताता हो, उसे भी भय सताता है। उसके भय का कारण अज्ञान है। कर्तव्य-च्युति भय का मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक कारण है किन्तु अज्ञान भय का आध्यात्मिक कारण है। कभी-कभी जड़ वस्तुओं के अज्ञान से भी भय होता है। जैसे अज्ञात मर्ज का भय, सुनसान जंगल का भय, घर भूल जाने का भय, वस्तु के खो जाने का भय, आदि। किन्तु भय का सबसे बड़ा कारण अपने प्रति अज्ञान है।

अर्जुन की स्थिति कौरवों की स्थिति से भिन्न है। वह न रागी-विषादी है और न लोभी-विषादी। वह तो सात्त्विक विषादी है। विषाद उसे भी होता है, किन्तु न इस बात का विषाद है कि हमसे न्यायपूर्वक संपादन किया शासन छिन जाएगा

और न इस बात का विषाद है कि हम युद्ध में मारे जाएंगे। उसे विषाद तो इस बात का है कि बेचारे कौरव मारे जाएंगे। अपने गोतिज लोगों का व्यर्थ में नाश होगा। अर्जुन के सत्त्व प्रधान मन में ही बारी-बारी से कई मनोविकार आकर अपनी रंगत दिखाते हैं। प्रारम्भ में अर्जुन जोश में भरा हुआ अभिमान के स्वर में आततायी कौरवों के प्रति रोष में भरकर कृष्ण से बोला—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।। 1/21, गीता

हे अच्युत! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरा रथ स्थापित कीजिये ताकि में देखूं कि दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण चाहने वाले कौन-कौन से माई के लाल मुझसे युद्ध करने के लिए उपस्थित हुए हैं। अर्जुन के इस वचन में अभिमान का स्वर था जिसमें वह भगवान् श्रीकृष्ण को मुख्य आचार्य, मार्गदर्शक न मानकर मात्र सारथि समझकर महारथी के गर्व के साथ आदेश देने लगता है। अर्जुन के स्वर में अपने बल-पौरुष का अभिमान तथा कौरवों के प्रति द्वेष, दोनों मिले हुए हैं। भगवान् को एक सच्चे कर्मयोगी में ये दोनों मनोविकार पसन्द नहीं हैं।

अर्जुन के मन में आवश्यकता से अधिक भरोसा था कि हम निश्चय ही जीतेंगे तथा भीष्म और द्रोण जैसे धर्मात्मा पुरुष जो हमें नित्य विजय का आशीर्वाद देते थे, वे इस युद्ध में हमारे पक्ष में रहेंगे। असल युद्ध में निष्पक्ष रहेंगे। पापी कौरवों का साथ तो वे कभी दे ही नहीं सकते।

अर्जुन जानता था कि भीष्म पितामह को इच्छामृत्यु का वर प्राप्त है और युद्ध में उन्हें पराजित करने की शक्ति किसी मानव में तो थी ही नहीं, स्वयं परशुराम जैसे अवतार और शंकर जैसे (महादेव जी) उन्हें पराजित नहीं कर सके थे। द्रोणाचार्य को वरदान मिला था कि उनके पुत्र अश्वत्थामा चिरंजीवी होंगे। उन्होंने स्वयं तपस्या करके शंकर भगवान् से यह भी वरदान प्राप्त कर लिया था कि शस्त्रधारण किए उन्हें कोई पराजित न कर सके और पुत्र के मरने के पूर्व उनकी मृत्यु न हो। इस कारण युद्ध में द्रोणाचार्य भी अपराजेय ही थे। न चिरंजीवी पुत्र मरे और न वे मरने तक हथियार डालें और न उनको पराजित कर सके। इसलिए भीष्म-द्रोण ये महाभारत रूपी रणनदी के अति दुर्गम तट थे जिनसे पार पाना अर्जुन के लिए कठिन ही नहीं असम्भव ही था। पर अर्जुन के मन में यह विश्वास था कि यह दोनों गुरुजन युद्ध में कम से कम उसके विरुद्ध तो नहीं खड़े होंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं। अन्त:करण में जहां से भावों का मूल उद्‌गम होता है, साक्षात् वहीं से उनको तुरन्त जान लेने वाले अन्तर्यामी हैं। अन्त:करण में भाव उठता है, फिर मन में संकल्प की तरंग पैदा होती है, चित्त उन पर चिन्तन करता है, बुद्धि विचार करती है, बुद्धि का निर्णय हो जाने पर अहंकार

भीतर ही निश्चय कर लेता है, मैं यह करूंगा। अहंकार की अन्तर्वाणी सुनकर वाक्-इन्द्रिय बोल उठती है, मैं युद्ध में तुम्हें मारूंगा अथवा युद्ध नहीं करूंगा। तब बाकी लोगों को पता चलता है। इस प्रकार मनुष्य के भाव का प्रकाश जगत् में वाणी के द्वारा बहुत बाद में होता है। किन्तु मनुष्य के अपने मन अथवा बुद्धि को भी जब तक पूर्ण निश्चय नहीं होता तब भी अंत:करण में बैठे हुए अन्तर्यामी परमेश्वर सीधे हमारे अन्तर्भाव को जान लेते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव की वाणी से जगत् को पता चलता है कि जीव क्या करना चाहता है। जीव को स्वयं अपने अन्तर्भाव से संकेत मिलता है कि वह क्या करना चाहता है। प्राय: जीव के अचेतन मन में जो भाव उठता है, उसको जीव का चेतन मन प्रकट रूप में स्वीकार नहीं करता। उदाहरण—यदि जीव के अचेतन मन में कायरता से युद्ध में भागने का भाव हो, तब भी चेतन मन समाज की प्रतिष्ठा के विचार से उसको कभी स्वीकार नहीं करता। अचेतन मन में पापाचार, छल-छद्म या ठगी का भाव होते हुए भी चेतन मन सामाजिक मर्यादा या लोक प्रतिष्ठा हनन के भय से उसे प्रकट होने नहीं देता और किसी मनोवैज्ञानिक के बताने पर भी कि तुम्हारे अचेतन मन में अमुक भाव है, वह चेतन मन से स्वीकार ही नहीं करता।

अत: जीव और जगत्, दोनों को पता लगने से पूर्व अन्तर्यामी सीधे ही अन्तर्भाव को जान लेता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को पता चलने से पहले कि मैं क्या करना चाहता हूं और संसार को पता चलने से पहले कि वह क्या करना चाहता है, अन्तर्यामी परमेश्वर साफ-साफ जानते हैं कि वह क्या करना चाहता है। मनुष्य का सच्चा मैं, शुद्ध आत्मा या परमात्मा पहले जान लेता है और मनुष्य का व्यावहारिक मैं या अहंकारी मैं (जीवात्मा) बाद में जानता है। इसलिए भगवान् गीता में अर्जुन से कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।। 4/5, गीता

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूं। दूसरे शब्दों में जो जीवात्मा नहीं जानता है, उसे ही शुद्धात्मा अन्तर्यामी जानता है।

अन्तर्यामी भगवान् कृष्ण अर्जुन के मन के भावों को अर्जुन से भी अधिक अच्छे से जान रहे हैं—

(क) अर्जुन के मन में महारथी होने का अहंकारभाव आ गया था।

(ख) अर्जुन के मन में राज्य छीनने वाले कौरवों के प्रति द्वेषभाव भी जाग उठा था।

(ग) अर्जुन के मन में यह मिथ्या धारणा थी कि भीष्म और द्रोण जैसे ज्ञानी गुरुजन पापी दुर्योधन का अन्न खाकर भी धर्मात्मा पांडवों का साथ देंगे।

(घ) उसे यह भी मिथ्या विश्वास था कि भीष्म और द्रोण जैसे अजेय योद्धाओं से उसे लड़ने का अवसर आएगा ही नहीं और वह अपने बल-पौरुष से कौरव सेना को परास्त कर ही लेगा।

भगवान् अन्तर्यामी होने के कारण इन सब भावों को ताड़ गए। इसलिए जब अर्जुन ने कहा मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कीजिये ताकि मैं देख सकूं कि कौरवों के साथ मुझसे लड़ने के लिए कौन-कौन योद्धा आए हैं तो भगवान् ने रथ को सीधे भीष्म और द्रोण के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया। अपने अजेय गुरुजनों को अपने सामने युद्ध में कौरवों के प्रधान सेनापति और द्वितीय प्रधान सेनापति के रूप में सज्जित देखा। उन्हें जीत सकना अर्जुन के बूते के बाहर था। बिना भगवान् के मार्गदर्शन के इन अजेय गुरुजनों को कभी नहीं जीत सकता था। उनको देखते ही अर्जुन ने हथियार डाल दिए। आंखों में आंसू भरकर कहने लगा—

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। 1/30, गीता

हाथ से गांडीव धनुष गिरता जा रहा है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिए मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूं।

अर्जुन के मन में अचानक एक ऐसा आकस्मिक अन्तर आ जाने का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

(क) वह महारथी के अभिमान से बड़े गर्व के साथ युद्ध भूमि में प्रवेश कर रहा था। अपने सम्मुख अजेय शत्रु सेनापति को देखकर उसका गर्व चूर-चूर हो गया और उसे लगा कि व्यर्थ में पहाड़ से सिर टकराने का कोई लाभ नहीं है। इसलिए युद्ध में पराजित होने के कलंक के स्थान पर युद्ध न करने का निश्चय अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य होगा।

(ख) जिन्हें धर्म का पक्षधर समझा था उन्हें अधर्मी के आश्रित होने के कारण पापसेना का सेनापति बना देखकर अर्जुन के मन को गंभीर धक्का लगा। वास्तव में वेद का वचन है **'आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धिः'** अर्थात् आहार की शुद्धता से ही मन शुद्ध होता है। प्रसिद्ध कहावत है जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन। राजस्थानी में उक्ति है—जाकी खाओ बाजरी ताकी भरो हाजरी। अर्जुन इस तथ्य को भूल गया था। भीष्म पितामह, तपस्वी, वीरव्रती, दृढ़प्रतिज्ञ एवं ज्ञानी होते हुए भी पाप आश्रित अन्न खाते थे। पापी राजा के हाथ बिकी विद्वत्ता राष्ट्र या

मानवता का बहुत बड़ा कल्याण नहीं कर सकती। द्रोणाचार्य प्रथम ब्राह्मण थे जिन्होंने कुरुवंश की नौकरी कर पेट पालना प्रारम्भ किया। इससे पहले ब्राह्मण केवल निष्कामभाव से विद्या के सम्पादन एवं वितरण के पवित्र कर्म में लगे रहते थे। द्रोणाचार्य ने गुरु होते हुए कौरवों की नौकरी करके गुरुपद को छोटा कर दिया। इसलिए वे अपनी धनुर्विद्या के स्वामी होते हुए भी धर्म एवं नीति के बहुत सुदृढ़ सिद्धान्तवादी आचार्य नहीं बन सके। राज्याश्रित या सत्ता पर आश्रित विद्वत्ता उत्तम ढंग से फलती-फूलती नहीं और यदि आश्रयदाता स्वयं कुटिल और पापिष्ठ हो तो ज्ञानीजन भी ज्ञानबंधु या ज्ञानपापी बन जाते हैं। ज्ञानबंधु शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है जो जानता बहुत कुछ है किन्तु कर कुछ नहीं सकता। ज्ञानपापी वह है जो धर्म को जानते हुए भी धर्म के विरुद्ध आचरण करता रहता है। ईश्वरीय न्याय में दोनों ही दंडनीय हैं।

(ग) अर्जुन के मन में युद्ध भूमि में प्रवेश करते समय कौरवों को शत्रु मानकर उनके प्रति द्वेष का भाव था। किन्तु भीष्म-द्रोण आदि अपने पूज्य एवं बंधु-बान्धवों को देखकर उसके मन में उनके प्रति राग उत्पन्न हो गया—हाय! इन अपनों को इन अपने हाथों से कैसे मारूं। ये राग-द्वेष कर्तव्यच्युति के सबसे बड़े कारण बन जाते हैं। यही न्याय मार्ग के सबसे बड़े बाधक कारण, यही समाज में भ्रष्टाचार एवं परिवार पोषण, अपनों की रियायत और परायों के प्रति वैर के मूल मनोविकार हैं।

भगवान् कर्तव्यपरायणता के लिए राग अथवा द्वेष किसी को सहन नहीं कर सकते। कर्तव्यपरायणता के लिए भगवान् का गीता में प्रदत्त मार्गदर्शन निम्न प्रकार से है—

(4) कर्तव्य धर्म है। अपने नियत कर्तव्य या धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी, अपने स्वधर्म को छोड़कर परधर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा अधिक अच्छा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। 3/35, गीता

'अपना धर्म कम गुणवाला होने पर भी अधिक कल्याणकारी है, अपेक्षाकृत दूसरे के अधिक तड़क-भड़क वाले धर्म के। अपने स्वधर्म में मरना भी कल्याणकारी है, दूसरे का धर्म भय देने वाला है।' गीता में स्वधर्म शब्द को अपने वर्णाश्रम द्वारा नियत कर्तव्य धर्म के अर्थ में ही लिया गया है। उस समय न ईसा का जन्म हुआ था न ईसाइयत का। न मुहम्मद का जन्म हुआ था न मुहम्मदी धर्म का। न बुद्ध का ही जन्म हुआ था। अतः गीताकाल में स्वधर्म और परधर्म का अर्थ आज के समान

हिन्दू और अहिन्दू धर्म न था। गीता का स्वधर्म स्वकर्तव्य के अर्थ में है और परधर्म अपने कर्तव्य को छोड़कर दूसरे के कर्तव्य का पालन है। अर्जुन का स्वधर्म क्षत्रिय धर्म है। धर्म की रक्षा करना और आततायी का नाश करना क्षत्रिय का धर्म है। अर्जुन अपने स्वजनों-बंधुगणों को युद्ध भूमि में देखकर कर्तव्य भूल जाता है और क्षत्रिय के धर्म को त्यागकर ब्राह्मण के अहिंसा, युद्ध से उपरति, वनगमन, तपस्या और भिक्षुक के समान भिक्षा पर निर्वाह की बातें करने लगता है। वास्तव में अर्जुन अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति से ब्राह्मण नहीं बन गया, ब्राह्मण के गुण भी उसमें नहीं आ गए, किन्तु अपने क्षात्रधर्म से कर्तव्यच्युति के लिए, अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए ब्राह्मण धर्म की ओट ले लेता है।

(क) भगवान् उसके ब्राह्मण धर्म की ओट का भी पर्दाफाश कर देते हैं। तुम बातें पंडितों जैसी करते हो किन्तु पंडित, जो चले गए हैं, उनके लिए और जो जाने वाले हैं, उनके लिए किसी के लिए शोक भी करते ही नहीं हैं। अतः अर्जुन ब्राह्मण धर्म की झूठी ओट से अपनी दुर्बलता को ढकता है। क्षात्रधर्म से च्युत हो रहा है और वैश्य के समान युद्ध में हानि-लाभ, जय-पराजय को तौलने लगता है। और शूद्र के समान रो रहा है।

(ख) अपनी माता कुरूप और निर्धन होते हुए भी उसके मन में हमारे लिए जैसी कल्याण भावना निहित है, वैसी किसी सुन्दर, सजी-सजीली धनवान वेश्या के मन में कभी नहीं हो सकती। अतः जिस स्वधर्म में भगवान् ने हमें जन्म दिया है, भगवान् उसी में हमारा परम कल्याण समझते हैं। जो व्यक्ति या धर्मप्रचारक हमें प्रभुप्रदत्त स्वधर्म से हटाकर किसी अन्य परधर्म में हमारे अधिक कल्याण का प्रलोभन देता है वह भगवान् के विधान का तिरस्कार करता है और अपने को भगवान् से अधिक बुद्धिमान सिद्ध करने का दम्भ भरता है।

(ग) मछली का स्वधर्म जल में जीने का है। यदि कोई यह समझे कि हम बहुत धनवान हैं और जल बहुत सस्ती वस्तु है इसलिए दूध में रखी जाए तो दूध में मछली को रखने से दूध भी बिगड़ जाएगा और मछली भी मर जाएगी।

(घ) युद्ध का नगाड़ा बज जाने पर, भारत-चीन युद्ध छिड़ जाने पर यदि कोई सैनिक अधिकारी अपना नियत कर्तव्य छोड़कर ये कहे कि युद्ध एक रक्तपात की घिनौनी प्रक्रिया है। इसके स्थान पर भागवत का पारायण करने से मोक्ष मिलेगा, तो यह एक ढोंग मात्र गिना जाएगा। इससे समाज में अव्यवस्था एवं असुरक्षा फैल जाएगी। यदि देश के रक्षक समय पर देश की रक्षा ही नहीं करेंगे तो भागवत पाठ करने की वृत्ति वाले ब्राह्मण भागवत पाठ कैसे करेंगे?

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्राध्ययनं प्रणीयते।

शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र का अध्ययन हो सकता है। यदि युद्ध-भूमि में सभी वर्णों के लोग लड़ने के लिए जा पहुंचेंगे तब भी अव्यवस्था फैल जाएगी। सैनिकों को धर्मयुद्ध की प्रेरणा देने के लिए ब्राह्मण चाहिए। सैनिकों को भोजन सामग्री पहुंचाने के लिए वैश्य भी चाहिए। युद्ध के समय सैनिकों के बच्चों तथा अन्य लोगों की शिक्षा के लिए शिक्षक भी चाहिए।

सैनिकों की तथा शेष समाज की सेवा के लिए सड़कें बनाने, सफाई करने, नहर खोदने, भार उठाने के लिए रथ-घोड़े, वाहन चलाने के लिए सेवक, शूद्र भी चाहिए। अतः सभी के अपना-अपना स्वधर्म पालन करने से समाज की सुन्दर व्यवस्था बनी रह सकेगी। अर्जुन स्वधर्म को भूलकर भयभीत हो रहा था। अतः उसे स्वधर्म पालन का उत्तम पाठ पढ़ाकर भगवान् ने भयमुक्त किया।

समत्वयोग

समत्वयोग—स्वधर्म पालन के लिए समत्व सबसे बड़ा योग है। भगवान कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 2/48, गीता

हे अर्जुन! तुम आसक्ति त्यागकर, सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित होकर कर्म करो। क्योंकि समत्व ही सच्चा योग है।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की जो शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद अनुभूति होती है, उससे मन चंचल हो उठता है। कर्तव्यपरायणता के लिए यह अत्यावश्यक है कि इन सब विपरीत अनुभूतियों के मनोविकारों में कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने मन को सम बनाए रखे। यदि राजस्थान के मरुस्थल में और लद्दाख की बर्फीली चोटी में मन को सम रखकर कर्तव्य हो सकता है तभी कर्ता कर्मयोगी कहलाता है। यदि अनुकूल जलवायु और प्रतिकूल जलवायु हमारे कर्तव्यपालन में कोई अन्तर नहीं डाल सकता तभी सच्चा कर्मयोग है। यदि महलों के राजसी भोग और जंगलों में घास की रोटी दोनों में सम रहकर मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चालू रहता है तभी सच्चा कर्मयोग है। अनुकूल के कर्मी और प्रतिकूल परिस्थिति के कामचोर सच्चे कर्तव्यपरायण नहीं हो सकते।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। 2/14, गीता

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 2/15, गीता

अतः तितिक्षु समदुःखसुखम् धैर्यवान ही सच्चा कर्मयोगी बनने का पात्र है।

सुख-दुःख में समता—अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल प्रतीति से मन को दुःख होता है। लाभ से मनुष्य को उसी कार्य को पुनः करने का लोभ बढ़ता है, हानि से कर्म में निराशा हो जाती है। जय से उत्साह बढ़ता है, पराजय से उत्साह भंग हो जाता है। सच्चे कर्मयोगी को सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना चाहिए—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। 2/38, गीता

यदि देशभक्ति के कार्य में फूलमालाओं से सत्कार हो अथवा फांसी की डोरी पहन कर मरण का त्योहार मनाना पड़े तो भी सच्चा देशभक्त दोनों परिस्थितियों में कर्तव्यपालन की आन्तरिक प्रसन्नता से मुसकराता रहता है।

प्रज्ञा का स्थिर एवं सम रहना

स्थितप्रज्ञता—कर्तव्यपरायण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञ की मनोभूमिका है। मन जब इन्द्रियों के वश में होकर विषयों की ओर भटकता है तब सांसारिक विषय क्षणिक, अनित्य, परिवर्तनशील एवं नश्वर होने के कारण अपने अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव के साथ मन को नचाते हैं। कभी हंसाते हैं, कभी रुलाते हैं, कभी उत्साह से भर देते हैं, कभी निराशा में पटक देते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी चिन्तातुर कर देते हैं, कभी लोभ में वेग से दौड़ाते हैं, कभी हानि में गर्दन तोड़ देते हैं, कभी मनोरंजन कर नचाते हैं, कभी वियोग में छाती फाड़ डालते हैं। सामान्य मनुष्य की बुद्धि उसके मन के वश में रहती है, मन इन्द्रियों के वश में चला जाता है, इन्द्रियां विषयों के वश में चली जाती है और विषयों के परिवर्तन एवं क्षणभंगुरता से बुद्धि चंचल हो उठती है। जिसकी बुद्धि एक क्षण में एक निश्चय करती है और दूसरे क्षण में मन की चंचलता के कारण विपरीत निश्चय करने लग जाती है उसकी बुद्धि विषम है, सम नहीं। चंचल है, स्थिर नहीं। विचलित है, अविचलित नहीं। भ्रष्ट है, पुष्ट नहीं। ऐसा व्यक्ति दीन दुर्बलप्रज्ञ है, स्थितप्रज्ञ नहीं। जब उसकी बुद्धि ही स्थिर नहीं तो वह स्वधर्मपालन में दृढ़तापूर्वक कैसे डट सकता है। उदाहरण—यदि घंटाघर की विशाल घड़ी से हम अपनी घड़ियों का मिलान करना चाहें तो यह अनिवार्य है कि घंटाघर की घड़ी दायें-बायें के झंझावातों से अथवा पक्षियों के नृत्य-कलरव से चलायमान होने वाली न हो। यदि अभी घड़ी तीन बजा रही है और पक्षी के सूई पर बैठने से छह बज जाए, पुरवा की हवा चलने से नौ बज जाए और पछवा हवा के चलने से चार बज जाए तो उस घड़ी का भरोसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की बुद्धि इतनी चंचल है कि कभी कहता है कि देश के लिए सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए, और पुलिस की लाठी देखकर कहता है व्यर्थ में सिर फुड़वाना मूर्खता

है। पकड़ा जाने पर नाक रगड़कर माफी मांगता है और कहता है अंग्रेज सरकार हमारी माई-बाप है और आजादी मिलने पर कहता है, हम भी पुराने स्वाधीनता सेनानी हैं। अतः ताम्रपत्र मिलना चाहिए। तो ऐसे चंचल बुद्धि व्यक्ति का क्या भरोसा किया जा सकता है और उससे समाज का क्या कल्याण हो सकता है। इसलिए कर्मयोगी के लिए बुद्धि का सम रहना परम अनिवार्य है।

भारत के अंतिम मुगल सम्राट्, 1857 के क्रान्तिवीर बहादुरशाह जफर ने गीता के इसी भाव को अपनी कविता की लड़ी में पिरो दिया है—

जफर आदमी उसको न जानियेगा

चाहे कितना हो इल्मो-फहमो बका

जिसे ऐश में यादे खुदा न रही

जिसे तैश में खौफे खुदा न रहा

चाहे कितना ही विद्वान्, सुज्ञ पण्डित हो, ज्ञानी

ऐश्वर्य भोग में जिसको प्रभु का सिमरन भूले,

क्रोध में प्रभु का भय त्याग करे निष्ठुर मनमानी।

इल्म = विद्या

फहम = ज्ञान

बका = रहस्यज्ञान

ऐश = ऐश्वर्य

तैश = क्रोध

खौफ = भय

गीता में भगवान् कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 2/56, गीता

'दुःखों की प्राप्ति में उद्वेगरहित मन जिसका और सुखों की प्राप्ति की स्पृहा दूर हो गई है तथा जिसके राग, भय, और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है।'

निन्दा स्तुति में सम—एक सच्चे कर्मयोगी को न निन्दा में उदास हो जाना चाहिए और न स्तुति में फूलकर कुप्पा हो जाना चाहिए—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। 12/19, गीता

जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला है एवं जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममतारहित है वह स्थिरबुद्धि वाला भक्तिमान पुरुष मेरे लिए प्रिय है।

(5) अपने-पराये में सम—मनुष्य का अपनों के प्रति स्वाभाविक राग होता है तथा दूसरों के प्रति द्वेष होता है। किन्तु सच्चे कर्मयोगी को न अपनों के प्रति राग में बह जाना चाहिए न दूसरों के प्रति द्वेष के विष में जलते रहना चाहिए। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भी भगवान् ने कहा है कि जो राग-द्वेष से वियुक्त होकर अपने मन को वश में रखते हुए उचित निर्वाह के लिए इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग करता है वह आत्मवशी पुरुष सदा प्रसन्नता को प्राप्त होता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

नवम् अध्याय में भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं सब भूतों में सम हूं और मेरे लिए कोई भी राग या द्वेष का पात्र नहीं है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

राग और द्वेष परस्पर एक-दूसरे के पूरक मनोविकार हैं। बिना राग के द्वेष और बिना द्वेष के राग हो ही नहीं सकता। एक के प्रति राग का अर्थ ही है अन्यों के प्रति द्वेष। चाहे व्यक्ति उसे स्वीकार करे या न करे किन्तु राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि अध्यापक कक्षा में अपने किसी प्रिय छात्र को अवैध रूप से एक अंक अधिक दे देता है तो वह जाने-अनजाने शेष सभी छात्रों के प्रति द्वेष का व्यवहार कर रहा है। क्योंकि एक-एक अंक द्वारा एक सीढ़ी ऊपर चले जाने से शेष सभी छात्र क्रमशः एक-एक सीढ़ी नीचे हो जाएंगे। जिसका प्रथम स्थान बनता था, उसका द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ इस प्रकार सभी एक-एक दर्जा नीचे गिर जाएंगे। अतः एक को अनुचित रूप से ऊपर उठाना, शेष सबको अनुचित रूप से गिराने के बराबर हो जाएगा। अतः राग में द्वेष गुप्त रूप से छिपा हुआ ही है।

स्वामी रामतीर्थ जब अमेरीका में थे तो एक अमेरीकन महिला ने जिसका इकलौता पुत्र मर गया था, स्वामीजी के पास आकर कहा—मुझे शान्ति दीजिये, मेरा इकलौता पुत्र मर गया है। स्वामीजी ने कहा—पुत्र को चिरनिद्रा में सोने दो, शान्ति हो जाएगी। उसने आक्रोश में चिल्ला कर कहा—ओ भारतीय स्वामी! आप एक जवान माता के मन को नहीं पहचानते, मुझे मेरा पुत्र चाहिए। स्वामीजी

ने कहा—यदि आपमें मातृत्व की लालसा है तो उठा लो उस रोते हुए हब्शी बच्चे को और उसका अपने बेटे के समान लालन-पालन करो, तुम्हें शान्ति मिल जाएगी। इस पर विदेशी महिला ने पुनः आक्रोश में भरकर कहा—यह असंभव है। यह हब्शी बच्चा गन्दगी से भी अधिक गंदा है, मैं उसको स्पर्श भी करना नहीं चाहूंगी। उसे देखने से भी मुझे घिन आती है और आप मुझे उसे उठाकर चूमने-पुचकारने और बेटे के समान पालने की बात कह रहे हैं, यह असंभव है। स्वामी, तुम एक जवान माता के मातृत्व से क्रूर मजाक कर रहे हो। इस पर स्वामीजी मुस्कराये और कहा—मां, या तो बेटे का राग छोड़ दो या पराये बेटे का द्वेष छोड़ दो, तुम्हें शान्ति मिल जाएगी। न तुमसे अपने बेटे का राग छोड़ा जाता और न पराये बेटों का द्वेष। भगवान् ने तुम्हें इसी पाप का दंड दिया है। महिला ने रो-रोकर अंत में और कोई उपाय न देखते हुए उस बच्चे को उठा लिया और उसे प्यार से पुचकार लिया। अपने बेटे की तरह पाला-पोसा, पढ़ाया और उसे शान्ति मिल गई।

आज मानवता राग और द्वेष की दो विषम अग्नि ज्वालाओं के बीच में जल रही है। क्लबों एवं भोगमहलों में राग की अग्नि भड़क रही है। कचहरी और युद्धस्थलों में द्वेष की अग्नि भड़क रही है। यदि मानव पेट्रोल का एक ड्रम अपने सिर पर उड़ेल ले और एक अपने पांव और कपड़ों पर उड़ेल ले और स्वयं अपने हाथ से आग लगा ले और चौराहे के बीच छाती पीटकर रोये कि मुझे बचाओ, तो इसमें दोष किसका है? आज मानव स्वयं ही राग और द्वेष की अग्नियों को अपने मन की स्वीकृति से भड़काकर उनके बीच में करुण-क्रन्दन कर रहा है। गीता के समत्व दर्शन के अमृतजल बिना उसे कौन बचा सकता है। किसी दूसरे द्वारा लगाई हुई आग को तो कुछ प्रयास से बुझा सकते हैं किन्तु जो राग और द्वेष की आग हमारी ही सहमति से हमारे भीतर-भीतर छिपकर लगाई गई हो उसे बुझाए भी कौन?

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। 5/19, गीता

मित्र-शत्रु में समत्व—जिसके प्रति बार-बार राग होता है उसे मित्र कहते हैं। जिसके प्रति बार-बार द्वेष भाव पैदा होता है उसे शत्रु कहते हैं। राग-द्वेष भाव जब स्थायी हो जाता है वह मित्र-शत्रुभाव बन जाता है। दूसरे शब्दों में, जो हमारे प्रति बार-बार भला करता है उससे राग हो जाता है और वह हमारा मित्र बन जाता है। जो हमारे प्रति बार-बार बुरा करता है उसके प्रति द्वेष भाव उत्पन्न होता है। समझ जाते हैं कि यह शत्रु है। सच्चे कर्मयोगी को मित्र-शत्रु में भी सम-भाव रखना चाहिए—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। 12/18, गीता

जो शत्रु और मित्र में सम है, उसी प्रकार मान और अपमान में भी (सम) है तथा शीत-उष्ण, सुख-दु:ख (आदि द्वन्द्वों) में सम और आसक्ति से रहित है।

सब वर्णों में समत्व—ब्राह्मण ज्ञान साधना के कारण उच्च वर्ण अवश्य है और शूद्र तमोगुण की अधिकता के कारण अज्ञान जनित कर्मों (पशुओं की खाल उतारना, चमड़े का काम करना, मल की सफाई, मजदूरी करना, मद्य, मांस भक्षण) आदि के कारण नीच वर्ण माना जाता है। किन्तु वे सभी वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एक ही समाजपुरुष के अंग होने के कारण समान रूप से प्रिय एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से शिर-शिर का काम करते हुए, भुजायें, पेट एवं पैर अपना-अपना काम करते हुए सभी मर्यादा में रहते हुए सभी का शरीर रचना एवं प्राण रक्षा में समान महत्त्व है। इस बात को सच्चा कर्मयोगी जानता है इसलिए वह वर्णों की मर्यादा का पालन करते हुए भी सब में समाजपुरुष के नाते या मानवता के नाते या सबमें ब्रह्मदृष्टि के नाते सबको समान मानकर कर्म करता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। 5/18, गीता

विद्या से सम्पन्न ब्राह्मण में, गो में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में सच्चा ब्रह्मदर्शी समदृष्टि रखता है। इसमें भगवान् ने समदर्शिनः तो कहा है किन्तु समवर्तिनः नहीं कहा। भाव यह है कि सबमें समान दृष्टि अर्थात् ब्रह्मदृष्टि रखे, किसी के साथ अन्याय न करे, किसी को न सताये, सबका यथायोग्य रक्षण करे किन्तु व्यवहार लोकमर्यादा के अनुसार ही करे। यज्ञ करना हो तो विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण से करावे, चाण्डाल से नहीं। दुग्ध प्राप्ति के लिए गो की सेवा करे, कुत्ते से दूध की आशा न करे। ऐश्वर्य की सवारी करनी हो तो हाथी की करे, गो या कुत्ते पर सवारी न करे। मकान की रक्षा के लिए कुत्ते से काम ले, ब्राह्मण या गाय से नहीं। मृत पशुओं के शरीर का निबटारा कराना हो तो चाण्डाल को बुलाए, ब्राह्मण या क्षत्रिय को नहीं। सबसे व्यवहार यथायोग्य करे और सबमें ब्रह्मदृष्टि रखे अर्थात् ये सब ब्रह्म के ही रूप हैं। किसी से घृणा या किसी पर अत्याचार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं।

धनी-निर्धन वर्गों में समता—आर्थिक दृष्टि से समाज में धनी एवं निर्धन वर्ग बन जाते हैं। भारत का समाज वर्णप्रधान है तो पश्चिम का समाज वर्ग प्रधान। वहां धनी एवं निर्धन का भेद इतना भयंकर है कि धनी निर्धनों से घृणा करते हैं और कार्लमार्क्स नामक विचारक निर्धनों के मन में वैर एवं विद्वेष की अग्नि भड़काकर धनवानों का नाश करने के लिए रक्त क्रान्ति करवाता है। भारत में आज तक धनी एवं निर्धन के बीच इस प्रकार की विद्वेष के विष से भरी हुई रक्त क्रान्ति नहीं हुई थी किन्तु पश्चिम के वर्ग विद्वेष के विष से इस प्रकार की विषम

स्थिति पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है। भारत में द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने अपने अति दरिद्र मित्र सुदामा के धूलभरे और कंटकाछन्न चरणों को नयनों के जल से धोकर वर्ग समता का आदर्श रखा। भारतीय संस्कृति के अनुसार धन सब भगवान् का है, सारे ऐश्वर्य का स्वामी ईश्वर है, सारी प्रभुता का स्वामी प्रभु है, सारे वैभव का स्वामी विभु है, समस्त लक्ष्मी का स्वामी नारायण है, सारी प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। अत: व्यक्ति धन का स्वामी न होकर मात्र उसका न्यासी है (Trustee)। उसे धन पर स्वामित्व का नहीं वरन् उस धन का विश्व कल्याणार्थ अच्छे से अच्छा सदुपयोग का अधिकार है। अत: धन की अधिकता का अर्थ धन के सदुपयोग का अधिक बड़ा कर्तव्यभार है। अत: धन की अधिकता या न्यूनता के कारण वर्ग और वर्ग विद्वेष को स्थान नहीं है। धन का नाम द्रव्य है जिसका अर्थ है बहने वाला। यह निरन्तर एक हाथ से दूसरे हाथ में बहता रहता है। इसलिए जो आज धनी है, कल निर्धन हो सकता है। रंक से राजा और राजा से रंक यह परिवर्तन होता रहता है।

परमेश्वर सच्चा दाता है। दाता के गुण तीन—देवे, दिलावे और छीन ले। वह जिसे देता है उसे धनवान बना देता है, जिसको दिलवाता है उसको भाग्यवान और जिसका छीन लेता है उसको कंगाल। क्योंकि धन हाथ बदलता रहता है। इसलिए धनी और निर्धन के पक्के वर्ग नहीं बन सकते। फिर प्रत्येक व्यक्ति किसी की अपेक्षा से निर्धन है और किसी अन्य की अपेक्षा से धनवान होता है। एक पैसा वाला भी उसकी अपेक्षा धनवान है जिसके पास कुछ नहीं है और दो पैसे वाले की अपेक्षा निर्धन है। इस क्रम से लखपति, कोटिपति भी किसी की अपेक्षा से निर्धन और किसी की अपेक्षा से धनवान है। अत: धन के आधार पर निर्धन और धनी के वर्ग बांटना असम्भव है। सभी लोग सापेक्ष दृष्टि से धनी और सापेक्ष दृष्टि से निर्धन हैं। अत: धनी एवं निर्धन में अनिवार्य वर्गसंघर्ष का अर्थ होगा सबका सबसे संघर्ष। War of all against all. गीता हमें समस्त वर्ग भेदों में सम रहने की शिक्षा देती है। सम्पत्ति और विपत्ति दोनों में हमें स्वयं सम रहना है। सम्पत्ति में गर्दन अकड़े नहीं और विपत्ति में छाती फटे नहीं, तभी कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ कहला सकता है। जैसे अपनी सम्पत्ति-विपत्ति में सम रहे उसी प्रकार सम्पत्तिवान और दरिद्र, दोनों में समदृष्टि रखे।

जीव मात्र में समता—(जीवन तत्त्व)—केवल मनुष्य मात्र में ही नहीं, केवल वर्णों में ही नहीं, केवल वर्गों में ही नहीं वरन् जीव मात्र में एक ही आत्मा का दर्शन करने वाला आत्मदर्शी सच्चा कर्मयोगी हो सकता है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।। 12/13, गीता

'जो समस्त प्राणियों में द्वेष से रहित, मित्र भाव से युक्त और करुणावान है तथा ममत्वरहित, अहंकार रहित, सुख-दुःख में समभावयुक्त और क्षमावान है।'

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित एवं स्वार्थ रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित एवं अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वालों को भी अभय देने वाला है, ऐसा कर्मयोगी जो प्रत्येक जीव को सम मानता है जो एक चींटी तक को भी कष्ट नहीं देना चाहता वह सारे विश्व का मित्र बन जाएगा।

सब जीवों में समदर्शन (ब्रह्मदर्शन)—सब जीवों में जीवन की पवित्रता के आधार पर सबको समान मानना एक आदर्श है जिसे बौद्ध और जैन भी स्वीकार करते हैं, किन्तु गीता का समदर्शन केवल जीवन की पवित्रता के आधार पर या जीवदया के आधार पर ही नहीं है, गीता का समदर्शन ब्रह्मदर्शन के आधार पर है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

'यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।'

जड़-चेतन में समता—सच्चा ब्रह्मदर्शी केवल जीवों में नहीं वरन् सारे विश्व में जड़-चेतन सर्वत्र में एक ब्रह्म का ही दर्शन करने लगता है तब वह कर्मयोगी से ज्ञानयोगी बन जाता है। उसकी दृष्टि में जड़ और चेतन का भेद मिट जाता है। उसे स्थावर और जंगम, चल और अचल, सजीव-निर्जीव, जड़ और चेतन सबके पीछे और सबके भीतर छिपे हुए उस परम चेतन अविनाशी परमतत्त्व का दर्शन होने लगता है। वह नाम-रूप से परे, नाम-रूप के अधिष्ठान परमतत्त्व का दर्शन करता है। वह प्रपंच में अनुस्यूत परमार्थ को देखने लगता है। दृष्टान्त—प्रपंचदर्शी, व्यवहारदर्शी, नामरूपदर्शी, भेददर्शी, जड़ जगत् दर्शी—लहर को, वीचि को, तरंग को, फेन को, ज्वार को, भाटा को, वाष्प को, बुलबुलों को, भंवर को, बादल को, घने बादल को, वर्षा को, हिमपात को, नदी को, नाले को, तालाब को, बावली को, कुएं को, नद को, महानद को, निर्झरों को, प्रपात को, समुद्र को, महासमुद्र को सबको भिन्न-भिन्न नाम-रूप से अनेक रूपों में अलग-अलग देखता है किन्तु तत्त्वदर्शी इन नाना नामों और रूपों, भेदों-प्रभेदों के पीछे एक ही जल तत्त्व को देखता है जिस अधिष्ठान पर नाना नाम-रूप टिके हुए हैं और जिस अधिष्ठान को जान (पहचान) लेने पर इन नाना नामों एवं रूपों का कुछ अस्तित्व ही नहीं बचता, इस तरह ब्रह्मदर्शी अनेकता में एकता का दर्शन करता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

इस प्रकार जानकर 'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है वही सच्चे अर्थों में देखता है।' यही सात्त्विक ज्ञान की परिभाषा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। 18/20, गीता

'हे अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म भाव को विभाग रहित, समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।'

सारी गीता का सारतत्त्व समत्वयोग दर्शन ही है। शीत-उष्ण में सम, सुख-दुःख में सम, प्रज्ञा का स्थिर एवं सम, निन्दा-स्तुति में सम, अपने-पराये में सम, मित्र-शत्रु में सम, सब वर्णों में सम, धनी-निर्धन वर्गों में सम, जीव मात्र में सम, जड़-चेतन में सम, सब में समदर्शन (ब्रह्मदर्शन)। इस प्रकार समत्व की साधना द्वारा स्वधर्मपालन भी न्याय-नीति सम्मत होगा और धर्म पालन करते-करते मोक्ष भी सिद्ध हो जाएगा।

निर्दोष और सम ब्रह्म ही है। (निर्दोषं हि समं ब्रह्म) उस निर्दोष सम ब्रह्म को नमस्कार हो। वह निर्दोष सम ब्रह्म मेरे शरीर को सम रखे एवं निर्दोष रखे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। 6/13, गीता

योगी शरीर को, ग्रीवा को और सिर को एक सीध में सम रखकर (पद्मासन में बैठकर ही) अचल एवं स्थिर होकर ध्रुव सत्य की धारणा करे। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी इन्द्रियों के अनुभवों में समता (संतुलन) बनाए रखे। इन्द्रियों के शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों में हम सम रहें। हम तितिक्षा एवं धीरज द्वारा प्रतिकूल आंधियों में भी कर्तव्य से विचलित न हों। वही निर्दोष सम ब्रह्म हमारे मन में प्रकाशमान हो, दुःख-सुख के झंझावातों में, हानि-लाभ, जय-पराजय के परिवर्तन चक्रों में हम कर्तव्य में डटे रहें। वही निर्दोष सम ब्रह्म हमारे मन के विकारों में हमें सम एवं संतुलित रखे। हम ईर्ष्या-द्वेष में, अपने-पराये में समभाव रखें। वही निर्दोष ब्रह्म हमारी बुद्धि को प्रकाशमान करे। हमारी बुद्धि (धी) सम में स्थित हो। हम चलते-फिरते, काम करते हुए बुद्धि को स्थिर करके समाधिस्थ रहें, यह कर्मयोगी की स्थितप्रज्ञ समाधि है। वही निर्दोष ब्रह्म मेरी समाज दृष्टि में विराजे। मैं वर्णों के और वर्गों के भेदों से परे उस मूलभूत मानवीय समता को देखूं। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी जीवदृष्टि में विराजे, मैं जीव मात्र में एक ही समान

जीवन तत्त्व को देखूं। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी जगत्दृष्टि में विराजे, मैं जीव मात्र में ब्रह्म को देखूं। मैं जड़-चेतन सबमें उस अविनाशी भेद-रहित परम तत्त्व ब्रह्म को ही देखूं। गीता का यह समत्वदर्शन ब्रह्म दर्शन की कुंजी है। यह समस्त आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का सर्वोपरि श्रेष्ठ समाधान है। यह साम्ययोग नर को नारायण बनाने वाला है जबकि कार्लमार्क्स का साम्यवाद मानव की भौतिक व्याख्या कर वर्गविद्वेष के विष को फैलाकर रक्तक्रान्ति के नाम पर सर्वसंहार करवाकर मानव को नर पशु, एवं नरपिशाच बनाने वाला है। विद्वेष के विषैले बीज से साम्यवाद नाम का मीठा फल प्राप्त हो ही नहीं सकता, वह मात्र एक लुभावना एवं छलने वाला नारा मात्र ही रह जाता है। साधना विषम की हुई तो फल सम मिलेगा कैसे? सम के आधार पर सम मिलेगा। जिसके अपने मन में समता नहीं वो समाज में समता कैसे ला सकता है क्योंकि उसका मन तो विद्वेष में, ईर्ष्या से जल रहा है।

गुणों में समता

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' 2/45 (गीता) गुणसाम्य ही गुणातीतावस्था है। प्रकृति का अर्थ है प्रथम कृति अथवा प्रचुर कृति अथवा प्रबल कृति। परब्रह्म परमेश्वर स्वयं तो शांतम् शिवम् अद्वैतम् हैं। वे निर्दोष, निष्पक्ष, अकर्ता, निर्लिप्त द्रष्टा हैं। उनके संकल्पमात्र से उन्हीं की अभिन्न शक्ति पराप्रकृति जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है जो कर्तुम्अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् समर्थ है (करने वाली, न करने वाली, बदलने वाली या रचने वाली, मिटाने और बदलने में समर्थ है), सूक्ष्म में से स्थूल जगत् रचने लगती है। सारी रचना सूक्ष्म से ही होती है। विश्व के महान् आश्चर्य, विराट् भवन, मन्दिर एवं दुर्लभ भवन सभी कुछ मानव के सूक्ष्म संकल्प एवं ललित कल्पना में से प्रकट हुई है। जैसे स्थूल ताजमहल बनने से पूर्व किसी कलाकार एवं भवन निर्माता की सूक्ष्म कल्पना में था। इसी प्रकार सारा विश्व ब्रह्म के संकल्प से ही प्रकट हुआ है। पराप्रकृति स्थूल रचना की ओर बढ़ती हुई अपराप्रकृति में परिवर्तित होती है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9/10, गीता

अर्थात् मेरी अध्यक्षता में मेरी अभिन्न शक्ति प्रकृति चराचर जगत् को रचती है।

अपराप्रकृति आठ अंगों वाली है। पंच महाभूत बाहर की प्रकृति पर नियंत्रण करते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। तीन (अथवा चार) अन्त:करण—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। यह अन्त:प्रकृति पर नियंत्रण करते हैं। दृष्टान्त—हम मित्र से पूछते हैं प्रकृति कैसी है? वह कहता है, शरद ऋतु है। हलकी-हलकी ठण्डक आ रही है, सप्ताह में एक-आध बार वर्षा हो जाती

है। किन्तु वर्षाकाल समाप्त हो गया है। आकाश निर्मल होने लगा है। न अधिक गर्मी न अधिक जाड़ा। शरद पूर्णिमा की चांदनी बहुत सुखद लगती है। हम उससे कहते हैं यह तो आपने बाहर की प्रकृति की चर्चा की है। कहो, आपकी प्रकृति कैसी है अर्थात् बताओ मन शांत है या नहीं, बुद्धि निर्मल है या नहीं, अहंभाव कैसा है, क्या बहुत अहंकार में फंसे हो या अहंकार की धूल कुछ छंटी है। इसके उत्तर में भिन्न-भिन्न मित्रों के भिन्न-भिन्न उत्तर होंगे। बाहर भीषण गर्मी होने पर भी सत्संगी सज्जन का मन शांत होगा और बाहर शरद पूर्णिमा की शीतल चांदनी होने पर भी दुष्ट दुर्जन का हृदय द्वेष की अग्नि से जल रहा होगा। इस प्रकार बाह्य प्रकृति और अन्तःस्थ प्रकृति को मिलाकर भगवान् की अष्टधा प्रकृति सृष्टि का संचालन कर रही है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7/4, गीता

प्रकृति का विश्लेषण एक तो पंच महाभूतों के रूप में किया जाता है और दूसरा तीन गुणों के रूप में। गुण सत्त्व, रज और तम पंच महाभूतों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। अतः ये गुण बाह्य प्रकृति के पांच तत्त्वों और अन्तःप्रकृति के अन्तःकरण, दोनों को प्रभावित एवं परिचालित करते हैं। तमोगुण निद्रा, आलस्य, तंद्रा, जड़ता, अज्ञान और प्रमाद का कारण है। इससे पृथ्वी तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। रजोगुण क्रिया, संघर्ष, गति, अशान्ति, प्रगति का कारण है। रजोगुण का थोड़ा अंश तमोगुण में मिलने पर जल तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। आधा तमोगुण और आधा रजोगुण मिलने से वायु तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। रजोगुण की अधिकता से अग्नि तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। सत्त्व गुण आकाश को निर्मित एवं प्रभावित करता है। तमोगुण की अधिकता मानव को आलस्य में डुबो देती है। रजोगुण से बुद्धि (चेतना) प्रभावित होती है। बुद्धि के मेल से मन मननशील बनता है। उपयोगी संकल्प करना शुरू करता है, मन की सृष्टियों से सुन्दर वस्तुओं एवं काव्यों की रचना करने लगता है। बुद्धि रजोगुणी तर्कशक्तियुक्त है, यह तमोगुणोन्मुखी बनकर कई छल प्रपंच रचने लगती है। सत्त्व गुण संघर्ष के बाद विचारों के मंथन के बाद शास्त्रों की ऊहापोह के बाद प्राप्त होने वाली शान्ति है। तमोगुण की शान्ति मरघट की शान्ति है और सत्त्व गुण की शान्ति ब्रह्मज्ञानी-सिद्ध महात्मा पुरुष की शान्ति है (जैसे पागल और सिद्ध पुरुष स्वामी रामतीर्थ।) इन तीनों गुणों की लीला नित्य बाहर और अन्दर सर्वत्र हो रही है। तीनों गुणों की मात्रायें प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती हैं। इन तीनों की मात्रा के भेद से संसार में अरबों लोग भिन्न-भिन्न प्रकृति के बने हुए हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न गुणों का उतार-चढ़ाव होता

रहता है। रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि बन जाता है, कामांध नवयुवक गोस्वामी तुलसीदास बन जाता है। नास्तिक नरेन्द्रनाथ विश्वविजेता स्वामी विवेकानन्द बन जाता है, कर्म से भागने वाला वैरागी-साधु लक्ष्मणदास दुर्धर्षकर्मी बंदा वैरागी बन जाता है। संस्कृत पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ाने वाला साधारण पंडित क्रान्तिकारी सेनापति तात्याटोपे बन जाता है, बिगड़ा हुआ वैश्य-पुत्र गांधी महात्मा बन जाता है।

वास्तव में व्यक्ति में कई गुणों के बीज शुद्धरूप में छिपे रहते हैं। अनुकूल वातावरण या अवसर की चोट पड़ने पर वह गुण जाग उठता है। सारी शिक्षा और साधना इसलिए है कि हमारे भीतर का सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कारबीज अंकुरित होकर खिल सके। स्कूल, कालेज तथा अन्य संस्कारस्थान खेत या फुलवारी के समान है, अध्यापक या गुरु माली के समान है। उचित गुण बीज को उचित जलवायु देकर विकसित करना यही सत्संग एवं शिक्षा का उद्देश्य है।

बाहर की प्रकृति में भी भिन्न-भिन्न देश और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों का उतार-चढ़ाव होता रहता है। एक पिछड़े हुए गांव में तमोगुण का वातावरण अधिक होगा। कोलकाता, मुंबई जैसी नगरी में रजोगुण अधिक होगा। हिमालय के तीर्थों या अरण्याश्रमों में सत्त्वगुण अधिक होता है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में सत्त्व गुण की अधिकता होती है, दिन में कर्मलीला के समय रजोगुण की अधिकता होती है। रात्रिकाल में शयन विश्राम के समय तमोगुण की अधिकता होती है।

व्यवसायकर्मी या युद्धकर्मी लोगों की संगत में रजोगुण की अधिकता होती है। सत्संगी महात्माओं की संगत में सतोगुण की अधिकता होती है, काम प्रधान घटिया उपन्यासों से तमोगुण बढ़ता है। इतिहास की वीर गाथाओं से रजोगुण बढ़ता है। गीता जैसे आध्यात्मिक ग्रंथों से सत्त्वगुण का विकास होता है। शूद्र अधिकांश तमोगुण में डूबे रहते हैं। वैश्य और क्षत्रिय व्यवसायीसंघर्ष और युद्धसंघर्ष के कारण रजोगुण में डूबे रहते हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचिन्तन के द्वारा सत्त्वगुण का सुख लेते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम सत्त्वगुण की साधना है। गृहस्थ आश्रम रजोगुण की साधना है। किन्तु जो गृहस्थी काम और ऐश्वर्य में डूब जाते हैं वे पुनः तमोगुण की ओर गिर जाते हैं। वानप्रस्थ आश्रम रजोगुण की मात्रा कम करके सत्त्वगुण की ओर पुनः लौटने की तैयारी है। संन्यास आश्रम पुनः सत्त्वगुण की लक्ष्य साधना है। इस प्रकार देश-काल, पात्र-परिस्थिति सब में भिन्न-भिन्न गुणों का उत्थान-पतन होता रहता है। इस प्रकार प्रकृति में जो कुछ हो रहा है, गुणों का लीला नृत्य ही हो रहा है। वह व्यक्ति बड़ा भाग्यवान है जिसके जीवन में देश-काल, पात्र-परिस्थिति सभी कुछ उत्तम गुण वाले हों। देश-काल, पात्र-परिस्थिति सब समान हों और तीनों गुण सुन्दर युक्ति से संतुलित हों तो इस गुणसाम्यावस्था को आदर्श माना जाएगा। ऐसा

व्यक्ति गुणों का उपयोग करते हुए भी गुणों के बंधन में नहीं रहेगा। वह गुणों की लीला का साक्षी बन जाएगा। वह निस्त्रैगुण्य या गुणातीत अवस्था को प्राप्त होगा। गुण उसके भीतर खेल करेंगे किन्तु वह गुणों के बंधन में नहीं होगा। जैसे जल में नाव रहे तो सब ठीक है किन्तु नाव में जल हो तो महासंकट है। व्यक्ति में गुण हों और वे यथासमय अपना उचित कार्य करें इसमें कोई क्लेश नहीं है किन्तु व्यक्ति गुणों के चुंगल में हो और गुण उसे रज से तम, तम से रज में निरन्तर नचाते रहे तो बहुत बड़ी चिंता का विषय है। जिस प्रकार फुटबाल की गेंद इधर-उधर की ठोकरें खाने के लिए ही पैदा होती है, उसी प्रकार गुणों की चपेट पाकर जीव जीवनभर भटकता रहता है।

तमोगुण कुम्भकरण के रूप में तो निद्रा-आलस्य एवं अज्ञान का प्रतीक है। रजोगुण रावण के समान है जो निरन्तर उत्पात, संघर्ष, युद्ध, बलात्कार में लगा रहता है। सत्त्व गुण विभीषण के समान है जो रज और तम का मोह होते हुए भी भगवान् के भजन में तल्लीन रहता है। तमोगुण के कुम्भकरण का संहार करो, फिर रजोगुण के रावण का कलेजा चीर डालो, तत्पश्चात् सत्त्वगुण के विभीषण को भगवान् की शरण में अवश्य लाओ अन्यथा वह सत्त्वगुण के अहंकार से पुनः पतन की ओर ले जा सकता है। यदि सत्त्वगुण भगवान् की शरण में न आए तो उसका अहंकार ही साधक को खा जाता है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। 14/5, गीता

'हे महाबाहो! सत्त्व-रज-तम ये प्रकृति से उत्पन्न (तीन) गुण अव्यय देही (अर्थात् जीवात्मा) को देह में बांधते हैं।'

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।। 14/9, गीता

'हे भारत! सत्त्वगुण सुख में आसक्त करता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को आच्छन्न करके प्रमाद में लगाता है।'

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। 14/16, गीता

'पुण्य कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल कहा है, राजस (कर्म) का फल दुःख तथा तामस (कर्म) का फल अज्ञान कहा है।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। 14/18, गीता

सत्त्व गुण में स्थित लोग ऊपर (अर्थात् उच्च लोकों) को जाते हैं, राजसी

लोग बीच में (अर्थात् मनुष्य लोक में ही) रहते हैं, तथा निकृष्ट गुण के आचरणों में स्थित तामसी लोग नीचे (अर्थात् पशु आदि योनियों में) जाते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।। 14/19, गीता

'जब द्रष्टा (इन तीन) गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता तथा (इन तीन) गुणों से परे (परमात्मा) को जानता है, (तब) वह मेरे भाव (अर्थात् स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है।'

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। 14/25, गीता

'जो मान और अपमान में सम है, मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष में सम है, सब प्रकार के आरम्भों (अर्थात् कर्मों) को त्यागनेवाला है वह गुणातीत कहा जाता है।'

जिस प्रकार पुरुष स्वयं निर्लिप्त एवं अकर्ता रहते हुए प्रकृति की लीला का तमाशा देखते हैं, उसी प्रकार गुणातीत व्यक्ति गुणों में गुणों को बर्तते हुए देखता है और स्वयं अकर्ता-द्रष्टा बनकर निर्लिप्त रहता है।

कर्म अकर्म में समता

कर्म से संसार का व्यवहार चलता है। बिना कर्म के संसार में क्षणभर टिकना भी असम्भव हो जाता है। अतः कर्म अनिवार्य है, किन्तु कर्म का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह चार प्रकार से व्यक्ति को बंधन में बांध देता है—

(1) कर्म कर्ता को रंग देता है।

(2) कर्मासक्ति या कर्म का संग करा देता है।

(3) फलासक्ति से बांधता है।

(4) कर्तापन का अहंकार होने लगता है।

(क) कर्म कर्ता को रंग देता है—कर्म करते हुए कर्म का परिणाम तो आगे होता है किन्तु कर्म का छींटा पीछे कर्ता पर पड़ता है। जैसे बंदूक चलाते हुए गोली तो आगे निकलती है पर धक्का पीछे पड़ता है। इस प्रकार कर्म कर्ता को रंगता जाता है। यदि क ने ख की हत्या की तो तात्कालिक आगे का परिणाम ख की मृत्यु एवं तात्कालिक पीछे का परिणाम 'क' का हत्यारा बन जाना है। हत्या कर्म ने ही 'क' को हत्यारा बनाया। चौर्य कर्म किसी को चोर बना देता है। साधु कर्म कर्ता को साधु बना देता है। अन्यथा चोर, डाकू, हत्यारा, किसी के माथे पर लगा हुआ नामपट्ट नहीं है। पर कर्म उसके मन पर जो रंग फेंकता है उसी से वह सज्जन या दुष्ट बन जाता है। कर्म की रंगत ज्यों-ज्यों गहरी होती जाती है त्यों-त्यों आदत

बन जाती है। आदत धीरे-धीरे चरित्र बन जाती है और चरित्र मनुष्य का भाग्य बन जाता है।

Saw a thought, it becomes an act.
Saw an act, it becomes a habit.
Saw a habit, it becomes a character.
Saw a character, it becomes a destiny.

इस प्रकार सद्‌विचार से सत् कर्म, सत् कर्म से अच्छा स्वभाव, अच्छे स्वभाव से अच्छा चरित्र और अच्छे चरित्र से अच्छा भाग्य बनता रहता है। इसी प्रकार बुरे विचारों से बुरे कर्म, बुरे कर्म से बुरी आदत, बुरी आदत से बुरा चरित्र और बुरे चरित्र से बुरा भाग्य बनता रहता है। आदतें जीवनभर तो पीछा नहीं छोड़ती, अपने कर्म के संस्कार से अगले जन्मों में भी स्वभाव या प्रवृत्ति बनकर नचाती रहती हैं।

कुकर्म करके समाज की नजर से या पुलिस के फंदे से भले ही बच जाएं पर कर्म की रंगत, आदत के फंदे से नहीं बच सकते और वह अन्ततः फांसी के फंदे तक ले ही जाती है। Eachman जो हिटलर का साथी था, एक खून करने से भी डरता था, आदत लग जाने से संसार का सबसे बड़ा हत्यारा बन गया।

(ख) कर्म का दूसरा बंधन कर्म का संग है—यदि मनुष्य कर्म करे और अपने कर्म पर स्वयं आसक्त हो जाए तो वह आसक्ति ही बंधन बन जाती है। यह मेरा कार्य है, यह मेरी कृति है, इस कर्म से मेरे परिवार का सम्बन्ध है। यह मैंने बनाया है, रचा है, मेरी देन है आदि सब आसक्ति के बंधन हैं। इससे बुद्धि मोहयुक्त हो जाती है और मनुष्य कुछ नए कर्म करने के बजाय अपने पिछले किए हुए कर्मों की ओर बार-बार झांकता रहता है और उन्हीं का प्रदर्शन करने में सुख मानता रहता है। इसे ही कर्मासक्ति या कर्म का संग कहा जाता है।

(ग) कर्म फल की वांछा के सूक्ष्म तंतु से मन को बांध लेता है। इससे ध्यान कर्म की अपेक्षा फल पर चला जाता है। वर्तमान कर्म भी बिगड़ जाता है और फल को अधिक महत्त्व देने से भावी कर्म में रुचि कम होने लगती है। यदि फल के लिए ही कर्म करना है तो बिना कर्म किए ही फल मिल जाए तो इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है। अतः बिना कर्म का कष्ट उठाए फल पाने की चेष्टा करता है। बिना परिश्रम के पैसा कमाना चाहता है, बिना उचित तपस्या के लाभ लूटना चाहता है, बिना परीक्षा दिए प्रमाण पत्र लेना चाहता है। इस प्रकार फल के लोभी कर्मसाधना त्यागकर फलसाधना के पीछे पड़ जाते हैं। इस प्रकार रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, लोभ, लाभ आदि सामाजिक पाप का धंधा चल पड़ता है। फल का लोभ वर्तमान को निष्क्रिय करता है। भविष्य के लिए सारा ध्यान फल पर केन्द्रित कराता

है। फल की वांछा उसे इस जन्म में भी उतावला-बावला बनाकर नचाती रहती है और वह फल की अधूरी इच्छा लेकर मरता है तो कर्मफल की वांछा उसे अगले जन्मों में भी भटकाती रहती है। इसलिए जो सकामकर्मी है वह कर्म करते हुए कर्म के चक्र में बंधता जाता है और कर्मफल की दलदल में गहरा फंसता जाता है।

(घ) कर्तापन का अहंकार—कर्म का सबसे बड़ा बंधन कर्तापन का अहंकार है। पांचों तत्त्वों में सबसे स्थूल पृथ्वी, उससे सूक्ष्म जल, उससे सूक्ष्म अग्नि, उससे सूक्ष्म वायु, फिर आकाश। आकाश से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म चित्त, चित्त से भी सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार मलिन जीवात्मा का नाम है। जब तक जीव अपने को विश्व से, विश्वरूप से अथवा विश्वम्भर से पृथक् एक इकाई मानता रहता है तब तक वह अपने को कर्ता मानता रहता है। जब तक कर्ता बना रहता है तब तक उसे भोक्ता बनकर अपने कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। यह बहुत बड़ा सूक्ष्म बंधन है जो बड़े-बड़े त्यागियों तक को अपनी लपेट में ले लेता है।

लोग प्राय: संसार के बंधन में बंधे रहते हैं। कुछ भाग्यवान लोकहितार्थ अपने धन, जन, भवन, परिवार का त्याग करते हैं। किन्तु त्याग करने वाले अधिकांश त्यागियों के मन में अपने त्याग करने का अहंकार सूक्ष्म रूप से बना रहता है और अपने त्याग की गाथा सुनाकर अथवा त्याग की चर्चा करके उनके अहंकार की तृप्ति होती है।

कंचन तजना सहज है सहज प्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुष्कर तजना एह।।

सारा घर-बार त्यागकर, संन्यासी बनकर गंगा में स्नान करते हुए एक साधु दूसरे साधु से लंगोटी पर झगड़ा करता है। एक-दूसरे को ईर्ष्या से कहता है तू नहीं जानता मैं लाखों की सम्पत्ति छोड़कर संन्यासी बना हूं, तेरे जैसे लाखों भिखमंगों को मैंने वस्त्र दान में दिए हैं। वास्तव में यह साधु संसार के बहिरंग का त्यागी है किन्तु सारा संसार उसके सूक्ष्म अहंकार से बंधा हुआ उसकी लंगोटी में सिमटकर जंगल में भी पहुंच गया है। जब कर्तापन का अहंकार बड़े-बड़े दानवीरों और त्यागियों को भी आता रहता है तो सामान्य गृहस्थी को यह कैसे छोड़ सकता है? यह विश्व प्रपंच के करुण जंजाल का अन्तिम सूक्ष्मतम बंधन है। कोई अच्छे से अच्छा कर्म करके अपना अहंकार बखानने लगता है तो वह वैसा ही है जैसे उत्तम से उत्तम मोहनभोग (हलवा) बनाकर उसमें मुट्ठी भर रेत डाल दी जाए। यह क्षुद्र अहंकार ही मनुष्य को स्वार्थी, समाजद्वेषी एवं ब्रह्म से वियुक्त करने वाला कारण है। समाज में स्वार्थ के संघर्षों की अपेक्षा अहंकार के संघर्ष अधिक चल रहे हैं। दो कुत्ते हड्डी के लिए लड़ते हैं पर दो नेता अहंकार की लड़ाई, प्रतिष्ठा की लड़ाई, ईर्ष्या की लड़ाई में कुत्तों से ज्यादा भयंकर लम्बी लड़ाई लड़ते हैं।

इस प्रकार कर्ता कर्म की रंगत में रंगता जाता है। उसकी आदत में बंधता जाता है। कर्म की आसक्ति में मोहित होता जाता है। फल की वासना में बावला बना रहता है। अहंकार के स्थूल हो जाने से ईश्वर से बिछुड़कर अन्य कार्यकर्ताओं से संघर्ष करता है। तो ऐसा कर्मी जन्म-जन्मान्तरों में कर्मबंधन में ही बंधा रहता है। कर्मबंधन का चक्र चलता रहता है।

कर्म के इन चार बंधनों से मुक्त होना जीवन की सबसे बड़ी कला है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।। 2/50, गीता

भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग कर्मों की ऐसी कुशलता है जिसमें कर्म तो अच्छे से अच्छे, भरपूर शक्तिसम्पन्न और परम कल्याणकारी हों किन्तु कर्मबंधन की एक रज भी हमें बांध न सके।

कर्मयोग कर्म की वह कला है जिससे कर्म भी न छूटे और कर्मबंधन से भी बचे रहें। सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। संसार में रहें पर संसार हमारे अन्दर न प्रवेश करे।

कर्मयोग में फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति को शिथिलकर अति उत्साहपूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म किया जाता है। फलतः कर्मबंधन का हेतु न बनकर मुक्ति का द्वार बन जाता है।

इसकी तीन सीढ़ियां हैं—

(1) सकाम सत्कर्म—अच्छे पुण्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रविहित सत्कर्म करना। पर इसमें फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति बनी रहने से जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहता है।

(ख) निष्काम कर्मयोग—सत्कर्म करते हुए फल की वांछा का त्याग करना। यह सकाम सत्कर्म की अपेक्षा ऊंची सीढ़ी है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47, गीता

इसमें युक्ति यह है कि कर्म निष्फल तो न हो पर निष्काम अवश्य हो। यदि कर्म निष्फल होगा तो सारा प्रयत्न व्यर्थ चला जाएगा। अतः कर्म का फल तो अवश्य निकलना चाहिए। समाज के लिए कल्याणकारी अवश्य होना चाहिए चाहे हमें उस कर्म की रत्ती भर भी इच्छा न हो। उदाहरण—पानी को बिलोना निष्फल है। यह सारे परिश्रम को बेकार नष्ट करना है। यदि पानी बिलोने वाला यों कहे कि मेरे परिश्रम का कोई फल नहीं तो कोई चिन्ता नहीं। क्योंकि भगवान्

ने कहा है कि फल की फिक्र न करें तो उसके कथन को पागलपन कहा जाएगा। जो परिश्रम न करे वह आलसी। जो परिश्रम को वृथा करे वह मूर्ख। जो परिश्रम का दाम पहले चुकाये वह दलाल, जो परिश्रम के बाद पारिश्रमिक मांगे वह व्यवसायी और जो परिश्रम करके फल भगवान् के चरणों पर समर्पित कर दे वह निष्काम कर्मयोगी है।

कर्म संन्यास—निष्काम कर्मयोग द्वारा कर्मों के फूल और कर्मफल का नैवेद्य भगवान् के चरणों पर चढ़ाते-चढ़ाते धीरे-धीरे चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्तापन के अहंकार की मैल धुल जाती है और व्यक्ति को यह अनुभूति होने लगती है कि मैं कर्मों का कर्ता हूं ही नहीं। प्रभु के दिए तन से, प्रभु के दिए धन से, प्रभु की दी हुई ज्ञानेंद्रियों से, प्रभु की दी हुई कर्मेन्द्रियों से, प्रभु की दी हुई बुद्धि से, प्रभु के दिए हुए चित्त से, प्रभु के दिए हुए मैं (अहम्) के भाव से, प्रभु के रचे हुए जगत् में, प्रभु के रचे हुए जीवों के प्रति प्रभु की प्रेरणानुसार, प्रभु के दिए हुए साधनों से जो कर्म हो रहा है वह समस्त कर्म प्रभु का ही है। उसमें मेरा क्या? प्रभु ही प्रभु का कार्य कर रहे हैं। अतः मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। तत्त्वतः प्रभु अकर्ता ही हैं। उन्हें सर्वकर्ता कहें अथवा अकर्ता कहें बात एक ही है क्योंकि वे समस्त कर्मों के स्वामी होकर भी कर्मों से अलिप्त हैं। जो कर्ता बनेगा उसे भोक्ता भी बनना पड़ेगा। तत्त्वतः प्रभु न कर्ता हैं न भोक्ता हैं, उनकी आज्ञानुसार प्रकृति ही सब कर्मलीला कर रही है। इसे देखकर वे आनन्दित हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मसंन्यास में कर्तापन का अहंकार भी गल जाता है। तब व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है। यह कर्म-अकर्म की समता है।

कर्म की बहिरंग चेष्टा + कर्तापन का अहंकार = कर्म का स्थूल बंधन।

कर्म की बहिरंग चेष्टा = कर्तापन का अभाव।

कर्म में अकर्म दर्शन—विवेकानन्द (कर्मयोगी का)।

कर्म की बहिरंग चेष्टा का लोप + कर्तापन का सूक्ष्म आरोपण।

अहंकार = अकर्म में कर्म दर्शन—रामकृष्ण देव (संन्यासी का)।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। 4/18, गीता

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 5/7, गीता

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।। 5/8, गीता

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। 5/9, गीता

स्वामी रामतीर्थ—

तमाशा देखने वाला तमाशा खुद न बन जाना।
तमाशाई बने रहना, तमाशा ही देखते रहना।

संसार के दृश्य को देखने के लिए हम निर्लिप्त द्रष्टा बने रहें स्वयं दृश्य न बन जाएं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। 5/14, गीता

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। 18/14, गीता

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। 18/15, गीता

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। 18/16, गीता

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। 18/17, गीता

सांख्य और योग में समता

गीता में सांख्य का अर्थ ज्ञानयोग है और योग का अर्थ कर्मयोग है। प्राचीन काल से भारत में दो प्रकार की निष्ठा चली आ रही है। सांख्य निष्ठा और कर्मनिष्ठा। इन्हें ज्ञानयोग और कर्मयोग, निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग कहा जाता है।

ज्ञानमार्गी संसार से निवृत्त होकर सब कर्म-कर्तव्यों को त्यागकर शुद्ध ब्रह्म-चिन्तन करते रहते थे। प्रवृत्तिमार्गी संसार में प्रवेश होकर कर्तव्य कर्म करते हुए धर्म कमाते हुए पुण्य संचय करते हुए ईश्वर प्राप्ति की साधना करते थे। इसे कर्ममार्ग या योगमार्ग भी कहा जाता था क्योंकि संसार में रहते हुए संसार से सम्बन्ध न तोड़ते हुए वे ऐसा योग (युक्ति) लगाते थे जिससे संसार में रहते हुए धर्म साधना चलती रहे। उनकी पहुंच अधिकांश धर्म साधना तक थी। वे धर्म कर्म को ही अधिक महत्त्व देते थे और मोक्ष साधना के लिए अधिक आग्रह नहीं रखते थे। उनमें से कुछ धर्म को ही मोक्ष मानते थे और कुछ धर्म को मोक्ष साधना के लिए आवश्यक सीढ़ी मानते थे।

सनक, सनंदन, सनत्कुमार आदि सांख्यमार्गी निवृत्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी थे। वे संसार में प्रविष्ट हुए ही नहीं। वामदेव, शुकदेव, शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर

आदि भी निवृत्तिमार्गी थे। अष्टावक्र जन्म से ही निवृत्तिमार्गी थे। याज्ञवल्क्य पहले गृहस्थाश्रमी बाद में निवृत्तिमार्गी बने। वसिष्ठ, विश्वामित्र, प्रवृत्तिमार्गी थे। वेदव्यास पहले गृहस्थाश्रमी थे किन्तु उनके पुत्र शुकदेव जन्म से ही निवृत्तिमार्गी बने। बाद में वेदव्यासजी भी निवृत्तिमार्गी बने। प्राचीन भारतीय ऋषि कुछ गृहस्थाश्रमी थे तथा कुछ विरक्त संन्यासी, निवृत्तिमार्गी। ऋषियों का पितृकुल उनकी संतानों से चलता था। किन्तु गुरुओं का गुरुकुल शिष्य परम्परा से चलता था। प्रवृत्तिमार्ग के कर्मकाण्ड एवं यज्ञविधान की चर्चा एवं दार्शनिक विवेचन पूर्वमीमांसा दर्शन में की गई है। सांख्ययोग के ज्ञानमार्ग की विवेचना उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त में की गई है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों को अलग एवं विपरीत मार्ग माना जा रहा था।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3/3, गीता

'हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले ही कही गई है। ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों (अर्थात् ज्ञानयोगियों) की और कर्मयोग के द्वारा (कर्म) योगियों की (निष्ठा कही गई है)।'

गीता ने सांख्य एवं योग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, ज्ञान एवं कर्म दो पृथक् एवं विपरीत प्रतीत होने वाले मार्गों का बड़ा सुन्दर समन्वय कर दिया है। भगवान् कहते हैं कि सांख्य और योग यह दो पृथक् मार्ग केवल बालबुद्धि वालों के लिए पृथक्-पृथक् है। सच्चा पंडित अथवा ज्ञानी पुरुष इन दोनों को अलग-अलग मानता ही नहीं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। 5/4, गीता

'बालक (अर्थात् अज्ञानी लोग ही) सांख्य (अर्थात् कर्मसंन्यास) और योग (अर्थात् कर्मयोग) को भिन्न (अर्थात् अलग-अलग फलवाले) कहते हैं, पण्डितगण (ऐसा) नहीं (कहते); (क्योंकि इनमें से) एक में भी उत्तम रूप से स्थित पुरुष दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।'

भगवान् पुनः कहते हैं कि जो परमपद ज्ञानयोग द्वारा प्राप्त होता है, वही परमपद कर्मयोग द्वारा भी प्राप्त होता है। अतः सच्चा ज्ञानी सांख्य और योग दोनों को सम अर्थात् समान देखता है। बिना ज्ञान के कर्म अंधा होगा और बिना कर्म के ज्ञान पंगु होगा। अतः ज्ञान के प्रकाश में कर्म ठीक दिशा में होना चाहिए और ज्ञान मात्र शास्त्रीय सिद्धान्त चर्चा (Theory) मात्र न रहकर क्रियात्मक रूप में वास्तविक जीवन में प्रतिफलित होना चाहिए।

बिना ज्ञान के कर्म में कठिनाइयां

(1) क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य है, इसकी जानकारी बिना ज्ञान के असम्भव है।

(2) शुभ कर्म एवं अशुभ कर्म का विवेक ज्ञान से ही हो सकता है।

(3) किस कर्म का कैसा परिणाम होता है यह जानकारी हुए बिना कर्म करना अत्यन्त कठिन होता है।

(4) कर्म द्वारा किस लक्ष्य पर पहुंचना है यह भी ज्ञान से ही सम्भव है। बिना लक्ष्य का ज्ञान हुए मन्दिर के स्थान पर श्मशान में जा पहुंचेंगे। मूर्ख व्यक्ति अपनी कर्मशक्ति को व्यर्थ में नष्ट करता रहता है क्योंकि उसे उचित ज्ञान नहीं। पागल व्यक्ति उलटा एवं आत्मनाशी कर्म कर बैठता है क्योंकि उसका ज्ञान विकृत है। अर्ध-निद्रा में व्यक्ति ऊटपटांग कर्म कर बैठता है क्योंकि उसका ज्ञान भ्रान्त है।

(5) बिना ज्ञान के न कर्म का स्वरूप समझ में आएगा न वास्तविक कर्ता का पता चलेगा। न कर्म के बंधनों का ज्ञान होगा न कर्म की फांसी से बचने का उपाय सूझेगा।

(6) व्यक्ति को जब ज्ञान होगा कि कर्मफल कभी नष्ट नहीं होता और फल की कामनाएं त्यागने से फल अनन्त गुणा होकर मिलता है जिस प्रकार बीज को धरती में छोड़ देने पर वह अनन्त गुणा होकर मिलता है, तभी वह कर्मफल को त्यागने का विचार कर सकता है।

(7) जब व्यक्ति को ज्ञान होगा कि समस्त कर्मों का फल भगवान् के चरणों में त्यागने से कर्मचक्र से मुक्ति हो जाएगी तथा बदले में भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी, तभी वह प्रसन्नतापूर्वक कर्मफल का त्याग कर सकता है।

(8) कर्मयोगी को जब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि वह वास्तव में कर्ता नहीं है और या तो प्रभु ही सर्वकर्ता है या उनकी इच्छानुसार गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और कर्तापन का अभिमान व्यर्थ है, तब तक वह कर्तापन का अभिमान त्यागकर आदर्श निष्काम कर्मयोगी कैसे बन सकता है? अत: बिना ज्ञान के कर्म अंधा ही रहता है।

इसी प्रकार बिना कर्म के ज्ञान थोथा एवं वाणी का विलास मात्र रह जाता है।

(1) प्रत्येक ज्ञान एक सैद्धान्तिक कथन है जिसकी सत्यता को परखने के लिए उसको कृति में उतार कर जांचना आवश्यक है। यही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। Theory must be tested in practical.

(2) प्रत्येक सिद्धान्त व्यापक लोककल्याण, विश्वमंगल, बहुजनहिताय अथवा सर्वजनहिताय बनाया जाता है। Every rule is made for some or all

round public good. यदि किसी नियम अथवा सिद्धान्त से कोई लोकमंगल न होकर लोक का व्यापक अहित होने वाला हो तो उस सिद्धान्त को कोई भी मान्य नहीं करेगा। उदाहरणार्थ—यदि कोई राजा यह नियम बनाए कि प्रत्येक माता अपने शिशु को जन्मते ही उसे सरकारी माल गोदाम में जमा कर देगी और जीवनभर उसकी शक्ल नहीं देखेगी तो यह नियम लोक व्यवहार के विरुद्ध होने के कारण एक क्षण भी नहीं चलेगा। अत: नियमों या सिद्धान्तों से क्या लोकमंगल होने वाला है यह सिद्धान्त को क्रिया में ढालने पर ही पता लगेगा। अत: ज्ञान के सिद्धान्त कितने सत्य और उपयोगी हैं यह ज्ञान को कर्म में उतारने पर ही पता चलेगा।

किसी भी औषधि की उपयोगिता, औषधि की बोतल, उसके लेबल अथवा डॉक्टर की पर्ची या डॉक्टर की योग्यता से आंकी नहीं जा सकती। उसे तो औषधि के प्रयोग से ही आंका जा सकता है। इसी प्रकार से ऊंचे से ऊंचे ज्ञान सिद्धान्त का वास्तविक मूल्य न उसकी शब्दावली, न काव्य, न श्लोक, न ग्रंथ, न लेखक की विद्वत्ता, न तर्कशक्ति, न बौद्धिक ऊहापोह से आंका जा सकता है। उसका वास्तविक मूल्यांकन तो तब होता है जब उस सिद्धान्त को जीवन में उतारने से अधिक से अधिक लोगों का व्यापक हित अथवा अहित होता है। इसलिए बिना क्रियात्मक प्रयोग के सारा ज्ञान थोथा, वाणी विलास या बुद्धि विलास मात्र है।

(3) जो ज्ञानी यह ज्ञान उपदेश करता है कि सब जीवों में एक ही ब्रह्म का प्रकाश है और वास्तविक जीवन में वह अन्य जीवों की हिंसा, हत्या, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं ठगी करने में आनन्द लेता है तो उसका ज्ञान मात्र पाखण्ड रह जाता है, क्योंकि उसकी कृति उसके वास्तविक मन और बुद्धि को नग्न रूप में प्रकट कर देती है। यदि ज्ञानी का ज्ञान स्वयं उसकी बुद्धि को लोकमंगल में प्रेरित नहीं कर सकता तो वह अन्य जीवों की बुद्धि को विश्व कल्याण में कैसे प्रेरित करेगा?

(4) सज्जन और दुर्जन की पहचान यही है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।।

(5) भगवान् गीता में ही बताते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है अन्य लोग उसको देखकर वैसा-वैसा आचरण करने लगते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। 3/21, गीता

श्रेष्ठ (पुरुष) जो-जो आचरण करता है अन्य मनुष्य भी वैसा ही (आचरण) करते हैं। वह जिसे (श्रेष्ठ कहकर) प्रमाणित कर देता है, लोक उसी के अनुसार बरतने लगते हैं।

अतः शिक्षा का सर्वोत्तम मार्ग है गुरुजनों द्वारा अपने ही ज्ञान के अनुरूप आचरण करना। संसार वाणी की अपेक्षा कृति से अधिक सीखता है। मण भर के उपदेश के स्थान पर कण भर का आचरण अधिक प्रभावकारी होता है। लोग मोटे-मोटे पोथों से उतना नहीं सीखते जितना सिखाने वाले गुरु की जीवन की खुली पुस्तक से प्रेरणा मिलती है।

(6) प्राचीन काल में गुरुकुल में शिक्षा देने वाले आचार्य कहलाते थे—

आचरणेन शिक्षति इति आचार्यः।

जो आचरण से शिक्षा देवे वे आचार्य हैं। आजकल आचार्य के स्थान पर व्याख्याता (Lecturer) हो गए हैं—

व्याख्यानेन शिक्षति इति व्याख्याता।

इसलिए ज्ञान और कर्म के बीच की खाई बढ़ती जाती है और समाज संस्कारित होने के स्थान पर कुसंस्कारी होता जाता है।

पर उपदेश कुशल बहुतेरे जे आचरहिं ते नर न घनेरे।। (मानस)

आज दूसरों को उपदेश करने वालों की भरमार हो गई है। अपने ही कहे हुए, उपदेश दिए हुए ज्ञान के विपरीत कर्म करने वाले ढोंगियों को भगवान् ने गीता में मिथ्याचारी कहा है। अतः जो ज्ञान कर्म में प्रतिफलित नहीं होता वह सारा ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान बन जाता है और उसके उपदेशक मिथ्याचारी कहलाते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 3/6, गीता

अतः यदि ज्ञान को मिथ्या न बनाना हो तो उसका कर्म में प्रतिफलन उतना ही आवश्यक है जितना प्राणी का श्वास लेना।

(8) जो ज्ञान होते हुए भी आचरण ज्ञान के अनुकूल नहीं करते वे ज्ञानबंधु कहलाते हैं। और जो धर्म के शाब्दिक ज्ञान के रहने पर भी अधर्म का आचरण करते हैं वे ज्ञानपापी कहलाते हैं। गीता में ऐसे व्यक्तियों को दण्डनीय कहा गया है। भगवान् कृष्ण ने भीष्म और द्रोण का इसलिए वध करवाया क्योंकि वे ज्ञानी होते हुए भी पाप के पक्ष में थे।

गीता की पुष्पिका में कहा गया है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।2।।

इसमें सबसे प्रथम गीता को एक उपनिषद् कहा गया है। किन्तु गीता की यह विलक्षण महिमा है कि यह अन्य उपनिषदों से भिन्न एक विशेष प्रकार का

अद्वितीय उपनिषद् है। जहां अन्य उपनिषद् प्रकृति के शांत वातावरण में, अरण्य आश्रमों या सुन्दर पर्वतों पर गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में गाए गए, वहां गीतारूपी उपनिषद् ने उन्हीं उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान को जीवन की सबसे कठोर परिस्थिति (एक भीषण रणभूमि में, विश्व के महान् संग्राम में) गाकर उस ब्रह्मज्ञान को जीवन में उतारकर ज्ञान का कर्म में प्रतिफलन कर दिखाया गया है।

गीता की पुष्पिका में गीता को ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कहा गया है। ब्रह्मज्ञान सिद्धान्त है, तत्त्वज्ञान है और योगशास्त्र कर्मयोग मार्ग है, क्रियात्मक प्रयोग है। ब्रह्मज्ञान Theory और कर्मयोग Practical है। गीता की यही विलक्षण विशेषता है।

भगवान् गीता में ही अर्जुन को उपदेश देते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। 8/7, गीता

'हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर।' यही ब्रह्म चिन्तन और सांसारिक कर्तव्य का समन्वय है। यही ज्ञान और कर्म का समन्वय है, यही सांख्य और योग का समत्व है।

कर्मयोग की साधना द्वारा साधक का चित्त शुद्ध होगा। धीरे-धीरे उसका अहंकार गल जाएगा। उसके चित्त में मिथ्याहंकार या कर्तृत्वाभिमान दूर हो जाएगा। चित्त के निर्मल होते ही उसमें ब्रह्मज्ञान का प्रकाश हो जाएगा। ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी वह ज्ञानी कर्म करता रहे, क्योंकि उसके जीवित आदर्श से अनेक लोगों को सुन्दर प्रेरणा मिलेगी।

साधनावस्था में निष्काम कर्मयोग की साधना करके अपना विकास करे।

सिद्धावस्था में लोक संग्रह के लिए कर्म करता रहे। कर्म न अज्ञानी को छोड़ना चाहिए न ज्ञानी को, न साधक को छोड़ना चाहिए, न सिद्ध को। साधक को कर्मफल छोड़ना चाहिए, सिद्ध को कर्मसंन्यास के रूप में कर्तापन का अहंकार छोड़कर लोक संग्रहार्थ कर्म करते जाना चाहिए। ज्ञान और कर्म का यह समत्व परम मूल्यवान है।

अर्जुन की मूल मानसिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए प्रारम्भ में ही कहा गया है कि वह भय और शोक से ग्रस्त हो रहा है। भय और शोक दोनों के संयुक्त लक्षण देखकर उसके कारणों की खोज करना आवश्यक है। रोग का निदान हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति को कष्ट क्या है? उसके कारणों का निदान हो जाने पर यह पता चल जाता है कि यह मनोरोग किस कारण से हुआ है। कारण स्पष्ट हो जाने पर कारण का निवारण किया जा सकता है और रोगयुक्त

को रोगमुक्त किया जा सकता है। निदान के बाद ही समाधान सम्भव है। इसलिए अर्जुन की मन:स्थिति का विश्लेषण और उसके कारणों की खोज विस्तार से की जा रही है ताकि उचित उपचार करके अर्जुन को एक आदर्श कर्मयोगी, स्थितप्रज्ञ, धर्मपालक, ब्रह्मनिष्ठ, अपराजेय योद्धा एवं एक महान् इतिहास निर्माता के रूप में जीवन के रंगमंच पर खड़ा किया जा सके।

भय का कारण

भय और शोक दोनों मिश्रित होकर जब मानव मन पर आक्रमण करते हैं तो दशा अर्जुन जैसी विचित्र बन जाती है। उसे भय इस बात का है कि कहीं हम ही न मारे जाएं और शोक इस बात का है कि हमारे स्वजन न मारे जाएं। भय इस बात का है कहीं हम न हार जाएं और शोक इस कल्पना से है कि यदि जीत भी जाएंगे तो अपने स्वजनों के रुधिर से रंजित भूमि पर राज्य करके क्या करेंगे? वह भय से रोने लगता है और शोक में गांडीव फेंककर कांपने लगता है। भय मनुष्य को पीठ देकर भागने को प्रेरित करता है और शोक में तमोगुण से अभिभूत होकर जड़ीभूत-सा बनकर निष्क्रिय-सा पड़ा अपने मन से मन को खाता रहता है। रजोगुण की सीधी वृत्ति से मनुष्य वीरतापूर्वक संघर्ष के लिए आगे बढ़ता है। रजोगुण की उलटी वृत्ति से वह भयभीत होकर पीछे भागना चाहता है। तमोगुण का अज्ञानी आलसी वृत्ति से जड़ निष्चेष्ट निष्क्रिय पड़ा रहता है। इस स्थिति में अज्ञान और जड़ता तो रहती है किन्तु चिन्ता विशेष रहती है। दृष्टान्त—नशे में चूर-धुत्त या पागल व्यक्ति निष्क्रिय पड़ा रहता है। तमोगुण की उलटी वृत्ति से मनुष्य चिन्ता व शोक में डूब जाता है। वह मूर्ख के समान जड़ निष्क्रिय तो होता है किन्तु वह मूर्ख के समान निश्चिंत नहीं रहता। वह वृथा चिन्ता करके अपने मन की आरी के दांतों से अपने हृदय की शान्ति को काटता रहता है। वह मानसिक आत्महत्या करता रहता है। भय तथा शोक के विचित्र सम्मिश्रण को व्यामोह कहा जा सकता है। गीता में अर्जुन के भय के कारणों की मीमांसा करके उसके भय का सबसे बड़ा कारण कर्तव्यच्युति को माना है। इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्य, स्वधर्म, स्वधर्म पालन, कर्मयोग की चर्चा की गई है। स्वधर्म पालन के लिए (कर्मयोग के लिए) जो समत्व परम अनिवार्य है उसकी विस्तार से चर्चा की गई है।

भय का दूसरा प्रमुख कारण है अज्ञान। जब हमें वस्तुओं और व्यक्तियों के मूलस्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब हमें उनसे भय, उनके कारण भय, उनके नाश की कल्पना से भय, उनकी कल्पित व्याधि से भय, उनके द्वारा होने वाली कल्पित हानि अथवा नाश का भय बड़े विचित्र रूप में सताता रहता है।

(क) प्रत्येक शरीर जो जन्मा है उसे एक न एक दिन जाना ही है। संसार में आने वाला अपने साथ वापसी यात्रा का रिटर्न टिकट लेकर आया है। इस तथ्य को

भूलने से ही हम अपने शरीर के जाने या अन्य शरीरों के जाने के बारे में भयभीत रहते हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। 2/27, गीता

'जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुनर्जन्म निश्चित है। इसलिए ऐसे अनिवार्य विषय में तुझे शोक नहीं करना चाहिए।'

जब प्रत्येक जन्मने वाले का मरना अनिवार्य है। प्रत्येक आने वाले का जाना अनिवार्य है। संसार में स्थायी निवास के लिए कोई आया ही नहीं तब जाने के प्रसंग और जाने की कल्पना से भय कैसा?

(ख) जीवों को सताने वाला सबसे बड़ा भय मृत्यु का है। मृत्यु वास्तव में जीव की वापसी यात्रा है। किन्तु अज्ञानवश मनुष्य नश्वर शरीर को सत् मान बैठता है और उसके नाश के क्षण पर अथवा उसके पहले ही उसकी कल्पना से निरन्तर भयभीत रहता है। अज्ञानी और कायर मृत्यु से पहले अनेक बार मरते रहते हैं क्योंकि मृत्यु की सम्भावना का भय उन्हें निरन्तर सताता रहता है। वीर पुरुष मृत्यु से दो-दो हाथ करने को तैयार रहता है, अतः मृत्यु से डरता नहीं। भगवान् अर्जुन को वीरत्व का मंत्र देते हुए कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। 2/37, गीता

'युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है, क्योंकि या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। इससे हे अर्जुन! युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो जा।'

जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि—शरीर के चारों विकारों से मानव को भय अथवा दु:ख इसलिए होता है क्योंकि उसे देहाध्यास हो गया है। भूल से, अज्ञान से, भ्रान्ति से, मोह से, छल से, धोखे से, जादूगरी से, माया से, अपने देह (शरीर) को ही मैं (आत्मा) समझ लेना देहाध्यास है। प्रत्येक वस्तु का कोई सारतत्त्व है और कोई उसका बहिरंग कलेवर है। सारवस्तु को भूलकर बहिरंग कलेवर को महत्त्व देना अज्ञानजनित मूर्खता है—

	अंतरंग	**बहिरंग**
1.	आत्मतत्त्व	देह, इन्द्रिय
2.	सारवस्तु	कलेवर (शरीर)
3.	नाम-रूप से परे	नाम-रूपात्मक

4.	देश-काल से परे	देशकालावच्छिन्न
	(क) देश (Space) हमें सीमित नहीं कर सकता	देशकालावच्छिन्न
	(ख) काल खा नहीं सकता	काल खा जाता है
5.	अपरिवर्तनीय	परिवर्तनशील
6.	अविकारी	विकारी
	जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से परे	जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से युक्त
7.	मुक्त	बंधन में (पुनर्जन्म) कर्मचक्र, कालचक्र
8.	निजानंद स्वरूप, उपमा-जल तत्त्व	दु:खालयम् अशाश्वतम् बिन्दु, लहर, तरंग, वाष्प....

अज्ञानी समुद्र में करोड़ों बुलबुलों के बनने और मिटने की लीला से प्रभावित होता है। किन्तु ज्ञानी सबके पीछे अविकारी जल तत्त्व को देखता है। इसलिए न बुलबुलों के बनने से हर्षित होता है और न मिटने से दु:खी। ज्ञानी की दृष्टि अमर वस्तु पर होने के कारण वह मृत्यु को मात्र प्रकृति नटी की वेश बदलने की क्रिया मात्र मानता है।

हमने देखा कि भय का सबसे प्रमुख एवं प्रथम कारण कर्तव्यच्युति है। हमने यह भी चर्चा की कि कर्तव्य एवं अकर्तव्य के बीच में सुस्पष्ट निर्णय न कर सके तो भी एक और धर्म संकट पैदा हो जाता है। कर्म संकट का रूप है क्या करूं क्या न करूं। और धर्म संकट का रूप है कौन-सा कर्म उचित, शास्त्रविहित एवं धर्मानुकूल होगा। दोनों ओर मन लगभग समान रूप से खींचा जाने के कारण यह निर्णय नहीं कर पाता कि वह क्या करे और क्या न करे। इसका मनोवैज्ञानिक रूप कर्म संकट है और नैतिक रूप धर्म संकट है।

शुद्ध मनोवैज्ञानिक रूप में कर्म संकट तब सामने आता है जब दो कर्मों में कौन-सा कर्म करे और कौन-सा त्यागे इसका निर्णय करने में असमर्थ होता है। इसमें नैतिक या धार्मिक बाधा प्राय: नहीं होती। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति आग से बचने के लिए आगे कूदना चाहता है किन्तु सामने कुआं देखकर झिझक जाता है। एक व्यक्ति शेर, बकरी और घास का ढेर लेकर नदी पार करना चाहता है किन्तु नौका में एक बार में एक वस्तु ले जा सकता है। यदि पहले घास ले जाएगा तो शेर बकरी को खा जाएगा, यदि शेर को ले जाए तो बकरी घास खा जाएगी। यदि बकरी को पहले पार पहुंचा आए और दूसरे फेरे में घास पहुंचाए तो घास का संकट और शेर पहुंचाए तो बकरी का संकट। इस मनोवैज्ञानिक पहेली में कोई धर्म या नैतिकता का प्रश्न नहीं है।

मन की झिझक, मन का अनिर्णय, निर्णय में देरी, निर्णय-अनिर्णय के झूले में झूलते रहना, संकल्प-विकल्प का दो तरफा खिंचाव और दो तरफा ठोकर, मन की सुस्ती के कारण निर्णय में ढील-ढाल, अनुभव की कमी से नई परिस्थिति में घबराहट, संकल्प की दुर्बलता से मानसिक परेशानी, बुद्धि की दुर्बलता के कारण समाधान का अभाव, दूरदृष्टि के अभाव में तात्कालिक गलत निर्णय, जल्दबाजी या उतावलेपन में आधा पग बढ़ाकर पश्चात्ताप, मूर्खता के कारण सुस्पष्ट मार्ग न सूझना, नशे में अनिर्णय की स्थिति या मानसिक विकार अथवा मानसिक रोग के कारण कर्तव्यमार्ग न सूझना—ये सब कर्म संकट के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इनमें नैतिक या धार्मिक दृष्टिकोण का प्रायः अभाव ही है।

अर्जुन का संकट कर्म संकट न होकर धर्म संकट ही था। कर्म में जब नैतिक दृष्टिकोण का समावेश होता है तब कर्म कर्तव्य या अकर्तव्य बन जाता है। इसी कर्तव्य को ही गीता में धर्म या स्वधर्म शब्द से वर्णित किया गया है। वैसे तो धर्म शब्द बड़ा व्यापक है, किन्तु उसका सबसे सरल और प्रारम्भिक अर्थ कर्तव्य ही है। इसलिए कर्तव्य संकट ही धर्म संकट कहलाता है।

अर्जुन न शरीर से रोगी था, न मन का रोगी, न आलसी, न नशे में था, न मूर्ख न बुद्धिहीन और न ही कायर था। अतः उसका संकट नीति-अनीति के दृष्टिकोण से कर्तव्य-अकर्तव्य के बीच में निर्णय का संकट था अतः धर्म संकट ही था।

अर्जुन को एक ओर अन्तरात्मा कहती है आततायी दुष्टों को दण्ड दो। दूसरी ओर सामाजिक मर्यादा का भाव कहता है भीष्म, द्रोण जैसे पूज्य गुरुजनों पर स्वयं प्रहार करना घोर पाप होगा। जातिगत स्नेह भाव कहता है कि अपने हाथों किसी भी उद्देश्य के लिए क्यों न हो अपने ही स्वजनों को अपनी ही जाति का नाश करना महापातक होगा। व्यक्तिगत मोहभाव कहता है चाहे कौरव पापी ही है किन्तु हैं तो अपने ही घर के। अपने बंधु अनेक भूलें करने पर भी क्षमा कर दिए जाते हैं। न उन्हें घर से निकाला जाता है और न प्राणदण्ड दिया जाता है। अतः भाइयों की मूर्खता का प्रतिकार उनकी हत्या जैसे महामूर्खतापूर्ण कर्म से नहीं करना चाहिए। अर्जुन के मन में एक ओर शुद्ध नैतिक कर्तव्य की पुकार है और उसके मुकाबले में सामाजिक मर्यादा का भाव, जाति-रक्षा का भाव तथा पारिवारिक मोह ममता का भाव—तीनों संघर्ष कर रहे हैं। इसके साथ एक अदृश्य रूप में यह भय का भाव भी मिला हुआ है कि भीष्म जैसे इच्छामृत्यु-प्राप्त अजेय योद्धा तथा द्रोणाचार्य जैसे एक चिरंजीवी पुत्र के पिता जो युद्ध भूमि में अजेय होने का वर प्राप्त कर चुके थे उन्हें पराजित करना तो असम्भव ही है। अतः इस महायुद्ध में विजय भी संदिग्ध ही है। इसलिए अर्जुन कहता है न जाने हम जीतेंगे या वे जीतेंगे। वह पुनः कहता

है इनको मारने के बजाय मेरे लिए उनके हाथों मरना ही श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार अर्जुन भय और शोक के मिश्रितभाव में हथियार डाल देता है।

शोक और मोह

शोक मन की वह विकृत मनोदशा है जो प्रिय वस्तु या व्यक्ति के छिन जाने या वियोग हो जाने के कारण होती है। मन के अनुकूल देश-काल, पात्र-परिस्थिति प्राप्त होने पर हर्ष होता है और प्रतिकूल अनुभूति में विषाद, दुःख या शोक होता है। शोक का सबसे बड़ा कारण मोह है।

मोह शब्द संस्कृत की 'मुह्य' धातु से बना है जिसका अर्थ है मोहित करना, मुग्ध करना, बेहोश करना, जादू करना, इन्द्रजाल करना, मूर्च्छित करना, बुद्धि को अर्ध-सुषुप्तावस्था में डाल देना, Hypnotism करना, चेतन मन को सुलाना Mesmerize करना (दूसरों के मन को अपने नियंत्रण में करके इच्छानुसार नाच नचाना)। विवेकशक्ति को धूमिल कर मनचाही बात मनवा लेना।

अतः मोह ऊपर लिखे सभी परिणाम पैदा करता है। मोह में बुद्धि कुण्ठित होकर कुछ विपरीत भावना अथवा असत्य वस्तु को सत्य मानकर ऐसा पकड़ बैठती है, उसी के आकर्षण में अंधी हो जाती है तथा उसके लिए सब कुछ त्यागने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। दूसरे शब्दों में मोह ऐसी विचित्र माया है जो अपना अलग कल्पित संसार रचकर अपने इन्द्रजाल में जीव को फंसाकर उससे मनमाने नाच नचाकर, उसे हंसाकर, रुलाकर अन्त में शोकसागर में धकेल कर छोड़ देती है।

ईश्वर की सर्जक शक्ति का नाम माया है। इसके द्वारा ईश्वर अपने संकल्प के बल से ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** भाव की पूर्ति के लिए एक से ही इतनी विराट् सृष्टि पैदा कर देते हैं। ये प्रभु की बहुत बड़ी जादूगरी है कि वे बिना माल मसाले के अपने संकल्प के भीतर से इतनी विराट् और अद्भुत सृष्टि कैसे पैदा कर देते हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 7/14, गीता

'हे अर्जुन! मेरी यह देवी गुणमयी माया अगम्य है, इसका पार पाना कठिन है, किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं वे माया के पार हो जाते हैं।' ईश्वरीय माया जीवों को तो मोहित करती है किन्तु स्वयं अपने स्रष्टा ईश्वर को तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकती। उसी प्रकार जैसे जादू देखने वालों को मुग्ध करता है किन्तु स्वयं जादूगर को मुग्ध नहीं कर सकता। श्रीरामकृष्ण परमहंस दृष्टान्त स्वरूप में कहते हैं कि सांप के दांतों का विष अन्य प्राणियों को मार सकता है किन्तु स्वयं विषधर सर्प को नहीं मार सकता।

जैसे ईश्वर अपने संकल्प से माया द्वारा सृष्टि करता है उसी प्रकार जीव अपने संकल्प से मोह द्वारा अपना संसार रच लेता है। वह स्वप्न में अपनी कल्पना द्वारा स्वप्न जगत् रचता है और जाग्रत् में अपने मोह सम्बन्धों से लगभग स्वप्न के समान ही अपना माना हुआ जगत् रच लेता है। जिसे वह अपना मान लेता है उसी के अज्ञानजनित आकर्षण में अंधा हो जाता है। संसार में अनेक जीव-जन्तु जीते-मरते रहते हैं। किन्तु बाजार के जिस आवारा कुत्ते को घर में पालतू बना लेते हैं उसे अपना मान लेने से उससे अपना मोह हो जाता है फिर उसके सुख-दुःख में हंसने-रोने लगते हैं। इसी मोह के माने हुए कल्पित रिश्तों का नाम संसार है। यह पुत्र, मित्र, यह शत्रु, यह पराया, यह अपना है आदि सब मोह के रिश्ते हैं। यह मोह ही शोक का कारण है।

जीव का मोह दो प्रकार से प्रकट होता है।

यही दो माया के प्रमुख माध्यम हैं—

(1) अहंता,

(2) ममता।

अहंता का अर्थ है अपने वास्तविक मैं को भूलकर गलत मैं को मैं समझ बैठना और उसके आकर्षण में ऐसा अंधा हो जाना कि अपने वास्तविक मैं को पूर्णतया अथवा प्रमुखतया विस्मृत और तिरस्कृत करते रहना। यह अनात्म को आत्म समझ बैठना, यह शरीर को आत्मा समझ बैठना है। शरीर के आकर्षण में अंधे होकर इसी के नहाने-धोने, सजाने-संवारने, वस्त्रालंकार पहनाने, खाने-पीने, रहने, रक्षा करने, इसी के मान-अपमान की चिन्ता करते रहने, इसी के सौन्दर्य और बल का घमण्ड करने, इसी को ही असली मैं समझकर वास्तविक मैं (आत्मा) का तिरस्कार करते रहने का नाम शरीर मोह, देहासक्ति, देहबुद्धि, देहाध्यास, अहंता, अहंकार, अहंभाव आदि कहा जाता है। यही अहंता शरीर और शरीर से सम्बन्धित अन्य अनात्म पदार्थों में भी फैल जाती है। किसी को धन का अहंकार, किसी को तन का अहंकार, किसी को सूक्ष्म बुद्धि का अहंकार, किसी को कला का अहंकार, किसी को विद्वत्ता का अहंकार, किसी को योगसिद्धियों का अहंकार है। ये अहंकार स्थूल शरीर से शुरू होकर धीरे-धीरे सूक्ष्म मन, बुद्धि, चित्त और अहं भाव तक बना रहता है। जब तक जीव यह मानता है कि जो कुछ वह करता है वह उसके देह पिण्ड तथा उससे सम्बन्धित उसका व्यष्टि मैं कर रहा है जो समष्टि या सर्वात्मा से भिन्न है या विश्वात्मा से भिन्न है तब तक उसका अहंता का मोह बना रहता है।

सर्वात्मभाव से सर्व के हित के लिए किया गया कोई भी संकल्प भागवत

संकल्प बन जाता है और उस संकल्प से किया हुआ कर्म भागवत कर्म, दिव्य कर्म, ईश्वरीय कार्य, राम काज, विश्वमंगल का कर्म बन जाता है।

व्यष्टि ने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए या सीमित हितसाधना के लिए व्यक्तिगत या वर्गगत ईर्ष्या-द्वेष के भाव से अपने कर्तापन के अहंकार को रखकर कर्म के प्रति संग रखते हुए यह मेरा कर्म है अतः इससे मुझे पुरस्कार या प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए यह सूक्ष्मभाव मन में रखकर जो कर्म किया वह जीवात्मा को अहंकारयुक्त कर्मबंधन में बांधने वाला कर्म है। व्यष्टि भाव से कृत कर्म अहंकार का पोषण करते हैं, जीव को संसार से बांधते हैं और परमेश्वर से विलग कर देते हैं। समष्टि भाव से किए हुए कर्म अहंकार का विलय कर देते हैं, जीव को बंधन मुक्त करके भगवान् से मिला देते हैं। वह अपने तुच्छ मैं को त्यागकर अपने सच्चे अमर अविनश्वर विराट् मैं को प्राप्त कर लेता है।

मोह का दूसरा माध्यम ममता है—यदि अहंता गलत मैं है तो ममता गलत मेरा है। Me is false I. Mum is false my. गलत मेरा का मूल आधार गलत मैं ही है। यदि मैं को पहचानने में गलती नहीं होगी तो मेरा की भूल हो ही नहीं सकती। प्रायः मानव जब शरीर को मैं कहता है तो शरीर के सम्बन्ध से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों को मेरा मान बैठता है। जैसे वेश मेरा, ताज मेरा, मेरा आभूषण, मेरा घर, मेरा धन, मेरा मकान, मेरा वाहन, मेरा मित्र-शत्रु, मेरा सम्बन्धी, मेरा अपना, मेरा पराया। ये सब भ्रान्त मान्यताएं उस मूलभ्रान्ति पर टिकी हैं कि मैं शरीर-मन-बुद्धि-चित और अहंकार का समूह हूं। स्थूलरूप से शरीर को मैं कहते रहते हैं किन्तु शरीर से आगे प्राणों तक सब सम्बन्ध माने जाते हैं। जिस पति को मेरा पति कहकर सम्बोधन किया जाता है उसके प्राण निकल जाने पर पत्नी छाती पीटकर विलाप करती है—हाय! मेरा पति चला गया। यदि शरीर ही पति होता तो वह तो सामने ही पड़ा रहता है, किन्तु वह कहती है नहीं वो तो मुझे छोड़कर चले गए। यदि शरीर ही माता-पिता, गुरु-आचार्य होते तो माता-पिता, गुरुजनों के मरने पर उनके शरीर का अग्निसंस्कार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मातृहत्या, पितृहत्या, गुरुहत्या का पाप लगता। इससे स्पष्ट है कि शरीर वास्तविक मैं नहीं है तथा उस पर टिके हुए सारे मेरे के सम्बन्ध भी भ्रामक हैं। यदि मैं सही हो तो मेरा भी सही हो। और यदि मैं गलत है तो मेरा कभी सही हो ही नहीं सकता। जिस शरीर के निमित्त से अन्य वस्तुओं को मेरा कहा जाता है वह शरीर यदि मेरा होता तो मैं अपने साथ लाता और संसार से वापस जाते समय अपने साथ ले जाता। शरीर की कहानी माता के गर्भ में शुक्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीड़े से प्रारम्भ होती है। शुक्र से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, शिशु से बाल, बाल से बालक, बालक से किशोर, तरुण, युवक, प्रौढ़, वृद्ध, रोगी, मृत्यु और फिर, श्मशान भूमि का कण। इसमें आखिर, किसको मैं कहा जाए?

जिस धन को मेरा-मेरा कहकर संसार में कलह, संघर्ष, छीना-झपटी, चोरी-डकैती और मारकाट मची हुई है क्या वह धन मेरा है! कोई व्यक्ति एक कौड़ी लेकर आया नहीं और एक छदाम लेकर जा नहीं सकता।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि भगवान् दो बार हंसते हैं। एक तो तब जब दो भाई हाथ में रस्सी लेकर जमीन को मापते हैं और कहते हैं यह भूमि का टुकड़ा मेरा है यह तेरा, तो भगवान् हंसते हैं कि अपने तन की मिट्टी पर तो तुम्हें अधिकार है नहीं और धरती की मिट्टी पर व्यर्थ मेरा-मेरा कहकर अहंता जता रहे हो। दूसरे जब कोई डॉ. छाती पर हाथ रखकर गर्व से कहता है मैं इस रोगी को बचा लूंगा तो भगवान् उस भोले डॉक्टर पर हंसते हैं। डॉक्टर! जब तेरी फूंक निकल जाएगी तो अपने आपको बचा लेना। यह डॉक्टर का मिथ्या अहंकार है। वास्तव में Doctor treats God saves मानव की अहंता और ममता रूपी मोहमयी मूर्खता पर भगवान् हंसते हैं।

किन्तु मानव कांचन और कामिनी के लाभ-लोभ में पागल बना हुआ सब प्रकार के पाप, अनर्थ और अपराध करने में तनिक भी लज्जित नहीं होता। संसार का समस्त ऐश्वर्य ईश्वर का ही है, सारा वैभव विभु का ही है, समस्त लक्ष्मी नारायण की है अतः मेरेपन के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जिन सम्बन्धियों को हम ममतावश इदं मम (यह मेरा है) कह-कहकर अपने हृदय के प्रेम बंधन में बांधने का प्रयास करते हैं, वे सभी हमारे जीवन में किसी दिन अकस्मात् आ गए थे और किसी दिन अकस्मात् ही छोड़कर हमें वियोग के गर्त में डालकर, हमें धोखा देकर, हमारे संग से दूर अथवा संसार से दूर चले जाते हैं। यदि वे सचमुच हमारे होते तो तीनों काल में हमारे ही रहते। जो अभी मेरा है कुछ क्षण बाद नहीं रहेगा, वह वास्तव में धोखा ही है।

महर्षि वेदव्यास जब अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र शुकदेव के जन्मते ही संसार से विरक्त होकर जंगल की ओर भागने पर उनके पीछे-पीछे हे पुत्र! हे पुत्र! पुकारते हुए दौड़ते जा रहे थे, तब जंगल के वृक्षों ने भी हे पुत्र! हे पुत्र! की प्रतिध्वनि करना प्रारम्भ किया। वृक्ष मानो वेदव्यासजी का उपहास करते हुए कह रहे थे कि इस विराट् विनाशी विश्व में कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है। अनेकों बार तुम किसी के पुत्र बने और अन्य जन्मों में उसके पिता बन गए। जैसे नाटक में पर्दे के पीछे वेश बदलकर कभी किसी का पुत्र, कभी किसी का पिता बन जाता है। पति-पत्नी का नाटक खेलने लगता है, किन्तु वास्तव में वह इन सब सम्बन्धों से अलिप्त होता है। उसी प्रकार यह निर्लिप्त वीतरागी बाल ब्रह्मचारी शुकदेव किसी का पुत्र नहीं है।

इस संसार में हमारे हजारों माता-पिता हुए, सैकड़ों पुत्र-स्त्री आदि हुए और इस प्रकार काल के चक्र में हमारे अनेक सम्बन्ध बने और मिटे। इन सम्बन्धों से मूढ़ व्यक्ति ही प्रभावित होता है, विचारवान नहीं।

अहंता और ममता में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में अधिक आधारभूत अहंता ही है। यदि अहंता की भूल न हो तो ममता को टिकने का स्थान ही न मिले। किन्तु अहंता से उपजी हुई ममता अहंता का पोषण कर उसे इतना बलवान बना देती है कि उस अहंकार को जीतना बड़े-बड़े साधकों के लिए अति दुष्कर कार्य बन जाता है। कई बार साधक व्यक्तिगत अहंकार को मिटाने, उसको कम करने, उसको धीरे-धीरे समाप्त करने का सफल प्रयत्न भी करता है किन्तु अहंता का किला जब आधा या तीन-चौथाई जीता जा चुका होता है तब अचानक ममता की चतुरंगिणी सेना उसकी मदद के लिए पहुंच जाती है और इससे हारता हुआ अहंकार पुनः विजय का डंका बजाने लगता है। जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र पिता पर आधारित होता है किन्तु पिता के दुर्बल होने पर पिता का आधार बन जाता है। उसी प्रकार ममता, अहंता के आधार पर अहंता से पैदा होती है। किन्तु अहंता के दुर्बल या नष्ट प्रायः होने पर पुनः उसकी सहायता कर उसको प्रबल रूप में बढ़ा देती है। इसलिए बड़े-बड़े वीतरागी साधक का भी अपने पूर्व आश्रम के सम्बन्धों की स्मृति चर्चा, प्रासंगिक दर्शन-स्पर्शन से पुनः मिटा हुआ अहंकार, जाग उठता है। कई बार मरी-मिटी हुई ममता, अहंता के कारण फिर से जी-उठती है। जैसे कपूत को उसकी करतूतों के कारण घर से निष्कासित कर देने पर भी उसको देखते ही मां की ममता पुनः जाग उठती है। जब तक मैं बना हुआ है तब तक त्यागा हुआ मेरा भी पुनः मेरा बनकर मन पर आक्रमण कर बैठता है। इस प्रकार अहंता और ममता परस्पर एक-दूसरे का पोषण करती रहती है। दोनों में से किसी एक के दुर्बल होने पर दूसरा तुरन्त सहायता कर देता है। यह अहंता और ममता का विषमचक्र बड़ा विचित्र है। एक के छूटते-छूटते मनुष्य दूसरे में फंस जाता है और दूसरा पुनः पहले को अपने पास घसीट लाता है। इन दोनों से बचने का उपाय भगवद्गीता बताती है।

मोह से शोक—मोह अहंता और ममता के माध्यम से जीव को मुग्ध करके सत्य के प्रति अंधा या बेहोश बना देता है।

(क) जीव जब यह मान बैठता है कि मैं शरीर ही हूं तो उसे शरीर के पोषण की चिन्तायें आ घेरती हैं। हाय! संध्या का भोजन कैसे मिलेगा? हाय! कल क्या होगा? भावी दु:खों की कल्पना से चिन्ता होने लगती है। ये शोक से पहले शोक को आमंत्रण है।

(ख) शरीर देश से परिच्छिन्न है। अतः एक ही समय में यत्र-तत्र सर्वत्र नहीं हो सकता। यह देश की सीमा भी उसे शोकसंविग्न कर देती है। काश! मैं वहां पहुंच सकता। अफसोस कि मैं आपसे शरीर से दूर हूं। मुझे शोक है कि एक ही समय में मैं रांची, मुंबई और जोधपुर में नहीं हो सकता।

(ग) शरीर क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। इसकी अवस्थायें बदलती रहने से भी शोक होता है। जवान रोता है कि हाय! बचपन चला गया, वृद्ध कहता है हाय, जवानी छिन गई, रोगी रोता है कि स्वास्थ्य छिन गया। मरणासन्न व्यक्ति रोता है कि प्राण छीना जा रहा है। इस प्रकार शरीर को मैं मान लेने से शोक से छुटकारा नहीं है।

(घ) गीता में भगवान् ने कहा है कि शरीरधारी को जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि में दुःख और दोष का दर्शन होता रहता है।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। 13/8, गीता

रोग और मृत्यु शोक के दो बड़े हेतु हैं। इन दोनों की कल्पना से भी जीव शोक में डूब जाता है।

(ङ) मनुष्य जिन वस्तुओं को मेरा समझता है वस्तुतः वे उसकी पूंजी नहीं है। और सदा उसकी रहने वाली भी नहीं है। उन वस्तुओं के नाश की आशंका से भी शोक होता है। उन वस्तुओं के वास्तविक नाश पर व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है जैसे किसी ने उसे ही मार डाला।

(च) जिन व्यक्तियों को हम अज्ञानवश मेरा-मेरा कहते रहते हैं उनके रोग और मृत्यु की आशंका से भी शोक होता है और वास्तविक व्याधि और मरण पर भीषण शोक होता है।

मोह और प्रेम में अन्तर—किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति अज्ञानजनित अंधा आकर्षण ही मोह है। किसी व्यक्ति या तत्त्व के प्रति ज्ञानयुक्त निःस्वार्थ, आत्मीय भाव ही प्रेम है। संसारीजन संसार के व्यक्ति और वस्तु के प्रति जिसे प्रेम कहते रहते हैं वह वास्तव में मोह ही है। मोह ही शोक का कारण है। प्रेम भक्ति का हेतु है और मुक्ति का कारण है। सच्चा प्रेमी वस्तुतः शोक में नहीं डूबता। मोही के शोक में जो आंसू गिरते हैं वह मन को व्यथित करने वाले, चित्त को अशांत करने वाले, हृदय को भीषण पीड़ा पहुंचाने वाले, मस्तिष्क को मरणांतक व्यथा देने वाले होते हैं। जैसे माता जवान बेटे की मृत्यु पर शोक में विलाप करती हुई स्वयं अधमरी हो जाती है।

इसकी तुलना में सच्चा प्रेमी या भक्त जब प्रभु के वियोग में आंसू बहाता है तो प्रेम के आंसू बड़े शीतल होते हैं। मन-मस्तिष्क को शांत करने वाले होते

हैं। हृदय को अपार आनन्द देने वाले होते हैं। इसलिए मीरा बाई के भजन गाकर या रामायण की कथा सुनकर जो प्रेमाश्रु निकलते हैं वे सुख की अपार अनुभूति के प्रतीक हैं। राम वनवास की कथा में आंसू बहाकर भी हर श्रोता यही कहता है कि आज कथा में बड़ा आनन्द आया।

मोह में कुछ काल के लिए स्वार्थ का रिश्ता रहता है। स्वार्थ पूरा होने न होने पर अथवा विपरीत भावना हो जाने पर वह मोहजनित प्रेम घृणा या वैर में बदल जाता है। सच्चा प्रेमी कभी भी किसी भी परिस्थिति में विकृत नहीं हो सकता। मोहजनित आकर्षण परिस्थिति सापेक्ष होता है। जब तक पुरुष कमाता है उसका घर के सभी लोग आदर करते हैं। वही जब वृद्ध, रोगी, असहाय हो जाता है तो घर की पत्नी, बच्चों के लिए बोझा बन जाता है। सच्चा प्रेम परिस्थिति निरपेक्ष होता है वह सदा एकरस रहता है। दु:ख में, सुख में, हानि में, लाभ में सदा एकसमान रहता है।

मोहजनित प्रेम स्वार्थ पर आधारित होने के कारण भय से दब जाता है और प्रलोभन पर बिक जाता है। सच्चा प्रेम न भय से कांपता है न प्रलोभन पर अपना ईमान बेचता है—

धरा में धंसा दो सूली फांसी पर चढ़ा दो चाहे
मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से
तेग तलवार तेज तीर से तराशो तन
छूटेगी न लगी जो लगन प्राणधन की।

मोहजनित आकर्षण बहिरंग या मानस आकर्षण होता है। सच्चा प्रेम अंतरंग, आध्यात्मिक प्रेम होने के कारण स्थायी होता है।

मोहजनित आकर्षण मर्त्य का मर्त्य से मर्त्य प्रेम होता है। आत्मिक प्रेम अमर का अमर वस्तु से अमर सम्बन्ध होता है।

मोह से शोक की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया—मोह द्वारा किस प्रकार शोक पैदा होता है इसको समझने के लिए शोक उत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को जान लेना चाहिए। भागवत संकल्प से सृष्टि होती है। जीव के संकल्प से उसका अपना मित्र-शत्रु, सम्बन्ध का संसार रचा जाता है। जैसे महाप्रलय में सारी सृष्टि लय हो जाती है उसी प्रकार प्रतिदिन जीव के सुषुप्तिकाल में उसका संकल्प रुक जाने पर उसकी अपनी रची हुई मित्र-शत्रु सम्बन्धों की सृष्टि भी लय हो जाती है। गहरी निद्रा में न अहंता बचती है न ममता। अहंता-ममता का संसार लुप्त हो जाता है। योगी जब समाधिवस्था में होता है तब उसकी वृत्तियां रुक जाती हैं। उसके लिए भी संसार का लय हो जाता है किन्तु समाधि खुलने पर पुन: संसार अपने द्वन्द्वों

सहित मन पर आक्रमण करता है। इसकी तुलना में जो ब्रह्मज्ञान की ज्ञानसमाधि में रहता है, ब्राह्मी स्थिति में स्थितप्रज्ञ हो जाता है उसे चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम-रूपात्मक संसार के पीछे सर्वत्र ब्रह्म तत्त्व का दर्शन होता है। अतः वह मोह-ममता से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर की माया स्वयं ईश्वर को मुग्ध नहीं करती किन्तु जीवों को मुग्ध करती है। जीव की माया ममता स्वयं जीव को मुग्ध करती है, उससे सम्बन्धित अन्य जीवों को भी प्रभावित करती है। किन्तु ईश्वर को प्रभावित नहीं कर सकती।

ईश्वर न माया के वश में है न मोह के वश में। जीव ईश्वर की माया के वश में भी है और अपनी माया (मोह) के वश में भी है। जब ज्ञानसमाधि में वह परमेश्वर के साथ अपने मन के तार को जोड़ लेता है तब वह ईश्वरीय माया और व्यक्तिगत मोह-ममता, दोनों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर के रचे हुए संसार में अनेक घटनाएं घटती रहती है। अनेक मिलन-वियोग होते रहते हैं। जन्म और मृत्यु, विकास और विनाश की अनवरत लीला चलती रहती है। किन्तु उससे जीव को कोई हर्ष या शोक नहीं होता। जंगल के वृक्षों ने महर्षि वेदव्यास को यह भी संकेत दिया कि हमारे फल हमारे पुत्र के समान हैं, उन्हें लोग तोड़कर ले जाते हैं या वे गिर जाते हैं तो हम उनके लिए शोक नहीं करते। प्रतिदिन मिटने वाले बुलबुलों के लिए कौन शोक करता है। प्रतिदिन संसार में हजारों जीव जन्म ले रहे हैं और हजारों मर भी रहे हैं। किन्तु उनका हमारे मन पर कोई प्रभाव नहीं होता।

जब हम ईश्वर की सृष्टि के भीतर उससे पृथक् अपनी माया ममता की अपनी एक अलग सृष्टि रच लेते हैं और उस सृष्टि में किसी को अपना पुत्र, पति, मित्र, बंधु मान लेते हैं तो हमारी मानसिक सृष्टि में मोह की दुनिया निर्मित हो जाती है। हम अपने उस चुने हुए परिचित ममता के घेरे में आने वाले लोगों, व्यक्तियों या वस्तुओं को अपना या तेरा-मेरा मानने लगते हैं। ईश्वर की सृष्टि में कोई व्यक्ति या वस्तु नष्ट हो जाए और हमें सूचना न मिलने के कारण हमारी ममता की सृष्टि में वह व्यक्ति या वस्तु बनी रहे तो हमें कभी शोक नहीं होता। हमें शोक तब होता है जब हमारी मानसिक सृष्टि में हमारी ममता से रची हुई उस व्यक्ति या वस्तु की काल्पनिक मूर्ति टूटती है। उदाहरण—एक स्त्री का पति महायुद्ध में मारा गया, किन्तु दस साल तक उसे कोई सूचना नहीं मिल सकी। वह निरन्तर अपने आपको सुहागिन मानकर मांग में सिंदूर भरती रही और सब व्रत-नियम, खुशी-खुशी करती रहती है। दस साल पश्चात् उसे पत्र मिलता है कि बहुत खोज के बाद यह अन्तिम पुष्ट सूचना दी जा रही है कि उसका पति दस साल पूर्व अमुक स्थान पर युद्ध में मारा गया था। सूचना मिलने पर वह

भीषण शोक से ग्रस्त होकर छाती पीटने लगती है। चूड़ियां तोड़ देती हैं, मांग पोंछ डालती हैं और भयंकर विलाप करती है। वास्तव में वह जिस पति के लिए विलाप कर रही है वह तो भगवान् की सृष्टि में दस वर्ष पूर्व ही नष्ट हो चुका था। किन्तु पत्नी की मानसिक सृष्टि में, उसके ममता के संसार में जीवित था। पत्र मिलते ही उसके मन की कल्पना से निर्मित पति की मोहमयी मूर्ति टूट गई। इसलिए शोक भगवान् की सृष्टि में मृत्यु से नहीं हुआ बल्कि स्वयं अपनी निजी मानसिक सृष्टि में मोह की मूर्ति के टूटने से हुआ।

कई बार भगवान् की माया सृष्टि में व्यक्ति या वस्तु का नाश नहीं होता और व्यक्ति की मोहरचित सृष्टि में काल्पनिक विनाश हो जाता है और जीव अकारण ही प्राणान्तक शोक में डूब जाता है। श्री अरविन्द के इंग्लैण्ड से भारत लौटते समय उनके पिता कृष्णघन घोष को जब यह उड़ती हुई अफवाह सुनाई गई कि जिस जहाज से श्री अरविन्द आ रहे थे, वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया है तो पुत्र के प्रति असीम मोह के कारण पिता के मन में बनी हुई पुत्र की ममतामयी मूर्ति खंडित हो गई और पिता का प्राणान्त हो गया। जबकि वास्तव में श्री अरविन्द पूर्णतया सुरक्षित थे। इस प्रकार शोक या दुःख का वास्तविक कारण मोह ही है। भागवत सृष्टि में जन्म या मृत्यु से न भगवान् को दुःख-सुख होता है और न जीव को। जीव अपने ही मोह के कारण सुख-दुःख भोगता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता।।

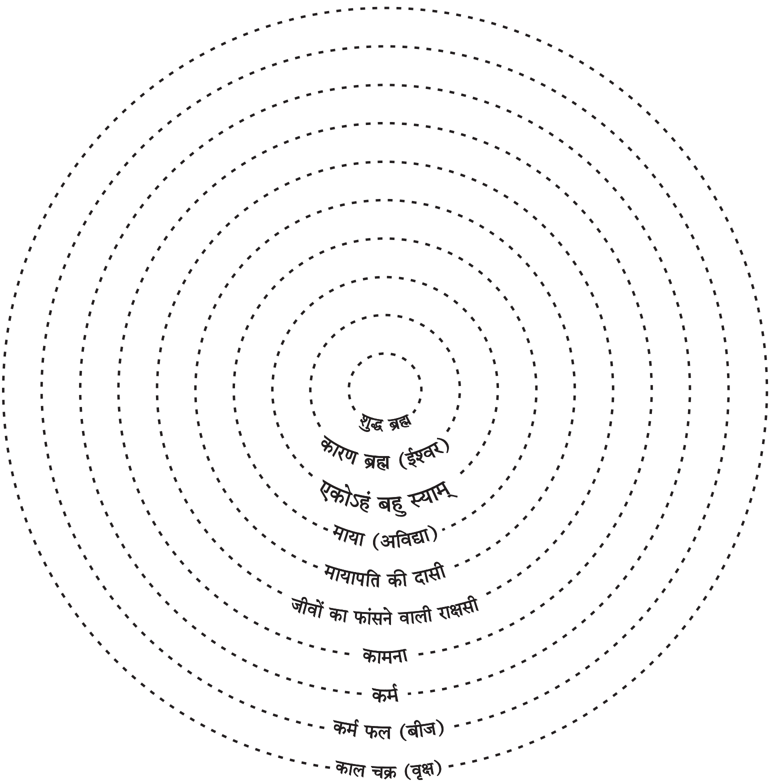
वनवास काल में श्री लक्ष्मणजी ने निषाद को लक्ष्मणगीता के नाम से यही उपदेश दिया है कि मनुष्य स्वयं ही अपने सुख-दुःख का कारण है।

गली में खेलता हुआ बच्चा अंधेरे में रस्सी को सांप समझकर जब चिल्ला उठता है हाय मां बचाओ तो तीन मंजिल पर मां तड़प कर बच्चे से भी अधिक वेदना से चीख उठती है, कभी तीन मंजिल से छलांग लगा देती है या कभी बेहोश होकर गिर पड़ती है। अब विचार कर देखा जाय तो बच्चे को वास्तविक सांप ने तो डसा नहीं। उसे तो केवल रस्सी के सांप ने डसा था। किन्तु मां को कौन-से सांप ने डस लिया। निश्चय ही मोह के सांप ने डस लिया।

इस प्रकार मोह ही शोक का वास्तविक कारण है। जो मोह मुक्त है वह शोकमुक्त है। सारी महाभारत में अनेकानेक लोगों के मरने पर अनेकों ने आंसू बहाए किन्तु भगवान् कृष्ण का मंद-मंद मुस्कराता हुआ मुखारविंद सदा प्रफुलित रहा। जिसको मोह नहीं उसको शोक कैसे हो सकता है?

मोह के नाना रूप—मोह अज्ञान का ही दूसरा नाम है। अतः मोहांध व्यक्ति अज्ञानतिमिर से अंधा कहा जाता है। जिस प्रकार उलूक को दिन का उज्ज्वल प्रकाश दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मोहांध धृतराष्ट्र, गांधारी, दुर्योधन आदि को न भगवान् कृष्ण का भागवत रूप दिखाई देता है, न वेदव्यास का धर्मोपदेश या विदुर एवं भीष्म का न्याय नीति का उपदेश ही रुचता है। पश्चिम के भौतिकवादियों को आत्मा-परमात्मा का सहज विश्वास ही नहीं होता। पूर्व के आध्यात्मिक देशों के भी बहुसंख्यक लोग भौतिक सुख-भोग, ऐश्वर्य के मद में इतने अंधे हैं कि उन्हें भी स्वयं अपना आप (आत्मा) न अनुभव होता है न दिखाई देता है। अज्ञान का दूसरा नाम ही अविद्या है।

(ख) ईश्वर के दृष्टिकोण से माया उसकी सर्जना शक्ति है किन्तु जीव की दृष्टि से माया महाठगिनी है। मोह-ममतामयी, अज्ञान अविद्यारूपिणी, देहाध्यास कारिणी, देह-गेह-नेहबंधनकारिणी परमेश्वर से विलग करने वाली अवांछनीय यवनिका (पर्दा) है।



जीवात्मा जब मोहवश अपने शुद्धात्मा स्वरूप को भूल बैठता है तब देहात्म भाव से उसके देह, मन, चित्त, अहंकार में मैं और मेरा का भाव पैदा हो जाता है। देह, इन्द्रिय, मन आदि अपने शुद्ध आप्तकाम पूर्णकाम रूप को भूलकर सांसारिक विषयों की कामना करने लगते हैं। इस प्रकार मोह से (अज्ञान से, अविद्या से) काम पैदा होता है। जैसे चक्रवर्ती सम्राट् का पुत्र अपने राज्याधिकार को भूलकर तथा अपनी जेब में पड़े हुए 10 हजार के नोट को भूलकर अज्ञानवश गली-कूचे में भीख मांगने लगे। उसी प्रकार सर्वशक्तिमान निखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी परमपिता परमेश्वर के अमर साम्राज्य का उत्तराधिकारी होते हुए भी यह जीव अज्ञानवश मोहवश अपने निज के शरीर के लिए और निज के सम्बन्ध से मेरा कहलाने वाले परिवारजनों या मित्रजनों के स्वार्थ के लिए कामना का भिक्षापात्र लिए दर-दर भटक रहा है।

(घ) कामना की पूर्ति होते जाने से लोभ बढ़ता जाता है। लोभ काम का साझीदार और उत्तेजक है। काम में बाधा आ जाने पर क्रोध पैदा हो जाता है। क्रोध काम का अधिक उग्र भयंकर भाई है। यदि काम दुर्योधन है तो क्रोध दु:शासन है। भगवान् ने गीता में काम, क्रोध, लोभ इन तीनों को नरक का द्वार माना—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16/21, गीता

'काम, क्रोध और लोभ तीन नरकद्वार हैं, जो आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिए हे अर्जुन! इन तीनों को त्याग दो।'

(ङ) भगवान् ने पांच महान् शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) में से यहां तीन ही प्रमुख विकारों को गिनाया है। इसका कारण यह है कि अहंकार (अहंता) और मोह (ममता) के बिना कोई कामना पैदा ही नहीं हो सकती। पंच शत्रुओं में अहंकार सबसे सूक्ष्म और चार अन्दर की इन्द्रियों (अंत:करण चतुष्टय) में से अहंकार सबसे सूक्ष्म इन्द्रिय भी है। जब जीव कहता है मेरी हार्दिक कामना है तो वह अहंकारयुक्त जीवात्मा की ही कामना है। जब वह कहता है कि मैं दु:खी हूं तो अहंकार ही दु:ख अनुभव कर रहा है। जब कहता है मुझे और धन-ऐश्वर्य चाहिए, अहंकार ही लोभ कर रहा है। जब कहता है हाय, मेरे बच्चों का क्या होगा, अहंकार ही ममता का विस्तार कर रहा है। अहम् एक ओर अपने सुख-दु:ख को पहचान रहा है तब ज्ञानेन्द्रिय का कार्य कर रहा है। वहीं अहम् जब कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है तब कर्मेन्द्रिय के रूप में कार्य कर रहा है। इस अहम् से भय पैदा होता है इसलिए अहंता से ममता पैदा होती है। कुछ लोग मोह को ही ममता कहकर उसे पंच-महारिपुओं में गिनते हैं। किन्तु मोह वास्तव में मूल अज्ञान या अविद्या है जो अहंता-ममता के माध्यम से प्रकट होता है।

(1) मोह (ममता के अर्थ में) पांच महारिपुओं में से एक।

(2) मोह (मूल अविद्या, अज्ञान, माया के अर्थ में) सभी रिपुओं, सभी सम्बन्धों, समग्र संसारचक्र का मूल कारण।

(च) जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोहजनित आकर्षण हो जाता है उसके प्रति लगाव, राग या ममत्वभाव हो जाता है। उसे हम अपना समझकर उसके दोषों, अपराधों और पापों पर आंख बंद कर लेते हैं या मोह के कारण हमारी आंखें अपने आप बंद हो जाती हैं। धृतराष्ट्र के अंधा होने के कारण पापी बेटों के कुकर्म प्रत्यक्ष आंखों से तो दिखाई नहीं देते थे, पर मन और अन्य इन्द्रियों द्वारा वह सब जानता था कि मेरे बेटे कैसे-कैसे भीषण पाप कर रहे हैं। किन्तु वह मोहांध पिता तन का अंधा होने के साथ वह नीति, मन, बुद्धि और विवेक का भी अंधा था। इसी प्रकार गांधारी मोहांध माता अपने दुष्ट दुराचारी बेटों के सब कुकर्मों पर जान-बूझकर आंखें बंद कर लेती थी और भगवान् कृष्ण जैसे धर्म धुरीन दिव्य पुरुष को शाप दे बैठती है।

(छ) जिस व्यक्ति या वस्तु के प्रति अज्ञानजनित विकर्षण हो जाता है उसके प्रति द्वेषभावना जाग उठती है। उसके गुण भी दुर्गुण दिखाई देने लग जाते हैं। राग से मनुष्य प्रेमांध हो जाता है। द्वेष में क्रोधान्ध हो जाता है। राग से कुछ लोगों को कुछ सीमित व्यक्तियों को अपना मानकर उनके प्रति अनुचित रियायत करने लगता है और द्वेष से अपनों के अतिरिक्त अन्य जनों को पराया समझकर उनसे द्वेष करने लगता है। धृतराष्ट्र जब पूछता है, 'मामकाः पाण्डवाश्चैव' तो निश्चय ही वह केवल अपने बेटों को मामका कह रहा है और सगे भतीजों (पांडवों) को मेरे की परिधि से बाहर, पराया समझ रहा है। इस प्रकार मोह व्यक्ति को न्याय-नीति से अंधा बना देता है।

(ज) जब मैं कहने से शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का बोध हो तो मानना चाहिए कि मैं मोहग्रस्त तथा अहंकार से बंधा हुआ है। जब मैं शब्द बोलने से सर्व के अन्तर के मैं का बोध हो तो मानना चाहिए कि ये अहंकारमुक्त है। सभी मानव अपने को मैं शब्द से ही सम्बोधन करते हैं। दूर वाला व्यक्ति जिसे 'वह' कहकर संकेत करता है सामने वाला व्यक्ति जिसे 'तुम' कहकर पुकारता है वह स्वयं अपने को 'मैं' कहकर परिचय देता है। अन्य प्राणी जो मूक हैं या जिनकी वाणी हम समझते नहीं उनमें भी मैं ही पिरोया हुआ है। चिड़िया स्वयं गाने लगी, घोड़ा स्वयं दौड़ने लगा, सर्प स्वयं फुफकारने लगा, मक्खी स्वयं भिनभिनाने लगी आदि सब जीव मात्र में स्वयं पिरोया हुआ है। सब नाम और रूप, योनि सब पृथक्-पृथक् है परन्तु सबमें स्वयं समान है। जिसका स्वयं सारे विश्व का स्वयं बन गया है जिसका मैं सर्व का मैं बन गया है वह सर्वात्मभाव से विश्वात्मभाव से बोलता,

चलता और कर्मचेष्टा करता है। वह अहंकारमुक्त है। उसका मैं सारे विश्व के मैं में मिल चुका है। अहंकार को गलाने में ज्ञानयोग उपयोगी है।

आत्मदर्शी संत लखासिंह के शब्दों में—

धूल से गंदली हुई यह नहीं है तेरी मैं,
भूल से बदली गई यह नहीं है तेरी मैं,
तेरी मैं में सबकी मैं और सबकी मैं में तेरी मैं,
जब तक नहीं बनती वह मैं तब तक बनी रहती यह मैं।

(झ) गलत मैं के समान गलत मेरा का चक्र बड़ा विचित्र है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि संसार की वस्तुओं को बांधने-बटोरने के लिए मैं प्रतिदिन शृंखला की कड़ियां बनाता गया और जब शृंखला बन गई तो देखा कि मैं स्वयं बंदी हो गया। संसार के सब सम्बन्ध उस शृंखला की कड़ियां हैं। यह मेरा पुत्र, मित्र, शत्रु, अपना-पराया सब कड़ियां हैं। इस ममता की शृंखला की कड़ियों से जीव बुरी तरह जकड़ा जाता है। वह संसार से छूटने के लिए जितना प्रयास करता जाता है उतना ही और उलझता जाता है।

दलदल में फंसे हुए हाथी के समान जितनी जोर से पांव मारकर दलदल से बाहर निकलना चाहता है उतना और गहरे ही गहरे धंसता जाता है। अहंता से भी अधिक व्यापक जाल ममता का है। ममता का उपचार यज्ञभाव से होता है। यज्ञ के मंत्रों में हम अनेक बार दोहराते हैं—'इदं न मम, इदं न मम' यह मेरा नहीं है यज्ञभाव है। जब मेरा कुछ नहीं है तो सब कुछ प्रभु का ही है। तो प्रभु की वस्तु में स्वामित्व भाव रखने का स्थान कहां है?

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर।

इस प्रकार के समर्पण से ममता नष्ट होती है। अत: ममता के नाश के लिए भक्तियोग परम उपयोगी है। यदि ज्ञानयुक्त भक्ति हो तो अहंता न रहने से ममता हो ही नहीं सकेगी। अन्यथा किसी को ज्ञान का ही अभिमान हो जाता है और किसी को भक्ति का अभिमान हो जाता है। कभी-कभी भक्ति अंधभक्ति बनकर विकृत हो जाती है। इसलिए ज्ञानयुक्त भक्ति तथा लोकमंगल के लिए कर्मयोग तीनों के समन्वय से मोहनाश (अहंता-ममता) दोनों धुल जाएगी और मोहनाश हो जाने पर शोक का कोई कारण नहीं बचेगा।

अहंकार

आध्यात्मिक अहंकार—आध्यात्मिक अहंकार का रूप यह है कि मैं शरीर हूं।

आधिदैविक अहंकार यह है कि मैं मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रिय का स्वामी दैवी सम्पदा के गुणोंवाला जीवात्मा पुण्य कर्मों का कर्ता हूं।

आधिभौतिक अहंकार यह है कि मैं धनी हूं, सुन्दर हूं, शक्तिशाली हूं, समर्थ हूं। अपने धन, पद-प्रतिष्ठा के बल से किसी को उठा या गिरा सकता हूं।

संसार में संघर्ष दो प्रकार का चल रहा है—

(क) ममता के संघर्ष-(स्वार्थ के संघर्ष)—एक ही वस्तु को दो या अधिक व्यक्ति जब आग्रह से कहते हैं कि यह मेरा-यह मेरा है तो संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। ममता के संघर्ष स्वार्थों के संघर्ष हैं। कामना और लोभ के संघर्ष हैं। कामना में बाधा से क्रोध पैदा होता है वही संसार के सब संघर्षों का मूल है।

(ख) अहंता के संघर्ष—इन संघर्षों में कुछ पाने या जीतने का प्रश्न नहीं रहता। यह तो मात्र पद की, प्रतिष्ठा की, अहंकार की लड़ाई होती है। यह ममता के संघर्ष से भी अधिक भयानक हो जाता है। मूंछ की लड़ाई के पीछे कई-कई पीढ़ियों तक परिवारों में संघर्ष एवं रक्तपात चलता रहता है। दोनों के भयंकर नाश के बाद पता चलता है कि इस वृथा अहंकार की लड़ाई में दोनों ने बहुत बड़ी हानि उठाई और मिला कुछ भी नहीं। कई बार अपनी हानि करवाकर भी दूसरे का सर्वनाश करने के कुचक्र खेले जाते हैं, केवल इसलिए कि दूसरे के अहं को चोट पहुंचाई जा सके।

जिस प्रकार व्यक्तियों के अहं दृढ़ीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार दलों के, जातियों के, संस्थाओं के, पार्टियों के, भाषाओं के, देशों के, विचारधाराओं के भी अहंकार दृढ़ीभूत हो जाते हैं। फिर अपने इस संस्थागत या दलगत अहंकार को संतुष्ट करने के लिए मानव अथवा मानव समूह दूसरे दलों को नीचा दिखाने, उनको क्षति पहुंचाने अथवा नाश करने के लिए अपना तन-मन-धन निछावर करने पर तुल जाते हैं। यह सामूहिक अहं और भी भयानक बन जाता है। मानवता का इतिहास ऐसे दलगत अहम् के अत्याचारों से रक्तरंजित हुआ पड़ा है। रोमन कैथोलिक लोगों द्वारा प्रोटैस्टेन्ट ईसाइयों को हजारों की संख्या में सामूहिकरूप से जीवित जला देना, पोप द्वारा गैर ईसाई समूहों या देशों पर फतवे देकर उनका धरती से उच्छेद कर देने के लिए सैनिक अभियान (Crusade) धर्मयुद्ध करना एवं करवाना। ईसाई कट्टरपंथी अदालतों (inquistion) द्वारा गैर ईसाइयों को मनमाने दोष लगाकर लाखों की संख्या में जलाना, यातना देना, फांसी पर चढ़ाना, कब्र खोदकर मुर्दे को पुनः फांसी देना इसी दलगत अहंकार के घिनौने कृत्य हैं। इस्लाम के प्रचार हेतु एक हाथ में तलवार और दूसरे में कुरान लेकर गैर मुस्लिमों के विरुद्ध जिहाद करना, उनके मठ-मन्दिरों को तोड़ना, उनके देवताओं की मूर्तियों को खण्डित करना, उनके मानचिह्नों को नष्ट करना, उनकी बहू-बेटियों को लूटना

और छल, छद्म, भय अथवा प्रलोभन से उनका धर्मान्तरण कर अपना संख्याबल बढ़ाना सब दलगत अहंकार के अंग, खेल हैं।

जहां व्यक्तिगत अहंकार हमें परमेश्वर से अलग कर देता है वहां सामूहिक अहंकार हमें न्याय-नीति के प्रति अंधा बनाकर मानवता से ही च्युत कर देता है। आध्यात्मिक एकता में जहां एक के सिवा दूसरा है ही नहीं वहां नैतिकता का लोप हो जाता है। वहां शुद्ध अध्यात्म ही बचता है। वह अहंकार में हमें अपने सच्चे मैं (शुद्ध आत्मा-परमात्मा) से अलग कर देता है। नैतिकता का क्षेत्र तो समाज है वहां पर अहंकार हमें सामाजिक न्याय, नीति, नैतिकता के प्रति अंधा बना देता है। अतः अहंकार आध्यात्मिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से मानव के पतन का ही कारण बन जाता है।

भगवान् शंकराचार्य ने ठीक ही कहा—

तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम्।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम्।।

'इसलिए भोजन करने वाले पुरुष के गले में कांटे के समान खटकने वाले इस अहंकाररूप अपने शत्रु को विज्ञानरूप महाखड्ग से भली प्रकार छेदन कर आत्मसाम्राज्य सुख का यथेष्ट भोग करो।' शंकराचार्य पुनः कहते हैं 'अहंकार अविद्याख्या कष्टतमा सर्वदोषानां मूलम् सर्वानर्थप्रवृत्तीनाम्' अर्थात् अहंकार अविद्या का ही नाम है, जो सब दोषों में से सबसे अधिक कष्ट देने वाला है। सब प्रकार की अनर्थ प्रवृत्तियों का मूल है।

अहंकार मन की वह अवांछनीय घटिया वृत्ति है जो जीव को बहिर्मुखी बनाकर उसे संसार का दास बना देती है।

आत्मा (शुद्ध मैं) की स्फटिक मणि के समान उपमा दी जाती है जो किसी वस्तु के निकट रखा जाए तो तुरन्त उसी की रंगत ग्रहण कर लेता है। जीवात्मा को जब शरीर मिला तो शरीर की रंगत लेकर बोलने लगा कि मैं शरीर हूं। जब मन को व्यथा हुई तो उसकी रंगत लेकर कहने लगता है मैं दुःखी हूं। जब बुद्धि में प्रकाश आता है तो कहता है मैं विद्वान् हूं, जब धन प्राप्त होने लगता है तो कहता है मैं धनी हूं, जब किसी भाषा को बोलने लगता है तब भाषा का अहंकार लेकर कहने लगता है कि मैं हिन्दीभाषी हूं, जब राजनीतिक दल के निकट जाता है तो उसकी रंगत लेकर कहता है कि मैं कांग्रेसी हूं, मैं कम्यूनिस्ट हूं, जब किसी पंथ के संसर्ग में जाता है तो उसी की रंगत लेकर कहने लगता है मैं मुसलमान हूं, मैं ईसाई हूं।

वास्तव में इन सबको कुछ समय के लिए धारण करने वाला तत्त्वत: सदा इनसे अलिप्त शुद्धात्मा (सच्चा मैं) है।

शरीर इदम् (यह) सर्वनाम से पुकारा जाता है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। 13/1, गीता

'हे अर्जुन! इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। इसको जानने वाला जो सच्चा मैं है उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।'

इदं को अहं समझ लेना ही अहंकार है। क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ समझना, खेत को किसान समझना, यंत्र को यंत्री समझना, वाहन को वाहक समझना, मोटरगाड़ी को गाड़ी का मालिक समझना एक बहुत विचित्र भूल है जिसे मोह कहा जाता है और संसार के 99 प्रतिशत लोग इसी भूल के शिकार हैं।

भगवान् गीता के तृतीय अ. के 27वें श्लोक में कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

'वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्त:करण वाला पुरुष मैं कर्ता हूं, ऐसा मान लेता है।'

वास्तव में प्रकृति भगवान् की माया शक्ति है। इसी के द्वारा इसके तीन गुणों सत्त्व, रज, तम के द्वारा इसके पांच तत्त्वों पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश के बीच पांचभौतिक शरीरों के माध्यम से तीन गुणों की प्रेरक शक्ति से समस्त क्रियाकलाप हो रहे हैं। अत: व्यक्ति के अहंकार के लिए कोई स्थान बचता ही नहीं है। क्रियायें दो प्रकार की हो रही हैं। समष्टि क्रिया और व्यष्टि क्रिया। समष्टि क्रिया में सूर्य, चन्द्र, तारागण, ग्रह-नक्षत्र आदि की गतियां, ऋतुओं का चक्र, दिन-रात का चक्र, कालचक्र, पंचमहाभूतों के खेल और पांचभौतिक प्राणियों के समस्त खेल समष्टि क्रियायें हैं। जीवों में भी माता के गर्भ में बीज से भ्रूण का विकास, भ्रूण से शिशु, शिशु से बालक, बालक से किशोर, किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़, प्रौढ़ से वृद्ध, वृद्ध से रोगी, रोगी से मृतक समस्त समष्टि क्रियायें हैं।

मानव के शरीर के भीतर भी श्वास-प्रश्वास, पंच प्राणों का खेल, रक्त संचार, हृदय गति, नाड़ी गति एवं शरीर के समस्त कार्यकलाप का संचालन अन्न का पचना, रक्त, मांस-मज्जा, मेद आदि का बनना, मल-मूत्र आदि निकलना सब समष्टि क्रियायें हैं। जो प्रकृति ब्रह्माण्ड को चला रही है वही हमारे पिण्ड को भी चला रही है। जिन पंच महाभूतों से ब्रह्माण्ड बना है उन्हीं पंच महाभूतों से पिण्ड भी बना है। ब्रह्माण्ड की चेतना जो ब्रह्मतत्त्व है वही जीव के पिण्ड में जीवात्मा

बनकर द्रष्टारूप से सब क्रियायें देख रहा है। किन्तु अज्ञानवश हम जीवात्मा को व्यष्टि क्रियाओं का कर्ता मान बैठते हैं। हमारी व्यष्टि क्रियायें जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना-फिरना, बोलना, आना-जाना, देना-लेना, परिश्रम करना, प्यार, तिरस्कार, सेवा, संहार इन व्यष्टि क्रियाओं को जीव अपना मान बैठता है और अपने आपको इनका कर्ता मान लेता है। किन्तु वास्तव में प्रकृति के पंच महाभूतों में से एक भी कम हो जाने पर अथवा तीन गुणों में से एक का भी अभाव हो जाने पर कोई कर्म हो ही नहीं सकता। अतः समष्टि और व्यष्टि, समस्त कर्मों का आधार प्रकृति ही है। इसलिए जीव को जो स्वयं प्रकृति के क्रीडा-कौतुक में भागीदार बन अपने को भूल से प्रकृति का अंग ही मान बैठता है, उसे अपने आपको कर्ता मानने का कोई अधिकार ही नहीं है। यदि वह शुद्धात्मा है तो प्रकृति का द्रष्टा है। द्रष्टा स्वयं क्रिया करता है तो द्रष्टा हो ही नहीं सकता। परिवर्तनशील प्रकृति के समस्त खेल को जानने वाला उसका द्रष्टा स्वयं क्रियारहित और अपरिवर्तनशील ही होना चाहिए अन्यथा उसका सारा ज्ञान परिवर्तनशील होने से अविश्वसनीय हो जाएगा।

यदि साधकावस्था में जीव को अपने शुद्धात्मा स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ तो वह स्वयं प्रकृतिसम्भूत संसार का अंग है। जो प्रकृति सारे ब्रह्माण्ड को नचा रही है वह उसके पिण्ड को भी क्रियाशील बना रही है। अतः उसके कर्तापन के अहंकार का कोई स्थान तक नहीं बचता।

सिद्धावस्था में तो ज्ञान उदय होता है कि मैं शुद्ध आत्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा के रूप में प्रकृति के समस्त लीलानृत्य का द्रष्टा हूं। साधकावस्था में जब तक शुद्धावस्था का ज्ञान नहीं हुआ, तब तक जीव अपने आपको प्रकृति-जन्य संसार का अंग (शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) ही मान रहा है, तब तक वह प्रकृति के यंत्र का अंग ही है। तब भी उसके समस्त कार्यकलाप प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं। जो प्रकृति ब्रह्माण्ड को प्रचालित करती है वह उसके पिण्ड को भी प्रचालित कर रही है। वह भ्रान्तिवश समझ बैठता है कि मैं ही कर्म कर रहा हूं। दोनों स्थितियों में चाहे वह साधक है या सिद्ध है कर्तापन के अहंकार का कुछ स्थान बचता ही नहीं। फिर भी यदि वह अपने को कर्ता मानता ही है तो वह गीता के शब्दों में 'अहंकारविमूढ़ात्मा' है अर्थात् गलत मैं से ठगा हुआ, पगलाया हुआ मैं है।

अहंकार दो प्रकार का होता है—

(क) शुद्ध अहं—शुद्ध निर्लिप्त आत्मा को मैं मानना।

(ख) अशुद्ध लिप्त जीवात्मा। इसमें जीव मोहवश अपने शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को कर्ता मान बैठता है। वास्तविक मैं एक ही है। किन्तु गलत मैं से भेद

बताने के लिए यह विभाजन, काल्पनिक विभाजन किया जा रहा है—

वास्तविक मैं	**काल्पनिक मैं**
शुद्धात्मा	'अहंकारविमूढ़ात्मा'
स्वाभाविक	अस्वाभाविक
शुद्ध	अशुद्ध
नित्य	अनित्य
शुद्ध आत्मा की विस्मृति हो सकती है मिट नहीं सकती।	कुछ काल के लिए मानी जा सकती है किन्तु टिक नहीं सकती।

अहंकार दूर करने के उपाय

(क) ज्ञानयोग के द्वारा—अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना।

(ख) भक्तियोग के द्वारा—मैं, मेरा सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना।

(ग) कर्मयोग द्वारा—विनम्रता से सेवा करके कर्मों के फूल, कर्मफल का नैवेद्य, कर्मासक्ति एवं कर्तापन का अहंकार सभी कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित करना। एक दार्शनिक मान्यता यह है कि सब कुछ प्रभु कर रहा है, मैं कुछ नहीं कर रहा हूं।

दूसरी दार्शनिक मान्यता यह है कि प्रभु के आदेशानुसार प्रकृति सब कुछ कर रही है। प्रभु केवल निर्लिप्त द्रष्टा है।

साधकावस्था में प्रकृति के चक्र में प्रकृति के साथ घूम रहा है और सिद्धावस्था में द्रष्टा बनकर प्रकृति की लीला का दर्शन कर आनन्द पा रहा है।

तीसरी दार्शनिक मान्यता यह है कि भगवान् यंत्री है मैं उनका यंत्र हूं। भगवान् रथी है, मैं उनका रथ हूं। भगवान् प्रेरक हैं, मैं उनका निमित्तमात्र हूं और उन अन्तर्यामी के आन्तरिक आदेशानुसार उन्हीं की प्रीति के लिए कर्मों की लीला कर रहा हूं।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में मानव को अहंकार मुक्त करने के लिए यथा स्थान तीनों मान्यताओं को उचित महत्त्व दिया गया है।

स्वामी रामतीर्थ ने अपनी बोधकथा में एक रोचक कथा कही है। एक व्यक्ति ने किसी व्यापारी से बार-बार अनेक रकमें उधार ली थी और वापस करने में समर्थ नहीं था। तंग आकर सेठ ने सबके सामने उसे लज्जित किया। लोगों के बीच-बचाव करने पर सेठ ने कहा कि उधार बही में से जिस किसी एक लाइन को काट दे उतनी

राशि को मैं माफ कर दूंगा। उस चालाक व्यक्ति ने बही में अपने नाम की लाइन ही काट दी और सेठ से बोला, अब जो कुछ लेना है, ले लो। सेठ बहुत पछताया। इसी प्रकार यदि मनुष्य के ऊपर अनेकानेक जन्मों के पापों का, पिछले कर्मफलों का भार लदा हो, उनसे छूटने का कोई उपाय दिखाई न दे तो उसे अपने अहंकार का ही विलय कर देना चाहिए। कर्मफल सिद्धान्त तभी तक जीव को बांधता है जब तक उसका कर्तापन का अहंकार बना हुआ है। जब कर्तापन का अहंकार ही मिट गया तो कर्ता के ही न बचने से भोक्ता कौन बनेगा। तब पिछले कर्मों के सारे जंजाल भी क्षणभर में लुप्त हो जाएंगे। अहंकार के लय होते ही जीव और ब्रह्म के बीच का पर्दा हट जाएगा और जीव के ब्रह्म में लय होने पर उसे कर्मों का फल कौन दे सकता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। 15/5, गीता

'अशुद्ध अहंकार दूर हो जाने पर (जिसका) मान और मोह दूर हो जाता है, उसका संसार की वस्तुओं के साथ जो संसर्ग दोष है वह अपने-आप दूर हो जाता है। वे नित्य अध्यात्मज्ञान में स्थित हो जाते हैं। आप्तकाम, पूर्णकाम होने से उनकी कामना बचती नहीं, इसलिए निवृत्तकामा बन जाते हैं। कामना से कर्म—कर्म से सुख-दुःख। जब कामना ही शेष बची नहीं तो कर्म का प्रयोजन ही नहीं बचा, तब कर्मफल रूपी सुख-दुःख के द्वन्द्वों से अपने आप मुक्त हो गया। इस प्रकार अहंता और ममता को जीतने वाला व्यक्ति अव्यय परम पद को प्राप्त कर लेता है।'

इसी भाव को भगवान् ने 18वें अध्याय में पुनः कहा है—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। 18/17, गीता

'जिसमें अहंकृत (अर्थात् मैं कर्ता हूं इस प्रकार) भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल में) लिप्त नहीं होती, वह इन (समस्त) प्राणियों को मारकर भी (वास्तव में) नहीं मारता है और न (पाप से) बद्ध ही होता है।'

मनुष्य का शरीर इस विराट् संसार का एक अंग है। पर विचित्र बात यह है कि मनुष्य सारे संसार को मैं नहीं कहता और अपने साढ़े तीन हाथ के लोथड़े को मैं कह बैठता है। या तो सारा ब्रह्माण्ड ही मैं है या नहीं तो शरीर मैं नहीं। समुद्र की लहर का अस्तित्व समुद्र में ही है, लहर और समुद्र में जातिगत एकता है उसी प्रकार शरीर और संसार में जातिगत एकता है। बिना समुद्र के लहर का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार बिना संसार के शरीर का अस्तित्व भी नहीं। किन्तु अज्ञानवश मनुष्य व्यष्टि को मैं और समष्टि को मेरा मान बैठता है। इसी से बंधन में पड़ जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने व्यष्टि और समष्टि का बहुत सुन्दर चित्र खींचा है—

अपने मजे के खातिर गुल (=फूल) छोड़ ही दिये जब।

रुये-जमी (=पृथ्वी भर के बाग) के गुलशन मेरे ही बन गए सब।।

जितने जुबां (=जिह्वा) के रस थे कुल तर्क कर दिये जब।

बस जायके जहां (=संसार भर के) के, मेरे ही बन गए सब।।

खुद के लिए जो मुझ से दीदों (=नेत्रों की) दीद (=दृष्टि) छूटी।

खुद हुस्न (=सौन्दर्य) के तमाशे मेरे ही बन गए सब।।

अपने लिए जो छोड़ी ख्वाहिश हवाखुरी की।

बादे-सबा (=पुरवा वायु) के झोंके मेरे ही बन गए सब।।

निज की गरज से (=अपने स्वार्थ की दृष्टि से) छोड़ा सुनने की आरजू को।

अब राग और बाजे मेरे ही बन गए सब।।

जब बेहतरी के अपनी फिक्रो-खयाल (=शोक) छूटे।

फिक्रो-खयाले-रंगी (=आनन्ददायक या भांति-भांति के विचार) मेरे ही बन गए सब।।

आहा अजब तमाशा मेरा नहीं कुछ भी।

दावा नहीं जरा भी इस जिस्मो-इस्म (=नाम-रूप) पर ही।।

यह दस्तो पा (=हाथ-पैर) हैं सबके आंखें यह है तो सबकी।

दुनिया के जिस्म (=शरीर) लेकिन मेरे ही बन गए सब।।

स्वामी रामतीर्थ अपने अन्य व्याख्यानों में भी व्यक्तिगत अहं से क्रमशः विराट् व्यापक अहं तक विकास करने का संदेश देते हैं। जिस अहं को बहुत बड़ा दुर्गुण माना जाता है उसी को धीरे-धीरे विकसित करते जाने से वही मानव मुक्ति के लिए वरदान बन जाता है।

(क) शरीर को मैं मानकर, इसी के भोग विलास, इसी की कामना, क्रीड़ा में व्यस्त रहना सबसे निकृष्ट स्वार्थ का खेल है।

(ख) शरीर के स्वार्थ भी अकेले शरीर का ही चिन्तन करते रहने से कभी पूरे हो ही नहीं सकते। शरीर का जन्म भी किसी परिवार की गोदी में होता है। इसका लालन-पालन भी किसी परिवार में ही अन्य सदस्यों के सेवा सहयोग से ही हो सकता है। अतः शरीर के हित के लिए भी परिवार की रक्षा करना, परिवार की सेवा सुरक्षा करना अनिवार्य है। अपने निजी शरीर की सुख-सुविधाओं का कुछ मात्रा में त्याग करके ही परिवार की सेवा सुरक्षा हो सकती है। यदि घर का मुखिया यह

सोचे कि मेरी कमाई पर दूसरों को पलने का क्या अधिकार है तो उसके परिवार में दूसरों का जीवित रहना असम्भव हो जाएगा। यदि उसके विषय में उसके माता-पिता ने भी ऐसा ही सोचा होता तो आज उसका अस्तित्व ही न होता। कम्यूनिस्टों का नारा है कि कमाने वाला खाएगा। यदि इस नारे पर चला जाए तो सारे बच्चे मर जाएंगे क्योंकि वे कुछ कमा नहीं सकते। सारे वृद्धों को भी मरना पड़ेगा क्योंकि वे भी कमाने योग्य नहीं रहे। आधुनिक अर्थशास्त्र भी मानता है कि मानव प्रकृति से स्वार्थी है। यदि सचमुच माता स्वार्थी बन जाए तो सारी मानवता मर जाए। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि माता यज्ञ की मूर्ति है। इसी यज्ञ तत्त्व पर सारी सृष्टि टिकी हुई है। अपने से बड़ी इकाई के लिए उत्सर्ग करना ही यज्ञभाव है। जब मानव अपने अहं को शरीर से विकसित कर परिवार तक ले आता है तब पूरा परिवार उसके मैं के भीतर सम्मिलित हो जाता है। वह परिवार के हित को अपना हित और परिवार के किसी सदस्य के अपमान को अपना अपमान मानता है। इसमें कुछ मात्रा में मोह का भाव भी काम करता है और कुछ अंश में कर्तव्य का भाव भी। किन्तु परिवार के अहं वाला शरीर के अहं वाले की अपेक्षा अधिक विकसित अवश्य है।

(ग) धीरे-धीरे अहं विकसित होकर जाति तक में अपने मैं को अनुभव करने लगता है। जाति के ऊपर प्रहार मेरे ऊपर प्रहार है। जाति की उन्नति मेरी उन्नति है तथा जाति की क्षति मेरी क्षति है। जातिगत अहं वाला परिवारगत अहम् वाले की अपेक्षा कुछ अधिक उदार, कुछ अधिक विकसित है।

(घ) समाज के प्रति मैं की भावना रखना और अधिक विकसित अहं का लक्षण है।

(ङ) राष्ट्रीय स्वाभिमान अहं का और भी बड़ा विकास एवं शोधक है।

(च) विश्वात्मभाव वाले व्यक्ति के मैं में सारा विश्व सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार अहं का क्रमशः शोधन एवं विकास करते जाने से मानव का अहं जो प्रारम्भ में दुर्गुण रूप में होता है वही उसका सद्‌गुण बनकर उसकी मुक्ति का साधन बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के समस्त कर्म व्यष्टि कर्म न रहकर समष्टि कर्म बन जाते हैं। ऐसा विशुद्धात्मा-सर्वभूतात्मा कुछ भी कर्म करते हुए कर्मों से लिपायमान नहीं होता। गीता के अध्याय पांच में—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 5/7, गीता

'जो (कर्म) योग से युक्त है, विशुद्ध अन्तःकरण वाला है, जिसने देह पर विजय पा ली है, जो जितेन्द्रिय है तथा समस्त प्राणियों की आत्मा ही जिसकी आत्मा हो गई है, ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता है।'

अहंकार और अस्मिता—अहं का अर्थ है मैं और अस्मि का अर्थ है—मैं हूं। जब मैं पर अधिक बल दिया जाता है तो अहंकार कहलाता है। और जब हूं पर अधिक बल दिया जाता है तो अस्मिता बन जाता है। अहं में 'मैं' की प्रतिष्ठा का भाव प्रबल होता है। अस्मिता में मैं की स्थिति, मैं की हस्ती, मैं के बने रहने का भाव प्रबल होता है। जब विदेशी ब्रिटिश शासक भारत के स्वाधीनता आन्दोलन या क्रान्तिकारियों की सशस्त्र क्रान्ति के सम्मुख झुकने को तैयार नहीं होते तो उसके मन में अहंभाव गर्जता है। हम शासक होते हुए, सारे देश के स्वामी होते हुए इन गुलामों की धमकियों से कैसे दब जाएं। दूसरी ओर जब अंग्रेजों की लाठी, गोली प्रहार, यातना और फांसी तक के सामने न झुकते हुए देशभक्त पुकार उठते हैं—'कोई भी आसुरी शक्ति हमारी हस्ती को, हमारे अस्तित्व को, हमारी अस्मिता को मिटा नहीं सकती।' तब अस्मिता का भाव प्रकट होता है। अहंकारी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बेचैन है और अस्मितावादी अपनी हस्ती या स्थिति को बचाने के लिए व्यग्र है। अहंकार दूसरे को लताड़कर आगे बढ़ना चाहता है और अस्मिता अपने अस्तित्व के लिए डटी हुई है। जैसे रावण अहंकारवादी है तो सीता अस्मितावादी है। रावण को बल, शक्ति का अहंकार है, तो सीता में अपने चरित्र की दृढ़ता का बल है।

अहंकार और दम्भ—प्राय: लोग अहंकार और दम्भ का एक अर्थ में प्रयोग करते हैं। किन्तु दम्भ अहंकार से थोड़ा भिन्न है। यह केवल पाखण्ड है, ढकोसला है, आडम्बर है, कपट है। वास्तविक शक्ति न होते हुए भी शक्ति का ढोंग रचना दम्भ है। रूस या अमेरीका का किसी देश को कुचल देने की गर्वोक्ति करना अहंकार है। किन्तु पाकिस्तान के प्रधानमंत्री भुट्टो का भारत के विरुद्ध एक हजार वर्ष तक संग्राम करने का वचन केवल दम्भ है। पुलिस अधिकारी का हठ तो अहंकार है किन्तु पुलिस की वर्दी पहनकर किसी क्षुद्र व्यक्ति पर रोब गांठना मात्र दम्भ होगा।

दम्भ और मिथ्याचार में भी अन्तर है। दम्भी अपने आपको दिखाने की कोशिश करता है जो वह वास्तव में नहीं है। मिथ्याचारी ऊपर से सज्जन दिखता है जबकि भीतर से दुर्बलता या शिथिलता के कारण सज्जनता पर स्थिर नहीं रह सकता। भगवान् गीता में कहते हैं कि जो बाहर से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचारी कहलाता है। कोई व्यक्ति ऊपर से बड़ा चरित्रवान दिखता या दिखाता है किन्तु मन ही मन विलासिता का चिन्तन करता रहता है जो ऊपर से ईमानदार बनकर अन्तर में बेईमानी के दुर्बल भाव रखता है। जो ऊपर से भगवान् के चिन्तन के लिए बैठता है अन्तर से मन कहीं और भटकता है, ऐसा व्यक्ति बाहर का प्रयत्न करता है किन्तु दुर्बलतावश

आन्तरिक प्रयत्न में असफल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मिथ्याचारी है क्योंकि उसका आचार आन्तरिक प्रयत्न न होने के कारण असफल, निष्फल या मिथ्या हो जाता है। प्राय: 90 प्रतिशत लोग इसी कोटि में आते हैं। वे मन्दिर जाते हैं, माला जपते हैं, ध्यान में बैठते हैं, पूजा-पाठ करते हैं पर उनका मन कहीं और भटकता रहता है। वे मिथ्याचारी हैं, वे दया के पात्र हैं। वे आन्तरिक दुर्बलता के कारण अपने आचार में निष्फल हो रहे हैं। वे किसी को ठगने के लिए ऐसा नहीं करते वरन् आन्तरिक दुर्बलता के कारण भटक जाते हैं। इसके विपरीत पाखण्डी (दम्भी) व्यक्ति साधक है ही नहीं। न अन्दर की साधना करता है न बाहर की, वह केवल अपने आडम्बर-युक्त ढकोसले से समाज को ठगना चाहता है।

मनोविज्ञान में हीनता ग्रंथि (inferiority complex) और श्रेष्ठता ग्रंथि (Superiority complex), दोनों मन की अवांछनीय ग्रंथियां मानी गई हैं जो मानसिक अस्वस्थता की परिचायक हैं। हीनता ग्रंथि में मनुष्य अपने को सदा घटिया मानकर आत्मग्लानि, आत्मनिंदा करता रहता है। मैं दुर्बल हूं, मैं रोगी हूं, मैं नालायक हूं, मैं असफल हूं, कभी सफल नहीं हो सकता, आदि। श्रेष्ठता ग्रंथि में मनुष्य अपने आपको वास्तविकता से अधिक श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास करता रहता है। यह एक प्रकार की आत्मवंचना है। ऐसा व्यक्ति बहुत दम्भ करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का मत है कि श्रेष्ठता ग्रंथि वास्तव में होती ही नहीं। यह हीनता ग्रंथि की क्षतिपूर्ति करने के लिए कृत्रिम आडम्बर है। अत: प्रत्येक दम्भी व्यक्ति भीतर से हीनता ग्रंथि का रोगी होता है, स्वस्थ मन वाला अन्दर और बाहर से समान रहता है। जिसके भीतर बहुत अभाव रहता है वही बाहर से बहुत बनाव-शृंगार करके अपने भीतर के अभाव की काल्पनिक पूर्ति करता है। आज के कृत्रिमता के युग में दम्भ, पाखण्ड, आडम्बर और बाहर की लिफाफेबाजी बहुत बढ़ गई है। यह दम्भ भी खोखले लोगों के लिए अहंकार प्रदर्शन का एक प्रकार है। थोथा चना बाजे घना। चीन के एक दार्शनिक ने कहा है कि मानव जीवन अहंकार की पतंगबाजी का खेल है। जैसे पतंग उड़ाने वाला सदा प्रयत्नशील रहता है कि उसकी पतंग की नोक सदा ऊपर रहे। वह थोड़ी देर डोरी की ढील देकर भी एक झोंक में पतंग को सबसे ऊपर ले जाए और इर्द-गिर्द की पतंगों को काटकर नभोमण्डल का एकछत्र सम्राट् बन जाए। उसी प्रकार मानवों के अहंकार उनकी नाक को ऊपर रख, थोड़ी बनावटी नम्रता की ढील के बाद अधिक अकड़ से ऊपर उठकर इर्द-गिर्द के अन्य मानवों की अहंकार की पतंगों को काटकर स्वयं सर्वोच्च प्रतिष्ठा पाने के लिए बेचैन रहते हैं।

जर्मनी का दार्शनिक नीत्शे मानव के अहं को इतना महत्त्व देता है कि उसके बिना मानव जीवन को बेकार मानता है। नीत्शे के शब्दों में—समाज का

वास्तविक उद्देश्य यही है कि वह कुछ सम्भ्रान्त एवं ऐश्वर्यशाली बड़े लोगों के विकास के लिए अंकुरण की क्यारी बने। इसके द्वारा साधारण लोगों को जो कष्ट सहना पड़े उसका कुछ महत्त्व नहीं है। स्वाधीन मानव वही है जो यह माने कि ईश्वर मर चुका है और हमें ईश्वर बनने के लिए नहीं वरन् एक ऊंचा मनुष्य बनने के लिए प्रयास करना चाहिए। नीत्शे की अहंकारवृत्ति एवं अहंभाव की महिमा से प्रेरणा प्राप्तकर महाकवि इकबाल भी मानव की खुदी (अहंवृत्ति) को सम्बोधन करते हुए लिखता है—

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बंदे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है?

जिस प्रकार यूरोप में वेदान्त (उपनिषद्) एवं बौद्ध धर्म के परम प्रशंसक शोपनहार के बिल्कुल विपरीत उग्र अहंभाव की महिमा गाने वाला दार्शनिक नीत्से प्रकट हुआ। उसी प्रकार भारत में भगवान् के सम्मुख सर्वस्वसमर्पणभाव से अपने अहं को गला देने वाले विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के बिल्कुल विपरीत भाव, अहम् वृत्ति के महिमागान को गाता हुआ कवि इकबाल प्रकट हुआ। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर गीताञ्जलि के अमर गीत में गाते हैं—

एक ही नमस्कारे प्रभु
एक ही नमस्कारे।

अर्थात् हे प्रभु! एक ही नमस्कार में मेरा मस्तक सदा-सदा के लिए आपकी चरण धूलि में झुक जाए और मेरा सारा अहंकार गल जाए।

आमार माथा नत करे दाऊ, तुम्हार चरण धूलि तोले।

रवीन्द्र की इस समर्पण भावना में जो दिव्य भक्तिभावना, आध्यात्मिक विनय एवं समर्पण की पावन प्रेरणा है उसकी तुलना में इकबाल में अहंकार की बू होने के कारण नोबल पुरस्कार समिति ने रवीन्द्रनाथ को विश्व के सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार (नोबल पुरस्कार) के योग्य माना। इकबाल को नहीं।

अहंकार निवृत्ति के उपाय—(क) ज्ञानयोग, (ख) भक्तियोग, (ग) कर्मयोग और (घ) राजयोग।

राजयोग

राजयोग में चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। चित्त बहुत चंचल है। जैसे समुद्र में निरन्तर लहरें चलती रहती हैं उसी प्रकार चित्त के सरोवर में संकल्प-विकल्प की लहरें निरन्तर चलती रहती है। संकल्प एक विधायक मानसिक कल्पना है कि मुझे यह काम करना चाहिए। विकल्प एक नकारात्मक कल्पना है कि यह काम नहीं करना चाहिए। जैसे समुद्र की लहर आगे-पीछे निरन्तर चलती

रहती है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्प की लहरें भी मनुष्य को आगे-पीछे नचाती रहती हैं। चित्त की इस चंचलता के कारण ही चित्त में शान्ति नहीं रहती है। इस प्रकार चित्त की बहुत बड़ी शक्ति परस्पर करने न करने के संकल्प-विकल्प के घात-प्रतिघात में नष्ट हो जाती है। चित्त जब कुछ कामना करता है, जब वह विषयों की ओर भागता है इससे भी उसकी शक्ति निम्न विषयों में व्यर्थ होती है। ऐसे चित्त को जीवन के उच्च मूल्यों या आदर्शों के लिए समय और शक्ति दोनों की कमी अनुभव होती है। यदि किसी मकान में नीचे के छत में नल खुले हों तो ऊपर की छत पर पानी बहुत कम चढ़ता है, नीचे का नल बंद करने पर ही ऊपर पानी चढ़ सकता है। इसी प्रकार चित्त की शक्ति यदि घटिया विषयों की ओर लगी रहे तो उच्च आदर्शों के लिए शक्ति ही नहीं बचेगी। योग द्वारा मन की घटिया वृत्तियों को रोक दिया जाता है। संयम और इन्द्रिय निग्रह द्वारा मन की शक्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है। जो वीर्य प्रायः नीचे की ओर पतित होता है संयम के द्वारा वह ऊपर उठता है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस बनता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि—इस अष्टांग योग द्वारा मन की शक्तियां विकसित होते-होते समाधिवस्था में आकर व्यष्टि अहम् का समष्टि अहं में लय हो जाता है। उस समय वह अलौकिक सुख एवं अपार आनन्द का अनुभव करता है। उस समय व्यक्तिगत अहं नहीं बचने के कारण संकल्प-विकल्प रुक जाते हैं। मन अन्तर्मुखी होकर अन्दर की निधियों को पाता है।

असंयमी व्यक्ति का चित्त उसके नियंत्रण में न रहने के कारण उसकी वृत्तियां निरन्तर परस्पर एक-दूसरे के विपरीत संघर्ष करती हुई उसकी मन की शक्ति व्यर्थ में क्षय होती रहती है। अतः वह कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां सामान्य अवस्था में धरती की वस्तुओं को नहीं जला सकती, किन्तु आरसी शीशे से केन्द्रित हो जाने पर उसका तेज और ओज एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है और वह वस्तुओं को जलाने में समर्थ हो जाती है। मानसिक एकाग्रता, वृत्तियों का नियंत्रण, एक लक्ष्य पर ऐकान्तिक ध्यान एक बहुत बड़ी चमत्कारी शक्ति पैदा कर देता है जिससे ज्ञान भी बहुत सुस्पष्ट हो जाता है और कर्म भी बहुत ऊर्जस्वी बन जाते हैं। इसी कारण योगी जो अपनी इच्छाशक्ति से अपने मन की वृत्तियों को रोक सकता है, नियंत्रित कर सकता है और वांछित बिन्दु पर लगा सकता है वह किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक चमत्कारी ढंग से ज्ञान-विज्ञान का रहस्य जान लेता है। अदृश्य और दूरस्थ घटनाओं को जान लेता है, दूरदर्शन कर लेता है और दूरश्रवण में भी समर्थ बन जाता है। वह दूसरों के मन में झांक कर उनके मन के गुप्त रहस्यों तक को जान लेता है और काल के पर्दे को चीरकर भूत, भविष्य और वर्तमान को सुस्पष्ट

देखकर त्रिकालदर्शी बन जाता है। उसके कर्म में विलक्षण शक्ति आ जाती है जिसे देखकर सामान्य लोग सिद्धियों का चमत्कार कहकर आश्चर्यचकित हो ठगे से रह जाते हैं। योगी का ज्ञान असाधारण बन जाता है। उसका कर्म चमत्कारी बन जाता है तथा उसकी दूरसंचार शक्ति अन्य के मन को अन्त:ज्ञान से पहचान लेने, प्रेरित करने की शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि योगी भगवान् की एक दिव्य विभूति बन जाता है। उसका व्यष्टि अहं समष्टि अहम् में लय हो जाता है। जैसे सर्वान्तर्यामी भगवान् अनायास ही सब कुछ जानते हैं और अनायास ही सब कर्म कर या करवा रहे हैं, उसी प्रकार योगी सर्वज्ञाता एवं सर्वसमर्थ बन जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए अष्टांग योग की क्रमिक सीढ़ियां हैं। योगी का सच्चा स्वरूप उसके योगसिद्ध होने पर ही प्रकट होता है। चंचल एवं उत्पाती मन को शांत एवं मौन करना एक बहुत बड़ी बहादुरी का खेल है जिसे साधारण दुर्बल मन कर ही नहीं सकता। कुछ इसी प्रकार के चंचल मन वाले असंयमी, नियंत्रणविहीन, इन्द्रियलोलुप, विलासिता में उन्मत्त मानव जिनका मन सदा शैतान का चरखा बना रहता है वे योगी के चित्तवृत्तिनिरोध को निद्रा या बेहोशी कहकर उसका उपहास उड़ाते हैं। वास्तव में सोये हुए तो वे हैं जिन्होंने अपने चित्त की वास्तविक शक्ति को पहचाना ही नहीं। सबसे बड़ी बेहोशी में वे ही बुरी तरह डूबे हुए हैं जो नित्य विषयों की ठोकर पर ठोकर खाकर भी अपने ध्येय के प्रति नहीं जागते और जो कामना के कीड़े और विलासिता के कुत्ते बने हुए संसार में भटक रहे हैं और आज तक अपने आपको न जानकर स्वयं के प्रति ही अंधे बने हुए हैं। योगी न सोता है और न मूर्च्छित होता है। यदि वह सोता तो दूसरों के मन की बात को कैसे जान लेता और मूर्च्छित होता तो एक स्थान पर बैठे हुए अपने संकल्प के बल से ही दूर बैठे हुए लोगों को प्रेरित कर वांछित कर्म कैसे करवा लेता। मूर्च्छित व्यक्ति न दूरदर्शन कर सकता है न दूरसंचार। न दूसरे में शक्तिपात, न दूसरे का उपचार और न असम्भव कर्मसम्पादन।

मन में अपार शक्ति छिपी हुई है। किन्तु साधारण मनुष्य उस अपार शक्ति का कुछ भी सदुपयोग नहीं कर पाता वरन् वह मन के तूफानों से स्वयं तबाह होता रहता है। जिस प्रकार प्रतिवर्ष सतलुज नदी की बाढ़ से फिरोजपुर तथा पंजाब के कई जिले बाढ़ में डूब जाते थे। मनुष्य और पशु मर जाते, भवन गिर जाते, खेती उजड़ जाती, कारखाने बर्बाद हो जाते। वहां सतलुज पर भाखड़ा डेम बांध देने से बाढ़ की विनाशकारी लीला रुक गई। जन-धन की हानि समाप्त हो गई। इसके साथ ही विद्युत् का बहुत बड़ा भण्डार प्राप्त हो गया जिससे उत्तर भारत जगमगा उठा। कल-कारखानों में उत्पादन बढ़ गया और सारे क्षेत्र में अविश्वसनीय प्रगति हो गई। सतलुज के जल को बांध में बांधना उसकी विनाशकारी जलराशि को

विश्वमंगलकारी बनाना है। अनियंत्रित मन को नियंत्रित करना अपने सर्वनाश के स्थान पर अपना सर्वांगीण विकास करना है।

चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ चित्तवृत्ति को नियंत्रित करना है। विद्युत् के नियंत्रण का अर्थ यह नहीं कि विद्युत् की धारा को बंद कर देना। वरन् वे कहते हैं कि विद्युत्धारा को वश में रखना और आवश्यकतानुसार उसको खोलना और बंद करना ताकि विद्युत् का वृथा नाश न होता रहे। चित्तवृत्तिनिरोध से योगी पहले यम-नियम का पालन कर अपनी प्रवृत्तियों को शुद्ध भर करता है। उसको पवित्र करने में लगता है। जीव मात्र के प्रति अहिंसा का व्रत लेता है। वह सत्यमार्गी बनता है। मानव की छोटे-छोटे तुच्छ स्वार्थों के लिए झूठ बोलने की उलटी बुद्धि उसे बहुत पतित कर देती है। इस झूठ की प्रवृत्ति को रोकना और सत्य का व्रत लेना बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक साधना है, दर्शन की मूल भीत (नींव) है और महान् कर्मों की आधारशिला है। झूठ की प्रवृत्ति को रोकना न तो सोना और न ही मूर्च्छा है। इसी प्रकार कुसंस्कारवश तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए अधिकांश मानव दूसरों के धन की चोरी करते रहते हैं। देश में रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, लूट-खसोट और प्रशासन में ऊंचे पदों पर बैठे हुए लोगों द्वारा भी देश को लूटकर घर भरने की प्रवृत्ति चोरी, तस्करी की प्रवृत्ति है। इस चोरी की प्रवृत्ति का निरोध कर अस्तेय का व्रत लेना लोक-मंगलकारी है और मानव को विकसित कर देवता बनाने वाला है। क्या चोरी की प्रवृत्ति के निरोध को सुषुप्ति या मूर्च्छा कहा जा सकता है?

प्राय: सब मानव आलस्यवश कर्म से भागते हैं और निकम्मे बैठे-बैठे सब प्रकार के भोग-विलास को भोगना चाहते हैं। ऐसा व्यक्ति समाज का बोझ एवं कलंक बन जाता है। वह परोपजीवी (दूसरों की कमाई का हिस्सा खा लेने वाला) देश एवं समाज की प्रगति में बाधक होता है। इस आलस्य एवं भोग की प्रवृत्ति को तप द्वारा रोका जा सकता है। अपने से बड़ी इकाई के लिए कष्ट उठाना ही तपस्या है। तपस्वी व्यक्ति आलसी, भोगी और कामचोर नहीं हो सकता है। तप को निद्रा या मूर्च्छा मानना सत्य का घोर अपमान करना है।

आलसी, निद्रालु एवं मूर्च्छनाग्रस्त व्यक्ति कभी स्वाध्याय नहीं करता है और न करा सकता है। योग के मार्ग पर चलने के लिए प्रारम्भिक तैयारी में ही व्यक्ति को दैनिक स्वाध्याय का व्रत लेना पड़ता है। स्वाध्याय का यौगिक अर्थ स्व अर्थात् आत्मा का चिन्तन है। यह विचार करना है कि मैं कौन हूं। यह स्वाध्याय ही सारे दर्शन एवं अध्यात्म का जनक है। जब तक व्यक्ति स्वयं आत्मचिन्तन एवं आत्म-विचार योग्य नहीं बनता, तब तक वह शास्त्रों में अंकित आत्मवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी महापुरुषों की अनुभूति के प्रसाद को नहीं प्राप्त करता है। स्वाध्याय करना

ही दैनिक ऋषियज्ञ है। वेद में कहा गया है—स्वाध्यायेन अर्चयेत् ऋषीन्—अर्थात् स्वाध्याय द्वारा ऋषियों की अर्चना कर।

क्या स्वाध्यायशील, जाग्रत्, विवेकी और आत्मचिन्तक जिज्ञासु को कोई निद्राग्रस्त या मूर्च्छित कह सकता है। वास्तव में स्वाध्याय से पराङ्मुख, भोगान्मुख स्वयं अपने आप के प्रति अंधे व्यक्ति ही निद्राग्रस्त एवं मूर्च्छित कहे जा सकते हैं। मूर्च्छा का लक्षण ही यही है अपने आपके प्रति चेतना का अभाव।

इसी प्रकार योग की प्रारम्भिक साधना में शौच का नियम है। अधिकांश लोग तन से अपवित्र, मन से अपवित्र, विचारों से अपवित्र, खान-पान में अपवित्र, धन कमाई में अपवित्र और संकल्पों में अपवित्र बने रहते हैं। योगसाधक शुचिता, पवित्रता का व्रत लेता है। अतः वह अन्दर-बाहर से पवित्र होकर धरती का भूषण एवं मानवता का मुकुटमणि बन जाता है।

इसी प्रकार ईश्वर प्रणिधान के द्वारा भी मानव की समस्त प्रवृत्तियां सांसारिक भोगों से हटाकर सृष्टि के स्वामी विश्व के चरम सत्य की ओर लग जाती है। चित्तवृत्तियों का भोगों से निरोधकर सत्य से योग करना कभी निद्रा या मूर्च्छा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार योग के प्रथम पग पर ही मानव मन का अन्तर-बाहर से ऐसा शोधन एवं पवित्रीकरण हो जाता है कि इतने मात्र से ही मनुष्य देवतुल्य बन जाता है। योग का अष्टांग सिद्ध हो जाने पर तो नर पूरा नारायण ही बन जाता है। तब उसका व्यक्तिगत अहम् व्यक्तिगत संकल्प भागवत संकल्प बन जाता है और उसके शरीर के निमित्त से दिव्य ईश्वरीय कर्म होने लग जाते हैं।

अहंकार निवृत्ति की युक्ति

अहंकार एक अशुद्ध, गलत मान्यता है कि मैं शरीर, मन, इन्द्रिय आदि का समूह जीवात्मा हूं। तथा मैं ही कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता हूं। गलत मान्यता को सही मान्यता से ही हटाया जा सकता है। अशुद्ध मान्यता को हटाने का इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं।

हम विचार करें कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सब क्रियाओं को मैं जानता हूं। हाथ की क्रिया, पांव की क्रिया, मन का संकल्प, बुद्धि के विचार, से सब क्रियायें हो रही हैं जिनका मुझे ज्ञान होता है। यदि मैं भी क्रिया कर रहा हूं तो मेरी क्रिया को जानने वाला कौन है? मैं यदि स्वयं क्रियाशील न रहूं तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की क्रियाओं को और इस विराट् प्रकृति के अन्दर घटने वाली नानाविध घटनाओं एवं क्रियाओं को जानेगा कौन? स्वयं ही नदी की धार में, नदी के साथ बहने वाला, नदी की गति और वेग को कैसे जान सकता है। शेर

के दांतों से चींथा जाकर शेर का कलेवा बनने वाला व्यक्ति शेर के दांत कैसे गिन सकता है। जो स्वयं काल के मुख में है वह यह साक्षी कैसे दे सकता है कि काल सबको खा जाता है।

बौद्ध दार्शनिक कहते थे सर्वं क्षणिकम् अर्थात् सब कुछ क्षणिक अर्थात् परिवर्तनशील है। इससे बौद्धों ने अनात्मवाद का सिद्धान्त बनाया कि अमर आत्मा कुछ है ही नहीं। यह केवल चेतन धारा है जो स्मृति की श्रृंखला से जुड़ी हुई है। प्रत्येक घटना एक स्वतंत्र बिन्दु के समान है जो अगले बिन्दु से स्मृति श्रृंखला से जुड़ जाती है और इस प्रकार की घटनाओं की श्रृंखला स्मृति की बंधी हुई धारा को मैं कह दिया जाता है। जब स्मृति की श्रृंखला टूट जाती है तो स्वयं अपनी ही बीती हुई घटना के मैं को आज का मैं पहचान ही नहीं पाता। यदि दस वर्ष पहले मैंने किसी से उधार लिया हो या किसी का उपकार किया हो और उस घटना को आज से जोड़ने वाली स्मृति की श्रृंखला कहीं टूट जाए तो मैं स्वयं अपने बीते हुए मैं को न मानता हूं, न पहचानता हूं। दूसरा व्यक्ति कहता है आपने मुझसे रुपये उधार लिए अथवा आपने मेरा तिरस्कार किया, किन्तु विस्मृति के कारण मैं मानता ही नहीं कि वह मैं ही था। भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का विचार इस रूप में इसलिए दिया कि मानव को अपने कर्तापन का अहंकार करने का स्थान ही न बचे। जिसे में मैं समझता हूं वह वास्तव में चेतना के क्षणों की स्मृति से जुड़ी श्रृंखलामात्र है। जब पक्का मैं है ही नहीं तब अहंकार किसका करें?

भगवान् शंकराचार्य ने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पूछा—आप जो मानते हैं कि सब कुछ परिवर्तनशील है तो यह सत्य ज्ञान है या असत्य ज्ञान? यदि यह सत्य ज्ञान है तो इसका ज्ञाता कौन है? यदि शरीरधारी बुद्ध इसका ज्ञाता है तो बुद्ध के जन्म से पूर्व जब सब कुछ परिवर्तनशील था यह कैसे सिद्ध होगा और बुद्ध के शरीरांत के बाद भी सदा सब कुछ परिवर्तनशील रहेगा इसका क्या प्रमाण है? जो स्वयं परिवर्तनशील है वह सब कुछ परिवर्तित होने की साक्षी कैसे दे सकता है। शरीरधारी बुद्ध भी एकदेशी होने से सीमित परिवर्तन में द्रष्टा हो सकता है, सारे विश्व ब्रह्माण्ड की परिवर्तनशीलता का नहीं। शरीरधारी बुद्ध अल्पजीवी एवं नश्वर होने के कारण सीमित काल के परिवर्तनों का साक्षी हो सकता है, त्रिकाल अथवा सर्वकाल के परिवर्तन का कभी नहीं। सर्वदेश और सर्व काल के समस्त परिवर्तनों का साक्षी वह अमर आत्मा ही हो सकता है जो स्वयं अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड, एकरस, अपरिवर्तनीय सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक चेतन सत्ता है। किसी तीस मील लम्बी दौड़ में सर्वप्रथम स्थान का निर्णय वही निर्णायक कर सकता है जो दौड़ प्रारम्भ होने से पहले भी वर्तमान हो, सारी दौड़ के बीच भी जागरूक निरीक्षक बना रहे और दौड़ के अन्त में सर्वप्रथम आने वाले व्यक्ति से पहले

ही लक्ष्य बिन्दु पर वर्तमान रहे। यदि रैफरी या निर्णायक स्वयं मील, आध मील दौड़कर हांफ कर गिर जाने वाला हो तो वह निर्णय क्या करेगा। सृष्टि के चरम और परम सत्य को और उसके रहस्यों को वही ठीक-ठीक जान सकता है जो सृष्टि की लीला प्रारम्भ होने से पहले भी चेतन सत्ता के रूप में वर्तमान है, सृष्टि की सारी लीला के बीच में भी निरन्तर वर्तमान है और सृष्टि के महाप्रलय की लीला का भी अमर साक्षी है। वरन् अनेकों महाप्रलयों का भी तमाशा देख चुका है।

यदि बौद्धों के मतानुसार कोई जीवात्मा या अमर आत्मा है ही नहीं तो कर्मफल किसको मिलता है। कर्म चेतना का एक कण करेगा और फल दूसरे कण को मिल जाएगा। इस प्रकार नैतिक न्याय नहीं हो सकेगा। यदि मैं पक्का न माना जाए तो पुनर्जन्म किसका होगा और निर्वाण किसको मिलेगा? इन समस्याओं का समुचित उत्तर बौद्ध दर्शन में न होने के कारण शंकराचार्यजी ने बौद्धों पर दार्शनिक विजय प्राप्त की।

शंकर ने अहंकार से मुक्ति के लिए मैं की सत्ता को नकारा नहीं वरन् यह कहा कि शुद्ध मैं की विस्मृति और अशुद्ध मैं का अध्यास होने के कारण ही मन रूपी चन्द्रमा को अहंकाररूपी राहु ग्रस लेता है।

अहंकाररूपी अशुद्ध मान्यता को इस विपरीत मान्यता से हटाया जा सकता है कि मैं शरीर, मन, इन्द्रिय आदि जीवात्मा नहीं हूं। अथवा यह सही मान्यता लानी पड़ेगी कि मैं निर्लिप्त, शुद्ध आत्मा हूं। मैं शरीर, इन्द्रियादि की समस्त क्रियाओं का साक्षी हूं। मैं स्वयं कुछ न करते हुए बाह्य प्रकृति की लीला और अन्त:प्रकृति की कर्मलीला का साक्षी हूं। गीता में भगवान् ने पांचवें अध्याय के 8वें श्लोक में ऐसी ही मान्यता का उपदेश दिया है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। 5/8, गीता

पुरुषार्थ चतुष्टय द्वारा मोह मुक्ति

धर्म

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में धर्म का महत्त्व सर्वाधिक होने के कारण और इसकी आवश्यकता चारों पुरुषार्थों में होने के कारण इसका नाम सबसे पहले लिया जाता है। धर्म का अर्थ है कर्तव्य। गीता में स्वधर्म पालन (कर्तव्य पालन) पर बल दिया गया है। दूसरे के अधिक सुन्दर दिखने वाले धर्म की अपेक्षा अपना कम गुणों वाला धर्म भी अधिक कल्याण करने वाला है। परायी सुन्दर धनवान स्त्री की अपेक्षा अपनी निर्धन एवं रूपहीन माता अधिक कल्याण कर सकती है। भगवान् कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:। 3/35, गीता

'अपने स्वधर्म में मर जाना भी अधिक कल्याणकारी है। दूसरे का धर्म तो भय देने वाला है।' निष्काम भाव से शास्त्र के आदेशानुसार प्रभु की प्रीति के लिए कर्म का संग, कर्मफल एवं कर्तापन का अहंकार त्यागकर किया हुआ कर्तव्यकर्म मोहनाश कर जीव को मुक्त करने वाला है।

अर्थ

भारतीय संस्कृति में अर्थ का आदर्श है धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति एवं सदुपयोग। धन एवं धान्य परस्पर सम्बन्धित है। कोई धान्य उगाता है और निर्वाह योग्य धान्य को रखकर शेष धान्य को बेचकर धन में परिवर्तित कर लेता है और उस धान्य से अन्य आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है। जो व्यक्ति कृषि न करके अपने तन का श्रम या बौद्धिक श्रम लगाकर धन कमाते हैं, वे सीधे धन या पैसे को खाकर पेट नहीं भरते। वे धन को धान्य में परिवर्तित कर अपनी खाद्य समस्या का समाधान करते हैं। भारतीय संस्कृति का कथन है धन अथवा धान्य कमाओ किन्तु धर्म पर चलते हुए उनका उपार्जन करो। न किसी की जेब काटो, न गला काटो और न खेत काटो। अर्थ में शुचिता भारतीय संस्कृति का अनिवार्य मूल्य है। भगवान् मनु ने कहा—

सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। 5/106

अर्थात् सब प्रकार के शौचों में (पवित्रता के कार्यों में) अर्थ शुचिता ही सबसे श्रेष्ठ है। मिट्टी और जल से बारबार धोकर, रगड़कर हाथों की या शरीर के अन्य अंगों की सफाई करना तो मात्र बाहर की औपचारिकता ही है। जिस व्यक्ति की कमाई पवित्र नहीं है वह चाहे जीवनभर सब तीर्थों में स्नान करता रहे और गोपी चन्दन और गंगाजल से शरीर को दर्जनों बार नहलाता रहे, वह पवित्र नहीं हो सकेगा।

(क) अर्थशुचिता की मीमांसा—मानव को परिश्रम करके धन-धान्य का उपार्जन करना चाहिए। आलस्य और अकर्मण्यता में पड़े हुए दूसरों की कमाई खाना अथवा दूसरों के परिश्रम द्वारा उपार्जित अन्न पर जीना अर्थशुचिता नहीं है।

(ख) चोरी-चकारी का धन या लूट का अन्न कभी भी हमारी बुद्धि को पवित्र नहीं रहने देगा। दूसरे द्वारा चुराया धन-धान्य भी यदि अज्ञानवश भी प्रयोग कर लें तो वह बुद्धि को दूषित करता है। एक राजा के राजगुरु जो वीतराग संत थे, जब स्नानालय में स्नान हेतु गए तो हीरक हार देखकर उनके मन में लोभ पैदा हो गया और वे हार को ले गए। इधर राजा ने राज्य भर में हार की खोज और चोर को पकड़ने के लिए भरसक चेष्टा की किन्तु हार नहीं मिला। एक मास पश्चात् राजगुरु

स्वयं राजा के पास हीरक हार लेकर पहुंचे तथा कहा कि मैं हार उठाकर ले गया था। राजा को विश्वास नहीं हुआ। गुरु ने कहा कि दूषित अन्न के प्रभाव से मेरे मन में चोरी का भाव उदय हुआ। राजा को इस बात पर विस्मय हुआ। खोज करने पर पता चला कि 40-45 दिन पूर्व राज-कर्मचारियों ने चोरी का अन्न ले जाते हुए कुछ चोरों को पकड़ा था। चोरों को कारागार में भेजा गया और अन्न अधिग्रहण कर सरकारी भण्डार में रखा। उसी भण्डार से कुछ अन्न के बोरे राजा की पाकशाला में आए थे, चोरी के अन्न को ग्रहण करने से राजगुरु तक के मन में चोरी का भाव उदय हो गया था। एक मास पश्चात् जब दूषित अन्न का प्रभाव पूर्ण रूप से शरीर से निकल गया तब अपने आप राजगुरु के मन में चोरी के कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। आज चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, ठगी के अन्न या धन से मानव का मन दूषित हो रहा है। दूषित मन में दूषितभाव ही जगते हैं। उससे अहंता-ममता बढ़ती है। जीव स्वयं पतित होता है और समाज को नरकतुल्य बना देता है।

(ग) जिस धन-धान्य की प्राप्ति के लिए हमने इसके समान परिश्रम न किया हो वह भी अपवित्र माना जाता है। इसलिए जुए का धन अपवित्र है। आजकल लॉटरी का फैशन चल पड़ा है किन्तु विचार कर देखेंगे तो लॉटरी भी सरकार द्वारा स्वीकृत फैशनेबुल जुआ ही है। इससे किसी व्यक्ति को बिना उचित परिश्रम किए ही अन्य लाखों लोगों का हक छीनकर मोटी रकम मिल जाती है। अतः लॉटरी के धन को भी अपने निजी प्रयोग में न लाकर किसी समाज कल्याण के कार्य में लगाना चाहिए।

(घ) जो व्यक्ति लेन-देन में साफ नहीं है, जो लिए हुए उधार को हड़प कर बैठ जाता है या भूल जाता है अथवा उसको डकार जाने के लिए कोई बहाना खोज लेता है उसका धन पवित्र नहीं है। ऐसे मित्र के यहां भोजन करने से भी उसकी पाप प्रवृत्ति का अंश हमें भी दूषित कर सकता है। ऐसा व्यक्ति मोह में अंधा है, लोभ के पाप में डूबा हुआ है तथा अन्यों को भी डुबाने में कारण बनता है।

(ङ) पाप की कमाई से परिवार को पालने पर बच्चों में भी पाप के भाव आते हैं। वे बड़े होने पर स्वयं अपने माता-पिता को भी ठगने या लूटने में अग्रणी होते हैं। जो धन अनर्थ से आता है वह अनर्थ में या व्यर्थ में ही जाता है।

(च) धन की चार गतियां हैं—

चत्वारो धनदायका धर्माग्निनृपतस्कराः।
तेषां ज्येष्ठापमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः।।

धन के हिस्सेदार चार भाई हैं—धर्म, अग्नि, राजा और चोर। इसमें बड़े भाई के अपमान से छोटे तीनों (अग्नि, राजा और चोर) कुपित हो जाते हैं और सब धन समाप्त हो जाता है।

अर्थात् धन की चार गति है। या तो धर्म में लगे या राजा कर रूप में छीन ले या चोर लूट ले या आग में जल जाए। जिस धन का प्रथम गति में धर्मार्थ विनियोग नहीं होता है उसकी अन्य गतियां होनी अनिवार्य हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

अर्थमनर्थं भावय नित्यम्

अर्थात् यह नित्य भावना करो कि अर्थ ही सभी अनर्थों का कारण है। वास्तव में कांचन और कामिनी ममता के दो बड़े आकर्षक एवं लुभावने आकर्षण बिन्दु हैं। इसलिए धन के मद में और कामिनी के मोह में अंधा होकर मनुष्य नाना प्रकार के अनर्थ, अनाचार करता है। रावण ने सोने की लंका के लोभ में अपने भाई कुबेर को भगाकर सोने की लंका पर आधिपत्य जमा लिया और सीता के सौन्दर्य पर मोहित हो उसे चुराकर ले गया। इस प्रकार ब्रह्माजी का प्रपौत्र, पुलस्त्य ऋषि का पौत्र, विश्रवा ऋषि का पुत्र (ब्राह्मणवंशी) रावण वेदों का विद्वान् होते हुए भी कांचन और कामिनी के मोह के कारण इतिहास में राक्षस के नाम पर तिरस्कृत हुआ।

वनवास काल में जब लक्ष्मण भगवान् राम से पूछते हैं कि संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो कांचन और कामिनी के मोह में फंसता नहीं है तो भगवान् समाधान देते हैं—

पिता यस्य सदाचारी, माता यस्य पतिव्रता।
कंचन कामिनीं दृष्ट्वा न तस्य चलति मनः।।

अर्थात् जिसके पिता सदाचारी हैं, माता पतिव्रता है, ऐसे सदाचारी माता-पिता की संतान का मन कंचन और कामिनी को देखकर चलायमान नहीं होता है।

(छ) श्रीरामकृष्ण परमहंस गंगा के तीर पर एक हाथ में मिट्टी और दूसरे में सोना लेकर बैठते और कहते थे ये मिट्टी, ये सोना। पुनः सोना को मिट्टी और मिट्टी को सोना। फिर दोनों को सोना। फिर दोनों को मिट्टी कहकर गंगाजी में फेंक देते। यदि कोई गहरी निद्रा में भी उनके शरीर के किसी अंग से कोई सिक्का छुआ देता तो उनका अंग सिकुड़ कर पीछे हट जाता था। इस प्रकार उन्होंने कांचन के मोह पर विजय पाई थी। कामिनी पर विजय के लिए वे प्रत्येक नारी को भगवती, माँ काली का रूप मानकर वंदन करते थे। वे वेश्याओं तक में भी माँ भगवती का दर्शन किया करते थे।

(ज) श्रीरामकृष्ण जैसी सिद्धावस्था तो कुछ विरले जनों को प्राप्त होती है। किन्तु साधनावस्था में ही कांचन और कामिनी की मोह-ममता से बचने का सूत्र भारतीय ऋषियों ने दिया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।।

अर्थात् परायी स्त्रियों को माता के समान और पराये धन को लोष्ठ (कंकर-पत्थर) के समान और सब भूत प्राणियों को अपनी आत्मा के समान जो देखता है वह ही सच्चा मानव मोह-ममता से मुक्त होकर सत्यदृष्टि से देखता है। इसी को रामायण में तुलसीदासजी ने गाया है—

जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव विष तें विष भारी।।
जो हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी।।
जिन्हहि राम तुम्ह प्राणपियारे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।। 2/129/6-8

गोस्वामी तुलसीदास अन्यत्र उसी भाव को कहते हैं—

पर नारी सब मातु सम, पर धन धूलि समान।
एते से प्रभु ना मिले, तो तुलसी दास जमान।।

श्रीरामकृष्ण परमहंस की सिद्धावस्था में कांचन-कामिनी भाव शेष ही नहीं रहते—

मातृवत् स्वदारेऽपि सर्वद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मैव सर्वभूतेषु, रामकृष्णः जयतु सदा।।

(झ) शास्त्र का वचन है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'

अर्थात् आहार की शुद्धि से ही मन की शुद्धि होती है। आहार में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(i) पवित्र धन (पवित्र कमाई का पैसा)।

(ii) परिश्रम से उपार्जित धन।

(iii) बिना छल-छद्म से प्राप्त धन।

(iv) पवित्र अन्न।

(v) अहिंसक भोज्य पदार्थ।

(vi) पवित्र स्थान पर बना हुआ।

(vii) पवित्र व्यक्ति द्वारा पकाया हुआ।

(viii) पवित्र भाव से पकाया हुआ एवं परोसा हुआ।

(ix) पवित्र स्थान पर ग्रहण।

(x) पवित्र भाव से भगवान् को समर्पित।

(xi) अतिथि-अभ्यागत को भेंट कर।

(xii) शरीर निर्वाह भर के लिए जिह्वा के स्वाद या इन्द्रियों के लोभ से मुक्त, भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करना।

गुरु नानकदेव ने दीवान के भोगों के पूरी-पकवान को त्यागकर भाई लालो (एक निर्धन बढ़ई) की सूखी रोटी को आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। उन्होंने दर्शाया कि दीवान के भोजन में निर्धनों का रक्त है और गरीब बढ़ई की सूखी रोटी में परिश्रम का सात्त्विक दुग्ध है।

भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन का मेवा त्यागकर विदुर के घर का शाक स्वीकार किया। उन्होंने दुर्योधन से कहा कि मनुष्य भोजन तब करता है जब देने वाले के मन में प्रेम हो या पाने वाले के मन में भूख हो, गरज हो। न तेरे मन में प्रेम है और न मेरे मन में गरज है।

अहंकारी एवं स्वार्थी (भोजन कराके अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा वाले) व्यक्ति के यहां भोजन करने से तो मन अशुद्ध होता है।

(ञ) शास्त्रों में मठ-मन्दिरों में चढ़ाए हुए चढ़त या दान के पैसों को भी बहुत भारी एवं दूषित माना गया है। सभी भक्तगण या आगन्तुक अपने किसी कष्ट क्लेश के निवारण के लिए मन में कुछ मनौती मांग कर देवता के सामने पैसा चढ़ाते हैं। अतः उस पैसे में उनके कष्ट-क्लेश, दुःख छिपे हुए और भगवान् से उनकी सकाम याचना लिपटी हुई है। उसे (उस धन को) पचाना बहुत कठिन काम है। केवल तपस्वी ब्राह्मण ही अपनी तपस्या की अग्नि से चढ़त के पैसे के दूषित संस्कारों को भस्मकर उन्हें प्रयोग करने का अधिकारी बनता है। तपस्याहीन, साधनाहीन, केवल खान-पान, नशा सेवन, निद्रा, आलस्य में जीवन बिताने वाले ढोंगी साधुओं एवं मठाधीशों को यह दूषित अन्न और धन और भी अधिक नीचे गिरा देता है।

एक बार भगवान् राम के दरबार में एक कुत्ते ने न्याय की पुकार की। उसने कहा कि एक ब्राह्मण ने बिना कुत्ते के भौंकने या काटने की चेष्टा के अकारण ही उसे डण्डा मारकर घायल कर दिया। भगवान् ने ब्राह्मण को बुलाकर सारी जांच-पड़ताल की। कुत्ते का आरोप ठीक था, जिसे ब्राह्मण को भी मानना पड़ा। भगवान् ने कुत्ते से पूछा—तुम्हीं बताओ कि इसे क्या दण्ड दिया जाए। इस पर कुत्ते ने उत्तर दिया, महाराज! इसे किसी मठ का मठाधीश बना दिया जाए। सबके विस्मय करने पर कुत्ते ने कहा—मैं भी पिछले जन्म में मठ का मठाधीश था। लोगों के दान का दूषित अन्न खाकर मुझे कुत्ते की योनि मिली। अतः इसे भी इस क्रम में जब कुकुर योनि मिलेगी तब इसे पता चलेगा कि डण्डा मारने से कैसी पीड़ा होती है।

(ट) धन की कमाई में और धान्य के उत्पादन में कुछ दोष अज्ञात रूप में मिल जाते हैं जिनका निवारण करना कई बार असम्भव हो जाता है। जैसे मिलने

वाले वेतन के सिक्के या नोट, वेतन देने वाले ने कैसे कमाया इस पर ईमानदार परिश्रमी कार्यकर्ता का कोई जोर नहीं है। छुट्टी के दिनों का बिना परिश्रम का वेतन, हड़ताल के दिनों का, कर्फ्यू के दिनों का वेतन, अकस्मात् दाम बढ़ जाने से होने वाला लाभ, ग्राहक की भूल से अधिक पैसा आ जाना, खेत के जोतने में कुछ जीवों की हिंसा, काटने में, पीसने में, अग्नि जलाने में, पकाने में, अज्ञात एवं अनिच्छित रूप में होने वाली हिंसा के छोटे-मोटे दोष अन्न में आ ही जाते हैं। इन अनिच्छित-अकस्मात् होने वाले धन और धान्य दोषों के निवारण के लिए भारतीय ऋषियों ने दान और पंच महायज्ञ का विधान किया है। अपनी कमाई का दस प्रतिशत समाजसेवा एवं धमार्थ कार्यों में दान करना चाहिए।

पंच महायज्ञों के द्वारा मनुष्य सारी सृष्टि के ऋण का कुछ अंश में भुगतान करना सीखता है।

पंच महायज्ञ

(1) **ब्रह्मयज्ञ**—दैनिक ब्रह्म चिन्तन करना।

(2) **ऋषियज्ञ**—ऋषियों के पवित्र ग्रंथों का स्वाध्याय करना।

(3) **पितृयज्ञ**—पितरों-पूर्वजों का श्राद्ध स्मरण रख उन्हें जलांजलि देना तथा यथासमय श्राद्ध करना।

औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को आगरा के लाल किले की मोती मस्जिद में कैद कर रखा था। तब एक बार वह उसे देखने के लिए गया, हाथ-पैर बंधे हुए अपने बाप को घिसट-घिसट कर पानी के प्याले की ओर जाते देखकर औरंगजेब ने अपने बाप को अधिक सताने के लिए पांव की ठोकर से प्याला तोड़ दिया। इस पर शाहजहां जोर-जोर से रोने लगा। उसने कहा—

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी, ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।
आफरीन बाद हिन्दवान सत्‌बार, मैं देहंद पिदरे मुर्दारावा दायॅम आब।।

हे पुत्र! तू विचित्र मुसलमान है जो अपने जीवित पिता को जल के लिए भी तरसा रहा है। शत-शत बार प्रशंसनीय हैं वे हिन्दू जो अपने मृत माता-पिता को भी जल देते हैं।

गुरु नानकदेवजी ने भी कहा है—

आप न देह चुलुभर पानी
निंदई सइ जिन गंगा आनी।

अर्थात् लोग स्वयं अपने पितरों को चुल्लू भर पानी तो देते नहीं किन्तु निन्दा उस राजा भगीरथ की करने लगते हैं जो अपने पितरों के उद्धार के लिए स्वयं गंगा को ही स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया था।

(4) **नृ यज्ञ—**अर्थात् मनुष्य के कल्याण के लिए यज्ञ। इसी का दूसरा नाम अतिथि यज्ञ भी है। अतिथि ऐसा व्यक्ति है जो बिना पूर्व सूचना के बिना घोषित तिथि के हमारे गांव में अथवा हमारे द्वार पर आ जाए। आजकल किसी विशिष्ट आदमी के पूर्व सूचनानुसार पहुंचने पर उसे अतिथि या विशिष्ट अतिथि कहते रहते हैं। वास्तव में ऐसा व्यक्ति अतिथि न होकर अभ्यागत है। परिचित मित्र, बंधु, गोतिया भी बाहर से आने पर अभ्यागत की कोटि में आएंगे। अतिथि तो प्राय: अपरिचित, बिना पूर्व सूचना के, बिना घोषित तिथि के अकस्मात् हमारे द्वार पर आ जाने वाला व्यक्ति है। वेद का वचन है **'अतिथि देवो भव।'** अर्थात् अतिथि को देवता मानो। अतिथि सत्कार, अतिथि पूजा, अतिथि सेवा, अतिथि धर्म, भारतीय संस्कृति की बड़ी दिव्य परम्परा रही है जिसकी महिमा मैगस्थनीज (यूनानी यात्री) तथा ह्वेनसांग, फाहियान आदि चीनी यात्रियों ने भी गायी है। यहां अतिथियों के पानी मांगने पर आदरपूर्वक दूध भेंट किया जाता है। राजा रन्तिदेव ने अपना भोजन अतिथि को देकर स्वयं भूख से प्राण देना भी श्रेयस्कर समझा। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक नेवला पहुंचा जिसका आधा शरीर सोने का था। उसने बताया कि युधिष्ठिर महाराज का यज्ञ एक गरीब ब्राह्मण के सत्तू दान यज्ञ से भी घटिया है। एक गरीब ब्राह्मण परिवार को कई दिन तक कई मास के दुर्भिक्ष में बहुत कष्ट झेलना पड़ा। कई दिन के उपवास के बाद जब उनका अपना प्राण संकट में था तब भिक्षा में एक मुट्ठी सत्तू मिल गया था। उसे घोलकर परिवार के चार सदस्य एक-एक घूंट पीने के लिए उद्यत थे, तभी एक भूखा अतिथि पहुंच गया। पति-पत्नी और पुत्र-पुत्री चारों ने बारी-बारी से अपना कटोरा अतिथि को दे दिया। और अतिथि के तृप्त हो जाने पर समाधानपूर्वक भूखे ही प्राण छोड़ दिए। अतिथि के सत्तू पीने से जो अनाज के दो-चार कण धरती पर गिरे उन्हें स्पर्श करते ही नेवले का आधा शरीर सोने का हो गया था। शेष आधे शरीर को भी स्वर्णिम बनाने लिए वह युधिष्ठिर महाराज के यज्ञशेष अन्न में लोट-पोट रहा था, किन्तु उसका शेष शरीर जब सोने का नहीं बना तो उसने कहा, हे युधिष्ठिर महाराज! आपका करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं के दान वाला यह विराट् यज्ञ उस निर्धन ब्राह्मण के सत्तू दान यज्ञ की अपेक्षा घटिया है। शास्त्र में विधान है कि जिसके घर में स्वत: अतिथि न पहुंचे उसे गांव के चौराहे में जाकर पुकारना चाहिए 'अहं अतिथिं याचे' अर्थात् मैं अतिथि की याचना करता हूं। ऐसी याचना करते हुए उसे गोधारा दोहनकालपर्यन्तम् (गो-दुग्ध धारा दुहने में जितना समय लगता है उतने काल तक) प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसका भाव यही है कि वह मेरे घर चलकर मेरे अन्न को पवित्र करे। इस परम्परा से अतिथि यज्ञ के चमत्कार द्वारा किसी गांव में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं रह सकता।

एक भारतीय प्राध्यापक अनेक वर्षों तक इंग्लैण्ड में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा एवं शोध के पश्चात् जब भारत लौटा तो विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुआ। वह प्रायः प्रतिदिन नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में एक अन्य युवा प्राध्यापक को शोध में मार्गदर्शन हेतु ले जाता था। संध्या समय लौटती बार में वे दोनों फिदरपुर मार्केट में एक साधारण होटल में चाय, जलपान करते। ऑक्सफोर्ड का पढ़ा हुआ प्राध्यापक प्रतिदिन भारत के सामान्य चाय होटल की इंग्लैण्ड के बड़े वैभवशाली होटलों से तुलनाकर भारत की निंदा करता रहता था। वहां के होटल महल जैसे थे और भारत में खपरा से ढके हुए साधारण झोंपड़े में होटल चलता। वहां कालीन बिछे रहते, यहां कीचड़ और धूल से भरा हुआ मिट्टी का फर्श, वहां सुन्दर सूट-बूट पहने बेरे साफ सुथरी मेजों पर भोजन पहुंचाते, यहां अधनंगे अनपढ़ बच्चे गंदी सी टेबलों पर मैले हाथों से मैले बरतनों में खाना पहुंचाते थे। वहां सुगन्धित वातावरण, यहां मक्खी मच्छर की भरमार, वहां बैण्ड बाजा और नर्तकियां, यहां अजीब शोरगुल और नौकरों की चिल्लाहट, वहां का मैनेजर या मालिक रईस के समान, यहां का होटल मालिक पसीने से लथपथ एक गंजी व धोती पहने हुए ग्राहकों से पैसा लेने में और नौकरों को डांटने में लगा हुआ। इंग्लैण्ड की चकाचौंध के बाद विदेश से आए हुए उस भारतीय को भारत में कुछ भी अच्छा दिखाई नहीं देता। वह रोज कहता—This dirty India. I hate India. एक दिन नेशनल लाइब्रेरी में बहुत विलम्ब तक पुस्तकों का अध्ययन कर जब दोनों प्राध्यापक लौटे तो देखा कि बाजार बंद हो गया है। कोई खाने की दुकान भी खुली नहीं मिली। अन्त में उसी होटल के पास पहुंचे जहां प्रतिदिन का चाय-पान करते थे। होटल का द्वार ढका हुआ था। मालिक ने कहा—होटल बंद हो चुका है। ऑक्सफोर्ड वाले प्रोफेसर ने झांक कर देखा तो भीतर अन्दर के चूल्हे में रोटियां बन रही थी। उसने रोटियों की ओर संकेत करते हुए कहा—रोटियां तो बन रही हैं। मालिक उन्हें भीतर ले गया और आदरपूर्वक स्वयं दो थाली में भोजन परोसकर लाया। उन्हें उस दिन भोजन से बड़ी तृप्ति हुई। वे विस्मय में थे कि जो मालिक स्वयं गद्दी पर बैठे हुए नौकरों से काम कराता था वह आज स्वयं अपने हाथ से इतनी सेवा क्यों कर रहा है। भोजन के उपरान्त जब ऑक्सफोर्ड वाले प्रोफेसर ने पूछा कि बिल कितना हुआ तो मालिक ने हाथ जोड़कर कहा, हमें लज्जित मत करो। हमारा होटल बंद हो चुका है। यह भोजन आपको अतिथि के रूप में कराया है। पैसे का नाम लेकर हमारे अतिथि धर्म को कलंकित मत कीजिये। प्रोफेसर ने बहुत कहा कि दुकान यही है। यहीं पर हम दोनों जलपान लेते हैं। पर मालिक ने कहा कि दुकान की अपनी मर्यादा है। दुकान बंद हो चुकी है। यह भोजन दुकान के लिए नहीं हमारे निजी प्रयोग के लिए बन रहा था। इसका पैसा लेने पर हमारा धर्म नष्ट हो जाएगा। इस दृश्य से उस प्रोफेसर की आंखें श्रद्धा

से गीली हो गई। और उसने कहा This is wonderful India. इंग्लैण्ड में होटल में भोजन करने पर सगे भाई से भी चार्ज किया जाता है, किन्तु भारत में नितान्त अपरिचित व्यक्ति को निष्काम भाव से भोजन कराना अतिथि धर्म माना जाता है। उस दिन उसे समझ आया कि भारत की निर्धनता के फटे चिथड़ों के नीचे भी भारत की दिव्य आत्मा छिपी हुई है।

(5) **भूतयज्ञ—**मनुष्य से इतर अन्य प्राणियों की सेवा के लिए धन और धान्य का कुछ अंश निकालना भूतयज्ञ कहलाता है। गऊ को ग्रास देना, चींटियों को आटा देना, पक्षियों को दाना डालना, पशुओं के पीने के लिए पानी की व्यवस्था करना, मछलियों को आटे की गोलियां डालना, पशु-पक्षियों की रक्षा, गोशाला, अश्वशाला बनवाना, उनमें रोगों के निवारण हेतु औषधालय, पशु चिकित्सालय, पक्षी चिकित्सालय चलाना आदि भूतयज्ञ के पवित्र कर्म हैं।

इस प्रकार पंच महायज्ञ के पालन से धन और धान्य की कमाई में जो दोष अदृश्य रूप से हमारे न चाहते हुए भी आ जाते हैं उनका प्रायश्चित्त हो जाता है। धन-धान्य शुद्ध हो जाता है तथा प्रयोग करने वाले व्यक्ति को कोई दोष ग्रस्त नहीं करते। पंच महायज्ञ जैसा विधान अन्य किसी धर्म संस्कृति में नहीं है। हां, बाइबिल और कुरान में दान की महिमा अवश्य है।

लेन-देन दोनों में ईमानदारी अर्थशुचिता का बहुत बड़ा लक्षण है। अतः अर्थशुचि- व्यक्ति इस विषय में बड़ा जागरूक रहता है। उधार लेने वाले व्यक्ति को स्वयं चिन्ता करके उधार वापस चुकाने के लिए तत्परता दिखानी चाहिए अन्यथा जब तक उधार बना रहेगा तब तक वह अवांछित अर्थ उधार से दबा रहेगा। उधार देने वाले व्यक्ति को बार-बार मांगने और तकाजा करने से जो कष्ट-क्लेश होता है उससे उसकी सद्भावना को भी ठेस लगती है, समाज में हमारी प्रतिष्ठा भी गिरती है तथा उसके अन्तर्मन के दुर्भाव व शाप हमारे मन पर अदृश्य रूप से अवश्य प्रभाव डालते हैं। मानव मन एक बहुत शक्तिशाली प्रसारण केन्द्र है।

भौतिक ऊर्जा से चलने वाले यंत्र अदृश्य ध्वनि तरंगों के द्वारा सम्वादों को एक स्थान से प्रसारित कर सारे संसार में विकीर्ण कर देते हैं। रेडियो द्वारा होने वाला प्रसारण, वायरलेस द्वारा प्रसारण, टेलीफोन द्वारा प्रेषण सब भौतिक ऊर्जा के खेल हैं। मानसिक ऊर्जा इससे बहुत अधिक शक्तिशाली है। मन की गति ध्वनि तरंगों या विद्युत् तरंगों से बहुत अधिक है। रॉकेट को चन्द्रमा पर पहुंचने में समय लगता है किन्तु मन क्षण मात्र में वहां पहुंच जाता है। मानसिक ऊर्जा के प्रेषण और प्रसारण से ही योग एवं परामनोविज्ञान में चमत्कार हो रहे हैं। अतः जब तक हम दूसरों से लिया हुआ ऋण स्वतः नहीं चुका देते तब तक उसके मन से

निकलने वाली अवांछनीय दुर्भाव तरंगें हमारे मन को प्रभावित करती रहती है। फिर विलम्बित होने से ऋण की स्मृति दाता या गृहीता के मन में धुंधली पड़ती जाती है जिससे अर्थ की अशुचिता स्थायी बन सकती है। किसी के बार-बार मांगने के पश्चात् या लज्जित करने के पश्चात् प्रतिष्ठा हानि होने पर या पंचायत न्यायालय में मामला दर्ज होने पर मजबूर होकर ऋण चुकाना अर्थशुचिता का लक्षण नहीं है।

भारतीय संस्कृति में अर्थ शब्द धन-धान्य के अतिरिक्त सारे अर्थ व्यापार एवं राज्यकरण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इसलिए आचार्य चाणक्य ने अपने राजनीति के महान् ग्रंथ को अर्थशास्त्र नाम दिया है। जैसे व्यक्तिगत धन का स्वामी धनाढ्य सेठ, जागीरदार कहलाता है उसी प्रकार किसी बड़े क्षेत्र में पूरे राज्य के धन का स्वामी राजा कहलाता है। सेठ-साहूकार को धन का मद हो जाता है तो राजा को राज का मद। जैसे व्यक्ति धनमद में अंधा होकर अन्य जनों पर अत्याचार करने लगता है उसी प्रकार राजा राजमद में अंधा होकर प्रजाजनों पर अत्याचार तथा पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करने लगता है, जिस प्रकार अन्यों के धन से लुब्ध होकर लुटेरे (आक्रान्ता) उन पर आक्रमण करते हैं। धनवान अपने सेवकों पर शासन करता है। राजा अपने राज कर्मचारियों पर शासन करता है। अर्थ का ही व्यापकरूप राज्य है तथा राज्यकरण और राजनीति की सारी गतिविधि अर्थ-रूपी पुरुषार्थ के अन्तर्गत आ जाती है।

भगवान् राम और रामराज्य दोनों के प्रशंसक गांधी राजनीति में पवित्रता एवं सदाचार के पक्षधर थे। आजकल राजनीतिज्ञ कहने लगे हैं Everything is fair in love & war. गांधीजी का मत था Only fair is fair everywhere. अर्थात् केवल उचित ही सर्वत्र उचित है।

भगवान् राम न लंका के स्वर्ण भण्डार पर लुब्ध हुए और न वहां के साम्राज्य वैभव पर। यह है अर्थशुचिता का आदर्श—

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।

विभीषण के राजतिलक के समय विभीषण के बहुत आग्रह करने पर भी भगवान् राम लंका नगरी में जाकर उसका राजतिलक करने के लिए इसलिए तैयार नहीं हुए क्योंकि उन्होंने चौदह वर्ष वन में रहकर किसी नगर में न जाने का प्रण लिया था। स्वयं वनवासी रहकर भी शरणागत को सोने की लंका का दान अर्थशुचिता का महान् आदर्श है।

भीष्म द्वारा पिता की प्रीति के लिए राजपद का परित्याग, भगवान् कृष्ण द्वारा बड़े-बड़े साम्राज्यों के संस्थापक होते हुए भी शुद्ध धर्म की भावना से सज्जनों

का रक्षण एवं दुष्टों का नाश करना। स्वयं अपने लिए राज्यतिलक स्वीकार न करना, निष्काम कर्मयोग एवं निर्लोभता-अर्थशुचिता के महान् आदर्श हैं। शिवाजी के कुल-पुरोहित दादाजी कोणदेव के मन में एक बार शाहजी के मकान में एक आम तोड़ने की इच्छा पैदा हुई। किन्तु बिना स्वामी की अनुमति के आम तोड़ने की चेष्टा करने वाले हाथ को दण्ड देने हेतु तलवार से हाथ काटने लगे। अचानक शाहजी ने उन्हें आदरपूर्वक रोक दिया। किन्तु अपने मन की इस असावधानी का प्रायश्चित्त करने के लिए उन्होंने जीवनभर अपनी एक भुजा को चोगे की आस्तीन में रखा। लोगों के पूछने पर वह उस हाथ के अपराध की घटना सुनाते थे।

भारतीय शिक्षा एवं संस्कृति के अमर चित्रों में ब्रह्मज्ञान के अमर जिज्ञासु बालक नचिकेता का चरित्र बड़ा प्रेरणादायी है। ब्रह्मज्ञान के स्थान पर जब यमराज ने नचिकेता को बहुत लम्बी आयु, स्वर्ग के दिव्य भोग, नृत्य, गीत, वाहन एवं बड़े से बड़ा वैभव देने का प्रलोभन दिया तो वह आत्मज्ञान का अलौकिक जिज्ञासु उत्तर देता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः

अर्थात् सच्चा मानव पैसे से, धन-वैभव से तृप्त नहीं हो सकता।

महापुरुषों ने अर्थशुचिता को सबसे बड़ी शुचिता और सबसे बड़ा धन मानकर इसकी प्रतिष्ठा की है। एक बार वर्धा आश्रम में एक विदेशी महिला ने श्रीमती कस्तूरबा गांधी के चरणों में पांच रुपए का नोट रख दिया। कस्तूरबा ने यह नोट उठाकर ताक में रख दिया ताकि बाद में आश्रम के खाते में जमा किया जा सके। तीन दिन तक वह नोट वहीं पड़ा रहा और आश्रम के खाते में जमा नहीं हो सका। सम्भवतः कस्तूरबा इस बारे में भूल गई थी। जब गांधीजी को यह सूचना मिली तो उन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में कस्तूरबा को एक वर्ष के लिए आश्रम से निकाल दिया।

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन प्रतिवर्ष के अन्त में रेल विभाग को 50-100 रुपया मनीआर्डर द्वारा ये लिखकर भेजते थे कि मेरे द्वारा असावधानी से रेलवे का टिकट भाड़ा देने में कहीं कोई भूल रह गई हो तो उसकी क्षतिपूर्ति के लिए यह राशि स्वीकार की जाए।

स्विट्जरलैण्ड में एक बच्चा शाम को एक साहब से माचिस की डिबिया खरीदने का आग्रह कर रहा था। साहब ने अपनी जेब का लाइटर दिखाकर कहा कि मुझे दियासलाई की आवश्यकता नहीं है। बच्चे ने आंखों में आंसूभर आग्रह किया—हम गरीब, अनाथ बच्चे हैं। हम दोनों भाई दिनभर मेहनत कर माचिस की डिबिया बनाते हैं और इन्हीं की आय से भोजन करते हैं। कृपया हम पर दया

कर एक डिबिया खरीद लीजिए। साहब ने एक डिबिया लेकर एक डालर का नोट दिया और डिबिया का मूल्य काट कर शेष को लौटाने के लिए कहा। बच्चा नोट तुड़वाने के लिए बाजार की ओर दौड़ कर गया। आध घण्टा भर प्रतीक्षा करने के बाद साहब निराश होकर घर लौट आया। उसे लगा कि बच्चा पैसा लेकर भाग गया है। दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व ही साहब के घर की घण्टी बजी। साहब को बिस्तर से उठने में आलस्य हो रहा था। बार-बार घण्टी बजने पर उसने ऊपर के छज्जे से नीचे झांक कर देखा तो एक बच्चा जो लगभग 5-6 वर्ष का था, दरवाजे की देहली पर पंजों के बल एड़ी उठाकर खड़ा बिजली की घण्टी बजाने का प्रयास कर रहा था। साहब ने उसे झिड़क कर हट जाने को कहा किन्तु बच्चे ने बड़े कातर स्वर में साहब से एक क्षण नीचे आने की प्रार्थना की। साहब बड़े अचम्भे में था। यह बालक पिछले दिन वाले बालक से कुछ छोटा था। साहब ने टालने की कोशिश की किन्तु बच्चे के हृदयस्पर्शी आग्रह पर वह अन्यमनस्क भाव से नीचे आया। बच्चे ने उसके हाथ पर 95 सेंट रखते हुए कहा, आपने जो कल माचिस की डिबिया खरीदी थी यह उसका बाकी पैसा है। साहब ने अचम्भे से कहा, वह माचिस बेचने वाला बच्चा दूसरा था। इस छोटे बच्चे ने अश्रु विगलित-वाणी में कहा—हां, वह मेरा बड़ा भाई था। वह डालर का नोट तुड़वाने के लिए जब सड़क पार कर रहा था तो एक ट्रक के नीचे कुचल कर मर गया। किन्तु अन्तिम श्वास से पहले उसने मुझे कहा कि साहब की कोठी पर 95 सेंट अवश्य पहुंचा देना। यह सुनते ही साहब की आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वह छोटे बच्चे के साथ उसके घर तक गया। मृतक बालक का समुचित संस्कार किया और उस बच्चे को पुत्र रूप में गोद ले लिया। उसने ईमानदार मृतक बालक का चित्र छपवाकर सब विद्यालयों में बांटा और लिखा कि जब तक हमारे देश में ऐसे अर्थशुचि-बालक होंगे तब तक हमारे देश को संसार की कोई शक्ति कभी पराधीन नहीं बना सकती।

रांची के एक पोस्टमास्टर श्री चौधरी कुछ वर्ष पूर्व प्रधान डाकघर में प्रधान लेखालिपिक थे। स्टेट बैंक से 10,000 रुपया मंगवाया गया किन्तु वहां के खजांची ने चेक पर 1,00,000 रुपया समझ कर उतनी राशि दे दी। संध्या को रोकड़ मिलाते समय श्री चौधरी ने प्रधान डाकघर के डाकपाल को बताया कि मेरे नकदी रोकड़ में नब्बे हजार रुपया अधिक है। डाकपाल श्री मुखर्जी ने इस पर विश्वास नहीं किया। श्री चौधरी अपनी रोकड़ में 90 हजार अधिक दिखाकर हस्ताक्षर करके घर चला गया। आधी रात को श्री मुखर्जी ने हिन्दपीढ़ी स्थित श्री चौधरी के घर पहुंच कर उसे जगा कर कहा कि 90 हजार वास्तव में अधिक आ गया है। आओ, हम दोनों मिलकर आधा-आधा बांट लें। श्री चौधरी

ने प्रात:काल बात करने का बहाना कर उस बातचीत को टाल दिया और दूसरे दिन दफ्तर पहुंचने से पहले ही स्टेट बैंक फोन कर दिया कि उनके यहां से भूल से 90 हजार रु. अधिक आ गया है। स्टेट बैंक वाले पहले से ही चिंतित थे। उन्होंने कहा कि उन्होंने पांच-छ बार डाकपाल को फोन कर पूछा था और हर बार यही उत्तर दिया गया कि उनके पास एक पाई भी अधिक नहीं आई। इस पर श्री चौधरी ने कहा कि लेखापाल मैं हूं वे नहीं। अत: जो मैं कहता हूं वही ठीक है। आप 90 हजार रु. जो भूल से अधिक आ गया है, वापस ले जावें। जीप में स्टेट बैंक के अफसरों के आने पर उन्हें 90 हजार रु. लौटा दिया गया। इसे अपनी झूठी प्रतिष्ठा क्षति मानकर श्री मुखर्जी ने श्री चौधरी पर अनुशासनहीनता के झूठे आरोप लगाकर उन्हें निलम्बित करवा दिया। श्री चौधरी ने पटना स्थित राज्य के सबसे बड़े अधिकारी को पत्र लिखकर रांची बुलवाया और सारी स्थिति साफ-साफ बताई। इससे श्री मुखर्जी को डाक विभाग से तुरन्त कार्यमुक्त कर दिया गया। श्री चौधरी को 30 हजार रु. पुरस्कार देने का प्रयास किया गया जो उन्होंने अस्वीकार कर दिया और अन्त में डाक तार विभाग की पत्रिका में उनका चित्र एवं विवरण ससम्मान छपा। अर्थशुचिता एक महान् सद्गुण है जिसके बिना व्यक्ति बेईमान हो जाता है। परिवारों में कलह प्रारम्भ हो जाती है। संस्थायें उजड़ जाती हैं और बड़े-बड़े राज्यों एवं साम्राज्यों के भवन खोखले होकर धराशायी हो जाते हैं।

अर्थ की ममता से मुक्त होने की सबसे प्रभावी युक्ति यह है कि हम अर्थ के अर्थ पर विचार करें। अर्थ का सीधा सादा अर्थ है प्रयोजन, उद्देश्य, हित, उद्दिष्ट आदि। भाषा में भी जब हम कोई शब्द बोलते या लिखते हैं तब भी उसका कुछ उद्देश्य (अर्थ) होता है। उसी प्रकार धन अथवा धान्य का संग्रह किया जाता है ताकि वह किसी अर्थ (प्रयोजन) में काम आ सके। जिस शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है वह शब्द निरर्थक है और उसको बोलने वाला भी पागल है। इसी प्रकार जो अर्थ किसी अर्थ (महान् उद्देश्य, देशार्थ, धर्मार्थ) में न लग सके वह अर्थ व्यर्थ है और उसका संग्रह करने वाला भी पागल है। अकारण परिश्रम, निरुद्देश्य भटकना, निरर्थक धन-धान्य संग्रह के लिए जीवनभर जोखिम उठाना पागलपन ही कहलायेगा। इस विषय में हमारा स्व रचित सूत्र है—

धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्
यज्ञविहीनं अर्थं व्यर्थम्।

अर्थात् जो अर्थ अधर्म से कमाया जाए वह अनर्थकारी है और जो अर्थ किसी के कल्याण में नहीं लगे वह व्यर्थ है। डाकू एवं भ्रष्टाचारी का पैसा अनर्थ है और कंजूस का धन व्यर्थ है। अर्थ को न अनर्थ होना चाहिए और न व्यर्थ। सच्चे अर्थों में अर्थ होने के लिए सार्थक होना चाहिए।

अर्थ अपने आप में स्वतः कोई मूल्य नहीं है। वह परतः मूल्य है। अर्थात् उसका मूल्य उसके अपने ऊपर निर्भर नहीं करता वरन् उसका मूल्य देश-काल, पात्र-परिस्थिति, उद्देश्य और सदुपयोग पर निर्भर करता है। यदि कोई सोने का बड़ा भार लेकर हिमालय पर्वत के हिमाच्छादित शिखर पर पहुंच जाए और सोने का सारा भण्डार देकर एक पानी का गिलास मांगे तो सम्भवतः तुरन्त सुलभ न हो। एक बार अकबर ने बीरबल से प्रश्न पूछा कि मेरे पूरे राज्य का मूल्य क्या है? मोल क्या है? बीरबल ने कहा, यदि सुनसान जंगल में बादशाह पानी के लिए तड़प रहे हों तो पानी के गिलास के लिए वह बड़े से बड़ा कितना मूल्य दे सकते हैं। अकबर ने कहा, आधा राज्य तक। तब बीरबल ने पुनः प्रश्न किया कि यदि पीया हुआ पानी शरीर में अटक जाए और लघुशंका के रूप में बाहर न निकले तो उसे निकालने के लिए बड़े से बड़ा कितना मोल दे सकते हो। इस पर अकबर ने पुनः कहा, शेष का आधा राज्य। बीरबल ने कहा, आपके राज्य की कीमत एक पानी के गिलास से कम ही है।

पात्र बदलने से भी धन-धान्य का मूल्य बदल जाता है। मनुष्य के लिए जो धन सर्वाधिक आकर्षक है उस धन-वैभव से भरे हुए साम्राज्य को ठोकर मारकर सिद्धार्थ सत्य की खोज के लिए निकलता है। जिस शराब के लाखों रुपये के भण्डार के सामने एक बोतल के लिए शराबी बहुत लालायित होकर, अपने कपड़े फड़वाकर ब्लैक मार्केट में प्राप्त करने के लिए पागल-सा हुआ रहता है उस पूरे भण्डार को बिना मूल्य मिल जाने पर भी कोई सदाचारी साधक एक ठोकर में नाली में फेंक देने के लिए प्रस्तुत रहता है। जो धन बैंक में बंद पड़ा है और किसी के प्राणों पर संकट आने पर उपलब्ध नहीं हो सकता तो उस धन का क्या मूल्य है? अर्थ की सार्थकता किसी सद्उद्देश्य के लिए उसके सदुपयोग में ही है।

जो विषया संतन तजी, नर तासों लपटाय।
जैसे त्यागे वमन को, श्वान स्वाद सों खाय।।

बहुत से लोग अर्थशुचिता का आधा अंश ईमानदारी की कमाई को लेकर ही संतुष्ट हो जाते हैं किन्तु यह तो अर्थ का एक एकांगी पक्ष ही है। अर्थ का दूसरा समान रूप से महत्त्वपूर्ण अंग है उसका समुचित सदुपयोग। एक सेठ लाला तनसुखराम ईमानदारी से व्यवसाय करके करोड़पति बन गए थे वह दूसरे का धन दबाते नहीं थे। अमानत में खयानत नहीं करते थे। शाकाहारी भोजन करते थे और पानी को छानकर पीते थे। मरने पर यमदूतों ने यमराज से पूछा कि उन्हें कहां भेजा जाए? यमराज ने आदेश दिया कि उन्हें कुम्भीपाक नरक में डाला जाए। तनसुखराम ने विस्मित होकर पूछा, क्या धर्मपरायणता का यही फल है? यमराज ने कहा, तुम पर बाल हत्या का आरोप है। पांच नर हत्या, दस गो हत्या और दस नवयुवकों का जीवन भ्रष्ट करने का अपराध है। तनसुखराम ने चीत्कार करते हुए कहा कि यह

बिल्कुल झूठ है। मैंने किसी चींटी तक को कष्ट नहीं पहुंचाया। पानी को छानकर पीता रहा। न किसी की जेब काटी न गला काटा फिर मैं किसी की हत्या, हिंसा कैसे कर सकता हूं। तुम्हारे यमलोक के रिकार्ड झूठे हैं। इस पर यमराज ने स्मरण दिलाया कि तुम्हारे पड़ोस में कुछ दूर पर एक वनवासी की झोंपड़ी थी। उसका छोटा बच्चा मीआदी बुखार से पीड़ित था। निर्धन वनवासी के पास न डॉक्टर को बुलाने के लिए कार थी, न डॉक्टर की फीस के पैसे, न ही औषधि के पैसे। तुम्हारे पास कार और पैसे सभी थे किन्तु तुमने उस बच्चे की जान बचाने के लिए कुछ सहायता नहीं की और वह बच्चा मर गया। तुम्हारे पास जो करोड़ों रुपया है क्या उसमें से एक पाई भी लेकर संसार में गए थे और लौटती बार भी क्या छदाम साथ लेकर जाओगे। प्रभु के धन से प्रभु के जीवों की रक्षा न कर उसे अपना कहकर मोह-ममता से तिजोरियों या बैंकों में पड़ा रहने देना व्यर्थ है। इसी प्रकार बिहार में सूखा पड़ने पर 50 व्यक्ति भुखमरी से मर गए, तुम्हारे पास करोड़ों रुपये प्रभु की अमानत के रूप में पड़ा था। समय पर उसका समुचित सदुपयोग करते तो मानव जीवन बच सकता था। इसी प्रकार सूखे के समय दस गाय चारे के बिना तड़प कर मर गई। उन्हें चारा डालने में समर्थ होते हुए भी तुमने ममतावश धन को दबाए रखा। दस नवयुवकों ने मैट्रिक पास करने के पश्चात् कालेज में पढ़ने हेतु तुमसे कालेज में पुस्तकों की सहायता तथा फीस की सहायता के लिए प्रार्थना की किन्तु तुमने उन्हें डांटकर सहायता से इनकार कर दिया। करोड़ों रुपया कोष में होते हुए तुमने उसका उचित सदुपयोग नहीं किया। नवयुवक आगे न पढ़कर नक्सलपंथियों के चंगुल में फंस गए और उन्होंने जादूगोड़ा की यूरेनियम खदान पर आक्रमण किया। इस तरह उन नवयुवकों का जीवन बर्बाद हुआ तथा समाज की महान् क्षति हुई। अत: धन के उपार्जन की पवित्रता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है धन का विश्व कल्याणार्थ सदुपयोग। तनसुखराम का धन ईमानदारी की कमाई होने कारण अनर्थ तो नहीं था किन्तु व्यर्थ अवश्य था। तनसुखराम को स्वयं बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था कि जिस धन को न वह अपने साथ संसार में लेकर गया था, न अपने लिए प्रयोग कर सका, न दूसरों के लिए सदुपयोग कर सका और न ही अपने साथ वापस ला सका। उस धन का विश्व कल्याण के लिए विनियोग क्यों नहीं कर सका। धर्म से उपार्जित अर्थ का भी यदि धर्मार्थ या यज्ञार्थ सदुपयोग न हो तो भी अर्थ व्यर्थ हो जाता है। अर्थ को अनर्थकारी ढंग से लूटना, ठगना, चुराना यदि पाप है तो अर्थ को व्यर्थ नष्ट कर देना तथा जीवों को उसके कल्याणकारी सदुपयोग से वंचित कर दु:ख, यातना या मृत्यु-मुख में धकेल देना भी बड़ा पाप है। अनर्थ तो बुरा है ही किन्तु व्यर्थ अर्थ भी कंजूसी के कारण, लापरवाही के कारण, विलास के कारण अनेक अनर्थों का कारण बन जाता है।

कृपण शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं—

(1) दयनीय, कृपा के योग्य, तरस खाने योग्य। जिसकी स्थिति या कृति देखकर मनुष्य को अफसोस हो कि हाय! ये क्या कर रहा है। उचित कर्तव्य से जी चुराने वाला कृपण कहा जाता है। गीता में अर्जुन भगवान् से निवेदन करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 2/7, गीता

अर्जुन कहता है कि कार्पण्य के दोष से क्षात्र स्वभाव दब गया है और मैं वास्तविक कर्तव्य (धर्म) के विषय में मोहितचित्त होकर आपसे पूछ रहा हूं कि मेरा जिसमें अधिक बड़ा कल्याण हो वह मार्ग मुझे बता दीजिये। मैं आपका शरणागत शिष्य हूं, मुझे उचित शिक्षा देवें। यहां कार्पण्य का अर्थ कर्तव्य से मुँह मोड़ने के कारण दयनीय (दया या कृपा के योग्य स्थिति) है। अर्जुन जैसे संसार के शिरोमणि वीर का महायुद्ध के सर्वोपरि श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष के रूप में खड़े होने, संसार भर के राजाओं एवं योद्धाओं को अपने धर्मयुद्ध में सहयोग के लिए आमंत्रित कर युद्ध भूमि में शस्त्र सज्जितकर उपस्थित कर लेने के पश्चात् उसका स्वयं गांडीव फेंककर कांपने तथा अश्रुपात करने लगना सचमुच में बड़ी दयनीय स्थिति है।

(2) कार्पण्य का दूसरा प्रचलित अर्थ है—कंजूस। वास्तव में कंजूस भी कर्तव्यच्युति के कारण तन का सहयोग, मन का सहयोग और धन का सहयोग करने से जी-चुराता है। तन का कंजूस आलसी है या कायर है। मन का कंजूस क्षुद्र भाव वाला है। वह स्वार्थी, लोभी या ईर्ष्यालु, धनकृपण, धन या धान्य को ही माई-बाप समझ बैठता है। तो धन के लिए दीन-धर्म, ईमान, मित्र, बंधु, मां-बाप सभी को ठुकरा सकता है। उसके पास धन रहते हुए भी उसके बच्चे कष्ट पाते हैं, बूढ़े माता-पिता बुढ़ापे की तकलीफों से एवं रोगों में सिसकते रहते हैं। पड़ोसी एवं परिचित संकटों में पड़कर बिना मौत मर जाते हैं किन्तु कृपण अपने धन को हवा भी नहीं लगने देता।

(3) कृपण का तीसरा अर्थ कमीना, क्षुद्र, कुत्सितभाव वाला है। वास्तव में मन का कृपण (स्वार्थी, लोभी, ईर्ष्यालु, अनुदार) कमीना होता ही है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

कृपणाः फलहेतवः।

अर्थात् जो फल के लोभ से कर्तव्य कर्म करते हैं वे कृपण (कमीने) ही हैं। तन के कृपण, मन के कृपण या धन के कृपण तीनों पर धिक्कार मिश्रित दया आती है क्योंकि वे साधन होते हुए भी साधनों का उचित सदुपयोग न करके अपना

और दूसरों का दोहरा अहित कर रहे हैं। दूसरों की स्वास्थ्यहानि, विकासहानि, धनहानि या प्राणहानि तो होती ही है, किन्तु कृपण की इहलोक में प्रतिष्ठाहानि होकर समाज के धिक्कार, तिरस्कार के साथ आत्मविकास की हानि होती है तथा परलोक में परिवारजनों एवं समाज बंधुओं के प्रति उपेक्षा एवं कर्तव्यच्युति के पापों का दण्ड भोगना पड़ता है।

अर्थ को व्यर्थ करने वाले दो प्रकार के लोग हैं—(1) कृपण—धन को अतिशय लोभ के कारण प्रयोग ही नहीं करता (2) विलासी—अपने भोग-विलास में फिजूलखर्ची कर धन को व्यर्थ गंवा देता है। धन को समाज की उपेक्षा कर व्यर्थ जमा रखना अथवा धन को यज्ञार्थ न देना (समाज कल्याणार्थ सदुपयोग न करते हुए स्वार्थ भोग के लिए व्यर्थ लुटा देना दोनों सामाजिक अपराध हैं)। इस प्रकार अर्थ को व्यर्थ गंवाने वाला कृपण या विलासी दोनों अपना लोक-परलोक बिगाड़ लेते हैं।

अमेरीका के नार्थ करुलाइना विश्वविद्यालय के अन्तर्गत वेस्टर्न करुलाइना कालेज है। वहां के निकट Smoking mountains (धूम्राच्छादित पर्वतमाला) है। उन्हीं सुन्दर हरी-भरी पहाड़ियों में एक बहुत उच्चकोटि का पब्लिक स्कूल है। वहां की एक कक्षा में मैंने ममता पर एक मनोविज्ञान का प्रयोग किया। कक्षा के पचास विद्यार्थियों के लिए 50 छोटे प्लास्टिक बक्स उपहार स्वरूप दिए गए। उन बक्सों में पाकेटबुक, पेन्सिल, रबर, लेमनचूस, चाकलेट, रूमाल आदि छोटी-छोटी वस्तुएं थी। जो बच्चों को प्रिय लगती हैं। बच्चे उपहार प्राप्तकर बहुत प्रसन्न हुए तथा दिनभर अपने अन्य कक्षाओं के साथी-मित्रों को वे उपहार दिखाकर उपहारों की तथा उपहार देने वाले व्यक्ति की प्रशंसा करते रहे। दोपहर बाद अन्तिम घंटी में जब पुनः उसी कक्षा में गया तो सब बच्चों ने आनन्दोल्लास के साथ करतल ध्वनि करके मेरा स्वागत किया। अब मैंने अपील की कि निकट दो-तीन मील की दूरी पर एक नीग्रो बच्चों का विद्यालय है। वे निर्धन हैं तथा कापी, पेन्सिल, डायरी, रबर, लेमनचूस आदि खरीदने में असमर्थ हैं अतः जो बच्चे अपने प्राप्त किए हुए उपहारों में से कुछ सामग्री उनके लिए सहायतार्थ दे सकें तो वे खड़े होकर अपना नाम लिखा दें। इस पर पूरी कक्षा में सन्नाटा छा गया। बच्चों को प्राप्त किए हुए उपहारों में ममता पैदा हो चुकी थी। वे एक-दूसरे का मुख ताकने लगे। यदि जॉन दे तो जेन दे, यदि विलियम दे तो राबर्ट दे, यदि स्टूअर्ट दे तो सेवर्स दे, सभी एक-दूसरे का मुंह ताक रहे थे। तीसरी बार (अंतिम बार) कहने के उपरान्त 3 बच्चों ने टॉफी, रबर, पेन्सिल दान में लिखवाई।

अन्त में मैंने सभी बच्चों को आदेश दिया कि वे अपने सामान के डिब्बे हाथ में उठाकर एक पंक्ति में बंधकर मंच तक चले आवें तथा अपना-अपना बक्स मेज

पर रखते जावें। इससे सब बच्चों को बड़ा अचम्भा हुआ। कुछ बोले, श्रीमान्! आपने ये बक्स हमें उपहार स्वरूप दिए थे। अब इन्हें वापस क्यों मांग रहे हैं। मैंने बताया कि यह सब तुम्हारी उदारता की भावना की परीक्षा के लिए एक प्रयोग किया गया था। बच्चे एवं बच्चियां पछताते हुए आकर टेबल पर अपने बक्से जमा कर रहे थे। एक बच्चे ने कहा यदि हमें पता होता कि हमारी उदारता की परीक्षा ली जा रही है तब हम सारा सामान दान कर देते। एक बच्ची ने रोते हुए कहा कि न ये सामान हम घर से लाए थे, न दूसरों के भले के लिए दे सके, न अपने पास ही बचा सके और कमीने मुफ्त में बन गए।

यही स्थिति प्रत्येक मानव की है। न वह धन-धान्य अपने साथ लाया, न साथ वापस ले जा सकता है, जिस प्रभु ने सब दिया है उसके आदेश पर भी प्रभु के जीवों के कल्याण के लिए देता भी नहीं है और सब कुछ छिन जाता है। न कुछ भला किया न कुछ बचाया, कमीना मुफ्त में बन कर पछताया।

स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है—

The law of nature is to give, give and give. If you don’t give, nature gives you a warning. If you dont hear, nature gives you a stronger warning—give. If you still don't hear the pistol of nature goes and everthing is left here.

कालरूपी डाकू जीवन की पगडंडी पर ताक में खड़ा है। वह उस घाटी से पार किसी को कुछ भी ले जाने नहीं देता। वह सब कुछ छीन लेगा। अतः उसके छीनने से पहले ही धन-धान्य को विश्वकल्याण के लिए सदुपयोग कर लेने में ही बुद्धिमत्ता है। उसी में धन की सार्थकता भी है। अन्यथा समाज दुःखी रह जाएगा, धन व्यर्थ हो जाएगा। हम मुफ्त में कमीने (कृपण) बन जाएंगे और जीवन का सारा परिश्रम निरर्थक हो जाएगा। अर्थ उपार्जन हेतु की हुई सारी तपस्या तथा उठाया हुआ सारा जोखिम निष्फल हो जाएगा। यह जीवन का सबसे बड़ा दुःखांत नाटक बन जाएगा।

धन का एक अर्थ है जमा या जोड़ या योग। यदि सोना, चांदी, पैसा, सम्पत्ति आदि जमा की जाए तो वह भी धन है। किन्तु वह व्यावहारिक जगत् का ही धन है, पारमार्थिक जगत् का नहीं। जगत् में धनसंग्रह करने वाले व्यक्ति को धन्य भाग्यवाला माना जाता है। किन्तु पारमार्थिक जगत् में सोना, चांदी आदि पदार्थ जमा न रहकर छिन जाते हैं। अतः वहां ऐसे धन को सच्चा धन कहा जाता है जो सचमुच सदा जमा रहे।

कबीरा सब जग निर्धना धनवंता नहि कोय।
धनवंता है सोइ नर जिह राम नाम धन होय।।

इस राम नाम के धन को न संसार का कोई चुरा सकता है ना कालरूपी डाकू ही इसे छीन सकता है। यह धन सच्चे अर्थ में सदा धन (जमा) ही रहता है। मीराबाई गाती है—

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सत् गुरु,
किरपा कर अपनायो।

रहीम ने लोभ एवं ममता पर विजय पाने के लिए संतोष को भी एक महान् धन माना है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।।

अर्थ का एक नाम द्रव्य भी है, जिसका अर्थ है सदा बहने वाला। इसलिए धन को कंजूस के समान एक स्थान पर बांध कर नहीं रखना चाहिए। जैसे बहते हुए जल में निर्मलता बनी रहती है और बंधा हुआ जल गंदगी और सड़ांध से भर जाता है, उसी प्रकार बहता हुआ द्रव्य विकाररहित रहता है और कंजूस की तिजोरी में बंद या लोभी के मन में कैद पड़ा हुआ धन अनेक विकार पैदा कर देता है। जैसे जल के उचित दिशा में बहने से कल्याण होता है और बाढ़ और सूखा दोनों अवांछनीय है, उसी प्रकार धन की कंजूसी और फिजूलखर्ची दोनों को रोककर उसे विचारपूर्वक सदुपयोग में लगाना चाहिए। कविवर रहीम ने कहा है—

ज्यों जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सज्जन को काम।।

जिस प्रकार नौका में जल बढ़ जाने पर दोनों हाथ से उलीच कर बाहर फेंकना अनिवार्य होता है अन्यथा नौका डूब जाएगी। उसी प्रकार घर में धन बढ़ जाने पर दोनों हाथ से उसे दान करना चाहिए अन्यथा धन के अंधे वेग में घर के ही डूब जाने की आशंका हो जाती है।

दैनिक संध्या के मंत्रों में हम प्रतिदिन बोलते हैं ओम् करतल करपृष्ठे। करतल हाथ की तली है जो लेने की स्थिति है और करपृष्ठ हाथ की पीठ है जो देने की स्थिति है। इसका एक भाव यह है कि हमारे लेने और देने में ओंकार परमेश्वर साक्षी है। वही हमारे लेने और देने में प्रतिष्ठित है। अत: हमें किसी की अमानत में खयानत कभी नहीं करनी चाहिए। मानव के साथ लेन-देन का धोखा वास्तव में परमेश्वर से ही धोखा है।

इस मंत्र का दूसरा अर्थ यह है कि हम ईश्वर की सौगन्ध से कहते हैं कि हमारा लेना हमारे देने के लिए ही होगा। भगवान् की कृपा से जो आएगा उसे

भगवान् के लिए ही भगवान् के प्रति, धर्मार्थ भावना से समर्पित कर दिया जाएगा। जो कुछ करतल में आया वह करपृष्ठ द्वारा दे दिया गया। इस प्रकार धन की ममता बचेगी ही नहीं। वास्तव में भारतीय संस्कृति में संग्रह होता ही है दान के लिए, उपार्जन होता ही सदुपयोग के लिए है, प्राप्ति होती ही है। त्याग के लिए, कमाई होती ही भलाई के लिए है, संघर्ष का अन्तिम उद्देश्य शान्ति ही है। जीवन के समस्त संघर्षों में लगे हुए यदि हम शान्ति की ओर अग्रसर नहीं हो रहे तो सब संघर्ष बेकार हैं। पश्चिम ने जीवन को ही संघर्ष मानकर इसकी व्याख्या की। किन्तु भारत की दृष्टि में जीवन संघर्ष नहीं साधना है। संघर्ष कुछ समय के लिए हमारी साधना का माध्यम हो सकता है किन्तु संघर्ष को ही जीवन का अर्थ और इति मान लेना, उपार्जन को ही जीवन का आदि और अन्त मान लेना, अर्थ को ही जीवन-सर्वस्व मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

एक आधारभूत प्रश्न है कि सृष्टि में जितना धन है उसका वास्तविक स्वामी कौन है? ईशावास्योपनिषद् ने घोषणा की है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

अर्थात् सारी सृष्टि ईश्वर की है। ईश्वर से आच्छादित है। ईश्वर ही इसका स्वामी है। अतः उसी ईश्वर के नाम पर समर्पण करते हुए यज्ञ भावना से उसकी वस्तु उसके चरणों में चढ़ाकर उसके प्रसाद के रूप में हमें संसार की वस्तुओं को भोगना चाहिए और किसी अन्य की ओर गिद्ध (लोभ) दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध को समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए—

(क) ईश्वर सृष्टिकर्ता है। इस अर्थ में ईश्वर एक कुशल कारीगर मात्र रह जाता है। आलोचक कह सकते हैं कि ईश्वर अधिक से अधिक एक उत्तम बढ़ई या कारीगर के समान होगा। जिस प्रकार उत्तम महल बनाने वाला राजमिस्त्री स्वयं झोंपड़े में ही रहता है। बढ़िया फर्नीचर बनाने वाला बढ़ई स्वयं फर्नीचर का सदुपयोग नहीं कर पाता। उसी प्रकार ईश्वर बढ़ई, कारीगर, राज मजदूर, मिस्त्री आदि रह जाएगा।

(ख) इस आलोचना के निराकरण हेतु कहा जाता है कि ईश्वर केवल सृष्टिकर्ता ही नहीं, सृष्टि का स्वामी भी है। इससे ईश्वर का स्थान कुछ और ऊंचा होता अवश्य है किन्तु ईश्वर एक बढ़िया धनवान इंजीनियर जैसा बन जाता है जो स्वयं बढ़िया महल बनाकर उसमें स्वयं रहता है।

(ग) इससे ऊपर एक और स्थिति है जो ईश्वर की महत्ता को और सुन्दर रूप में दिखाती है। वेद में—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि करके सृष्टि के अणु-अणु में स्वयं प्रवेश कर गया। कोई भी कुम्हार घड़ा बनाकर घड़े में प्रवेश नहीं कर सकता। यदि बड़ा घड़ा बनाकर उसमें बैठ भी जाए, यदि बढ़ई बड़ी आलमारी बनाकर उसमें घुस भी जाए, यदि इंजीनियर स्वयं मकान बनाकर उसमें रहने भी लगे तो भी वह उसके अणु-अणु में प्रवेश कभी नहीं कर सकता। ईश्वर की महिमा यह है कि वह सृष्टि का कर्ता भी है, सृष्टि का स्वामी भी है और सृष्टि के अणु-अणु में समाया हुआ भी है।

(घ) आलोचक कह सकते हैं कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु में समा जाती है वह उसमें सीमित एवं बंदी हो जाती है। इसके उत्तर में शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि में निर्लिप्त भाव से समाया हुआ है। घड़े को फोड़ देने से, बक्से को काट देने, मकान को जला देने से उसके भीतर बैठा हुआ कुम्हार, बढ़ई या इंजीनियर बच नहीं सकता। किन्तु सृष्टि के महाप्रलय में लय हो जाने पर भी ईश्वर का बाल भी बांका नहीं होता। गुरु तेगबहादुर ने गाया है—

काहे रे वन खोजन जाय
सर्व निवासी सदा अलेपा तो ही संग समाय।

ईश्वर के सृष्टि में सर्वव्यापक होने पर भी प्रत्येक जीव में और अणु-अणु में व्याप्त होने पर भी वह शरीरों या वस्तुओं का बंदी नहीं है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। 9/4, गीता

'मुझ अव्यक्त स्वरूप (परमात्मा) के द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है तथा समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, (किन्तु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूं।'

भगवान् की सर्वव्यापकता का रहस्य बड़ा विचित्र एवं बुद्धि को चकराने वाला है। भौतिक वस्तुएं एक-दूसरे के भीतर होने या समाने पर सीमित या परिच्छिन्न हो जाती है। किन्तु ईश्वर अभौतिक तत्त्व होने के कारण न सीमित होता है और न बंदी होता है और न लिपायमान होता है। यही उसकी योगमाया का जादूभरा चमत्कार है। यदि ईश्वर को सृष्टि में व्याप्त माना जाए तो व्याप्त-व्याप्ति के सम्बन्ध से सृष्टि एक पात्र के समान बड़ी वस्तु बन जाएगी और उसमें व्याप्त होने के कारण ईश्वर उससे छोटा गिना जाएगा। कोई भी पात्र जिसमें कोई वस्तु समा सकती है, व्याप्त होने वाली वस्तु से कुछ बड़ा ही होता है। लेकिन ईश्वर सृष्टि में समाया है तो सृष्टि को ईश्वर से कुछ बड़ा ही मानना पड़ेगा। किन्तु ईश्वर की व्याप्ति वस्तुओं की व्याप्ति से विलक्षण है। जहां ईश्वर सृष्टि में समाया है वहां इसके विपरीत सारी सृष्टि भी ईश्वर के एक अंश में समायी हुई है।

एकांशेन स्थितो जगत्।। 10/42, गीता

भगवान् कहते हैं कि सारा जगत् मेरे एक अंश में ही स्थित है। इस स्थिति को उपनिषद् एवं गीता में आकाश की उपमा से समझाया गया है। जिस प्रकार सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में आकाश व्याप्त है लेकिन निर्लिप्त भाव से व्याप्त है। आकाश उन वस्तुओं में बंदी नहीं होता। साथ ही सारी सृष्टि और सब वस्तुएं आकाश के एक अंश में ही समा जाती हैं। उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि में व्याप्त है, सृष्टि से निर्लिप्त है और सारी सृष्टि उसके एक अंश में ही समा जाती है।

भगवान् कहते हैं मैं मूलत: निर्गुण-निराकार, निरुपाधिक ब्रह्म अव्यक्त मूर्ति हूं जिसे इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। किन्तु संसार की व्यक्त सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मुझ अव्यक्तमूर्ति द्वारा व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश का कोई रंग-रूप, व्यक्त स्वरूप नहीं है। वह अव्यक्तमूर्ति के समान ही है किन्तु प्रत्येक व्यक्त मूर्ति में समाया हुआ है। भगवान् कहते हैं सब भूत प्राणी मुझमें स्थित हैं, अर्थात् मुझ परमतत्त्व पर टिके हुए हैं, मेरे पर आधारित हैं, मेरी सृष्टि के नियंत्रण में है, मेरे वश में हैं, इस दृष्टि से मेरे अन्दर ही हैं। किन्तु मैं उन पर व्याप्त रहते हुए भी उन पर आधारित नहीं हूं, उनमें बंदी नहीं हूं। उनकी दया पर नहीं हूं। मैं आकाश के समान सबको अपने भीतर लिए हूं किन्तु मैं उनमें बंदी नहीं हूं। जिस प्रकार जल की सारी सृष्टि तरंग, ज्वार-भाटा, भाप, बादल, बर्फ, तालाब, नदी, समुद्र, महासमुद्र सब जल पर आधारित है। जल उसमें व्याप्त है किन्तु जल उन पर आधारित नहीं और उनकी दया पर टिका हुआ नहीं है। सब नाम अनामी पर टिके हुए हैं, सब रूप अरूपी पर टिके हुए हैं। सब व्यक्त अव्यक्त पर टिके हुए हैं सब देश अदेशी पर टिके हुए हैं सब काल अकाल पुरुष पर टिके हुए हैं, सब ससीम असीम में टिके हुए हैं। सब मर्त्य अमर वस्तु पर टिके हुए हैं। सारी सृष्टि ब्रह्म पर टिकी हुई है (नासदीय सूक्त)। किन्तु ब्रह्म उस पर टिका हुआ नहीं है। वेद के नासदीय सूक्त में गाया गया है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्नः आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस।।2।।

जिसका भावार्थ यह है—जब जगत् था ही नहीं, न दिन था, न रात, न सूर्य, न चन्द्र, न पृथ्वी, न तारागण, न ऋषि, न जीव, न सृष्टि, न सृष्टिकर्ता। तब भी परमतत्त्व (अव्यक्त मूर्ति) था। विचार कर देखा जाए तो पुत्र के जन्म के बाद ही पिता का जन्म होता है क्योंकि पुत्र के जन्म से ही उसका पितृत्व प्रारम्भ हुआ, उससे पूर्व वह पिता नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जगत् पिता या सृष्टिकर्ता

का भाव सृष्टि बनने के बाद ही पैदा होता है। अतः सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों सापेक्ष शब्द हैं। पिता और पुत्र दोनों सापेक्ष, एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। निरपेक्ष ब्रह्म वह अव्यक्तमूर्ति परमतत्त्व है जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता और किसी पर अवलम्बित भी नहीं है। वह स्वयं से स्वयं की महिमा में ही महान् है। वह स्वयंभू है। भगवान् आगे कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 9/5, गीता

'(परन्तु वास्तव में ये समस्त) प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं है। तू मेरे इस ईश्वरीय योगशक्ति (अर्थात् घटना) को देख कि मेरा आत्मा (अर्थात् स्वरूप) प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला तथा प्राणियों का उत्पादन-वर्धन करने वाला होते हुए भी प्राणियों में स्थित नहीं है।'

भगवान् की अधिक बड़ी जादूगरी यह है कि जिस सृष्टि को वे रचते हैं उस सृष्टि के वे स्वामी हैं। जिस सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हैं, जिस सृष्टि का वे पालन करने वाले हैं उस सृष्टि से उनका कुछ भी बंधन नहीं है। ऊपर वाले श्लोक में भगवान् ने कहा कि सब भूत-प्राणी मुझ पर टिके हुए हैं, किन्तु मैं उन पर आश्रित नहीं हूं। अब भगवान् इससे ऊंची बात कहते हैं कि मेरी योगमाया का खेल तो देखो कि वे भूत प्राणी या पंच महाभूत भी मेरे में नहीं हैं तथा मेरे पर आश्रित नहीं हैं। यदि भगवान् के स्वरूप में भौतिक तत्त्व हो तभी तो पंच महाभूत एवं अन्य भूत-प्राणी अपनी सत्तास्फूर्ति के लिए उस पर आधारित हों। जब भगवान् में भौतिक तत्त्व है ही नहीं तो उस अभौतिक तत्त्व परब्रह्म परमेश्वर पर भौतिक वस्तुएं क्यों और कैसे निर्भर है? घी दूध पर निर्भर है क्योंकि दूध में घी का तत्त्व छिपा हुआ है। किन्तु जिस पत्थर में घी का अंश है ही नहीं, घी उस पर निर्भर कैसे कर सकता है। भगवान् की इस जादूगरी को माया अथवा योगमाया कहते हैं। कारण-ब्रह्म सृष्टिकर्ता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म का सृष्टि से क्या सम्बन्ध है? भगवान् की संकल्प शक्ति ही माया के रूप में तीन गुणों और पंच महाभूतों को रचती है और सृष्टि का विस्तार करती है। शुद्ध ब्रह्म नितान्त निर्लिप्त भाव से उसका तमाशा देखता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पलभर में उसके संकल्प से उदय और अस्त होते रहते हैं। किन्तु ब्रह्म का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदान्त के ऊंचे ज्ञान में एक ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता बचती ही नहीं इसलिए ज्ञान की अन्तिम कसौटी पर जिस सृष्टि की सत्ता ही नहीं है उसे परमसत्यरूप ब्रह्म पर टिका हुआ कैसे मान लें। जब भूतों की सत्ता ही नहीं तो उनके टिकने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वंध्यापुत्र के विवाह के भोज में खाये हुए लड्डुओं के कारण अजीर्ण की औषधि मांगना मूर्खता है। स्वप्न में सोने के पर्वतों को देखकर जीव लोभ में पागल हो उठता है और जगाने पर उन्हीं पर्वतों की खोज

के लिए भाग-दौड़ करता रहता है और ज्योतिषियों तथा विद्वानों से सोने के पर्वतों का रहस्य पूछता रहता है कि वे पर्वत किस देश-प्रदेश में है, किस भूमि पर कितनी ऊंचाई पर हैं, किस पर टिके हुए हैं। वहां तक पहुंचने के लिए कौन दिशा में जाना पड़ेगा आदि। तो ये सारे प्रश्न निरर्थक हैं क्योंकि जब वे पर्वत हैं ही कल्पित तो उनकी खोज में माथा खपाना मूर्खता ही है। यह असत् सम्वाद केवल भ्रान्तिकाल में ही प्रतीत होता है। भ्रान्ति दूर होने पर इसका अस्तित्व ही नहीं बचता है। जब तक भ्रान्ति रहती है तब तक यह प्रतीति किसी सत् वस्तु पर ही आधारित रहती है जैसे सर्प की भ्रान्ति अंधकार काल में रज्जु पर निर्भर करती है। सर्प की सत्ता रज्जु की सत्ता के कारण है। किन्तु भ्रान्ति दूर होने पर, प्रकाश हो जाने पर जब अपनी मूर्खता नष्ट हो गई तब सर्प की सत्ता ही लुप्त हो गई। उस स्थिति में यह प्रश्न करना कि सर्प किस पर आधारित है, मूर्खता ही है। अज्ञान काल की मिथ्या प्रतीति को ज्ञानकाल में जब उसकी सत्ता ही लुप्त हो गई उस समय उसको खोजना उसका आधार खोजना बाल बुद्धि का खेल कहा जाएगा। अंधेरे में जिस बालक को बड़ा भय लगता था, करोड़ों योजन तक फैला हुआ अंधेरा उसे दैत्य के समान डराता था। प्रकाश हो जाने पर उस अंधकार का सिर-पैर खोजना बाल बुद्धि का ही खेल है। पंचभूतों का सारा संसार ही तीनों कालों में असत्य ही है और ब्रह्म सर्वकाल में सदा सत्य है। अतः सत् में असत् को खोजना सत् वस्तु का अपमान है।

ईशावास्य में जो मंत्र दिया है उसमें व्यवहार काल में जो माया प्रतीत होती है उस माया के स्वामी भी परमेश्वर ही हैं। सारी प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। लक्ष्मी का स्वामी नारायण है, ऐश्वर्य का स्वामी ईश्वर है, वैभव का स्वामी विभु है। विशेषता यह है कि वह स्वामी निर्लिप्त और निष्काम स्वामी है। भगवान् गीता में कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 3/22, गीता

'हे पार्थ! तीनों लोकों में मुझे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है। तो भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूं।'

अर्थात् मुझे कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसके लिए मुझे कर्म चेष्टा करनी पड़े। किन्तु फिर भी मैं पूर्णकाम होते हुए भी लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूं। जब सब सम्पत्ति प्रभु की है तब अर्थ के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बदल जाना चाहिए। ईशावास्य के अनुसार अर्थ का वास्तविक स्वामी परमेश्वर ही है। हम मात्र इसके न्यासी (Trustee) तथा प्रयोक्ता हैं। जितना धन प्रभु ने हमें दिया है यह विश्वास (Trust) करके दिया है कि हम उस ऋण का निजी हित, परिवार हित, समाज हित, राष्ट्र हित और विश्वहित के लिए ही नहीं वरन्

जीवमात्र के अधिक से अधिक बड़े कल्याण के लिए सदुपयोग करेंगे। हमारे सारे अर्थ व्यापार का उद्देश्य होना चाहिए भगवान् के इस विश्वास के योग्य बनना। यदि हम किसी सेवक को दस पैसे का सामान लाने के लिए कहते हैं और वह 10 पैसे के विश्वास को निभाता है तो हम उसका एक रुपया तक का विश्वास करने लग जाते हैं। एक का ठीक निभाने पर 10 का, 10 का ठीक निभाने पर 100 का... 1000.... 100000... फिर लाखों रुपयों का विश्वास करने लग जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार हम अपने को भगवान् का विश्वासपात्र सिद्ध करें और भगवान् की निधि को भगवान् के आदेशानुसार भगवान् के जीवों के अधिक से अधिक बड़े कल्याण के लिए निःस्वार्थ, निरहंकारभाव (यज्ञभाव) से लगा सकें तो भगवान् का सच्चा प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त कर सकेंगे। जैसे विश्वास बढ़ते-बढ़ते व्यक्ति घर का अंग बन जाता है और उस पर हम प्राणों का विश्वास भी करने लगते हैं। उसी प्रकार भगवान् का अर्थविश्वास ठीक-ठीक निभाते-निभाते भगवान् के अपने बन जाते हैं और भगवान् हमें अपना आत्मा ही बना लेते हैं। इस प्रकार निर्लिप्तभाव से अर्थव्यापार से भी मोक्ष का राजपथ खुल जाता है। हमें निरन्तर यह भाव रखना चाहिए कि सृष्टि के उपवन के मालिक तो भगवान् ही हैं, हम तो माली के समान हैं। मालिक ने पूरा उपवन हमारे विश्वास पर छोड़ रखा है। हमें उपवन में रहना, उपवन की सुरक्षा करना, उपवन को सुन्दर सजाना, संवारना, उपवन का सौन्दर्य एवं सुगन्धि का निर्लिप्तभाव से आनन्द लेना, सब कुछ का अधिकार है। कई दृष्टियों से मालिक की अपेक्षा माली फुलवारी का सुख अधिक ही प्राप्त करते हैं किन्तु हमें सावधानी यही रखनी चाहिए कि हम भूल से अपने आपको मालिक न मानें। इसमें बड़ा लाभ यह है कि आनन्द तो मालिक से भी अधिक मिलेगा पूरी फुलवारी का तथा कोठी का उपयोग हम दिन-रात कर सकेंगे किन्तु न मिल्कियत की परेशानी में पड़ेंगे न कर (टैक्स) की सिरदर्दी झेलनी पड़ेगी, न अन्य सम्पत्ति वालों के साथ झगड़ों में कोर्ट-कचहरी की ठोकर खानी पड़ेगी। मालिक बनने में परेशानियां ही परेशानियां हैं। माली या Trustee बनने में कार्य अधिक अच्छा होता है। सिरदर्द कम हो जाता है।

Trusteeship की भावना हो जाने पर सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि हम मोहरूपी राक्षस से बचे रहते हैं। हमारे मन को अहंता और ममतारूपी राक्षस के चंगुल में पड़ने का अवसर नहीं रहता। जब सृष्टिरूपी उपवन मेरा है ही नहीं तब अहंकार को स्थान ही कहां बचता है? जब मैं मालक नहीं तब मेरी ममता भी नहीं हो सकती। शरणानन्दजी ने अपने एक अमर गीत में गाया है—

मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है वह धन किसी का है दिया।।1।।

देने वाले ने दिया, वह भी दिया किस शान से।
मेरा है, यह लेने वाला कह उठा अभिमान से।।2।।

मैं-मेरा यह करने वाला मन किसी का है दिया।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।3।।

जो मिला है वह हमेशा पास रह सकता नहीं।
कब बिछुड़ जाए यह कोई राज कह सकता नहीं।।4।।
जिन्दगानी का खिला मधुवन, किसी का है दिया।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।5।।

जग की सेवा, खोज अपनी प्रीति उनसे कीजिये।
जिन्दगी का राज है, यह जानकर जी लीजिये।।6।।

साधना की राह पर, यह साधन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है, वह सब किसी का है दिया।।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।7।।

मेरा नहीं—यह भावना ही यज्ञभावना है।

'इदं न मम' इस भावना से निर्लिप्ततापूर्वक, निरहंकारपूर्वक किया गया कर्म सुन्दर एवं कर्ता को बांधने वाला नहीं होगा।

वर्तन्तु ऋषि के शिष्य ब्रह्मचारी कौत्स ने गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें गुरु दक्षिणा देने का संकल्प किया। गुरु ने उसे निर्धन जानकर कुछ भी गुरुदक्षिणा नहीं मांगी। किन्तु कौत्स के बार-बार आग्रह करने पर गुरु ने उसे एक परीक्षा में डाल दिया। गुरु ने कहा—मैंने तुम्हें चौदह विद्यायें पढ़ाई है, यदि गुरुदक्षिणा देना चाहते हो तो चौदह लाख स्वर्णमुद्रायें लाकर दो। ब्रह्मचारी कौत्स गुरुदक्षिणा की निधि का संग्रह करने के लिए महाराजा रघु के पास गया। उन दिनों रघु महाराज दिग्विजय करने के पश्चात् अपना सर्वस्व दान करके रानीसहित जंगल में तपस्या कर रहे थे। ब्रह्मचारी कौत्स उन्हें राजधानी में न पाकर जंगल में खोजने हेतु गए। वहां उनकी फूस की झोपड़ी तथा मिट्टी के पात्र को देखकर कौत्स लज्जित होकर वापस लौटने लगा। किन्तु रघु महाराज ने उसे पुकार कर कहा, अपने आने का उद्देश्य निःसंकोच भाव से कहो। कौत्स ने झिझकते हुए अपना प्रयोजन बताया। महाराज रघु ने कहा—इस समय राजकोष में तो कुछ बचा ही नहीं। मैं जंगल में तपस्या कर रहा हूं। किन्तु द्वार से अतिथि खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। धनराज कुबेर ने बहुत वर्षों से हमारा कर नहीं चुकाया था। उनसे मेरी ओर से जाकर कहो और गुरुदक्षिणा हेतु स्वर्णमुद्रा ले आओ। कुबेर ने उत्तर दिया कि राजा रघु स्वयं वनवासी बने जंगल में रह रहे हैं अतः उनका ऋण

नहीं दूंगा तो वे क्या बिगाड़ लेंगे। इस पर रघु महाराज ने ब्रह्मचारी के हाथ से संदेश भेजा कि चाहे मैं इस समय एक निर्धन वनवासी के रूप में तपस्या कर रहा हूं किन्तु जिस धनुष से मैंने दिग्विजय किया है वह अभी भी मेरे पास है। इस पर कुबेर ने भयभीत होकर विजयादशमी पर एक शमीवृक्ष की ओट से स्वर्ण मुद्रायें बरसा कर सोने का ढेर लगा दिया। ब्रह्मचारी कौत्स अपनी गुरुदक्षिणा की मुद्रायें गिनकर ले जाने लगा तो राजा रघु ने कहा कि मैं तपस्या में लगा हुआ हूं। मैं धन को छू नहीं सकता। सारा सोने का ढेर तुम्हारे निमित्त से ही बरसा है इसलिए यह मेरा नहीं, सब तुम्हारा है। सब ले जाओ। ब्रह्मचारी ने कहा, महाराज! मैं तपस्वी ब्रह्मचारी हूं। मुझे केवल गुरुदक्षिणा हेतु स्वर्णमुद्राओं की आवश्यकता थी। कुबेर ने आपका ऋण चुकाया था। मैं एक भी अतिरिक्त मुद्रा स्पर्श नहीं कर सकता। यह धन मेरा नहीं, आपका है। बीच में सोने का ढेर लगा था और राजा और ब्रह्मचारी के बीच में बड़ा मीठा विवाद चल रहा था 'इदं न मम' अर्थात् यह मेरा नहीं है। आजकल कंचन और कामिनी को लेकर सभी विवादों का मूल मंत्र होता है 'इदं मम'—यह मेरा है। अन्त में सोने का ढेर न रघु ने छुआ न ब्रह्मचारी कौत्स ने। वह निर्धन प्रजाओं में बांट दिया गया। धन के प्रति निर्लोभ यज्ञभावना हो जाने पर यह धरती स्वर्ग बन जाए। जब भारत में ऐसी भावना थी तब भारत स्वर्ग से भी ऊंचा था। जहां स्वर्ग के देवता भी जन्म पाने के लिए तरसते रहते हैं।

दो भाइयों में चित्रकूट में इसी प्रकार का एक मीठा संवाद इतिहास में अमर हो गया। राम कहते थे कि भरतजी! पिता के मौन आदेश और माता कैकयी के वचन पर फूल चढ़ाते हुए मैंने वनवास स्वीकार किया और आप जैसे प्राणप्यारे भाई के लिए राज्य छोड़ा। अतः भरतजी राज्य मेरा नहीं आपका है। भरतजी राम से कहते हैं रामदुहाई, आपके चरणों की सौगन्ध, ऐसा पाप मुझ से मत करवाइये। यह राज सदा आपका है और आपका ही रहेगा। दोनों भाइयों के अन्तर से 'इदं न मम' की भावना गूंज रही थी। दोनों भाइयों ने मानों राज्य को कन्दुक (गेंद) बनाकर परस्पर एक-दूसरे की ओर ठुकरा कर फेंकना प्रारम्भ किया। दोनों खिलाड़ी भी इतने जागरूक थे कि गोल कोई भी नहीं होने देता था। अन्त में निर्णय किया गया जिससे कि भाइयों का प्रेम अमर बना रहे और राज्य की कीमत लगाई दो जूते। 14 वर्ष तक अयोध्या के सिंहासन पर राम की पादुका राज करती रही। अर्थ के प्रति निर्लोभ वृत्ति एवं साम्राज्य के प्रति यज्ञभाव का इससे श्रेष्ठ उदाहरण सारे विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता। भरतजी की अर्थ-व्यापार में इस निर्लोभ वृत्ति का गुणगान करते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

रमा विलासु राम अनुरागी।
तजत वमन जिमि जन बड़भागी।। 2/323/8, मानस

अर्थात् राम के सच्चे अनुरागी बड़भागी पुरुष रमा (लक्ष्मी) के भोग विलास को वैसे ही त्याग देते हैं जैसे विचारवान मनुष्य वमन को त्याग देता है (फिर उसकी ओर देखते भी नहीं)।

कविवर रहीम बड़े गुणग्राहक दानी थे। एक बार गंगकवि की एक कविता से प्रसन्न होकर 36 हजार मुहरें दान कर दी। किन्तु दान देते समय उनके नेत्र नीचे ही नीचे झुकते जाते थे।

इस पर गंगकवि ने प्रश्न किया—

सीखे कहां जनाब जू ऐसी देनी देन।
ज्यों-ज्यों कर ऊंचो उठे त्यों-त्यों नीचे नैन।।

इसके उत्तर में रहीम कवि ने आंखों में अश्रुजल भर कर कहा—

देनहार कोई और है भेजत है दिन रैन।
लोग भरम हमपै करैं ताते नीचे नैन।।

निरहंकार एवं निर्मोह के भाव का यह एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। आजकल दानदाता के दान से अधिक भारी तो उसका अहंकार ही हो जाता है जो दाता और ग्रहिता, दोनों को ही ले डूबता है।

सेठ भामाशाह ने अपनी तथा अपने पूर्वजों की सारी कमाई जब निर्लिप्त भाव से देश हितार्थ राणा प्रताप के चरणों में चढ़ा दी तब राणा प्रताप के अचम्भे से पूछने पर भामाशाह ने कहा कि यह सम्पत्ति मेरी नहीं है। यह आपकी ही है। देश की सम्पत्ति देश के काम आ जाए तो सम्पत्ति का सदुपयोग और संग्रहकर्ता का भी सौभाग्य है। अर्थ किसी अर्थ (उद्देश्य) में लग जाए तो उससे बड़ी सार्थकता, सफलता और क्या हो सकती है।

यदि हम प्रभु की सम्पत्ति को मोहवश अपना मान बैठे तो एक बड़ा अपराध हो जाए। संसार में लौकिक न्याय में भी यदि कोई मुनीम या कारिन्दा किसी सेठ का धन लेकर मुंबई, कोलकाता, सेठ के आदेशानुसार माल खरीदने के लिए भेजा जाए और वहां जाकर वह स्वयं ही मालिक बन बैठे और वास्तविक मालिक के साथ धोखा करे तो उसे निश्चित दंड और जेल की यातना भोगनी पड़ती है।

जब लौकिक न्यायविधान में अमानत में खयानत करने वाले व्यक्ति के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था है तब ईश्वर की अमानत में खयानत करने वाले, वास्तविक मालिक को भूलकर स्वयं मालिक बन बैठने वाले कृतघ्न धोखेबाज लोगों के लिए कितना बड़ा दण्ड होगा। लौकिक न्याय में तो कई बार लोग चालाकी भरी वकालत, रिश्वत अथवा पैरवी से छूट जाते हैं किन्तु सर्वशक्तिमान जो सब जीवों का कच्ची डोरी पर शासन कर रहा है उसके साथ धोखा करके

उसकी अमानत में खयानत करके उसके स्थान पर स्वयं को मालिक दिखाने का दम्भ करके हम कहां टिक सकते हैं। इसलिए समस्त अर्थ-व्यापार में प्रभु को मालिक और अपने को विश्वासी (न्यासी) मानकर कर्तव्यपालन करने में इहलोक में सबका बड़े से बड़ा कल्याण होगा तथा परलोक में हम मोहमुक्त होने के कारण भी मोक्ष के अधिकारी बन जाएंगे।

ईशावास्य के प्रथम मंत्र के प्रथम चरण में यही कहा है—ईश्वर ही सारी सृष्टि का स्वामी है, वही संरक्षक है। सारी सृष्टि उसकी गोद में उसके द्वारा आच्छादित है, उससे व्याप्त है अर्थात् उसके एक अंश में टिकी हुई है।

दूसरी पंक्ति के प्रथम चरण में कहा है कि उस सर्वेश्वर, अखिलेश्वर, परमेश्वर के नाम पर समर्पण करके उसके प्रसाद के रूप में संसार की वस्तुओं को भोगो। इसी में बगीचे के माली का भाव और Trusteeship का भाव तथा यज्ञभावना छिपी हुई है। दूसरी पंक्ति के अंतिम चरण में कहा है कि—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

अर्थात् किसी के धन की ओर गिद्धदृष्टि (Greed) लोभदृष्टि मत रखो।

सामान्य अर्थ में चोरी से बचने वाला संदेश है। किन्तु गंभीर अर्थ में यह कहा गया है कि धन किसका है? जो तुम लोभ दृष्टि रखते हो अर्थात् यह धन तेरा नहीं है। सब धन परमेश्वर का है। इसलिए यदि तू चोरी करता है तो परमेश्वर की ही चोरी कर रहा है, किसी व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति के धन को चुराने पर कठोर दण्ड मिलता है तब परमेश्वर के धन को चुराने का कैसा दण्ड मिलेगा इसकी कल्पना की जा सकती है। फिर चोरी द्वारा जिस धन को थोड़ी देर के लिए तुम अहंकार से मेरा-मेरा कहते हो वह तुम्हारा है ही नहीं और रहेगा भी नहीं। क्योंकि सब धन प्रभु का है—'कस्य स्विद्धनम्' में से निम्नलिखित ध्वनि निकलती है—

(क) विचार करो कि यह धन किसका है? जिसका धन चुरा रहे हो उसका है ही कहां? यह तो प्रभु के भण्डार में डाका है।

(ख) मानो कि चोरी करने का फल कारावास के रूप में मिलता है। तब भगवान् की चोरी करने का फल संसार रूपी कारावास में बंदी होकर कष्ट भोगने के रूप में मिलता है।

(ग) गिद्ध आसमान में बहुत ऊंचा उड़ता है किन्तु उसकी दृष्टि धरती पर पड़े हुए मांस के लोथड़े में लगी रहती है। ज्योंही वह कोई गला-सड़ा मुर्दा देखता है तो तुरन्त झपट्टा मारकर उसे उड़ा ले जाता है। इसी प्रकार विचारों के संसार में बहुत ऊंची बुद्धि की उड़ानें भरने वाले लोग गिद्ध के समान जीवन के तुच्छ लोभों पर नजर लगाए रहते हैं और ज्योंही स्वार्थपूर्ति का अवसर मिलता है वे आमिषभोजी

गिद्ध के समान ही नीचे आकर तुरन्त लोभ का झपट्टा मारते हैं। बड़े-बड़े विद्वानों को, ज्ञान बघारने वाले लोगों को, शिक्षाशास्त्रियों को, राजनेताओं को प्रलोभन अथवा स्वार्थपूर्ति का अवसर आने पर सारे आदर्शवाद को भुलाकर नीचे गिरते देखा जाता है।

संस्कृत के गृध शब्द से ही अंग्रेजी और यूरोपीय भाषाओं में Greed शब्द बना है। इसका अर्थ ही लोभ लालच है। इसमें ध्वनि यह है कि अच्छा भला सज्जन व्यक्ति जब लोभ के वशीभूत हो जाता है तब मनुष्यता से गिरकर सड़े मुर्दे खाने वाले गिद्ध के स्तर पर आ जाता है। पशुओं में कुत्ता, जंगली पक्षियों में गिद्ध और ग्रामीण पक्षियों में कौआ ये सब विष्ठा भोगी, आमिषभोगी होने के कारण पशु-पक्षी जाति में शूद्र एवं चाण्डाल माने गए हैं। मानव जिस प्रकार की प्रवृत्ति दर्शाता है उससे उसकी भावी योनि का अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस धन के लोभ के लिए मानव इतना लोभ पाप का जोखिम लेता है वह धन अन्ततोगत्वा उसके पास टिकने वाला नहीं है। इसलिए मानव की स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है—

दिन गंवाया दूनी से दूनी न चाली साथ।
पांव कुल्हाड़ा मारा मूरख अपने हाथ।।

जिस अर्थ के लिए जीवन भर अनर्थ किए वह अर्थ भी अपना न हुआ। यह दोनों ओर से घाटे का ही सौदा है।

गुरु नानकदेवजी ने एक साहूकार के विषय में सुना कि वह बहुत बड़ा धनाढ्य है। किन्तु साथ ही बहुत बड़ा कंजूस भी है और समाजसेवा के लिए कुछ भी व्यय नहीं करता। गुरु नानकदेव ने उससे कहा, मैं मक्का मदीने की यात्रा पर जा रहा हूं। मैं अपनी एक सूई आपके पास अमानत के रूप में रख जाता हूं, लौटने पर ले लूंगा। साहूकार ने कहा; आप बहुत दूर जा रहे हैं, आप वृद्ध भी बहुत हो चुके हैं, आपकी अमानत कहां तक सम्हालता रहूंगा। यदि आप न लौटे तब इसका क्या करूंगा। गुरुनानक ने कहा, यदि मेरा शरीर छूट गया तो मैं यह सूई आपसे परलोक में ले लूंगा। साहूकार ने कहा, परलोक में इसे कैसे ले जाऊंगा। गुरुजी ने कहा, जैसे तू अपना अपार धन, रत्न भण्डार परलोक ले जाएगा। उसमें मेरी एक सूई भी ले आना। इससे कंजूस धनाढ्य की आंखें खुल गई। उसे समझ आ गया कि यह धन मेरा नहीं है। न मेरे साथ आया है और न मेरे साथ जाएगा।

धन का एक पर्याय सम्पत्ति है। जिसका अर्थ है सफलता, समृद्धि, प्राचुर्य, अनुकूलता आदि। पत का अर्थ होता है गिरना या घटना। सम्पत्ति का शाब्दिक अर्थ हुआ अच्छी प्रकार से घटना। अच्छी प्रकार से प्राप्त होना या अच्छी

प्रकार से बरसना। मानव बिना भगवान् की प्रपत्ति के सीधे सम्पत्ति चाहता है और मिलती है उसे विपत्ति। जब लक्ष्मी नारायण की सहचरी है तो नारायण की शरणागति के बिना लक्ष्मी को चाहना, उस पर अधिकार जताना नितान्त अनुचित एवं पापपूर्ण है। यदि किसी पति की अनुमति एवं सहमति के बिना हम उसकी धर्मपत्नी के प्रति लोभ की कामना करें तो हम अपने लिए जान-बूझकर विपत्ति को ही बुला रहे हैं। जब हम प्रभु के चरणों में अपने आपको निष्काम भाव से समर्पित कर देते हैं तब हम प्रभु की समस्त सम्पत्ति के अपने आप उत्तराधिकारी बन जाते हैं प्रभु अपने भक्तों को पुत्रवत् अपने हृदय से लगा लेते हैं तथा अपना सब कुछ उन पर निछावर कर देते हैं। सच्चा भक्त भी लक्ष्मी माता या प्रकृति माता से पोषण मात्र चाहता है उस पर स्वामित्व नहीं। प्रकृति हमारे पालने के लिए है, हमारे भोगने के लिए नहीं। 'ईशा वास्यामिदं....' इस मंत्र में 'भुंजीथाः' का अर्थ भी पालन ही है, किसी अमर्यादित अर्थ में भोग नहीं। भुज धातु से एक संज्ञा बनती है भोज या भोजन और दूसरी संज्ञा भोग। भोजन निर्वाह के लिए होता है और भोग विलास के लिए।

अर्थ का एक अन्य पर्याय है वित्त। जिसका अर्थ प्राप्त, ज्ञात, विचारित, परीक्षित, प्राप्त वस्तु, अधिकार, धन, सम्पत्ति। धातु के रूप में वित्त का अर्थ है जानना या प्राप्त करना। शास्त्रवित्त का अर्थ है शास्त्र को जानने वाला, वेद वित्त का अर्थ है वेद को जानने वाला, धीरे-धीरे वित्त शब्द ज्ञात या ज्ञानप्राप्त के स्थान पर धनप्राप्त या धनप्राप्ति के लिए रूढ हो गया। मानव की तीन बड़ी एषणायें, कामनायें होती है। **वित्तैषणा** अर्थात् धन प्राप्ति की कामना। **पुत्रैषणा** अर्थात् परिवार एवं संतान प्राप्ति की कामना। **लोकैषणा** अर्थात् लोक में प्रसिद्धि की कामना। वित्तैषणा और पुत्रैषणा ममता को बढ़ाने वाली और लोकैषणा अहंता को बढ़ाने वाली है। धन को अतिशय महत्त्व देने से समाज के जीवन मूल्य बदल जाते हैं। अर्थपरायण समाज में धनवान को ही बड़ा, कुलीन, समाज में प्रतिष्ठित, गुणवान आदि सब गुणों से मण्डित माना जाने लगता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। भर्तृहरि ने ऐसे अर्थपरायण समाज पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।। 41, नीतिशतक

अर्थात् जिसके पास वित्त है वह कुलीन माना जाता है। वही पण्डित, ज्ञानी माना जाता है वही गुणज्ञय भी समझा जाता है, वही वक्ता भी मान लिया जाता है और वही दर्शनीय गिना जाता है। इस प्रकार अर्थपरायण समाज में, सोने में सब

गुण मान लिए जाते हैं। इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं में सोने में भी कलयुग का वास माना गया है। भारत के संतों ने सोने की मादकता को धतूरे से भी अधिक भयानक माना है—

कनक कनक ते सौ गुणी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौराय नर यह पाये बौराय॥

अर्थात् कनक (सोना) कनक (धतूरे) की अपेक्षा सौ गुणा अधिक मादकता पैदा कर देता है। धतूरे को खाने से आदमी पागल हो जाता है किन्तु सोने को तो पाने से ही पगला जाता है।

धन का उर्दू एवं फारसी में नाम है दौलत। इसका व्यंग्यात्मक अर्थ यह किया जाता है कि ये दौलत दो लात मारती है। जब आती है तो एक लात मारकर मनुष्य की गर्दन में घमण्ड की अकड़ पैदा कर देती है और जब जाती है तो दूसरी लात मारकर अकड़ी हुई गर्दन को तोड़ जाती है। अतः दौलत के नशे में पागल होकर अधिक अकड़ जाना समाज के लिए बुरा है और दौलत के छिन जाने पर छाती फटना स्वयं हमारे लिए घातक है। अकड़ में हम अहंता में बंध जाते हैं और धन के चले जाने पर हम ममता से छटपटाने लगते हैं।

आज आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्र घोषणा करता है कि जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य अर्थोपार्जन ही है। वे दूसरी चेतावनी देते हैं कि पूरे अर्थशास्त्र के अध्ययन में धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। कार्लमार्क्स भी इतिहास की अर्थशास्त्रीय व्याख्या करके घोषित करता है कि नैतिकता और धर्म सब अर्थ की दास-दासियां हैं। महाभारत काल में पापी कौरवों का पक्ष लेने वाले ने सफाई देते हुए यहां तक कह डाला कि—

अर्थस्य पुरुषो दासः।

अर्थात् मनुष्य तो अर्थ का ही दास होता है। हृदय से पांडवों की विजय कामना करते हुए भी भीष्म पितामह ने कौरवों का अन्न खाने के कारण उनका पक्ष लिया। गीता ऐसे ही धर्मसंकट का उत्तर देने के लिए गाई गई। भगवान् ने एवं समस्त ऋषिपरम्परा ने चेतावनी दी थी—धर्म और अर्थ की टक्कर में मानव को अर्थ को थूककर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म एक नित्य शाश्वत तत्त्व है जो मरने पर भी जीव के साथ परलोक तक जाता है। किन्तु अर्थ तो निर्जीव धातु के सिक्के या भौतिक वस्तुओं के रूप में अनित्य एवं नश्वर वस्तु है जो मनुष्य का साथ नहीं दे सकती तथा मरने पर परलोक में साथ भी नहीं जाती। इसलिए अनित्य अर्थलाभ के लिए नित्य धर्मतत्त्व को कभी नहीं त्यागना चाहिए। भगवान् वेदव्यासजी ने चेतावनी दी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेत्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

अर्थात् कभी भी तनिक भी कामना के लिए, न भय न लोभ से, वरन् अपने जीवन तक की रक्षा के लिए भी धर्म न छोड़ें। धर्म नित्य है, सुख-दुःख तो अनित्य है। जीव नित्य है और उसका जन्म मरण का हेतु अनित्य है। इसलिए अनित्य के लिए नित्य को कभी नहीं त्यागना चाहिए। भगवान् ने गीता में भी धर्म की महिमा में कहा है—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।** 3/35, गीता

अर्थात् अपने धर्म में मर जाना अच्छा है। दूसरों का धर्म सदा भय देने वाला होता है। दुर्भाग्य से पश्चिम की भौतिकवादी अर्थपरायण सभ्यता की नकल से आज मानव का भीषण नैतिक पतन हो रहा है। इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बेनहम (Benhem) ने लिखी है एक पुस्तक Economics of prostitution अर्थात् वेश्यावृत्ति का अर्थशास्त्र। उसने तर्क दिया है कि क्योंकि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थोपार्जन ही है और अर्थशास्त्र के पूरे अध्ययन में नीतिशास्त्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसलिए वेश्यावृत्ति शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से एक माता या गृहपत्नी के कार्य से अधिक लाभप्रद है। उसने बताया कि एक माता या गृहपत्नी के कार्य का मूल्यांकन दो नौकरानियों के कार्य के बराबर करने से उसका मूल्य सौ पौण्ड मासिक तक हो सकता है। इसकी तुलना में एक वेश्या हजार दो हजार पौण्ड मासिक तक कमा सकती है। इसलिए आर्थिक दृष्टि से वह माता या गृहपत्नी से अधिक लाभप्रद धंधा करने वाली है। जिस माता को भारतीय संस्कृति में सबसे ऊंचा स्थान और पवित्रतम पद दिया गया है उसे अर्थपरायण समाज ने वेश्या के पतित जीवन से भी घटिया मानकर वेश्या के पांव के नीचे डाल दिया। अर्थ पर धर्म का अंकुश न रहने से मानवता के सभी श्रेष्ठ जीवनमूल्य नष्ट, भ्रष्ट हो जाएंगे। इसलिए भारतीय ऋषियों की भावना का प्रतिपादन करने वाली हमारी चेतावनी है—

धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्
यज्ञ विहीनं अर्थं व्यर्थम्।

अर्थात् पाप की कमाई का पैसा अनर्थकारी होता है और समाज कल्याण रूपी यज्ञ में समर्पण किए बिना अर्थ व्यर्थ होता है। डाकू का पैसा अनर्थ है और कंजूस का पैसा व्यर्थ है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए और न व्यर्थ। अर्थ सार्थक तभी होता है जब धर्म के द्वारा कमाया जाए और यज्ञ की भावना से अर्थ लगे।

मानव सेवा संघ के प्रतिष्ठाता स्वर्गीय स्वामी शरणानन्दजी महाराज ने मानव सेवा संघ के 10 नियम में कहा है हमें सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति

से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। धन की अपेक्षा धान्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। लोगों को धन का घमण्ड अधिक होता है और धान्य का कम। धन का दुरुपयोग अधिक हो सकता है धान्य का कम। धन से धोखाधड़ी अधिक हो सकती है धान्य से कम। धन केवल बैंकों या तिजोरियों में पड़ा रहता है, वस्तुओं का उत्पादन देश को समृद्धिशाली बनाता है। धन का संग्रह करने वाला कंजूस, आलसी होता है किन्तु वस्तुओं का उत्पादन करने वाला परिश्रमी होता है। अधिक उत्पादन से अधिक लोगों का कल्याण होगा। अधिक लोगों को अधिक सुविधा मिलेगी। उदाहरण के रूप में यदि सरकार के परिवहन कोष में 50 करोड़ रुपया जमा रहे और जनता को यात्रा करने के लिए बसें उपलब्ध न हो तो सरकार के जमा पैसे का क्या लाभ है? यदि सरकार के कोष में खाद्यपूर्ति विभाग में अरबों रुपया जमा रहे और जनता अन्न के अभाव में दम तोड़ती रहे तो वह जमा धनराशि बेकार है। धन वस्तुओं की सुविधा के लिए ही है। अपने आप में उसका कुछ महत्त्व नहीं। अब वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व अधिक है। यदि गोदाम में अनाज भरा हुआ है और बाहर व्यक्ति भूखों मर रहे हैं तो उस अन्नभण्डार का कोई लाभ नहीं। औषधि यदि अलमारी में बंद पड़ी रहे और रोगी तड़प-तड़प कर मर जाए तो औषधि निरर्थक है। सिक्का वस्तुओं के क्रय और उत्पादन के लिए ही बना है और वस्तुएं मानव के सदुपयोग के लिए ही बनी हैं। किन्तु मानव को विवेक न रहे तो वह वस्तुओं का उचित सदुपयोग भी नहीं कर सकता। मानव के सामने विष और रसायन दोनों वस्तुएं पड़ी हैं। उसे विवेक से जानना है कि उसके लिए कौन अधिक कल्याणकारी है। दूध और शराब में से किसको चुनें किसको त्यागें, यह विवेक से ही मार्गदर्शन मिलता है। यदि वस्तुओं के भण्डार को देखकर बहुत से व्यक्ति टूट पड़ें कि वस्तु तो व्यक्ति के लिए होती है तो वस्तुओं को लूटने की चेष्टा करने वाले अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा कोई विवेकयुक्त व्यक्ति अधिक ऊंचा मार्गदर्शन कर सकता है। अनेक लोगों के एक साथ भण्डार पर टूट पड़ने से वस्तुएं भी नष्ट हो जाएंगी और व्यक्ति भी परस्पर संघर्ष में हताहत हो जाएंगे। अतः व्यक्ति से भी उसका विवेक अधिक मूल्यवान है। एक विवेकी व्यक्ति सैकड़ों अविवेकी व्यक्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। विवेक का उपयोग सत्य की खोज के लिए है। विवेक वस्तुओं को परखने के लिए ही नहीं है, वह असत्य को त्यागकर सत्य को प्राप्त करने के लिए है। विवेक की सार्थकता इसी में है कि वह सत्य की खोज कर सत्य के साथ अभिन्न हो जाए।

भारतीय संस्कृति के चार पुरुषार्थों में से अर्थ सबसे छोटा एवं प्रारम्भिक पुरुषार्थ है। कुछ विचारक काम को सबसे छोटा पुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु अर्थ अपने आप में पूर्णतः जड़ है। पैसे में न जीवन है न ही चेतना। धान्य में कुछ प्रारम्भिक स्तर का जीवनतत्त्व मिलता है। काम बिना मानसिक चेतना के हो

ही नहीं सकता। धर्म बौद्धिक एवं नैतिक चेतना पर निर्भर करता है। और मोक्ष आध्यात्मिक चेतना से ही सम्भव है। जड़ अर्थ एवं अन्य जड़ पदार्थों के निरन्तर चिन्तन एवं उपार्जन हेतु कार्यकलाप से धीरे-धीरे चेतन मनुष्य के जड़प्राय: हो जाने का भय रहता है। अत: अर्थ के व्यापार पर मानसिक, बौद्धिक एवं नैतिक नियंत्रण अनिवार्य है। मानव की भूख चार स्तर की है। वह कुछ भौतिक सम्पदा चाहता है, उसका चाहना कामना कहा जाता है। इसका उत्तर काम के आदर्श से दिया जाता है। किन्तु कामनापूर्ति के लिए अर्थ भी आवश्यक है। अत: अर्थ की भूख का उत्तर भारतीय संस्कृति के अर्थ के आदर्श से दिया जाता है।

अर्थ और काम, दोनों अन्योन्याश्रित एवं एक-दूसरे के पूरक, उत्तेजक एवं सहायक बन जाते हैं। अर्थ की इच्छा भी एक दृष्टिकोण से काम के अन्तर्गत ही आ सकती है क्योंकि अर्थ की कामना भी कामना ही है। अर्थ में कामनापूर्ति के साधन खरीदने की शक्ति रहती है। अत: अर्थ द्वारा वर्तमान कामनाएं भी पूरी होती हैं और भावी कामनाओं को पूरा करने का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है। इसलिए कुछ विचारकों का मत है कि अर्थ काम से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली है। उनका यह मत है कि अर्थ और काम के संघर्ष में मनुष्य को काम को दबाकर भी अर्थ को बचा लेना चाहिए क्योंकि अर्थ भावी कामनाओं को पूरा करने का साधन है। समस्त पशु-पक्षी जगत् में काम (कामना) सर्वत्र अपना खेल खेल रहा है। किन्तु अर्थव्यापार केवल मनुष्य में ही पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में अर्थ, धन के साथ धान्य को भी सम्मिलित करता है। पशु-पक्षी प्राय: एक दिन का भोजन प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते हैं। वे अन्नभण्डार या मालगोदाम नहीं बनाते। हां कुछ छोटे जीव जैसे चींटियां और मधुमक्खियां संकट के दिनों के लिए कुछ भोजन जमा कर रखती हैं। किन्तु उस भण्डार के संग्रह में भी वे मिलकर सामूहिक प्रयास करती हैं और उसका उपभोग भी सामूहिक स्तर पर करती हैं। मनुष्य के पास अर्थ भण्डार बढ़ जाने पर वह अधिक स्वार्थी बन जाता है। धन की अधिकता से उसकी कामनाएं भी और बढ़ जाती है। धन, कामाग्नि को भड़काने में ईंधन का काम करता है। इस प्रकार अर्थ काम का उत्तेजक बन जाता है। अर्थ हमारा भौतिक एवं आर्थिक आदर्श है। काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है। धर्म हमारा नैतिक आदर्श है। और मोक्ष हमारा आध्यात्मिक आदर्श है।

भारतीय संस्कृति में अर्थ का उचित स्थान एवं महत्त्व है। किन्तु उसे अनुचित रूप से अधिक महत्त्व देने से जीवन की सारी सुन्दरता नष्ट हो जाती है। जैसे शरीर में पहनने के लिए जूता अनिवार्य है पर उसके अपने उचित स्थान पर ही रहने से मर्यादा का निर्वाह एवं अपना कल्याण हो सकता है। जूते को अनिवार्य मानकर सिर पर उठा लेने से जूता निरुपयोगी हो जाएगा और अपना तिरस्कार होगा। जब

अर्थ ही सर्वोपरि हो जाता है तब प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति अर्थ की तुलना में घटिया माना जाने लगता है। तब अर्थ के लिए ईमान बिकने लगता है, सम्मान लुटने लगता है। और पवित्र जीवनमूल्य पैसे पर नीलाम होने लगते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कलयुग में ऐसे अर्थप्रधान युग का चित्र खींचा है—

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।

वे पुनः लिखते हैं—

ऊंचे-नीचे करम, धरम, अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।

उस काल में अर्थ प्रलोभन एवं पद प्रलोभन के वशीभूत होकर बड़े-बड़े राजपूत राजाओं ने अपना आत्मसम्मान बेचकर अपनी मां-बहनों की डोली मुगल दरबार भेजनी प्रारम्भ कर दी थी। अर्थपरायण व्यक्ति सिद्धान्तहीन हो जाता है। वह सिद्धान्त के लिए न अर्थ समर्पित कर सकता है और न प्राण का बलिदान। इसके विपरीत वह पैसे के प्रलोभन में सिद्धान्त का भी बलिदान कर सकता है और बहुत बार प्राण भी खो बैठता है। जिस अर्थ के लिए वह प्राणों का जोखिम उठाता है वह अर्थ भी हाथ नहीं लगता और प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। इसीलिए अर्थ पर धर्म का अंकुश परम अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति कहती है अर्थ धर्म के लिए साधन है, अपने आप में साध्य नहीं। अर्थ की धन्यता इसी में है कि वह धर्म के लिए काम आ सके। अन्यथा वह मिट्टी-पत्थर के तुल्य ही है।

अर्थ की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं। जब समुद्र मंथन से लक्ष्मी का उदय हुआ तो देव और दानव सभी उसे प्राप्त करने के लिए ललचाने लगे। किन्तु भगवान् विष्णु नितान्त उदासीन भाव से कुछ भी कामना न करते हुए एकांत में एक ओर आसीन थे। लक्ष्मी ने सोचा जो मेरे प्रति उदासीन है, जो मेरे लिए तनिक भी ललचाता नहीं है वही मेरा स्वामी होने योग्य है। लक्ष्मी ने अपने को तनिक भी न चाहने वाले विष्णु भगवान् के गले में वरमाला पहना दी। महात्मा कबीर ने लिखा है—

माया छाया एक सी, विरला जाने भेद।
भक्ता के पीछे फिरे, सन्मुख भागे सोय।।

अर्थात् माया और छाया दोनों का स्वभाव एक जैसा होता है। जो व्यक्ति इनसे भागता है यह उसी के पीछे भागती है। और जो इनके सामने आ जाता है उससे वह स्वयं भागने लगती है। यदि व्यक्ति के पीछे छाया हो और वह आगे भागे तो छाया भी उसके पीछे-पीछे भागती है। इसके विपरीत यदि वह मुड़कर छाया की ओर अपना मुंह करके भागने लगे तो स्वयं छाया ही उससे आगे-आगे भागने लगती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति माया (धन-सम्पत्ति) से मुंह मोड़कर भागता है, धन-सम्पत्ति

उसके पीछे-पीछे भागती है। इसके विपरीत यदि वह माया की ओर मुख करके उसका पीछा करे तो माया ही आगे-आगे भागती जाती है और उसकी पकड़ में नहीं आती। स्वामी रामतीर्थ ने इसी भाव को अपने एक पद में गाया है—

भागती फिरती थी दुनिया, जब करते थे हम तलब।
जब हमें नफरत हुई तो बेकरार आने को है।।

धन के लिए निरन्तर बेचैन रहने वाला व्यक्ति एक भिखारी के समान भीख का कटोरा उठाए हुए सदा हाय-हाय करता रहता है और उसे धन का लोभ सदा नचाता रहता है।

गुरु नानकदेव ने लिखा है—

सकल सृष्टि का राजा दुखिया, हरि का नाम जपत होय सुखिया।

भारतीय परम्पराओं में जो व्यक्ति सारे अर्थ व्यापार को, अर्थ और आर्थिक जगत् को ठोकर मारकर संन्यासी बन जाता है उसे स्वामी कहा जाता है। यह विस्मय की बात है कि जिसने सब स्वामित्व छोड़ दिया वह स्वामी कहलाया। इसकी तुलना में जिन्होंने आर्थिक जगत् का स्वामित्व पकड़ रखा है उन्हें कोई स्वामी नहीं कहता। क्योंकि वास्तव में वे अर्थ के बंदी या धन के गुलाम ही हैं। धन की गुलामी या आजादी की कसौटी यह है कि क्या धन हमें ममता में बांध कर किसी महान् कार्य के लिए उत्सर्ग से रोकता है या हम धन को स्वेच्छानुसार किसी महत् कार्य के लिए उत्सर्ग कर सकते हैं। कबीर ने काम और अर्थ के बंधन से मुक्ति को ही सच्ची शहनशाही कहा।

चाह गयी चिन्ता गयी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे शाहन के शाह।।

ममता की परिधि को या तो घटाते-घटाते शून्य पर ले आवें तब मुक्ति हो जाए अथवा उसे बढ़ाते-बढ़ाते विराट् तक ले जाएं तब मुक्ति हो जाए। भक्त कहता है मेरा कुछ भी नहीं। ज्ञानी कहता है सारा विश्व ब्रह्माण्ड मेरा-ही-मेरा है।

लक्ष्मी के स्वरूप का विवेचन

लक्ष्मी का एक नाम है मां। जिसका अर्थ है माता। मां के धव (स्वामी) होने के कारण विष्णु को माधव कहा जाता है। मां लक्ष्मी विश्व की माता है जो विश्व का पालन करती हैं। प्रकृति माता या लक्ष्मी माता हमारे पालन के लिए ही है, भोगने के लिए नहीं।

लक्ष्मी का लक्ष्मी नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वह ऐसी माता है जो हमें जीवन के अन्तिम लक्ष्य नारायण तक पहुंचा देती है। जैसे माता अपने बच्चे को सजा-संवार कर पिता की गोदी में पहुंचा देती है उसी प्रकार लक्ष्मी का वास्तविक कार्य

नारायण से मिलाना ही है। जिस प्रकार बच्चे के गंदा, मैला-कुचैला बने रहने पर पिता उसे गोदी में बिठाने को तैयार नहीं होता। माता द्वारा स्नानादि से पवित्र एवं वस्त्र मंडित, श्रृंगार विभूषित हो जाने पर माता जब उसे अंगुली पकड़कर पिता के पास ले जाती है तो पिता उसे स्वयं चाव से गोदी में बिठा लेते हैं। उसी प्रकार सच्ची लक्ष्मी हमें भगवान् की गोदी में बैठने योग्य बना देती है।

पुत्र को पिता का परिचय मां ही दे सकती है। यदि मां न हो तो कोई पुत्र अपने पिता को पहचान ही नहीं सकेगा। अत: सच्ची लक्ष्मी हमें जगत्पिता, परमेश्वर का परिचय देकर हमें उनके सच्चिदानन्द साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना देती है। जिस प्रकार वनवासिन् सीता ने जंगल में पलने वाले अपने बालकों लव-कुश को राम का परिचय कराकर रामराज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। जिस प्रकार वनवासिन् शकुन्तला ने अपने नन्हे बालक भरत को दुष्यन्त का परिचय कराकर सारे भारत के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। उसी प्रकार नारायण की नित्य सहचरी लक्ष्मी माता प्रभुकृपा से वंचित और प्रभुचरणों से बिछड़े हुए जीवों को प्रभु का परिचय कराकर प्रभु के अमर साम्राज्य का सच्चा उत्तराधिकारी बना देती है। जो लक्ष्मी प्रभु से मिलाने के स्थान पर प्रभु से विलग करने वाली है वह सच्ची लक्ष्मी नहीं है। क्योंकि कोई भी सदाचारिणी एवं पतिव्रता माता अपनी संतानों को अपने ही स्वामी के विरुद्ध विपरीत या विलग करने की प्रेरणा नहीं दे सकती है।

इस दृष्टिकोण से लक्ष्मी के दो स्वरूप हैं। सुलक्ष्मी और कुलक्ष्मी। सुलक्ष्मी तो वह पवित्र मातृरूपा धन-धान्य सम्पदा है जो प्रभु से मिलाने वाली है।

लक्ष्मी के दो रूप

सुलक्ष्मी

विवेकी जीव लक्ष्मी को सदा नारायण की पोषणशक्ति और जगन्माता मानकर उससे पोषण ही मांगता है भोग को नहीं। वह लक्ष्मीपुत्र रहने में ही संतोष मानता है, लक्ष्मीपति बनने की घटिया आकांक्षा कभी नहीं रखता। लक्ष्मीपति तो सदा सर्वदा के लिए नारायण ही हैं। उसे लक्ष्मी माता के पूजन का प्रसाद भर चाहिए जिससे उसका एवं उसके परिवार का समुचित पालन पोषण होता रहे। उसकी लक्ष्मी माता या प्रकृति माता पर अधिकार करने की आकांक्षा कभी नहीं होती।

कुलक्ष्मी

कुलक्ष्मी सोने-चांदी के ठीकरों के रूप में अन्याय, अनीति, अधर्म से उपार्जित पाप की कमाई है जो नारायण से अलग करने वाली है। यह माया, अविद्यारूपी विपरीत शक्ति है जो प्रारम्भ में प्रलोभन के पाँसे फेंक करके जीव की परीक्षा लेती है और जीव के प्रलोभन में फंस जाने पर उसे अर्थलोलुप, स्वार्थी, कामी, ईर्ष्यालु बनाकर और उसके विवेक पर मोह-ममता का मायावी पर्दा डालकर उसे नारायण से मिलने के योग्य भी नहीं रहने देती।

सुलक्ष्मी कमलासना, पद्मासना है। उसका आसन कमल है जो निर्लिप्तता का पावनतम प्रतीक है। जल में अंकुरित है, जल में वर्धित है, जल में पल्लवित-पुष्पित एवं क्रीडामण्डित होकर भी, जीवन के आदि से अन्त तक जल के भीतर रहकर भी कमलपत्र जल से लिपायमान नहीं होता। भगवान् के सगुण स्वरूप, भगवान् के अंगों की उपमा के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रतीक कोई मिलता है तो वह कमल ही है—

नव कंज लोचन कंज मुख....

गोस्वामी तुलसीदासजी राम की स्मृति में गाते हैं, जिनके नेत्र कमल के समान हैं, जिनकी दृष्टि सदा निर्लिप्त है। देखें सभी (कुछ) किन्तु फंसे कहीं नहीं। जिनका मुख कमल के समान है। वाणी निर्लिप्त और रसना लोभमुक्त है। जिनके हाथ कमल के समान हैं (जो समस्त कर्मों से अलिप्त हैं, जो देन-लेन में निष्काम और निर्लिप्त हैं)। जिनके चरण कमल के समान हैं (अर्थात् उनकी गति असंग एवं अलिप्त है। चरण जाते हैं सब स्थान पर किन्तु फंसते कहीं नहीं)। भगवान् ने गीता में भी ब्रह्मसमर्पित कर्म करने वाले को कमलपत्र के समान पापपंक से अलिप्त बताया है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा।। 5/10, गीता

कुलक्ष्मी का वाहन है उलूक। जो दिन के प्रकाश के प्रति भी अंधा रहता है। जो सोने-चांदी के ठीकरों को ही लक्ष्मी मानकर उनका बोझा उठाए रहते हैं वे लक्ष्मी के वाहन उलूक के समान विवेक के प्रति अंधे हो जाते हैं तथा अनेक कुकर्म करने लगते हैं। कालाधन, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, धोखाधड़ी, तस्करी, जालसाजी आदि साधनों से धन-संग्रह करने वाले इसलिए तिरस्करणीय हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने चेतावनी दी है—

शंकर कोप सो, पाप को दाम।
परीक्षित जाह है जारी को दिया।।

अर्थात् भगवान् शंकर के कोप से पाप का पैसा निश्चय ही कलेजा जलाकर जाता है। यह परीक्षित सिद्धान्त है।

स्वामी रामतीर्थ ने इसी भाव को गाया है—

आदमी को चाहिए
दुनिया में रहना किस तरह
जिस तरह तालाब के
पानी में रहता है कमल

पंक में उत्पन्न होकर पंक से नितान्त अलिप्त रहने वाला पंकज प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ वरदान एवं भारतीय संस्कृति का सबसे सुन्दर एवं अर्थगम्भीर प्रतीक है। धन लक्ष्मी का पद्मा या कमला रूप यह संदेश देता है कि अपार धन-सम्पत्ति के होने पर भी हमें सर्वदा निर्लिप्त एवं निष्काम रहना चाहिए। जो इस प्रकार धन होने पर भी धनमद एवं ममता से मुक्त रहता है वही सच्चा लक्ष्मी का उपासक है।

(ख) सुलक्ष्मी भी धर्म से आती है और संयमपूर्वक सदुपयोग की जाती है। सुलक्ष्मी में धर्म के बीज के कारण थोड़ी मात्रा में होने पर भी बहुत बड़ा मंगल करती है।

वनवासी राम के पास धन का नितान्त अभाव था किन्तु धर्म उनके पक्ष में था। चारित्रिक लक्षण उनके पास थे। वनवासी पांडवों के पास लौकिक दृष्टि से धन-सम्पत्ति नहीं थी। किन्तु धर्म, नीति, मर्यादा और चरित्र लक्ष्मी अवश्य थी।

(ख) कुलक्ष्मी अधर्म एवं अन्याय से उपार्जित होती है, अनर्थ में जाती है या व्यर्थ में नष्ट हो जाती है।

कुलक्ष्मी बहुत बड़ी मात्रा में होने पर भी कल्याण के स्थान पर नाश का हेतु बनती है।

रावण के पास सोने की लंका तो थी किन्तु धर्म चरित्र नहीं था।

कौरवों के पास सारे भारत की राज्यलक्ष्मी थी किन्तु चारित्रिक लक्ष्मी नहीं थी।

(ग) सुलक्ष्मी आन्तरिक गुणों की लक्ष्मी अधिक है और बाह्य सुख-साधनों की लक्ष्मी कम है। इसी को

(ग) कुलक्ष्मी आसुरी सम्पदा है। बाहर के सुख साधन प्राप्त करके भी मनुष्य भीतर से कंगाल ही रहता है।

भगवान् ने गीता में दैवी सम्पद् अर्थात् देवताओं की सम्पत्ति, दैवी गुणों की सम्पत्ति कहा है—

अभयं
सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप
आर्जवम्।। 16/1, गीता

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः
शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं
ह्रीरचापलम्।। 16/2, गीता

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो
नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य
भारत।। 16/3, गीता

अभय, भावसंशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थितः (ज्ञान योग में निरन्तर स्थिति), दान, इन्द्रियदमन, तप, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निंदा का अभाव, भूतदया, लालच का अभाव, कोमलता, लोकलज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमानिता—ये सब दैवी सम्पद् के लक्षण हैं। ये लक्ष्मी चारित्र्य लक्ष्मी है। ये नारायण से मिलाने वाली है। इसे ही भगवान् शंकराचार्य मोक्षसाम्राज्य लक्ष्मी कहते हैं। यह भगवान् की परा प्रकृति के समान भगवान् की ज्योति को प्रकट करने वाली है। इसे भगवान् ने 'दैवीसम्पद् विमोक्षाय' कहा है। अर्थात् दैवी सम्पदा मोक्ष देने वाली है। प्रभु की इसके लक्षण इस प्रकार हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः
पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ
सम्पदमासुरीम्।। 16/4, गीता

कुलक्ष्मी रूपी आसुरी सम्पदा निम्नलिखित दुर्गुणों के रूप में प्रकट होती है—पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोर वाणी एवं अज्ञान। भगवान् आसुरी सम्पदा का परिणाम बताते हैं बंधन।

'निबन्धायासुरी मता'

अर्थात् आसुरी सम्पदा बंधन का कारण होती है। कुलक्ष्मी अपरा प्रकृति के समान मायारूपिणी, अविद्यारूपिणी, बंधनकारिणी होती है।

आज के भौतिकवादी अर्थ सर्वस्व समाज में आसुरी सम्पदा का ही बोलबाला है। जिस पश्चिम का अंधानुकरण करने का प्रयास आज का भारतीय नवयुवक कर रहा है उस पश्चिम में अति अर्थपरायणता के कारण परिवार नाम की संस्था तो प्रायः उजड़ ही चुकी है। परिवार में परस्पर स्नेह, सहयोग, त्याग, तितिक्षा का भाव लुप्त होता जा रहा है और उसके स्थान पर स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा, संघर्ष, अवसरवादिता का दाव-पेंच चल रहा है। एक भारतीय धर्मपत्नी को अपने पति के चरणों में वंदना करते देख हमारे एक अमेरीका से समागत मित्र ने कहा, "India is wonderful where the hands of wives are at the feet

प्रपत्ति से जो यह दैवी सम्पत्ति मिल जाती है उसके बाद कभी भी विपत्ति का मुख नहीं देखना पड़ता या विपत्ति को अवसर नहीं मिलता।

(घ) भगवान् ने गीता में दैवी सम्पदा में जितने गुण बताए हैं उनमें सबसे प्रथम अभयम् (निर्भयता) और अन्तिम निरभिमानिता बताया है। निर्भय होने से भयमुक्त हो गया और अभिमान रहित होने से मोहमुक्त हो गया। मोहमुक्ति से शोकमुक्त भी हो गया। अतः भय और शोक से मुक्ति ही दैवी सम्पदा का अथ और इति है। सद्गुणों की भक्ति का अगुआ अभय है। किन्तु अभय होने से कई लोग अभिमानी होकर दुस्साहसी कर्म करने लगते हैं, जैसे डाकू मानसिंह या डिक्टेटर हिटलर। इसलिए दैवी सम्पदा में निरभिमानिता (विनम्रता, शालीनता), अहंकारशून्यता भी परमावश्यक है। अभय होने से किसी से डरेगा नहीं और निरभिमान होने से किसी को डराएगा या सताएगा नहीं।

of their husbands' मेरी जिज्ञासा पर उसने कहा, 'In the west, the hands of wives are in the pockets of their husbands.' पश्चिम में स्त्रियां धन की शिकारी बनी हैं और पुरुष रूप के शिकारी। पति के स्नानालय या इधर-उधर जाते ही पत्नी पति की जेब में हाथ फेर लेती है। अधिक धनवान पुरुष मिलने पर पति को तलाक देकर नया पति चुन लेती है। इसी प्रकार पुरुष अधिक रूपवती स्त्री मिलने पर पिछली पत्नी को तलाक दे देते हैं।

(घ) आसुरी सम्पद् में भगवान् ने छह दुर्गुण गिनाये हैं। उनमें मुख्य रूप से अहंकार और अज्ञान ही हैं। इन्हीं के रूपान्तर छः दुर्गुणों के रूप में गिनाये जा सकते हैं। वास्तव में अज्ञान ही मोह है और मोह का एक माध्यम अहंकार है। इसलिए कहा जा सकता है कि सब दुर्गुणों का मूल कारण अज्ञान (मोह) ही है।

दम्भ, दर्प तथा अभिमान में थोड़ा-थोड़ा भेद है।

(i) **दम्भ**—झूठा आडम्बर या पाखण्ड है। लोगों को ठगने के लिए अनधिकृत रूप से कुछ बनने की चेष्टा दम्भ है। जैसे बहुरुपिया मनोविनोद के लिए कोई स्वांग रचता है, उसी प्रकार यदि लोगों को ठगने या धमकाने के लिए दूषित भावना से स्वांग रचा जाए तो वह दम्भ है। रावण का सीताहरण हेतु साधुवेश में आना पाखण्ड है।

(ii) **दर्प**—इसका अर्थ है फूला हुआ अहं। कोई अपने आपको बहुत सुन्दर मानकर आवश्यकता से अधिक गर्व करने लगता है। किसी को धन का मद, किसी को पद का मद, किसी को विद्वत्ता का मद, किसी को बल का मद हो जाता है। और वह उसी मद में खूब फूल जाता है। इसे ही दर्प कहते हैं। रावण को अपनी शक्ति का दर्प था। दुर्योधन-दु:शासन एवं कर्ण भी दर्प से दग्ध थे। दर्पण को इसलिए दर्पण कहा जाता है क्योंकि वह देखने वाले के सौन्दर्यरूपी दर्प को बढ़ाता है। सेना को देखकर सेनापति का दर्प बढ़ जाता है।

(iii) **अभिमान**—वैसे तो दम्भ, दर्प और अभिमान तीनों ही अहंकार के रूप हैं। किन्तु दम्भ, दुष्टभावना से रचा हुआ बनावटी अहंभाव है। दर्प प्रशंसा या आत्मश्लाघा से फूला हुआ अहंकार है और मूल अविद्या के कारण अपने वास्तविक मैं को भूलकर शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को ही मैं मान लेना अभिमान है।

अभिमान = शरीर आदि को मैं मानना = सामान्य लोगों का अज्ञान।

दर्प= पद के मद में फूला हुआ अहं = कुछ धन या पद प्राप्त होने पर उसका अहंकार।

दम्भ—दुष्ट भावना से बनाया हुआ कृत्रिम रूप = चालबाज लोगों का ढकोसला, ठगों का मार्ग।

क्रोध और पारुष्य (कठोर वाणी) दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे को उत्तेजना देने वाले हैं। क्रोध काम में बाधा से होता है और काम अज्ञानमूलक ही होता है।

दम्भी-दर्पी, अभिमानी, क्रोध में कठोर वाणी बोलते हैं। क्रोध का कारण क्या है?—किसी कामना में बाधा आना। कामना पैदा क्यों हुई?—क्योंकि अविद्या या अज्ञान था।

(ङ) हम प्रतिदिन प्रातः स्मरण में कहते हैं—'कराग्रे वसति लक्ष्मी।'

अर्थात् पुरुषार्थ से ही लक्ष्मी मिलती है। प्रतिदिन प्रातःकाल हाथ में लक्ष्मी के दर्शन करने का भाव यह है कि मैं इन हाथों से पुरुषार्थ करके पवित्र लक्ष्मी का उपार्जन करूंगा। इन हाथों से मैं न किसी की जेब काटूंगा, न गला काटूंगा, न कम तोलूंगा, न झूठे दस्तखत करूंगा, न लेखे में गोलमाल करूंगा, न छलकपट से या चालाकी से झूठे मुकदमे या झूठे अधिकारपत्र द्वारा किसी की सम्पत्ति को हथियाऊंगा। चोरबाजारी या पाप के धन को स्पर्श नहीं करूंगा। देन और लेन में ईश्वर को साक्षी मानूंगा। तब मेरे हाथ में सच्ची लक्ष्मी के दर्शन होंगे।

(ङ) कुलक्ष्मी को चंचला कहा गया है। वह टिकती नहीं। कबीर के शब्दों में, 'माया महाठगिनि हम जानी'। वे पुनः लिखते हैं—

—'रमया के दुलहिन लूट्यो बजार।'

—अर्थात् नारायण की सहचरी लक्ष्मी चंचला बनकर संसाररूपी बाजार को लूट रही है। शास्त्र में कहा है कि लक्ष्मी वहां से भाग जाती है जहां कलह हो, जहां शील का अभाव हो, जहां व्यसन हो, जहां जुआ हो, जहां झूठ या छलकपट हो, जहां अपवित्रता हो। जहां असंयम हो तथा जहां धन अनर्थ या व्यर्थ हो।

लक्ष्मी एवं सरस्वती का विवाद

लक्ष्मी एवं सरस्वती का विवाद—प्रायः यह मान्यता रूढ हो गई है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों एक साथ नहीं रह पाती। बड़े-बड़े सेठ, साहूकार प्रायः विद्या, कला आदि के वरदानों से वंचित रहते हैं। दूसरी ओर बड़े-बड़े विद्वान् कलाकार, मनीषी आदि प्रायः निर्धनता में पलते रहते हैं। तुलसीदास, कबीर,

रविदास, रामतीर्थ, प्रेमचंद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, तिलक, मालवीय आदि की अतिशय निर्धनता तथा दूसरी ओर निजाम (हैदराबाद), जयपुर नरेश, बिड़ला, डालमिया, बागड़ आदि की अथाह धन-सम्पत्ति मानव को विस्मय में डालने वाली है। सरस्वती पुत्रों से लक्ष्मी क्यों रुष्ट रहती है। यह एक पहेली बनी हुई है। संस्कृत के एक कवि भारवि अपनी काव्यरचना में मगन रहते और घर में भोजन पकाने हेतु एक अन्न का दाना नहीं होता था। भोजन मांगने पर उनकी पत्नी ने कहा—क्या मैं आपकी कविता को ही चूल्हे पर पकाकर खिलाऊं? बेचारा कवि कविता बेचने गया किन्तु कोई ग्राहक न मिला। अन्त में एक व्यापारी के पास अपनी कविता को गिरवी रखकर दस मुहर उधार मांगकर लाया। व्यापारी ने कविता का पुलिंदा एक ओर ताक पर रख दिया। अरसे तक पड़ा रहने से उसका एक भाग नीचे लटक आया था। व्यापारी व्यापार हेतु 16-17 वर्ष के लिए विदेश चला गया। जब लौटकर आया तो अपनी पत्नी के साथ उसकी शय्या पर एक नौजवान को लेटा देखकर उसे बहुत क्रोध आया। उसने तलवार खींचकर दोनों को काटने का विचार किया तभी दीवार से लटकी हुई कविता की पंक्ति पर उसकी दृष्टि पड़ी। जिस का भाव था उतावला सो बावला। उसने तलवार को वापस म्यान में रखा और सोचा कि पहले पत्नी से उत्तर मांग लूं कि वह ऐसा आचरण क्यों कर रही है। अचानक तलवार के म्यान में डालने की आहट को सुनकर पत्नी की नींद खुल गई। उसने पति के चरणों में प्रणाम करते हुए नौजवान को जगाया और कहा—बेटा! उठ, तेरे पिताजी आए हैं। उसने पति को समझाया कि यह वही उनका प्यारा बेटा है जिसको एक वर्ष की अवस्था में छोड़कर विदेश गए थे। कल रात्रि को तेज बुखार होने के कारण उसकी सेवा हेतु माता ने उसे अपने निकट सुला लिया था। पुत्र ने जागकर पिता को प्रणाम किया तब पिता ने उसे हृदय से लगा लिया। व्यापारी को अपने पहले के संकल्प पर बहुत पछतावा हुआ। यदि वह दोनों को काट देता तो आज उसका सारा परिवार सर्वनाश को प्राप्त हो जाता। बाद में कवि भारवि जब 10 मुद्रा लेकर व्यापारी के पास उधार लौटाने के लिए गया तो व्यापारी ने कहा—10 मुद्रायें लौटाने के बजाय मुझसे 10 हजार मुद्राएं और ले जाओ। तुम्हारी कविता ने पूरे परिवार की प्राणरक्षा की है।

यह सच है कि सरस्वती के उपासक को प्रारम्भ में अनेक-अनेक आर्थिक कष्ट झेलने पड़ते हैं। किन्तु अन्त में लक्ष्मी भी उस पर प्रसन्न होती है तथा कल का निर्धन कंगाल कवि एक दिन राजकवि के सिंहासन पर बैठकर राजा का प्रेमपात्र बन जाता है।

सरस्वती के उपासक एक कवि ने सरस्वती को लक्ष्मी से कहीं श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—

हे लक्ष्मी! तू थोड़ी देर के लिए मन को प्रलुब्ध कर नचाने वाली है और मरने पर साथ भी नहीं देती, यहीं की यहीं धरी रह जाती है। तू तो ठगने वाली वारांगणा के समान है जो प्रलुब्धकर सब कुछ छीन लेती है। सरस्वती ही मेरी सच्ची माता है जो विद्या का प्रकाश देती है। इहलोक में भी साथ देती है तथा परलोक में भी यह विद्यारूपी देवी साथ चलती है। धन-सम्पत्ति को तो कालरूपी डाकू यहीं छीन लेता है किन्तु विद्या को काल छीन नहीं सकता। यह जन्म-जन्मान्तर तक साथ देने वाली सच्ची माता, भगवती सरस्वती है।

इस तुलना में वास्तव में सरस्वती और कुलक्ष्मी की तुलना है। मरने पर धन-सम्पत्ति (मुद्रा, पैसा, धरती, खेती आदि) साथ नहीं जाती किन्तु सच्ची लक्ष्मी दैवी सम्पदा अवश्य साथ जाती है। अतः सरस्वती और सुलक्ष्मी में कोई विरोध नहीं है। सच्ची लक्ष्मी जैसे नारायण से मिलाने वाली है उसी प्रकार सच्ची सरस्वती, गायत्री, सावित्री, दुर्गा, काली आदि भी परमेश्वर से मिलाने वाली ही हैं। वैसे ब्रह्म 'एकमेवद्वितीयम्' ही है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी एक ही ब्रह्मसृष्टि के तीन रूप हैं। उसी प्रकार उमा, रमा, ब्रह्माणी यह तीनों भी एक ही प्रकृति माता के स्वरूप हैं जिनमें तत्त्वतः कोई अन्तर या विरोध नहीं है।

मुद्रा लक्ष्मी केवल बाह्य भौतिक सम्पदा है। किन्तु चारित्रिक लक्ष्मी, पावित्री लक्ष्मी, दैवी सम्पदा, रामरत्न धन, पुण्य लक्ष्मी, ज्ञान लक्ष्मी, मोक्ष साम्राज्य लक्ष्मी सब भीतर की दिव्य सम्पदा होने के कारण सरस्वती का वर ही वरदान बन जाता है। अतः लक्ष्मी और सरस्वती में तत्त्वतः अन्तर बचता ही नहीं।

काम

भारतीय संस्कृति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ काम है। काम का आदर्श है जीवन में सांसारिक सुख कामनाओं की प्राप्ति एवं समुत्कर्ष। प्रत्येक मानव के मन में कुछ कामनाएं होती हैं। कुछ शारीरिक कामनाएं, कुछ इन्द्रियों की भूख, कुछ मानसिक कामनाएं होती हैं। कुछ लोभ तथा ईर्ष्या या स्पर्धा के कारण बड़ी ही कृत्रिम कामनाएं जिनका शरीर निर्वाह के लिए विशेष महत्त्व नहीं होता।

काम को भगवान् ने गीता में ज्ञान का सबसे बड़ा शत्रु बताया है। किन्तु भारतीय संस्कृति में काम का आदर्श मात्र कामनापूर्ति का उद्देश्य नहीं है। यह तो कामना को ऐसे समुचित ढंग से पूर्ति करने के विधि है जिससे काम भी तृप्त हो जाए और हम कामरूपी महान् राक्षस के चंगुल से भी बच जाएं। गुरु शिष्य से पूछता है कि कामना की तृप्ति क्यों चाहते हो। शिष्य कहता है कामनातृप्ति से सुख मिलता है। यदि भूख लगी हो, खाना मिल जाए तो तृप्ति का सुख मिलता है। प्यास में पानी मिलने पर, शीत में कम्बल मिलने पर, वर्षा में सिर ढकने का स्थान मिलने पर सुख

होता है। गुरु पूछता है क्या यह सुख तुम्हें थोड़े समय के लिए चाहिए या लम्बे समय के लिए चाहिए। शिष्य उत्तर देता है कि लम्बे समय के लिए चाहिए। गुरु पूछता है सुख अधिक चाहिए या कम चाहिए। शिष्य अधिक सुख की मांग करता है। तब गुरु पूछता है क्या थोड़े समय के लिए अधिक सुख चाहिए या अधिक लम्बे समय के लिए सीमित सुख चाहिए। शिष्य के समझ न आने पर गुरु समझाता है क्या एक दिन के लिए हलवा-पूरी, पकवान लेना पसन्द करेंगे और शेष महीना भर भूखे या महीना भर सादा भोजन। शिष्य कहता है, गुरुजी! एक दिन के लिए हलवा-पूरी, पकवान खाने के पश्चात् जब शेष दिन भूखा मरना पड़ेगा तो हलवा-पूरी, पकवान का सब सुख भयंकर दुःख में बदल जाएगा और बिना भोजन के मौत के मुंह में जाना पड़ेगा। इसलिए क्षणिक तीव्र सुख के लिए जीवन भर के दुःख का बुलावा देना मूर्खता है। गुरु पुनः पूछता है—क्या तुम यह पसन्द करोगे कि कुछ दिन का भोग जीवनभर का रोग बन जाए। तो शिष्य कहता है—नहीं, ये तो आत्महत्या के तुल्य होगा। हमें तो जीवन के अधिक से अधिक लम्बे काल के लिए कुल मिलाकर अधिक सुख चाहिए। तब गुरु समझाता है कि जीवन में अधिक लम्बे आयुष्य के लिए अधिक अच्छे स्वास्थ्य के लिए अधिक से अधिक लम्बे काल के लिए अधिक से अधिक मात्रा में सुख प्राप्त करने के लिए कामनापूर्ति में संयम का पालन करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य विवाह को कामनापूर्ति का लाइसेंस मानकर संयमरहित भोगविलास में डूब जाए तो कुछ काल पश्चात् भोग रोग में बदल जाएगा और व्यक्ति भविष्य के लिए सुखोपभोग के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाएगा।

रावलपिंडी में एक सरदार साहब थे जो बहुत बड़ी सम्पत्ति के स्वामी थे। उनका रहन-सहन राजाओं के समान था। उनके घर में नौकर भी नित्य हलवा-पूरी, पकवान खाते थे, कुत्तों तक को भी पकवान मिलते थे। किन्तु परिवार के मुखिया सरदार साहब को डॉक्टरों ने कह रखा था कि यदि वे जौ के पानी के अतिरिक्त कुछ भी सेवन करेंगे तो उनके बचने की आशा नहीं। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में, जवानी के असंयमित भोग के कारण मनुष्य रोगों का शिकार होकर भावी भोगों के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाता है—

धर्मविहीनं कामं भोगम्।
संयमहीनं कामं रोगम्।।

यदि मनुष्य में सुखोपभोग की कोई कामना है जैसे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने, परिवार बनाने, संतान प्राप्त करने, सुख साधनों से जीवन को आरामदेह बनाने, वाहन, साज-सज्जा, वेश-भूषा किसी प्रकार की भी कोई सुख कामना हो तो उसे पूरा करने में कोई आपत्ति नहीं है यदि वह धर्म पर चलते हुए और संयम का पालन करते हुए हो। भगवान ने गीता में स्वयं कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। 7/11, गीता

'हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जो धर्म के विरुद्ध नहीं है वह काम मैं ही हूं।' वे पुनः कहते हैं—

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः 10/28, गीता

अर्थात् 'प्रजनन करने वालों में मैं कामदेव हूं।' इस दृष्टि से धर्मपूर्वक कामनापूर्ति स्वयं एक ईश्वरीय कर्म ही नहीं स्वयं ईश्वर का रूप ही बन जाता है। काम जैसे मानव के सबसे बड़े शत्रु को धर्म की मर्यादा में बांधकर गृहस्थ धर्म बना देना, काम को धर्म के आशीर्वाद से राम बना देना भारतीय संस्कृति का अद्‌भुत चमत्कार है। एक पवित्र माता या सती साध्वी और घृणित वेश्या दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। काम के सेवन बिना कोई माता माता नहीं बन सकती। किन्तु उसके धर्म और संयम ने उसे पूज्यतम सिंहासन पर बैठा दिया। इसकी तुलना में धर्मविहीन, अमर्यादित एवं संयमहीन काम ने वेश्या को सबसे पतित स्तर तक गिरा दिया। माता या गृह-पत्नी के जीवन में काम गृहस्थ धर्म के पालन के लिए होता है। किन्तु वेश्या के जीवन में काम अमर्यादित भोग विलास के लिए होता है। भारतीय संस्कृति का कथन है कि आपकी जो भी कामना हो उसे धर्म पर चलते हुए पूरा करो और कामनापूर्ति के सुख को संयम के साथ भोगो।

घर चाहिए, तो धर्म पर चलते हुए घर प्राप्त करो। किसी का घर न लूटो, न उजाड़ो। यदि पत्नी चाहिए तो धर्म पर चलते हुए मर्यादानुसार पत्नी, परिवार प्राप्त करो। किसी अन्य की पत्नी को न चुराओ, न भगाओ, न भोगो। न ही मन में ऐसा पाप संकल्प उठने दो। कोठी बंगला कार टी.वी. रेडियो जो भी चाहिए, धर्म पर चलते हुए प्राप्त करो।

काम जैसे घटिया क्षुद्र सिक्के को धर्म अपनी मुहर लगाकर सोना बना देता है। कामभोग एक पाप है। किन्तु गृहस्थ-जीवन एक धर्म है। धर्म भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है। यह ऐसा स्वर्णिम सूत्र है जो चारों पुरुषार्थों को अपने में पिरोये हुए मानव को मोक्ष की ओर ले जाता है। यह ऐसी पारसमणि है जो घटिया भाव के लोहे को छूते ही खरा सोना बना देती है।

काम के विषय में निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं—

(1) कामना का मूल उद्‌गम

(2) कामना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

(3) कामना का परिवार विस्तार

(4) कामना का मनोविश्लेषण

(5) नरक की सात सीढ़ियां

(6) कामना से बंधन

(7) कामवासना

(8) कामदेव

(9) आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का कामप्रवृत्ति के विषय में दृष्टिकोण—फ्रॉयड आदि

(10) कामुकता एवं नग्नताप्रधान पाश्चात्य सभ्यता

(11) सौन्दर्य शृंगार और काम

(12) भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान—नारी भोग्या नहीं पूज्या

(13) कामप्रवृत्ति का धर्म द्वारा परिष्कार

14) ब्रह्मचर्य एवं संयम द्वारा काम का परिष्कार

(15) योग एवं वेदान्त द्वारा कामजय

(16) कामजय से मोहमुक्ति और मोहमुक्ति से जीवन्मुक्ति (स्थितप्रज्ञ, ब्राह्मीस्थिति)

काम का मूल उद्गम

कामना का अर्थ है—तृष्णा, इच्छा, आकांक्षा, भूख, मांग, Want, Hunger, desire, craving.

प्रश्न है कि जीव में किसी प्रकार की कामना पैदा होती ही क्यों है? अंग्रेजी में Want शब्द के दो अर्थ हैं एक कामना दूसरा अभाव। जब हम कहते हैं कि A thirsty man wants water तब Want कामना के अर्थ में प्रयोग हो रहा है। जब हम कहते हैं Five thirsty men died in desert for want of water तब अर्थ यह है कि मरुस्थल में पांच व्यक्ति पानी के अभाव में मर गए, यहां Want का अर्थ अभाव है। वास्तव में प्रत्येक कामना अभाव से ही पैदा होती है। यह अभाव वास्तविक हो या कल्पित, यही कामना को पैदा करता है।

निर्धन व्यक्ति पैसे के वास्तविक अभाव से पैसे की कामना करता है और धनी व्यक्ति कल्पित अभाव से, अन्य धनियों की अपेक्षा अपने पास कम धन है इस भावना से लोभ से प्रेरित होकर धन की कामना करता है।

अभाव अपने सच्चे स्वभाव को भुला देने से ही पैदा होता है। मैं तत्त्वत: कौन हूं, किस का अंश हूं, मेरे स्वरूप में कौन-सी निधि गुम्फित है। वास्तव में राजा है या भिखारी, इसका विस्मरण हो जाने के कारण ही मनुष्य अपने भीतर अभाव अनुभव करने लगता है। मानव स्वयं वह नित्य चैतन्य तत्त्व है जो अपने

आप में पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम, नित्यतृप्त और नित्यानन्दस्वरूप है जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं और जिसे कोई कामना नहीं। इसी स्वरूप को भूलकर अपने आपको शरीर, मन, इन्द्रिय आदि मान लेने पर अनेक अभावों की प्रतीति होने लगती है। तब शरीर की भूख, इन्द्रिय की भूख, मन की भूख को पूरा करने के लिए मनुष्य अनेक कामनाएं करता है। मानो चक्रवर्ती सम्राट् कामनारूपी भीख का कटोरा लेकर नश्वरता के बाजार में भौतिकता की भीख मांगने लगता है।

अविद्या से अभाव की प्रतीति, अभाव से कामना, कामना से कर्म, कर्म से कर्मफल और कर्मफल के परिपाक हेतु देश-काल का बंधन, काल का पाश। यही संसारचक्र है।

कामना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कामना मनुष्य को भिखारी बना देती है। यह मनुष्य को अपने अन्तर की शान्ति एवं समृद्धि से वंचित कर बहिर्मुखी बनाकर बाहर का नाच नचाने लगती है। वास्तव में शान्ति और शक्ति तो जीव के भीतर है। किन्तु वह बहिर्मुखी होकर बाहर की वस्तुओं में सुख-शान्ति मानकर उन्हीं के पीछे अंधा-पागल बनकर दौड़ने लगता है। कुछ लोग समझते हैं कि कामना में बड़ी शक्ति है जो मनुष्य को तेज दौड़ने, जोखिम के काम करने तथा वस्तुओं की प्राप्ति हेतु परिश्रम करने में समर्थ बनाती है। वास्तव में यह शक्ति कामना में नहीं वरन् स्वयं हमारे भीतर है। जब हम कामना करते हैं तब हमारे भीतर की शक्ति कामना के माध्यम से व्यय होने लगती है। कामना न शक्ति पैदा करती है न शक्ति को बढ़ाती है। वरन् शक्ति को घटाती ही है। जिस प्रकार ऊंट कंटीली झाड़ियों को चबाता है और उसका अपना मुख जख्मी होकर रक्त निकलने लगता है और भ्रमवश वह उसे ही कांटे का रस मानकर चबाता रहता है। उसी प्रकार कामना के वशीभूत होकर जीव संसार की भौतिक वस्तु की ओर आकर्षित होता है। वे अपने भीतर का कुछ रस उस वस्तु पर आरोपित कर उसे अपने लिए रसीला मान लेते हैं और फिर उसी के रस के बंदी हो जाते हैं। यदि वस्तु में रस होता तो सदा सभी को सभी परिस्थिति में समान रूप से रस मिलता। किन्तु ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही वस्तु में समान रूप से रस नहीं प्राप्त होता। चित्त की प्रसन्नता में क्षुधा होने पर रसगुल्ले में रुचि होने पर जो स्वाद मिलता है वह शोक की अवस्था में, रोग की अवस्था में, व्रत-उपवास की अवस्था में, यात्रा की जल्दबाजी की अवस्था में, निद्रा की अवस्था में, बेहोशी की अवस्था में, अरुचि की, तिरस्कार की अवस्था में वही रस क्यों नहीं मिलता? रस वस्तुओं में नहीं है। कामना में भी नहीं है। रस तो व्यक्ति के अपने भीतर है। अपने ही रस के कुछ छींटे बाहर की वस्तुओं पर

डालकर उन्हें रसीला मान लेते हैं। कोई कुरूप व्यक्ति पर अपना रस उड़ेलकर उसे ही सबसे प्यारा मानने लगता है। कोई कुत्ते से, पक्षी से प्रेम करने लगता है। कोई मदिरा को, अफीम को या अन्य विषैली मादक वस्तुओं को अमृत से ऊंचा मान बैठता है। कोई मुर्गी के गर्भ को (रज-वीर्य मिश्रित अण्डे को), कोई पशु के रक्त को, मांस को स्वादिष्ट मान लेता है। वास्तव में उन वस्तुओं में स्वाद होता तो सबको समान रूप से मिलता। जिस मदिरा के लिए शराबी बेचैन होकर कपड़े फड़वाकर पैसे लुटवाकर पुलिस के डण्डे खाकर घर को उजाड़कर भी रस मानता रहता है, उस मदिरा का पूरा भण्डार बिना पैसे का मिलने पर भी कोई चरित्रवान व्यक्ति उसे ठोकर मारकर नाली में फेंक देता है। Socraties dissatisfied is better than a pig satisfied. अर्थात् एक पेट भरे शूकर की अपेक्षा एक भूखा सुकरात श्रेष्ठ है। काम अभाव से पैदा होता है तथा पश्चात्ताप में समाप्त होता है। काम मनुष्य को व्यर्थ में जीवनभर नचाकर, उसे खूब दौड़ाकर, उसे थकाकर, उसकी समस्त इन्द्रियों का तेज हरणकर, उसकी मन की शक्ति को लूटकर और उसकी बुद्धि को व्यामोहितकर उसके आत्मस्वरूप को छिपाकर अन्त में उसे अपनी व्यर्थता प्रकट कर अपनी असारता-नि:सारता दिखाकर पश्चात्ताप से भर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। 1/26, कठ. उ.

कल तक भोग कहां ठहरेंगे जीर्ण करेंगे इन्द्रिय प्राण।
जीवन अल्प छीन लोगे तुम छीनो नृत्य गीत वाहन।

भर्तृहरि ने लिखा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न याता वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

हमने न भोगे भोग, भोगों न हमें भुक्ता दिया
हमने न तापे ताप तापों ने हमें तपा दिया।
काल कुछ गुजरा नहीं उलटे हमें गुजरा दिया
जीर्ण तृष्णायें हुई न हो गये हम जीर्ण।

जिस प्रकार मनुष्य आम के फल को बार-बार उसका रस चूसकर उसका रस शोषणकर अन्त में रसहीन गुठली और छिलके को कूड़े के ढेर में फेंक देता है, उसी प्रकार भोग जीवन भर मनुष्य के जीवनरस का शोषणकर उसके वृद्ध, रोगी और

बेकार हो जाने पर उसके सूखे कंकाल को मृत्यु के ढेर पर फेंक देते हैं। मनुष्य भूल से यह समझता रहता है कि मैं भोगों को भोग रहा हूं। किन्तु वास्तव में भोग ही उसको भोगते-भोगते बेकार बनाकर बाहर फेंक देते हैं।

कामना का परिवार विस्तार

काम ही सब मानसिक विकारों का आदिकारण है। काम में बाधा पड़ने से क्रोध पैदा हो जाता है जो काम से भी अधिक भयंकर सिद्ध होता है। क्रोध के लक्षण निम्नलिखित हैं—मुट्ठियां कसना, दांत पीसना, आंखें लाल होना, शरीर में ऐंठन आ जाना, वाणी का ऊंचा हो जाना, सांस का गरम हो जाना, नाड़ी का तेज चलना, हृदयगति का बढ़ जाना, नथुने फूल जाना, ओंठ फड़फड़ाना, मुख से अपशब्द निकलना अथवा रुष्ट होकर ऊपर से वाणी द्वारा कुछ न बोलना किन्तु मन ही मन दुर्भावना की वाणी बोलना, क्रोध दिलाने वाले कारण पर खीजना अथवा क्रोध के कारण व्यक्ति को दण्ड देने की चेष्टा करना। क्रोध मन की एक ऐसी विकृति है जो काम से भी अधिक भयानक हो जाती है। क्रोधरूपी मानसिक आवेग की मूलप्रवृत्ति है वैर या कलह (Pugnacity)। क्रोध में पेट में स्थित एड्रीनल ग्लैण्ड उत्तेजित हो उठते हैं और उनसे निःसृत होने वाला विष (Adrenal) थोड़ी मात्रा में भी रक्त में मिल जाने पर पाचन क्रिया को बिगाड़ देता है तथा रक्तचाप एवं हृदय के स्पन्दन पर घातक प्रभाव बढ़ाता है। इससे मानसिक शान्ति तो नष्ट होती ही है, साथ ही यह छूत के रोग के समान देखने मात्र से ही अपना विषैला प्रभाव फैलाता जाता है। एक व्यक्ति को क्रोध आया तो उसकी देखादेखी दूसरे को, पुनः तीसरे, चौथे एवं सब सदस्यों को क्रोधरूपी राक्षस अपने चंगुल में लेकर नचाने लगता है। आजकल हृदयाघात, रक्तचाप आदि रोगों का मुख्य कारण क्रोध ही है। क्रोध में विपरीत पक्ष के गुण भी दुर्गुण दिखाई देने लगते हैं। क्रोध एक ऐसा कालकूट है जो सबको दग्ध करने लगता है। क्रोध के समय जो विष निकलते हैं उनका दुष्परिणाम कई मास तक चलता रहता है। क्रोधी व्यक्ति को हृदयरोग एवं रक्तचाप के रोग तो पकड़ ही लेते हैं, इसके साथ उसके चेहरे पर सौम्यता न होकर क्रूरता के चिह्न आ जाते हैं। जहां काम में बाधा होने पर क्रोध पैदा होता है, वहीं काम की पूर्ति हो जाने पर पुनः पूर्ति हेतु लोभ पैदा हो जाता है। लोभ कामाग्नि को ईंधन के समान और भड़का देता है। क्रोध से बुद्धि मोहित होती है और लोभ से भी ममत्व बढ़ता है। इसी को मोह कहते हैं। मोह का ही एक प्रबल माध्यम अहंकार है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—इन पांचों महाशत्रुओं का मूलकारण काम ही है। अतः काम का परिवार समस्त मनोविकारों का ही रूप ठहरता है। और इसी कारण से भगवान् ने गीता में (16/21) काम, क्रोध और लोभ तीनों को नरक का द्वार कहा है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16/21, गीता

भगवान् अन्यत्र अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में काम और क्रोध को ही पाप का प्रेरक बताते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। 3/37, गीता

एक स्थान पर भगवान् केवल काम को ही सब पापों का आदि कारण और ज्ञान का शत्रु बताते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 3/43, गीता

बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार से बलवान और श्रेष्ठ अपनी आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! अपनी शक्ति को समझकर दुर्जय कामरूप शत्रु को मार। अतः जिसने काम को जीता उसने काम के सारे परिवार को जीत लिया।

कामना का मनोविश्लेषण

मानव मन के दो बड़े स्तर हैं। एक चेतन Conscious और दूसरा अचेतन Unconscious मन। इनके बीच में एक तीसरा स्तर है अवचेतन Semiconscious मन का। श्री अरविन्द चेतन से ऊपर ऊर्ध्वचेतन और अतिचेतन (अतिमानस) स्तर को भी मानते हैं। चेतन मन में वे इच्छायें या कामनाएं रहती हैं जिनका हमें पूरा ध्यान है और उन इच्छाओं को समाज की मर्यादा के अन्तर्गत हम यदाकदा प्रकट भी करते रहते हैं। अचेतन मन में गुप्त, सुप्त, लुप्त इच्छायें, कामनायें या प्रेरणायें दबी रहती हैं जिनका मानव को स्वयं भी ज्ञान नहीं रहता अथवा कम से कम वर्तमान में ज्ञान नहीं है। अवचेतन में दोनों के बीच की स्थिति है। इसमें इच्छाओं का कुछ-कुछ भान होता है। किन्तु वह पुनः छिप जाती है। अचेतन मन की इच्छायें बीज के समान धरती के नीचे छिपी हुई है। अवचेतन मन की कामनायें अंकुर के समान धरती की परत को भेदकर निकलने की चेष्टा कर रही है। और चेतन मन की इच्छायें एक पौधे के समान प्रकट है। यदि अचेतन मन की इच्छायें पूरे पर्दे में रहने वाली, रनिवास की रानियों के समान है तो अवचेतन मन की इच्छायें बुर्के के भीतर से झांकने वाली बेगमें हैं और चेतन मन की कामनायें पर्दा, त्याग कर लज्जा मुक्त भाव से सारे बाजार में घूमने वाली पश्चिम की फैशनबाज लेडी (महिला) के समान है। मन के तीन अथवा पांच स्तर कैसे बनते हैं। यह एक शोध का विषय है। वस्तुतः मानव एक ही है। उसकी चेतना एक है। चेतना के ये

स्तर जीव के विकास, वृद्धि तथा सामाजिक मर्यादा, अनुशासन आदि के कारण बन जाते हैं। पश्चिम के मनोविश्लेषकों का कथन है कि मानव के अचेतन मन में सदा ऐसी विद्रोही, क्रान्तिकारी तथा विचित्र प्रवृत्तियां सुप्त पड़ी रहती हैं जिन्हें समाज दुष्टप्रवृत्तियां समझता है। वे प्रवृत्तियां अधिकांश कामोपभोग (Sex) से सम्बन्धित रहती हैं। समाज के अंकुश के भय से वे अचेतन मन में दबी रहती हैं। किन्तु स्वप्नावस्था अथवा समाज का अंकुश ढीला होने पर वे पुनः उभरकर चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं। जब तक वे पूर्णरूप से चेतन मन में नहीं आ पाती तब तक अवचेतन में पड़ी रहती है और चेतन में आने के लिए घात लगाए रहती है। ज्योंही वह चेतन मन को असावधान पाती है अथवा व्यक्ति को समाज से दूर एकांत में पाती है या स्वप्नावस्था में जब समाज का मर्यादा का अंकुश भूल जाता है तब चेतन मन पर आक्रमण कर बैठती है। चेतन मन ज्योंही समाज के अंकुश का ध्यान करता है वह पुनः उन प्रवृत्तियों को भुलाने या दबाने का प्रयास करता है। कुछ प्रवृत्तियां तो दब जाती हैं किन्तु कुछ अधिक प्रबल होने के कारण दबने से इनकार करती है और चेतन मन का तख्ता उलटकर स्वयं मालिक बन बैठती है। ऐसा व्यक्ति समाजद्वेषी, विद्रोही या क्रान्तिकारी कहा जाता है। अचेतन मन की प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाने से वे प्रबल प्रवृत्तियां चेतन मन की वृत्तियों के साथ संघर्ष करती हैं तथा इस मानसिक संघर्ष से मन में अनेक प्रकार के विक्षेप, विकार और मानसिक रोग पैदा हो जाते हैं। कई बार दो विपरीत प्रबल कामनाओं के द्वन्द्व में मानव का व्यक्तित्व दुविधा में बंटा-फटा सा हो जाता है। उसका एक मन उसे एक दिशा की ओर खींचता है और दूसरा विपरीत दिशा की ओर। कई बार वही व्यक्ति कभी एक वृत्ति की ओर झुकता है और कुछ क्षण बाद विपरीत वृत्ति की ओर। ऐसा व्यक्ति निश्चयात्मिका-बुद्धि नहीं रख पाता। अर्जुन भी कर्तव्य और मोह के बीच, क्षात्र धर्म के कर्तव्य और जाति रक्षा के कर्तव्य के बीच दुविधा में पड़कर धर्मसमूढचेता बन गया था। भगवान् अर्जुन को समझाते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। 2/41, गीता

हे कुरुनन्दन! इस क्षेत्र में एकाग्र, एकनिष्ठ (व्यवसायात्मिका बुद्धि) एक आत्मतत्त्व के दिव्य प्रकाश को जानने में लग जाती है। जब मन बुद्धि के अधीन होता है और बुद्धि आत्मा के प्रकाश का अनुसंधान करती है तब वह व्यवसायात्मिका बुद्धि (एक ही व्यवसाय में लगी हुई बुद्धि) एकाग्र कही जाती है। जब बुद्धि आत्मा के प्रकाश से मुंह मोड़कर मन की ओर झुक जाती है तब मन की नाना-इच्छाओं के कारण अनेक विषय-भोगों की ओर लगकर बहुशाखा वाली अव्यवसायी, दूसरे शब्दों में व्यभिचारिणी हो जाती है।

मन के भिन्न-भिन्न स्तरों को कई रोचक उपमाओं के द्वारा समझाया गया है। जैसे एक दो मंजिले मकान के ऊपर के खण्ड में कुछ सुसभ्य एवं सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोग रहते हैं और नीचे वाले खण्ड में कुछ गुण्डे, असामाजिक तत्त्व रहते हैं। दोनों खण्डों के बीच में आधी सीढ़ी पारकर एक छोटी-सी नीमछती (साधारण छोटी कोठी) बनी है। नीचे वाले असामाजिक प्राणी सदा ऊपर वालों को तंग करने की चेष्टा करते रहते हैं। किन्तु ऊपर वालों द्वारा एक चौकीदार की सीढ़ियों में नियुक्ति होने के कारण असामाजिक लोग ऊपर जाने में डरते हैं। कभी चौकीदार के सो जाने, ऊंघने या असावधान होने पर नीचे वाले असामाजिक तत्त्व ऊपर चढ़ जाते हैं और उत्पात मचाना प्रारम्भ कर देते हैं। ऊपर के कोलाहल को सुनकर चौकीदार पुनः जाग उठता है तथा गुण्डों को मारकर नीचे धकेलने की चेष्टा करता है। यदि गुण्डे दुर्बल एवं संख्याबल में कम हों तो पुनः भागकर नीचे चले जाते हैं। अन्यथा वे चौकीदार से संघर्ष कर उसे उठाकर नीचे पटक देते हैं और स्वयं ऊपर के खण्ड पर अधिकार जमा लेते हैं। कभी वे ऊपर आने के प्रयास में आधे मार्ग में चढ़कर सीढ़ी की कच्ची कोठी में घात लगाए बैठे रहते हैं और अवसर मिलने पर ऊपर हल्ला बोल देते हैं। इस उपमा में ऊपर चेतन मन है नीचे के खण्ड में अचेतन, आधे मार्ग की कोठी है अवचेतन मन। सभ्य लोग चेतन मन की इच्छायें हैं। असामाजिक लोग अचेतन मन की इच्छायें हैं। बीच की कोठी में अवचेतन मन में घात में लगी इच्छायें हैं। चौकीदार सामाजिक मर्यादा का अंकुश है, उसका सो जाना स्वप्नावस्था या समाज के अंकुश का ढीला हो जाना है। गुण्डों का ऊपर भागना अचेतन मन की इच्छाओं का स्वप्नकाल अथवा सामाजिक अंकुश की ढिलाई के काल में पुनः-पुनः चेतन मन में आ जाना है। चौकीदार को उठाकर नीचे फेंक देना सामाजिक अंकुश के प्रति खुला विद्रोह है।

एक दूसरी उपमा में एक किसान है जो खेत की रखवाली बड़ी सजगता से कर रहा है। चारों ओर भेड़ें खेत को चरने के लिए ताक में लगी हैं। जब किसान ऊंघने लगता है तो चारों ओर की भेड़ें खेत में घुसकर खेत को चरना प्रारम्भ कर देती है। नींद खुलने पर वह भेड़ों को डण्डा मारकर भगाता है। कुछ भेड़ें भाग जाती है और कुछ इधर-उधर दूसरे मार्गों से पुनः घुसकर खेत चरने लगती है। इस उपमा में खेत चेतन मन है, किसान सामाजिक अंकुश है, भेड़ें अचेतन मन की दबी हुई इच्छायें हैं जो चेतन मनरूपी खेत को चरने के लिए घात लगाए बैठी रहती है। चेतन मन होश आने पर पुनः उन प्रवृत्तियों को नीचे धकेलना चाहता है किन्तु उन प्रवृत्तियों के अधिक प्रबल होने पर उनके सामने पराजित हो जाता है।

सबसे विचित्र बात यह है कि व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि उसके अचेतन मन में कौन-सी इच्छायें सुप्त पड़ी हैं। इसलिए जब कोई मनोवैज्ञानिक कहता है

कि उसके मन में अमुक प्रवृत्तियां अमुक इच्छा सोयी पड़ी है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता। पाखण्डी पाखण्ड के कारण स्वीकार नहीं करता, दम्भी दम्भ के कारण स्वीकार नहीं करता। किन्तु दम्भ, पाखण्ड न होने पर भी व्यक्ति अपने अचेतन मन की इच्छाओं को न जानने के कारण उन्हें अपना मानता ही नहीं। वह ईमानदारी से सौगंध खाकर भी कहता है कि मेरे मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जबकि उसके अचेतन मन में वह इच्छा सुप्त पड़ी हुई ऊपर उभरने के लिए ताक में लगी रहती है। मानव के अचेतन मन की गुप्त इच्छाओं को अन्तर्यामी परमेश्वर ही जान सकता है। कुछ मात्रा में उन्हें कोई सिद्धयोगी या मनोविश्लेषक भी जान सकता है। अचेतन मन का भण्डार इतना गुप्त है कि उसका नाम लेकर कोई भी चालाक व्यक्ति किसी भोले-भाले व्यक्ति को यह कहकर बहका सकता है कि उसके अचेतन मन में ऐसी इच्छा या कामना दबी हुई है। व्यक्ति के इनकार करने पर वह चालाक आदमी कह देता है तुम अपने अचेतन मन की इच्छाओं को नहीं जानते किन्तु मैं जानता हूं। तुम्हारे अचेतन में निश्चय ही ऐसी-ऐसी कामना है। इस प्रकार कामना का मनोविश्लेषण कुछ दूर तक सहायक सिद्ध होता है, किन्तु चालाक व्यक्ति इसका मनमाना दुरुपयोग कर भोले-भाले लोगों को ठगते भी रहते हैं। अतः कामना के मनोविश्लेषण में विश्लेषण का पात्र बहुत भोला-भाला, संकल्प का दुर्बल और सहज विश्वासी नहीं होना चाहिए और विश्लेषणकर्ता को स्वार्थी, छली या अंधविश्वास का अनुचित लाभ उठाने वाला नहीं होना चाहिए।

गीता में अर्जुन भोला-भोला, सहज विश्वासी, दुर्बल संकल्प वाला व्यक्ति नहीं था। वह दृढ़निश्चयी था, सुपठित था, विवेकी था तथा प्रत्येक बात को जांच-परख कर मानता था। उसने भगवान् श्रीकृष्ण से बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे हैं, यथा– आप हमें अकारण युद्ध की विभीषिका में क्यों धकेल रहे हैं, न जाने हम जीतेंगे या वो जीतेंगे। यदि आत्मा अमर ही है तो युद्ध का नाटक रचने की आवश्यकता क्या है? यदि स्वधर्मपालन के लिए युद्ध करना पड़े तो हमें लाभ क्या होगा? यदि बिना लाभ के विचार के कर्म करना हो तो कर्म की युक्ति क्या है? यदि निष्काम कर्म करना हो तो स्थितप्रज्ञ कैसे बना जा सकता है? यदि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मुझे युद्ध जैसे घोर कर्म में क्यों धकेल रहे हो? आप अब पैदा हुए हो। सूर्य पहले से है, तो आपने सूर्य को सबसे पहले उपदेश कैसे दिया? आप अवतार कैसे लेते हैं, जब आपको कुछ प्राप्त करना ही नहीं तो आप कर्म क्यों करते हैं? सांख्य और योग में क्या भेद है? चंचल मन को कैसे स्थित किया जाए? ध्यानयोग का रहस्य क्या है? आप सर्वव्यापक कैसे हैं? आपकी विभूतियां क्या हैं? आप रहस्यमय ढंग से कैसे सबके अन्दर समाये हुए हैं। जो सारी विभूतियां बाहर प्रतीत होती हैं वे एकत्र रूप में आप विराट् पुरुष में किस प्रकार समवेत हैं? यदि भक्ति

से ही आपके विश्वरूप के दर्शन होते हैं तो भक्ति का रहस्य क्या है? अव्यक्त के उपासक श्रेष्ठ है या व्यक्त के उपासक। शरीर और आत्मा में क्या भेद और क्या सम्बन्ध है। प्रकृति के तीन गुण किस प्रकार कार्य करते हैं। इस संसाररूपी वृक्ष का स्वरूप क्या है और मूल क्या है? दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के लक्षण क्या हैं? गुणों के अनुरूप श्रद्धा में क्या भेद है? संन्यास और त्याग में क्या भेद है? क्या संन्यासी को यज्ञ, दान, तप का त्याग कर देना चाहिए या नहीं? चारों वर्णों के कर्तव्य क्या हैं? सात्त्विक ज्ञानप्राप्त व्यक्ति कर्म कैसे करे? आदि ऐसा प्रतीत होता है जैसे अर्जुन एक प्रखर तार्किक के समान श्रीकृष्ण से निरन्तर शास्त्रार्थ करता जा रहा है। वह कोई साधारण भोला-भाला सहजविश्वासी व्यक्ति नहीं है जिसने भगवान् के सामने तुरन्त आत्मसमर्पण कर दिया हो। 18 अध्यायों की दौड़ दौड़ाने के पश्चात् वह पूर्णतः संतुष्ट हो जाने पर भगवान् के सामने समर्पण करता है तभी भगवान् उसको आदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

भगवान् ही निःस्वार्थ विश्वकल्याणव्रती अन्तर्यामी मनोविश्लेषक हैं। वे अर्जुन के मन के उस छिपे हुए भय को भी जान लेते हैं (कि मैं इच्छामृत्यु-प्राप्त भीष्म और युद्ध में अपराजेय गुरु द्रोणाचार्य को कैसे मारूंगा?) जिसे अर्जुन लोक-प्रतिष्ठाहनन के भय से, चेतन मन से स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इसी प्रकार स्वजनों का मोह जो अचेतन मन में दबा हुआ था और कौरवों को शत्रु मानकर वह चेतन मन में प्रकट नहीं होता था, उसे भी अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जानते थे। जैसे एक योग्य शल्य चिकित्सक एक्सरे द्वारा जान लेता है कि रोगी के हृदय तथा मस्तिष्क में क्या-क्या विकार है जिसे रोगी स्वयं जानता ही नहीं और शल्य चिकित्सक रोगी के कल्याण के लिए उसकी शल्य चिकित्सा करके हृदय और मस्तिष्क के विकारों को निकाल देता है। उसी प्रकार अर्जुन के अचेतन में छिपे हुए भय और हृदय में स्वजन मोह (जिसके कारण शोक होता है) को भगवान् एक मनोवैज्ञानिक शल्य चिकित्सा से बाहर निकालकर अर्जुन को भय और शोक से मुक्त कर देते हैं। अचेतन मन की कामनायें बीज के समान मनोभूमि में दबी हुई कभी न कभी चेतन मन के धरातल पर प्रकट हो जाती है तब वह व्यक्ति स्वयं भी घबरा उठता है कि मेरे मन में ऐसी अशोभन कामनायें क्यों जागी तथा समाज भी विस्मय करता है कि ऐसा चरित्रवान प्रतिष्ठित व्यक्ति अचानक लोभ या स्वार्थ में इतना कैसे गिर गया। अतः किसी तत्त्वदर्शी निःस्वार्थ गुरु के सम्मुख हृदय खोल देने से अचेतन मन की कामनायें भी ऊपर आ जाती हैं तथा गुरु हमारे मन में झांककर इन कामनाओं के अंकुरों को मनोभूमि से निकाल देने में हमारी सहायता करता है।

कई बार जिस वस्तु की हम कामना करते हैं उस वस्तु के छिन जाने या दृष्टिपथ से हट जाने पर उसकी कामना ढीली पड़ जाती है या विस्मृत हो जाती है। किन्तु अचेतन मन में वह कामना अवसर की घात लगाए पड़ी रहती है और अनुकूल अवसर आने पर पुनः प्रखररूप में प्रकट हो जाती है। राख के नीचे दबी हुई चिनगारी के समान वह अनुकूल वायु के झोंके से पुनः भड़ककर पूरे भवन को आग लगा सकती है। गीता में भगवान् ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59, गीता

इन्द्रियों को विषयरूपी भोग न मिलने से विषय छूट जाते हैं और इन्द्रियां निराश होकर सूख जाती हैं किन्तु विषयों का रस नहीं छूटता। वह अचेतन मन में विषयों के शिकार की प्रतीक्षा करता रहता है। जैसे बिल्ली को बहुत दिन तक चूहा न मिलने से वह दुर्बल निराश हुई एक कोने में घात लगाए पड़ी रहती है और चूहे के निकलने पर पुनः झपट्टा मारकर अपनी कामना की पूर्ति कर लेती है। बदरीनारायण की यात्रा में हिमालय की बर्फीली ठण्डक में कई सर्प मिलते हैं जो बर्फ में जमे हुए मृत प्रायः से पड़े रहते हैं। उन्हें छूने, गले में लपेट लेने या इधर-उधर फेंकने से वे नहीं काटते। किन्तु जो बालक खेल हेतु उन सबको घर में उठा लाता है और अंगीठी के पास आग तापने के लिए बैठता है तो वह सर्प भी आग के ताप से पुनः चेतन होकर उस बच्चे को ही काट लेता है।

जैन दर्शन में बंधन दो प्रकार के माने गए हैं। द्रव्य बंध और भाव बंध। द्रव्य बंध विषय-भोगों या वस्तुओं का बंधन है। जैसे शराबी को शराब की बोतल का बड़ा विचित्र आकर्षण पागल बना देता है किन्तु जब बहुत समय तक परिस्थितिवश शराब न मिले, शराबी निर्धन हो जाए, शराब की भट्ठी बंद हो जाए या सरकार की ओर से मद्यनिषेध का अध्यादेश आ जाए या शराबी गंभीर रूप से रुग्ण हो जाए या ऐसी परिस्थिति में फंस जाए जहां वर्षों तक शराब का दर्शन-स्पर्शन न हो सके तो यह नहीं कहा जा सकता कि शराबी सुधर गया है। इसने पिछले 20 वर्ष से शराब नहीं पी है। वास्तव में उसके अचेतन में शराब के प्रति आकर्षण बना रहता है। मन से विषयों का चिंतन करते रहना भाव बंध है। वह व्यक्ति प्रत्यक्ष बोतल की शराब न पी सकता हो किन्तु मन की शराब रोज पीता है। वह शराब और शराबियों के किस्से सुनता है, शराब की महिमा में कविता पढ़कर या सुनकर झूमने लगता है। उसके अचेतन या अवचेतन में शराब की लालसा बोतलप्राप्ति के लिए भूखी बिल्ली के समान घात लगाए पड़ी रहती है।

हमने समझा था कि वर्षात में वर्षेगी शराब
आयी बरसात तो बरसात ने दिल तोड़ दिया।

इस प्रकार का विषयों का मानसिक बंधन, विषयों के रस का बने रहना मानव के भावी पतन का कारण बन जाता है। यह लेश मात्र भी बचा रहे तो भी बहुत बड़े विकार का कारण बन जाता है। दही जमाने वाले मिट्टी के बर्तन में छिद्रों में दही की कुछ लाग बच ही जाती है। इसलिए बरतन को साफ कर लेने पर भी उसमें डाला हुआ दूध बिना जामन के भी दही बन जाता है, छेना का थोड़ा सा रस कड़ाही भर दूध को फाड़ देता है। (अचेतन और अवचेतन) मन में छिपा हुआ विषयों का रस मानव के व्यक्तित्व को कब फाड़ देगा यह कहना कठिन है। किन्तु वह विषयरस पूर्णरूप से निकले बिना मानव का कल्याण नहीं है। भगवान् कहते हैं कि वह विषयरस तभी जाता है जब मनुष्य ब्रह्मानन्द रस को चख लेता है। अश्वत्थामा को उसके निर्धन पिता द्रोणाचार्य प्रतिदिन आटे का घोल दूध कहकर पिला देते थे। एक बार जब वह अपने मामा के घर गया तो वहां कपिला गाय का बढ़िया दूध पीकर बड़ा आनन्दित हुआ। उसने विस्मय से उस अमृत पेय का नाम जाना कि यही दूध होता है। असली दूध को पीने के बाद जब वह पुनः घर लौटा और पिता ने प्रतिदिन के समान उसे आटे का घोल पीने को दिया तो अश्वत्थामा बोला, पिताजी! अब नहीं, अब नहीं। अब मैंने असली दूध को चख लिया है। अब नकली दूध में कोई रुचि नहीं रही। गुरु नानकदेव ने कहा है—

'वो रस आवा यह रस नहीं भावा।'

ब्रह्मानन्द रस चख लेने के बाद विषयरस तनिक भी मन को मोहित नहीं कर सकते। अतः मन को विषयरस से मुक्त करने, भावबंध से छुड़ाने का यह उपाय है कि मन को उससे श्रेष्ठ, उससे ऊंचा कोई अमर रस पिला दो। शिशु को खिलौने से प्रेम होता है। उसके सम्मुख खिलौना और दस हजार रुपए की गड्डी रखी जाए तो उसे खिलौने में ही रस है, रुपये में नहीं। बालक को लट्टू बिल्लौर (कांच की गोलियां) में और खेलकूद में रस आने लगता है। उसे शैशव की गुड़िया में रस नहीं रहा। किशोर को पतंगों में रस आने लगा है, युवक को जीवनसंगिनी में रस आने लगता है। उसे गुड़िया, पतंग, लट्टू में कोई रस नहीं। प्रौढ़ गृहस्थ को अर्थोपार्जन में रस मिलने लगता है। वह अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा संतानों की भी उपेक्षा करके दूर-दूर के स्थानों पर विकट मार्गों में अर्थोपार्जन के लिए जाता है। जिस प्रकार बड़े रस के आने पर छोटा रस अपने आप छूटता जाता है उसी प्रकार धर्म की पुकार पर अर्थ का आकर्षण भी छूट जाता है। भामाशाह ने जीवनभर की और पूर्वजों की सारी कमाई राणा प्रताप के चरणों पर चढ़ा दी। भारतीय संस्कृति में अर्थ ने सदा धर्म को नमस्कार किया है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर जंगल में जाते और अपने स्वर्णकिरीट, मणिमुकुट के साथ चतुरंगिणी सेना के सहित नितांत अकिंचन् कौपीनधारी ऋषि के चरणों में लेटकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम

करते। यह अर्थ का धर्म को नमस्कार है। धर्म का अर्थ मोटे तौर पर कर्तव्यपालन ही होता है। यह तभी तक सम्भव है जब तक कि मनुष्य जगत् में है। किन्तु जब जीव को जगत् से जाना है और जगत् को भी एक न एक दिन लय हो जाना है, तब जीव को ऐसा स्थान खोजना है जहां काल का पंजा न पड़ सके, जहां मृत्यु की छाया तक उसे न छू सके। जहां पूर्ण अमृतरस, ब्रह्मानन्द का सुधासिन्धु लहराता हो। जहां अखण्ड-अविनश्वर आनन्द का एकछत्र साम्राज्य हो, ऐसे पद का नाम मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति है। सारे धर्मों का अन्तिम लक्ष्य वही है। इसलिए धर्म को मोक्ष के चरणों में नमस्कार करना चाहिए। इसी अर्थ में भगवान् अर्जुन को कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

नरक की सात सीढ़ियां

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में मानव के पतन की सात परिचायक सीढ़ी का संकेत दिया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62, गीता

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63, गीता

(क) विषयों का ध्यान

(ख) उससे पैदा होने वाला विषयसङ्ग

(ग) उससे उत्पन्न काम

(घ) काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध

(ङ) क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह

(च) सम्मोह से स्मृति में बिगाड़

(छ) उससे होने वाला बुद्धिनाश

इन सातों सीढ़ियों के बाद सर्वनाश अनिवार्य है।

(क) विषयों का ध्यान—मन बहिर्मुखी होने पर इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर भागता है। विषय का अर्थ है वे वस्तुएं अथवा रस जो इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कठोपनिषद् (1-3-4) में इन्हीं को इन्द्रियरूपी घोड़े का चारा कहा गया है—

'विषयास्तेषु गोचरान्।'

इन भोग पदार्थों का वस्तुतः अपना कुछ रस तो होता नहीं किन्तु आत्मा का रस जो कुछ मात्रा में बुद्धि तक आता है, बुद्धि से मन में, और मन से इन्द्रियों के

माध्यम से विषयों पर उड़ेला जाता है। उस अपने उड़ेले हुए रस को प्राप्त करने हेतु जीव ललचाने लगता है। राजा भर्तृहरि जब अपना चक्रवर्ती साम्राज्य त्यागकर संन्यासी बनने जा रहे थे तब जाते-जाते उनको मार्ग में एक मुहर चमकती हुई दिखाई दी। ज्योंही उसको पकड़ने के लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया तो पता चला जो धूप में मुहर के समान चमक रही थी वह किसी की फेंकी हुई थूक थी। भर्तृहरि को बड़ी ग्लानि हुई कि जब ऐसी कोटि-कोटि मुद्राओं को अपने हाथ से दान कर और सारा राज-पाट त्यागकर मैं संन्यासी बनने जा रहा हूं तब भी थूक में मुहर की कल्पनाकर मेरा मन लुब्ध हो गया है। जैसे ऊपर सविस्तार विवेचना की गई है विषयों में वस्तुपरक (Objective) अपना निजी रस होता तो सब देशों में, सब कालों में, सब परिस्थितियों में, सब पात्रों को समानरूप से उस रस की प्रतीति होती। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव में हम देखते हैं कि जो एक के लिए हलवा है वही दूसरे के लिए मलवा है।

अतः विषयों की ओर इन्द्रियों से बार-बार देखना, विषयों का बार-बार चिन्तन करना यह पतन की पहली सीढ़ी है। मन की यह विशेषता है कि वह जिसका चिन्तन करता रहता है उससे अपनी तदाकार वृत्ति बना लेता है। सामान्य मनुष्य आंखों से यदि सुन्दर वस्तु या व्यक्ति को देखता है, कान से मधुर संगीत का, नासिका से मोहक सुगंधि का, जिह्वा से स्वादिष्ट व्यंजन को चखता है, हाथों से कोमल वस्तु को स्पर्श करता है, मन से किसी सुन्दर वस्तु या स्थिति की कल्पना करता है, चित्त से उसी विषय का चिन्तन करता है, बुद्धि से उसी का विचार करने लग जाता है और अहंकार से उसी वस्तु का स्वामी बनने की कल्पना करता है। इस प्रकार बाहर की पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्दर की इन्द्रियों (अन्तःकरण चतुष्टय) से जब विषयों का चिन्तन करने लग जाता है तो कर्मेन्द्रियां भी उस वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मशील हो उठती हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने आहार का बड़ा व्यापक अर्थ किया है—प्रायः सामान्य लोग आहार का अर्थ केवल भोजन के रूप में प्राप्त विषय ही लेते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कथन है कि इन्द्रिय जिन-जिन विषयों का आहरण करती हैं वे सब उनके आहार हैं। अतः नेत्रों से जितने अच्छे-बुरे, शोभन-अशोभन दृश्य हम देखते हैं वे सब इन्द्रिय के आहार हैं। कानों से जो कुछ शोभन या अशोभन सुनते रहते हैं वह कानों का आहार है। नासिका से जो कुछ संूघते हैं, वह घ्राणेन्द्रिय का आहार है। त्वचा से जो कुछ स्पर्श करते हैं वह स्पर्शनेन्द्रिय का आहार है। सब प्रकार के आहार मिलकर हमारे मन को प्रभावित करते हैं। जो व्यक्ति प्रायः महिलाओं के बीच में उठता-बैठता है, महिलाओं से अधिक वार्तालाप करता है, महिलाओं से अर्थव्यापार करता है, महिलाओं के वचन सुनता है, महिलाओं की

महफिल, उनके संगीत और सुगंधि का रस लेता है, उनसे क्लबों में यत्र-तत्र हाथ मिलाता है, उनके साथ अधिक यात्रा करता है; वह व्यक्ति सब इन्द्रियों से नारी संस्पर्श का मानसिक भोग भोगने लगता है। इसे ही शास्त्रों में मानसिक मैथुन नाम दिया गया है। अष्टधा मैथुन में निम्नलिखित उपायों का नाम आता है—

श्रवणं कीर्तनं केलि स्मरणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायं च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

अर्थात् स्त्री के बारे में सुनना, कहना, उससे क्रीड़ा करना, स्मरण करना, एकान्त में उससे बातें करना, मैथुन करने के लिए संकल्प करना, मैथुन का निश्चय करना एवं अन्तिम क्रिया तक जाना—ये आठ प्रकार के मैथुन कहलाते हैं।

इन्द्रियों का विषयों की ओर मुड़ना ही नरक का प्रथम द्वार है। इसका बार-बार अभ्यास होने से विषयों के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। जिस विषय का बार-बार ध्यान किया जाता है अथवा जिसके बारे में देखने-सुनने, स्पर्श करने का संयोग मिलता है; उसको पुन-पुनः देखने, सुनने, स्पर्श करने की आदत लग जाती है। जिस दिन वैसा इन्द्रिय अनुभव न प्राप्त करे तो कुछ दिन मन और इन्द्रियों को कुछ अभाव की प्रतीति होती है। प्रतिदिन हलवा-पूरी खाने वालों को यदि कुछ दिन सूखा चना चबाने को दिया जाए तो उसे अप्रिय लगता है। प्रायः सिनेमा थियेटर देखने वाले व्यक्ति को यदि परिस्थिति से बाध्य होकर किसी ऐसे गांव में जाना पड़े जहां सिनेमा न हो तो वह सपनों में चलचित्र-तारिकाओं का दृश्य देखता रहता है। संगत की रंगत अवश्य चढ़ती ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने ज्ञानेन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो इनकी हिंसा ही कर दी है। वास्तव में इन्द्रियां हमें बाहर के जगत् की सूचना देने वाली हमारे चौकीदार-पहरेदार के समान है जो मन को सूचित करे कि अमुक दिशा से आक्रमण करने के लिए विषयों की सेना आ रही है। दुर्भाग्यवश हमारे पहरेदार मनरूपी सेनापति को साथ लेकर विषयों का नाच-गान देखने में मस्त हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां हमारे ज्ञान के यंत्र न रहकर हमारे अज्ञान एवं मोह बंधन के यंत्र बन जाते हैं।

(ख) **संग—**जिन विषयों का हम बार-बार चिन्तन करते रहते हैं उनके प्रति हमारे मन में संगदोष पैदा हो जाता है। संगत की रंगत एक सर्वविदित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिससे कोई भी बच नहीं सकता। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, तपस्वी, महात्मा एवं साधक भी संगदोष के कारण पथभ्रष्ट होते हुए देखे गए हैं। फिर सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या है कि वह संगदोष से बच सके। भगवान् कहते हैं कि जिन विषयों का चिन्तन करते रहोगे उनके प्रति संगदोष अवश्य पैदा होगा। वह भोग वस्तु प्राप्त करने हेतु मनुष्य व्याकुल हो उठता है। उसके प्रति

ममता का अंकुर फूटने लगता है। बार-बार उसके निकट जाने की इच्छा पैदा होती है। शराबी का शराब की बोतल में संग हो जाता है और कामी को काम के विषय, साहित्य, मनोरंजन, कामिनी में संग हो जाता है। जिस वस्तु के प्रति संग हो जाता है, उससे विलग रहने में भीषण व्याकुलता होने लगती है। यदि नवयुवक किसी नवयुवती को बार-बार देखता है तो उसके मन में बार-बार उसका ही ध्यान आने लगता है। ध्यान से उसके प्रति संग हो जाता है और उसके साथ घूमने-फिरने, बातचीत करने की चेष्टा होती है। इस संगदोष से फिर उसे अपना बनाने के लिए तीव्र कामना पैदा होती है। यदि विषयों का चिन्तन ही न हो तो संगदोष नहीं होगा। और संगदोष न होने पर उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र कामना पैदा नहीं होगी।

(ग) **काम**—वास्तव में अचेतन मन की कामप्रवृत्ति से ही विषयों की ओर ध्यान जाता है। जिसके अचेतन मन से विषयों की कामना नष्ट हो चुकी है वह विषयों की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसकी इन्द्रियां विषयों को देखते हुए भी मानो नहीं देखती। बाल ब्रह्मज्ञानी शुकदेव नग्नावस्था में जा रहे थे और स्नान करती हुई व्रजगोपियों को देखकर भी उनके मन में न कोई विकार हुआ और न गोपियों के मन में शंका-लज्जा जागी। स्वामी रामतीर्थ प्रतिदिन लाहौर में अनारकली बाजार से होकर रावी नदी में स्नान करने जाते थे। एक दिन कुछ लोग हस्ताक्षर संग्रह कर रहे थे कि अनारकली बाजार से वेश्याओं को उठाया जाए। जब वे स्वामी रामतीर्थ से हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे तब स्वामीजी को यह जानकर अचम्भा हुआ कि उनके दैनिक आने-जाने वाले मार्ग में दोनों ओर वेश्याओं के चौबारे हैं जिसका उन्हें अभी तक भान ही न था। श्रीरामकृष्ण देव वेश्याओं को देखकर भी मां-मां कहकर पुकारने लगते थे। स्वयं अपनी विधिवत परिणीता (पत्नी) में भी वे भगवती के दर्शन करते थे। यहां स्वस्थ युवा शरीर भी है, स्वस्थ इन्द्रियां भी हैं, इन्द्रियों के भोग विषय भी हैं, एक ही मन्दिर में निकट वास भी है किन्तु विषयचिन्तन नहीं है और विषय के प्रति संगदोष भी नहीं है क्योंकि अचेतन मन में भी कोई कामना का बीज या अंकुर नहीं बचा है। चेतन मन से निष्काम अनेक लोग मिल जाएंगे किन्तु जिनके अचेतन मन में भी कोई कामना नहीं बची हो ऐसे सच्चे ब्राह्मीस्थिति वाले स्थितप्रज्ञ महापुरुष बहुत ही विरले हैं। अचेतन मन की कामना से मनुष्य विषयों की ओर बार-बार ध्यान देता है। जैसे कोई नवयुवक छिप-छिपाकर किसी नवयुवती की ओर बार-बार झांकता है किन्तु किसी के पूछने पर वह चेतन मन से अपनी कामना को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता है क्योंकि अचेतन मन की कामना का स्वयं उसे भान भी नहीं है। किन्तु विषय का बार-बार चिन्तन करने से उस विषय के प्रति संग हो जाता है। यह अर्धचेतन मन के स्तर तक रहता है। जैसे कोई नवयुवक किसी नवयुवती से परिचय होने के पश्चात् यदा-कदा आधा

छिपकर, आधा प्रकट नवयुवती के संग इधर-उधर घूमता है। क्लब, सिनेमा, सैर आदि से संग बढ़ाता है। उस अवस्था में वह उसे मित्र, सहकर्मी Girl friend या धर्म की बहन बताता रहता है क्योंकि उसे समाज की मर्यादा के अंकुश का कुछ भय रहता है। संग से प्रबल काम जाग उठता है जो चेतन में कामना का तूफान खड़ा कर देता है। इस अवस्था में नवयुवक खुलेआम घोषणा करता है कि मैं विवाह करूंगा तो इसी के साथ अन्यथा आत्महत्या कर लूंगा। अब अचेतन मन का कामबीज चेतन में बलवान वृक्ष बन गया। यह काम कामना के व्यापक अर्थ में सब जीवों को नचा रहा है। यह काम ही जीव को ब्रह्म से पृथक् कर भौतिक जगत् का बंदी बनाने वाला है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सके रवि रजनी एक ठाम।।

अर्थात् जहां काम है वहां राम नहीं रहते और जहा राम है वहां काम नहीं। जैसे सूर्य और रात्रि एक साथ नहीं रह सकते। इसी अर्थ में काम मानव का सबसे प्रबल शत्रु माना गया है। इसी काम को जीतना, तृष्णा पर विजय पाना, कामनाओं का शांत हो जाना निर्वाण या मोक्ष है।

(घ) **काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध**—जब मन में रजोगुण की वृद्धि से काम का वेग बढ़ जाता है तो मन में भयंकर अशान्ति छा जाती है। किसी वस्तु या व्यक्ति की उत्कट कामना से मन पागल हो जाता है, विवेक की दृष्टि लुप्त हो जाती है तथा मन में संकल्प-विकल्प का भयंकर ज्वार-भाटा उठने लगता है। कामना में विरोध या रुकावट होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में आंखें लाल हो जाती है, दांत पिसते हैं, मुट्ठियां कस जाती है, नथुने फूल जाते हैं, चेहरा तपकर लाल हो जाता है, आवाज ऊंची हो जाती है, पूरे शरीर में ऐंठन आ जाती है, रोम खड़े हो जाते हैं, हृदय तेज धड़कने लगता है, श्वास और नाड़ी तेज चलने लगती है, श्वास गरम हो जाता है, कभी दूसरों पर प्रहार करने की इच्छा होती है, कभी क्रोध के आवेग से क्रोधी का अपना पूरा शरीर कांपने लगता है, कभी वह क्रोध में अंधा होकर किसी निर्दोष को पीटने लगता है तथा कभी दूसरे को पीटने का अवसर या सामर्थ्य न होने पर स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करने लगता है। क्रोध के भयंकर आवेग में मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर अनेक बार हत्या एवं आत्महत्या के भीषण काण्ड घटित हो जाते हैं।

(ङ) **क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह**—क्रोध एक ऐसी भयंकर मानसिक आंधी है जो मनुष्य को पागल बना देती है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अधीर, उतावला, बावला हो जाता है। उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है तथा वह अपना-पराया, भले-बुरे का विवेक भी खो बैठता है। क्रोध शराब के नशे से भी

बड़ा नशा है जो मनुष्य के भीतर के राक्षस को जगा देता है तथा बिना होश के अंधे जोश में मन को सम्मोहितकर कई दुष्टकर्म करवा बैठता है। नवयुवक का नवयुवती के प्रति काम-भाव जागने पर यदि उसका पिता या भ्राता उसे रोके तो काम क्रोध में बदल जाता है। फिर भी पिता द्वारा रात्रि को प्रेमिका के घर जाने से रोकने पर क्रोधित प्रेमी सम्मोह में पिता को धक्का देकर भी प्रेमिका के घर जा पहुंचता है। मन का संतुलन तथा मन की मननशक्ति शान्ति में रह सकती है, अशान्ति में नहीं। क्रोध मन की सबसे भयंकर अशान्ति है। इसलिए सम्मोह होना अनिवार्य है। क्रोध एक प्रकार का अल्पकालिक पागलपन है। और पागलपन एक प्रकार का दीर्घकालिक क्रोध है। अल्पकालिक क्रोध में मन कुछ समय के लिए अपने आप में नहीं रहता। यदि यह मानसिक सम्मोह कई दिनों या मासों तक बना रहे तो पागलखाने में भरती करना पड़ता है।

(च) **सम्मोह से स्मृति में भ्रम**—जब चित्त सम्मोहित हो जाता है तो श्रुति के तंतु बिखर जाते हैं और मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं कौन हूं, कहां पर हूं, किससे झगड़ रहा हूं और, क्या मेरा आचरण ठीक है? या गलत क्रोध में अंधा प्रेमी अपने पिता को धक्का देकर इसलिए निकल जाता है क्योंकि उसे उस समय याद ही नहीं रहता कि रोकने वाला उसका अपना पूज्य पिता ही है। उस समय जो भी सामने आ जाए उसी पर प्रहार कर बैठता है। उत्तम स्मृति के लिए मन शांत होना चाहिए और ध्यान अन्तर्मुखी चाहिए। बहुत बार नेत्र बंद करके वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने से भूली हुई बात या भूला हुआ पाठ पुनः स्मृति में आ जाता है। किन्तु क्रोध में जब मन में तूफान आया हुआ है तब पुनः स्मृति का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि जो कुछ पहले क्षण याद था वह भी स्मृति पर से फिसल जाता है। अतः क्रोध मन, स्मृति और बुद्धि तीनों का वैरी है।

(छ) **स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है**—बुद्धि का बहुत बड़ा भंडार स्मृति ही है। पिछले अनुभवों की स्मृतियां बनी रहने पर उनसे शिक्षा लेते हुए आगे का प्रकाश देना बुद्धि का काम है। बुद्धि विचार करके निर्णय तभी दे सकती है जब उसके सामने स्मृति की फाइल या संचिका उपस्थित हो। जैसे मजिस्ट्रेट फाइल देखकर ही निर्णय दे सकता है। उसी प्रकार बुद्धि स्मृति की संचिकाओं को देखकर आगमन और निगमन तर्क का सहारा लेकर निर्णय देती है। जैसे कोई भुलक्कड़ व्यक्ति बुद्धि का कोई भी उत्तम कर्म नहीं कर सकता। उसी प्रकार क्रोध से स्मृति नाश होने पर बुद्धि का सर्वथा नाश भी हो जाता है, उसमें विवेक एवं विचार शक्ति बचती ही नहीं। जब बुद्धि जैसी लोक और परलोक को जोड़ने वाली दिव्य प्रकाशमयी ज्योति ही नहीं बची तो बुद्धि का कोई भी काम सम्भव नहीं होगा। तब आगे सर्वनाश ही सर्वनाश है। इस प्रकार ये नरक की सात सीढ़ियां हैं।

अचेतन मन की कामना से विषय का ध्यान और विषय का संग और चेतन मन की कामना से क्रमशः क्रोध, सम्मोह, स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश और अन्त में सर्वनाश हो जाता है।

कामना से बंधन—काम ही पंच महारिपुओं में प्रथम एवं आधारभूत रिपु है। काम का उदय ही अविद्या से होता है तथा इसका परिणाम जीव के बंधन में ही है। भगवान् बुद्ध ने भी तृष्णा और अविद्या को बंधन के दो प्रमुख कारण माना है। हम वस्तुओं की कामना करते हैं, इससे हमारी वृत्ति बहिर्मुखी होती है। हम भिखारी के समान भिक्षापात्र उठाकर नश्वर जगत् के भौतिकवाद के हाट में भोग विलास की दुकान पर भीख मांगने लगते हैं। इससे हम अपनी आप्तकाम पूर्णकाम आत्मा का तिरस्कार करते हैं। जिन वस्तुओं की कामना की जाती है उनके स्वरूप के विषय में अविद्या या अज्ञान होने के कारण जब वे वस्तुएं नष्ट होती या छिन जाती हैं तब जीव वस्तुओं की ममता से बंधा हुआ दुःख पाने लगता है। जिन वस्तुओं के प्रति अज्ञानवश राग होता है, विवेक द्वारा उनके नश्वर स्वरूप का ज्ञान होते ही उनके प्रति वैराग्य हो जाता है।

बाहर की चकाचक के नीचे अन्दर की रुलाई को देखा।
सोने के वर्क में लिपटी-सी गोबर की मिठाई को देखा।।

पाश्चात्य देशों के बाहरी सौन्दर्य, टीप-टोप या टीम-टाम, तड़क-भड़क के नीचे उनका ईर्ष्या-द्वेष से जलता हुआ, परस्पर के वैर और क्रोध में धधकता हुआ आन्तरिक जीवन देख लेनेपर ऊपर का बाह्य आकर्षण तुरन्त विकर्षण में, राग वैराग्य में, मोह घृणा में बदल जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है— पाश्चात्य सभ्यता क्या है? एक ज्वालामुखी पर टिकी हुई हलकी-सी लिपिस्टिक की मुस्कान। ज्योंही भीतर का ज्वालामुखी फटेगा तो सभ्यता के चिथड़े उड़ जाएंगे।

जिस नर-नारी के आकर्षण में लोग कामोन्मत्त होकर माता-पिता, भाई-बहन, धन-सम्पत्ति और भगवान् तक को भी त्याग देने के लिए उद्यत हो जाते हैं तथा सौन्दर्य के आकर्षण में बंधे हुए इसी के दर्शन-स्पर्शन, सहवास में फंसे रहते हैं; यदि अकस्मात् उसके सुन्दर शरीर के ऊपर की बहुत पतली चमड़ी का पर्दा हट जाए तब अन्दर का माल-मत्ता, रक्त-मांस-मज्जा-मल-मूत्र का दृश्य देखते ही सभी प्रेमी भाग खड़े होंगे। तब कुत्ते, कबूतर और गिद्ध उस शरीर को नोच-नोचकर खाने के लिए नए प्रेमियों के समान इर्द-गिर्द मंडराने लगेंगे।

काम का बंधन ऐसा विचित्र है कि जहां अन्य बंधनों से बंदी भागना चाहता है वहां काम का बंदी स्वतः काम जाल में फंसता है और उसे काम के बंधन में ही सुख प्रतीत होता है। यह काम का ऐसा बंदीगृह है जिसमें संसार के 99 प्रतिशत लोग अपने आप बंदी होने हेतु एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए दौड़-दौड़

कर चले आते हैं। जहां अन्य कारागृहों में बंदी फाटक तोड़कर अथवा दीवार फांद कर भागने की चेष्टा करते हैं, वहां काम के कारागार में जीव स्वयमेव फाटक तोड़कर या दीवार फांदकर अन्दर घुसना चाहते हैं। यह काम की विचित्र मोहिनी माया है जो बड़े-बड़ों की बुद्धि पर पर्दा डाल देती है और उन्हें अनायास ही बंदी बना लेती है।

स्विट्जरलैण्ड में मैंने देखा कि उन्होंने कुछ छोटी-छोटी कुत्ता गाड़ियां बनायी हैं जिसमें कुत्ता गाड़ी खींचता है। कुत्ता प्रायः गाड़ी खींचने का अभ्यासी न होने के कारण उसकी प्रवृत्ति आगे चलने की नहीं होती है। उसे चलाने के लिए कामना की युक्ति लगाई गई है। गाड़ी के साथ एक लोहे के डण्डे से बंधा हुआ एक मांस का टुकड़ा कुत्ते के मुख से एक फुट आगे लटका दिया जाता है। कुत्ता उस मांस के टुकड़े को प्राप्त करने के लिए दो-चार कदम चलता है किन्तु मांस के टुकड़े का अन्तर कुत्ते के मुख से सदा एक फुट आगे स्थित रहने के कारण कुत्ता उसे पा नहीं सकता। किन्तु उसे पाने की चेष्टा में वह लगातार चलता रहता है तथा गाड़ी बढ़ती रहती है। संसार में जीव की स्थिति ऐसी ही है, वह कुछ कामनाओं के आकर्षण में जीवनभर गतिविधि करता रहता है और संसार के छकड़े को ढोता रहता है किन्तु अन्त तक उसे प्राप्त कुछ नहीं होता। संसार के भोग यहीं धरे रह जाते हैं और जीव थक-हार कर, मरकर चला जाता है। यह जीवन का दुःखांत नाटक है।

कामवासना

सामान्यतः काम शब्द कामना के अर्थ में प्रयोग होता है। यह कामना खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, सुनने, स्पर्श करने, सोने, विश्राम करने, धनोपार्जन करके यश पाने आदि की कोई भी कामना हो सकती है। इसे तीन प्रकार की मुख्य कामनाओं में विभाजित किया जा सकता है।

(1) पुत्रैषणा,

(2) वित्तैषणा और

(3) लोकैषणा।

काम का रूढ अर्थ कामवासना (Sex instinct) प्रचलित हो गया है। इसे ही सभ्य भाषा में पुत्रैषणा कहा जाता है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम गृहस्थ धर्म है, इसलिए काम का वास्तविक उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति ही है। भारतीय संस्कृति में पुत्रैषणा का स्थान है किन्तु केवल भोग विलास के लिए भोगैषणा का स्थान नहीं। कामना और एषणा का अर्थ इच्छा है। वासना का अर्थ है वह वस्तु जिसमें मन वास करे। जब मन सौन्दर्य का चिन्तन करते-करते उसी में बसने लगता है या धन का चिन्तन करते-करते उसी में रम जाता है, तब मन की इस वृत्ति को

वासना कहते हैं। इच्छा के बार-बार पैदा होने पर और मन के इच्छा का दास बन जाने पर वासना कही जाती है।

स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। वास्तव में इन्द्रियों के प्रति प्रत्येक विषय का आकर्षण कामना ही है। किन्तु स्त्री-पुरुष के सहवास की कामना को सभ्य भाषा में कोई नंगा शब्द नहीं देकर काम ही कह दिया गया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं—

(1) पिता-पुत्री का सम्बन्ध—यह शुद्ध स्नेह, संरक्षण एवं कर्तव्यभावना पर टिका हुआ सम्बन्ध है।

(2) माता-पुत्र का सम्बन्ध—यह पवित्र प्रेम, कर्तव्यभावना, माता द्वारा संरक्षण और पुत्र द्वारा पूजा की भावना पर आश्रित सम्बन्ध है।

(3) बहन-भाई का सम्बन्ध—यह परस्पर पवित्र प्रेम, नैतिक आचरण, निष्काम सेवा एवं निःस्वार्थ सहानुभूति का सम्बन्ध है।

(4) पति-पत्नी का सम्बन्ध—यह गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए श्रेष्ठ संतान प्राप्तकर समाज का ऋण चुकाने के लिए पंच महायज्ञों द्वारा सबका कल्याण करने एवं श्रेष्ठ तीन आश्रमों को आधार देने के लिए सहधर्म का कर्तव्य-सम्बन्ध है।

(5) प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध—यदि स्त्री-पुरुष बिना किसी मर्यादा के बंधन के एक-दूसरे के प्रति आकर्षण रखते हैं तो मानव की उस दुर्बलता को प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध कहा जाता है। भारतीय धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र इसकी अनुमति नहीं देता। किन्तु मानव की सहज दुर्बलता होने के कारण साहित्य में कवियों ने नायक-नायिका के भेदों में ऐसे प्रसंगों की चर्चा की है। मनु भगवान् ने तो यहां तक लिखा है कि बेटे के युवा हो जाने पर उसे अपनी माता या विमाता के साथ एक शय्या पर नहीं बैठना चाहिए। काम ऐसी विचित्र अग्नि है जो युवा स्त्री-पुरुष की निकटता का ईंधन मिलते ही उत्तेजित हो उठती है। अतः युवा भाई-बहिन एवं परिचित स्त्री-पुरुषों को बहुत मर्यादा के साथ व्यवहार करना चाहिए। युवा छात्र-छात्राओं की सहशिक्षा भारतीय परम्पराओं के प्रतिकूल है। घी और अग्नि को पास-पास रखने से कभी भी विनाश की ज्वाला भड़क सकती है। नीतिकारों ने कहा है—

'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं न चरणीयम्'

अर्थात् चाहे हमारा आचरण शुद्धभावना से हो किन्तु वह यदि लोकविरुद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिए, उसका आचरण कभी नहीं करना चाहिए। विवाहित पति-पत्नी भी यदि खुले बाजार में परस्पर प्रेम-लीला करते चलें तो अशोभन

एवं कामोत्तेजक प्रसंग बन जाएगा। दुर्भाग्य से पश्चिमी देशों में प्रेमी-प्रेमिका की स्वच्छन्द प्रेम लीला तथा विवाहितों की निर्लज्ज कामकेलि खूब चलती हैं।

व्यभिचार—कामवासना का सबसे घृणित रूप व्यभिचार है। Physical contact without love is essence of prostitution. Physical contact with love and responsibility is the essence of marriage. Pure love without physical contact is the essence of devotion.

बिना वास्तविक प्रेम के शारीरिक संयोग केवल भोग विलास मात्र के लिए 'सम्भोग' वेश्यावृत्ति का सार है। जो कामी किसी कामिनी के साथ कामवासना की पूर्तिकर जीवनभर के लिए उससे प्रेम करने अथवा उसका उत्तरदायित्व निभाने के लिए प्रस्तुत नहीं है वह वेश्यागिरी द्वारा नारी का शोषण मात्र कर रहा है। शोषण का अर्थ है दूसरे व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिए केवल साधन मात्र बना लेना तथा उसे साध्य न मानना। जिस प्रकार जूता हमारे लिए साधन मात्र है। घिस जाने या फट जाने पर उसे फेंककर दूसरा जूता खरीद लिया जाता है। इस प्रकार किसी नृशंस अधिनायक के लिए कोई गुलाम मजदूर साधन मात्र है। काम करते हुए यदि आरा मशीन से भुजा कट जाती है तो बेदर्द मालिक उसकी कोई चिन्ता न कर एक दूसरा गुलाम मजदूर काम पर लगा देता है। उसी प्रकार व्यभिचारी व्यक्ति व्यभिचार या बलात्कार का शिकार बनने वाली नवयुवती को केवल साधन मात्र बनाकर अपनी कामवासना की पूर्ति करता है। इससे उसके स्वस्थ जीवन एवं सामाजिक प्रतिष्ठा पर क्या कुप्रभाव पड़ता है इसकी उसे तनिक भी चिंता नहीं रहती। नारी के क्षत-विक्षत हो जाने, बहुत चिन्ताजनक-हालत में पड़ जाने अथवा मर जाने पर वह नए जूते के समान नई कामिनी खोज लेता है। यह मानवता का घोर तिरस्कार है। जो वेश्या यह धंधा करती है वह भी पुरुषों के अर्थ व स्वास्थ्य का शोषण ही करती है। उन्हें जीवन भर सच्चा प्रेम किसी ग्राहक से नहीं रहता। इसलिए व्यभिचार मानवता के माथे पर कलंक है।

व्यभिचार, व्यभिचार की चेष्टा, बलात्कार, बलात्कार की चेष्टा, नारी का अपहरण, सभ्य कहलाने वाले परिवारों में कदाचार, पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता में आधी रात को Night क्लबों में शराब पीकर परायी स्त्रियों की बगल में हाथ में हाथ डालकर स्त्री-पुरुषों का एक दूसरे से लिपटकर नाचना, Nude क्लब में नग्न स्त्री-पुरुषों का निर्लज्ज नृत्य, फैशनों में नंगापन, साहित्य में नग्नता, संगीत में अश्लीलता, नग्न स्त्रियों के चित्रों के कैलेण्डर, एलबम आदि, चलचित्रों में नग्नता एवं निर्लज्ज कामक्रीड़ा सभी कुछ व्यभिचार के ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। जिस प्रकार बिना वास्तविक प्रेम के स्त्री-पुरुष का शारीरिक संयोग व्यभिचार कहलाता है। यदि उनके शारीरिक संयोग में प्रेम व उत्तरदायित्व का भाव संयुक्त हो जाए तो वह विवाह या गृहस्थाश्रम माना जाएगा।

ब्रह्मचर्याश्रम व गृहस्थाश्रम

भारत के ऋषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हेतु व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए चार आश्रमों तथा सामाजिक जीवन के विकास के लिए चार वर्णों की रचना की। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की सुन्दर, संस्कारयुक्त, विद्या-विभूषित व चरित्रमण्डित, ज्ञानावलोकित, स्वास्थ्यशक्तिपूरित तैयारी है। गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम में सीखे हुए धर्ममर्यादा के आधार पर काम और अर्थ की प्राप्ति की साधना है। जैसे छोटा पौधा जब तक पूरा वृक्ष नहीं बनता तब तक उसका रस-संचय का काल रहता है, उस काल में वह जितना रस संचय कर लेगा इसी के आधार पर आगे चल कर उसमें पूर्ण फूल लगेंगे। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में (विद्यार्थी जीवन में) व्यक्ति जैसा स्वास्थ्यरस, शक्तिरस, ज्ञानरस और धर्मरस का संचय कर लेगा उसी के आधार पर विश्व में उसके जीवन का भवन खड़ा होने वाला है। यदि ब्रह्मचर्य काल में ही उसने ज्ञान ब्रह्म, वीर्य ब्रह्म और धर्म ब्रह्म का संचय नहीं किया तब गृहस्थाश्रम में आने पर बिना धर्म के अंकुश के उसका अर्थ अनर्थ बन जाएगा और उसका काम, भोग बन जाएगा—

धर्मविहीनं कामं भोगं
संयमहीनं कामं रोगम्।

जो पौधा रससंचय के समय धीरज खोकर शीघ्र ही फल पैदा करने की चेष्टा करता है उसका फल भी कमजोर होगा, कम होगा और कीड़ा लगा हुआ होगा और वह वृक्ष भी जल्दी समाप्त हो जाएगा। गृहस्थाश्रम के काम और अर्थ के उत्तम फल ब्रह्मचर्य के धर्मरस संचय पर निर्भर करते हैं। जिस पौधे को उचित खाद-पानी मिलता है जिसका पोषण उत्तम ढंग से होता है, वही उत्तम फल दे सकता है। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट व्यक्ति कभी सफल गृहस्थ नहीं बन सकता। जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट है उसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट है। उसका गृहस्थ जीवन भी नष्ट होगा।

गृहस्थाश्रम एक धर्म है। केवल पश्चिम के दृष्टिकोण का एक Social contract भर नहीं है। यदि विवाह को केवल सामाजिक ठेका मान लिया जाए तब उसमें धर्म, ईश्वर या समाज मर्यादा पर कोई विचार नहीं रहता। ठेका दो व्यक्तियों के बीच होता है, वह दोनों में से किसी की इच्छा से तोड़ा जा सकता है। जैसे आर्थिक मामलों के ठेके होते हैं उसी प्रकार से विवाह को भी एक लेन-देन या ठेका मान लेना गृहस्थ धर्म का अपमान है। भारतीय परम्परा में विवाह एक कभी न टूटने वाला धर्मबंधन है।

ठेका परस्पर के स्वार्थों की पूर्ति हेतु एक व्यापारिक समझौता है। किन्तु गृहस्थ धर्म ईश्वर और समाज को साक्षी मानकर निःस्वार्थ कर्तव्यपालन की प्रतिज्ञा है।

पश्चिम में विवाह को एक साझीदारी Partnership माना जाता है, किन्तु भारत में यह साझीदारी न होकर सहधर्म है। पत्नी, जीवनसंगिनीमात्र न होकर सहधर्मिणी बन जाती है। यदि किसी पुरुष के साथ कोई स्त्री किसी कर्मशाला में काम करती है तब सहकर्मिणी होगी। यदि साथ-साथ पढ़ती है तो सहपाठिन् होगी। यदि साथ-साथ यात्रा करती है तो सहगामिनी होगी। संग रहती हो तो वह संगिनी होगी। यदि साथ-साथ व्यवहार करती है तो साझीदार होगी। किन्तु साथ-साथ धर्मपालन करती हो तो वह सहधर्मिणी होगी। भारतीय विवाह में पति और पत्नी मिलकर साथ-साथ पंच महायज्ञों एवं समस्त कर्तव्यों एवं धर्मों का पालन करने का व्रत लेते हैं।

वे काम के सहचर नहीं धर्म के संगी हैं। अतः उनकी सांसारिक सुखोपभोग की सारी कामनायें धर्म पर आधारित, धर्म से अनुमोदित तथा धर्मपालन के लिए ही है। पश्चिम में विवाह काम का लाइसेंस बन जाता है, किन्तु भारत में विवाह धर्म के मांगलिक प्रकाश में कामवासना का पावन परिष्कार है। यह कर्तव्य के राजमार्ग से होकर धर्मदेवता के पावन मन्दिर की दिव्य यात्रा है।

पश्चिम में विवाह को Sex relation कामसम्बन्ध माना जाता है। किन्तु भारत में विवाह कामसम्बन्ध न होकर धर्मसम्बन्ध है।

जहां ब्रह्मचर्य एक स्वतंत्र आश्रम के रूप में प्रतिष्ठित है, वहां ब्रह्मचर्य एक दैवीय गुण है जो सभी आश्रमों में परमोपयोगी है। जो गृहस्थी होकर भी संयम से चलता है वह गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इसी प्रकार वानप्रस्थ और संन्यास में भी ब्रह्मचर्य की बड़ी महत्ता है। भारत में विवाह कामवासना की पूर्ति का लाइसेंस नहीं है वरन् कामवासना के परिष्कार का अलौकिक प्रयोग है। गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी के यौनसम्बन्धों में धर्मोनुमोदित मर्यादा रहती है। स्वच्छन्द एवं निर्बन्ध यौनाचार की अनुमति गृहस्थाश्रम में भी नहीं है। उससे रज-वीर्य का नाश होकर स्वास्थ्य, मनःशक्ति, बुद्धि, तेज, ओज सभी का विनाश हो जाता है।

वीर्य एक ब्रह्मशक्ति है जो मूलाधार के पास एक कुण्डलित (सर्पिल Spiral) कुण्डली मारी हुई सर्पिणी के समान सुप्त पड़ रहती है। जिस प्रकार कुण्डली मारी हुई सर्पिणी छोटी-सी दिखती है किन्तु कुण्डली खुलने पर उसकी असली लम्बाई का ज्ञान होता है। जिस प्रकार एक तार का चक्राकार स्प्रिंग या Spiral छोटा दिखाई देता है किन्तु खुलने पर उसकी लम्बाई का पता चलता है, उसी प्रकार जो एक विराट् शक्ति हमारे मूलाधारचक्र में कुण्डलित पड़ी रहती है उसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। वह वीर्य ही वीरता का मूल मंत्र है। जिसने वीर्य रक्षा नहीं की वह दुर्बल पामर कभी वीर नहीं बन सकता, शारीरिक बल का विकास कर गुण्डा भले

ही बन जाए। वीरता तन और मन की वह शक्ति है जो वीर्य की रक्षा से विकसित होती है और मानव को अलौकिक कृत्य करने में समर्थ, इतिहास निर्माता एवं मानवता का परित्राता बना सकती है। महावीर (हनुमान) दुधमुँहें बच्चे के रूप में एक बार अपनी माता अंजनी के हाथ से एक पत्थर की शिला पर गिर गए और शिला चूर-चूर हो गई। जब राम-रावण युद्ध में हनुमान ने रावण को एक घूँसा मारा तो रावण रथ से नीचे जा गिरा। तब अंजनी माता ने अफसोस किया कि यदि मेरे दूध में अधिक बल होता तो हनुमान के एक घूँसे से रावण का प्राणांत ही हो जाता। वीर माता वीर पुत्रों की निर्माता होती है।

माता निर्माता भवति

हनुमान निश्चय ही रावण को मार सकते थे किन्तु मर्यादा की दृष्टि से श्रीराम के हाथ से रावण का संहार उचित जानकर उन्होंने रावण का अपने हाथ से संहार नहीं किया। वीर्य के बल से ही वज्र के अंगों वाले महावीर बजरंगबली बने। भीष्म पितामह का तनबल, मनोबल, प्रतिज्ञाबल, युद्धबल और बुद्धिबल सभी कुछ वीर्य का ही वरदान थे। महाराणा प्रताप, शिवाजी अपने चरित्रबल से ही इतिहास में अमर वीर बनकर पूजित हुए। गुरु तेगबहादुर ने विवाह के बाद लगभग 20 वर्ष तक तपस्या करके एक पुत्र उत्पन्न किया गुरु गोविन्द सिंह जिसने वीरता और बलिदान की एक अभूतपूर्व मर्यादा स्थापित कर दी। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द आदि अपने ब्रह्मचर्य के बल से ही आत्मविजय और आध्यात्मिक विश्वविजय करने में समर्थ हुए। इस प्रकार बिना वीर्य रक्षा के कोई वीर नहीं बन सकता।

जिस प्रकार पानी का प्रवाह प्राय: नीचे की ओर ही होता है और पानी का फव्वारा ऊपर की ओर उठाने के लिए वायु के नोदन का उपयोग करना पड़ता है। उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति अधोरेतस होता है। उसका वीर्य नीचे की ओर बहकर नष्ट होता रहता है। यदि किसी 6 खण्ड के भवन में सबसे नीचे के नल खुले हों तो ऊपर के खण्डों में पानी कैसे चढ़ेगा? नीचे के नल बंद करने से ही पानी ऊपर चढ़ सकता है। यदि पानी में दबाव कम हो तो वायु के नोदन से पम्प का प्रयोग कर पानी को ऊपर चढ़ाया जाता है। उसी प्रकार मानव शरीर में जो वीर्य शक्ति नीचे की ओर बहकर नष्ट हो जाती है उसे संयम एवं इन्द्रियनिग्रह द्वारा पतन से रोककर ऊपर उठाने का प्रयास किया जाता है। शरीर के भीतर में षड्चक्रों के अष्ट मण्डलों में धीरे-धीरे वीर्य शक्ति ऊपर उठती है। उसे ऊपर उठाने में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु के नोदन की शक्ति से सहायता ली जाती है। जिसकी वीर्य शक्ति ऊपर की ओर उठती है उसे ऊर्ध्वरेतस कहते हैं। मिट्टी का तेल यदि धरती पर बिखरा हो तो उसे जलाने पर साधारण-सा प्रकाश होता है। ढिबरी में तेल बाती के माध्यम से तनिक ऊपर उठता है इसलिए कुछ प्रकाश होता है। लालटेन में कुछ

अधिक प्रकाश होता है। किन्तु जब पैट्रोमैक्स में उसी तेल को पम्प करके वायु के नोदन से ऊपर उठाया जाता है तब वही तेल अत्यन्त उज्ज्वल, प्रखर प्रकाश देने लगता है। वीर्य शक्ति ऊपर उठने से मन को जाग्रत् करती है, बुद्धि को प्रकाशमान करती है। सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाली अत्यन्त निर्मल बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। ऊपर उठती हुई वीर्यशक्ति प्रज्ञा को तेजस्वी बना देती है। तेज और ऊपर उठकर ओज में परिवर्तित हो जाता है। ब्रह्मरंध्र में पहुंचकर यह शक्ति त्रिकालदर्शिनी प्रज्ञा बन जाती है।

कुण्डलिनी-शक्ति वह शक्ति है जो तपस्या के द्वारा शक्तिमान से मिलना चाहती है। मानव शरीर का मेरुदण्ड एक मेरु (पर्वत) है। इसमें लगभग 30-32 अस्थियां एक के ऊपर एक टिकी हुई हैं। जैसे पर्वत पर शिलाओं पर शिलायें टिकी होती हैं। इस पर्वत के सहारे शक्ति (पार्वती) तपस्या करती हुई धीरे-धीरे ऊपर उठती है। इस कुण्डलिनी-शक्ति के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है। उस समय योगी जो अनहद नाद सुनते हैं वह शिव-पार्वती के विवाह के बाजे हैं। उस शिव की बरात में पंच महाभूत, भूतगणों के रूप में बराती बनकर आते हैं। समस्त देवता भी इस दृश्य का आनन्द लेते हैं और पुष्पवृष्टि करते हैं। यह प्रकृति-पुरुष का मिलन, शिव-शक्ति का संयोग, शिव-पार्वती का दिव्य विवाह एक आध्यात्मिक अलंकार एवं जीवन में सर्वोच्च साधनासिद्धि का सुन्दर चित्र है।

भारतीय विवाह में वर-वधू को यही आशीर्वाद दिया जाता है कि शिव-पार्वती के अखण्ड अविभाज्य मिलन के समान तुम्हारा सती-स्वामी का मिलन हो। अतः भारतीय विवाह संसार के सब कर्तव्यों की परिपूर्ति के साथ-ही साथ अन्त में सर्वोच्च पद प्रभुप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक साधना है। इसे विवाह के आठ प्रकारों में सर्वोच्च ब्राह्म-विवाह कहा जाता है। वसिष्ठ-अरुंधती, शिव-पार्वती, श्रीरामकृष्ण परमहंस एवं शारदा माता का विवाह ऐसी आध्यात्मिक साधना में परस्पर सहयोग करने वाला ब्राह्मविवाह ही था।

सबसे बड़ी पूंजी जो माता-पिता अपने बच्चों के लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़कर जा सकते हैं, वह है चरित्र की। यौनाचार में पवित्रता (Chastity)—जहां पश्चिम में विवाह कामवासना पर आधारित है वहां भारतीय विवाह सदाचार व सतीत्व पर आधारित है। ऐसे पावन गृहस्थाश्रम की वाटिका में ही महापुरुषरूपी फूल खिलते हैं—

पिता यस्य सदाचारी माता यस्य पतिव्रता।
कांचन कामिनीं दृष्ट्वा न तस्य चलति मनः।।

अर्थात् जिसके पिता सदाचारी हैं और माता पतिव्रता है ऐसे पवित्र दम्पती की जो संतान होगी उसका मन कांचन और कामिनी को देखकर चलायमान नहीं होगा। इसलिए सदाचारपूर्ण गृहस्थी सारी मानवता को चरित्रवान बनाने की कुंजी है। इसकी तुलना में पश्चिम की भौतिकवादी कामपरायण सभ्यता में जो कांचन और कामिनी की अंधी भूख, नंगा नाच नाच रही है उसका चित्रण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

पिता यस्य कदाचारी माता च पतिवंचिका।
कांचन कामिनी दृष्ट्वा तस्य हि चलति मनः।।

भारतीय संस्कृति धर्म और मोक्ष पर अधिक बल देती है तो पाश्चात्य सभ्यता अर्थ और काम पर ही अधिक बल देती है। भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम को उचित स्थान दिया गया है किन्तु उसे धर्म और मोक्ष के सिर पर नाचने की अनुमति नहीं दी गई। उन्हें धर्म के शासन में रहकर धर्म की सेवा करते हुए मोक्ष मार्ग में सहायक होना है। इसी दृष्टिकोण से पवित्र गृहस्थी मोक्ष की सुदृढ़ सीढ़ी बन जाती है।

संस्कार

गृहस्थाश्रम ही समाज में चारित्र्य-पावित्र्य एवं स्थायित्व का आधार है। बच्चे सदाचारी माता-पिता से चारित्र्य के संस्कार पाते हैं। वे पवित्र विचार और पवित्र आचार अपने बड़ों से ही सीखते हैं। इस दृष्टिकोण से जहां सदाचारी माता-पिता अपनी भावी संतानों को सदाचार का संस्कार देकर समाज, राष्ट्र और विश्व मानवता का सुन्दर निर्माण करते हैं वहां कामुक एवं स्वार्थी माता-पिता अपनी भावी संतानों को चोर, लम्पट, ठग एवं कदाचारी बनाने का सामाजिक पाप कर रहे हैं।

A family is the noblest cradle of all social and moral virtues.

एक परिवार समस्त सामाजिक एवं नैतिक सद्गुणों के शिक्षण का सबसे श्रेष्ठ पालना है। मनुष्य जब संसार में आता है तब अपने साथ पशुप्रवृत्तियों को लेकर आता है। ये पशुप्रवृत्तियां मनुष्य की प्रकृति है। यदि किसी भी जीवित वस्तु को उसकी प्रकृति पर छोड़ दिया जाता है तो वह विकृति की ओर ले जाती है। इसलिए उसका परिष्कार करना उसकी संस्कृति की आवश्यकता होती है—

संस्काराः परिष्कारः मानवमानसशोधकाः।
तेषां परम्परा श्रेष्ठा संस्कृतिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् मानव मन का परिष्कार एवं शोधन करने वाले जितने भाव या कार्य हैं वे सब संस्कार कहलाते हैं। उन्हीं संस्कारों की दिव्य परम्परा का नाम संस्कृति है।

क्योंकि प्रत्येक मानव का जन्म किसी न किसी परिवार में होता है इसलिए उसके संस्कारों की शृंखला भी परिवार से प्रारम्भ हो सकती है। सबसे प्रथम माता-पिता द्वारा उत्तम संतान के लिए पवित्र संकल्प पुंसवन संस्कार कहलाता है। माता-पिता के संकल्प की छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। माता कुंती ने पुत्र प्राप्ति के लिए जैसा-जैसा संकल्प किया वैसे-वैसे गुणों वाले पुत्र प्राप्त किए। माता जीजाबाई ने अपने पवित्र दृढ़संकल्प के आधार पर शिवाजी जैसा धर्मरक्षक वीर पुत्र प्राप्त किया तथा बाद में शैशव के संस्कारों से उसका समुचित विकासकर इतिहास परिवर्तन का चमत्कार कर दिखाया।

महाराष्ट्र के एक गांव में एक छोटी-सी बच्ची खेल रही थी। अकस्मात् कुछ यवन सैनिक एक मन्दिर को तोड़ने के लिए पहुंचे। उस नन्ही बच्ची ने प्रतिरोध किया। सैनिकों ने बच्ची का उपहास कर उसे एक तरफ हटा दिया और मन्दिर गिराने के लिए हथौड़ा चलाने लगे। बच्ची पुनः डटकर खड़ी हो गई। उसने कहा, पहले मेरे सिर पर हथौड़ा चलेगा फिर देवता के मन्दिर को छू सकोगे। मैं जीते-जी मन्दिर को गिराने नहीं दूंगी। देवता ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो मन्दिर को गिराने का दुष्ट प्रयास कर रहे हो? उन दिनों मन्दिर प्रतिदिन गिरते थे। रोज-रोज ऐसे दृश्यों को देखकर लोगों की संवेदना के तंतु प्रायः मर चुके थे। उन्हें अनुभव ही नहीं होता था कि कोई विशेष घटना घटित हो रही है। किन्तु बच्ची वह सब सहन न कर सकी। कुछ देर पश्चात् उसके माता-पिता को सूचना मिली और वे उसे खींचकर घर ले गए और उसकी इच्छा के विरुद्ध सैनिकों से संघर्ष को रोकने हेतु उसको एक कमरे में बंद कर दिया। बच्ची कमरे की खिड़की से देवालय गिरने का वह असह्य दृश्य देख रही थी तथा वहीं से दांत पीसकर आंसू बहाती हुई सैनिकों को चेतावनी दे रही थी कि तुम्हें इस पाप का दण्ड देकर रहूंगी। सैनिक बच्ची की मजबूरी पर हंसते थे। यह नन्ही बच्ची हमारा क्या बिगाड़ लेगी! किन्तु उस नन्ही बच्ची ने बचपन में जो संकल्प किया और उसी संकल्प की पूर्ति हेतु विवाह होने पर अपनी माता शिवा भवानी से प्रार्थना की कि मेरे अरमानों को पूरा करने वाला एक धर्मरक्षक पुत्र प्रदान करो। उस बच्ची जीजाबाई के पवित्र और दृढ़ संकल्प से ही सदा विजयी छत्रपति शिवाजी जैसा महान् इतिहास निर्माता वीर प्रकट हुआ।

सुभद्रा के गर्भ में बालक अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदन का रहस्य जान लिया। माता-पिता के संतानोत्पत्ति के संकल्प में मनोवैज्ञानिक शक्ति है जिसका प्रमाण इतिहास में बार-बार मिलता है। इसलिए पवित्र गृहस्थाश्रम में दम्पती के पवित्र संकल्प से उत्पन्न संतान तथा नाइट क्लबों, व्यभिचार भवनों या कामवासना पूर्ति के भोग विलास के क्षणों से उत्पन्न संतान में देव और दानव का अन्तर अनिवार्य है।

भारतीय संस्कृति की परम्परा पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र-प्रपौत्र में, गुरु से शिष्य, शिष्य से प्रशिष्य आदि में जन्म से मरणपर्यन्त किंवा मरणोत्तर तक में चलती रहती है। शिशु के जन्म पर जातकर्म संस्कार किया जाता है। बच्चे की जिह्वा पर सोने की सलाई से मधु के द्वारा ओम् या राम लिखा जाता है। उस अबोध शिशु के संस्कारक्षम मन पर कुछ अच्छे संस्कार डाले जाते हैं जिनका परिणाम भावी जीवन में जाकर प्रकट होता है। बच्चे का अन्नप्राशन संस्कार भी पवित्र धार्मिक कृत्य है, मात्र शरीररूपी पशु की अन्न की भूख नहीं है। बच्चे को चोला या वस्त्र पहनाना भी संस्कार है। गीता में भगवान् ने शरीर की भी वस्त्र से उपमा दी है। जिस प्रकार आत्मा ने शरीररूपी वस्त्र धारण किया है उसी प्रकार शिशु का शरीर लोकव्यवहार के लिए वस्त्र धारण करता है। जिस प्रकार वस्त्र मैला-कुचैला होने पर बदल दिया जाता है उसी प्रकार शरीररूपी वस्त्र के जीर्ण-शीर्ण, फटा-पुराना या पापपंकिल होने पर इसे बदल दिया जाता है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। 2/22, गीता

चोला पहनने और चोला बदलने की इस सरल शारीरिक क्रिया में भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा तत्त्वदर्शन छिपा हुआ है।

(क) शरीर एक चोला है जो प्रभु कृपा से मिला है। चोले को स्वच्छ, साफ-सुथरा और पवित्र रखने, चोले का उचित मान-सम्मान रखने में हमारा अपना ही मान-सम्मान है। हम चोले की मर्यादा रखेंगे तो चोला हमारी मान-मर्यादा की रक्षा करेगा। इसलिए चोले को कुसंस्कारों की मैल से तथा पाप के पंक से यथाशक्ति-यथासम्भव बचाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(ख) चोला साधन है, साध्य नहीं। जैसे शरीररक्षा के लिए चोला पहना जाता है और पहनकर कुछ दैनिक कर्तव्य पूरे किये जाते हैं, इसी प्रकार शरीर रूपी वस्त्र को साधन मानकर जीवन के समस्त कर्तव्यों को पूरा करना चाहिए।

(ग) वस्त्र की सफाई अधिक महत्त्वपूर्ण है और सुन्दरता, श्रृंगार, सजावट आदि गौण है। इसी प्रकार इस शरीर रूपी वस्त्र का स्वस्थ, स्वच्छ और पवित्र रहना अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसको सजाना-संवारना, श्रृंगार करना, आकर्षक बनाकर अहंकार से दर्पण में देखकर दर्प का बढ़ना गौण महत्त्व का है।

स्वस्थ, निरोग, पवित्र शरीर वाला व्यक्ति चाणक्य या सुकरात के समान अधिक सुन्दर न होने पर भी किसी सुन्दर सजे-संवरे, बढ़िया वस्त्रालंकारों से विभूषित, सौन्दर्य के दर्प में अंधे हुए रोगी, कुकर्मी, अपवित्र आचरण वाले किसी रावण, दुर्योधन, सांडर्स, साइमन, हिटलर, इचमैन, याहिया खां की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

(घ) जिस प्रकार नाटक में पात्रों को जो-जो चोला दिया जाता है उन्हें उस-उस चोले के अनुरूप अपना अच्छे से अच्छा अभिनय प्रस्तुत करना होता है। राजा हरिश्चन्द्र का चोला पहनकर हरिश्चन्द्र के अनुरूप ही अभिनय करना होगा। भिखारी का चोला पहन कर भिखारी जैसा अभिनय, राजा का चोला पहनकर राजा जैसा अभिनय, राम का चोला पहनकर राम जैसा अभिनय और रावण का चोला पहनकर रावण जैसा अभिनय करके संसाररूपी नाटक को अच्छी प्रकार से सफल बनाना होगा। यदि चोला हनुमान का पहना हो और अभिनय हनुमान के अनुरूप न हो तो सारा नाटक ही बिगड़ जाएगा। मुजफ्फरनगर में रामलीला में हनुमान का अभिनय करने वाला व्यक्ति एक दिन अचानक बीमार हो गया। रामलीला को चालू रखने के उद्देश्य से एक उसी के समान मोटा-ताजा व्यक्ति खोजकर लाया गया और उसे जल्दी-जल्दी अभिनय का प्रशिक्षण देकर हनुमान का वेश पहनाकर मंच पर चढ़ा दिया गया। जब वाटिका उजाड़ने के उपरान्त हनुमानजी को बंदी बनाकर रावण के दरबार में प्रस्तुत किया गया तब दशशीश वाले ऊंचे सिंहासन पर बैठे हुए रावण ने तलवार निकालकर बड़े रोष से झपटते पूछा—बोल बन्दर, तू कौन है? तब हनुमान बना हुआ नया पात्र कांपने लगा और हाथ जोड़कर बोला, अजी, मैं तो झण्डी हलवाई हूं। इससे सारी रामलीला का रस भंग हो गया। इसलिए मानव का चोला पहनकर सच्चे मानव का ही अभिनय करना चाहिए। मानवता से भिन्न अभिनय करने से संसार के रंगमंच पर जीवन की लीला का रस भंग हो जाएगा और हमें उपहास एवं तिरस्कार का पात्र बनना पड़ेगा।

(ङ) रंगमंच पर आते समय हमें जिस निर्देशक ने चोला दिया और जो प्रशिक्षण देकर जैसा आचरण करने के लिए कहा और रंगमंच पर आ जाने के पश्चात् भी वह निर्देशक पर्दे के पीछे छिपा हुआ हमें संकेतों द्वारा तथा बहुत ही मंदवाणी में मार्गदर्शन (Prompting) कर रहा है। उसके प्रशिक्षण, आदेश, निर्देश और संकेत के अनुसार ही हमें अभिनय करना चाहिए। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर भेजने के पूर्व मानव का चोला देते समय प्रभु ने जो शिक्षा, आदेश, निर्देश दिए और रंगमंच पर उतर जाने के पश्चात् भी वह प्रभु सारी सृष्टि के नाटक का निर्देशक बना, हमारे अन्तःकरण में बैठा हुआ अन्तर्यामी दुनिया की दृष्टि में छिपा हुआ पर्दे की ओट से मंदवाणी में अपने संकेतों द्वारा हमारा मार्गदर्शन कर रहा है। उसी के निर्देशन के अनुसार संसार में कर्तव्यों को अभिनीत करना चाहिए।

(च) यदि कोई पात्र निर्देशक के निर्देश के विपरीत अभिनय करने लगता है और निर्देशक के बार-बार संकेत करने पर भी, पर्दे के पीछे से बार-बार बोलने पर भी, वह विपरीत अभिनय नहीं त्यागता तो निर्देशक को बाध्य होकर नाटक के

बीच में पर्दा गिरा कर उस पात्र को जबरदस्ती हटाना पड़ता है। इसी प्रकार जो मानव का चोला पहनकर प्रभु के संकेतों, आदेशों को न मानकर बार-बार विपरीत अभिनय करते हैं उन्हें अकस्मात् मृत्यु का काला पर्दा डालकर प्रभु संसार के रंगमंच से ठोकर मारकर हटा देते हैं।

(छ) नाटक में जिसे बाली या सुग्रीव का अभिनय करने का दायित्व मिला हो उसे अपना अभिनय प्रामाणिकता के साथ करना चाहिए। हो सकता है कि नाटक में बाली का अभिनय ही सर्वोत्तम हो जाए और उसे प्रथम पुरस्कार मिले। बाली नाटक में सुग्रीव को सताने वाला और राम के बाण से मरने वाला एक खलनायक (पात्र) है। नाटक में उसे कार्य तो बढ़िया नहीं मिला किन्तु जो भी कार्य मिला उसको निभाया बहुत सुन्दर ढंग से, इसलिए अभिनय का प्रथम पुरस्कार उसे मिल गया। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर रविदास को काम तो पशु की खाल उतारने का, जूता गांठने का शूद्रकर्म मिला। कबीर को जुलाहे का कर्म मिला। गौरा कुम्हार का कार्य करता था, दादू धुनिया था। महाभारत में वर्णित धर्मव्याध और मध्यकाल में प्रसिद्ध भक्त सदना कसाई था। किन्तु उन्हें रंगमंच पर घटिया भूमिका मिलने पर भी उन्होंने उसका अभिनय इतने सुन्दर ढंग से किया कि वे संसार में पूज्यपुरुष बन गये। इसकी तुलना में रावण ब्राह्मण की संतान होते हुए भी राक्षसकर्म करने लगा। गंगू ब्राह्मण ने गुरु गोविन्दसिंह से विश्वासघातकर उनके नन्हे बच्चों को सरहिंद के नवाब को दीवार में चुनने के लिए सौंप दिया। मानसिंह ने क्षत्रिय होते हुए देश और धर्म से द्रोह किया। इसलिए महत्त्व भूमिका से भी अधिक अभिनय का है। इसी प्रकार वर्ण और जाति से भी अधिक महत्त्व आचरण का है।

(ज) यदि नाटक में कोई व्यक्ति सुशील कुमार बाली का अभिनय कर रहा था और उसे उत्तम अभिनय के लिए प्रथम पुरस्कार के रूप में 500 रु. का चेक दिया गया तो वह राशि बाली के खाते में नहीं जाएगी। बाली तो एक बार रामायण काल में मर चुका और अभी राम के हाथ से मारा गया। इसलिए पुरस्कार लेने के लिए बाली सामने कहां से आएगा? किन्तु बाली का चोला पहन कर जिस सुशील कुमार ने अभिनय किया वह पुरस्कार लेने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। पुरस्कार की राशि बाली के खाते में न जाकर सुशील कुमार के खाते में ही जाती है। इसी प्रकार मानव का चोला धारण कर हम जो भी अभिनय करते हैं उसका पुण्य यश शरीर-रूपी चोले को न मिलकर चोला धारण करने वाली आत्मा को ही मिलता है। जैसे बाली का चोला छूट जाने पर भी उसके अभिनय को करने वाला यशस्वी हुआ, उसी प्रकार संसार के रंगमंच पर मानव शरीर के चोले को धारणकर जिन सज्जनों ने पुण्यकृत्य किए उनके शरीर छूट जाने पर भी उस पुण्य से उनकी आत्मा यशस्वी हुई।

(झ) जैसे रामलीला होने से पहले भी मंच खाली था और रामलीला समाप्त हो जाने पर भी मंच खाली हो जाता है। मंच पर अनेक लीलायें खेली जाती हैं। लीलायें बदलती रहती है, मंच स्थिर रहता है। उसी प्रकार शरीर आते-जाते रहते हैं और आत्मा निर्विकार रूप से स्थिर रहता है। लीला होकर होने वाली है अर्थात् होती है, परिवर्तित होती है, पुनः होती है। किन्तु मंच होकर होने वाला नहीं। आकाश में बादल भी होकर होने वाले हैं अर्थात् वे हलके बादल से, घनीभूत बादल से, काले बादल, घूमते-फिरते बादल, वर्षा करने वाले बादल, वर्षा करके लुप्त हो जाते हैं। फिर पुनः बनते हैं पुनः घनीभूत होते हैं, पुनः बरसते हैं, पुनः लुप्त हो जाते हैं। किन्तु आकाश को न काला कर सकते हैं न गीला। उसी प्रकार अनेकानेक शरीररूपी चोलों को धारण करने वाला यह आत्मा न जन्मता है, न मरता है। न होकर होने वाला है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20, गीता

दर्शन में सत्ता के दो स्तर हैं—

(1) स्वयंभू सत्ता (Being)—अस्ति। जो अपने आप में सदा सर्वदा विद्यमान है। अपरिवर्तनीय है। जैसे आत्मा है।

(2) परिवर्तनशील सत्ता (Becoming)—भवति। विश्व की प्रत्येक वस्तु होकर होने वाली है अर्थात् वह होती है, बनती है, विकसित होती है, विकारी होती है, बिगड़ती है, मिटती है। और पुनः होती, बनती, बिगड़ती है, मिटती है। शरीर होकर होने वाला है। किन्तु आत्मा होकर होने वाला नहीं।

आत्मा अस्ति न भवति, देहः नास्ति, केवलं भवति।

इसी को वेद की शब्दावली में 'आभु' और 'अम्व' का अन्तर बताया गया है।

आभु = आ समन्तात् भवतीति (भवति इति) आभु अर्थात् जो सर्वथा परिपूर्ण, देश और काल में सर्वत्र व्यापनशील है, वह सत् तत्त्व 'आभु' है। इसे विभु भी कहा जाता है। आत्मा या ब्रह्म आभु है।

अम्व = भूत्वा-भूत्वा पुनर् भवति इति अभूवम्। जो हो-हो कर पुनः होता है वह परिवर्तनशील सत्ता 'अम्व' है। इसे वेद में तुच्छ या क्षुद्र भी कहा गया है। सारी प्रकृति और देहादि अम्व, तुच्छ या क्षुद्र है। यह परिवर्तनशील, विकारी और विनाशी है। किन्तु इसी तुच्छ ने आभु को ढक रखा है। ऋग्वेद में कहा है—

तुच्छेन आभु अपिहितम्।

परिवर्तनशील जगत् ने अपरिवर्तनीय परम सत्ता को ढक रखा है। इसी को शुक्ल यजुर्वेद के ईशोपनिषद् में कहा गया है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

अर्थात् सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। वैभव ने विभु को ढक लिया है। ऐश्वर्य ने ईश्वर को छिपा दिया है। माया ने महेश्वर पर पर्दा डाल दिया है। आत्मा पर देहरूपी पर्दा ही पड़ा हुआ है।

'दिह्यति इति देहः'

अर्थात् जो सद्वस्तु को ढक दे वही देह है। चोले ने व्यक्ति को ढक दिया है। बाली के मुखौटे और वेश-भूषा ने वास्तविक कलाकार सुशील कुमार को ढक दिया है। भूमिका ने पात्र को ढक दिया है।

(ञ) उत्तम नाटक की विशेषता यही है कि वह चोले से व्यक्ति को ऐसा ढक दे कि दर्शक पहचान न सके। अभिनय से पात्र ऐसा छिप जाए कि लोग भेद न जान सकें। जब नाटक के पात्रों के साथ दर्शक का साधारणीकरण हो जाता है तब नाटक का रस आने लगता है। दर्शक भूल जाता है कि वह कलयुग में अपने गांव या नगर में बैठा हुआ एक पण्डाल या हॉल में रामलीला को देख रहा है। वह चोले और अभिनय के चमत्कार से वर्तमान देश-काल को भूलकर रामायण के देश-काल की कल्पना में विहार करने लगता है। तथा लक्ष्मण की बेहोशी और मेघनाथ वध पर दुःख-सुख अनुभव कर आंसू और मुसकान प्रकट करने लगता है।

इसी प्रकार प्रभु के जगत्रूपी नाटक के चोले ने आत्मा को ऐसा ढक दिया है कि चोला सत्य प्रतीत होता है और इसी की लीला के आंसू और मुसकान के भाव प्रकटकर हंसते-रोते रहते हैं।

(ट) रंगमंच पर जब राम की भूमिका में अभिनय करने वाला पात्र जटा धारण किये हुए, धोती-यज्ञोपवीत एवं धनुषबाण धारणकर कान तक धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर रावण की भूमिका वाले पात्र की छाती में कसकर तीर मारता है और रावण मृत्यु चीत्कार करता हुआ धराशायी हो जाता है तब दर्शक प्रसन्नता से करतल ध्वनि करते हैं। किन्तु राम की भूमिका वाला पात्र रावण को मारने का अभिनय करते हुए भी जानता है कि वास्तव में यह मात्र लीला है वास्तविक घटना नहीं। और रावण का मुखौटा पहना हुआ व्यक्ति भी जानता है कि यह मरने की लीला मात्र है वास्तविक मरना-मारना कुछ नहीं है। पर्दे के पीछे राम एवं रावण की भूमिका वाले दोनों पात्र परस्पर में आलिंगन करते हैं। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर जो लोक व्यवहार की लीला चल रही है उसमें बाल बुद्धि वाले अज्ञ पुरुष इस लीला को ही सत्य मानकर हंसते-रोते रहते हैं। किन्तु ज्ञानी पात्र ही जानते हैं कि वास्तव में मरना-मारना लीला मात्र है, वास्तविकता नहीं। और विचारवान दर्शक भी जानते हैं कि श्रवण कुमार की मृत्यु वास्तव में नहीं हुई। दशरथ का देहांत

और लक्ष्मण की बेहोशी सब लीला मात्र है, वास्तविक घटनायें नहीं। इसलिए वे प्रिय और अप्रिय दोनों दृश्यों में समबुद्धि रहकर मंद-मंद मुस्कराते हुए तमाशा देखते रहते हैं और अपना लौकिक कर्तव्य भी निभाते रहते हैं। भारतीय दर्शन जीवन को घटना न मानकर कर्तव्यों की लीलाभूमि मानता है। विचारवान व्यक्ति जानता है कि नाटक में मरने वाले श्रवण की मृत्यु पर सम्वेदना से आंखें गीली भले ही हो जाए किन्तु वह लीला मात्र होने के कारण वास्तविक शोक का प्रसंग नहीं है। क्योंकि वह मरना नहीं, मरने की लीला का अभिनय है। घटना को हम सत् मान लेते हैं किन्तु लीला सत्य जैसी दिखती हुई भी वास्तव में विवेक विचार से सत् नहीं मानी जाती। इसलिए लीला के शोक प्रसंगों पर भी सहानुभूति एवं स्वानुभूति Sympathy and empathy के आंसू बहाकर भी नाटक में रस और आनन्द मिलता है। घटना का शोक वास्तविक होता है, उस शोक में बहाए जाने वाले आंसू मन को व्यथित और चिन्ता-मग्न कर अधमरा-सा बना देते हैं। किन्तु लीला में शोक एवं करुणा के प्रसंगों पर हम आंसू बहा लेते हैं और कहते हैं इस दुःखान्त नाटक को देखने से बड़ा आनन्द आया। गांठ के पैसे लगाकर और अपना मूल्यवान समय लगाकर अपने नेत्रों से आंसू बहाकर भी हम कहते हैं कि आनन्द आया। इसका कारण क्या है? घटना और लीला में यही अन्तर है। जब हम जीवन को वास्तविक घटना मान लेते हैं तब उसके दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होते हैं किन्तु जब इसे भगवत्-लीला अथवा भगवान् की इच्छानुसार अपनी कर्तव्य-लीला मान लेते हैं तब इसके प्रत्येक लीला प्रसंग से आनन्द रस टपकने लगता है। इसलिए भगवान् के सब चरित्रों को लीला कहा गया। जैसे जन्म लीला (भगवान् अजन्मे होते हुए भी जन्म की लीला कर रहे हैं), पूतनासंहार लीला (घटना में जिसे हत्या Murder कहा जाएगा विचारवान की दृष्टि में संहार लीला), गोचारन लीला, माखनचोरी लीला, चीरहरण लीला, कृष्ण लीला, रासलीला, नागनथन लीला, कंससंहार लीला आदि। इस प्रकार सारी सृष्टि ब्रह्म की मधुर लीला ही है। घटना राग-द्वेष से प्रेरित होकर होती है किन्तु लीला बिना राग-द्वेष के शुद्ध आत्मानन्द के लिए होती है। घटना मन पर बोझा डालने वाली होती है। नौकरी का बोझा, मजदूरी का बोझा, मजबूरी का बोझा, पारिश्रमिक का बोझा, हर्ष-शोक का बोझा, दण्ड का बोझा आदि। लीला घटना की अपेक्षा अधिक विकट होते हुए भी लीलाकर्म मन को बोझे से मुक्त कर आनन्द देने वाला बन जाता है। किसी बालक को बाजार से 10 सेर आटा लाने के लिए कहा जाए तो वह बोझा मानकर ही कतराता है। किन्तु खेल के मैदान में मण, आधा मण का भार उठाकर व्यायाम करता है। दौड़ लगाता है। भारी सामान पीठ पर लादकर पहाड़ी पर खुशी-खुशी चढ़ता है। घटना बोझिल है, खेल या क्रीड़ा (लीला) मानसिक बोझ से मुक्त करने

वाली होती है। भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि युद्ध में मरने-मारने के भय से न कर्तव्य छोड़ो और न शोक करो। क्योंकि वास्तव में—

'नायं हन्ति न हन्यते।'

'वास्तव में आत्मा न किसी को मारता है न मारा जाता है।' अतः स्वयं के मरने का भय नहीं और दूसरे के मरने का शोक नहीं।

यदि आत्मा न मरता है और न मारता है, तब निम्नलिखित शंकायें पैदा हो सकती हैं—

(क) मरने-मारने के झंझट में युद्ध अथवा संघर्ष में पड़े ही क्यों? अर्जुन भगवान् से यही प्रश्न करता है कि यदि कर्म (युद्ध) से ज्ञान (आत्मज्ञान) ही श्रेष्ठ है तो मुझे घोर कर्म (युद्ध) में आप क्यों लगा रहे हो।

(ख) यदि सब में आत्मा (मैं) ही छिपा बैठा है या नारायण ही विराजमान है तो मुहम्मद गोरी, गजनवी के अत्याचारी आक्रमण का प्रतिरोध क्यों करें? वे भी नारायणरूप हैं।

(ग) यदि आत्मा न मरता है न मारता है तो न्यायालय में लाखों यहूदियों का हत्यारा Eachman कह सकता है कि मारना, मरना झूठ है। वास्तव में मैं (आत्मा) किसी को मारता ही नहीं और मार सकता भी नहीं यानी कोई व्यक्ति मेरे द्वारा मारा जा सकता ही नहीं।

(घ) देश विभाजन के समय दंगों में बहुत से हिन्दू-सिक्ख गांधीजी के पास अपना दुःख रोने के लिए आए और कहा, मुसलमान हमारी मां-बहनों की इज्जत लूट रहे हैं और लाखों हिन्दुओं का कत्लेआम कर दिया है। तो गांधीजी अपने भोले भाव में कहते हैं कि हिन्दू धर्म यह मानता है कि आत्मा अमर है। केवल शरीर ही मरता है जो कि मिथ्या है। इसलिए इसमें क्या अन्तर पड़ता है कि हिन्दू अपने घर में रोग से मरे या मुसलमान के छुरे से मरे? आत्मा तो अमर ही है। इसी से क्रुद्ध होकर कुछ नवयुवकों ने गांधीजी पर घातक प्रहार का षड्यंत्र रचा।

कुछ लोग भगवद्गीता को युद्धशास्त्र अथवा हिंसासमर्थक संगीत कहते हैं। उनका तर्क है कि अर्जुन युद्ध से उपराम होकर क्षत्रिय के कर्तव्य से भी श्रेष्ठ ब्राह्मण के कर्तव्य को करने को प्रस्तुत था। शान्ति के श्रेष्ठ कर्तव्य से हटाकर अर्जुन को पुनः हिंसा के कर्म में लगाना निश्चय ही युद्ध और हिंसा का ही प्रचार है। पर वास्तव में गीता युद्धशास्त्र न होकर कर्मयोग शास्त्र है। युद्ध भी एक कर्म है। यह संयोग की बात है कि अर्जुन क्षत्रिय है। धर्मयुद्ध करना उसका कर्तव्य कर्म है और गीतोपदेश की पृष्ठभूमि तथा उपदेश का रंगमंच एक महायुद्ध के महासमर का रणक्षेत्र है। किन्तु इस विशिष्ट पृष्ठभूमि में अति भयानक प्रतीत होने वाली देश-

काल, पात्र-परिस्थिति में भी ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र का समन्वित संदेश दिया जा सकता है। यही गीता ज्ञान की विशेषता है।

We have a singing and ringing philosophy हमारा गीता दर्शन संगीत के गुणों से तरंगायमान है। युद्ध में मानव मन की लड़ने और संघर्ष करने की प्रवृत्ति कार्यशील होती है। परिणामस्वरूप उसका क्रोध का संवेग भड़क उठता है। क्रोध में अपने आपको नियंत्रण में न रख सकने के कारण प्रबल रोष एवं जोश में, क्रोध के पागलपन में, क्रोध के कारण सामने वाले व्यक्ति अथवा जनसमूह पर प्रहारकर उन्हें चोट पहुंचाने, क्षति पहुंचाने अथवा इससे भी आगे बढ़कर उन्हें जान से मारने पर मनुष्य तुल जाता है। व्यक्तिगत रूप में इसे हत्या या हत्या का प्रयास कहा जाएगा और सामूहिक रूप से इसे युद्ध कहा जाता है। युद्ध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही है Instinct of pugnacite (लड़ने की प्रवृत्ति), Emotion of anger—wild rage=(पाशविक क्रोध), Physical assault (शरीर रूप में आक्रमण करना) Killing—mass killing battle = war.

गीतोपदेश से पहले की महाभारत की कथा से स्पष्ट होता है कि युद्ध का सारा उत्तरदायित्व अत्याचारी कौरवों पर ही था, पांडवों पर नहीं। कौरवों की अन्याय, अत्याचार, लोभ-लूट की प्रवृत्ति ही सारे भीषण युद्धकाण्ड का मूल कारण बने। राज्य पांडु का था और उसके वैध उत्तराधिकारी पांडव ही थे। राजा पांडु ने मरते समय अपने अंधे भाई धृतराष्ट्र को तब तक के लिए राज्य का संरक्षक बनने को कहा था जब तक युधिष्ठिर राजतिलक के लिए वयस्क नहीं हो जाते हैं। किन्तु धृतराष्ट्र संरक्षक के स्थान पर सम्भक्षक बन गया। वह राष्ट्र को अपने व्यक्तिगत लोभ के पंजे के नीचे धर-पकड़कर बैठ गया। वह धृतराष्ट्र बन गया और राष्ट्र के वास्तविक स्वामी पांडव हृतराष्ट्र बन गए। वास्तविक उत्तराधिकारियों को विष देकर मारने, धोखे के पासे फेंककर राज्य लूटने, उनको माता सहित लाक्षागृह में जलाने, भरी सभा में भाभी को वस्त्रहीनकर अपमानित करने, उन्हें 12 वर्ष का वनवास देने और वनवास और अज्ञातवास-काल में भी जान से मारने का दुष्ट प्रयास धृतराष्ट्र (पुत्रों) की ही काली करतूतें थी। अत: लोभवृत्ति के साथ लड़ने की प्रवृत्ति भी उन्हीं की ही प्रबल थी। एक तो चोरी और ऊपर से सीनाजोरी! प्रकृति ने मानव को जो लड़ने की मूल प्रवृत्ति दी है वह निरुद्देश्य नहीं दी है। उसका जीवनरक्षा एवं सत्त्वरक्षा के लिए महत्त्व है। जब कोई आततायी किसी दुर्बल जीव को लूटने या मारने के लिए आता है तब भयाक्रान्त जीव की प्रतिरक्षा के हेतु से लड़ने की प्रवृत्ति जाग उठती है। वह क्रोध में भरकर आततायी को ललकारता है। उस क्रोध के आवेग में उसकी सोयी हुई शक्ति जाग उठती है और बहुत बार बलवान आततायी भी दुर्बल व्यक्ति या अबला नारी की सत्त्वरक्षा के लिए प्रकट

क्रोध से हतप्रभ हो जाता है। सज्जन व्यक्ति अपनी इस लड़ने की प्रवृत्ति का न्याय नीति की रक्षा के लिए सदुपयोग करता है और दुर्जन व्यक्ति अन्याय और अनीति करने के लिए इसका दुरुपयोग करता है। अतः यदि युद्ध की बला सिर पर आ ही पड़े तो अन्याय-अनीति के सामने घुटने टेक देना एक बहुत बड़ा अनैतिक कर्म होगा। क्योंकि इससे अत्याचार को बढ़ावा ही मिलेगा। अन्याय करना पाप है तो अन्याय सहना महापाप है। इसलिए अन्य सब उपाय व्यर्थ हो जाने पर अन्याय का प्रतिकार (आततायी को दण्ड) अथवा युद्ध करना धर्म है। नहीं तो न्याय, धर्म, नैतिकता पर विश्वास उठ जाएगा और समाज अनीति पर चलकर नष्ट होगा। देवों के अंश से उत्पन्न धर्मात्मा पांडव और जिनके साथ स्वयं भगवान् हैं उन्हें ही न्याय मिला नहीं तो हम भला किस खेत की मूली हैं? अतः धर्म न्याय पर लोगों की निष्ठा ही उठ जाएगी और धीरे-धीरे पूरा समाज अनीति पर चलकर सर्वनाश को प्राप्त हो जाएगा। इस विषय में भगवान् मनु राजा का कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहते हैं—

गुरु वा बालवृद्धो वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।। मनु स्मृति

भले ही वह गुरु हो, एक बालक हो या वृद्ध ब्राह्मण हो अथवा बहुपाठी विद्वान्। लेकिन यदि वह आततायी के रूप में आता है तो बिना किसी हिचक के उसका वध कर देना चाहिए।

यदि कोई पूछे कि आततायी के लक्षण क्या हैं तो वसिष्ठ स्मृति (3/16) उत्तर देते हुए कहती हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः।।

आग लगाने वाला, जहर देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने आने वाला, धन लूट लेने वाला, जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर लेने वाला तथा पत्नी का अपहरण करने वाला—ऐसे छः प्रकार के आततायी होते हैं।

ये सारे लक्षण कौरवों में चरितार्थ हैं। अतः ऐसे आततायी दुष्ट को दण्ड देना धर्म है, अधर्म नहीं। अहिंसा है, हिंसा नहीं। इसीसे समाज में अहिंसा प्रतिष्ठित रहती है। अतः महाभारत का महायुद्ध पापी कौरवों द्वारा धर्मात्मा पांडवों पर थोपा गया युद्ध था जो कौरवों ने किया। पांडवों ने युद्ध टालने के सब उपाय समाप्त हो जाने पर भगवान् एवं माता के आदेश से आत्मरक्षार्थ धर्मयुद्ध किया।

गीता धर्मशास्त्र है, युद्धशास्त्र नहीं। धर्मरक्षार्थ अन्य सभी उपाय विफल हो जाने पर धर्मयुद्ध करना भी धर्म के अन्तर्गत है, युद्ध के अन्तर्गत नहीं।

(क) युद्ध में महत्ता युद्ध की ही होती है। उसमें हेतु स्वार्थ, लोभ या अहंकार होता है। धर्मयुद्ध में महत्ता धर्म की होती है। युद्ध उसके लिए एक अन्तिम अप्रिय साधन रूप है।

(ख) युद्ध स्वार्थप्रेरित होकर किया जाता है, धर्मयुद्ध न्याय नीति की रक्षा के लिए निःस्वार्थ भाव से किया जाता है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। 2/38, गीता

'सुख और दुःख को, लाभ और हानि को, जय और पराजय को समान समझ और युद्ध के लिए तैयार हो जा। तब तुझे पाप नहीं लगेगा।'

(ग) युद्ध वैरभावना से होता है। धर्मयुद्ध मित्र-शत्रु, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि, सुख-दुःख को समान समझकर शुद्ध कर्तव्यभावना से होता है।

(घ) युद्ध और धर्मयुद्ध में अन्तर वैसा ही है जैसा एक छुरेबाज के पेट काटने में और एक शल्य चिकित्सक के पेट चीरने में अन्तर है। हत्यारा हत्या कर्म को ही प्रमुख मानता है और प्राणहानि ही उसका उद्देश्य है। किन्तु सर्जन रोगी की प्राणरक्षा के उद्देश्य से अन्य सब उपाय निष्फल हो जाने पर बाध्य होकर छुरे द्वारा पेट को काटने का अप्रिय एवं अनिवार्य साधन अपनाता है। साध्य स्वास्थ्य और साधन शल्यचिकित्सा है। छुरेबाज हत्यारे को कठोर दण्ड मिलता है किन्तु ऑपरेशन करने वाले शल्य चिकित्सक को पुरस्कार मिलता है। जिस प्रकार मानव शरीर में मस्तिष्क का कार्य विचार करना, भुजाओं का कार्य रक्षा करना, पेट का कार्य अन्नग्रहण एवं पाचन करना, पांव का कार्य आवागमन एवं सेवा करना है। इसी प्रकार समाज के शरीर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन सबके परस्पर सहयोग की व्यवस्था से समाज चल सकता है अन्यथा नहीं। इसी भाव को वेद के मंत्र में चारों वर्णों को एक ही विराट्पुरुष ब्रह्म के अंगों के रूप में दर्शाया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत।।

अर्थात् एक ही ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, मध्य भाग से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। यह हमारी वर्णव्यवस्था प्राकृतिक एवं ईश्वर निर्मित है। किसी पण्डा-पुरोहित द्वारा निर्मित नहीं। इसमें परस्पर सहयोग और एकात्मता का भाव है, जात-पांत के भेदभाव का नहीं।

मस्तिष्क पूरे शरीर के हित के लिए विचार करता है। यदि वह अपना मस्तिष्क का कार्य (विचार करना) छोड़कर पेट का कार्य भोजन करना और पचाना करने लगे तो शरीर कुछ क्षण भी नहीं चल सके। यदि पेट अपना कार्य

छोड़ दे और पांव का कार्य करने लगे या शरीर पर पड़ने वाली चोट से रक्षा के लिए आगे दौड़ने लगे तो भी न पेट का कल्याण है न शरीर का। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय अपना कर्तव्य छोड़ दे और अवसर आने पर कायरता के कारण या मोह के कारण ब्राह्मण के कर्तव्य को करना चाहे तो भी समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा हो जाएगी। जिस सेना के अधिकारी को सैनिक का प्रशिक्षण दिया गया, सैनिक सम्मान एवं सलामी दी गई। भोजन, वर्दी एवं ऊंचा वेतनमान दिया गया। वह शान-शौकत और अपनी अफसरी का घमण्ड दर्शाता रहा। पर जब चीन या पाकिस्तान का आक्रमण होने पर उसे युद्ध के मोर्चे पर जाने का आदेश मिला और वह उस समय अर्जुन के समान युद्ध की हिंसा, रक्तपात आदि बुराइयों का बखानकर उसके स्थान पर ब्राह्मण के विद्यादान के अथवा ब्रह्म-चिन्तन के कर्तव्यों की प्रशंसा करने लगे और अपने स्वधर्म को त्यागकर युद्ध के मोर्चे से भाग आए तो उसे कौन धर्मात्मा कहेगा? वह तो कर्तव्यभ्रष्ट, देश को असमय पर धोखा देने वाला पापी गिना जाएगा।

युद्धकाल में भी सभी वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य पथ पर डटे रहना चाहिए। यदि अध्यापक विद्यादान का कर्तव्य छोड़कर युद्ध करने को भागे तो युद्ध में लड़ने वाले सैनिक के बच्चों की शिक्षा खंडित हो जाएगी। यदि वैश्य भी युद्ध भूमि में पहुंच जाए तो युद्ध के मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिकों के लिए भोजन एवं अन्य साधन उपलब्ध कराने की सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी। सैनिक के गोला-बारूद से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका दैनिक भोजन है। यदि उसको भोजन ही न मिले तो वह बिना शत्रु की गोली के अपने आप ही मर जाएगा। इसलिए भोजन व्यवस्था को सेना की Life line कहा जाता है। इसी प्रकार यदि सफाई मजदूर अपना सहयोग न करे तो सैनिक अपने ही मोर्चों पर अपने ही शरीर की गन्दगी से, रोगाणु के कीटाणुओं का शिकार होकर बिना शत्रु की गोली के रोगों से ही मर जाएगा। इस प्रकार चारों वर्णों द्वारा अपना-अपना कर्तव्य परस्पर सहयोग तथा राष्ट्रकल्याण के भाव से (राष्ट्रयज्ञ भाव से) करने पर ही एक युद्ध का मोर्चा जीता जा सकता है। इसी प्रकार विचारों का मोर्चा, खाद्य का मोर्चा, सेवा व सफाई आदि सभी मोर्चों पर चारों वर्णों का अपना-अपना कर्तव्य करते हुए यज्ञभाव से परस्पर सहयोग अनिवार्य है। जो अपना कर्तव्य छोड़ता है वह अकर्मण्यता या कर्तव्यहीनता का दोषी है। जो इसके साथ दूसरे के कर्तव्य में हस्तक्षेप करता है वह समाज में अव्यवस्था फैलाने का भी दोषी है। दूसरे का कर्तव्य वह उत्तम रीति से कर भी नहीं सकेगा क्योंकि उसकी प्रवृत्ति और प्रशिक्षण उसके अनुरूप नहीं है। और अपना कर्तव्य छोड़ने से जो क्षति होगी उसकी पूर्ति भी कठिन हो जाएगी।

इसलिए गीता में आत्मा की अमरता के सिद्धान्त के तुरन्त पश्चात् भगवान् ने स्वधर्म की महत्ता का बखान किया। तात्त्विक स्तर पर आत्मा की अमरता से ऊंचा सिद्धान्त नहीं और नैतिक स्तर पर निष्कामभाव से स्वधर्मपालन से ऊंचा कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है। इसलिए पहले तात्त्विक स्तर पर आत्मा की अमरता निरूपितकर भगवान् ने उसके तुरन्त बाद स्वधर्म की महत्ता बताते हुए कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। 2/31, गीता

अर्थात् 'अपने स्वधर्म का विचार करके भी तुमको कभी कम्पित नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्वधर्म युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई भी कल्याणकारी कार्य नहीं है।'

आत्मा अमर है इसलिए युद्ध में स्वयं के मरने अथवा दूसरों के मारे जाने का भय छोड़कर कर्तव्यपालन करो। यह प्रथम तात्त्विक उपदेश भगवान् ने दिया। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने मन की दुर्बलताओं का कोई तार्किक आधार खोजता है ताकि वह लोकनिंदा से बच सके। उसे मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र में Rationalisation की प्रक्रिया कहा जाता है। कोई कार्य Rational तो नहीं है, तर्कसम्मत भी नहीं है पर उसे तर्कसम्मत किया जाता है। पहले तो बिना सोचे विचारे, किन्तु बाद में लोकनिन्दा या सामाजिक दण्ड से बचने के लिए कोई भाषा की तोड़-मरोड़, कानून की मनमानी व्याख्या, तर्क-कुतर्क की चालबाजी से जनता को ठगने के लिए तर्कसम्मत दिखने वाला कारण खोज लिया जाता है। इसे Rationalisation कहते हैं। कानूनी तौर पर किसी को मृत्युदण्ड मिलना Rational हो सकता है। किन्तु कानून अपने हाथ में लेकर मार डालना और बाद में मारने के औचित्य के लिए तर्क खोजना Rationalisation है। उदाहरणार्थ—यूरोप-अमेरीका के गोरे लोग वहां के नीग्रो लोगों को जातिविद्वेष के कारण युगों से सताते चले आए हैं। ऊंची शिक्षा एवं ऊंचे पदों पर पहुंचकर भी उनका हब्शी लोगों के प्रति अत्याचार का पूर्वाग्रह बना हुआ है। लोकनिंदा से बचने के लिए उन्होंने नीग्रो लोगों के प्रति अपने अत्याचार के लिए Rationalise करके कुछ तर्क खोज लिए हैं, जैसे नीग्रो लोगों के शरीर से एक बदबू निकलती रहती है, जो बदबू गोरे लोगों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इनका रक्त गोरों के रक्त से भिन्न है। इनकी टांगें गोरे लोगों के पांवों से अधिक लम्बी हैं इसलिए दौड़ एवं अन्य खेलों में ये टांगों के कारण आगे निकल जाते हैं। इसलिए खेलों में न्याय नहीं हो सकता है। गोरे लोग ऐसे ही मनगढ़न्त तर्क खोजकर नीग्रो लोगों पर अत्याचार का Rationalisation करते रहते हैं।

किसी ऊंचे सिद्धान्त का इस प्रकार (अन्याय के लिए) दुरुपयोग करना एक घृणित कार्य है। इसलिए भगवान् ने आत्मा के तात्त्विक उपदेश के बाद स्वधर्म का नैतिक उपदेश दिया। तात्त्विक दृष्टि से जब आत्मा मरता ही नहीं तब कोई भी चालाक हत्यारा तत्त्वज्ञान की बात कहकर लोकनिंदा अथवा सामाजिक दण्ड से बचने का प्रयास कर सकता है। वह गीता का सिद्धान्त बताकर कहता है 'जो इसे मरने वाला या मारने वाला जानते हैं वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह न मरता है न मारा जाता है।' तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'नायं हन्ति न हन्यते' कोई भी हत्या का अभियोग नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वास्तविक हत्यारा कोई है ही नहीं और वास्तव में कोई मरा भी नहीं है। भगवद्गीता ने ऐसी गलत व्याख्या की सम्भावना को निर्मूल करने के लिए तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र का समन्वय प्रस्तुत किया। गीता की पुष्पिका में हम पाते हैं—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे। ब्रह्मविद्या गीता का तत्त्वदर्शन है और योगशास्त्र (कर्मयोग शास्त्र) गीता का नैतिक दर्शन है। ब्रह्मविद्या सिद्धान्त है (Theory) और योगशास्त्र उसकी क्रियासाधना है। यदि सिद्धान्त को कृति में न उतारा जा सके तो वह सिद्धान्त धोखे में डालने वाला है। सिद्धान्त प्रत्यक्ष साधना द्वारा सिद्ध होना चाहिए अन्यथा वह सिद्धान्त ही नहीं है। जिसका प्रतिफलन कृति द्वारा सिद्ध हो वही सिद्धान्त है।

ब्रह्मविद्या का आख्यान तो उपनिषदों में भी बहुत सुन्दर किया गया है किन्तु गीता की उपनिषदों से भी बढ़कर महत्ता इसी बात में है कि प्रकृति के शान्त एकान्त प्राङ्गण में निश्चिन्त एवं समस्याहीन वातावरण में जगत् के कोलाहल से दूर जिस ब्रह्मज्ञान का उपदेश उपनिषदों में किया गया, इसी ब्रह्मज्ञान के महानतम सिद्धान्त को जीवन की भीषणतम परिस्थिति में भी प्रत्यक्ष कृति में उतारने का दुर्लभ एवं दुष्कर कार्य गीता ने किया। गीता में आत्मज्ञान और स्वधर्मपालन का समन्वय है। ब्रह्मज्ञान मोक्षशास्त्र है कर्तव्यपालन धर्मशास्त्र है। अतः गीता मोक्षशास्त्र के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है। इसलिए गीता में ज्ञानकर्मसमन्वय है। गीता को न ज्ञानी का आलस्य सहन होता है और न अज्ञानी का कर्म। इसलिए गीता की दृष्टि से अनैतिक कर्मी तत्त्वज्ञान की ओट लेकर चालाकी से छूट नहीं सकता। मिथ्याचारी एवं दम्भी व्यक्ति की भगवान् ने स्वयं भर्त्सना की है। सच्चा ज्ञान पवित्रकर्म में प्रतिफलित होना चाहिए। अन्यथा वह केवल ज्ञान का मिथ्या दम्भमात्र ही है।

ऊंचे ज्ञान के पश्चात् भी कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण करते हुए भगवान् कई कारण बताते हैं—

(1) शारीरिक कारण—बिना कर्म के शरीर क्षण भर भी नहीं चल सकता।

(2) मानसिक कारण—मन निरन्तर कुछ न कुछ संकल्प-विकल्प करता ही रहता है। इस चंचल मन को काबू में रखना बड़ा कठिन कार्य है। यदि इसे पवित्र

नैतिक संकल्प नहीं देंगे तो अपने आप अनैतिक नीच संकल्पों की ओर झुकेगा। पहाड़ी के ऊपर ले जाते हुए भारी रोलर को ऊपर ले जाना छोड़ दिया जाए तो वहां से अपने आप नीचे लुढ़क आता है। इसलिए दुष्ट संकल्पों से बचने के लिए पवित्र नैतिक संकल्प करना अनिवार्य कर्तव्य है।

(3) प्राणिक कारण—प्राणियों के प्राण निरन्तर चलते रहते हैं। श्वास लेना, छोड़ना, हृदय का स्पन्दन, नाड़ी की गति आदि सब कर्म हैं। ये मनुष्य के संकल्प के बिना भी चलते रहते हैं। अतः कर्म से सर्वथा बचना भी कभी सम्भव ही नहीं।

(4) नैतिक कारण—शुभ कर्मों से मानव का नैतिक विकास होकर आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। अशुभ कर्मों द्वारा नैतिक पतन एवं आध्यात्मिक ह्रास होता है। इसलिए ज्ञान के हित के लिए भी शुभ कर्म आवश्यक है।

(5) चित्त शुद्धि—निष्कामभाव से कार्य करने से ही चित्त शुद्ध होता है। तभी शुद्ध 'मैं' में आत्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है, ज्ञान धारण करने की पात्रता आती है।

(6) ज्ञान साधना हेतु—ज्ञान सत्यम् है और उस तक पहुंचने का साधन ऋतम्, नैतिकता है। Without morality there is no spirituality. बिना नैतिकता के हमारी अध्यात्म में न तो गति होती है और न ही उसमें स्थित हो सकते हैं।

(7) लोक शिक्षण हेतु कर्म आवश्यक है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य लोग वैसा ही आचरण करते हैं। वे जिसे श्रेष्ठ कह करके प्रमाणित कर देते हैं लोग उसी के अनुसार वर्तन करने लगते हैं। गांधीजी ने जिसको सत्य प्रमाणित किया हजारों लोग उनके पीछे चल पड़े। ऐसे ही सुभाष बोस ने जिसे प्रमाणित किया उसके पीछे हजारों लोग चल पड़े। ऐसे ही विवेकानन्द के पीछे, संघ (आर.एस.एस.) के पीछे कितने लोग चल पड़े हैं।

(8) लोक संग्रह हेतु—राजा जनक एवं भगवान् स्वयं का उदाहरण देते हैं। भगवान् कहते हैं न मेरे को कोई प्राप्तव्य शेष है और न ही कोई कर्तव्य ही शेष है। पर मैं (स्वयं श्रीकृष्ण) कर्म छोड़ दूं तो मेरी अन्तर्योग्यता को तो कोई पहचानेंगे नहीं, मेरी देखादेखी सब लोग निकम्मे हो जायेंगे और कर्तव्यों की गड़बड़ी से प्रजाओं का नाश हो जाए। इसलिए जो कर्तव्य कर्म त्यागता है वह मानो सारी मानवता का हत्यारा बनता है।

(9) ज्ञान परीक्षण हेतु—अन्यथा झूठा दम्भ पल सकता है कि मैं ब्रह्मज्ञानी हूं। बहुतों के जीवन को देखने में ऊपर से ब्रह्मज्ञानी बनते हैं पर वैसा अवसर आने पर सारा ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं। जैसे परिवार में या अपने पर शारीरिक कष्ट आने पर सब ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं। जिनका स्वयं का जीवन एवं अपने बच्चे सब well

settle हैं, प्रतिभावान हैं, वे स्वयं वेदान्त पढ़कर ब्रह्मज्ञानी बन जाते हैं। क्योंकि वेदान्त तो बहुत सरल है। बुद्धि तुरन्त पकड़ लेती है। पर जब उनके स्वयं पर या परिवार पर कष्ट आता है तब वे सारा वेदान्त भूल जाते हैं। मां-बहन की गाली मुँह से निकालने लगते हैं।

(10) पारमार्थिक स्तर और व्यावहारिक स्तर का सम्बन्ध—व्यावहारिक स्तर पर जो कुकर्मी होगा वह ज्ञानी कैसे हो सकता है? एक पिता की अपनी ही पुत्री पर बुरी नीयत, पिता (पुत्री से) मैं तो कृष्ण स्वरूप हूं, मेरे से कैसा दुराव। पुत्री इस धर्मसंकट से रक्षा के लिए एक साधु का आश्रय लेती है और अपना संकट बताती है। तब साधु ने कहा—मुझे घर में भोजन के लिए आमंत्रित करो। मेरे लिए हलवा और पिता के लिए मलवा परोसकर लाना। पिता अपने लिए मलवा देखकर हक्का-बक्का रह गया। तब साधु ने कहा—जब सब ब्रह्म है तो हलवे और मलवे में क्या भेद है? भेद व्यावहारिक दृष्टि से है और यह भेद जीवनपर्यन्त, सृष्टिपर्यन्त रहेगा। अतः जीवनपर्यन्त व्यावहारिक भेद का पालन अनिवार्य है।

प्रारम्भ में निष्काम स्वधर्मपालन चित्तशुद्धि करके ज्ञान के विकास में सहायक होता है, फिर दूसरों की शिक्षा के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। मुक्ति का साधन बनता है। फिर ज्ञानी की ज्ञान की कसौटी बनता है। पुनः पतन से बचाने के लिए सम्बल बनता है। जो ज्ञानप्राप्ति के बाद भी स्वधर्मपालन करता रहता है उसके पतन की सम्भावना बहुत कम होती है। अन्यथा बड़े-बड़े ज्ञानी भी फिसल जाते हैं। जो स्वयं पारमार्थिक स्तर तक पहुंच चुके हैं और उन्हें स्वयं कर्तव्यकर्म करने की आवश्यकता कुछ भी शेष नहीं हैं। उन्हें भी पीछे के व्यावहारिक स्तर वाले लोगों के मार्गदर्शन के लिए लोकसंग्रह की भावना से कर्तव्य करते जाना चाहिए। जो शुभ कर्म उनके ज्ञान की सीढ़ी था, ज्ञान प्राप्ति के बाद उनको पतन से बचाने वाला सम्बल बना, वह अब पीछे वाले अन्य लोगों के लिए सीढ़ी बन जाएगा। यदि हमने गंगा पार कर ली तो नौका को तोड़ने या जलाने में मूर्खता होगी। अपनी मुक्ति के पश्चात् अन्य जीवों के समुचित मार्गदर्शन के लिए शुभ कर्म की परम्परा जारी रखनी चाहिए।

पारमार्थिक स्तर पर एक आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। व्यावहारिक स्तर पर अनेक जीवात्मा अपना-अपना अहंकार लपेटे हुए एक-दूसरे से संघर्ष एवं क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं। जिस आततायी को मारने का आदेश मनु भगवान् ने दिया है वे भी तत्त्वतः आत्मा ही हैं। दूसरे शब्दों में वे मैं ही है। तात्त्विक दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि मैं ही मैं को कैसे मारे? इस समस्या का समाधान यह है कि मैं अपने सच्चे मैं को नहीं मार रहा हूं। मैं अपने उस कल्पित झूठे मैं को मार रहा हूं जो गजनी, गोरी आदि आततायी का अहंकारी चोला पहनकर मेरे असली मैं को दबाने

के लिए आया है। इस प्रकार अपने अहंकार की हत्या करना पाप नहीं एक महत्त्वपूर्ण पुण्य कृत्य है। उसी प्रकार जो आत्मा लोकव्यवस्था एवं लोकसंग्रह का नाश करने के लिए आततायी का वेश पहनकर संसार के रंगमंच के नाटक पर आया है, वह एक दृष्टि से हमारे कर्तव्य की परीक्षा लेने आया है कि क्या हम सज्जन-दुर्जन को पहचानने का विवेक रखते हैं और क्या हम लोकसंग्रह हेतु स्वधर्मपालन करने हेतु आततायी को दण्ड देते हैं या नहीं। जैसे नाटक में पात्र वास्तव में जानते हैं कि सभी पात्र (नायक और खलनायक) एक ही नाटक मण्डली के सदस्य और परस्पर भाई-भाई हैं। किन्तु रंगमंच पर व्यावहारिक मर्यादा के पालन के लिए, रंगमंच की सफलता के लिए तथा नाटक को दर्शकों के मनोरंजन, बुद्धिरंजन एवं नैतिक शिक्षण के लिए आततायी को प्रत्यंचा चढ़ाकर तीर से मार डालते हैं। किन्तु नाटक का पर्दा गिरने के पश्चात् नायक और खलनायक बढ़िया खेल के लिए एक-दूसरे को बधाई देते हैं, एक-दूसरे को गले लगाते हैं। दर्शकों की प्रशंसा भी प्राप्त करते हैं और रंगमंच के निर्देशक से पुरस्कार भी पाते हैं। इसी प्रकार यदि हम सबको आत्मारूप जानते हुए भी स्वधर्मपालन करते हुए आततायी को दण्ड देते हैं तो इसमें नैतिकता की रक्षा, लोकशिक्षण, लोकसंग्रह, जीवन के नाटक की सफलता, हमारा विकास एवं आततायी के रूप में जीवात्मा का उद्धार, इतिहास में यश और प्रभु का आशीर्वाद सभी लाभ एक साथ मिल जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं भगवान् के अवतार का हेतु भी यही बताया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। 4/८, गीता

सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश, धर्म के संरक्षण या धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं। जो धर्म की संस्थापना में सहायक है वह सज्जन है, जो बाधक है वह दुष्ट है। धर्म की संस्थापना हो ही तब सकती है जब धर्म के साधकों को बचावें और बाधकों को हटावें। इसलिए जो आततायी को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है वही धर्म संस्थापना में सहायक है। वह ईश्वरीय कार्य करता है। वह ईश्वरीय न्याय का यंत्र बन भागवत कर्म का निमित्त बन भगवान् का ही कार्य पूरा करता है। इसलिए भगवान् अर्जुन को गीता में कहते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33, गीता

इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्धिसम्पन्न राज्य को भोग। ये (सब वीर) मेरे ही द्वारा पहले ही मारे गए हैं। सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्तमात्र बन जा।

इसमें राष्ट्र के परम वैभव की सारी साधना बीजरूप में कह दी गई है।

(क) **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ**—हे अर्जुन! तुम खड़े हो जाओ, कर्तव्यपथ पर डट जाओ, सदा आशावान रहो, सदा आगे बढ़ने के लिए सिद्ध हो।

(ख) **यशो लभस्व**—यशस्वी जीवन जीओ। अपयश से बचो। सफलता के लिए पुरुषार्थ करो। जो राष्ट्र सम्मानित जीवन नहीं बिताता वह मिट जाता है।

(ग) **जित्वा शत्रून्**—शत्रुओं को जीतो। चिर विजय की कामना ही राष्ट्र का आधार है। निरन्तर विजय की साधना करो। पराजय, पराधीनता जीवन की सबसे बड़ी लानत है। बाहर के शत्रुओं को भी जीतो और भीतर के शत्रुओं (देशद्रोही तत्त्वों) को भी जीतो। इसके अतिरिक्त मन के शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को भी जीतो। जो स्वयं को जीत नहीं सकता वह जगत् को क्या जीतेगा?

भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्—समृद्धिशाली, वैभवशाली राज्य को भोगो। राष्ट्र को परम वैभव की महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए। व्यक्तिगत वैभव विलासिता है। राष्ट्रीय वैभव ऐतिहासिक गौरव का मानबिन्दु है। राष्ट्र का वैभव राज्य के वैभव से अधिक मूल्यवान है। राष्ट्र समृद्ध होगा तो राज्य के बदलने पर भी समृद्धि बनी रहेगी। केवल राज्य शान-शौकत में रहे और राष्ट्र कंगाल रहे तो न राज्य बचेगा और न राष्ट्र। कंगाल राष्ट्र वैभवशाली सत्ताधीशों के विरुद्ध विद्रोह करेगा और सत्ताधीश राष्ट्र के जन-गण की छाती पर गोली चलाएगा।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव—ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। ईश्वरीय न्याय से कोई बच नहीं सकता। चाहे मानवीय न्याय में कुछ देर के लिए भले ही बच जाए।

...ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे—हे अर्जुन! तेरे बिना भी ये सब योद्धा नहीं बचेंगे। अतः व्यक्ति को कर्तापन का अहंकार नहीं होना चाहिए। क्योंकि जिसको ईश्वर ही मारना चाहे उसे कौन बचा सकता है?

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्—हे अर्जुन! तुम निमित्तमात्र बन जाओ। व्यक्ति को ईश्वरीय संकल्प को पूरा करने में निमित्तमात्र बन जाना चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी, कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवत संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह कालरूप बनकर हमें ही खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय के निमित्त और भागवत संकल्प के

सेनानी बनकर अपना कर्तव्य प्रभु प्रीति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

जो भगवान् आत्मारूप से सबके अन्तर में विराजमान है वे ही हमें आदेश देते हैं कि सज्जनों का परित्राण करो और दुष्टों का विनाश करो। क्योंकि सब आत्मा मूलतः एक है इसलिए वास्तव में दुष्ट या अन्य कोई है ही नहीं। परन्तु ये ऊंचा पारमार्थिक ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं है। केवल संन्यासी के लिए है जो लोकसंग्रह से दूर है, जैसे रमण महर्षि। यह विवेकानन्द के लिए भी नहीं है। वे तो बाहु चढ़ा लेते थे। इसलिए ये व्यावहारिक स्तर पर कर्म सिद्धान्त (विश्वव्यापी न्याय के सिद्धान्त) की विजय देखना चाहते हैं। इसके बिना उनका नैतिकता में विश्वास नष्ट हो जाएगा और नैतिक अराजकता से व्यावहारिक जगत् एवं जीवन नरक बन जाएगा। व्यावहारिक स्तर पर ऋतम् की अप्रतिष्ठा हो जाने से उन्हें सत्य का दर्शन कभी नहीं हो सकेगा। विश्व मानवता की नैतिक निष्ठा की रक्षा के लिए वे स्वयं ही नाटक रचते हैं। वे एक से अनेक बन जाते हैं। स्वयं ही एक रूप में राम और एक रूप में रावण बन जाते हैं और रावण की अनैतिकता का कलेजा चीरने के लिए स्वयं ही वक्षस्थल पर तीर चलाते हैं। स्वयं ही अपनी विजय मानते हैं और स्वयं ही अनेक दर्शकों के रूप में अपनी नैतिक निष्ठा की रक्षा करते हैं।

गांधीजी एक संत थे। कुशल राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे नैतिकतावादी अवश्य थे। किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे समझौतावादी एवं अतिशय शान्तिवादी थे। मुसलमानों द्वारा की जाने वाली हिंसा, हत्या से वे दुःखी अवश्य थे किन्तु बुद्ध और महावीर के समान वे यही मानते थे कि क्रोध से क्रोध शांत नहीं होता। हिंसा के प्रति हिंसा करने से हिंसा शांत नहीं होती। आग को आग से ठण्डा नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रतिहिंसा रोकने और शान्ति बनाए रखने के लिए उन्होंने रोष भरे शरणार्थी बन्धुओं से ये वचन कह दिए। यह वास्तव में गीता के दर्शन का सही व्याख्यान नहीं है, बल्कि गीता के आत्मज्ञान का दुरुपयोग ही है। इसके पीछे गांधीजी की कोई दुष्टभावना नहीं थी क्योंकि वे स्वयं बड़े कट्टर हिन्दू थे। किन्तु समझौतावादी और अतिशय शान्तिवादी होने के कारण उन्होंने ऐसा कह दिया। उनके इसी तर्क का दुरुपयोग यदि कोई नादिरशाह, तैमूरलंग, हिटलर, ईचमैन, याहया खां आदि करे तो महान् अनर्थ हो जाएगा। गांधीजी अहिंसावादी, शान्तिकामी संत थे। किन्तु उनकी अहिंसा के सद्गुण विकृति का कुफल देश को विभाजन के रूप में भोगना पड़ा।

संस्कार का शाब्दिक अर्थ है—परिष्कार। और मनोवैज्ञानिक अर्थ है—प्रभाव। मन को पशु प्रवृत्तियों की विकृति से बचाना मन का परिष्कार हुआ, और मन को देशभक्ति या देवभक्ति के संस्कार देकर उसी रंग में रंगना प्रभाव

कहलाएगा। जब किसी भाव को प्रकर्ष के साथ प्रचुर मात्रा में मन पर चढ़ाया जाता है तो मन उससे प्रभावित होकर उसी भाव का रूप बन जाता है।

यदि एक उत्तम जाति की आम की गुठली लेकर उसे एक प्याले में सौंफ का अर्क डालकर भिगो दिया जाए तो कुछ दिन में गुठली उस अर्क को पी जाएगी। पुनः प्याले में सौंफ का अर्क भर देने पर वह पुनः पी जाएगी। इस प्रकार 6-7 बार सौंफ का अर्क की भावना देने के पश्चात् उस गुठली को किसी अच्छी जमीन में लगा दिया जाए और उसे उचित रूप में खाद-पानी और सुरक्षा दी जाए तो 10-12 साल बाद उस वृक्ष में जो सैकड़ों फल लगेंगे उनमें से प्रत्येक में सौंफ की सुगंधि होगी। उन सैकड़ों बीजों को बोने से हजारों फल होंगे जिनमें पुनः सौंफ की सुगंधि होगी, सैकड़ों से हजारों, हजारों से लाखों, लाखों से करोड़ों फल होंगे जिनमें सौंफ की सुगंधि होगी। इस प्रकार से एक बीज को संस्कारित करने से करोड़ों फल सुगन्धित हो जाएंगे। इसी के समान यदि एक आदर्श गृहस्थी में एक सुपुत्र को विधिवत संस्कारित किया जाए तो उस एक के प्रभाव से लाखों-करोड़ों के जीवन में परिवर्तन आकर इतिहास निर्माण हो सकता है।

जीजाबाई ने एक शिवाजी का निर्माण किया तो इतिहास पलट गया। भुवनेश्वरी देवी ने एक विवेकानन्द को तैयार किया तो उसके द्वारा हिन्दू धर्म के नवोत्थान का युग प्रारम्भ हो गया।

नेपोलियन—नेपोलियन की माता फ्रांस की दुर्दशा से पीड़ित थी। देश की दुरावस्था देखकर वह अपनी कोख से एक ऐसे पुत्र की कामना नित्य करती थी जो देश व धर्म की रक्षा कर सके। माता गर्भधारण और उसे उत्पन्न करने तक जैसी भावना करती हैं वैसे ही संस्कार लेकर पुत्र पैदा होता है।

बिस्मार्क—उस समय जर्मनी 8-10 खण्डों में विभक्त था। तब बिस्मार्क की माता जर्मनी की स्थिति देखकर दु:खी होती थी और शहीदों के चित्र देखकर वैसे ही पुत्र की कामना करती थी जो देश को एकसूत्र में बांध सके और उसने वैसा ही पुत्ररत्न पैदा किया जो जर्मन इतिहास का निर्माता हो गया।

मन

मन का विश्लेषण जैसा भारतीय मनीषियों ने किया है वैसा संसार के अन्य दार्शनिकों या अन्य मनस्वी चिन्तकों ने नहीं किया। मन जड़-चेतन की ग्रंथि है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इसे चेतन ही माना है, जड़ नहीं। (चाहे वह चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्था में है) भारतीय चिन्तकों ने मन को भौतिक जड़-तत्त्व माना है। जिस पर चेतना का प्रभूत प्रकाश पड़ रहा है। उस प्रकाश के कारण मन चेतन प्रतीत होता है। उसी चेतना के सहारे मन काम भी करता है। किन्तु स्वयं तत्त्वत: जड़ है।

पाश्चात्य दर्शन में दृश्यमान जगत् को किंवा सारी सृष्टि को दो तत्त्वों में विभाजित किया जाता है—Mind और Matter में। वे यह मानकर चलते आ रहे हैं Matter जड़ है और मन चेतन। भारतीय तत्त्वद्रष्टा उनकी भूल सुधारने के लिए उनका उपहास करते हुए कहते हैं Mind and matter का यह विभाजन ठीक नहीं है क्योंकि Mind is matter इसलिए पश्चिम वाले Mind का अध्ययन करें चाहे Matter का, वे रहते पूरे जड़वादी हैं।

मन जड़ तत्त्व कैसे है—इसके प्रमाण में भारतीय मनीषी कहते हैं जैसा अन्न वैसा मन। अन्न जैसी जड़ वस्तु का मन पर सीधा प्रभाव सिद्ध करता है कि मन भी जड़ ही है। वह ठोस जड़ न होकर, स्थूल जड़ न होकर, सूक्ष्म जड़ है। अच्छे से अच्छा परीक्षार्थी यदि चार-पांच परांठे और लस्सी ग्रहणकर परीक्षा भवन में चला जाए तो उसका तीव्र स्मृतिशील एवं दक्ष मन वहां अन्न के नशे से कुंठित और विस्मरणशील हो जाता है। मदिरा के नशे में तो मन लोकमर्यादा, धर्ममर्यादा, देश-काल, पात्र-परिस्थिति का विचार तथा मां-बहिन का विवेक तक भूल जाता है। जड़ औषधियों से मन को सुलाया जा सकता है। पाप के अन्न से मन में पाप के भाव पैदा होते हैं। पवित्र अन्न से पवित्र भाव उदय होते हैं। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह जब पांडवों को बहुत उच्च कोटि का ज्ञानोपदेश कर रहे थे तो द्रौपदी ने पूछा—'हे दादाजी! जिस समय भरी सभा में मेरी साड़ी उतारी जा रही थी उस समय यह आपका अलौकिक ज्ञान कहां गया था?' पितामह ने उत्तर दिया—'हे देवी! उस समय मैं पापी कौरवों के अन्न पर पलता था। इसलिए मेरे मन और बुद्धि पर पर्दा पड़ गया था। अब कई दिन तक अन्न त्यागकर उपवास करने से पापी के अन्न का मन पर से प्रभाव दूर हो गया है।'

एक राजा के गुरु राजा के महल में आतिथ्य एवं अतिथि सम्मान प्राप्तकर रहे थे। अचानक एक स्नानालय में घुसने पर उन्होंने रानी का हीरक हार टंगा हुआ देखा जो स्नान के समय रानी वहां भूल गई थी। गुरु के मन में अकस्मात् लोभ का भाव जाग उठा। उन्होंने हार ले लिया। वे राजा से सम्मानपूर्वक विदा लेकर चले भी गए। रानी के कहने पर राजा ने पूरे महल की तलाशी करवाई और पूरे राज्य में घोषणा करवाई। अनेक नामी चोरों को पकड़ा। किन्तु हार नहीं मिला। चालीस दिन बाद गुरु पुनः राजा के पास आए और हार लौटाते हुए कहा, वास्तविक चोर मैं ही बना था। राजा को विश्वास नहीं हुआ। राजा ने शीश नवाकर कहा, ऐसी अपराधपूर्ण बात मत कहें। गुरु ने कहा—हे राजा! तुम जांच करवाओ। जिस अन्न से मुझे भोजन दिया गया वह अन्न कहां से आया था। जांच कराने पर पता चला कि सैनिकों ने कुछ चोरों को पकड़ा था और उनसे बरामद अन्न को सरकारी भण्डार में भेज दिया गया था। उसी में से कुछ अंश राजा की पाकशाला में पहुंचा

था। उसी पाप के, चोरी के अन्न के प्रभाव से तपस्वी गुरु के मन में भी लोभ एवं चोरी का भाव उदय हो गया था। चालीस दिन तक अन्न का प्रभाव मन पर रहता है। तीन दिन तक खाये हुए अन्न का अंश तन में रहता है और चालीस दिन तक उसका अच्छा-बुरा संस्कार मन पर रहता है। इन चालीस दिनों में और भी अशुद्ध एवं पापपूर्ण अन्न चलता रहे तो मन कभी निर्मल नहीं होगा। यदि चालीस दिन तक मनुष्य पवित्र अन्न खाता हुआ सदाचारी एवं मर्यादित जीवन बिताये, सप्ताह में एक बार उपवास करे तो चालीस दिन के बाद खाये हुए अशुद्ध एवं पापपूर्ण अन्न का मन पर पड़ा हुआ कुसंस्कार मिट जाता है।

भारतीय संस्कृति में अन्नप्राशन एक पवित्र संस्कार है। प्राकृतिक दृष्टि से अन्नग्रहण अन्य पशुओं के चारे के समान शरीर के पोषण के लिए प्राथमिक आवश्यकता है। किन्तु मानव को पशुओं से ऊंची प्रतिष्ठा देते हुए उसे पशुत्व से नरत्व, नरत्व से देवत्व और देवत्व से ब्रह्मत्व की ओर ले जाने के उद्देश्य से अन्नप्राशन को एक पवित्र संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। वेदमंत्रों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

अन्न ब्रह्म है यह जाना। क्योंकि अन्न से सब भूत जन्मते हैं। जन्मे हुए अन्न पर जीते हैं। मरने वाले अन्न में ही लीन होते हैं। अन्नं न निद्यात्। तद् व्रतम्। अन्न की निन्दा न करें, यह व्रत है। अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। अन्न का त्याग न करें, यह व्रत है। अन्नं बहु कुर्वीत। तद व्रतम्। अन्न खूब उत्पन्न करें, यह व्रत है।

भाव यह है कि जिस अन्न को खाकर पशु को निरा पशु ही रहना है, उसी अन्न को ग्रहण कर नरपशु को नरदेव एवं नर से नारायण बनना है।

अन्न जड़ पदार्थ होते हुए भी उसे भगवत् स्तुति एवं भगवत् समर्पण के द्वारा संस्कारित कर जब ग्रहण किया जाता है तो वह भगवान् का प्रसाद (भगवत् कृपा) बनकर सीधे हमारे मन को संस्कारित कर देता है। आजकल के संस्कारहीन बच्चों को देखकर प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी ने कहा है—

तिफ्ल में क्यों बू नहीं मां-बाप के अतवार की,
दूध डिब्बो का पिया है शिक्षा है सरकार की।

(तिफ्ल=पुत्र) में माता-पिता के अतवार-(सदाचार) की सुगंधि न आने का कारण यही है कि बच्चे माता की लोरियों के साथ दूधप्राशन और अन्नप्राशन नहीं करते। वे अस्पतालों में नर्सों के हाथ से कृत्रिम डिब्बों वाला दूध पीते हैं, उन्हें शरीर का चारा तो मिल जाता है, संस्कार नहीं मिलता। ब्रिटिश शासनकाल

में शिक्षा भी मात्र अक्षरज्ञान, गणित और सूचनासंग्रह मात्र तक थी ताकि अंग्रेजों को प्रशासन चलाने के लिए सस्ते दाम पर क्लर्क (बाबू) और चपरासी भारत में उपलब्ध हो सकें। संस्कृतिविहीन शिक्षा तो वास्तव में कुशिक्षा ही है। ऐसे संस्कारहीन क्लर्क-बाबुओं पर व्यंग्य करते हुए अकबर इलाहाबादी ने कहा है—

भूल जा निज संस्कृति को अपनी ही हस्ती भूल जा।
कर क्लर्की, खा डबलरोटी और खुशी से फूल जा।।

बचपन में अन्नप्राशन संस्कार के अभाव से मानव के जीवनभर के अन्न ग्रहण में पवित्रता एवं शुचिता का लोप हो जाता है। बीज को संस्कारित करने से वृक्ष और उसके सारे फल संस्कारित हो जाएंगे। अन्नग्रहण के विषय में शुद्धाहार के निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं—

अन्न पवित्र धन से उपार्जित हो, पवित्र श्रम से उपार्जित हो, अन्न पवित्र स्थान पर पकाया जाए। पवित्र व्यक्ति, पवित्र शरीर से पकावे। पवित्र भाव से तैयार हो, पवित्र स्थान पर परोसा एवं ग्रहण किया जाए। अन्न अथवा आहार में किसी के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा सम्मिलित न हो। आहार में किसी अन्य के अधिकार का अतिक्रमण न हो। अतिथि सेवा एवं बलिवैश्वदेव द्वारा दूसरे मानवों एवं जीवों को भेंटकर ग्रहण किया जाए। केवल अपने लिए पकाने वाला पाप ही खाता है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। 3/13, गीता

आहार भगवान् को समर्पितकर भगवान् के प्रसाद के रूप में ग्रहण किया जाए—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। 4/24, गीता

अर्पण (अर्थात् जिसके द्वारा अग्नि में आहुति दी जाती है वह स्रुवा आदि साधन) ब्रह्म है। हवि (अर्थात् जिसकी आहुति दी जाती है वह घृत आदि द्रव्य) भी ब्रह्म है, तथा ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप हवनकर्ता के द्वारा की जाने वाली हवन क्रिया भी ब्रह्म है उस ब्रह्मरूप कर्म में स्थित हुए योगी के द्वारा प्राप्त किए जाने-योग्य फल भी ब्रह्म ही है।

मन का मार्जन और रंजन दोनों संस्कार द्वारा सम्पन्न होते हैं। पशुप्रवृत्तियों से मुक्त होना मार्जन है और मन का अच्छे भाव के रंग में रंग जाना रंजन है। आजकल लोग मन की काम, क्रोध, लोभ आदि पाशविक प्रवृत्तियों की तृप्ति को ही मनोरंजन कहते रहते हैं। यह मनोरंजन शब्द का बड़ा ही गलत एवं विचित्र प्रयोग है। मन पशुप्रवृत्तियों में पहले ही रंगा हुआ है। 84 लाख योनियों से वह पहले ही इन प्रवृत्तियों का अभ्यासी बना हुआ है। अतः मानव योनि में भी उसी

रंग में रंगना अर्थहीन मनोरंजन होगा। मनुष्य रजक के पास कपड़ा इसलिए देता है कि उसकी मैल छूट जाए अथवा उस पर सुन्दर रंग चढ़ाकर उसे पहले से अधिक मनोरम बना दिया जाए। पीले कपड़े को पीले ही रंग में रंगने के लिए रजक के पास भेजना मूर्खता ही होगी और वस्त्र को सफाई के बजाय गंदा करने के लिए रजक को देना भी समानरूप से मूर्खता की कसौटी में गिना जाएगा। संस्कार मन को पशु योनियों की मैल से या पशुप्रवृत्तियों से मुक्त भी करता है और देवतुल्य महापुरुष के जीवन के रंग में रंग भी देता है।

मन एक बिल्लौरी शीशे (स्फटिक मणि) के समान है जिसका अपना कुछ रंग नहीं किन्तु जो निकट की वस्तु के रंग को तुरन्त ग्रहण कर उसी रंग का बन जाता है। मन को जो-जो भाव दिया जाए, मन जैसे-जैसे वस्तु, व्यक्ति के संग में रहे वह उसी-उसी रंगत को तुरन्त ग्रहणकर वैसा-वैसा बनने लगता है। सबसे विचित्र बात यह है कि मन जड़ होते हुए भी इतना सूक्ष्म है कि इसे किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा देखा ही नहीं जा सकता। अचम्भे की बात यह है कि मन स्वयं अदृश्य एवं अगोचर होते हुए भी निश्चितरूप से है और सब खेल, कार्यकलाप एवं उत्पात यही कर रहा है। नास्तिक भले ही सर्वशक्तिमान परमेश्वर की सत्ता न माने किन्तु सर्वशक्तिमान मन की सत्ता तो सभी को माननी पड़ती है।

मन जड़ है

अध्यात्मवादी एवं पदार्थवादी सभी मानते हैं कि मन में अपार शक्ति छिपी हुई है। किन्तु इस शक्ति का वास्तविक स्रोत कहां है? इस विषय में मतभेद है। अध्यात्मवादी मानते हैं कि मन की अनन्त शक्ति का मूलस्रोत आत्मा ही है। मन अपनी चेतना आत्मा से ही प्राप्त करता है।

पदार्थवादी मन की शक्ति का मूलस्रोत किसी जड़ पदार्थ में ही मानते हैं और चेतना को भी वे जड़ का एक विकार मानते हैं। जड़ से चेतन कैसे विकसित होता है इस विषय में भौतिकवादी कोई तर्कसम्मत व्याख्या नहीं दे सकते। किन्तु यदि वे चेतन की स्वतंत्र सत्ता मान लें तो उनका सिद्धान्त ही टूट जाए।

जड़ शक्ति के रूप में है Heat, light, electricity, magnatism और mechanize अग्नि या ताप को कुछ पता नहीं वह किसको तप्त कर रहा है या दग्ध कर रहा है। किसी सज्जन का घर जल रहा है या दुर्जन का। उसकी लपेट में जो भी आएगा वह उसे जला देगा।

प्रकाश को भी कुछ पता नहीं कि वह किसी मल को प्रकाशित कर रहा है या कमल को। सुन्दर को प्रकाशित कर रहा है या असुन्दर को, रूप-सज्जा को दिखाया या किसी के नंगेपन को?....

विद्युत् को कुछ पता नहीं कि किसी घर को प्रकाशित करने, या भोजन बनाने या रोग के उपचार के लिए उसका उपयोग किया जा रहा है या विद्युत् के झटकों से किसी को मारने के लिए।

Magnatism चुम्बक को या चुम्बक के सिद्धान्त पर बनने वाली दिशासूचक कम्पास की सूई को कुछ पता नहीं कि उसका उपयोग किसी कल्याणकारी समुद्रयात्रा के लिए किया जा रहा है या किसी दुर्बल देश पर आक्रमण के लिए।

मैकेनिक्स—मशीन को भी यह कुछ पता नहीं कि वह हजारों टन भार वाले यंत्र द्वारा किसी धातु को कूटकर चपटा बना रही है या भूल से यंत्र की मार में आ जाने वाले किसी निर्दोष मजदूर के सिर को कूटकर प्राणान्त कर रही है। जड़ शक्ति अंधी होती है।

किन्तु मन:शक्ति चेतन प्रतीत होती है। मन की आकुलता-व्याकुलता, व्यग्रता, एकाग्रता, चिंता, संतोष, हर्ष-विषाद आदि का हमारे मन को सबसे पहले पता चलता है और बाद में अन्य व्यक्तियों के मन को। मन दु:ख-सुख की अनुभूति भी करता है और अपनी अनुभूति को स्वयं भी जानता है। इसलिए मन अन्दर की कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी। मन ने चिन्ता, संकल्प किया यानी कर्म किया, और मन ने ही उसको परख लिया। भारतीय दृष्टिकोण से स्वरूपतः मन सूक्ष्म जड़ पदार्थ है। किन्तु चेतन आत्मा से चेतनशक्ति उधार लेकर वह चेतन जैसा प्रतीत होता है क्योंकि इसकी प्रतीति भी चेतना से ही होती है।

इसलिए पाश्चात्य विचारक इसे चेतनतत्त्व ही मान बैठते हैं। वस्तुतः यह जड़-चेतन की ग्रंथि है। इस ग्रंथि को खोलना ही सबसे ऊंची आध्यात्मिक सफलता है।

मुक्ति का अर्थ ही है हृदयग्रंथि का भेदन। वेद इसका प्रमाण है। मुण्डकोपनिषद् (2/2/8) कहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

'परम तत्त्व का दर्शन हो जाने पर हृदयग्रंथि का भेदन हो जाता है। सब संशयों का छेदन हो जाता है और उस जीव के सब कर्मों (संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध) का क्षय हो जाता है।'

हृदयग्रंथि भेदन का अर्थ है जड़-चेतन की ग्रंथि का भेदन। यह मुक्ति का प्रथम लक्षण है। जब मन की गांठ खुल गई, मन का सूक्ष्म जड़ भाव नष्ट हो गया और उसकी चेतनशक्ति ने अपने मूलस्रोत परम चेतन आत्मतत्त्व को पहचान लिया तब जड़-चेतन की ग्रंथि बची ही नहीं। जड़ता लय हो गई और चेतना प्रकाशित हो

गई। दो होवे तब गांठ लगे, जब दो रहे ही नहीं तब गांठ कैसे लगे? जब मन ही नहीं रहा मन के संशय कहां बचेंगे? इसलिए संशयों का छेदन अपने आप ही हो जाता है। उसी प्रकार जब मन ही नहीं रहा तो मन का अहंकार भी नहीं रह सकता। जीवात्मा के सिद्धात्मा से पृथक् होने के मिथ्याभाव को ही जीव का अहंकार कहा जाता है। इसी कर्तापन के अहंकार से वह कर्म करता है। जब तक कर्ता रहता है तब तक भोक्ता भी बनना पड़ता है। इसलिए कर्मफल का भुगतान भी तभी तक चलता है जब तक कर्तापन का अहंकार बना रहता है। अहंकार का आश्रय स्थान मन ही है। जब मन का क्षय हो गया तो अहंकार कौन करेगा? इसलिए अहंकार के नाश के साथ ही सब कर्मों का अपने आप क्षय हो जाता है।

मुक्ति की दो साधन प्रणालियां अथवा उसके कथन के दो प्रकार हैं—

(1) मनोनाश,

(2) मनोजय।

मनोनाश—मनोनाश का भाव है मन के सूक्ष्म जड़तत्त्व (मन की जड़ता, अज्ञानता, अहंता, ममता आदि) के समस्त विकारों का नाश। यह तुच्छ विकारी अहंकारी मन का नाश है जिसके लिए सब शास्त्र एवं ऋषि-मुनि आदेश, उपदेश करते हैं। मन का यह जड़ अंश जड़ विषयों की कामना करता है। काम से क्रोध, लोभ आदि नरक की सात सीढ़ियां लग जाती है। इसलिए कामरूप मन को मारने का उपदेश भगवान् ने गीता के तीसरे अ. में दिया है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 3/43, गीता

हे महाबाहो अर्जुन! युद्धभूमि में लाखों शत्रुओं को मारने में तुम समर्थ हो। किन्तु हे महाबाहो, तुम इस बड़े ही कठिन शत्रु कामरूपी मन को ज्ञानरूपी तलवार से मारो। तब तुम सच्चे शूरवीर माने जाओगे। कबीरजी ने भी कहा है—

मन को क्यों नहीं मूंडीये जामे भरया खोट।

इस प्रकार विकारी अंश का नाश जरूरी है। कबीर का वचन है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
शीश उतारै भुईं धरै तब पैठे घर माहिं।।

अर्थात् भगवान् की प्राप्ति का घर प्रेम का घर है कोई किसी मौसी-फूफी का घर नहीं। यहां तो जो अपने अहंकाररूपी शीश को उतारकर धरती पर पटक सकता है वही भीतर प्रवेश करने का अधिकारी है। गुरुग्रंथ साहब में कहा है—

जो तेनु प्रेम खेलनदा चाह सिर धर तली गली मेरी आव।

अर्थात्, हे प्रेमी! तुझे प्रभु प्रेम से खेलने का चाव है तो अपने अहंकाररूपी सिर को अपनी तली (हथेली) पर धरकर मेरी प्रेमगली में आ जाओ। अहंकार

का नाश (मनोनाश) होते ही कर्मों का लेखा एवं पुनर्जन्म का चक्र अपने आप शान्त हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने इस तथ्य को समझाने के लिए एक सेठ और कर्जदार का दृष्टान्त दिया है—कर्जदार ने काफी किश्तें कर्ज की ले रखी थी और वह चुका नहीं पा रहा था। कर्जदार की विनती पर सेठ ने कहा, कर्ज की कोई भी एक लाइन काट दो, शेष तुझे चुकाना ही पड़ेगा। जब उसने अपने नामवाली लाइन काट दी तो सेठजी पछताते ही रह गए। क्योंकि अब कर्जदार ही शेष नहीं रहा तो कर्ज कौन चुकाये?

मनोजय—मनोजय का एक अर्थ है मन को जीतना (मन पर जय) और दूसरा अर्थ है मन की विजय (मन की जय)। यदि मन पर विजय की जाती है तो मन को पराजित करके ही विजय प्राप्त की जा सकती है। यहां भाव खोटे मन या विकारी मन को जीतने का है संस्कारी मन को नहीं। मनोजय का दूसरा अर्थ है मन की विजय। कबीर का वचन है—

मन के हारे हार है मन के जीते जीत।
पारब्रह्म को पाइये मन ही है परतीत॥

इसमें एक अर्थ तो मन की संकल्पशक्ति के हारने और जीतने का है। जो संकल्प का दुर्बल व्यक्ति है वह हारे हुए मनवाला व्यक्ति जीवन में पराजय का मुख देखता है और दृढ़ संकल्पी व्यक्ति जीवन में विजय ही प्राप्त करता है। इसका अधिक गम्भीर अर्थ है कि मन की चेतना का उचित सम्मान करते हुए यदि हम मन की चेतना के मूलस्रोत (आत्मा की प्रतीति) प्राप्त कर लें तो मन की उस विजय में परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति हो जाती है। गुरु नानकदेव ने भी कहा है—

मन तू ज्योति स्वरूप, तू अपना मूल पहचान।

यदि मन सीमित चेतना से अनन्त चेतना तक अपना विकास कर ले तो मन के चेतन अंश की विजय में मुक्ति लाभ हो जाएगा। इस अर्थ में मनोजय ही मुक्ति बन जाती है।

जब तक जड़ चेतन की ग्रंथि बनी रहती है तब तक मुक्ति का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। मन स्वयं एक विचित्र पहेली बना रहता है। उसकी जड़-विषयों की ओर अनुरक्ति देखकर वह जड़ प्रतीत होता है और होश-हवास के कारण वह चेतन प्रतीत होता है। यह रहस्यमयी ग्रंथि खुलती ही नहीं कि वह वास्तव में जड़ है अथवा चेतन।

इसलिए पूर्व और पश्चिम के विचारक मन का स्वरूप निर्णय करने में कतराते रहते हैं। मन रोमन देवता जेम्स के समान प्रतीत होता है जो स्वर्ग के द्वार का रक्षक माना जाता है और जिसके दो मुख हैं। एक मुख से वह ईश्वर की ओर देखता

रहता है और दूसरे मुख से वह बाहर से आने वाले आगन्तुकों की ओर। मन भी जब जड़ जगत् की ओर देखता है वह जड़-विषयों का भक्त बन जाता है और जब चेतन आत्मा की ओर निहारता है तो उसके लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाता है। पुनः जड़ को देखने पर वह चेतन तत्त्व के आकर्षण को भूल जाता है। जिस रंग में बैठता है उसी रंग में रंग जाता है। जड़-चेतन की दुविधा मानव मन की दुविधा है।

कौए के विषय में उक्ति है—चौकन्ना, चालाक, सयाना, चार आंख रहते हुए भी काना। कौआ बहुत चौकन्ना रहता है मानो उसके चार कान हैं और वह चारो ओर की आहट तुरन्त सुन लेता है। इसलिए कौआ जल्दी से किसी की पकड़ में नहीं आता। वह बड़ा चालाक, सयाना माना जाता है। और वह इतना सावधान रहता है कि प्रतीत होता है मानो उसके चारो ओर नेत्र भी हैं। किन्तु चार आंख रहते हुए भी कौआ वास्तव में काना ही होता है क्योंकि उसके दोनों नेत्रगोलकों के भीतर आंख का गोला एक ही है। दायीं ओर देखने पर वह गोला दायें नेत्र की ओर घूम जाता है और बायीं ओर देखने पर बायीं ओर। इस दृष्टि से कौए की चार आंखें होते हुए भी काना माना जाता है।

इसी प्रकार हमारा मन बड़ा चौकन्ना, चालाक, सयाना बनता है। किन्तु वास्तव में वह काना ही है। जब तक वह संसार के जड़ भोग पदार्थ में लीन रहता है उसे कभी भी भगवान् नहीं सूझता और भगवान् के सत्संग में वह स्वयं विषयों को भूल जाता है। यह बहुत चालाक मन वास्तव में विष्ठा भोगी कौए के समान है।

मन का स्वरूप

मान्यता

भावना

कल्पना

मननशीलता

मान्यता—मन एक माना हुआ मैं है। वास्तविक मैं को भूलकर मनुष्य जब दुःखों से उद्विग्न होने वाले और सुखों की स्पृहा करने वाले, कामना की केलि, तृष्णा की तृषा और अविद्या के अंधकार में लीन रहने वाले अपने तुच्छ और घटिया स्वरूप को ही मैं मान लेता है तो उसकी मान्यता को ही मन कहा जाता है। जो वास्तव में नहीं है पर मान लिया गया है, वह मन है। रज्जु में सर्प और मरुभूमि में जल वास्तव में नहीं है पर मान लिया जाता है। स्वप्न में राज्यवैभव पाकर प्रसन्नता, कंगाली भोग का दुःख, स्वजनलाभ से प्रेम, शत्रु को देखकर घृणालाभ और बाघ को देखकर भय—ये सब स्वप्नकाल की मान्यता ही है। जागरण होते

ही न दु:ख-सुख, न प्रेम-घृणा, वैर और भय के कारण बचते हैं न उनसे व्यथित होने वाला वह मैं ही बचता है। बाघ और बाघ के भय से भागने वाला मैं, दोनों ही लुप्त हो गए। वैसे ही सच्चे मैं का बोध होते ही माना हुआ मैं (मन) लुप्त हो जाता है। मन के लोप के साथ ही मन का मनोराज्य और मन के विकारों का सारा जगत् भी लय हो जाता है।

मन भ्रान्ति (illusion) तथा कल्पित विभ्रम निर्माण करने में बड़ा प्रवीण है। किसी वस्तु को गलत समझना भ्रान्ति है जैसे रज्जु को सर्प। और बिना किसी भौतिक आधार के कल्पना के भूत से कांपने लगना विभ्रम है। मन इसी प्रकार से खेलने वाला खिलाड़ी है। वह खेल भी मनमाना रच लेता है और खिलाड़ी भी मनमाने। यह माना हुआ मैं और माना हुआ ममत्व का संसार है।

भावना—किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब हम किसी मान्यता को अंगीकार कर लेते हैं और उसका हमारे जीवन में कुछ उपयोग भी प्रतीत होता है तब वह मान्यता हमारी भावना बन जाती है। जैसे देश को एक माता के रूप में मान्यता देने पर देशभक्ति की भावना बन जाती है। इसी प्रकार मूर्ति को भगवान् के रूप में मान्यता, क्रॉस को क्राइस्ट के रूप में मान्यता, ताजिया को हसन-हुसैन के बलिदान के प्रतीक रूप में मान्यता, झण्डे को देश की प्रतिष्ठा के रूप में मान्यता। ये सब मान्यता ही भावना बन जाती है और धीरे-धीरे पूरा समाज उसे मानने लगता है। तब यह एक मन की मान्यता न होकर समूह मन की भावना बन जाती है। मन व्यक्ति का ही होता है समूह का नहीं। लेकिन प्रारम्भ में किसी एक शक्तिशाली मन की मान्यता प्रचार द्वारा अन्यों के मन को भी प्रभावित करने लगती है और धीरे-धीरे पूरे समाज की मान्यता बन जाती है। कोई भी नेता पूरे समूह को जगाने या भड़काने के लिए ऐसी ही सामूहिक भावना का स्पर्श करने का प्रयास करता है। इससे बड़ी-बड़ी क्रान्तियां हो जाती हैं। कुछ समाज के हित में और कुछ युद्ध, हिंसा, रक्तपात भड़काने वाली मानवता के अहित में। मान्यता जब भावना बन जाती है तब उसकी जड़ें मानव मन में गहरी स्थापित हो जाती है जिसे उखाड़ना सरल काम नहीं है। इसे परम्परा का बल मिल जाता है। अच्छी भावना समाज की श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। जब तक ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मलाभ नहीं हुआ तब तक तो मन का खेल चलेगा। तब तक मन कुछ न कुछ मान्यता रखना चाहेगा, कुछ भावना भी ग्रहण करना चाहेगा। उस समय उसको दूषित भावना के स्थान पर पवित्र भावना दी जाए तो वह भी मन को परिष्कृतकर ज्ञानप्राप्ति में सहायक बन सकती है। गीता में कहते हैं—

> **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**
> **तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।** 7/21, गीता

'जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, मैं उस भक्त की उस देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर कर देता हूं।'

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।। 7/22, गीता

'भगवान् कहते हैं वह पुरुष श्रद्धा से युक्त हुआ देवता के पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे द्वारा विधान किए हुए उचित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है।' भगवान् ने श्रद्धा को बड़ा मूल्यवान तत्त्व माना है चाहे वह श्रद्धा तनिक घटिया स्तर की भी हो किन्तु वह मन के एकाग्रीकरण तथा मन के विकास में सहायक होती है। भगवान कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। 9/23, गीता

'श्रद्धा से युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवता को भी पूजते हैं वे भी मेरे को ही पूजते हैं। चाहे वे विधिपूर्वक न भी पूजते हों।' जैसी उदारता भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इस वचन में दर्शायी है वैसे यदि अन्य पंथों के पैगम्बर भी अन्य मतावलम्बियों के प्रति दर्शाते तो सम्भवतः पंथों की अज्ञानजनित कट्टरपंथी द्वेष-भावना से होने वाले अत्याचार एवं रक्तपात न हो पाते।

यदि भावना शुद्ध हो और उदार हो तो वह जीव के विकास में सहायक होती है, बाधक नहीं। और मानव समाज के लिए भी वरदान बनती है, अभिशाप नहीं। जब भावना अज्ञानजनित होती है, विवेकहीन होती है, अनुदार एवं द्वेषपूर्ण होती है तो दूसरे धर्मों एवं पंथों के श्रद्धालुजनों को उनकी श्रद्धा के कारण सम्मान देने के स्थान पर उन्हें अपना शत्रु मान लिया जाता है और हमसे भिन्न श्रद्धा होने के कारण उन्हें काफिर, हिडेन (Headen), पैगन, नास्तिक, झूठा कहकर उनके प्रति घृणा का प्रचार किया जाता है और उन्हें मारकर बहिश्त (स्वर्ग) प्राप्त करने का मिथ्या प्रचार किया जाता है।

भगिनी निवेदिता ने लिखा है कि हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें सहिष्णुता एवं उदारता का सद्गुण है।

हिन्दू समाज के भीतर जितने पंथ, सम्प्रदाय हैं उन सबमें इष्टदेव की स्वाधीनता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी भावना एवं श्रद्धा के अनुसार हर व्यक्ति अपने मन के अनुकूल देव चुन सकता है। घर में माता वैष्णव, पिता शैव, पुत्र आर्य समाजी, पुत्री दुर्गाभक्त सब परस्पर प्रेम से रह सकते हैं। हिन्दू धर्म ने बौद्ध व जैन, वेद-निन्दक प्रचारकों को कभी नहीं सताया और न प्रचार से रोका। चार्वाक जैसे घोर नास्तिक भौतिकवादी को भी अपने सिद्धान्त के प्रचार की खुली छूट दी

गई। इसकी तुलना में ईसाइयों ने गैर-ईसाइयों का तो कत्लेआम किया ही, उन्होंने ईसाइयों में भिन्न-भिन्न पंथों को भी सहन नहीं किया और भिन्न विधि से ईसा की ही पूजा करने वाले रोमन कैथोलिक और प्रोटैंस्टैन्ट दोनों ही ईसाई, दोनों ही परस्पर को जीवित जलाते रहे।

इसी प्रकार इस्लाम ने अपने पंथ के प्रचार के लिए तबलीग के नाम पर जेहाद छेड़कर मानवता के रक्त की होली खेली।

यदि ईसा का भारत में जन्म होता तो उन्हें सूली पर न चढ़ना पड़ता। यदि गैलीलियो, कोपरनिकस, जीनो, ब्रूनो भारत में जन्म लेते तो उन्हें सता-सता कर मारा न जाता और न चौराहे पर जलाया जाता। न घर समेत फूंका जाता।

यदि हजरत मुहम्मद और उनके अनुयायी शिष्यों में गीता जैसी उदारता होती तो मानवता का बहुत बड़ा विनाश रुक जाता।

गीता कहती है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।। 17/3, गीता

'यह पुरुष श्रद्धामय है। और जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वास्तव में वह वही है।' जिसकी श्रद्धा हत्या, हिंसा में है वह हिंसक है। जिसकी श्रद्धा जीवदया में है वह दयालु है। जिसकी श्रद्धा भगवान् में है वह भागवत (भक्त) है। जिसकी श्रद्धा भोग में है वह भोगी है। जिसकी योग में है वह योगी है। मानव के हाड़-मांस के शरीर के भीतर जो श्रद्धामय पुरुष है, वही वास्तविक पुरुष है। बाहर दिखने वाला पुरुष तो दिखावा मात्र एवं नश्वर है। उसके भीतर वाला श्रद्धामय पुरुष ही लोक-लोकान्तर, जन्म-जन्मान्तर तक अपना प्रभाव दिखाता है। बुद्ध का पंच-भौतिक शरीर कभी का जा चुका किन्तु उनका श्रद्धारूप व्यक्तित्व अभी भी जीवित एवं अमर है।

इसी प्रकार ईसा, महावीर, श्रीकृष्ण, शंकराचार्य आदि अपने श्रद्धामय शरीर से अभी भी मानवता को मार्गदर्शन देते हैं और मानवता की श्रद्धा का अर्घ्य प्राप्त करते हैं। वे श्रद्धामय पुरुष आज तक मानवता में श्रद्धा जगाते हैं और मानव उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

भगवान् गीता में कहते हैं श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 4/39, गीता

'हे अर्जुन! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है, ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।' श्रद्धावान पुरुष का तत्पर और संयतेन्द्रिय दोनों होना अनिवार्य है, तभी ज्ञान की

प्राप्ति होगी। यदि श्रद्धावान व्यक्ति अपने कार्य में श्रद्धा तो रखता है किन्तु कार्य में तत्पर नहीं रहता, तब उसे सफलता मिलने में संदेह है। तत्पर का अर्थ है उसी के परायण (शरणागत) और निरन्तर लगा हुआ। अनेक लोग ईश्वर में श्रद्धा रखते हैं किन्तु उसके शरणागत होकर सब कुछ उसी को समर्पित नहीं करते और ईश्वरप्राप्ति की साधना में निरन्तर नहीं लगे रहते। इसलिए श्रद्धा होकर भी उन्हें ईश्वर का ज्ञान नहीं होता।

मालवीयजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का संकल्प लिया। तब वकालत, राजनीति आदि सब कार्य छोड़कर एक उसी कार्य में तन एवं प्राण से लग गए। उनकी तत्परता के कारण उन्हें सफलता मिली। लोग थोड़ी देर साधना करके हताश-निराश होकर बैठ जाते हैं। वह भी ज्ञान का अधिकारी नहीं बनता। तत्पर साधक सतत अखण्ड साधना करता रहता है। उसके मन में अक्षय ध्येयनिष्ठा होती है। जो कभी कम न होकर निरन्तर अधिक प्रदीप्त होती रहती है। गीता के द्वादश अध्याय में भगवान् **'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' (12/2)** शब्द का प्रयोग किया है। इसका भाव है परम तत्त्व के प्रति अतिशय श्रद्धायुक्त भक्त भगवान् की दृष्टि में अति उत्तम योगी है। जो श्रद्धा क्षणिक या अल्पकालीन होती है वह सच्ची श्रद्धा नहीं है। वैसे तो जन्म से हर कांटा भी कोमल होता है, फूल वही है जो कोमल ही रहे सारी उम्र।

कभी-कभी राम जपने वाले बगुला भक्त लाखो हैं।
जीवन के श्वास-श्वास राम कहें धन्य हैं वे।।

श्रद्धा और तत्परता के साथ संयतेन्द्रिय होना भी आवश्यक है। जिसका इन्द्रियों पर संयम नहीं है उसकी इन्द्रियां मन की लगाम ढीली होने के कारण दुष्ट घोड़ों के समान रथ (शरीर), सारथि (जीवात्मा) दोनों को विनाश के मार्ग पर गिरा देगी। इसलिए इन्द्रिय चंचलता के कारण जिसका मन इधर-उधर अनेक लोभ एवं भोग के विषयों में भटकता रहेगा वह सतत साधना नहीं कर सकेगा। उसका मन एकाग्र नहीं होगा और परिणामस्वरूप उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

गीता के 17वें अ. के चौथे श्लोक में भगवान् ने श्रद्धा के तीन प्रकारों की चर्चा की है। सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक श्रद्धा से लोग देवता को पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष और राक्षस को पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

श्रद्धा एक अद्‌भुत आध्यात्मिक शक्ति बन जाती है। मनुष्य के चरित्र की बड़ी मूल्यवान पूंजी है। नैतिकता, सेवा, सदाचार एवं आध्यात्मिक साधना सभी श्रद्धा द्वारा ही सम्भव है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण के प्रारम्भ में लिखा है—

भवानीशंङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।। 1/2

'मैं श्रद्धा और विश्वासरूप भवानी और शंकर की वंदना करता हूं। जिनके बिना सिद्धपुरुष भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते।'

कुछ मनोवैज्ञानिक श्रद्धा को मन का हिप्नोटिज्म मानते हैं जिसमें मनुष्य की तर्कशक्ति को सुलाकर उसकी मान्यता शक्ति को जगा दिया जाता है। Objective mind आपत्ति करता है किन्तु Subjective mind श्रद्धालु प्रजा (Subjects) के समान आत्मसमर्पण कर देता है। मेस्मेरिज्म में व्यक्ति की तर्क प्रवृत्ति को सुलाकर उसके मान्यता वाले मन को जादूगर अपने अधीन कर लेता है और उससे मनमानी बातें मनवाता रहता है। यह मन की श्रद्धाशक्ति का दुरुपयोग भी है। कई लोग हिप्नोटिज्म के द्वारा कुछ कल्याण के कार्य भी साधते हैं। किन्तु अंधश्रद्धा द्वारा मानव के हित की अपेक्षा उसका अहित ही अधिक होता है। धार्मिक एवं राजनीतिक अत्याचारों के पीछे अंध श्रद्धायें कारण होती है।

श्रद्धा सात्त्विक (पवित्र) तथा परम तत्त्व के प्रति समर्पित होनी चाहिए। 'श्रद्धया परयोपेताः' परम तत्त्व के प्रति परिपूर्ण श्रद्धा। परम तत्त्व परम सत्य है। इसे तर्कसम्मत ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। ज्ञान साधना में बुद्धि बहुत सीमा तक सहायक होती है। बुद्धि के विवेक बिना सत्-असत् का, सही-गलत का, तर्क-कुतर्क का निर्णय हो ही नहीं सकता। केवल अन्तिम सीमा पर पहुंचकर बुद्धि का अहंकार भी छोड़ना पड़ता है। तब हम सत्य के साधक स्तर से ऊंचे उठकर स्वयं सत्य की सिद्धि से सत्यस्वरूप बन जाते हैं। क्योंकि श्रद्धा भी सत्य के प्रति है और श्रद्धा साधना की सीढ़ी है। इसलिए श्रद्धा कभी अंधी, विवेकविरोधी एवं तर्कहीन नहीं होनी चाहिए।

श्रद्धा सात्त्विक तभी हो सकती है जब उसके द्वारा स्वयं हमें और हमारे इर्द-गिर्द के लोगों को प्रकाश और शान्ति मिले।

यदि अंधश्रद्धा के कारण अज्ञान, अशान्ति और रक्तपात होता है तो वह तमोगुणी श्रद्धा मानव को गिराने वाली है। गीता तथा हमारे धर्मशास्त्रों में श्रद्धा की महिमा गायी गई है। वह परम तत्त्व के प्रति सात्त्विक श्रद्धा ही है।

किसी अधिनायक ,राजा या राजनीतिक नेता के प्रति अंधश्रद्धा अज्ञान एवं अशान्ति का कारण बनती है। इसलिए इससे मानव को बचना चाहिए।

श्रद्धा का विषय होना चाहिए—परम तत्त्व। श्रद्धा का प्रकार होना चाहिए—सात्त्विक।

श्रद्धा और भक्ति—कुछ विचारक श्रद्धा को ही भक्ति मानते हैं। किन्तु महर्षि शांडिल्य का कथन है कि श्रद्धा भक्ति का सहायक तत्त्व है स्वयं भक्ति नहीं है। भगवान् गीता में यही कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। 12/2, गीता

'मेरे में मन को आविष्ट करके नित्य मेरे से जुड़े हुए परम तत्त्व के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण होकर जो मेरी उपासना (भक्ति) करते हैं वे श्रेष्ठतम भक्ति-योगी हैं।'

इसमें भक्ति के सहायक तीन तत्त्व गिनाये गये हैं—

मन को पूर्ण रूप से भगवान् में लगाना, नित्य भगवान् से ही जुड़े रहना या नित्य निरन्तर साधना में लगे रहना और परम तत्त्व के प्रति श्रद्धा से पूर्ण होना। यदि श्रद्धा ही भक्ति का पर्याय होती तो उपासना के लिए श्रद्धा को सहायक रूप में वर्णित नहीं किया जाता। इस प्रकार श्रद्धा स्वयं ही भक्ति नहीं बल्कि भक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व है।

भावना और भावुकता

भक्ति एक सात्त्विक सतत समर्पण भावना है। यह मात्र भावुकता नहीं। भावुकता मन का अल्पकालिक आकस्मिक उबाल होता है जिसमें मनुष्य आवेश में आकर कुछ अनर्गल बातें या कृत्य कर बैठता है। कई बार वह भक्त के समान दिखाई देता है किन्तु बाद में होश आने पर अपने ही किए पर पछताने लगता है। अतः वह भक्त नहीं कहला सकता। भक्त अपनी सूझ-बूझ के साथ बिना क्षणिक आवेश के यह समझता है कि उसका जीवन आराध्यदेव के लिए समर्पित है। यह जानते हुए कि इस नश्वर शरीर को भक्ति साधना द्वारा अविनश्वर परमपद या परमेश्वर के प्रेम को पाना है, वह अपनी सारी भावना को इस बौद्धिक निश्चय पर उड़ेल देता है। अतः व्यक्ति का एक भाव Sentiment है मात्र मानसिक (Emotion) नहीं। आवेश में मनुष्य अंधा हो जाता है और वह लक्ष्य भी भूल जाता है। किन्तु भावना में लक्ष्य का निरन्तर स्मरण रहता है और भक्त अपनी सारी क्रियाओं को लक्ष्य की ओर ही प्रेरित करता है। भावुकता एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसमें बुद्धि या विवेक दब जाते हैं और परिणाम कैसा होगा, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। किन्तु भक्ति में भक्त का विवेक कायम रहता है। उसके मन में आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती है और परिणाम सदा मंगलकारी ही होते हैं। भावना वाला व्यक्ति एक महान् पुरुष, इतिहास निर्माता या पूज्य प्रेरक बन जाता है। किन्तु भावुक व्यक्ति कुछ क्षणिक उबाल के बाद नष्ट हो जाता है। वह इतिहास का कूड़ा-कचरा बन जाता है।

तमोगुणी भक्ति—भूत-प्रेत की पूजा, आसुरी यज्ञ आदि में बुद्धि पर तमोगुण का पर्दा पड़ जाता है। अतः वह निन्दनीय है। रजोगुणी भक्ति देवता और यक्ष-किन्नर आदि की पूजा के रूप में प्रकट होती है। रजोगुणी बुद्धि नैतिक-अनैतिक का निर्णय करती हुई भले-बुरे, हित-अहित का निर्णय करती है। अतः सामान्य भक्त इस स्तर पर रजोगुणी बुद्धि रखते हुए नैतिक-अनैतिक विवेक रखते हुए देव भक्ति करते हैं। सबसे उत्तम सतोगुणी भक्ति है जिसमें सतोगुणी बुद्धि सत् और असत् का निर्णय करती है और भक्त सत् वस्तु के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है। अतः भक्ति बुद्धि का तिरस्कार न होकर बुद्धि का उचित सत्कार है। पवित्र बुद्धि निश्चय करती है कि परमेश्वर ही एकमात्र परम सत्य है और हृदय अपनी सारी भावना इस निर्णय पर चढ़ा देता है। यही भक्ति भावना है। विवेकहीन ढंग से अपने हृदय की भावना को कहीं पटक देना भक्ति नहीं है। सात्त्विक बुद्धि के निर्णय के पश्चात् जब उसी में निश्चय करके मनुष्य टिक जाता है तो धृति कहा जाता है। सच्ची भक्ति में ये धृति या धीरज वर्तमान रहता है किन्तु क्षणिक आवेग में, भावुकता में, मानसिक रोग में, कृत्रिम भक्ति में धृति नहीं रहती। इसलिए थोड़ा-सा संकट आने पर या परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर सारी भावुकता भाग जाती है। उदाहरण के लिए देशभक्ति के नारे लगाने वाले भावुक बहुत होते हैं किन्तु देश के लिए जेल जाने, फांसी चढ़ने का अवसर उपस्थित होने पर सब भावुक देशभक्त भाग जाते हैं और भगतसिंह जैसा सच्चा देशभक्त ही सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। सच्चे भक्त को कोई भी भय, संकट या प्रलोभन अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता।

भावो हि विद्यते देवः—हमारे मन का शुद्ध भाव ही वास्तविक देवता है। स्वर्ग में रहने वाले देवता या बैकुण्ठवासी नारायण हमें फल देने में भले ही देर करें किन्तु भाव देव, अन्तर का नारायण तो हमें तुरन्त फल प्रदान कर देता है। यह मनोविज्ञान से भी सिद्ध एवं प्रमाणित है। कीट-भृंगी न्याय में फंसा हुआ कीड़ा भृंगी का चिन्तन करते हुए स्वयं भृंगी बन जाता है।

कल्पना—मन संकल्पात्मक है। वह निरन्तर संकल्प-विकल्प करता रहता है। कल्पना के पांच रूप हैं—

(क) कल्पना के द्वारा नवीन सुन्दर सृष्टि।

(ख) संकल्प-विकल्प के कारण मन की चंचलता।

(ग) काल्पनिकता के कारण मन की रची हुई सृष्टि का मिथ्यात्व।

(घ) संकल्प के कारण कर्मों का तांता।

(ङ) दृढ़ संकल्प के द्वारा इतिहास निर्माण।

जीवात्मा की कल्पवृक्ष से उपमा दी गई है। वह जैसा-जैसा चिंतन करता है वैसा ही बन जाता है। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक पथिक वन को पार करते समय भूख-प्यास से त्रस्त हो और पैदल चलते-चलते थक कर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। सोये-सोये ही सोचने लगा काश पीने को मीठा जल मिल जाता। तो देखा एक घड़ा जल उपस्थित हो गया, फिर विचार ने लगा काश भोजन की व्यवस्था हो जाती, तो नाना पकवान से भरा एक थाल उपस्थित हो गया। उनके सेवन के पश्चात् उसे निद्रा सताने लगी। तो फिर विचारने लगा काश सोने के लिए एक पलंग की व्यवस्था हो जाती। तो देखा एक पलंग उपस्थित है। उस पर लेट गया। तो फिर विचारने लगा काश कोई परिचारिका थोड़ी शरीर की सेवा कर देती। तो देखा परिचारिका सेवा के लिए उपस्थित हो गई और सेवा करने लगी। तभी उसे विचार आया कहीं बाघ आकर मुझे खा तो नहीं जायेगा। इतने में एक बाघ आकर उसे खा गया।

बेचारे पथिक को पता नहीं था कि जिस वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा है वह कल्पवृक्ष है। और जब कल्पना ही करनी है तो बुरे की कल्पना क्यों करूं। वास्तव में जीवात्मा या मन कल्पवृक्ष ही है, वह जैसी-जैसी कल्पना करता है, स्वप्न देखता है वैसा ही बन जाता है। मदन मोहन मालवीयजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना की उसका स्वप्न देखा तो वह बन गया। हमारे वीर पुरखों ने भारत को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराने की कल्पना की तो भारत स्वाधीन हो गया। अतः मनुष्य जैसा सोचता है, जैसा स्वप्न देखता है, वैसा ही बन जाता है। इसलिए मानव मन की जीवात्मा की उपमा कल्पवृक्ष से दी जाती है। अतः मानव मन की, महत्ता को जानकर सकारात्मक एवं महान् कल्पना ही करनी चाहिए, महान् स्वप्न ही देखने चाहिए।

(क) कल्पना के द्वारा नवीन सुन्दर सृष्टि—जिस प्रकार ब्रह्माजी अपने संकल्प द्वारा नवीन सुन्दर सृष्टि की रचना करते हैं उसी प्रकार मानव मन जाग्रतावस्था में अपनी कल्पना द्वारा सुन्दर कविता, साहित्य, नाटक, संगीत, भवन निर्माण आदि की रचना करता है। स्वप्नावस्था में अपनी जाग्रत् की अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु सुन्दर दृश्यों, व्यक्तियों, वस्तुओं की रचना करता है। कई बार वह अपने मन के छिपे हुए वैर, घृणा और भय के भावों की पूर्ति के लिए कल्पित शत्रुओं एवं कल्पित भय के कारणों की रचना करता है। मन कल्पनामय है। वह अपने मन के कल्पित लड्डू बनाकर भोग लगाता रहता है।

(ख) संकल्प-विकल्प के कारण मन की चंचलता—मन संकल्प करता है, पुनः विकल्प करता है। यह कार्य करूं अथवा न करूं, गीता पर लिखूं अथवा घर जाकर खाना खाऊं। रांची में रहूं या न रहूं, पढ़ाई करूं या न करूं।

इस प्रकार मन निरन्तर डोलता रहता है। इसी संकल्प-विकल्प के झोंकों में मन चंचल रहता है। यदि क्षण भर के लिए भी संकल्प रुक जाए तो मन का अस्तित्व ही लुप्त हो जाए। महर्षि वसिष्ठ राम से कहते हैं—हे रामजी! एक क्षण भर के लिए संकल्प को रोककर बताओ कि मन का अस्तित्व कहां है। सुषुप्ति काल में संकल्प-विकल्प रुकते ही मन और मन का रचा हुआ सारा संसार न जाने कहां लुप्त हो जाता है।

'चित्तमेव ही संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।' राग-द्वेष आदि क्लेशों से दूषित यह चित्त ही तो संसार है। चित्त के लय होते ही संसार लय हो जाता है। चित्त में संकल्प-विकल्प की वृत्तियों को न उठने देना ही योग है। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगी योग द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहता है। ध्यानयोगी निर्विकल्प समाधि द्वारा चित्तवृत्तियों को लय करने का प्रयास करता है। भक्तियोग में भक्त भक्ति द्वारा चित्त की सारी वृत्तियों को भगवान् के प्रति समर्पित करता है। कर्मयोगी अपनी चित्तवृत्तियों द्वारा शुभ कर्म करके अपने कर्म एवं कर्मों के फल भगवान् को समर्पित करता है। सुषुप्ति में अपने आप सब की चित्तवृत्तियां लय हो जाती हैं। अतः वहां कोई योग साधना सम्भव नहीं है।

पताका—भगवान् शंकराचार्य ने मन की उपमा एक ऊंचे पर्वतशिखर पर बने हुए मन्दिर के सर्वोच्च शिखर पर लगी हुई पताका से दी है जो दसों दिशाओं की 49 पवनों के थपेड़ों से निरन्तर हिलती ही रहती है। भारतीय साहित्य परम्परा में मन को मीन कहा गया है। जैसे मछली जल में निरन्तर हिलती ही रहती है वह स्थिर नहीं रहती इसलिए मन को मकर (मीन) और मन के देवता मनोज (कामदेव) को मकरध्वज या मीनकेतु कहा गया है।

एक तो पताका का स्वभाव निरन्तर हिलने का ही है। तिस पर मछली कभी शांत रह ही नहीं सकती। इसलिए इस उपमा में चंचलता का ही पुट चढ़ाया गया है। मछली जब शांत या स्थिर हो जाए तब समझना चाहिए कि मछली मर गई। इस प्रकार जब चंचल मन मर जाता है तब योगसमाधि का शान्तिलाभ होता है। मछली की उपमा का एक दूसरा भाव है—पानी भीतर मीन प्यासी, मोहे लख-लख आवे हांसी।

मछली—वास्तव में मछली जल में रहती, खेलती, क्रीड़ा-कौतुक करती और जीवनभर जल में ही रहती है। जीवन ही उसका जल है, जल से विलग होने पर तुरन्त मर जाती है। किन्तु यदि सीधे तैरते हुए अपने आप जल उसके मुख में प्रवेश कर सके तब तो मछली जल की अधिकता के कारण ही मर जायेगी। जैसे तैरते हुए मनुष्य के मुख में पानी जाने की सम्भावना रहती है और अधिक पानी अन्दर चले जाने पर उसका प्राणान्त हो जाता है। वैसा मछली के साथ नहीं है।

उसके शरीर की रचना ही ऐसी है कि सीधे तैरते हुए उसके मुख में पानी जा ही नहीं सकता। मछली को जब पानी पीने की इच्छा होती है तब वह पीठ के बल उलटी हो जाती है। तभी आवश्यकतानुसार वह पानी पी सकती है। यह मछली का दृष्टान्त मानव जीवन पर भी लागू होता है। मानव मन जब तक संसार के विषयों की तृष्णा में फंसा रहता है तब तक उसे ब्रह्मानन्दरस नहीं मिलता। संसार के भोग विलास के प्रति पीठ दिखाकर उलट जाने से मन ब्रह्मानन्दरस का आस्वादन करता है। मन जड़ता की ओर से पीठ दिखाए तब चेतना का आनन्द प्राप्त करता है। ब्रह्मानन्दरस का आस्वादन होने के पश्चात् संसार के विषयों के प्रति अपने आप आकर्षण समाप्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59, गीता

इसी भाव को गुरु नानकदेव ने कहा है—

'वो रस आवा यह रस नहीं भावा।'

गुरु द्रोणाचार्य निर्धनता के कारण अश्वत्थामा को दूध के स्थान पर आटे का घोल पिलाते रहते थे। पर जब एक बार ननिहाल गया और उसे असली गाय का दूध पीने को मिला तब वापस आने पर आटे के घोल को पीने से इनकार कर दिया क्योंकि उसने असली दूध चख लिया था।

जल और मछली की उपमा का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि सब ओर दूर-पास में जल ही जल होने पर जल में जीने वाली, जन्मने वाली मछली प्यासी क्यों है? इसी भाव को वेद कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अनन्त जलराशि के केन्द्र में खड़ा होकर जल के लिए ही तृषा से जल रहा हूं। वे सबके रक्षक भगवान् मेरी जन्म-जन्म की प्यास को तृप्त कर दें।

वेद की इस प्रार्थना में वेदान्त तत्त्व का बीज है। ब्रह्म सर्वव्यापक, अणु-अणु में व्याप्त स्वयं भक्त की जिह्वा वाणी की पुकार में भी व्याप्त है। भक्त आत्मा रूप से ब्रह्म में ही स्थित है किन्तु ब्रह्म के दर्शन के लिए तरस रहा है। यह कितना विचित्र रहस्य है। वेदान्त के इस रहस्य का वर्णन करना ही रहस्यवाद कहलाता है जिसके तीन स्तर हैं—

जीव-ब्रह्म की मूलभूत एकता
ब्रह्म की सर्वव्यापकता
प्रकृति के अणु-अणु में परमेश्वर की झांकी
सर्वव्यापक परमेश्वर की प्राप्ति के लिए व्याकुलता
फिर आत्मा का परमात्मा में मिलन

परमसत्ता के रहस्यमय संकेत, रहस्य को जानने के लिए व्याकुलता और रहस्य का उद्घाटन। यही रहस्यवाद है।

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
(रहस्य का आकर्षण)

लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गई लाल।।
(रहस्योद्घाटन)

मछली और जल की उपमा का भक्तों एवं वेदान्तियों, दोनों ने उपयोग किया है। जैसे मछली जल के लिए तरसती है और जल से विलग कर देने पर तड़प-तड़प कर मर जाती है। इसी प्रकार भक्त भगवान् के दर्शन बिना तड़पने लगता है। महात्मा रविदासजी कहते हैं—

प्रभु जी! तुम सागर हम मीन।

गुरु नानकदेव कहते हैं—

हरि चरण कमल मकरंद लोभित
मनु अणु बिन आ ही प्यासा।
कृपा जल दे नानक सारग को
होवी जाते तेरे नाम वासा।।

वे पुनः कहते हैं—

आखां जीवां विसरे मर जावां

गोस्वामी तुलसीदासजी गृहस्थाश्रम की महत्ता में प्रभु भक्ति के समान पतिव्रता की पतिभक्ति को भी जल और भक्ति की उपमा से समझाते हैं। सीता भगवान् राम से कहती है—

जल बिनु मीन नदी बिनु बारी।
तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी।।

बंदर—मन की तीसरी उपमा चंचल बंदर से दी जाती है। बंदर भी बहुत चंचल एवं सदा अस्थिर-सा रहता है। कुछ न कुछ हिलने-डुलने व करने में सदा लगा रहता है। जब कोई कार्य न हो तब भी खेल, उत्पात करता रहता है। कबीर ने कहा है—

बाजीगर का बांदरा ऐसा मन जीव साथ।
नाना नाच नचाय के राखत अपने हाथ।।

जीव के साथ उसका मन बाजीगर के बंदर के समान है। कलंदर बंदर को बांधकर स्थान-स्थान पर नाच नचाने के लिए ले जाता है। किन्तु बंदर के साथ

कलंदर को भी जगह-जगह भटकना पड़ता है। बंदर के नाच के साथ-साथ कलंदर को आधा खेल स्वयं खेलना पड़ता है। वह उसका प्रशिक्षक भी है और खेल का साथी भी। जहां बंदर वहां कलंदर। जहं मन तहां जीव। इसलिए विचार कर देखने पर प्रतीत होता है कि कलंदर ने बंदर को क्या बांधा है बंदर ने ही कलंदर को बांध रखा है। मन ही जीव को 84 लाख योनियों में नचाकर फिर भी डोरी अपने हाथ रखता है। जीवन के नाश और पुनर्जन्म की डोरी मन के ही हाथ में है।

सूरदासजी कहते हैं—

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दे ताल।।

जब मन की तृष्णा या कामना शांत हो जाती है तब मन का उत्पात समाप्त हो जाता है। तभी स्थितप्रज्ञ को आत्मानन्द का अमृत मिलता है। जब तक कामना तब तक मन रूपी बंदर का उत्पात। तब तक जन्म-जन्मान्तर में नाच। तृष्णा के क्षय में ही जीवन्मुक्ति, निर्वाण है।

तृष्णाक्षयो हि मुक्तिः

ऐसे जीवन्मुक्त की स्थिति को ब्राह्मीस्थिति कहा जाता है। इसमें सब कामनाओं की अग्नि का निर्वाण हो जाता है। कामनाक्षय के साथ मन का भी क्षय हो जाता है और बुद्धि निरन्तर ब्रह्मविषयिणी बन जाती है। ऐसी ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला व्यक्ति जब शरीर त्यागता है तो वह परामुक्ति का लाभकर ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 2/72, गीता

गीता में अर्जुन ने भी मन की चंचलता की समस्या भगवान् के सामने रखी—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। 6/34, गीता

इसके उत्तर में भगवान कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। 6/35, गीता

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में करने का उपाय बड़ा मनोवैज्ञानिक है। वैराग्य द्वारा मन के कुसंस्कारों के झाड़-झंखाड को उखाड़कर मन का शोधन किया जाता है और अभ्यास द्वारा मन को अच्छे संस्कारों की पुट (भावना) देकर मन का रंजन किया जाता है। मैल छुड़ाना वैराग्य है और अच्छा

रंग चढ़ाना अभ्यास या रंजन है। रजक दो काम करता है धोने का और रंगने का। संस्कार भी मन को धोता है और अच्छा रंग चढ़ाता है।

मन का स्वभाव है कि उस पर संगत की रंगत अवश्य चढ़ती है। कुसंग से मन कुसंस्कारी हो जाता है और सत्संग द्वारा पवित्र संस्कारी बन जाता है। शंकराचार्य ने कहा है—'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वं निःसङ्गत्वे निर्मलचित्तम्'।

सत्संग के द्वारा मन जगत् के प्रति नि:संग (वैराग्य) हो जाता है और जगत् के प्रति वैराग्य ही चित्त को निर्मल कर देता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने सत्संग की महिमा में कहा है—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी की पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की हरे कोटि अपराध।।

(ग) काल्पनिकता के कारण मन की रची हुई सृष्टि का मिथ्यात्व— मन की सारी सृष्टि कल्पना या संकल्प द्वारा ही रची जाती है इसलिए अन्तिम परीक्षण करने पर वह असत्य या मिथ्या ही सिद्ध होती है। स्वप्न की सृष्टि अचेतन मन की कल्पना होने से कुछ काल बाद असत्य प्रमाणित हो जाती है। जाग्रत् की सृष्टि चेतन मन की कल्पना होने के कारण काल का तमाचा या ज्ञान की चपत लगने पर असत् सिद्ध हो जाती है। जगत् की सृष्टि ब्रह्मा के संकल्प से पैदा होने के कारण स्वप्न और जाग्रत् की अपेक्षा स्थायी होती है। किन्तु महाप्रलय में वह भी असत् सिद्ध हो जाती है। स्वप्न माया, जाग्रत् माया और जगत् माया सब मिथ्या माया का ही खेल है। माया का अर्थ ही है मन की कल्पना का रचा हुआ सुन्दर खेल, मनमोहक सृष्टि जो वास्तव में है नहीं पर भासमान हो रही है। माया, मा = नहीं, या=जो। यानी जो नहीं है। जो है नहीं पर है के समान दीखती है।

(घ) संकल्प के कारण कर्मों का तांता—प्रत्येक कर्म कुछ करने की इच्छा के रूप में उदय होता है, इसे संकल्प कहते हैं। मन की संकल्पात्मक वृत्ति ही सभी कर्मों का मूल उत्स है। संकल्प ही कर्म का मानसिक रूप है। कर्म संकल्प का ही प्रकट रूप है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष प्रसुप्त पड़ा हुआ है और उचित खाद-पानी, परिस्थिति मिलने पर वह वृक्ष के रूप में खिल उठता है, प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार संकल्प का बीज ही उचित एवं अनुकूल देश-काल, पात्र-परिस्थिति पाकर कर्म के रूप में प्रकट हो जाता है। संकल्प प्रसुप्त कर्म है और कर्म प्रकट संकल्प है।

Willing is latent action and action is patent willing.

संकल्प और विकल्प परस्पर मिली हुई और विपरीत दिशा में ले जाने वाली वृत्तियां हैं। दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से मन में हलचल होती है। संकल्प रजोगुण

की ओर ले जाना चाहता है विकल्प तमोगुण की ओर अथवा कार्यविरोधी रजोगुण की ओर। संकल्प-विकल्प के घात-प्रतिघात से जो संकल्प अधिक बलवान होता है वही कर्म रूप में फलता है। बहुत से संकल्प तो संकल्प की दुर्बलता, देश-काल की प्रतिकूलता, पात्र की मानसिक शिथिलता और परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण कर्म में प्रतिफलित नहीं हो पाते हैं। वे इच्छा मात्र ही रह जाते हैं। सुस्पष्ट भावना या दृढ़ संकल्प के रूप में परिणत नहीं हो पाते।

If wishes are horses, begger would ride.

यदि इच्छायें घोड़े बन जाएं तो सभी भिखमंगे घुड़सवार बन जाएंगे। भिखमंगे किसी सुन्दर घुड़सवार को किसी सुन्दर घोड़े पर सुन्दर वेश-भूषा में देखते हैं तो उनके मन में भी कामना पैदा होती है कि काश! हम भी ऐसे सजे-सजीले घुड़सवार बनते। किन्तु उनकी वह दुर्बल कामना कामनामात्र ही रह जाती है। वे घुड़सवार तो तभी बन सकते हैं जब उनकी कामना ही घोड़ा बन जाए और वे उस पर सवार हो जाएं। इस प्रकार दुर्बल संकल्प वाले व्यक्ति कामनाओं के घोड़े दौड़ाते रहते हैं या मन के मोदक खाकर अपनी कल्पित तृप्ति करते रहते हैं। ऐसी दुर्बल कामनाओं की पूर्ति कभी रात्रि स्वप्न में प्रकट होती है कभी दिवास्वप्न में। पञ्चतन्त्र की मन के सत्तू खाने वाले ब्राह्मण की कथा ही कुछ नाम बदलकर ईसप की ग्वालन की कथा के रूप में यूरोप में प्रचारित हुई है।

एक ब्राह्मण को यजमान से मुट्ठीभर सत्तू मिला। उसने अपनी चारपाई पर लटके हुए एक घड़े में वह सत्तू डाल दिए और दिवास्वप्न लेने लगा—धीरे-धीरे घड़ा सत्तू से भर जाएगा, इसे बाजार में बेचूंगा, उससे एक बाछी लूंगा, वह बड़ी होकर दूध देगी। उससे अनेक बाछियां होंगी। कुछ बैल भी होंगे। दूध और कृषि के व्यापार से मैं धनवान बन जाऊंगा। गांव की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी से विवाह करूंगा। उससे कई बच्चे होंगे। बच्चे चारों ओर से घेर करके पैसा और मिठाइयां मांगेंगे। मैं बच्चों को डांटकर मां के पास भेजूंगा। मेरी पत्नी चौके-चूल्हे के बोझ में फंसी हुई रोष में कहेगी, इन्हें आप ही सम्हालें। इस पर क्रोध में पत्नी को लात मारूंगा। इस प्रकार ज्योंही उसने लात चलाई घड़ा फूट गया और सब सत्तू उस पर ही बिखर गया।

ईसप की कथा में एक ग्वालिन दूध बेचने जा रही है। सिर पर दूध का पात्र है। वह सोचती है दूध के बेचने से जो आय होगी उससे मुर्गियां खरीदूंगी, उससे अण्डे होंगे। अण्डों से फिर मुर्गियां। उससे मेरा बड़ा मुर्गाखाना हो जाएगा। मैं धनवान हो जाऊंगी। गांव का सबसे धनी एवं सुन्दर नवयुवक मुझसे ब्याह करना चाहेगा। मैं अपने धन, सौन्दर्य के घमण्ड में नाज नखरे से सिर हिलाकर इनकार

कर दूंगी और सिर हिलाते ही दूध का मटका धरती पर गिर गया और उसके कामना का दिवास्वप्न टूट गया।

संकल्प एक कामना है जो मन में अभाव से पैदा होती है। जिस वस्तु का हमारे पास अभाव है उसी को पाने की इच्छा ही कामना है।

संकल्प से ही मानसिक कर्म प्रारम्भ हो जाता है। यदि वह प्रत्यक्ष बाह्य कर्म के रूप में प्रकट हो जाए तो बाहर के जगत् में सबको दिखाई देने वाला कर्मों के घात-प्रतिघात का नाटक प्रारम्भ हो जाता है। यदि देश-काल, पात्र-परिस्थिति अनुकूल न हो और संकल्प दुर्बल हो तो कामना बाहर प्रत्यक्ष कर्म के रूप में प्रकट न होकर अचेतन अथवा अर्धचेतन मन में अपना वंश विस्तार करती रहती है। एक कामना से दूसरी, दूसरी से तीसरी, इस तरह कामनाओं का मानसिक तांता चलता रहता है।

जो प्रत्यक्ष विश्वमंच पर युद्ध एवं महायुद्ध देखते हैं वह भी पहले मानव के मन में संकल्परूप से उदय होते हैं। संसार के प्रकट इतिहास में द्वितीय महायुद्ध सितम्बर 1939 में प्रारम्भ हुआ किन्तु उससे पूर्व जर्मनी और इंग्लैण्ड के एवं उसके मित्र राष्ट्रसमूह के बीच मानसिक युद्ध 1919 से ही चल रहा था। आजकल भी रूसी ब्लाक और अमेरीकन ब्लॉक के बीच, भारत और पाकिस्तान के बीच शीतयुद्ध जारी है जो कभी-कभी अवसर आने पर युद्ध के रंगमंच पर गरम युद्ध के रूप में भी प्रकट होता रहता है। संकल्पों का संघर्ष शीतयुद्ध (Cold War) और हथियारों का युद्ध Hot War है। ये Cold War प्रत्यक्ष गर्म युद्ध की अपेक्षा अधिक चिन्ताजनक है क्योंकि यह मन को सदा अशांत एवं सशंकित बनाए रखता है और इसी में से बार-बार गर्मयुद्ध पैदा होने की सम्भावना बनी रहती है। जब मन ही शांत नहीं तो हाथ-हथियार कब तक शांत रह सकते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं—Humanity suffers more from split mind than from split Atom. परमाणु के भेदन से मानवता इतनी दु:खी नहीं जितनी की मन के कटे-फटे होने के कारण। बट्रेण्ड रसेल ने भी इसी भाव को अपने शब्दों में कहा है—More war are caused through badtempered peoples discussing peace affairs than through goodtempered people discussing war affairs. यदि शांतस्वभाव वाले लोग युद्ध के मामलों की चर्चा करें तब इतने युद्ध नहीं होते जितने की उग्रस्वभाव वाले लोगों के शान्ति सम्मेलनों के विचार विमर्श से पैदा हो जाते हैं। भाव यह है कि यदि शांत स्वभाव वाले युद्ध सम्मेलन में विचार विमर्श करते हों तो परिणाम शान्तिपूर्ण ही होगा। इसके विपरीत

उग्र स्वभाव वाले शान्ति सम्मेलन के विचार विमर्श के लिए बैठें तो परिणामतः उस शान्ति सम्मेलन से युद्ध पैदा हो जाएगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी अपने संविधान के ध्येयपत्र में कहा है—All war begins in the minds of men. And it is there that we must build our bastion of peace. सभी युद्ध मानव मन में ही प्रारम्भ होते हैं। इसलिए हमें मानव के मानस में ही शान्ति के मोर्चों की किलेबंदी करनी चाहिए। दुर्भाग्य से पश्चिम के पास मानव के मन में शान्ति की किलेबंदी के लिए कोई कार्यक्रम या साधना नहीं है। भारत में शान्ति हमारा मात्र राजनीतिक आदर्श न होकर हमारा धार्मिक एवं आध्यात्मिक आदर्श है।

परब्रह्म परमेश्वर 'शांतंशिवमद्वैतम्' है। विष्णु भगवान् 'शांताकारं भुजंगशयनम्' हैं। हजारों फणवाले विषधारी सर्पों की शय्या के ऊपर भी वे परम शांत है। हमारी सारी आध्यात्मिक साधना शान्ति साधना ही है। भगवान् गीता में कहते हैं—'अशान्तस्य कुतः सुखम्' अर्थात् अशांत व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य च चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। 2/66, गीता

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। 2/70, गीता

'जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं; वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं वह पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोग को चाहने वाला।'

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। 2/71, गीता

क्योंकि 'जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित और अहंकार-रहित, स्पृहारहित हुआ वर्तता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।'

इसी शान्ति को भगवान् ने ब्राह्मीस्थिति भी कहा है। इसलिए जो शान्ति में स्थित है वह ब्रह्म में स्थित है। समस्त वेदमंत्रों के प्रारम्भ में ओम् तथा अन्त में ओम् शान्तिःशान्तिःशान्तिः गाने का बड़ा महान् मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है। हम परम शान्तिस्वरूप परमेश्वर का नाम लेकर वेदमंत्र (परमेश्वर की वाणी) को गाते हैं तथा अन्त में पुनः उसी शान्त ब्रह्म से प्रार्थना करते हैं ओम् शान्तिःशान्तिः शान्तिः।

हे शान्तस्वरूप परमेश्वर! हमें तन की शान्ति, मन की शान्ति और आत्मा की शान्ति प्रदान करो। हमें आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करो। व्यक्तिगत शान्ति, सामाजिक शान्ति और विश्व शान्ति प्रदान करो। वनस्पति जगत् में शान्ति, जीव (पशु-पक्षी) जगत् में शान्ति और मानव जगत् में शान्ति प्रदान करो। वेद में बार-बार शान्तिपाठ का महत्त्व है—

ॐ द्यौः शान्ति-रन्तरिक्ष (गं्) शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्-विश्वे-
देवाः शान्तिर् ब्रह्म शान्तिः सर्व (गं्) शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

'हे परमेश्वर! द्युलोक में शान्ति हो। द्युलोक और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्ष लोक में शान्ति हो। पृथ्वी में, जल में शान्ति हो। औषधियों, वनस्पतियों में शान्ति हो। विश्व देवताओं में भी शान्ति हो। हमारे सामवेद के गीतों में भी शान्ति हो। शान्ति में भी शान्ति हो। सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो। शान्तस्वरूप ब्रह्म हमें त्रिविध शान्ति प्रदान करें।'

दुर्भाग्य से आज के कुटिल राजनीतिज्ञ स्वयं मन के अशान्त होने के कारण द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक में भी बमवर्षक रॉकेट भेजकर उसे अशान्त क्षेत्र बना रहे हैं। पृथ्वी को युद्ध की ज्वालाओं से अशान्त बना ही रहे हैं। शत्रु देश में बहने वाली नदियों में विष मिलाकर जल को भी अशान्त बना रहे हैं। जहरीली औषधियों, गैसों एवं रोग के भीषण कीटाणुओं की वर्षा करके औषधियों को अशान्त कर रहे हैं एवं रोगों की महामारियों से मानवता को मारने पर तुले हैं। प्राचीनकाल में हमारी सारी औषधियां जड़ी-बूटी, वनस्पतियों और खनिज पदार्थों से बनती थी।

आजकल की ऐलोपैथी की औषधियां भी विषरूप हैं क्योंकि वे एक रोग को जबरदस्ती दबाकर दूसरे अन्य रोगों को पैदा कर देती हैं। इस प्रकार रोग-औषधि-नया रोग-नयी औषधि का विषम चक्र चलता ही रहता है और अन्ततोगत्वा शरीर में विष की मात्रा बढ़ जाने के कारण रोग एवं रोगी दोनों मर जाते हैं। इंजेक्शन का Reaction और Reaction के इंजेक्शन का यह विषम चक्र न जाने मनुष्य को कहां पटक देगा। ऐलोपैथी औषधियों के विषय में कहा गया है—Alopathy medicines can cure all the diseases except the one which they them self cause. अर्थात् ऐलोपैथी औषधियां उन सब रोगों का उपचार कर सकती है सिवाय उनके जिनको वह स्वयं पैदा करती हैं।

जर्मन डॉक्टर सुसलर का कथन है—संसार के सब खाते-पीते लोग जितना भोजन करते हैं उसके आधे से उनका पेट पलता है और आधे से संसार भर के

डॉक्टरों का पेट पलता है। भाव यह है कि मनुष्य के तनिक अधिक खाने से जो उसे अजीर्ण, अतिसार या उदर विकार होगा उसके उपचार के लिए यदि वह डॉक्टर के पास जाता है तो ऐलोपैथी डॉक्टर उसे औषधियों के ऐसे विषम चक्र में फंसा देता है कि रोगी उस रोग के तनिक उपचार के बाद किसी अन्य रोग का शिकार हो जाएगा। फिर दूसरे रोग के उपचार के लिए तीसरे रोग का शिकार हो जाएगा। और इस प्रकार जीवनभर डॉक्टर की शरण में जाकर उन्हें भारी मोटी फीस एवं औषधियों का मूल्य चुकाता रहेगा। डॉक्टरों के बंगले, कारें, ऐश्वर्य प्रसाधन बढ़ता जाएगा और रोगी मरता जाएगा।

आजकल drug addiction (विषैली औषधियों) की बुरी लत का नया सामाजिक रोग चल पड़ा है। पश्चिम के भोग विलासपूर्ण जीवन के कारण आधी रात तक शराब पीकर स्त्रियों की बगल में हाथ देकर काम नृत्य लीला करने के पश्चात् भड़की हुई कामना वाले मन को सरलता से सहज निद्रा नहीं लाभ होती। ऐसे लाखों-करोड़ों लोग डॉक्टर की शरण में जाते हैं। वे मन को कृत्रिम रूप से सुलाने के लिए विषैली नशे की गोलियां देते हैं। नशीली औषधियां मन को आदत में बांध लेती हैं। पहले दिन जितनी मात्रा के विषैले नशे द्वारा मन को ठोकर मारकर सुलाया जा सकता है, दूसरे दिन मन उस विषैली ठोकर को पुनः खाना चाहता है। पहले जितनी ठोकर से उसे नशा चढ़ता था दूसरे दिन बढ़कर बड़ी ठोकर खाना चाहता है। भगवान् ने गीता में कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62, गीता

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63, गीता

विषयों का ध्यान करने से विषयों के प्रति लगाव हो जाता है। जैसे विषयांध व्यक्ति विवेक को खो बैठता है, नशा भी मनुष्य को अंधा बना देता है जिसमें विवेक पर तुरन्त अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है। नशा प्रारम्भ करने वाला प्रारम्भ में कण भर अफीम, बीड़ी का एक कश, शराब की एक चुस्की, निद्रा लाने वाली एक गोली, एल.एस.डी. की एक गोली, कण भर चरस से प्रारम्भ करता है। प्रथम दिन इतना ही नशे का झटका उसको असह्य एवं विचित्र लगता है। किन्तु वही नशेबाज थोड़ा बढ़ाते-बढ़ाते हुए एक दिन नशे में अपने स्वास्थ्य, परिवार, धन-सम्पत्ति सभी कुछ को बर्बाद कर बैठता है। नशेबाज का मन प्रतिदिन नशे की और बड़ी ठोकर को मांगता है और दैनिक ठोकरें खाता हुआ स्वास्थ्य एवं धन को गंवाता हुआ एक दिन नशे की ऐसी ठोकरें खाता है कि उसीसे उसका प्राणान्त हो जाता है। पहले मनुष्य नशे को पीता है और बाद

में नशा ही मनुष्य को पीने लगता है और कुछ काल बाद उसको पूरा डकार जाता है।

नशीली औषधियों द्वारा समाज के युवक-युवतियों को क्रमिक आत्महत्या का पापपूर्ण प्रशिक्षण दिया जा रहा है। ऐसी औषधि बनाने वाली दवा कम्पनियां, उनको प्रचारित करने वाले डॉक्टर मानवता के हत्यारे हैं और उनका सेवन करने वाले भोगी विलासी युवक-युवती आत्महत्यारे हैं। ऐसे हत्यारों और आत्महत्यारों द्वारा विश्व शान्ति कैसे सम्भव हो सकती है।

आजकल वनस्पतियों पर भी कृत्रिम रासायनिक दवाओं का विषैला प्रभाव पड़ रहा है। कीटनाशक औषधियां सभी विषैली होती हैं, पेड़-पौधे और वनस्पतियों के माध्यम से वह विष मानव के शरीर तक पहुंचता है। वैज्ञानिकों ने खोजकर बताया है कि कृत्रिम रासायनिक दवाओं से उत्पन्न अन्नों एवं वनस्पतियों में लगभग 10 प्रतिशत तक डी.एल.टी. एवं अन्य कीटाणुनाशक औषधियों का दुष्प्रभाव आ जाता है। ऐसी साग-सब्जी खाने वाली माताओं के स्तन के दूध में भी डी.एल.टी. की मात्रा आ जाती है। इसलिए आज की वनस्पतियों में भी मानव के लिए आवश्यक पोषक तत्त्व कम होकर विषैले तत्त्व बढ़ते जाते हैं।

हमारे युद्ध के गीतों में भी अशान्ति, रक्त क्रान्ति एवं जिहाद के नारे लगाए जाते हैं। हमारे शान्ति सम्मेलन भी प्रच्छन्न युद्ध सम्मेलन ही होते हैं। शान्ति के नारे केवल शत्रुओं को धोखे में डालकर शान्त रखने और उसकी आड़ में अपनी युद्ध की भरपूर तैयारी करने के कूटनीतिक उपाय हैं।

लेनिन शान्ति पुरस्कार का महत्त्व तब हो जब लेनिन एवं उसके देश ने शान्ति का मार्ग अपनाया हो।

Liberation army वास्तव में People extermination army जन सेना के स्थान पर जनसंहार सेना है। जनमुक्ति सेनानियों ने रूस की क्रान्ति में करीब एक करोड़ लोगों का संहार किया।

चीन को कम्यूनिस्ट बनाने में भी इतने लोगों का संहार किया गया है। चेकोस्लोवाकिया, अफगानिस्तान और पोलैण्ड में इस जनमुक्ति सेना ने वहां के लाखों-करोड़ों जनों का रक्तपात किया। हिंसा, भय और आतंक द्वारा रूसियों का गुलाम बना दिया।

इस प्रकार हमारे भारतीय शान्तिपाठ के स्थान पर धरती, अंतरिक्ष, जल, थल, मन एवं मस्तिष्क में सर्वत्र अशान्ति एवं हिंसा का विष भरने वाले पश्चिम के लोग जब संयुक्त राष्ट्रसंघ में शान्ति के नारे लगाते हैं तब उनका सारा व्यवहार एक उपहास मात्र प्रतीत होता है।

जो अपने मन को शान्त नहीं रख सकते। घर में अपनी पत्नी-बच्चों के साथ शान्तिपूर्वक रह नहीं सकते। जहां आधे से अधिक परिवार तलाक एवं विवाह विच्छेद के कारण उजड़े हुए हैं, जहां पुरुष रूप के शिकारी और नारियां धन की शिकारी बनी हुई हैं। जहां उजड़े हुए परिवारों के संस्कारहीन निराश्रित बच्चे नशेबाज, समाजद्रोही बन रहे हैं। जहां काम कानन के खुले बाजार में, नाइट क्लबों के व्यभिचार भवनों में प्रतिदिन हजारों-लाखों परिवार काम और अर्थ की अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं वहां दुनिया को ठगने के लिए शान्ति के नारे एक क्रूर उपहास से बढ़कर और क्या हो सकते हैं?

पाश्चात्य सभ्यता क्या है? यह एक ज्वालामुखी पर टिकी हुई लिपिस्टिक की हलकी-सी मुस्कान है। जिस दिन मानव के काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष के बारूद से भरा हुआ यह ज्वालामुखी फटेगा उस दिन पाश्चात्य सभ्यता के चिथड़े उड़ जाएंगे।

भारत में शान्ति मात्र एक राजनीतिक नारा नहीं है। यह हमारा धर्मसर्वस्व, प्राणसर्वस्व एवं हमारा साक्षात् भगवान् है। इसलिए भारत का अध्यात्म ही मानव मन का परिष्कार एवं संस्कारकर विश्व शान्ति का सम्पादन कर सकता है।

संस्कारों की परम्परा का नाम संस्कृति है। मन के संकल्पों की भी एक श्रृंखला या परम्परा बन जाती है। एक संकल्प अपने सहायक अथवा पोषक संकल्प को जगा देता है जिससे संकल्पों की एक श्रृंखला बन जाती है। इसी से मानव मन में कुछ कहने की इच्छा पैदा होती है। मानव मन की इस गति का नाम ही जगत् है। जगत् का अर्थ ही है जो निरन्तर चलता रहता है। धरती का घूमना या विश्व ब्रह्माण्ड का चक्कर खाना या जगत् का निरन्तर परिवर्तन तो बहिरंग गति है। वास्तव में मानव का मन ही गतिमान रहता है। मन के शान्त होते ही, संकल्पों के क्षय होते ही, चित्तवृत्तियों के लय होते ही समाधि अवस्था में जगत् का अस्तित्व ही नहीं बचता।

संकल्पों के तारतम्य के समान कर्म का तांता जुड़ जाता है। एक कर्म अपने सहायक कर्म को जगाता है फिर दूसरा-तीसरा जुटते हुए कर्मों का जाल पैदा कर देते हैं। कर्म के बार-बार करने से यह आदत बन जाती है। आदत चरित्र बन जाता है, चरित्र भाग्य बन जाता है, कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म, नए जन्म में पुनः कर्म, फिर कर्मफल भोगने के लिए पुनः जन्म। इसी तरह से संकल्प, कर्मफल, फलप्राप्ति की कामना, पुनः संकल्प, कर्मफल, फलप्राप्ति की कामना यह विषम चक्र चलता रहता है। यह संकल्पचक्र कर्मचक्र है और यही आवागमन का चक्र बन जाता है। कर्मचक्र और पुनर्जन्म से छुटकारा ही मुक्ति है।

(ङ) दृढ़ संकल्प द्वारा इतिहास निर्माण— ब्रह्मा की सृष्टि को मानसी सृष्टि कहा जाता है। परन्तु वास्तव में सारी सृष्टि मानसी सृष्टि ही है। क्योंकि सब मानव के संकल्प से ही निर्मित होते हैं। सारा जगत् भी संकल्प का ही परिणाम है। दुर्बल संकल्प वाला अच्छे जगत् का निर्माण नहीं कर सकता। जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक हम चाहें न चाहें जगत् तो रहेगा ही। इसलिए बंधनकारक विकृत जगत् के स्थान पर अच्छा सुन्दर जगत् रखना ही अभीष्ट है, तदर्थ सुन्दर संकल्प की आवश्यकता है। सुन्दर संकल्प भी यदि दुर्बल हो तो वह भी कार्य में फलीभूत नहीं होगा। बाइबिल में कहा है—

Way to hell is paved with good intentions. यहां good intention का अर्थ good wish ही है। मनुष्य शुभ कामनाएं करता रहे और तदर्थ दृढ़ संकल्प न रखे तो उसके दुर्बल संकल्प कभी भी सफलता में परिणत नहीं होंगे। हर आदमी इच्छा करता है कि मैं स्वर्ग में जाऊं। पर दुर्बल इच्छाशक्ति के कारण वह शुभ कर्म कर नहीं पाता। फलतः न चाहकर भी नरक में चला जाता है। नरक का सारा मार्ग शुभकामनाओं की मृत शिलाओं से पटा हुआ है। इससे दृढ़ संकल्प का महत्त्व स्पष्ट है।

महान् ध्येय को लेकर दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि प्राण की कीमत पर भी उससे विचलित या च्युत नहीं होऊंगा। और यह धर्म को लेकर होना चाहिए जैसा कि राणा प्रताप आदि के जीवन में देखते हैं। महान् ध्येय संकल्प भागवत-संकल्प से जुड़ जाए तो मानव के भीतर भगवती शक्ति का अवतरण होता है। अतः जगन्नाथजी के विराट् रथ के मार्ग में मानव मन के छोटे-छोटे मनोरथ आड़े नहीं आने चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा हो करके रहता है। हमें उसके अनुकूल संकल्प करना चाहिए। तभी हमें ईश्वरीय शक्ति का आशीर्वाद मिलेगा, कर्म में सफलता भी मिलेगी, कर्म में दिव्यता आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने पर भागवत संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह काल बनकर खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय का निमित्त और भागवतसंकल्प का सेनानी बनकर अपना कर्तव्य प्रभु की कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान के चरणों पर नैवेद्य रूप में चढ़ा देना चाहिए।

संकल्प के बीजनाश से जगत् ही नहीं बचेगा तब विश्व कल्याण की साधना का स्थान भी नहीं बचेगा। जब जगत् ही नहीं तब जगत् कल्याण कैसा। अतः **'आत्मनः मोक्षार्थं जगद्धिताय च'** इसके लिए निष्काम कर्मयोग व लोकसंग्रह का आदर्श सर्वोत्तम है। संकल्प को बांधने वाली बुराई कामनारूपी विष को निष्कामता

से शान्त कर दिया गया। संकल्प के अहंकार को भागवतसंकल्प के प्रति समर्पण की भावना से त्याग दिया गया। समस्त कर्मों को भागवत कर्म मानकर उनके प्रति संग को भी त्याग दिया गया। कर्मरूपी भयंकर भुजंग का विष निकाल दिया गया और उसे गले में माला के समान लपेटकर भगवान् शिव के सदृश निरंहकार निष्काम लीला की। स्वयं भी मुक्त हो गए और पीछे वाले जीवन यात्रियों की मुक्ति की सीढ़ी भी बना गए। जगत् का सबसे बड़ा हित यही है कि उसे जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य तक पहुंचाया जाए। मेले में रास्ता भूलकर रोने वाले बच्चे को हम कितना भी लेमनचूस, पूरी-मिठाई देते रहें वह तब तक रोदन एवं चिन्ता से मुक्त नहीं होता जब तक वह अपने घर नहीं पहुंच जाता।

जगत् को भोजन, वस्त्र, मकान, औषधि की सहायता करना भी ठीक है। किन्तु जगत् का सबसे बड़ा कल्याण जीव को जगत्पति के धाम में पहुंचा देना है। गुरु नानकदेव ने कहा—

आपे मुक्त मुक्त करे संसार

निश्चय ही निर्विकल्प समाधि वाला स्वयं तो ब्रह्मानन्दरस भोगता है किन्तु जगत् का व्यापक कल्याण नहीं कर सकता। स्वामी विवेकानन्दजी परमहंसदेव के समान समाधि में लीन रहना चाहते थे किन्तु परमहंसदेव ने विश्वकल्याण के लिए उन्हें एकांत समाधि छोड़कर विश्वभर में ज्ञानज्योति एवं कर्मयोग का दिव्यपथ दिखाने का आदेश दिया।

विराट्रूपदर्शन द्वारा भय की निवृत्ति

अर्जुन के शोक और मोह की निवृत्ति ज्ञान से और भय की निवृत्ति भगवान् के विराट्रूप दर्शन से—

प्रश्न—हे भगवान्! नवम् अध्याय में आपने यह सबसे बड़ा रहस्य बताया कि परमेश्वर दूर नहीं है, वह सर्वव्यापक और निकटतम है। जब मुझे यह जिज्ञासा हुई कि सृष्टि के अनेकत्व में तथा नानाविध रूपों में एक ही परमेश्वर का प्रकाश कैसे है तो दशम् अध्याय में आपने विभूतियोगदर्शन द्वारा दर्शाया कि जड़-चेतन में, मनुष्य-गंधर्व में, असुर-राक्षस, देव, ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी, पर्वत, नदी, वृक्ष आदि सबमें ईश्वरीय विभूति समायी हुई है। यह जो सर्वत्र प्रभुदर्शन आपने कराया है क्या उसका एकत्र दर्शन हो सकता है। सबमें प्रभु, अब प्रभु में सब दिखाइये। अगर सबमें ईश्वर नहीं है तब रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि, तुलसीदास से गोस्वामी तुलसीदास कैसे बन गए?

उत्तर—हे अर्जुन! सम्पूर्ण चराचर जगत् को तू मेरे ही शरीर में एक जगह स्थित देख। यह एकत्र दर्शन बड़ा दुर्लभ एवं दुष्कर है। बचपन में माता यशोदा

को मैंने अपने मुख के भीतर ब्रह्माण्ड दिखाया तो वह विस्मित हो गई। दुर्योधन के दरबार में जब शान्तिदूत बनकर गया और उसने मुझे बंदी बनाने की धृष्टता करनी चाही तो मैंने अपनी एक भुजा में अनन्त सेनाएं दिखाकर उसे भयभीत कर दिया। हे अर्जुन! मैं तेरे प्रेम और भक्ति से प्रसन्न होकर जो विराट् रूप दिखा रहा हूं वह सबसे विलक्षण है। इसका उद्देश्य न विस्मित करना है और न डराना, वरन् इसका उद्देश्य है अपने परम जिज्ञासु भक्त को अपनी विभूति का एकत्र दर्शन कराना।

प्रश्न—हे भगवान्! आपके विराट् रूप में सर्वदेवों को, असुरों-गंधर्वों को, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र, तारा, नदी, पर्वत, ऋषि-मुनि, महर्षि, सिद्ध सबको एक साथ देख रहा हूं। आपके अनेक मुखों से अग्निज्वालाएं निकल रही हैं और आपके अनन्त फैले हुए मुखों में सभी कौरवों के साथ ही भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण और यह सूतपुत्र कर्ण भस्म हो रहे हैं—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। 11/26, गीता

अर्थात् 'धृतराष्ट्र के वे सभी पुत्र राजाओं के समुदायों के साथ आप में प्रवेश कर रहे हैं। तथा भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्ण हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के साथ आपके विशाल मुख में समा रहे हैं।'

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! ईश्वरीय न्याय में इनके पापों का फल मिलना प्रारम्भ हो चुका है। स्थूल दृष्टि से कर्म के फल का प्रभाव तुरन्त दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से कर्म का प्रभाव कर्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। जैसे औषधि खाते ही उसका प्रभाव शरीर में शुरू हो जाता है। किन्तु स्थूल दृष्टि से उसका प्रभाव दिखता है जब बुखार टूट जाता है। पापियों के पाप का प्रभाव तुरन्त शुरू हो गया है। यह दुनिया स्थूल दृष्टि से बाद में देखेगी। डॉक्टर को सूक्ष्म लक्षणों से स्वास्थ्य पर प्रभाव पहले ही दिख जाता है, रोगी को बाद में। दिव्य दृष्टि वाले को कर्म का प्रभाव पहले ही दिख जाता है और चर्म दृष्टि वाले को बाद में।

प्रश्न—हे भगवान्! आपने विभूतियोग (दशम अध्याय) में अपना प्रथम परिचय आत्मा के रूप में दिया। इस विराट्रूप दर्शन में आपका यह भयानक रूप देखकर मैं कांप रहा हूं। आप कौन हैं? मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूं।

उत्तर—अर्जुन! मेरे दो रूप हैं। अन्त:प्रकृति में आत्मरूप से और बाह्यप्रकृति में कालरूप से शासन करता हूं। भक्तों को मैं आत्मरूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूं। किन्तु अभक्तों को काल रूप से वश में रखता हूं और काल बन मृत्युचक्र में घुमाता हूं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। 11/32, गीता

अर्थात् 'मैं लोकों का क्षय करने वाला अत्यधिक बढ़ा हुआ काल हूं। यहां लोकों का संहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हुआ हूं। प्रतिपक्षियों की सेनाओं में जो योद्धागण स्थित हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे (अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी उनका नाश होगा ही)।'

प्रश्न—हे भगवान्! मुझे यह विराट्रूप देखकर कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या कर रहा हूं। भय, विस्मय, रोमांच से आपके इस अनन्त रूप के सामने भौचक्का-सा कांप रहा हूं। प्रारम्भ में सम्बन्धियों के मोह से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कांपने लगा था और मेरे हाथ से गांडीव गिर गया था। अब मैं आपके विस्मयकारक विराट् रूप को देखकर और अपनी तुच्छता देखकर श्रद्धामिश्रित विस्मय से कांप रहा हूं। तीनों लोकों में व्याप्त विराट्रूप को देखकर मेरी तुच्छ बुद्धि चकरा गयी है। कि मैं क्या करूं, क्या न करूं।

उत्तर—हे अर्जुन! प्रारम्भ में तू पंडितपने की बात कर रहा था। तेरे में अहम् था। सम्बन्धों के मोह (अहंकार) के ऊपर पांडित्य का आवरण चढ़ाकर बातें कर रहा था। तेरी क्षत्रिय प्रकृति तुम्हें अन्दर से युद्ध करने के लिए प्रेरित करती थी, किन्तु तेरा मोह-अहंकार तुझे युद्ध से रोकता था। इसलिए इन दोनों के बीच में मन के इधर-उधर झूलने से तू कांपने लगा था। अब मेरे विराट्रूप के सामने तेरे अहंकार को चोट लगी और तुझे भान हो रहा है कि विराट् के सामने मैं शूर-शिरोमणि महारथी अर्जुन एक तृण के समान तुच्छ हूं। इसलिए इस विराट् का आदेश न मानने से मेरी क्या गति होगी? इसी आशंका से कांपने लगा कि मैं विराट् का अंग होते हुए भी यदि विराट् के आदेश का पालन नहीं करूंगा तो मेरा अस्तित्व कहां बचेगा?

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।
11/33, गीता

'इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्धिसम्पन्न राज्य को भोग। ये सब वीर मेरे द्वारा पहले ही मारे गए हैं, हे सव्यसाचिन्! तुम केवल निमित्तमात्र बन जा।'

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी। कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा।

इसके विपरीत चलने से भागवतसंकल्प हमें कुचल डालेगा। वह कालरूप बनकर खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अत: हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय का निमित्त और भागवतसंकल्प का सेनानी बनकर अपना कर्तव्यपालन प्रभु की कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

विराट्रूपदर्शन गीता का बड़ा मार्मिक एवं विशेष अध्याय है। इसमें मानव का अहंकार ठोकर खाता है और उसे अपनी तुच्छता का भान होने लगता है। मानव के सारे अहम् उस विराट् के सामने गल जाते हैं और उसे सारे विश्व का नियमन करने वाली विराट् शक्ति का दर्शन होता है।

इस अध्याय के पश्चात् अर्जुन श्रीकृष्ण को मित्र, सखा और गुरु मात्र ही न मानकर परब्रह्म परमेश्वर के रूप में पहचानने लगा, इसके पश्चात् उसने भगवान् से तर्क करना बंद कर दिया और विनम्र होकर उनका आदेश मानने के लिए प्रस्तुत होता है। वास्तव में गीतोपदेश में अर्जुन के हृदय परिवर्तन की कुंजी विश्वरूपदर्शन में ही है। सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भगवान् अर्जुन को अपने अव्यक्त रूप की महत्ता समझाते रहे पर अर्जुन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। किन्तु जब भगवान् ने विश्वरूप में अपने आपको प्रकट किया तब अर्जुन अतिशय प्रभावित होकर हाथ जोड़कर भगवान् के आदेश पालन को तैयार हो गया।

दोनों पक्षों का चारित्रिक विश्लेषण

कौरव और पांडव दोनों पक्षों के नामों के विश्लेषण से अन्तर का भाव प्रकट हो जाता है। भगवान् 16वें अध्याय में सृष्टि के प्रारम्भ से ही दो सर्गों की रचना की बात बताते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। 16/6, गीता

अर्थात् इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो ही प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है।

इसका सिद्धान्त कथन 16वें अध्याय में किया है और इसका उदाहरण पहले अध्याय में दिया है—कौरव और पांडव पक्ष। कौरव पक्ष के कार्यों एवं नामों के विश्लेषण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ये आसुरी प्रकृति के हैं। आसुरी लोगों की दृष्टि होती है सारा राज्य सारा संसार हमारे ही उपभोग के लिए है, हमारी सेवा के लिए है। अन्यों को तो हमारे हित में अपनी सेवा और आवश्यकता पड़ने पर अपना बलिदान दे देना चाहिए। क्योंकि हम ही ईश्वर हैं और ऐश्वर्य को भोगने वाले हैं। हम ही सिद्ध हैं, बलवान तथा सुखी हैं। जो कुछ हैं हम ही हैं। यद्यपि वे अनन्त आशा-पाश से बंधे हुए काम-क्रोध के परायण होकर विषय-भोगों के लिए

अन्यायपूर्वक धनादि का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। आज इस शत्रु को मारा, उसको कल मारूंगा। इस प्रकार मनमाना शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले होते हैं। (गीता 16 वें अध्याय के श्लोक 7-18 को देखें)।

धृतराष्ट्र जो कौरव पक्ष का मुखिया है, उसके नाम से ही ध्वनित होता है कि जिसने दूसरे के राष्ट्र को हड़प लिया है। जो केवल शारीरिक दृष्टि से अन्धा नहीं है, वह मानसिक बौद्धिक नैतिक आध्यात्मिक दृष्टि से भी अन्धा है।

अंधे के अनुयायी भी अंधे होने के लिए बाध्य होते हैं। गांधारी आंख वाली होते हुए भी अंधी बनी। वह पतिव्रता होने के कारण पति की सम्मति के विरुद्ध जाना नहीं चाहती और पुत्रमोह के कारण दृढ़ता से पुत्रों का विरोध भी नहीं कर पाती। धृतराष्ट्र के पुत्र उससे भी बढ़कर अंधे हैं। धृतराष्ट्र को विदुर का, भीष्म पितामह का, भगवान् वेदव्यास का, भगवान् कृष्ण का, ऋषि-मुनियों का थोड़ा संकोच तो है, पुत्रों में वह भी नहीं है। यह स्थिति इनके नामों से भी प्रकट है यथा—दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुर्धर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्यराजय, दुराधर आदि पुत्र और भगिनी दुःशाला। इनके नाम का प्रारम्भ 'दु' अर्थात् दुःख, दुष्टता आदि भावों से हो रहा है। यद्यपि शौर्य की दृष्टि से इनके अर्थ में कोई दोष नहीं है तथापि दुष्टबुद्धि से शौर्य का उपयोग होने के कारण इनके शौर्य का दुरुपयोग ही हुआ है। जो शक्ति धर्म कार्य, देव कार्य में लगती है, वही आदरणीय है पर जो शौर्य आसुरी कार्यों में लगता है वह शौर्य वीर्य में कितना भी बढ़कर क्यों न हो वह दुःख बढ़ाने वाला ही होता है। जिसका संकेत इन नामों से भी प्राप्त हो जाता है।

पांडवों का पक्ष धर्म का है। इनके मुखिया राजा का नाम भी धर्मराज युधिष्ठिर है। युधिष्ठिर शब्द का अर्थ ही है जो युद्ध में स्थिर रहता है, जिस भूमिका को लेकर युद्ध में उपस्थित होता है उससे पीछे नहीं हटता। यह धर्मराज 'अजातशत्रु' भी हैं। उसका किसी के प्रति द्वेष, वैर या हिंसा का भाव नहीं है। दुर्योधन को भी सुयोधन ही कहते हैं (क्योंकि दुर्योधन का प्रयोग अच्छे-बुरे दोनों ही अर्थों में हो सकता है) ताकि बुरे की शंका की गुंजाइश ही न रहे। युधिष्ठिर महाराज ने पूरी महाभारत में केवल एक-दो बार ही उसके व्यवहार से खीझकर दुर्योधन कहा है मानो उन्होंने उसे गाली दी हो। एक कथा प्रचलित है। दुर्योधन और युधिष्ठिर के स्वभाव की परीक्षा के लिए आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर को एक दुष्ट एवं दुर्योधन को एक संत को लाने को कहा, दोनों ही अपने प्रयास में असफल रहे। जिसकी दृष्टि में दोष है, विष ही विष भरा है उसे संसार में कोई भी व्यक्ति धर्मात्मा मिल नहीं सकता। यही बात दुर्योधन के साथ है। और जिसकी दृष्टि सही है, गुणग्राही है, जिसमें अमृत

ही अमृत भरा है उसको संसार में भला ही भला दिखाई देता है, सर्वाङ्ग-दोषपूर्ण कोई नहीं दिखता। यही स्थिति युधिष्ठिर की होती है। यह अजातशत्रु ही पांडवों का धुरीण है, केन्द्र है। सब पांडव इस 'अजातशत्रु' धर्म की आज्ञा शिरोधार्यकर उसकी आज्ञा के अनुसार चलने में कृत-कृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची, भीम जैसा बलवान योद्धा, नकुल-सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने मतभेद रखते हुए भी शान्तिवादी युधिष्ठिर के प्रति प्रतिकूलता का भाव न जताते हुए उनके अनुसार आचरण करते हैं। यही उनका बल है।

भीम तो अपने स्वभाव के कारण धर्मराज पर क्रोध भी करता था। उनके हाथ भी जलाने को तैयार होता था। भीम को ऊपर से युधिष्ठिर और नीचे अर्जुन नियंत्रित, शान्त रखते थे। अर्जुन का अर्थ है ऋजु, सरल। जो मन वचन कर्म से एक हो। जब अर्जुन को कौरव पक्ष की सेना में अपने ही परिवारजनों और पूज्य द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह आदि को देखकर मन में दुर्बलता आ जाती है और उसके वशीभूत युद्ध से पलायन करना चाहता है, तब भगवान् कृष्ण की एक जोरदार फटकार मिलने पर अपने मन की दुर्बलता को स्वीकारकर उनके शिष्यत्व को स्वीकारकर मार्गदर्शन की प्रार्थना करने लगता है। अर्जुन भीम जैसा क्रोधी नहीं था, पर धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था। उसकी प्रतिज्ञा थी **'न दैन्यं न पलायनं।'** नकुल-सहदेव तो अर्जुन के पीछे चलने वाले थे। उनकी धर्मपत्नी इस दृष्टि से अकेले भीम को पसंद करती है, कभी-कभी भीम से भी ज्यादा उग्र। वनवास के काल में चारों भाई सहित द्रौपदी एक-एक घंटा करके युधिष्ठिर महाराज को अब क्रोध करना चाहिये का उपदेश देते थे। तब भी युधिष्ठिर कहते थे—ठीक है, विचारूंगा कि अभी क्रोध करना चाहिए या नहीं। द्रौपदी सहित चारों भाई युधिष्ठिर की शमवादी नीति से खिन्न थे। पांडवों का क्षत्रियोचित स्वभाव दब न जाए इसके लिए द्रौपदी विशेष सचेष्ट है, अपने अपमान की याद दिलाती रहती है ताकि वन में क्षत्रिय स्वभाव को भूल न जाए जैसा कि इतिहास में हम पाते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रभाव में आकर अनेक क्षत्रियवंश वैश्य बन गए। इससे देश का क्षात्रतेज दुर्बल हुआ और विदेशी आक्रान्ताओं का तांता लग गया।

जब भगवान् कृष्ण संधिवार्ता के लिए जाते हैं तब कृष्ण पांचों भाइयों से परामर्श करते हैं। पांचों की यहां तक कि भीम और अर्जुन की, शान्तिवार्ता सुनकर द्रौपदी निराश होकर कृष्ण से कहती है—पति पत्नी के अपमान एवं अपनी प्रतिज्ञाओं को भूल सकते हैं पर मैं अपने अपमान को नहीं भूल सकती। पुत्रों पर मेरा अधिकार है, पुत्र मां का अपमान नहीं भूल सकते। उनकी सेना सजाकर स्वयं अपने अपमान का बदला लूंगी। माता कुंती भी शान्तिकामी है। शान्तिवार्ता के सारे प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् ही युद्ध की अनुमति देती है।

पांडवों के सहायक, सलाहकार, संचालक और नियामक भगवान् श्रीकृष्ण भी शमवादी, शस्त्र न उठाने वाले हैं। इस तरह पांडवों के दोनों मुखिया शमवादी हैं।

इन आधारों पर महाभारत में पांडवों को धर्मवृक्ष और कौरवों को अधर्मवृक्ष कहा है। युधिष्ठिररूपी धर्म का भव्य महावृक्ष था, अर्जुन उसका तना था, भीमसेन उसकी शाखायें, माद्री पुत्र नकुल-सहदेव उसके फल-फूल थे। उसको रस से सींचने वाले जड़ का नाम भगवान् कृष्ण था। वही ब्रह्म हैं और धर्मवृक्ष के मूल हैं। दुर्योधन अभिमान का महावृक्ष है, कर्ण उसका तना है, शकुनि उसकी शाखायें है, दु:शासन उसका फल-फूल है और बेसमझ अन्धा राजा धृतराष्ट्र उसका मूल है।

पांडव पक्ष को शमवादी होने पर भी युद्ध करना पड़ा। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन नित्य देखते थे कि हम साम्राज्यवादियों के द्वारा अनेकानेक कपट प्रयोग होने पर भी स्वराज्य के प्रयत्न करने वाले पाण्डव न केवल बच जाते थे वरन् उनकी लोकप्रियता एवं शक्ति में वर्द्धन ही होता जाता था। यथा भीम को विषयुक्त लड्डू खिला करके, बांधकर गंगा में बहा दिया तो भीमसेन नागलोक में अपने नाना के यहां पहुंच गए। स्वर्ग में अमृत होता है, नागलोक में सुधा। नाना ने उसे सुधापान करने को दिया। भीम एक ही सांस में आठ कुण्ड सुधा पी गए और उसको पचाने के लिए आठ दिन सोते रहे और पहले से बहुत ज्यादा शक्तिशाली होकर लौटे। वारणावत में मातासहित पांचों पाण्डवों को जलाने का प्रयास हुआ तो द्रुपद की कन्या द्रौपदी से विवाह कर लौटे जहां से उन्हें तीन सेनापति प्राप्त हुए। वनवास दिया तो अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। पांच वर्ष तक देवराज इन्द्र के पास रहकर अनेकानेक विद्याएं एवं दिव्यास्त्र प्राप्त किए। अज्ञातवास काल में राजा विराट से सम्बन्ध बना और उत्तरारूपी पुत्रवधू प्राप्त हुई। हस्तिनापुर का बंटवारा करके इन्द्रप्रस्थ के नाम पर जंगल दिया तो वहां अर्जुन ने कृष्ण और बलराम से सम्बन्ध बना लिया और सुभद्रा को पत्नी के रूप में प्राप्त किया और राजसूय यज्ञ के द्वारा भी राज्य का विस्तार किया। कितने ही उन पर अन्याय-अत्याचार हुए फिर भी वे सदैव शान्ति, धर्म एवं न्याय के पथ पर चलते रहे। इससे उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ गई। यहां तक कि प्रजा के साथ-साथ कौरव वीरों एवं सेनापतियों की सहानुभूति भी उन्हें प्राप्त हो गई। फलत: अन्तिम निर्णायक विजय उन्हें प्राप्त हुई।

साम्राज्यवादियों का व्यवहार कपट से प्रारम्भ होता है। मध्यस्थिति चिन्ता में और अन्त पराजय में, सर्वनाश में होता है। स्वराज्यवादियों के धर्मपक्ष का प्रारम्भ सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ईशभक्ति, त्याग, पवित्रता, समता आदि दैवी गुणों से होता है, उनको बीच में बहुत कष्ट भोगना पड़ता है पर अन्त में विजय उन्हीं की होती है और उनका धवल यश दिग्दिगन्त तक में फैल जाता है। इस प्रकार दोनों

पक्षों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि कौरव अधर्म के पक्षधर हैं और पाण्डव धर्म के पक्षधर हैं।

उपसंहार

सम्पूर्ण गीता का उपदेश करने के पश्चात् भगवान् अर्जुन से पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।। 18/72, गीता

'हे पार्थ! क्या तुमने इस (शास्त्रोपदेश) को एकाग्रचित्तता से सुना? और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ सम्मोह नष्ट हो गया?'

उत्तर में अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। 18/73, गीता

'हे अच्युत! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे (आत्मतत्त्व विषयक) स्मृति प्राप्त हुई है। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूं। अतः मैं आपके वचन का पालन करूंगा।'

इस प्रकार हम देखते हैं—अर्जुन शोक, मोह और भय को बिसराकर अपने कर्तव्यकर्म में स्थित होकर विश्व के महानतम युद्ध में विजयश्री-लाभकर संसार के श्रेष्ठतम योद्धा के रूप में अपने को स्थापित करता है। केवल अर्जुन ही नहीं, इतिहास के विभिन्न चरणों में विशेषकर अंग्रेजों के शासनकाल में स्वतंत्रता सेनानियों ने चाहे वे अहिंसा मार्गी हों या सहिंसा मार्गी हों सबने गीता को अपनाकर अपने परिवारजनों के मोह-शोक और ब्रिटिश हुकूमत के भय को भुलाकर स्वतंत्रता संग्राम में योगदान दिया और आवश्यकता पड़ने पर गीता का श्लोक गाते हुए हंसते-हंसते फांसी के फंदों पर झूल गए। केवल भारत के स्वतंत्रता संग्राम में ही नहीं, विश्व के अन्यान्य देशों के स्वतंत्रता संग्रामों में गीता ने अविस्मरणीय योगदान दिया है।

इस प्रकार जो भी गीता माता की शरण में जाता है, गीता माता उसके शोक, मोह, भय को हरकर उसे अपने कर्तव्यकर्म में स्थित कर देती है। इससे वह क्रमशः स्वतः ही पूर्णता की ओर बढ़ने लगता है और अन्त में अपने आत्मस्वरूप को पा लेता है और उसमें स्थित हो जाता है।

गीता के अनुसार ईश्वर

Theism का अर्थ है ईश्वरवाद या आस्तिकवाद। इसका कथन है कि ईश्वर है। इसका विपरीत सिद्धान्त नास्तिकवाद Atheism है। इसका कथन है कि ईश्वर नहीं है। भारतीय दर्शन में Theism और Atheism आस्तिकवाद और नास्तिकवाद एक दूसरे अर्थ में भी प्रयोग होते रहे हैं। आस्तिक उन दर्शनधाराओं को माना जो वेद की सत्यता में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत नास्तिक उन दर्शनधाराओं को कहा जाता है जो वेद की प्रमाण सत्ता को स्वीकार नहीं करते। कालान्तर में आस्तिक और नास्तिक का अर्थ वेद के प्रमाण से हटकर ईश्वर के प्रमाण के लिए रूढ हो गया। गीता एक आस्तिक दर्शन का ग्रंथ है। इसमें पग-पग पर ईश्वर की सत्ता एवं महत्ता को स्वीकार किया गया है।

ईश्वरवाद के समान एकेश्वरवाद का सिद्धान्त भी है जिसका भाव यह है कि ईश्वर एक ही है। संसार का कोई भी धर्म अनेक ईश्वरों की सत्ता नहीं मानता। कुछ विवेकहीन आलोचक हिन्दू धर्म में बहुदेववाद को बहुईश्वरवाद कहकर उसकी निन्दा करते हैं। किन्तु, वास्तव में हिन्दू धर्म में Pantheism बहुदेववाद न होकर Panentheism अनेकत्व में एकत्व का दर्शन है। सब भिन्न-भिन्न देवी-देवता एक ही परमेश्वर एक ही अव्यक्त सत्ता की व्यक्त व आंशिक अभिव्यक्तियां हैं। अत: किसी भी देवता की स्तुति अन्ततोगत्वा परमेश्वर की ही स्तुति है। गीता में विभूतियोग दर्शन में एकतत्त्व की अनेकता दर्शायी गई है। किन्तु, साथ ही साथ परोक्ष रूप में उस अनेकता में एकता की ओर इंगित भी किया गया है। जैसे—

पर्वतों में हिमालय
नदियों में गंगा
शस्त्रधारियों में राम
सिद्धों में कपिल मुनि
छन्दों में गायत्री
आदित्यों में सूर्य आदि-आदि।

एक तत्त्व की विभूति फैलकर अनेक वस्तुओं में, व्यक्तियों में, देवों में प्रकाशित हो रही है। इस सबसे मन में एक भ्रान्ति की सम्भावना बन जाती है कि जो प्रकट में अनेकता दिखाई दे रही है उसे केवल कल्पना से एक माना जा रहा है अथवा वह सचमुच में एक ही है। इस संशय के निवारण के लिए भगवान् एकादश अध्याय में विराट् रूप का दर्शन कराते हैं जिसमें सारी अनेकता एक ही व्यक्तित्व में एक साथ समाहित दर्शायी जाती है। इस प्रकार अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का सिद्धान्त गीता द्वारा सिद्ध होता है। जो सूर्य-चन्द्र, अग्नि, नदी, पर्वत, देवता, अवतारी पुरुष, ऋषि-मुनि आदि अलग-अलग विभूतियों के रूप में दर्शाये गए थे, वे सब भगवान् के एक ही विराट् विश्वरूप के अंग हैं।

एकेश्वरवाद से तनिक सूक्ष्म और ऊँचा सिद्धान्त एकतत्त्ववाद है, Monism है। जिसके अनुसार सृष्टि का चरम परम सत्य एक ही है। गीता में स्थान-स्थान पर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। 2/17, गीता

जिसके द्वारा यह समस्त संसार व्याप्त है उसी को तू अविनाशी जान। इस अव्यय (आत्मा) का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

वह परम तत्त्व अव्यक्त है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। 2/28, गीता

वह समस्त देहों का स्वामी देही है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। 2/30, गीता

एक तत्त्व के अनुसंधान के लिए एकाग्रबुद्धि चाहिए। यदि परम तत्त्व अनेक हो तो बुद्धि एकाग्र न होकर अनेकाग्र हो जाएगी। वह बुद्धि बहुशाखा हो जाएगी। जो गीता के अनुसार अभीष्ट नहीं है।

गीता में परम तत्त्व के लिए सम विशेषण का बार-बार प्रयोग हुआ है—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' गीता, 5/19

अर्थात् ब्रह्म निर्दोष एवं सम है। प्रकृति की सब वस्तुएं सदोष एवं विकारी हैं। केवल ब्रह्म ही सम एवं अविकारी है। बुलबुले, नदी, नाले, सब विषम एवं विकारी हैं क्योंकि सब बनते, बढ़ते, बिगड़ते और नष्ट हो जाते हैं। भाप को बर्फ नहीं कहा जा सकता और बिन्दु को सिन्धु नहीं क्योंकि सब विषम हैं। उनके नाम रूप-गुण सब विषम हैं। किन्तु, सभी में जल तत्त्व सम है।

गीता के नवम अध्याय में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

'यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है। परन्तु, जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।' सम को प्राप्त करने को ही समाप्त (सम्+आप्त) कहते हैं। नदियों में तभी तक गति रहती है जब तक वह समतल को नहीं प्राप्त करती हैं। समतल कहे जाने वाले मैदानों में भी कुछ न कुछ ऊँची-नीची विषमता रहती है। अन्तिम समवस्था समुद्र में ही है। अतः सब नदियां अपने नाम-रूप को भुलाकर अन्त में समरूपी सागर में जाकर लय हो जाती है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। 2/70, गीता

इस ब्राह्मी-स्थिति का वर्णन गीता में किया गया है। जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं वह पुरुष परम शान्ति को प्राप्त करता है न कि भोगों को चाहने वाला।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 2/72, गीता

'हे पार्थ! यही ब्राह्मी-स्थिति (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति) है। इस अवस्था को प्राप्त होकर (मनुष्य) कभी मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस (अवस्था) में प्रतिष्ठित होकर वह ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता की शान्ति) को प्राप्त हो जाता है।'

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। 11/29, गीता

'जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं वैसे ही ये शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में नाश के लिए बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं।'

गीता का एकतत्त्ववाद—

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

'जो विनाशशील वस्तुओं में अविनाशी तत्त्व को देखता है वही यथार्थ देखता है।'

अविभक्तं विभक्तेषु

'जो विभक्त वस्तुओं में अविभक्त तत्त्व है।'

निर्द्वन्द्वो

अर्थात् द्वन्द्वों से परे है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। 13/28, गीता

'समस्त विनाशशील प्राणियों में समभाव में स्थित विनाशरहित परमेश्वर को जो देखता है वही (यथार्थतः) देखता है। क्योंकि सर्वत्र समभाव से अवस्थित ईश्वर को समरूप से देखने वाला अपने द्वारा अपने को नहीं मारता। इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।'

इन सबसे एक अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है, किसी व्यक्तिगत ईश्वर की नहीं।

गीता की एक महत्ता इस बात में है कि इसमें भारत की सभी दर्शनधाराओं का सुन्दर समन्वय है। एक ओर इसमें अद्वैत वेदान्त के चरम परम सत्य की प्रतिष्ठा है। जो अज है, अक्षर है, अव्यक्त है, सम है, सर्वव्यापी है, ज्योति की ज्योति है।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' है। वह पुरुषोत्तम पुरुष है। वह क्षर और अक्षर से भी परे है। वह प्रकृति का साक्षी पुरुष है। ऐसे परमेश्वर की पूजा-प्रतिष्ठा करने या उसकी शरण में जाने का न स्थान बचता है न कोई तर्कसम्मत आवश्यकता ही है। अन्ततोगत्वा जब सब एक तत्त्व ही है तो कौन किसकी पूजा करे।

भक्ति के लिए व्यक्तिगत ईश्वर के सगुण साकार रूप की आवश्यकता पड़ती है जो ईश्वर न्यायकारी होने के साथ कृपालु भी हो। परम प्रेम का विषय भी हो, सच्चा सुहृद हो, माता-पिता के समान सन्तान के पापों को क्षमा करने वाला हो। रक्षक हो। वीर हो। शक्ति, शील, सौन्दर्य के गुणों से विभूषित हो। मानवीय आदर्शों का प्रतिमान हो। मानवीय भावनाओं को समझने वाला हो। ऐसा ईश्वर निराकार, निर्विकार, निरुपाधिक ब्रह्म नहीं हो सकता। वह तो विशिष्ट गुणों से युक्त विशिष्टाद्वैत का, भक्ति का लक्ष्य एक सगुण साकार ईश्वर ही हो सकता है। जो मानव के समान भावुक और भावनाप्रवण हो। गीता ने ऐसे ईश्वर के लिए भी उचित स्थान बताया है।

(क) गीता का ईश्वर निराकार होते हुए साकार भी है। अव्यक्त होते हुए व्यक्त भी है। उसके व्यक्त रूप की व्याख्या भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। रामानुजाचार्य एवं अन्य पौराणिक टीकाकार एक ऐसे ईश्वर का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो विष्णुरूप में वैकुण्ठ या क्षीरसागर में विराजमान है जो भक्तों की हर भावना को तुरन्त समझकर प्रत्येक प्रार्थना को सुनकर उसके अनुरूप उन्हें रक्षा एवं कृपा प्रदान करता है। वह न्यायकारी से अधिक कृपालु है और शरण में आने वालों पर विशेष कृपाकर उनके दु:ख-दर्द एवं कष्टों का निवारण करता है। जो भक्तों का भारवाहक सेवक बनकर तथा उनका योग उनके घर पहुँचाता है और चौकीदार बनकर उनके क्षेम की रक्षा करता है। इस प्रकार ईश्वर अपने भक्तों का भी भक्त बन जाता है। गीता के द्वादश अध्याय तथा नवम अध्याय के कुछ अंश ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर की प्रतिष्ठा करते हैं। भगवान् कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।। 9/17, गीता

'मैं ही सारे जगत् का पिता हूं। मैं ही सबका माता, धाता (धारण करने वाला) और पितामह हूं। मैं ही जानने योग्य पवित्र ॐ तथा मैं ही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हूं।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। 9/22, गीता

'अनन्य भाव से जो भक्त मेरा चिन्तन करते हैं, उपासना करते हैं। मैं उनके योगक्षेम स्वयं वहन करता हूं।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। 9/34, गीता

'मेरे में मन वाले बनो। मेरा ही यजन करो। मेरे को नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे परायण हुए मेरी आत्मा बनकर मुझमें प्रवेश कर जाओगे।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। 12/6, गीता

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। 12/7, गीता

(ख) व्यक्तिगत ईश्वर या सगुण साकार ईश्वर का दूसरा रूप है विभूति दर्शन। परमेश्वर भले ही अव्यक्त है। किन्तु, वह विशिष्ट विभूतियों में व्यक्त

होता है। जैसे इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य-चन्द्र, राम-कृष्ण, कपिल, व्यास, भृगु, हिमालय, गंगा, गायत्री आदि में। इसलिए इन विभूतियों की पूजा करना भी परमेश्वर की पूजा है। कुछ विभूतियां व्यक्तिरूप में, कुछ शक्तिरूप में, कुछ प्रकृतिरूप, कुछ मंत्ररूप हैं। व्यास, कपिल, भृगु, राम, कृष्ण आदि व्यक्तिरूप विभूतियां हैं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य, चन्द्र आदि शक्तिरूप विभूतियां हैं। गंगा, हिमालय आदि प्राकृतिक विभूतियां हैं। ॐ गायत्री आदि मंत्ररूप विभूतियां हैं। क्योंकि अव्यक्त पर ध्यान जमाना कठिन होता है, इसलिए व्यक्ति विभूतियों के माध्यम से ध्यान की एकाग्रता सरल समझी जाती है। साकार की उपासना निराकार की प्राप्ति के लिए सरल मनोवैज्ञानिक साधन है।

(ग) निर्गुण ज्ञानाश्रयी भक्तिशाखा के भक्त मानते हैं कि अव्यक्त परमेश्वर सब में समाया हुआ है। किन्तु, वह अदृश्य रहता है। व्यक्ति के रूप में वह व्यक्त हो जाता है—

सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
वा घट की बलिहारी, जा घट प्रकट होय।।

इस दृष्टि से प्रत्येक मानव ही भगवान् का अवतार है। किन्तु, उसके भीतर भगवान् सुप्त, गुप्त, लुप्त पड़ा रहता है। यदि वह साधना द्वारा अपने अन्तर के नारायण को निकाले तो नर ही नारायण के रूप में पूजा जाने लगता है। जैसे भगवान् शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, भगवान् रमण महर्षि आदि।

(घ) ईश्वर के व्यक्त रूप की एक अन्य व्याख्या यह है कि एक अव्यक्त शक्ति है। यह विराट् विश्व ही इसका व्यक्त रूप है। ईश्वर एक व्यक्ति नहीं है। किन्तु, सभी व्यक्तियों, सभी जीवों, वस्तुओं, सब जड़-चेतन को अपने भीतर समेटे हुए एक विराट् अनन्त पुरुष है। सब जीव उसके अंश हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।

ऐसे ईश्वर की पूजा जीवों की सेवा के रूप में ही की जा सकती है। यह मत भगवान् मायानन्द श्रीपाद दामोदर सातवेलकर आदि टीकाकारों का है तथा इसे स्वामी विवेकानन्द आदि ने अपने ढंग से समर्थन दिया है।

गीता का ईश्वरवाद और कृष्ण भक्ति—क्योंकि गीता के गायक भगवान् कृष्ण स्वयं ब्राह्मीस्थिति में ब्रह्मभूत होकर उपदेश कर रहे हैं तथा वे ईश्वर के अवतार हैं, इसलिए गीता में आया 'मैं' शब्द आत्मा या ब्रह्म का ही परिचायक है, शरीरधारी कृष्ण का नहीं। किन्तु सुगंधि के गुण के कारण फूल भी प्रशंसा का पात्र बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण भी

पूजा के पात्र बन गए हैं। महाप्रभु बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, मीराबाई आदि भक्तों ने भगवान् श्रीकृष्ण को भी साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर मानकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा की। उनका कथन है **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।'** गीता में भी भगवान् के कृष्णरूप की पूजा के लिए स्थान बन गया है। विभूति योग में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! पाण्डवों में मैं ही धनंजय, वृष्णिवंशियों में श्रीकृष्ण हूं। समदर्शी ज्ञानी के लक्षणों में भी यही दर्शाया गया—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

'ऐसा ज्ञानी जो सबमें बसने वाले वासुदेव का दर्शन करे वह जगत् में अत्यन्त दुर्लभ है।'

इस प्रकार भगवद्गीता में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत सभी चिन्तनधाराओं के बीज सुरक्षित हैं। गीता एक कामधेनु है जिसका दोहन कर सभी आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की पुष्टि की मुद्रा प्राप्त की। श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय अध्यात्म साधना का एक दुर्लभ समन्वित शास्त्र है।

भारत की आधारभूत आध्यात्मिक जीवन की तथा विश्वात्मा की एकता और अखंडता की धारणाएं; मतों, सम्प्रदायों और धर्मों की सार्वभौमिकता के धार्मिक सिद्धान्त; सार्वभौम धर्म की समर्थक सार्वभौम सत्ता की राजनीतिक धारणा तथा सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानने की नैतिक धारणा; ये सब इसी संस्कृति की प्रांजल अभिव्यक्तियां हैं। महान् भारतीय पंडित शंकर का कथन है : 'मेरी माता देवी पार्वती है, मेरे पिता शिव हैं जिनकी शक्ति को कोई सहन नहीं कर सकता; पार्वती और शिव के भक्तों को मैं अपना सगा-सम्बन्धी मानता हूं, तथा तीनों लोक मेरे अपने देश हैं (स्वदेशः भुवनत्रयम्)।'

—राधाकमल मुकर्जी

ईश्वर संबंधी अवधारणा के सूत्र

Absolute—निराकार, निर्विकार, निरुपाधिक ब्रह्म, पूर्ण परमेश्वर—शंकर

God ईश्वर—सृष्टिकर्ता, सृष्टिपालक, सृष्टि नियामक, संहर्ता

Personal God अवतार राम, कृष्ण, बुद्ध

Personal Idealism व्यक्तिगत ईश्वर पर अवलम्बित अध्यात्मवाद

रामानुज, चैतन्य, तुलसी, सूरदास, भक्तिवेदान्त

Absolute Idealism शंकर

सर्वोच्च स्तर—ईश्वर ब्रह्म में लय

पूजा में भक्ति का स्थान

विचार से.... वृत्ति में

होकर स्वतंत्र मैंने कब चाहा है कर लूं जग को गुलाम?
मैंने तो सदा सिखाया है, करना अपने मन को गुलाम।
गोपाल राम के नामों पर, कब मैंने अत्याचार किये?
कब दुनिया को हिन्दू करने, घर-घर में नर-संहार किये?
कोई बतलाए काबुल में, जाकर कितनी तोड़ी मस्जिद?
भूभाग नहीं, शत-शत मानव के, हृदय जीतने का निश्चय।
हिन्दू तन मन, हिन्दू जीवन, रग-रग हिन्दू मेरा परिचय!

—अटल बिहारी वाजपेयी

अवतार के बिन्दु

(1) अवतार शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या।

(2) अव+तार = नीचे उतरना। अव्यक्त का व्यक्त होना।

(3) निराकार साकार की समस्या।

वैदिक धर्म, आर्य समाज, बौद्ध धर्म, शंकराचार्य, श्वेताम्बर जैन धर्म, कबीर पंथ, नानक पंथ आदि निराकार ईश्वर को मानने वाले न सगुण साकार को मानते हैं, न अवतार की आवश्यकता है।

(4) सगुण-निर्गुण का अभेद।

गीता, रामानुज एवं तुलसीदास, गुरु गोविन्दसिंह द्वारा अवतार तत्त्व की पुष्टि।

(5) अवतार एवं पैगम्बर में भेद।

(6) जीव की दृष्टि से अवतार की आवश्यकता।

ईश्वर की दृष्टि से अवतार की आवश्यकता।

(7) दशावतार।

(8) अवतार सिद्धान्त और वेदान्त।

अवतार सिद्धान्त की आलोचना।

'भारत' और 'धर्म' एकात्म हैं तथा इतिहास के उतार-चढ़ाव के बावजूद न तो धर्म का नाश होता है और न उसके देश का। इन्हीं धारणाओं के बल पर, अनेक शताब्दियों के दौरान, राजनीतिक संकट और पराजय के समय में भी देशवासियों का विश्वास कायम रहा है।

—राधाकमल मुकर्जी

गीता के अनुसार परम लक्ष्य

जीव देश और काल से बंधा हुआ है। देश हमें एकदेशी बनाकर सीमित कर देता है। हम एक ही समय में यत्र-तत्र सर्वत्र नहीं हो सकते। यदि अत्र हैं तो तत्र नहीं। किसी युक्ति से अत्र-तत्र दोनों जगह हो जाए तो सर्वत्र नहीं। देश हमारे व्यक्तित्व को सीमित कर देता है। देश की दीवारें हमारा गला घोंटती-सी प्रतीत होती है। जब किसी व्यक्ति को एक ही साथ दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर कोई अत्यावश्यक कार्य पड़ जाए तब उसे अनुभव होता है कि देश की सीमा उसके लिए बहुत बड़ा बंधन है। इसी प्रकार काल हमारे व्यक्तित्व को धीरे-धीरे चबाकर खा जाता है। हम शरीरधारी संसार में जीते हैं। किन्तु, काल के पैने दांतों के ऊपर ही हम श्वास ले रहे हैं। प्रतिक्षण जीते हुए भी हम काल का कलेवा बनते जा रहे हैं। कबीर ने ठीक ही कहा है—

जगत् चबैना काल का, कछु मुख में कछु गोद।

एक समय था जब हम शरीरधारी रूप में नहीं थे। वर्तमान में हम शरीरधारी रूप में हैं। पुनः हम शरीर त्याग कर अदृश्य हो जाएंगे। ऐसा काल के बीतने से होता है। काल का एक अर्थ है समय। दूसरा अर्थ है मृत्यु। समय की गति ही मृत्यु का निमंत्रण है। कोई भी मनुष्य काल का कलेवा नहीं बनना चाहता क्योंकि वह अपने तात्त्विक स्वरूप में अमर है। हर जीव के भीतर यह आन्तरिक अभिलाषा है कि वह काल के दांतों को तोड़ दे और देश के बंधन की दीवारों को फोड़ दे। देश-काल के इस सीमा बंधन से मुक्ति ही मनुष्य की आन्तरिक अभिलाषा है। इसे ही मुमुक्षा या मोक्ष की इच्छा कहा जाता है। यही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। मनुष्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक बनना चाहता है।

अब प्रकृति के नियमानुसार कोई भी भौतिक वस्तु सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकती। वह एकदेशी, विकारी एवं क्षणभंगुर ही हो सकती है। अविकारी, अविनाशी तत्त्व जड़ न होकर चेतन ही हो सकता है। चेतना जीव में भी है। किन्तु, वह सीमित चेतना है। वह विश्व चेतना, सार्वकालिक चेतना को प्राप्त करना चाहता है। इस पूर्ण चैतन्य को पूर्णात्मा, परमात्मा, ब्रह्म, विराट्, भूमा आदि नामों से बखान किया जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि जीव व्यक्तिगत चेतना से विश्व चेतना तक किस प्रकार विकास करे। गीता ने इसके लिए बड़ा मनोवैज्ञानिक मार्ग सुझाया है।

चेतना के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं संकल्पात्मक—ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। इसी के आधार पर तीन मार्ग बनते हैं—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग।

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके अपने आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मंदिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र है।

—स्वामी विवेकानन्द

× × ×

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंशचरैवेति चरैवेति....

निद्रा में पड़े रहना कलियुग में वास है, जाग जाना द्वापर में वास है। खड़े हो जाना त्रेता में वास है, आगे बढ़ना सत्य युग में वास है। इसलिए आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।

ऐतरेय ब्राह्मण, 7:15:4

आकांक्षा

12.9.80 सिंहपुर प्रातः चिन्तन

आकांक्षा या तृष्णा ही कामना कहलाती है, यही समस्त मानसिक विकारों या विक्षेपों का मूल कारण है—

आकांक्षा की पूर्ति से हर्ष होता है।

आकांक्षा की अपूर्ति से शोक होता है।

आकांक्षा की पूर्ति में बाधा होने पर द्वेष (क्रोध) होता है।

यही मन के विकार हैं।

मनुष्य शुभ फल के प्रति आकर्षण रखता है।

अशुभ फल से घृणा करता है।

भगवान् गीता के अ. 12 के श्लोक 17 में कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। 12/17, गीता

यदि मनुष्य आकांक्षा ही नहीं करेगा तो आकांक्षा की अपूर्ति से शोक में भी नहीं डूबेगा।

कर्तव्य करने पर कभी शुभ (अनुकूल) फल की प्राप्ति होती है तथा कभी कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण तुरन्त शुभ फल प्राप्त न होकर प्रतिकूल (अशुभ) परिणाम भोगना पड़ता है, जिस प्रकार सरदार भगतसिंह आदि क्रान्तिकारी देशभक्तों को देशभक्ति के कर्तव्य के बदले मृत्युदण्ड भोगना पड़ा। जो व्यक्तिगत आकांक्षा से ऊपर उठ चुका है वह समस्त कर्तव्य भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। अतः शुभ (अनुकूल) एवं अशुभ (प्रतिकूल) दोनों परिणामों को त्याग कर अविचलित मन से कर्तव्य कर्मों से भगवान् की पूजा करता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 2/56, गीता

दु:ख में मनुष्य की छाती फटने लगती है तथा सुख में उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है। जिसकी बुद्धि दु:ख एवं सुख की परस्पर विपरीत आंधियों में भी सम एवं अविचलित रहती है, वह स्थितप्रज्ञ धन्य है।

काम की पूर्ति में राग, आसक्ति और लोभ बढ़ता है। कामना की पूर्ति में बाधा की आशंका से भय होता है। कामना की पूर्ति का सुख अपने से अधिक बलवान व्यक्ति या शक्ति छीने तो भय, कामना पूर्ति का सुख अपने से दुर्बल व्यक्ति या शक्ति छीने तो क्रोध।

ऋषि विश्वामित्र काम के आकर्षण से मेनका पर मोहित हुए (राग)। शकुन्तला के जन्म पर लोकलाज के भय से भाग गए (भय)। पुन: तपस्या करने पर इन्द्र द्वारा प्रेषित रंभा को ऋषि ने शाप देकर भस्म कर दिया (क्रोध)। पत्नी के राग में अंधा पति—राग में ग्रस्त है, पत्नी के भय से घर छोड़ने वाला अथवा साधु बनने वाला—भयग्रस्त है, पत्नी पर आक्रोश दर्शाने वाला झगड़ालू पति—क्रोधग्रस्त है।

राग में बाधा से क्रोध आता है।

राग में बाधा की आशंका से भय होता है।

राग से बचने के लिए भी भय होता है।

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्।
श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्।
भियाऽदेयम्। संविदा देयम्।

तै.उ., 1/11

श्रद्धापूर्वक दान दें, अश्रद्धा से न दें। भरपूर दें, लज्जा से दें, भीति से दें, ज्ञानपूर्वक दें।

निष्काम कर्मयोग

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47, गीता

इसमें निष्काम कर्मयोग की चतु:सूत्री दी गई है—कर्मण्येवाधिकारस्ते—हे मानव! कर्म करने में तेरा अधिकार है। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है अत: वही उसका अधिकार भी है। प्रकाश करना सूर्य का धर्म है अत: वही उसका कर्म एवं अधिकार भी है। मानव कर्म करने में स्वाधीन है।

मा फलेषु कदाचन—कर्मफल पर तेरा कोई अधिकार नहीं।

(1) परीक्षार्थी स्वयं परीक्षक बन जाए तो मूल्यांकन में न्याय कभी नहीं होगा। कर्मफल नियंता परमेश्वर है।

(2) सूर्य प्रकाश दूसरों के लिए देता है। नदियां जल तथा वृक्ष फल दूसरों के लिए देते हैं। उनका कर्मफल पर अधिकार नहीं। शरीर के अन्दर भी आँख शरीर की भलाई के लिए देखती है। कान शरीर की भलाई के लिए सुनते हैं स्वयं के लिए नहीं। यदि पेट सारा अन्न रस अपने लिए ही रख ले और उसका रस पूरे शरीर को न भेजे तो रोग से शरीर मरने लगेगा। अत: मानव का कर्मफल पर अधिकार नहीं है। यदि पेट अन्न को मात्र अपने लिए रखना चाहे तो अन्न विष बन जाएगा। यदि वृक्ष फल को अपने लिए ही रखना चाहे तो फलों में कीड़े पड़ जाएंगे। यदि मनुष्य कर्म का फल मात्र अपने स्वार्थ के लिए चाहे तो वह कर्मफल ही उसके लिए फांसी बन जाएगा जिससे उसे 84 लाख योनियों में भटकना पड़ेगा।

(3) मा कर्म फल हेतु भू—फल की वासना से कर्म करने वाला मत बन। फल के लोभ में किया हुआ कर्म स्वार्थ कर्म है, यज्ञार्थ कर्म नहीं। जब फल पर अपना अधिकार ही नहीं तो उसकी अभिलाषा करना पागलपन है।

(क) परीक्षार्थी (उत्तीर्ण होने की आशा से) < सफलता प्राप्त (प्रसन्न) / असफलता (आत्महत्या)

(ख) परीक्षार्थी (कर्तव्य भाव से परीक्षा) < सफलता (गम्भीर) / असफलता (पुन: कर्म में लगना)

Duty should not be weighed in the balance of fruit फल की तुला पर कर्तव्य को कभी नहीं तौलना चाहिए। Duty is for the duty not for some gain.

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—अकर्म में भी तू संग मत रख। आलस्य या निकम्मापन जीवन में पतन का कारण है। अग्नि यदि जलाने का स्वभाव ही छोड़ दे तो उसे अग्नि कौन कहेगा? मनुष्य यदि कर्म करने का स्वभाव एवं अधिकार छोड़ दे तो वह मनुष्यता से च्युत हो गया।

	कर्म	**कर्म से पहले फल की चर्चा**	**कर्म के बाद फल की चर्चा**
तमो निकम्मा	×	×	×
रजो 1 दलाल	×	✓	✓
रजो 1 व्यापारी	✓	×	✓
सतोगुणी निष्काम कर्मयोगी	✓	×	×

महात्मा गांधी कहते हैं जो कर्म को त्यागता है वह नीचे गिरता है और जो कर्मफल को त्यागता है वह ऊपर उठता है।

गीता के कर्मयोग पर विचार

कर्म ही बंधन का कारण है। कर्म से मनुष्य पांच प्रकार से बंध जाता है। अत: लोग सोचते हैं कर्म से बंधन होता है। अत: कर्म का ही परित्याग कर दो। पर वे यह नहीं सोचते कि कर्म का मूल कारण वासना है। वासना जब तक है तब तक कर्म त्याग नहीं हो सकता है। भले ही हम बाह्य रूप से कर्म का परित्याग कर दें पर हमारी वासना का नाश नहीं होने के कारण हम अपने मन में ही कर्मों, विषयों का चिन्तन करने लग जाते हैं। बाहर से तो हम कर्म नहीं कर रहे हैं पर अन्दर में कर्म चल रहा है। इसी को गीता में मिथ्याचारी कहा गया है। इससे निम्न हानियां हैं—

कर्म से जो हम कर्तव्य कर्म करते हैं उससे च्युत हो जाते हैं।

कर्म से समाज सेवा होती है वह रुक जाती है।

कर्म से चित्त शुद्ध होता है वह रुक जाता है।

भीतर में हम कर्मों का चिन्तन करते रहने के कारण चित्त मलिन का मलिन ही रह जाता है। वरन् और अधिक मलिन हो जाता है।

कर्म से जो हमारी वासनाओं की तृप्ति होती है वह रुक जाती है। कुण्ठित हो जाती है। वासना समाप्त नहीं होने के कारण वे गलत-अश्लील रूप में प्रकट होती हैं। जिसकी पूर्ति लोग छिप-छिप कर करते हैं। आज के साधु समाजों की

यही हालत है। क्योंकि बाह्य रूप से तो समाज में घोषणा कर चुके हैं कि उन्होंने संसार को त्याग दिया है। पर अन्दर संसार पूरी तरह जमा हुआ है। इसलिए वे लुक-छिपकर अपनी भोग वासनाओं की तृप्ति करते हैं। वे एक साधारण गृहस्थ से अधिक जिह्वा की चटलास और काम की चटलास की पूर्ति करते हैं। अत: गीता ने इस प्रकार के कर्मत्याग की कठोर निंदा की है।

कर्म का मूल आधार है वासना। अत: वासना का जब तक समूल नाश नहीं होता तब तक कर्म के त्याग का अधिकार नहीं है। फिर गीता कहती है कर्म त्याग हो ही नहीं सकता है। जब तक शरीर है तब तक कर्मत्याग सम्भव नहीं। अत: गीता कर्मों के बंधन से मुक्त होने के लिए युक्ति बतलाती है।

कर्म तत्त्व

गति — पंखा

क्रिया — किसी जीवित प्राणी की गति क्रिया

कर्म — जब क्रिया में संकल्प मिश्रित हो तब कर्म क्रिया

सहज क्रिया — संकल्प क्षीण लुप्त

आकस्मिक — संकल्प रहित घटना, अपघटना Accident

कर्म < करने योग्य कर्तव्य शुभ कर्म—शुभ फल
न करने योग्य अकर्तव्य, दुष्कर्म फल-अशुभ

कर्मफल सकाम कर्म

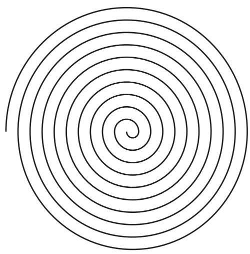
कर्म < आदत की जकड़ — शुभ—अच्छी ?
फल की कामना — दुष्कर्म
अहंकार की भावना — उग्र पुनर्जन्म

कर्म निष्फल न हो
किन्तु निष्काम अवश्य हो } फल अपने लिए न हो समाज के लिए या प्रभु के चरणों में

दो रास्ते (1) संसार चक्र—कर्म का भालू 8,40,00,000

स्वार्थ कर्म सकाम

संसार चक्र
कर्म चक्र



(2) कर्म चक्र

यज्ञार्थ कर्म

निष्काम.... उत्तरोत्तर....

कर्म छोड़ा भी नहीं जा सकता (बिना कर्म क्षणभर न टिकना) किन्तु कर्म से छुटकारा पाना भी अनिवार्य है।

'योगः कर्मसु कौशलम्'

Technique of action (Karma)

कर्म करें किन्तु कर्म में फंसें नहीं।

कुशल — एक गुरु ने शिष्य को.....कुश

शिष्य अनाड़ी..... हाथ फाड़ लाया

कुशल शिष्य..... कुशा लाया

हाथ नहीं कटा

कुशा गुरु को दी

गुरु ने यज्ञ में प्रयोग की

कर्म में कुशल—कर्म करे, कर्म की फांसी से बचे

कर्म के अहंकार से बचे

कर्म को प्रभु समर्पित (गुरु समर्पित) करे। यज्ञ भावना से चढ़ा दे।

जो कर्म करता है वह नीचे गिरता है।

जो कर्म के फल को छोड़ता है वह ऊपर उठता है।

लाभ—(1) कर्म की रंगत नहीं चढ़ी।

(2) कर्मफल की फांसी से बचा।

(3) कर्तापन के अहंकार से बचा।

(4) कर्म में प्रभु की विशेष कृपा, विशेष शक्ति का प्रवेश हो गया।

(5) कर्म उत्तम एवं चमत्कारी हो गया। असम्भव को सम्भव कर लिया।

(6) विश्व का भरपूर कल्याण हुआ। अपने को मोक्ष (प्रभु प्राप्ति)

फल को त्यागा तो फलदाता प्रभु मिल गया। खिलौने को त्यागा, मालिक मिल गया।

कर्मयोग

एक प्रिंसिपल

कर्मयोग के परिणामस्वरूप

Pessimistic निराश

कर्म से दूर

पलायनवादी

कर्म करो फल की आशा मत करो। तब निराशा के अलावा है ही क्या? फल की प्रेरणा से ही कर्म होते हैं।

घुड़दौड़ में Gold Maddle जीतने के लिए लोग सालभर से अभ्यास करते हैं। फल बिना incentive, बिना Salary के सब प्रोफेसर टा-टा करके चले जाएंगे।

उत्तर—मजदूर को मजदूरी मिलनी ही चाहिए नहीं तो निर्वाह भी नहीं होगा और अत्याचार भी होगा। अत: निर्वाह हो और अत्याचार से बचने के लिए मजदूर को मजदूरी मिलनी चाहिए। पर ऐसे लोग मजे से दूर रहते हैं इसलिए मजदूर कहलाते हैं। इसमें जीवन का मजा नहीं है। कोई कलम का, कोई वाणी का, कोई शास्त्रों को ढोने वाला आदि-आदि।

मजदूर है वह जीवन के वास्तविक मजे से दूर है।

तब उस प्रोफेसर ने कहा—कि मजदूर ही अच्छे हैं। हम मजदूर ही बने रहेंगे।

उत्तर—पुन: आपका बच्चा नहर में डूब गया। चार आदमी आते हैं—

A. परम आलसी मार्ग में नशे में चूर हैं। लोग कहते हैं बच्चा डूब रहा है। उसे निकालो—कोई उत्तर नहीं—बच्चों को बचाने पर भरपूर इनाम है तो वह कहता है कृष्ण ने कहा है कर्म तो करो पर फल की आशा मत करो—पर वास्तव में उसमें फल की लालसा नहीं है। ऐसी बात नहीं पर वह आलसी है। कर्म करना नहीं चाहता है। यह व्यक्ति कर्म नहीं करता है। फल की इच्छा नहीं, फलाशा नहीं, ऐसा व्यक्ति तमोगुणी है।

B. पहले सौदा करता है मुझे क्या फल मिलेगा। बिना फल के कर्म भी नहीं करता है। फल का Promise होने पर कर्म। ऐसा व्यक्ति दलाल है। रजोगुण तमोन्मुखी है।

C. कपड़े उतारे, छलांग लगायी, बच्चे को निकाला, फिर कर्म के तुरन्त बाद फल मांगता है। फल नहीं मिलने पर बच्चे को पुनः नहर में फेंक देता है। ऐसा व्यक्ति कठोर व्यापारी है।

D. कपड़े उतारे, छलांग लगायी, बीच भंवर से बच्चे को वापस लाया। बच्चे का पानी निकाला। बच्चे को होश में लाया। बच्चे को स्वस्थ किया और फिर अपनी साइकिल पर चढ़ा और चलता बना। इसने फल की चर्चा न पहले की, न बाद में चर्चा की। कर्म आया तो तुरन्त किया और अपने रास्ते लग गया।

तब प्रिंसिपल से पूछा—चारों आदमियों में से तुम किसको मांगोगे। तब उत्तर मिला D को मांगूंगा। इसी तरह निष्काम कर्मयोगी को दुनिया का हर कोई व्यक्ति चाहता है।

माँ की सेवा कर्तव्य भावना से न कि फल की आशा से। या माँ बूढ़ी हो गई है इसलिए नहीं वरन् माँ की सेवा शुद्ध कर्तव्य भाव से। इसी प्रकार भूखे को अन्न, प्यासे को जल, वस्त्रहीनों को वस्त्र देना शुद्ध कर्तव्य भाव से। कर्तव्य-कर्तव्य के लिए।

फलाशा करना तुच्छता है, कमीनापन है। कृपणता है।

(1) कर्म का अधिकार है—उदाहरण-परीक्षा में सादी कापी मिली। 3 घंटे के लिए छात्र को अधिकार है कि वह उसमें लिखे या खाली छोड़ दे। शिक्षक की प्रशंसा लिखे या गाली दे। उस पर थूके या उपयोग करे चाहे उसका जिस तरह उपयोग करे। 3 घंटे के लिए कर्म का अधिकार है।

(2) मा फलेषु कदाचन्—फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। इसमें B अधिकारी नहीं है। C कर्म के बाद फल का सौदा करने वाला। कर्म अच्छा करें या बुरा करें हमारी मर्जी पर फल का विधान हमारे हाथ में नहीं है। नहीं तो सभी कोई अपने आपको First class first कर दे। अतः फल का विधान हमेशा दूसरा ही करता है।

(3) अतः कर्मफल की ओर हमारी प्रवृत्ति न हो।

(4) और न कर्म न करने की ओर ही प्रवृत्ति हो। क्योंकि चलो फल नहीं चाहना है तो कर्म ही मत करो। जिससे फल के झंझट से बच जाएंगे। फल का सवाल ही नहीं उठेगा। अतः भगवान् कहते हैं—अकर्म की ओर भी हमारी प्रवृत्ति न हो।

इस सबका अधिकारी D है। जिसको कर्मयोगी बनना है। तब कर्म में फल मिश्रित नहीं होने देना चाहिए।

गीता तो हमारे समक्ष आदर्श व्यक्ति, महान् व्यक्ति बनने के लिए एक आदर्श रखती है। अत: गीता हमारे लिए नीचे नहीं आएगी। गीता के लिए हमें ऊँचा उठना होगा।

हम एकाएक गीता के महान् आदर्श तक नहीं पहुँच सकते हैं। इसके लिए गीता ने इस आदर्श तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बनाई है—

(1) सकाम कर्म करो पर अच्छे कर्म करो, बुरे नहीं।

फिर कर्मफल-त्याग का अभ्यास।

फिर कर्म संग त्याग का अभ्यास।

फलत्याग, कर्म संग त्याग और कर्तापन का अहंकार त्याग दो। तब सच्चे अर्थ में पूर्ण सिद्ध कर्मयोगी।

यज्ञ तत्त्व से ही सृष्टि अभी तक बची हुई है। नहीं तो सृष्टि अभी तक ध्वस्त हो जाती।

तिलक-सुभाष-मालवीयजी—ऐसे निष्काम कर्मयोगी नहीं होते तो सृष्टि कब की समाप्त हो गई होती। इन महापुरुषों के पास भौतिक सुख-सम्पदा का अतुल भण्डार सामने पड़ा था। पर इन्होंने उसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया।

कर्म का रहस्य वही है जो सारे जीवन और जगत् का रहस्य है। यह श्रीमद् गीता के वक्ता श्रीभगवान् के संदेश का सार-मर्म कहा जा सकता है। जगत् प्रकृति का केवल कोई यंत्र या नियम चक्र नहीं है जिसमें जीव क्षणभर के लिए या युग-युग जीने-मरने के लिए फंसा हो, यह है परमात्मा की निरन्तर अभिव्यक्ति।

—ऋषि अरविन्द

जहँ राम तहँ काम नहिं

एक ओर तो कहा जाता है जहां राम वहां काम नहीं और जहां काम वहां राम नहीं या एक साथ दो स्वामी की सेवा यानी ईश्वर और जगत् दोनों की सेवा साथ-साथ नहीं कर सकते। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि संसार में रहकर निष्काम भाव से विश्व की सेवा ही भगवान् की पूजा है। वास्तविक संन्यासी वही है जो संसार में रहते हुए संसार से निस्संग रहता है। जैसे कमल का फूल। यहां दोनों बातें देखने में परस्पर विरुद्ध-सी लगती हैं। पर वास्तव में विरोधी नहीं हैं। देश, काल, पात्र, परिस्थिति के अनुसार यह भेद प्रतीत होता है। जैसे भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं और Stage by stage आगे बढ़ते जाते हैं। प्रथम में वे कहते हैं कर्म तुम छोड़ नहीं सकते। कर्म तुम्हें करना है। फिर दूसरी Stage में कहते हैं कर्म तुम्हें करना है। पर, कर्मफल पर तेरा अधिकार नहीं। फिर अगली Stage में थोड़ा और ऊपर उठते हैं तुम कर्ता हो, यह भ्रान्ति वास्तविक कर्ता गुण है फिर एक Stage आगे जाते हैं और सब कुछ कर्ता ईश्वर है तुम तो मात्र निमित्त हो।

ये बातें परस्पर विरुद्ध-सी लग सकती हैं। पर, विरुद्ध नहीं हैं। अधिकार-भेद के अनुसार ही उपदेश दिया जाता है। प्रथम में हमें सत्-असत् में भेद करना पड़ता है। भेद करके सत् को ग्रहण करना और असत् का त्याग करें। जब हम सत् में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, स्थिर हो जाते हैं। सत् की कुछ झलक या रस मिलने लगता है। उसका स्वाद मिल जाता है। तब यह विचारना चाहिए कि असत् की सत्ता किससे है? असत् के लिए आधार क्या है? क्या जैसा बाइबिल और कुरान में evil power या शैतान की कल्पना की गई है अशुभ के लिए अलग से। अगर असत् के लिए अलग से शैतान की कल्पना करते हैं तो विश्व में दो सत्तायें हो जाएगी और दोनों में संघर्ष हो सकता है। अतः दो सत्ताओं का विचार नहीं कर सकते हैं। अतः असत् भी अस्तित्ववान है ईश्वर के कारण। भले ही वह ईश्वर गलत स्थान पर होने के कारण अशुभ प्रतीत होता है। राम तो ईश्वर है पर रावण भी ईश्वर की सत्ता से ही सत्तावान है। किसी evil power की बदौलत नहीं। अतः दोनों जगह जब ईश्वर का वास है तब उससे घृणा कैसे कर सकते हैं। अतः वहां निस्संग भाव से रहना है। इसलिए हमारे यहां अशुभ के लिए अलग से शैतान

की कल्पना नहीं की गई है। सब कहीं ईश्वर का ही साम्राज्य है। इसलिए हमने मृत्यु को देव कहा। काम को कामदेव कहा। असुर, पापी, शैतान कहकर उसका बहिष्कार नहीं किया।

अत: प्रथम में सत् और असत् का विवेक कर असत् का परित्याग और सत् में प्रतिष्ठित होना और जब सत् में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब यह विचार करना है असत् की सत्ता किससे है। तब फिर असत् से घृणा नहीं करके उसमें निस्संग भाव से कमल के सदृश रहना है। किन्तु, यदि प्रथम में सत् और असत् का विवेक नहीं करेंगे तो हम कभी भी सत् में प्रतिष्ठित नहीं हो पाएंगे और असत् से निवृत्त नहीं हो पाएंगे। सदैव असत् के मायाजाल में बंधे हुए 84 लाख योनियों में भटकते रहेंगे।

रहीम ने तुलसीदासजी को लिखकर भेजा कि मैं राम और काम दो घोड़ों पर सवार हूं। दोनों मुझे विपरीत दिशा में खींच रहे हैं। रथ के दोनों घोड़ों के विपरीत दिशा में गमन करने से मैं पिसा जा रहा हूं। तब तुलसीदासजी ने लिखा कि हाथ रखो संसार के कार्य में मन राखो राम में। घोड़े दो हैं पर रथ एक है। अत: आपका रथ और शीघ्रता से राम के धाम पहुँचेगा।

ऐसी स्थिति में जब हम सत् में प्रतिष्ठित हैं पर लोक व्यवहार और समाज की मर्यादा की रक्षा हेतु असत् व्यवहार करते हैं। तब जबकि हमें सत् का चस्का (बड़ा रस परम रस) लग चुका है तब संसार हमें अपनी ओर नहीं खींच सकेगा। संसार में हमारा राग नहीं होगा। संसार का कटु रस हमें नहीं भाएगा। संसार का रस हमें अपने पथ से विचलित नहीं कर सकेगा। इससे दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। अपना मोक्ष और जगत् का हित।

जीवन केवल जीने के लिए नहीं वरन् परमेश्वर के लिए है और मनुष्य का अन्तरात्मा उन्हीं परमेश्वर का सनातन अंश है। कर्म का प्रयोजन है आत्म-अनुसंधान, आत्म-पूर्णत्व और आत्मसिद्धि कोई तात्कालिक बाह्य फल नहीं है।

—ऋषि अरविन्द

शम

शान्तितुल्यं तपो नास्ति, न सन्तोषात् परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दया समः।। (चाणक्य)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। 18/42, गीता

शम—शम का अर्थ है शान्ति। मन में अपार शक्ति छिपी हुई है, किन्तु मन प्रकृति के प्रभाव से चंचल रहता है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। तमोगुण में मन निद्रालु, आलसी, तंद्रायुक्त हो जाता है। उस अवस्था में वह जड़ता की ओर जाने लगता है। निकम्मा एवं निरुपयोगी हो जाता है। हारा हुआ मन, बेकार मन, सुप्त मन ऐसे मनुष्य के समान है जो नशा खाकर जीवित अवस्था में ही मृतक के समान गंदी नाली में धराशायी पड़ा रहता है तथा कुत्ता उसका मुख चाटता है। यह मानवता एवं मन:शक्ति, दोनों का घोर तिरस्कार है।

जब मन में रजोगुण की वृद्धि से काम, क्रोध का वेग बढ़ जाता है तो मन में भयंकर अशान्ति आ जाती है। काम (किसी वस्तु या व्यक्ति की उत्कट कामना) से मन पागल हो जाता है, विवेक की दृष्टि लुप्त हो जाती है तथा मन में संकल्प- विकल्प के भयंकर ज्वार-भाटा उठने लगते हैं। कामना में रुकावट या विरोध होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में आंखें लाल हो जाती है, दांत पिसते हैं, मुट्ठियां कस जाती हैं, नथुने फूल जाते हैं, चेहरा तप कर लाल हो जाता है, आवाज ऊंची हो जाती है, पूरे शरीर में ऐंठन आ जाती है, रोम खड़े हो जाते हैं, हृदय, श्वास और नाड़ी तेज गति से चलने लगते हैं, श्वास गर्म हो जाता है, कभी दूसरों पर प्रहार करने की इच्छा होती है, कभी क्रोध के आवेग से क्रोधी का अपना पूरा शरीर कांपने लगता है, कभी वह क्रोध में अंधा होकर किसी निर्दोष को ही पीटने लगता है तथा कभी दूसरे को पीटने का अवसर या सामर्थ्य न होने पर स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करने लगता है। क्रोध के भयंकर आवेग में मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर अनेक बार हत्या एवं आत्महत्या के भीषण काण्ड हो जाते हैं। क्रोध वास्तव में अल्पकालिक पागलपन ही है। मन की अल्पकालिक अशान्ति क्रोध है, किन्तु मन की स्थायी, दीर्घकालिक अशान्ति

पागलपन कहलाती है। दोनों का परिणाम एकसमान है। किन्तु संसार भर का दण्डविधान जहां पागल व्यक्ति के आवेश में किए हुए अपराध को क्षमा कर सकता है, वहां क्रोधी व्यक्ति के क्रोधावेश में किए गए अपराध को कभी क्षमा नहीं कर सकता। अतः क्रोध पागलपन की तैयारी होते हुए भी न्याय की दृष्टि से पागलपन से अधिक घातक परिणाम वाला है।

गीता में भी जब अर्जुन प्रश्न पूछता है कि किस से प्रेरित होकर, इच्छा न होते हुए भी विवश होकर, मनुष्य पाप कर्म कर बैठता है, तो भगवान् उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। 3/37, गीता

अर्थात् यह रजोगुण से उत्पन्न काम एवं क्रोध ही है जो सबको खा जाने वाला तथा महापाप रूप है। इसे यहां भूतल पर अपना सबसे बड़ा वैरी जानो।

मन काम के मीठे विष से भी चंचल हो उठता है और क्रोध के दाहक विष से भी दग्ध हो जाता है, ऐश्वर्य में भी अंधा होकर ईश्वर के प्रेम को भूल जाता है और क्रोधावेश में भी अन्धा होकर ईश्वर के न्यायविधान को भूल जाता है।

जफर आदमी उसको न जानियेगा, चाहे कितना हो इल्मो फहमे बका।
जिसे ऐश में यादे खुदा न रही, जिसे तैश में खौफे खुदा न रहा।।

भारत के अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर ने कहा है कि चाहे कोई व्यक्ति कितना भी पढ़ा-लिखा विद्वान् क्यों न हो, वह मनुष्य कहलाने के योग्य भी नहीं है जिसे ऐश में (ऐश्वर्य में) ईश्वर की याद न रहे और जिसे तैश (क्रोधावेश) में ईश्वर के दण्डविधान का भय ही न रहे।

गीता (16/21) में भगवान् ने काम, क्रोध तथा लोभ को आत्मनाश करने वाला नरक का द्वार कहा है। वे द्वितीय अध्याय (श्लोक 63) में चेतावनी देते हैं कि क्रोध से संमोह, उससे स्मृतिभ्रंशता, उससे बुद्धिनाश तथा क्रमशः सर्वनाश हो जाता है।

आज मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है कि भय तथा क्रोध के आवेगों में पेट में स्थित एड्रीनल ग्रन्थियां (Adrenal Glands) अति उत्तेजित हो जाने से उनके भीतर के विष (Adrenin) का स्राव होकर मानव शरीर का रक्त प्रवाह विषाक्त हो जाता है। उससे क्षुधा समाप्त हो जाती है, पाचन क्रिया अस्त-व्यस्त हो जाती है, हृदय का स्पन्दन बिगड़ जाता है, रक्तचाप बढ़ जाता है, मस्तिष्क की विचारशक्ति कुंठित हो जाती है, मुखमण्डल का तेज नष्ट होकर सौम्यता के स्थान पर क्रूरता की मुद्रा अंकित होने लगती है।

विज्ञान ने खोज की है कि 10 मिनट के क्रोध एवं अशान्ति के समय शरीर के रक्त प्रवाह में जितना विष मिल जाता है उसे शान्त करने के लिए मानव शरीर को 6 मास लग जाते हैं। अतः जो प्रायः ही अशान्त एवं क्रोधावेश युक्त रहते हैं उनका तन विषैला, मन बेचैन, बुद्धि उद्विग्न, हृदय असंतुलित एवं मस्तिष्क विचारशून्य हो जाता है।

भगवान् पुनः गीता (5/23) में कहते हैं कि जो व्यक्ति शरीर के पतन के पूर्व ही (अर्थात् शरीर के जीते-जी) काम एवं क्रोध के भीषण वेग का सामना करने में समर्थ होता है, वह योगी एवं मानव धन्य है। वे पुनः गीता 5/26 में काम क्रोध विजय का फल बताते हुए कहते हैं—'जो काम एवं क्रोध से वियुक्त हैं ऐसे आत्मशासी एवं विचारवान, आत्मज्ञानी जनों को यहां-वहां सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण (पूर्ण मोक्ष) सुलभ हो जाता है।'

क्रोधाग्नि जो दूसरे को जलाने हेतु प्रज्वलित होती है वह स्वयं क्रोधी को ही जला डालती है। क्रोध मूर्खता से प्रारम्भ होता है और पश्चात्ताप में समाप्त होता है। क्रोध एक छूत के रोग के समान है जो धीरे-धीरे सभी को दग्ध करने लगता है—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता।। (चाणक्य)

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्ति पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः।। (चाणक्य)

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि।।
(यजु. 19/9)

स्थितप्रज्ञ

(1) मानव के जीवन में प्रज्ञा ही सर्वश्रेष्ठ विभूति।

(2) गायत्री में धी के लिए प्रार्थना।

(3) जहँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना। जहँ कुमति तहँ बिपत निधाना।।

(4) ब्रह्म विषयिनी बुद्धि, धर्म विषयिनी बुद्धि = स्थितप्रज्ञ।

काम विषयिनी बुद्धि, भोग विषयिनी बुद्धि = प्रज्ञानष्ट, भ्रष्ट बुद्धि।

(5) पश्चिम—1. शरीर चमकाने का उपक्रम—भोगवाद Nedonism

2. कार्ल मार्क्स = रोटी, कपड़ा, मकान, द्वन्द्वात्मक जड़वाद।

3. ईसा = 'God give me my daily Bread' प्रभु से भोग याचना।

(6) भारत 1. बुद्धि चमकाने का उपक्रम।

2. **जहँ काम तहँ राम नहिं, जहँ राम नहीं काम।**
तुलसी कबहुं नहीं बसि सकै, रवि रजनी इक ठाम।

3. **मम हृदय कंज निवास कुरु कामादिखलदलभंजनम्।**

(7) स्थितप्रज्ञ भक्त

रमा विलास राम अनुरागी।
तजत वमन इव नर बड़भागी।।

(8) रहीम—**जो विषया सन्तन तजै नर तेंहि से लपटाहिं।**
जैसे त्यागे वमन को कूकर स्वाद सों खाहिं।।

Want < Gread / Anger

(9) काम < पूर्ति से लोभ बढ़ता है। जैसे अग्नि में घृत। / अपूर्ति से क्रोध बढ़ता है।

(10) Wants- satisfaction- more wants- unending vicious circle. This awakens the monsters and gread in man.

(11) Carlyle

$$\text{Value of life} = \frac{\text{Human satisfaction}}{\text{Human wants}}$$

As wants become less and less the value of life goes on increasing.

(12) Want = shortage कमी, अभाव

He died for want of water.

मन का कंगाल ही कामनाओं का भिखारी।

(13) **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (गी. 16/21)
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामः उदारधीः
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।। भा. 2/3/10

(14) **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। (गी. 5/23)

(15) **गोधन गजधन बाजि धन और रतन धन खान।**
जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।। (रहीम)

Satisfaction < with what you have / Not with what you are

संतोष < भोग विलास से हो। / आत्म विकास में नहीं।

Purse may not grow, but the Person must grow.

(16) प्रह्लाद—**कामं हृदसंरोहः न भवेत् इति कामये।**

(17) **यह आरजू है दिल में, बे आरजू रहें।**
बाकी न कुछ रहे, बस तू ही तू रहे।। (स्वामी राम)

(18) न है कुछ तमन्ना, न कुछ जुस्तुजू है।
कि वहदत में साकी, न सागर न बू है।
मिली दिल को आँखें, जभी मारफत की,
जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है।

गुलिस्ताँ में जाके हर इक गुल को देखा,
तो मेरी ही रंगत व मेरी ही बू है।
मेरा तेरा उठा हुए एक ही हम,
रही कुछ न हसरत, न कुछ आरजू है।।

(19) अपने मजे की खातिर, गुल छोड़ ही दिए जब,
रूए जहाँ के गुलशन, मेरे ही बन गए सब।
जितने जबां के रस थे, सब तर्क कर दिए जब
सब जायके जहाँ के, मेरे ही बन गए सब।
अपने लिए जो छोड़ा, सुनने की आरजू को
सब राग और बाजे, मेरे ही बन गए सब।।
अपने लिए जो मुझ से, दीदों की दीद छूटी।
सब ही नजारे रंगी, मेरे ही बन गए सब।
अपने लिए जो छोड़ी, ख्वाहिश हवा खोरी की,
बादे रुबा के झोंके, मेरे ही बन गए सब।
कबीरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर।।

(20) तृष्णाक्षय: मोक्षपदं किमस्ति—शंकराचार्य
जितं जगत्केन मनो हि येन।

(21) इहैव तैर्जित: सर्ग: येषां साम्ये स्थित मन:।।

(22) जिसे संसार के विषय नहीं हिला सकते वह अपने पाँव की एक ठोकर से सारे संसार को हिला सकता है।'—स्वामी राम

(23) यदि अन्त:स्थिति सुदृढ़ है तो परिस्थिति बाल भी बांका नहीं कर सकती।

स्थितप्रज्ञ अन्त:स्थिति में अविचल है। अत: परिस्थितियों का स्वामी बन जाता है।

प्रज्ञाभ्रष्ट अन्त:स्थिति में दुर्बल है। अत: परिस्थितियों का दास बन जाता है।

(24) पश्चिम का मार्ग—परिस्थिति में परिवर्तन Change of Environments

भारत का मार्ग—अन्त:स्थिति परिवर्तन, हृदय परिवर्तन Change of Hearts.

(25) ममता तू न गई मेरे मन से।

'मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते'—हि. 2/68

(26) अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।

तृष्णां नाद करती घट भीतर नाना विधि दे ताल।।

(27) स्विट्जरलैंड में कुत्ता गाड़ी में निरन्तर दो फुट दूरी पर बंधे हुए मांस के टुकड़े के लोभ में आगे बढ़ता है तथा गाड़ी चलती जाती है।

(28) आत्मा रूपी कल्पवृक्ष के नीचे यात्री कामना—शीतल छाया, सुखद शय्या, चरण दबाने को सुन्दरी, विवाह। मार्ग में कहीं शेर न खा जावे। शेर खा गया।

विषय-रस

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'

(1) ओ रस आवा, ऐह रस नहीं भावा।

(2) गुरु द्रोणाचार्य अपने पुत्र को निर्धनता के कारण आटा घोल कर (दूध के नाम पर) पिलाते थे। एक बार ननिहाल में बढ़िया गो-दुग्ध पी लेने के पश्चात् आटे के घोल से छले नहीं गए।

(3) जैन दर्शन में—1. द्रव्य बंध (वस्तुओं का बंधन) 2. भाव बंध (मानसिक वासना)

(4) कुकुर को मल भोग छुड़ाना भी चाहें तथा बदले में उत्तम भोजन भी न देवें तो वह मल भोग को नहीं छोड़ेगा।

(5) सर्प बर्फ की शीत से जड़ हो जाता है तथा मृतप्राय होकर बिना डंक मारे अचेत-सा पड़ा रहता है। किन्तु उसे धूप या अग्नि का सेंक लगते ही वह पुनः सचेत होकर डंक मारने दौड़ता है। निराहार रहने से इन्द्रियां शिथिल होने से विषय थोड़ी देर के लिए छूट जाते हैं। किन्तु, उनके प्रति मूल वासना बनी रहती है।

'वशे हि यस्येन्द्रियाणि'

(1) आत्मा = महारथी, शरीर = रथ, बुद्धि = सारथि, इन्द्रियां = घोड़े, मन = लगाम।

(2) **यस्त्वविज्ञानवान् भवत्युक्तेन मनसा सदा।**

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः। (कठ. 5)

जो विज्ञान रहित है जिसका मन अयुक्त है। सधा नहीं है। उसकी इन्द्रियां दुष्टाश्वों सम, सारथि के वश के बाहर।

(3) **यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।**
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। (कठ. 6)

जो विज्ञान सहित है। जिसका मन आत्मा से जुड़ा हुआ है। उसकी इन्द्रियां सधे हयों सी, सारथि के वश में ही रहे।

(4) **विज्ञान सारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।**
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।। कठ. 9
विज्ञान सारथि जिसका, मन लगाम पक्का थामे।
वह यात्रा के पार को पावे, परम पवित्र विष्णु पद को।।

विभिन्न धर्मशास्त्रों में देवताओं, उनकी पूजा की पद्धतियों और कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में चाहे कितना ही विशद् विवेचन हो, परन्तु वेदान्त और उसके तीन प्रस्थानों—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—के धार्मिक अध्यात्म के आगे वे सब शांत हो जाते हैं। 'वन में शोर मचाने वाले श्रृगाल जिस प्रकार सिंह को सामने देखकर मौन धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार वेदान्त रूपी सिंह के सामने सभी शास्त्र मूक हो जाते हैं।'

—राधाकमल मुकर्जी

× × ×

जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः भूषमे शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः भूषमे शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात्।।
अथर्व, 19/67/2-8

हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा सद्गुणों से अपने को भूषित करते रहें!

सुखी कौन?

इस संसार में सुखी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त कठिन है। भिन्न-भिन्न लोगों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार भिन्न-भिन्न धारणाएं निर्धारित कर रखी हैं। कोई कहता है जिसका शरीर निरोगी है वह सुखी है। कोई कहता है धनवान सुखी है। कोई कहता है पदारूढ़ सुखी है। कोई कहता है परिवार वाला सुखी है। किन्तु, वस्तुस्थिति इससे भिन्न दिखाई देती है।

भौतिकता से ओत-प्रोत आज का मानव किसी भी परिस्थिति में सुखी नहीं है। सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए आतुर है। तड़प रहा है। किन्तु, सच्चा सुख उन्हें नहीं मिल पा रहा है।

किन्तु, निराश होने की आवश्यकता नहीं। अगर हम भगवान् के वचनानुसार अपने जीवन को व्यतीत करें तो सुख तो सहज ही सुलभ हो जाता है। गीता में भगवान् ने कहा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। 5/23, गीता

भगवान् कहते हैं वह नर सुखी है और वह सुखी नहीं योगी भी है। कौन? वह मनुष्य जिसने काम-क्रोध के वेग को वश में कर लिया है।

काम और क्रोध को वश में करने के लिए आवश्यक है चंचल मन को सांसारिक भोगों और विक्षेपों से हटाकर परमेश्वर की ओर उन्मुख करे। उसमें एकाग्र करे। परन्तु यह तो इतना सरल नहीं है। स्त्री है। घर-बार, जमीन-जायदाद है। सांसारिक सम्बन्ध और आसक्तियां हैं। सुखों और उपभोगों के आकर्षण हैं। अनेकानेक उत्तरदायित्व और कर्तव्य हैं। संसार में भी तो ऐसा बहुत कुछ है जो मनुष्य को अपनी ओर खींचता है। कैसे उनके बीच रहकर मन भगवान् में लगाया जाए?

इसके लिए जीवन के उच्चतर मूल्यों के प्रति प्रीति जोड़नी होगी। उसमें मन रमाना होगा। इसके लिए चातुर्वर्ण्य और आश्रम व्यवस्था द्वारा अपने जीवन को मर्यादित करना होगा। बांधना होगा। उससे जीवन अनुशासित होगा। तब फिर निष्काम कर्म फिर भक्ति फिर ज्ञान के राज्य में प्रवेश करेंगे।

पत्र

जीवन और मरण उस परम प्रभु परमेश्वर की कृपा पर निर्भर है। और उसी के लीला कृत्य हैं। जीवन प्रभु का ही वरदान है। किन्तु, हम भूल से अपना निजी जीवन मान बैठते हैं। इसी कारण जब अकस्मात् प्रभु अपनी वस्तु स्वयं ही वापस लौटाते हैं तब हमें बड़ा दुःख अनुभव होता है। जवानी में आकर मृत्यु दुःख का कारण है भी। क्योंकि मनुष्य को अपने जीवन के कर्तव्य निभाने का पूरा अवसर भी नहीं मिल पाता। फिर भी सर्वशक्तिमान जीवों की भलाई के लिए उन्हें जीवन-मृत्यु का खेल खिलाते रहते हैं। माता जो बच्चे को खिलौना दे तो उसकी कृपा है और यदि मिट्टी या अन्य विषैली वस्तु छीने तो उसकी दया है।

भारत में राज्य, राजनीति और विजय को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना कि अध्यात्म, धर्म, कल्पना और कला को सामाजिक समन्वय के घटकों के रूप में दिया जाता है। संसार में शायद ही कोई ऐसी जाति हो जो भारतीयों की तरह राजनीतिक घटनाओं, शासन, चढ़ाई या युद्ध—से इतनी कम शासित रही हो और आध्यात्मिक तथा धार्मिक आन्दोलनों से, सामान्य कल्पनाओं, मानदण्डों और सामाजिक परम्पराओं की पांडित्यपूर्ण स्थापनाओं से इतनी अधिक शासित रही हो। मध्य पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया इन्हीं के द्वारा अनेक शताब्दियों तक एक आत्मिक समाज के रूप में संगठित रहा है।

—राधाकमल मुकर्जी

प्रकृति के कार्य

वास्तव में प्रकृति भगवान् की माया शक्ति है। इसी के द्वारा सारा संसार रचा गया है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्, रज और तम। इन तीनों गुणों और पांच तत्त्वों को लेकर यह प्रकृति सारे संसार को रचती है। अब जितनी भी क्रियायें हो रही हैं चाहे शरीर द्वारा, चाहे इन्द्रियों द्वारा, चाहे मन द्वारा, चाहे बुद्धि द्वारा, चाहे मूल अहंकार द्वारा। ये सब क्रियायें संसार में संसार के पदार्थों के साथ संसार के पांच तत्त्वों के भीतर संसार के अन्य जीवों के प्रति अपने सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के प्रभाव से अन्य लोगों के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए सब क्रियायें हो रही है। इनमें से यदि एक भी वस्तु को कम कर दिया जाए तो कर्म नहीं हो सकेगा। यदि शरीर न रहे तो कर्म नहीं होगा। यदि इन्द्रियां न रहें तो कर्म नहीं होगा। मन न रहे तो कर्म नहीं हो सकता। यदि बुद्धि न रहे तो कर्म नहीं हो सकता। यदि संसार ही न रहे, अन्य कोई व्यक्ति न हो तब भी कर्म नहीं हो सकता। यदि मेरे मन में सत्त्व गुण, रज गुण, तमोगुण न रहे तब भी कर्म नहीं हो सकता। अन्य लोगों में ये तीनों गुण न रहें तब भी कर्म नहीं हो सकता। सृष्टि न रहे तब भी कर्म नहीं हो सकता। पांचों तत्त्वों में से एक भी तत्त्व शेष हो जाए तब भी कर्म नहीं हो सकता। इसलिए सारे कर्म प्रकृति की गोद में, प्रकृति के पांच तत्त्वों के भीतर, प्रकृति के तीन गुणों के घात-प्रतिघात से, प्रकृति के रचे हुए तन द्वारा, इन्द्रिय द्वारा, मन-बुद्धि द्वारा सब कर्म हो रहे हैं। इसलिए प्रकृति सब नृत्य कर रही है। पुरुष केवल द्रष्टा रूप में देख रहा है। इसलिए समस्त कर्म तो प्रकृति कर रही है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। 3/27, गीता

सब कर्म प्रकृति के द्वारा प्रकृति के गुण के अनुसार हो रहे हैं। लेकिन 'अहङ्कारविमूढात्मा'—अहंकार में जो अपने आपको भूला हुआ व्यक्ति है, भूला हुआ मैं है वह 'कर्ताहमिति मन्यते।' वह मान लेता है कर्म मैं ही करता हूं तो व्यक्ति के लिए स्वयं को कर्ता बनने को कोई स्थान ही नहीं बचता। वह कर क्या रहा है। वह कुछ भी नहीं कर रहा है। सब तो प्रकृति ही कर रही है।

सृष्टि का बनना यह सब समष्टि क्रिया से हो रहा है। मानव के शरीर के भीतर भी मां के गर्भ में बीज से बच्चे का विकास मानव के संकल्प से नहीं, यह प्रकृति की समष्टि क्रिया है। मानव के शरीर के भीतर भी इसके अन्दर रक्त का प्रवाहित होना, धमनी का चलना, श्वास गति का चलना, प्राणों का खेल, इस पर पसीना आना यह सब समष्टि क्रिया हो रही है। इसका खाया हुआ भोजन पचना और उसका अवशिष्ट भाग या अवांछनीय भाग फूजला के रूप में या मल-मूत्र के रूप में बाहर निकालना यह समष्टि क्रियायें हैं। मनुष्य को निद्रा आना, सुषुप्ति होना समष्टि क्रिया चल रही है। मनुष्य के संकल्प या विकल्प से विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। लेकिन कुछ क्रिया व्यष्टि क्रियायें हैं। जैसे मनुष्य का भोजन करना, भोजन के लिए प्रयास करना, भोजन के लिए परिश्रम करना, उसका दौड़ना, उसका किसी को पकड़ना, किसी के साथ प्रेम करना, किसी के साथ घृणा करना, किसी के ऊपर आक्रमण करना ये सब व्यष्टि क्रियायें हैं। जीवात्मा भूल से यह समझता है कि समष्टि क्रियायें तो प्रकृति कर रही है। लेकिन व्यष्टि क्रियायें मैं कर रहा हूं। पर वास्तव में समस्त क्रियायें प्रकृति के भीतर ही हो रही है। जो सारी सृष्टि को चला रही है वही प्रकृति मेरे शरीर को भी चला रही है। जो ब्रह्माण्ड को चलाने की शक्ति रखती है तो क्या वह पिण्ड को नहीं चला सकती? पिण्ड और ब्रह्माण्ड को वही चला रही है। पर व्यर्थ में मैं अपना अभिमान घुसाकर कहता हूं कि मैं कर रहा हूं। जब इसका चक्र बंद हो जाए तब बताऊं कि मैं चला रहा हूं, करके दिखाऊं कि मैं चला सकता हूं। मैं एक क्षण तक नहीं चला सकता। डॉक्टर की औषधि एवं डॉक्टर के उपचार तभी तक काम करते हैं जब तक प्रकृति जीवन देती है। प्रकृति के रुष्ट हो जाने पर डॉक्टर और रोगी दोनों ही बिल्कुल अकर्मण्य हो जाते हैं। उनका कुछ वश नहीं चलता। इसलिए समष्टि क्रियाओं के समान व्यष्टि क्रियायें भी इसी प्रकृति के द्वारा हो रही हैं। यह समझ लेने पर मनुष्य का अहंकार बचता नहीं क्योंकि हम उसी प्रकृति के चक्र के भीतर हैं जिससे सारी विराट् सृष्टि में सब कुछ हो रहा है। इसलिए ये सभी क्रियायें उसी के द्वारा हो रही हैं। यह समझ लेना चाहिए। जैसे मंच पर रामलीला होती है। रामलीला में होने वाले नाटक में मुखौटे, धनुष, वेश ये सब पर्दे हैं। रामलीला करने वाले रामलीला करके चले गए हैं। बच्चा जिज्ञासा करता है राम बना था वह कहां है? रावण बना था वह कहां चला गया? हनुमान कहां चले गए? तब समझदार आदमी बच्चे को समझाता है—देखो भाई, राम का धनुष यह पड़ा है, राम का मुकुट ये है, हनुमान का मुखौटा यह है, रावण के दशशीश, वस्त्र-आभूषण ये हैं। इनसे रामलीला हुई थी। जो करने वाले थे वे लोग कुछ क्षणों के लिए मुखौटों को पहन कर लीला किए थे। लीला करके चले गए। सामान यहीं पर है। तो बच्चा पूछता है, क्या मुखौटे ने

मुखौटों से लीला की। तो उसका समझदार बड़ा भाई समझाता है—हां, वास्तव में यही समझना चाहिए। मुखौटों की ही लीला थी। व्यक्ति तो न राम थे, न रावण थे, न हनुमान थे। इस तरह से गुण ही गुणों में खेल कर रहे हैं। और वास्तविक आत्मा, शुद्ध आत्मा निर्लिप्त है। अब अहंकार में शुद्ध आत्मा और लिप्त आत्मा दो शब्द हम प्रयोग करते हैं। आत्मा वास्तव में अलिप्त और शुद्ध ही है। लेकिन यह समझाने के लिए कि शुद्ध आत्मा इस लिप्त जीवात्मा से भिन्न है, ये दो शब्द प्रयोग किये जाते हैं—शुद्ध आत्मा और लिप्त जीवात्मा। शुद्ध मैं और अहंकार आविष्ट मैं। दोनों में अन्तर कर लेना चाहिए। शुद्ध मैं स्वाभाविक है। वह हमारे अपने स्व से ही हमारे अस्तित्व का भाव दे रहा है, इसलिए स्व के भाव को बताने के कारण वह स्वाभाविक है। और जो अहंकारविमूढ़ आत्मा (विमूढ़ात्मा) है वह अस्वाभाविक है। उसका जन्म स्व से नहीं हो रहा है। वह प्रकृति को, या प्रकृति के भीतर अपने शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को गलती से मैं समझता है। शुद्ध आत्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा नित्य है। सदा रहने वाला है। अहंकार-विमूढ़ आत्मा है यह अनित्य है। जो शुद्ध आत्मा है शुद्ध मैं है, इसको विस्मृत किया जा सकता है थोड़ी देर के लिए भुलाया जा सकता है लेकिन यह मिट नहीं सकता। भूला जा सकता है पर मिट नहीं सकता। लेकिन जो अशुद्ध आत्मा है, जो अहंकारविमूढ़ आत्मा है उसे कुछ देर के लिए माना जा सकता है पर वह टिक नहीं सकता। मान लें थोड़ी देर के लिए, पर वह टिकेगा नहीं क्योंकि वह सत्य नहीं है। इसलिए सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता और असत् वस्तु सदा टिकी नहीं रह सकती। इसलिए अपने सच्चे मैं और अपने माने हुए मैं में विवेक करके जिसका शुद्ध (आत्मा) मैं टिक जाएगा उसका अहंकार शेष हो जाएगा। अब ये अहंकार जो बना हुआ है इसको मिटाया कैसे जाए? एक गलत मान्यता से हमने मान लिया कि मैं शरीर हूं, मैं मन हूं, मैं बुद्धि हूं, मैं इन्द्रिय हूं, मैं संसार हूं। गलत मान्यता है। और हम आना चाहते हैं इस ज्ञान पर कि हम शुद्ध आत्मा हैं। तो गलत मान्यता को मिटाने के लिए मनुष्य के पास और कोई उपाय नहीं है सिवाय इसके कि वह सही मान्यता के द्वारा गलत मान्यता को मिटाये या गलत मान्यता जो चल रही है उसके विपरीत मान्यता लाए।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (यजु. 34/1)
मेरे मन के संकल्प शुभ और कल्याणमय हों!

गीता में यज्ञ तत्त्व

भारतीय संस्कृति का एक पावनतम प्रतीक यज्ञ तत्त्व है। इसकी महिमा और महत्ता से सारा भारतीय वाङ्मय गूंज रहा है। ऋग्वेद का प्रथम मंत्र यज्ञ की महिमा से ही श्रीगणेश करता है—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।

अर्थात् मैं इस पावन अग्नि देवता (ज्योतिस्वरूप परमेश्वर) की स्तुति करता हूं, पुरोहित (मानव के हित को आगे बढ़ाने वाला) यज्ञ के देवता की, ऋत्विज (ऋतुओं के अनुरूप यजन करने वाले) की, होता (हवन करने वाले) की, रत्नधातमम् (रत्नज्योति से देदीप्यमान) यज्ञ भगवान् की स्तुति करता हूं।

वेद ने यज्ञ की महिमा में कहा है, **'यज्ञो ही विश्वस्य भूवनस्य नाभि'** अर्थात् यज्ञ तत्त्व सारे विश्व भुवन की नाभि (केन्द्र) है। जिस प्रकार नाभि ही जनन का केन्द्र है। जीवन भर प्राण धारण का मर्म स्थान है। उसी प्रकार सारे विश्व का जन्म स्थान पोषण और मर्म स्थान यज्ञ ही है। यज्ञ के बिना न सृष्टि का जन्म सम्भव है न पोषण। न जीवन धारण एवं रक्षण। विज्ञान में नाभि उस बिन्दु (Focus) को कहते हैं जिस पर बिल्लौरी शीशे की सारी किरण पुंजिभूत होकर केन्द्रित हो जाती है। अन्य किरणों में उतना तेज नहीं दिखाई देता जितना नाभि स्थान पर। इसलिए विश्व भुवन का सबसे तेजस्वी तत्त्व यज्ञ ही है।

वेद में कहा गया है कि परमेश्वर ने यज्ञ भाव से अपने आपको समर्पित करके ही अपनी आहुति देकर सृष्टि की रचना की। यज्ञाग्नि में जो सुगंधि डाली जाती है वह फैलकर सबको वितरित हो जाती है। सैकड़ों लोगों को एक मिर्च बांटना चाहें तो बड़ा कठिन कार्य होगा किन्तु मिर्च को अग्नि में डाल दें तो सैकड़ों लोग छींकने लगेंगे। इसी प्रकार घृत और सुगन्धि को बांटने से बहुत कम वितरण होगा। अग्नि में आहुति देने से वह सबको वितरित हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म ने यज्ञ भाव से संकल्प किया **'एकोऽहम् बहु स्याम्'** और यह ब्रह्म अनन्तानंत जीवों में अपनी ज्योति वितरित कर विश्वरूप हो गया। विश्व की रचना की इसलिए यज्ञ ही सृष्टि

की योनि है। यही सृष्टि की नाभि है। श्रीगीता में इसी भाव को दर्शाते हुए भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। 3/10, गीता

प्रारम्भ में यज्ञ भाव के साथ सृष्टि रचते समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने कहा इस यज्ञ तत्त्व से ही तुम फलो-फूलो, उन्नति करो। यह यज्ञ ही तुम्हारी सब कामनाओं को पूरा करने वाला है। सृष्टि में सर्वत्र यज्ञ ही चल रहा है। यदि यज्ञ तत्त्व निकाल दिया जाए तो सारी सृष्टि ध्वस्त हो जाए।

पंचभूतों में यज्ञ

पंचभूतों में यज्ञ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश सभी एक महायज्ञ में सहयोगी हैं। संसार के सात अरब लोग, इससे 100 गुणा अधिक पशु-पक्षी और हजारों गुणा अधिक अन्य जीव-जीवाणु, कीट-कीटाणु प्रतिदिन श्वसन क्रिया से विषैली गैस छोड़ते हैं। यदि ये विषैली गैसें वायुमण्डल में ही रहे तो सारी मानव-जाति एक दिन में ही मर जाएगी। एक बंद कमरे के भीतर चार व्यक्तियों द्वारा रात्रि भर में छोड़ी हुई कार्बन डाइऑक्साइड एवं नाइट्रोजन गैस से इन चारों की दम घुट कर मृत्यु हो जाती है। शरीरों से निकलने वाली विषैली गैस के अतिरिक्त करोड़ों चूल्हों की गैस, लाखों मिलों और फैक्ट्रियों की विषैली गैस, गाड़ियों, मोटरों, ट्रकों की गैसों से जो वायुमण्डल दूषित होता है उसमें एक दिन भी जीना दूभर हो जाए। किन्तु सृष्टियज्ञ के कर्ता यज्ञ-भगवान् ने असंख्य-असंख्य जंगल के वृक्ष एवं पेड़-पौधे बनाए हैं जो प्राणियों के शरीर से छोड़ी हुई विषैली गैसों को पी जाते हैं और वायुमण्डल को शुद्ध करके शुद्ध ऑक्सीजन मानव-जाति को प्रतिदिन-प्रतिपल बिना मूल्य के दान करते रहते हैं। हम क्षण भर के लिए कल्पना करें कि सृष्टि के इस विराट् यज्ञ के बिना हमारा जीवन एक पल भर के लिए भी सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार मानव जीवन के लिए जल की व्यवस्था, खाने के लिए अन्न की व्यवस्था, ताप के लिए सूर्य की व्यवस्था, चलने-फिरने के लिए धरती-आकाश की व्यवस्था न हो तो जीवन असम्भव हो जाएगा। ये सब ईश्वर के महायज्ञ का ही चमत्कार है। सूर्य का ताप हमारे लिए आवश्यक भी है और उसकी अतिशय दाहक शक्ति हमें पल भर में जलाकर भस्म भी कर सकती है। इसलिए हमें जितनी मात्रा में सूर्य का ताप चाहिए सूर्य को उतनी ही दूरी पर रखने का विधान किसी विश्वकल्याणकारी यज्ञ शक्ति का ही चमत्कार है।

लगभग 9 करोड़ मील दूरी का सूर्य यदि दूर चला जाए तब भी सृष्टि का नाश हो जाए और अधिक निकट आ जाए तब भी सृष्टि जल जाए। भगवान् ने गीता में कहा है, 'मैं ही सूर्य बनकर अन्न, वनस्पतियों को पकाता हूं और चन्द्रमा

बनकर औषधियों में रस भरता हूं। यह विज्ञान से प्रमाणित तथ्य है। सूर्य का ताप एवं प्रकाश न मिलने पर पेड़-पौधे मुर्झा कर मर जाते हैं। सौर ऊर्जा हमारे जीवन के लिए अनिवार्य है। किन्तु उसे सीधे पचा सकना या सहन कर सकना मनुष्य के लिए असम्भव है। इसलिए हमारे कल्याण के लिए इस विराट् सृष्टि में (यज्ञ की) यह व्यवस्था की गई है कि पेड़-पौधे सूर्य के ताप से सौर ऊर्जा प्राप्त करें। उससे बढ़ें। उसी से फल और अन्न पके। पेड़-पौधे सौर ऊर्जा को ग्रहण कर क्लोरोफिल (हरियाली) में बदल देते हैं। जो मानव जीवन के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार सूर्य हमें बाहर से ताप देता ही है। अन्न-फल और शाक-सब्जियों के रूप में भी हमें सौर ऊर्जा प्रदान करता है। जिससे हमारे शरीर की जठराग्नि बनी रहे और शरीर का तापमान साढ़े ९८ डिग्री बना रहे। सौर ऊर्जा से विकसित घास को खाकर गायें दूध देती हैं जो मानव के लिए पूर्ण भोजन है। घास की अलौकिक शक्ति पर नए-नए वैज्ञानिक प्रयोग सिद्ध कर रहे हैं कि इसमें एक महान् जीवनी शक्ति और असाध्य रोग को दूर करने की क्षमता है।

मानव अन्न, फल, शाक-सब्जियां खाकर जो अखाद्य मल-मूत्र त्याग करता है वह धरती को उपजाऊ बनाने के लिए खाद बन जाता है। और धरती जो कुछ पैदा करती है वह प्राणियों के लिए खाद्य बन जाता है। इस प्रकार सृष्टि में एक विराट् यज्ञ चल रहा है। पांचों तत्त्व विश्वकल्याण के लिए लगे हैं। धरती अपना अन्न स्वयं नहीं खाती, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते, नदियां अपना जल स्वयं नहीं पीती, सूर्य अपना ताप एवं प्रकाश अपने पास ही सीमित नहीं रखता। अपने वरदान एवं फल सारे विश्व को बांटने में ही उनकी सार्थकता है—

वृक्ष न निज फल को चखे नदी न पीवे नीर।
परमारथ के कारणे संतन धरा शरीर।। (कबीर)

जीव सृष्टि में यज्ञ

सृष्टि में जितने जीव हैं वे सभी परस्पर एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं। कोई भी व्यर्थ या फालतू नहीं है। सभी सृष्टि के महायज्ञ में पूरक, सहायक एवं उपयोगी हैं। सांप-बिच्छू जैसे विषैले जीव भी वायुमण्डल के विष को पीकर वायु को शुद्ध करते हैं। गाय, बैल, घोड़ा, कुत्ता, चिड़िया, भेड़-बकरी सभी का अपना-अपना महत्त्व है। हम मानव समझते हैं कि पंचमहाभूत जड़ हैं और यज्ञ भावना केवल चेतन प्राणी में हो सकती है। छोटे जीवों में मानसिक विकास बहुत कम रहता है इसलिए उनमें यज्ञ भावना की समझ कहां से आ सकती है। किन्तु प्रभु की इस निराली सृष्टि में जड़-चेतन सभी के पीछे एक चेतन सत्ता सुप्त या गुप्त रूप में काम कर रही है। वही पत्थर में सोयी हुई है, पशुओं में स्वप्न ले रही है और मानव में जाग उठी है। पंच महाभूत प्रकृति के ही पांच तत्त्व हैं। प्रकृति बाहर से जड़ प्रतीत

होते हुए भी मूलतः परमेश्वर की रचना शक्ति है। वही दुर्गा-काली, सरस्वती, लक्ष्मी के रूप में पूजी जाती है। इसलिए वह मूल रूप में चेतन है और बहिरंग में जड़ प्रतीत होती है। छोटे जीवों में यज्ञ भावना प्राकृतिक प्रवृत्ति के रूप में है। मानव को अपने विवेक से यज्ञ भावना को चुनना पड़ता है। स्वार्थ और यज्ञार्थ में से वह किसे चुने इसके लिए वह स्वाधीन है। छोटे जीवों का यज्ञ भाव स्वाभाविक एवं प्राकृतिक है किन्तु मानव का यज्ञ भाव उसके स्वाधीन संकल्प से होने वाला कर्म है। इसलिए मानव का यज्ञ कर्म पुण्य और स्वार्थ कर्म पाप माना जाता है। पशु एवं अन्य छोटे जीव पाप-पुण्य से मुक्त हैं।

राष्ट्रयज्ञ

राष्ट्र में सभी नागरिक अपने समस्त कर्मों को सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए समर्पित करे तो उससे पूरे राष्ट्र का कल्याण सम्पादन होता है। यदि व्यक्ति अपने निर्वाह योग्य कमाई को अपने पास प्रयोगार्थ रखकर शेष राष्ट्र के नेता या उदार त्यागी राजा को समर्पित कर देता है तो उसे न संग्रह का झंझट करना पड़ता है न रक्षा की चिंता। न स्वार्थ का पाप लगता है और राजा द्वारा राष्ट्र के व्यापक कल्याण के लिए न्यायपूर्वक उसका वितरण एवं सदुपयोग भी हो जाता है। राजा या शासक को सूर्य या अग्नि के समान होना चाहिए जो अपने पास कुछ भी न रखकर सब कुछ दूसरों के व्यापक कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। सूर्य धरती के नदी-नालों, तालाबों से थोड़ा-थोड़ा जल भाप रूप से ग्रहण करता रहता है जिससे किसी को न पता चले और न कष्ट हो। फिर समस्त जल को शुद्ध करके धरती पर ही बरसा देता है अपने पास कुछ नहीं रखता। एक आदर्श राज्य में (रामराज्य में) ऐसी ही स्थिति होती है। भगवान् राम कहते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुच्यतो नास्ति मे व्यथा।।

अर्थात् लोकजीवन के लिए अपने स्नेह को, दया को, सुख को, राजवैभव एवं प्राणवल्लभा जानकीजी को भी त्यागने में मुझे तनिक भी व्यथा नहीं है।

शरीर यज्ञ

शरीर में सिर को ब्राह्मण भाग, छाती और भुजाओं को क्षत्रिय भाग, पेट को वैश्य भाग और जंघाओं और पांवों को शूद्र भाग कहा गया है। किन्तु शरीर के सभी अंग यज्ञ भाव से पूरे शरीर के हित के लिए कार्य करते हैं। तभी शरीर स्वस्थ रहता है। यदि सिर सोचे कि मैं केवल सिर का हित ही विचार करूंगा, पांव में कांटा चुभने की चिन्ता नहीं करूंगा या पेट की पीड़ा से मेरा कोई सरोकार नहीं वह शरीर सिर समेत रोगी होकर अस्पताल में एड़ियां रगड़ने या श्मशान भूमि में

जलने के लिए पहुंच जाएगा। यदि भुजायें सिर की चोट, पेट की पीड़ा और पांव की कांटे से रक्षा के लिए तुरन्त अपने आपको समर्पित न करे तब भी रोग और मृत्यु को निमंत्रण होगा। पेट यह सोचे कि मेरा खाया हुआ अन्न, दूध आदि मेरे ही भण्डार में रहे और मैं उसका रस पूरे शरीर को नहीं बांटू तो पेट रोगी हो जाएगा और अपनी ही मृत्यु बुलाएगा। हमें डॉक्टर के पास जाकर मोटी फीस देकर कहना पड़ता है मेरा पेट रूप बनिया बेईमान हो गया है। सब कुछ अपने भण्डार में छिपाकर रखता है, दूसरे अंगों को नहीं बांटता है। डॉक्टर को तेज औषधि अथवा ऑपरेशन द्वारा उसके उदर भण्डार का चोरी से छिपाकर रखा हुआ सड़ता हुआ सब माल बाहर निकालना पड़ेगा। यदि पांव पूरे शरीर की सेवा के लिए प्रस्तुत न हो तो शरीर के रोगी या मृतक होने का दण्ड उन्हें भी भोगना पड़ेगा। इस प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग पूरे शरीर के हित के लिए अपनी सेवाएं समर्पित करता रहता है। तभी शरीर का निर्वाह चलता है। इस प्रकार शरीर भी यज्ञ भाव पर ही टिका हुआ है।

पारिवारिक यज्ञ

परिवार में प्रत्येक सदस्य जब पूरे परिवार के हित के लिए अपनी सेवाएं समर्पित करता है तो परिवार का सुन्दर निर्वाह चलता है। यदि सभी सदस्य अपने-अपने स्वार्थ साधने में लग जाएं तो परिवार उजड़ जाएगा। स्वामी रामतीर्थ अमेरीका में यज्ञ तत्त्व की महत्ता समझा रहे थे तो एक अमेरीकन ने कहा कि आज के इस वैज्ञानिक और भौतिकवादी, अर्थपरायण युग में आपका (भारत का) यज्ञ सिद्धान्त नहीं चल सकता। स्वामीजी ने कहा, यह आज भी चल रहा है और उसी के वरदान से आप जीवित हो। आप सबके घर में एक यज्ञमूर्ति है जिसे आप पहचानते नहीं। वह आपकी माता है। वह कितना कष्ट झेलकर बच्चों का पालन पोषण करती है। परिवार के सब सदस्यों, अतिथियों को खिलाकर अन्त में बचे हुए को खाती है, नहीं तो भूख में ही समाधान मान लेती है। वह यज्ञ तत्त्व निष्काम कर्मयोग की जीवित प्रतिमा है। जो पूरे परिवार की इतनी सेवा करके भी कभी अहंकार नहीं जताती। एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी माता से पूछा कि आपने मुझे जन्म देकर मेरे ऊपर जो उपकार किया है क्या मैं अपनी सेवा द्वारा उसका कुछ अंश चुका पाया हूं या नहीं? माता ने मुस्कराकर कुछ दिन बाद उत्तर देने का आश्वासन दिया। एक बार सर्दी की रात्रि को थके हुए, तनिक ज्वरग्रस्त ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पर अर्द्धरात्रि के समय माता ने उठकर एक ठण्डे पानी का घड़ा उसके बिस्तर पर उड़ेल दिया। विद्यासागर माता के इस व्यवहार से क्रोधित होकर अपशब्द बोलने लगे। माता ने प्यार से उसके शरीर को पोंछते हुए उसको नए कपड़ पहनाये और साथ वाले कमरे में दूसरे बिस्तर पर सोने के लिए आग्रह

किया। माता ने समझाया कि आज तुम्हारे पास महल जैसा मकान है। दर्जनों कमरे हैं, दर्जनों बिस्तर। किन्तु एक समय था जब हमारे पास एक टूटी-फूटी फूस की झोंपड़ी थी एवं टूटी-फूटी चारपाई थी। रात को वर्षा आ जाने पर वर्षा का आधा पानी अंदर आ जाता था। अर्द्धरात्रि को तुम अचानक मल-मूत्र कर देते थे। फिर भी मैं सारी रात तक स्वयं को गीले भाग में और तुम्हारे मल में रहकर तुम्हें सूखे भाग में सुलाती थी। कहीं मेरे लाल को न्यूमोनिया न हो जाए। बस, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हो गया। तुम साथ वाले कमरे में नये बिस्तर पर विश्राम करो। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी और उसने मां के चरणों में गिर कर क्षमायाचना की और कहा, हे मां! मैं सौ जन्मों में भी तेरा उपकार (ऋण) नहीं चुका सकता। सचमुच, जिस दिन माता स्वार्थी हो जाएगी उस दिन सारी मानवता मर जाएगी। यदि माता यह सोचे कि बच्चा आग में हाथ डाल रहा है, मुझे क्या? तालाब नदी, कुएं में गिर रहा है, भूख से व्याकुल होकर रो रहा है तो मुझे क्या? टिंचर या विषैली औषधि पी रहा है तो मेरा क्या बिगड़ता है? तब एक भी बच्चा नहीं बच सकेगा। इस प्रकार प्रत्येक परिवार एवं समूचा मानव परिवार भी यज्ञ भावना पर टिका हुआ है।

यज्ञ का अर्थ एवं व्याख्या

यज्ञ यज धातु से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है—पूजा संहति लोकोपकार। यज्ञ अपने से बड़ी इकाई के लिए लोक संग्रह की भावना से किया गया समर्पण है। वैदिक काल में यज्ञ अग्निकुण्ड में मंत्रोच्चारण के साथ समिधायें एवं शाकल्य समर्पित करने का एक पूजा अनुष्ठान था। किन्तु भगवद्गीता में भगवान् ने यज्ञ की बड़ी विस्तृत व्याख्या करके इस प्राचीन शब्द को नयी गरिमा प्रदान की है।

(क) कर्तव्य यज्ञ या कर्म यज्ञ

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। 4/23, गीता

जो व्यक्ति संग रहित अहंता-ममता रहित परमेश्वर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहकर लोक संग्रह रूप यज्ञ की परम्परा सुरक्षित रखने के लिए धर्मों का आचरण करता है वह यज्ञ के लिए कर्म करने वाला है। उसके सम्पूर्ण कर्म यज्ञाग्नि में लय हो जाते हैं अर्थात् उसे कोई भी कर्म बंधन नहीं रहता।

निष्काम कर्मयोग की चतुष्सूत्री भी कर्मयज्ञ है।

सकाम कर्म मनुष्य को चार प्रकार से बांध देता है। कर्म कर्ता को रंग देता है और कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहम्कृति (कर्तापन का भाव) में बांध देता है।

इससे भव बंधन बना रहता है। भवाटवी में भटकता रहता है। इसलिए अपने कर्म को निष्काम बना लेना चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47, गीता

कर्मण्येवाधिकारस्ते—हे मानव! कर्म करने में तेरा अधिकार है।

मा फलेषु कदाचन—कर्मफल पर तेरा अधिकार नहीं है।

मा कर्मफल हेतुर्भूर्—फल की वासना से कर्म करने वाला मत बन।

माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि—अकर्म में भी तू संग मत रख।

निष्काम कर्म में फलासक्ति तो शिथिल हो जाती है पर कर्मासक्ति, अहम्कृति (कर्तापन का भाव) बनी रहती है। पर जैसे-जैसे निष्काम कर्म करता जाता है, चित्त शुद्ध होने लगता है। उसे ब्रह्म संस्पर्श का अनुभव होने लगता है, भगवान् तो यंत्री है मैं यंत्र हूं। भगवान् के दिए हुए तन, मन, धन से प्रभु के रचे हुए जीव और जगत् के प्रति मैं प्रभु की प्रेरणा से कर्म कर रहा हूं। इस प्रकार यह यज्ञार्थ कर्म बन जाता है जो भव बंधन को मिटाने वाला है और प्रभु से मिलाने वाला है।

ब्रह्मयज्ञ

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। 4/24, गीता

जब समस्त कर्म ब्रह्म को समर्पित हो जाते हैं तब अर्पण भी ब्रह्म हो जाता है। अर्पण की गयी हवि भी ब्रह्म हो जाती है। जिस अग्नि में अर्पण किया जाता है वह अग्नि भी ब्रह्म रूप ही है। जो आहुति देने वाला होता (=आहुति देने वाला) है वह भी ब्रह्म ही है। इसके द्वारा जो प्राप्त होने वाला है वह लक्ष्य भी ब्रह्म ही है। अतः समस्त कर्म ब्रह्म कर्म बन जाते हैं। यह बहुत ऊंची स्थिति है जिसमें कर्ता कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान सभी ब्रह्म रूप हो जाते हैं। गीता के नवम् अध्याय में भगवान् अपना यज्ञ स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। 9/16

अर्थात् मैं ही क्रतु (स्मार्त यज्ञ), मैं यज्ञ (वैदिक यज्ञ) हूं, मैं ही स्वधा (देव स्तुति) हूं, मैं ही औषध यज्ञ में समर्पित की जाने वाली औषधि हूं। मैं ही मंत्र हूं, मैं ही घृत हूं, मैं ही अग्नि हूं तथा मैं ही अग्नि में भस्म होने वाली आहुति हूं। भगवान् पुनः कहते हैं, 'अहम् ही सर्व यज्ञानाम भोक्ता च प्रभुमेवच'।

अर्थात् मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता हूं, मैं ही सबका प्रभु हूं। मैं ही मंत्र हूं, मैं ही घृतम्, मैं ही ऋग्-साम-यजुर्वेद हूं। इस प्रकार वेद, वेद के मंत्र, वैदिक यज्ञ

एवं यज्ञ के समस्त उपकरण ब्रह्ममय हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण मूर्तिमान यज्ञ होने के कारण अपने में ही सबका दर्शन करते हैं।

पंच महायज्ञ

वैदिक वाङ्मय में पंच महायज्ञों का निर्देश है—

ब्रह्मयज्ञ—इसमें ब्रह्मज्ञान गर्भित ज्ञानग्रंथों का पठन पाठन एवं स्वाध्याय ही ज्ञानयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ अथवा ऋषि तर्पण यज्ञ कहा जाता है। इसे ही गीता में ज्ञानयज्ञ कहा गया है—

स्वाध्यायेन अर्चयेत् ऋषीन्

अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा ऋषियों की अर्चना करनी चाहिए।

ऋषि-ऋण चुकाने का भी सबसे श्रेष्ठ मार्ग स्वाध्याय ही है। भगवान् श्रीकृष्ण भी श्रीमद्भगवद्गीता के अन्त में कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। 18/70, गीता

अर्थात् जो हम दोनों के इस धर्ममय संवाद को पढ़ेगा, उसके द्वारा (उस) ज्ञानयज्ञ से मैं पूजित होऊंगा—ऐसा मेरा मत है।

देवयज्ञ—देव शक्तियों के लिए अग्निहोत्र करना देवयज्ञ कहलाता है। वेद में इसकी बड़ी महिमा है। वैदिक पद्धति से कोई भी संस्कार करते समय देवयज्ञ (अग्निहोत्र) अनिवार्य रूप से उसके अंग के रूप में सम्मिलित रहता है। परब्रह्म परमेश्वर एक है किन्तु उसका सृष्टि में सृष्टि संचालन का कार्य अनेक दैवीय शक्तियों द्वारा संचालित होता है। जैसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, विश्वदेवा, अश्विनी कुमार आदि। ये सब देव सृष्टि के एक-एक विभाग के संचालक हैं और स्वयं ब्रह्म के अनुशासन में उसकी परमशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। इसलिए ब्रह्म का जीवों को प्रत्यक्ष प्रथम परिचय देव शक्तियों द्वारा होता है और जीव ब्रह्म की प्रत्यक्ष प्रथम पूजा इन देव शक्तियों के माध्यम से ही समर्पित कर सकता है। जिस प्रकार देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नगरों, ग्रामों एवं वनों तक में भारत सरकार का शासन चलता है किन्तु राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री स्वयं आकर वहां शासन नहीं चलाते वरन् उनके प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल, मुख्यमंत्री, जिलाधीश, अनुमण्डलाधिकारी, ग्राम का सरपंच आदि शासन चलाते हैं। पुलिस के सामान्य सिपाही के अनुशासन को मानना भारत सरकार का सत्कार और अनुशासन भंग करना भारत सरकार का तिरस्कार माना जाता है। इसलिए देव शक्तियों की पूजा उनके प्रति श्रद्धापूर्वक यजन अन्ततोगत्वा ब्रह्म का ही पूजन माना जाता है। ये देव अपनी दिव्यता से प्रकाशमान हैं और सृष्टि के जीवों को

अपने अमूल्य वरदान यज्ञ भाव से देते हैं। यदि सूर्य का प्रकाश, वायु का प्राण, इन्द्र की वृष्टि जीवों के जीवन के लिए जल आदि न मिले तो सब जीव सृष्टि का अन्त हो जाए। अतः सब देव शक्तियों के प्रति श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करने से मनुष्य उन देव शक्तियों के प्रति अपनी कृतज्ञता सूचित करता है। श्रद्धापूर्वक दिया पत्र-पुष्प, फल, जल अथवा मानसिक नमस्कार तक भी जब भगवान् स्वीकार करते हैं तब श्रद्धापूर्वक समर्पित हवि को भी देव शक्तियां अवश्य स्वीकार करती हैं। प्रश्न मानव के मन की सच्ची भावना का है। आज के युग में भी मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध हो रहा है कि हजारों मील दूर बैठे हुए व्यक्ति से हम मानसिक संचार (Mental wireless) द्वारा वार्तालाप एवं विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। तब दैवी शक्तियों से अग्निहोत्र के पवित्र मंत्रों द्वारा हम अपना श्रद्धा भाव सम्प्रेषण कैसे नहीं कर सकते। किसी अन्य विज्ञान से तुरन्त प्रमाणित हो या न हो किन्तु मनोविज्ञान से यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है। यह मनोवैज्ञानिक सफलता भारत के योगदर्शन का ही एक अंग है। आजकल पश्चिम में इसे Pera psychology, Meta psychology (परामनोविज्ञान) कहा जाता है।

गीता में भगवान् ने कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। 3/11, गीता

तुम लोग देवताओं की श्रद्धा भावना करो और देवता तुम्हारी कल्याण भावना करे। इससे परस्पर एक-दूसरे की भावना करते हुए तुम सब परम कल्याण को प्राप्त करो।

अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।। 3/12, गीता

यज्ञ से संतुष्ट देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे और उन्हीं के दिए अनन्त भोगों में से जो व्यक्ति कुछ अंश उसी को समर्पित नहीं करता, वह चोर है।

अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं—यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को खाने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं वे पाप ही खाते हैं।

अग्निहोत्र की आध्यात्मिक व्याख्या एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अपना महत्त्व है। जो सूर्य भगवान् धरती के नदी-नालों के गंदे पानी का शोषण करके उसे शुद्ध पवित्र जल के रूप में सब जीवों एवं वनस्पतियों को जीवन प्रदान करते हैं उन्हें एक चुल्लूभर जल की जलांजलि देने में हमारी कुछ भी हानि नहीं होती। हम एक

अच्छे कृतज्ञ मानव बनते हैं। सूर्य भगवान् की ज्योति का दर्शन करते हैं। गायत्री से अपनी बुद्धि को पवित्र निर्मल बनाते हैं। सूर्य की ज्योति को अपनी बुद्धि में समा लेने की भावना करते हैं तथा सूर्य को अर्घ्यरूप में समर्पित जलराशि के भीतर से सूर्य का दर्शन करने से हमारे नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है। जो सूर्य हमारी धरती और नवग्रह का केन्द्र है, हमारी धरती और हमारे जीवन का आधार है यदि हम उसे तनिक जल अथवा अग्निहोत्र में हवि समर्पित करते हैं तो हमें हानि कुछ भी न होकर सब दृष्टियों से लाभ ही लाभ मिलता है। सूर्योपासना से अनेक असाध्य रोगों का इलाज व उपचार प्राकृतिक चिकित्सा विधि द्वारा किया जा रहा है।

अग्निहोत्र विवेचन

विस्तृणीकरण—अग्नि का कार्य उसमें डाली हुई वस्तु का विस्तार कर देने का है। जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ कटु पदार्थ (मिर्च) वायुमण्डल में फैलकर सबको प्रभावित करता है उसी प्रकार अग्नि में डाली हुई सामग्री गुग्गुल, जायफल, मुनक्का, मीठे मेवे एवं औषधियां आदि छोटे परमाणुओं में टूट कर वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं। अग्नि में डाला हुआ घी परमाणुओं के रूप में सारे घर में फैल जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है प्रत्यक्ष घी खाने की अपेक्षा घी की सुगंधि शरीर को अधिक पुष्ट करती है। उदाहरणार्थ—हलवाई की दुकान पर कार्य करने वाला कार्यकर्ता निर्धन होते हुए यदि प्रत्यक्ष घी न भी खाए तब भी दुकान पर घी की कड़ाही से उठने वाली सुगंधि द्वारा वह हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। कहा है—

घ्राणाम् अर्धभोजनम्

अर्थात् केवल सूंघना मात्र भी आधा भोजन है। अग्निहोत्र सिद्ध करता है घ्राणाम् सूक्ष्म श्रेष्ठ भोजन। आग में डालने से घी एवं औषधियों के सूक्ष्म परमाणु बन जाते हैं। आग द्वारा वायु गर्म और हलकी हो जाती है। उस हलकी गर्म वायु द्वारा वे सूक्ष्म परमाणु ऊपर उठते हुए सूर्यलोक में चले जाते हैं। भगवान् मनु ने ठीक कहा है—

'अग्नौ हुतं हविः सम्यक् आदित्यं उपतिष्ठति।'

आग में डालने से हवि सूक्ष्म होकर सूर्य तक फैल जाती है।

गुणवर्धन—अग्नि में डालने से पदार्थों का केवल परिमाणवर्धन ही नहीं होता गुणवर्धन भी होता है। आग में डालने से मिर्च केवल फैलती ही नहीं उसकी तेजी भी कई गुणा बढ़ जाती है।

सूक्ष्मीकरण—अग्नि जब पदार्थों को सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त कर देती है तो वे सूक्ष्म परमाणु सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थान तक पहुंचकर अपना प्रभाव दिखाकर अपना प्रभाव डालती है। अग्नि दो काम करती है—गंदगी को जलाकर शोधन

करती है और गुण का विस्तार करती है। यदि मकान में मुर्दा पड़ा सड़ रहा हो तथा मकान में शीलन के कारण रोगों के परमाणु सारे क्षेत्र के लिए घातक बन रहे हों तो अग्नि रोगाणुओं को जलाकर मकान एवं क्षेत्र के वातावरण को शुद्ध कर देगी। यदि अग्नि में गुग्गुल और गंधक डाला जाए तो प्रभाव बड़ा चमत्कारी होगा। इसलिए मृतक का अग्नि संस्कार करना विश्व के स्वास्थ्य की दृष्टि से एक उपयोगी यज्ञ है। यज्ञ के धूम के द्वारा औषधियों के सूक्ष्म परमाणु अनायास ही मकान के छोटे-छोटे छिद्रों में घुसकर उन्हें रोगाणु मुक्त कर देते हैं। मानवों के श्वास द्वारा शरीर में प्रवेश कर अपना प्रभाव दिखाकर उन्हें भी स्वस्थ बनाता है।

वाष्पीकरण—आधुनिक ऐलोपैथी में भी वाष्पीकरण द्वारा उपचार चलने लगा है। प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, होम्यौपेथी में पहले ही से चलता है। खांसी जुकाम में यूकलिप्टस के तेल की भाप दी जाती है। गले के रोग तथा बोनक्राइटस के लिए टिंचर बेंजीन की भाप दी जाती है। प्राचीनकाल से छाती और फेफड़े के दर्द के लिए हलदी की भाप तथा गुलबनपसा की भाप देने की परिपाटी भारत में प्रचलित है। शीशी में पड़े यूकलिप्टस की अपेक्षा यूकलिप्टस की भाप में प्रभाव एवं औषधि का गुण कई गुणा बढ़ जाता है। इस प्रकार अग्निहोत्र में डाली हुई औषधियों का प्रभाव एवं औषधि का गुण भी बढ़ जाता है।

आयुर्वेद में भस्मों का रस रसायन माना जाता है। लोहा, अभ्रक, मुक्ता, सोना, चांदी आदि सीधा खाने से मनुष्य मर जाएगा। किन्तु अग्नि के माध्यम से उन्हें भस्म कर उन्हें जीवनप्रद रसायन बना लिया जाता है। सौ बार अग्नि में डालने से भस्म शतपुटी और हजार बार डालने से सहस्रपुटी बन जाती है। स्थूल धातु के घटक परमाणु जब अग्नि द्वारा विरल हो जाते हैं तब उनके भीतर निहित शक्ति प्रकट हो जाती है। धातु चिकित्सा द्वारा कठिन से कठिन रोगों का उपचार होता है। आयुर्वेद का धातु भस्म निर्माण एक प्रकार से अग्निहोत्र ही है। केवल मंत्रोच्चारण भर नहीं किया जाता है। अग्निहोत्र में मंत्रोच्चारण आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक भाग है और अग्नि में औषधियों का डालना भौतिक विज्ञान का भाग है।

होमियोपैथी पोटेन्सी वर्धन—अग्निहोत्र में स्थूल पदार्थों की विरलता अग्नि के द्वारा की जाती है। आयुर्वेद में औषधि के परमाणु की विरलता उपलों की अग्नि द्वारा की जाती है। होमियोपैथी में यह कार्य विचूर्णीकरण तथा आलोडन द्वारा किया जाता है। विचूर्णीकरण में औषधि को खरल में डालकर बहुत बारीक पीसा जाता है। जो शक्ति स्थूल पदार्थ में तिरोहित थी, प्रकट हो जाती है। इसे शक्तीकरण Potentization या पोटेन्सी बढ़ाना भी कहते हैं। घर-घर में हम देखते हैं कि बारीक पीसी हुई हलदी, काली मिर्च, ब्राह्मीबूटी में परमाणुओं के सूक्ष्म हो जाने

के कारण शरीर के सूक्ष्म क्षेत्रों में घुसकर जल्दी प्रभाव करती है। यदि पाव भर घी माथे पर रख दिया जाए तो उतना प्रभाव नहीं होता है पर तोला भर घी अच्छी तरह रगड़ दिया जाए तो शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म रोम छिद्रों में घुसकर अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाता है। रगड़ने और पीसने से हम ताप (अग्नि) का ही एक रूप पैदा करते हैं।

आलोडन का अर्थ है औषधि को झटके देकर हिलाते-हिलाते उसका मंथन करना। जैसे दही की अपेक्षा मंथन किए मट्ठे में या तक्र में गुण बढ़ जाता है। उसी प्रकार होमियोपैथी में औषधि का एक अत्यन्त सूक्ष्म अंश स्प्रिट में डालकर उसे खूब झटके दिए जाते हैं। मूल औषधि जितनी सूक्ष्म होती जाती है उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जाती है। सूक्ष्म ही स्थूल का संचालन करता है। इसलिए औषधि का विचूर्णीकरण, आलोडन, शक्तिवर्धन सभी अग्निहोत्र के अग्नि द्वारा सूक्ष्मीकरण के सिद्धान्त को ही सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्म पदार्थों का स्वास्थ्य पर प्रभाव—मनुष्य का रुधिर जितना शुद्ध होगा उतना ही वह व्यक्ति स्वस्थ होगा। रुधिर फेफड़ों द्वारा शुद्ध होकर शरीर में संचार करता है। यदि फेफड़ों में शुद्ध एवं पौष्टिक वायु पहुंचेगी तो व्यक्ति स्वस्थ होगा और कीटाणु मिश्रित वायु पहुंचेगी तो व्यक्ति अस्वस्थ होगा। एक युवा के फेफड़ों में 230 वर्ग इंच वायु रहती है। साधारण श्वास-प्रश्वास द्वारा 20 से 30 वर्ग इंच वायु बाहर निकलती है। लगभग 200 वर्ग इंच वायु फेफड़ों में जमा रहती है। प्राणायाम द्वारा गहरा प्रश्वास लेने पर 130 वर्ग इंच वायु बाहर निकाली जा सकती है। उससे फेफड़ों में जो रिक्तता उत्पन्न हो जाती है उसको भरने के लिए वातावरण की वायु वेग से भीतर जाती है। यदि यज्ञाग्नि द्वारा औषधि अनुप्राणित शुद्ध वायु फेफड़ों में जाए तो फेफड़ों में घृत और सामग्री की औषधियों का लाभ पहुंचता है। डॉक्टर के परामर्श पर जब हम पहाड़ों अथवा समुद्रतट पर जाते हैं तब भी वहां की शुद्ध ओषजन (ऑक्सीजन) तथा ओजोन (Ozone) द्वारा फेफड़ों को रक्त शोधन में सहायता मिलती है। अग्निहोत्र द्वारा घर बैठे ही उससे अधिक लाभ मिल जाता है।

कार्बन डाइऑक्साइड का आक्षेप—कुछ लोग ये आलोचना करते हैं कि अग्निहोत्र द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड पैदा होती है जो स्वास्थ्य के लिए घातक है। वास्तव में लकड़ियां जलाने से कार्बन डाइऑक्साइड अवश्य पैदा होती है किन्तु उसके साथ रोगनाशक औषधियों की प्रचुर मात्रा सामग्री में डाली जाती है। जैसे कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, तुलसी, कपूर-कचरी, जटामांसी, गुग्गुल, काश्मीरी धूप, छलपुड़ी, लोंग, नागरमोथा आदि। जहां केवल कार्बन डाइऑक्साइड होगा वहां सिर में चक्कर आकर बेहोशी आ जाएगी।

किन्तु अग्निहोत्र की सुगन्धित वायु में श्वास लेने से बड़ा आराम मिलता है। अतः कार्बन डाइऑक्साइड का प्रभाव औषधि द्वारा निरस्त हो जाता है।

कार्बन डाइऑक्साइड वनस्पति जगत् का भोजन है। कार्बन डाइऑक्साइड कुछ मात्रा में वायुमण्डल में सदा ही रहती है। अतः उससे पूर्ण रूप से बचने का प्रयास करें तो मनुष्य का वायुमण्डल में श्वास लेना कठिन हो जाए।

यदि अग्निहोत्र द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड का तर्क देकर कोई अग्निहोत्र की निंदा करे तो रसोईघर में चूल्हा जलाना ही बंद कर दें। वहां घंटों काम करने पर भी लोग मरते नहीं।

कार्बन डाइऑक्साइड कोई भयानक विष नहीं है। सोडा, लिम्का, कोकाकोला आदि पेय पदार्थों में कार्बन डाइऑक्साइड ही भरी होती है।

अग्निहोत्र के समय जो रोगनाशक गैसें उत्पन्न होती हैं उन्हें उठाकर दूर-दूर तक आसमान में चढ़ा देने का काम कार्बन डाइऑक्साइड ही करती है।

घी के दुरुपयोग का आक्षेप— कुछ लोग कहते हैं महंगाई के जमाने में लोगों को खाने के लिए घी नहीं मिलता तब इन पदार्थों को हवन द्वारा अग्निहोत्र में फूंक देना कहां तक उचित है। डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने लिखा है।

अग्निहोत्र के चार उद्देश्य हैं—

(क) व्यक्तिगत तथा सामाजिक वायुमण्डल को शुद्ध करना।

(ख) व्यक्तिगत तथा सामाजिक रोगों को दूर करना।

(ग) रोग के कीटाणु को नष्ट करना।

(घ) वृष्टि की कमी को दूर करना।

(क) व्यक्तिगत तथा सामाजिक वायुमण्डल का शोधन—अनेक घरों में सीलन से बदबू भरी रहती है, अनेक प्रकार के कीटाणु घर भर में मौजूद रहते हैं। खांसी, जुकाम, गठिया आदि औषधियों का व्यय महीने में सैकड़ों रुपयों में बैठता है। अग्निहोत्र द्वारा वायु को शुद्ध करना डॉक्टर एवं औषधियों के खर्चों की अपेक्षा अधिक सस्ता है। घर की दूषित तथा कीटाणुमय वायु केवल हमें ही रुग्ण नहीं करती वरन् आसपास के लोगों में भी रोग के कीटाणु को पहुंचाती है। अग्निहोत्र से घर की वायु शुद्ध होने के साथ-साथ पास-पड़ोस की वायु भी शुद्ध हो जाती है। वायुमण्डल का शुद्ध हो जाना व्यक्ति तथा समाज के आर्थिक बोझ को हलका करता है।

(ख) अग्निहोत्र द्वारा रोगनाशक तत्त्व हमारे घर के छोटे-छोटे छिद्रों में रोगजनक कीटाणुओं का नाश कर देते हैं। कुछ आलोचक कहते हैं कि यह

फिनाइल या कीटाणुनाशक औषधियों से हो सकता है। किन्तु क्या हम कीटनाशक औषधियों को छत एवं दीवारों के क्षुद्र छिद्रों में डाल सकते हैं? क्या मानव के नाक या मुख में डाल सकते हैं। अग्निहोत्र द्वारा शुद्ध रोगनाशक वायु व्यक्ति के शरीर में, उसके घर के छिद्रों में, पास-पड़ोस के घरों में अपने आप प्रवेश कर जाती है। फिनाइल आदि औषधियां महंगी हैं। प्रतिदिन डालने की प्रथा नहीं है। अग्निहोत्र दैनिक कर्म है। फिनाइल बदबूदार है और यज्ञ की औषधियां सुगन्धित एवं कीटनाशक है।

(ग) हवन द्वारा रोगाणुओं का नाश—जबलपुर के डॉक्टर कुन्दनलाल जो ऐलोपैथी के डॉक्टर थे वे यज्ञ द्वारा क्षयरोग की चिकित्सा करने में सफल हुए। उन्होंने टी.बी. सैनेटोरियम भी खोला। उन्होंने 12 शीशियां ली जिनमें दूध, मांस आदि वस्तुएं भर दी। 6 शीशियों में हवन गैस पहुंचाई गई और दूसरी शीशियों में उद्यान की शुद्ध वायु भर दी गई। उद्यान वाली शीशियों में सड़ांध शीघ्र प्रारम्भ हुआ और शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगा। इसके विपरीत हवन गैस वाली शीशियों में सड़ांध देर से प्रारम्भ हुआ और उसकी गति बहुत धीमी थी। हवन गैस को पानी में मिलाकर गले-सड़े जख्म धोये गए। पहले किसी-किसी क्षत से पीव (मवाद) अधिक निकली फिर क्षत बहुत शीघ्र भरकर सूख गया। अधिक पीव का कारण यह था कि भीतर की गहराई तक का पीव बाहर निकल आया और क्षत सूख गया। डॉ. सत्यप्रकाशानन्द ने अपनी पुस्तक अग्निहोत्र में लिखा है कि हवन सामग्री से फोरमेलडीहाइड (Formaldehyde) गैस उत्पन्न होती है। कुछ अंशों तक कार्बन डाइऑक्साइड भी फोरमेलडीहाइड में बदल जाती है। फोरमेलडीहाइड गैस गीली होने पर एक महान् कीटाणुनाशक गुण वाली गैस है जो अनेक पदार्थों को सड़ने से बचा लेती है। सन् 1886 में लयु तथा फिशर ने यह खोज की। केम्वीयर (Cambier) तथा Brochet ने परीक्षणों से सिद्ध किया कि इस गैस से घर के गर्दे के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। Salter Rideal ने इसका 40 प्रतिशत घोल बनाकर परीक्षण किया तो पता चला टाइफस कोलाइल तथा कार्बन के कीटाणु दस मिनट से कम समय में ही नष्ट हो गए। नारियल के तेल में डालने से उसके वाष्प के प्रभाव से शरीर में जुएं नहीं पड़ती। एसरिडील एण्ड इरिडील ने 1921 में एक ग्रंथ प्रकाशित किया Chemical disinfaction and sterlization उन्होंने लिखा कि लड़ाई के समय जिन सैनिकों को देर तक भूमि में खोदी हुई खंदकों में रहना पड़ता है उन्हें कई भूमि कीटाणु आ घेरते हैं। उनसे बचने के लिए ऐसी पेटियों का निर्माण किया जिनमें तीव्र गंध होती है। वे इन पेटियों को अपने शरीर से सटाकर बांध लेते हैं जिससे खंदकों के कीटाणु उन पर प्रभाव नहीं डालते। भारत के ऋषि-मुनि पर्वत की गुफाओं में तथा भूमितल

के नीचे की गुफाओं में हवन करते थे जिससे वातावरण शुद्ध रहे। तीव्र गंध की पेटियां कीटाणुओं को मार सकती है किन्तु स्वयं मानव के लिए भी वह गंध अनुकूल नहीं है। उसके स्थान पर यज्ञ धूम की कीटाणुनाशक सुगंधि दोनों दृष्टियों से अधिक उपयोगी है।

यज्ञ में गुड़, शक्कर, छुआरे, दाख आदि मधुर पदार्थ भी डाले जाते हैं जिससे यज्ञ धूम की सुगंधि घी से मिश्रित होकर मधुर एवं रोचक बन जाती है। वैज्ञानिकों का कथन है कि अग्नि में शक्कर जलाने से (Hay fever) नहीं होता।

प्लूटार्क का कथन है कि आग से वायु शुद्ध होती है। मैक्समूलर लिखते हैं—स्काटलैण्ड में बड़े पैमाने पर आग जलाने की परिपाटी पाई जाती थी। आयरलैण्ड और दक्षिण अमेरीका में महामारी को दूर करने के लिए आग जलाने की प्रथा थी। जापान में होम को धोम कहते हैं। जर्मनी में लेवेन्डर (सुगंधि) की बत्ती जलाई जाती है। पारसियों के धर्म मन्दिर में चन्दन के होम करने की सुगन्धि सदा उठती रहती है।

जब मद्रास में प्लेग फैल रहा था तब डॉक्टर किंग ने हिन्दू विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि तुम घी और केसर से हवन करो तो प्लेग का नाश हो जाएगा। श्वेतचंदन का तेल हातशक, सुजाग जैसे भयंकर रोगों में भारत और अमेरीका के डॉक्टर प्रयोग करते हैं। तुलसीदल पचासों रोगों का उपचार है। पण्ढरपुर में विठोबा के मन्दिर के आसपास इतनी तुलसी है कि वहां कभी मलेरिया नहीं होता। घी स्वयं विषनाशक है। फल और सूखे मेवे रोग निवारक एवं पुष्टिकारक हैं। इस प्रकार हवन सामग्री के सूक्ष्म परमाणु रोगों का नाश कर मानव समाज को स्वस्थ बनाते हैं।

यज्ञ द्वारा वर्षा

भगवान् ने गीता में कहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। 3/14, गीता

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। 3/15, गीता

भूत मात्र अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न पर्जन्य (वृष्टि) से होता है, पर्जन्य यज्ञ से होता है, यज्ञ कर्म से होता है। कर्म विधि के ज्ञान से होता है और ज्ञान अक्षय परमात्मा से उत्पन्न होता है, इसलिए सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञ में सदा रहता है।

इसमें भगवान् ने सात पगों में यज्ञ रूप परमेश्वर से सृष्टि का जन्म और पालन दर्शाया है। मूल से प्रारम्भ करें तो नित्य यज्ञ रूप ब्रह्म उससे ज्ञान रूप ब्रह्म,

उस विधि के ज्ञान से कर्म, कर्म से यज्ञ (मनुष्यों द्वारा अग्निहोत्र आदि क्रिया) यज्ञ से पर्जन्य वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से जीव सृष्टि का पालन।

प्रश्न उपनिषद् ने कहा—

'अन्नं वै प्रजापतिः।' 1/14

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—

'अन्नं ब्रह्म'

मैत्रेय उपनिषद् में कहा गया है—

प्राणो वा अन्नस्य रसः।

अर्थात् प्राण ही अन्न का रस है। तैत्तिरीय उपनिषद् में यह क्रम लिखा है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। 2/1 तैत्तिरीय उ.

आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष अर्थात् शरीर। यह शरीर अन्न-रसमय है।

पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति—पर्जन्य का अर्थ मेघ, वर्षा, इन्द्र, विष्णु। वर्षा के जल का अन्न उत्पत्ति के लिए कितना महत्त्व है यह सब जानते हैं। एक बार अकबर ने अपने मंत्रियों से प्रश्न पूछा, बारह में से एक निकाल देने पर शेष कितना बचता है। सभी ने उत्तर दिया 11 किन्तु बीरबल ने उत्तर दिया शून्य। इस पर सभी बीरबल की अल्पज्ञता पर हंसने लगे। बीरबल ने समाधान करते हुए कहा कि बादशाह सलामत! इतने बड़े-बड़े मंत्रियों से बच्चों जैसा सवाल थोड़े पूछना चाहते हैं। यह तो बच्चे भी जानते हैं। 12 में से एक निकालने पर 11 बचता है। बादशाह के प्रश्न पूछने का विशेष भाव है। वर्ष में 12 मास होते हैं यदि उनमें से एक श्रावण का मास निकाल दिया जाए, वर्षा न हो तो शेष शून्य ही बचेगा। अन्न के अभाव से अकाल पड़ जाएगा और सब जीव कालकवलित हो जाएंगे। इस प्रकार 12 मासों से एक वर्षा का मास निकाल देने पर वर्ष ही मर जाएगा। वर्ष को वर्ष का नाम ही इसलिए दिया गया है कि वर्ष में वर्षा होती है। अतः यह स्पष्ट है कि पर्जन्य के बिना अन्न नहीं हो सकता। यदि कोई यह कहे कि नदी, नहर, तालाब से सिंचाई करके खेती हो जाएगी तो बिना वर्षा के नदी, नहर, तालाब आदि में जल कहां से आएगा? अतः वृष्टि अन्न सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक साधन है।

यज्ञ से पर्जन्य—यज्ञ से वृष्टि भारत की एक प्राचीन परम्परा है। इसका वैज्ञानिक विवेचन आज के वैज्ञानिक युग में अनिवार्य हो गया है। वैदिक ऋषियों ने

यज्ञधूम द्वारा वृष्टि की जो व्याख्या की है वह भी विचारणीय है। उसमें भी विज्ञान छिपा हुआ है। अथर्ववेद में कहा है—**जब यह प्राण अपनी महती गर्जना द्वारा अपना संदेश औषधियों से कहता है उसी समय वे गर्भधारण करती हैं और बहुत बढ़ती हैं। जब योग-ऋतु आती है तब पृथ्वी के सब पदार्थ आनन्दित होते हैं। जब प्राण अपने वृष्टि रूप में इस विस्तृत भूमि पर गिरता है तब पशु आनन्दित होते हैं। वे कहते हैं हमारी शक्ति बढ़ेगी और हमारा अन्न बढ़ेगा। ये औषधियां कहती हैं—प्राण! तुमने हमारी आयु बढ़ा दी और सुगंधित कर दिया। इस प्रकार वनस्पतियों को प्राण प्राप्त होता है। इस प्रकार वृष्टि से ही अन्न प्राणी मात्र को प्राप्त होता है।**

मनु भगवान् कहते हैं अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य के पास जाती है, आदित्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और उससे सब प्रजा की उत्पत्ति होती है। शतपथब्राह्मण में कहा है यदि यजमान की इच्छा हो कि वृष्टि होनी चाहिए तो वह प्रजभ्येष्टि यज्ञ करे। यजमान कहे कि वृष्टि की इच्छा है अतः अध्वर्यु वायु और बिजली का ध्यान करे। अग्निध्र, अभ्रों (मेघों) का ध्यान करे, होता मेघ गर्जना और वृष्टि का ध्यान करे, और ब्रह्मा इन सबका ध्यान करे। ऐसे ज्ञानी ऋत्विज जहां होते हैं और यदि मन से ऐसा ध्यान करते हैं और ऐसा यज्ञ करते हैं तो उनके पवित्र संकल्प से वहां अवश्य वृष्टि होगी। यहां याज्ञवल्क्य मुनि निश्चयपूर्वक कहते हैं वृष्टि अवश्य होगी। यज्ञ में एक व्यक्ति अध्वर्यु होता है। वह यजुर्वेदज्ञ ऋत्विक होता है। अग्निध्र अग्नि की स्थापना एवं व्यवस्था करता है, होता आहुतियां डालता है और यज्ञ का ब्रह्मा पूरे यज्ञ का शासन एवं मार्गदर्शन करता है। वैदिक वाङ्मय साक्षी है कि इस प्रकार से पवित्र मनोबल वाले ऋत्विजों के पवित्र संकल्प से वृष्टि अवश्य होती रही होगी।

यज्ञ द्वारा वृष्टि के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए मेघ और वर्षा की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण बड़ा आवश्यक है। महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ का नया काव्यात्मक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण एक साथ करते हुए लिखा है—

धूम ज्योति सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।

क्या धुएं, आकाश, पानी तथा वायु के मेल ही मेघ नहीं बनते हैं?

इसे प्रश्नवाचक छोड़कर कालिदास ने काव्य चमत्कार और वैज्ञानिक दोनों का द्वार खुला छोड़ा है। मेघ में धुआं है, कुछ ज्योति भी है जो मेघों के टकराने से प्रकट होती है। कुछ जल की मात्रा भी है जो वर्षा के रूप में बरसती है। कुछ वायु भी है जो मेघ को आकाश में तैरने में सहायता करती हैं। पर क्या इतना कुछ ही मेघ है या उसमें और भी कुछ है। ये सब तो भौतिक तत्त्व हैं। जो कालिदास के यक्ष का संदेश उसकी प्रिय पत्नी तक नहीं पहुंचा सकते। इसलिए कालिदास

कल्पना करता है कि मेघ में कुछ चेतना भी होनी चाहिए जो दूत बनकर यक्ष का प्रेम संदेश यक्षिणी तक पहुंचा सके। अन्यथा उसका मेघदूत काव्य भैंस के सामने बीन बजाने के समान निरर्थक हो जाएगा। कालिदास का प्रश्न साहित्यिक कल्पना और वैज्ञानिक गवेषणा दोनों का द्वार खुला रखता है। प्रकट रूप से मेघ जड़-भौतिक तत्त्वों का मिश्रण है। किन्तु वेद ने उसे अन्तरिक्ष से धरती पर बरसने वाला कहा है और वह जीवों एवं वनस्पतियों को प्राण देता भी है। वेदान्त के अनुसार एक ही चेतनसत्ता सारी सृष्टि को चला रही है। सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष की आज्ञा से सब सृष्टि लीला कर रही है। परम चैतन्य से स्पन्दित होने के कारण उसमें भी चैतन्य की लीला हो रही है। वैदिक दर्शन के अनुसार सूर्य, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि मात्र भौतिक तत्त्व न होकर ब्रह्म के प्रतिनिधि चेतन देवता हैं। इसलिए तपस्वी ऋत्विजों के पवित्र संकल्प और मनोबल से प्रसन्न एवं प्रभावित होकर दैवी शक्तियां वृष्टि करती हैं। ऐसा वेद का तात्पर्य है। कालिदास ने जल के वाष्पीकरण एवं मेघ वर्षण का विज्ञान सम्मत वर्णन किया है—

रवि पीत जला तपात्पयेपुनरोधेन हि युज्यते नदी।

सूर्य की उष्णता से पानी भाप बनकर उड़ जाता है और वर्षा के रूप में बरसता है। डा. अविनाशचन्द्र दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ऋग्वैदिक इंडिया में लिखा है कि वैदिक काल में यज्ञ द्वारा वर्षा होने की बात तथ्य एवं विज्ञान दोनों द्वारा प्रमाणित होती है। इस जमाने में भी कुछ लोग इच्छानुसार पानी बरसा सकते हैं। सन् 1921 में कैलिफोर्निया में मिस्टर हैटफिल्ड ने कहा कि मैं आकाश से पानी बरसा सकता हूं। वहां के किसानों ने दो हजार पौण्ड देकर अपने यहां पानी बरसाना मंजूर किया। लिखा-पढ़ी हो गई और रुपया बैंक में जमा कर दिया गया। मिस्ट हैटफिल्ड ने एक झील के किनारे सुनसान स्थान में अपनी झोंपड़ी बनाई और अपनी क्रिया प्रारम्भ की। तीसरे ही दिन पानी बरसना शुरू हो गया। मिस्टर हैटफिल्ड ने किसी वैदिक क्रिया विशेष से इच्छानुसार पानी बरसाने की क्रिया सिद्ध कर ली है। वे पानी बरसाने के पांच सौ प्रयोग कर चुके हैं। प्रत्येक बार उनको सफलता मिली है। ऊंचे-ऊंचे टीलों पर, मीनारों पर अग्नि प्रज्वलित कर कुछ अंश ऐसे पदार्थ आहुति के रूप में डालते हैं जिनके योग से वाष्प सघन होकर बरसने लगती है। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि किसी खास प्रकार की क्रिया-यज्ञ से वर्षा इच्छानुसार बरसायी जा सकती है।

वृक्षों का खाद्य—वृक्ष कार्बन डाइऑक्साइड गैस को खाते हैं और वृष्टि के जल को पीते हैं। हम देखते हैं यज्ञ अपने धुएं से कार्बन और वृष्टि की रचना एक साथ ही करते हैं। यह दोनों पदार्थ वृक्षों के खाने और पीने के काम में आते हैं।

विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि वायु में जो धूल उड़ा करती है वही ऑक्सीजन और हाइड्रोजन बनाकर पानी बनाने के लिए जामन का काम करती है।

यज्ञ द्वारा यह धूल कीटाणु मुक्त होकर ऊपर उठती है और जल बरसाने में सहायक होती है।

यज्ञ के द्वारा घी के सूक्ष्मतम परमाणु ऊपर उठते हैं तथा बादलों में जो बहुत सूक्ष्म जल के कण तैरते रहते हैं उन कणों को मिलाकर बड़ी जल की बूंद बनाने में सहायक होते हैं। इसे मेघों का जल बीजीकरण (Seedling of cloud) कहा जाता है। वैसे तो धुआं भी वृष्टि का सहायक कारण है। किसी जंगल में आग लग जाने पर जब लाखों टन धुआं आकाश में उड़ता है वह शीघ्र ही वर्षा लाने में सहायक होता है। जंगलों एवं पहाड़ों में गर्मी की ऋतु में जब गर्मी असह्य हो उठती है तो वनवासी एवं ग्रामवासी कृषक जंगल के घास-फूस एवं पिछली खेती के सूखे हुए डंठल को आग लगा देते हैं इससे गर्मी के ताप को शांत करने के लिए शीघ्र ही वर्षा आ जाती है।

घी और पानी दोनों सर्दी में जम जाते हैं और गर्मी में पिघल जाते हैं। पानी की अपेक्षा घी बहुत कम ठण्डक में जम जाता है। हवन द्वारा घी के सूक्ष्म अणु सूक्ष्मतम होकर आकाश में ऊंचे उठते हैं तो वायु में डोलने वाले बादलों में तल के पास पहुंचकर स्वयं जम जाते हैं। और अपने जमने से जल के सूक्ष्म बिन्दुओं को जमाकर वर्षा करने में सहायक होते हैं। जल का वाष्प गर्म एवं हलका होता है। समुद्र से सूर्य के ताप द्वारा जल वाष्पीकृत होकर ऊपर उठता है। चौके-चूल्हे में भी खाना पकाते समय जल वाष्प बनकर ऊपर उठता है। जब लकड़ी, वनस्पतियां, फल और सूखे मेवे अग्नि में जलते हैं तो उनके भीतर जलीय तैलीय अंश धूम के साथ ऊपर उठता है। सूक्ष्म बादल ठण्डी हवा के समान आकाश में हवा की गति के साथ इधर-उधर तैरता रहता है। वह श्वेत धुनी हुई रुई के समान आकाश मण्डल में सुन्दर चित्राकृति बनाता हुआ विचरण करता रहता है। घना बादल तनिक श्यामल रंग होकर वर्षा के लिए प्रस्तुत रहता है। घना काला बादल अपने भीतर के जल के भार को वहन न कर सकने के कारण बरस पड़ता है। वाष्प को बादल बनाकर बरसाने में ठण्डक या सूक्ष्म जल बिन्दुओं को जल का बीजीकरण करके बरसाने वाला कोई माध्यम सहायक होता है। यदि पानी की उबलती हुई केतली के ऊपर कुछ ऊंचाई पर एक चीड़ के वृक्ष की टहनी रखी जाए तो केतली से ऊपर उठने वाला वाष्प उसको स्पर्श करते ही बरसने लगेगा। चीड़ के वृक्ष पर्वतों में लगभग 6 हजार फुट की ऊंचाई पर पाए जाते हैं। चीड़ के वृक्ष की टहनी के स्थान पर यदि किसी अन्य वृक्ष की टहनी रखी जाए तो भी वाष्प का जल बीजीकरण होगा। किन्तु तनिक देर से। रसोईघर में दाल की केतली के ढक्कन के भीतर की ओर जो जलबिन्दु जमा हो जाते हैं वह भी एक प्रकार की वर्षा का रूप हैं। कांच के गिलास में बर्फ डालने से वायुमण्डल में जो जलकण तैर रहे हैं वे ठण्डे ग्लास के

बाहर जलकणों के रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसलिए ऊंचे पहाड़ों और जंगलों की अधिकता वर्षा कराने में सहायक होती है।

विज्ञान ने कृत्रिम वर्षा के कई सफल प्रयोग किए हैं। प्रयोगशाला में तथा बाहर प्रकृति के खुले प्रांगण में भी। यह प्रयोग करके देखा गया है कि यदि उठती हुई भाप या तैरते हुए सूक्ष्म बादलों पर Silver nitrate (चांदी के शोरे पर तेजाब के घोल) की फुहार की जाए तो सूक्ष्म जल बिन्दुओं का जल बीजीकरण होकर वर्षा होने लगती है। चांदी तथा चांदी का तेजाबी घोल महंगा होने के कारण कृत्रिम रूप से वर्षा कराना बहुत महंगा पड़ता है। वैज्ञानिकों ने इस विषय में कई प्रयोग किए हैं। इनकी धारणा है कि यज्ञधूम से होने वाली वर्षा कृत्रिम वर्षा की सबसे सरल विधि है।

आजकल रॉकेट के आविष्कार के बाद कृत्रिम वर्षा पर बड़े पैमाने पर प्रयोग होने शुरू हो गए हैं। यदि कोई बादल आकाश में वायु के दबाव से सूखे प्रदेश के ऊपर तैरता हुआ अन्यत्र किसी ओर दिशा में जाने वाला हो तो रॉकेट द्वारा उस बादल को अपेक्षित स्थान पर भेदन करके और उसके ऊपर औषधियां बरसाकर कृत्रिम वर्षा में सफलता पाई गई है।

जिस प्रकार से प्राचीनकाल में इन्द्र ने काले मेघ रूपी वृत्रासुर का वज्र से भेदन कर उसमें छिपी हुई जलधाराओं को मुक्त कर दिया उसी प्रकार आजकल तोपों या रॉकेटों द्वारा मेघ रूपी वृत्रासुर का भेदन कर अपेक्षित स्थान पर जल बरसा लिया जाता है। चांदी के तेजाबी घोल के स्थान पर पिघले हुए मोम की फुहार भी उपयोगी सिद्ध हुई है। यह घी के सूक्ष्म कणों वाले यज्ञधूम के समान कार्य करती है। अब और प्रयोग करते हुए यह पाया गया है कि सागर के नमकीन जल की फुहार करने से भी मेघ का जल बीजीकरण हो जाता है। यह सबसे सस्ती विधि है।

यज्ञ के वर्षा के अतिरिक्त अन्य लाभ (वातावरण शुद्धि, कीटाणुनाश, रोग मुक्ति, विश्वकल्याण आदि) मोम के घोल या नमकीन पानी के छींटने से नहीं प्राप्त होते हैं।

पितृ यज्ञ

पितृ यज्ञ—अपने पितरों-पूर्वजों, माता-पिता आदि बड़ों के हित के लिए, उनके सुख के लिए अपने व्यक्तिगत सुखों का उत्सर्ग करना। उनकी सेवा के लिए अपने सुख साधनों का भाग प्रदान करना पितृ यज्ञ कहलाता है। जीवित पितरों की सेवा और मृत पितरों की स्मृति में उनके कल्याण के लिए दान-पुण्य आदि करना पितृ यज्ञ के ही अंग हैं। पितृ तर्पण में अपने पितरों को जल दिया जाता है। एक तो इससे उनके प्रति कृतज्ञता का भाव बना रहता है और दूसरा मानव के मन को उनकी स्मृति से प्रेरणा मिलती रहती है। उनके गुण मानव में आते हैं।

भगवान् ने कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। 9/25, गीता

अर्थात् पितरों के प्रति व्रत में बंधे हुए लोग पितरों के गुणों को ही प्राप्त करते हैं। वीर पूर्वजों का स्मरण कर मनुष्य वीर बनता है। दानी पूर्वजों का स्मरण कर मनुष्य दानी बनता है। जो पितरों को साधारण जल तक भी समर्पण नहीं करते ऐसे कृतघ्न लोगों के विषय में गुरु नानकदेव ने कहा है—

आप न देइ चुलुभर पानी
निंन्दय सई जे गंगा आनी।

अर्थात् कृतघ्न लोग स्वयं तो अपने पूर्वजों को चुल्लूभर पानी नहीं दे सकते और निन्दा उस राजा भगीरथ की करते हैं जो अपने पितरों के उद्धार के लिए स्वर्ग से गंगा को खींचकर भूतल पर ले आया। जो स्वयं अपने पूर्वजों को मान नहीं दे सकते उनकी आगामी पीढ़ियां उन्हें भी धिक्कारती रहती है। औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को आगरा के किले में बंदी करके रखा था। वहां एक छोटी-सी मस्जिद भी थी। बादशाह के लिए छोटा कमरा। हाथ में हथकड़ी और पांव में डण्डाबेड़ी। बादशाह के लिए एक कटोरी भीगा चना पड़ा रहता था। बादशाह को पशु की तरह मुंह के पास लगाकर खाना पड़ता। अन्य एक कटोरी में पानी रहता था। उसको भी इसी तरह पीना पड़ता था। एक दिन भयंकर गर्मी की दुपहरी में शाहजहां को भीषण प्यास लगी थी। डण्डाबेड़ी को खींच-खींच कर बहुत कष्ट से पानी की कटोरी के पास जाकर कुत्ते की तरह चुभक-चुभक कर जल पीने के लिए कटोरी को मुंह लगाया। ठीक उसी समय इधर-उधर से घूमता-फिरता औरंगजेब वहां आकर उपस्थित हुआ। इस दृश्य को देखकर कौतुक हुआ। उसने सोचा एक रूढ मजाक किया जाए। वह भीतर गया और जाकर उस पानी की कटोरी को लात मार कर तोड़ दिया। शाहजहां, जो एक दिन सारे भारत का बादशाह था, वह आज अपने पुत्र के हाथ बंदी था। जल नहीं पी पाने के कारण बादशाह रो पड़ा और कहा—

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी,
ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।

आफरीन बाद हिंदवान सद बार,
मैं देहंद पिदरे मुर्दारावा दॉयम आब।।

अरे बेटा, तू एक अद्भुत मुसलमान है। जिंदा बाप को जल नहीं पीने देता। हिन्दूजन को शत बार धन्यवाद क्योंकि वे अपने मृत पितृ पुरुष को भी तर्पण करके जल देते हैं।

नृयज्ञ—मानव-जाति के हित के लिए नृयज्ञ किया जाता है। इसी का दूसरा नाम अतिथि सत्कार यज्ञ है। अतिथि ऐसा व्यक्ति है जो बिना पूर्व सूचना के बिना तिथि के हमारे गांव में अथवा हमारे द्वार पर आ जाए। आजकल किसी विशिष्ट आदमी के पूर्व सूचनानुसार पहुंचने पर उसे अतिथि या विशिष्ट अतिथि कहते रहते हैं। वास्तव में ऐसा व्यक्ति अतिथि न होकर अभ्यागत है। परिचित मित्र, बंधु, गोतिया भी बाहर से आने पर अभ्यागत की कोटि में आएंगे। अतिथि तो प्रायः अपरिचित, बिना पूर्व सूचना के बिना तिथि के अकस्मात् हमारे द्वार पर आ जाने वाला व्यक्ति है। वेद का वचन है 'अतिथि देवो भवः' अर्थात् अतिथि को देवता मानो। अतिथि सत्कार, अतिथि पूजा, अतिथि सेवा, अतिथि धर्म भारतीय संस्कृति की बड़ी दिव्य परम्परा रही है जिसकी महिमा मैगस्थनीज (यूनानी यात्री) ह्वेनसांग, फाहियान आदि चीनी यात्रियों ने भी गायी है। यहां अतिथियों को पानी मांगने पर आदरपूर्वक दूध भेंट किया जाता है। राजा रन्तिदेव ने अपना भोजन अतिथि को देकर स्वयं भूख से प्राण देना भी श्रेयस्कर समझा।

युधिष्ठिर ने एक यज्ञ किया और यज्ञ करने के पश्चात् बड़े संतोष से बैठे हुए थे कि कितना महान् यज्ञ किया? कितना इसके अन्दर दान दिया, कितना ऐश्वर्य, कितने वैभव के साथ सम्पन्न हुआ। इतने में ही वहां पर एक नेवला आया। उसका आधा शरीर सोने का था। वह आकर यज्ञ के बचे हुए अन्न, भस्म आदि में लोट-पोट करने लगा। सभी देखने लगे कि अचानक ये कैसा विचित्र जीव आया और आकर के लोट-पोट कर रहा है। और उसके बाद मनुष्य की वाणी में बोला, अरे! यह यज्ञ बेकार है, यह क्या यज्ञ है? ये कुछ नहीं है। तब कृष्ण भगवान् ने उसे बुला करके पूछा, कि तू कौन है और कैसे कहता है कि यह यज्ञ कुछ नहीं हुआ? युधिष्ठिर ने कितना महान् यज्ञ किया, कितना दान दिया, कितना तप किया, इसके अन्दर कितने लोगों का सम्मान हुआ, कितने वैभव से पूर्ण यह यज्ञ हुआ और तू कहता है कुछ नहीं हुआ। यह बात कैसे कह रहा है?

तब नेवला बताने लगा। कुछ भी खाने को नहीं था। मैं इधर-उधर भटक रहा था। तब मैं एक घर के अन्दर गया और वहां एक दृश्य को देखा। वहां पर कुछ सत्तू के घोल को लेकर एक परिवार खाने को बैठा था। इतने में द्वार पर एक याचक वहां पर आ गया और कहा कि मैं भूखा हूं। अकाल था। बड़ी मुश्किल से उन्हें थोड़ा सत्तू मिला था। उसको खाने वाले ही थे कि याचक आ गया और सबने (पति-पत्नी, पुत्र-पुत्रवधू) अपना-अपना हिस्सा दे दिया। याचक तृप्त होकर चला गया। और वे चारों हरिशरणम् हो गए। दिव्य लोक चले गए। याचक के भोजन के दौरान जो दो-चार कण धरती पर गिर गए उस पर लोट-पोट होने से मेरा आधा शरीर सोने का हो गया। इसलिए उस यज्ञ के सामने युधिष्ठिर का यज्ञ कुछ भी नहीं है।

भूतयज्ञ

भूतयज्ञ—समस्त भूत प्राणियों के कल्याण के लिए समर्पण करना भूतयज्ञ कहा जाता है। बलि को वैश्वदेव भी कहते हैं। इसका अर्थ है विश्व देवताओं को पूजते हुए छोटे-बड़े सभी जीवों के कल्याण के लिए बलि अर्थात् समर्पण करना। गो के लिए, कुत्ते के लिए, कौओं के लिए, जलचरों के लिए कुछ अन्न की बलि देना बलिवैश्वदेव कहलाता है। यह भूतयज्ञ है।

यज्ञोपवीत पंच महायज्ञ करने के लिए पात्रता देने वाला संस्कार है। इससे मनुष्य यज्ञ के उपवीत होता है। वह पंच महायज्ञ करे तथा सम्पूर्ण जीवन को यज्ञमय बनावे। यह इस संस्कार का भाव है।

इन पंच महायज्ञों से मानव परमेश्वर के लिए, ऋषियों के लिए, देवताओं के लिए, पितरों व मानव मात्र के लिए, जीव मात्र के लिए, विश्व कल्याण के लिए अपने कर्मों को अपने सुख साधनों को समर्पित करने वाला आदि मानव बनता है। जो अजातशत्रु और विश्व मित्र बन जाता है। उसे वैश्वानर (विश्वमंगलकारी Universal man) भी कहा जाता है।

गीता में यज्ञ, दान और तप की महत्ता

गीता के 18वें अध्याय में अर्जुन भगवान् से प्रश्न पूछता है कि त्याग और संन्यास में क्या अन्तर है और क्या संन्यासी या वीतरागी पुरुष को यज्ञ, दान और तप भी त्याग देना चाहिए। उत्तर में भगवान कहते हैं कि कई विद्वान् काम्य कर्मों के न्यास (त्याग) को संन्यास कहते हैं। और समस्त कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। यहां भगवान् दूसरे विद्वानों का मत प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका भाव यह है कि गृहस्थी को त्यागी होना चाहिए और गृहस्थ से वैराग्य प्राप्त किए व्यक्ति को संन्यासी। त्याग वही कर सकता है जो संग्रह करे, गृहस्थी कमाता है, संग्रह करता है। उसे त्याग भी करना चाहिए। जो संग्रह ही नहीं करता, जिसने अपना जीवन ही भगवान् के लिए समर्पित कर रखा है उसका जीवन भी त्यागरूप, यज्ञरूप है। गृहस्थी को त्यागी और संन्यासी को ज्ञानी होना चाहिए।

फिर भगवान् कहते हैं कुछ संन्यासी यह समझते हैं कि समस्त कर्म कुछ न कुछ दोष से मिश्रित होते हैं इसलिए सब कर्म ही त्याग देना चाहिए। गीता का यह मत है कि प्रथम तो यह सम्भव नहीं कि मनुष्य सब कर्म त्याग सके। यदि वह यज्ञ, याग आदि कर्म त्याग भी देवे तो भी उठना-बैठना, खाना-पीना, हिलना-डुलना, श्वास लेना आदि ये कर्म तो चलते ही रहते हैं। शरीरधारी के लिए इनसे बचना ही असम्भव है। अत: भगवान् कहते हैं कि बिना कर्म के कोई क्षण भर भी टिक नहीं सकता। वैदिक कर्मकाण्ड एवं पूर्वमीमांसा में कर्म का अर्थ नित्य, नैमित्तिक

कर्म ही लिया गया। किन्तु गीता में भगवान् ने कर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या करके जीव को इच्छित-अनिच्छित सभी कर्मों को शास्त्रविहित एवं शरीर निर्वाह के प्राकृतिक क्रिया-कलाप आदि सभी को कर्म की श्रेणी में गिना है।

यज्ञ के मूल प्रेरक यज्ञ भगवान्—इस परमेश्वरी नियम का अवलोकन कर ईश्वर के सर्वत्र चलने वाले यज्ञ सूत्र को देखकर मनुष्य को चाहिए कि वह स्वेच्छा, आत्मसमर्पण यज्ञ करे। वह स्वयं जगत् की भलाई के लिए अपनी शक्ति जितना यज्ञ करे। प्राचीन लोगों के द्वारा लगाए गए वृक्षों का फल मनुष्य खाता है। उसका कर्तव्य है कि वह स्वयं नए वृक्ष लगाए जिनके फल भविष्य में आने वाले मनुष्य खा सकें।

गीता में यज्ञ का व्यापक अर्थ—वैदिक आदर्श और वैदान्तिक आदर्श

गीता में यज्ञ का व्यापक अर्थ—जहां वेद में यज्ञ का मुख्य अर्थ होम हवन रूप यज्ञ है वहां गीता में इसका अर्थ आत्मसमर्पण यज्ञ है। अपने से बड़ी इकाई के लिए आत्मसमर्पण ही यज्ञ का मूल भाव है। होम, हवन, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्ड हैं जिसमें मनुष्यों और देवताओं के परस्पर आलम्बन के द्वारा इहलोक में सांसारिक भोग और परलोक में परमश्रेय की प्राप्ति का सक्रिय आदर्श है। वैदान्तिक आदर्श है मुक्त पुरुष का कठोरतम आदर्श जो आत्मा के स्वातंत्र्य में स्थित है। जिसे भोग अथवा कर्म या मानव जगत् से या दिव्य जगत् से कुछ मतलब नहीं है। जो परमात्मा की शान्ति, ब्रह्म के शांत आनन्द में रमण करता है। यह गीता के ज्ञान योग का आदर्श है। निष्काम कर्मयोग या कर्मयज्ञ वैदिक आदर्श और वैदान्तिक आदर्श के बीच की समन्वय की सीढ़ी है। भगवान् जब कहते हैं कि ब्रह्मा ने यज्ञ के साथ सृष्टि को उत्पन्न किया तथा आदेश दिया कि इसके द्वारा तुम फूलो-फलो तो यह वैदिक कर्मकाण्ड की वैदिक यज्ञ याग की गीता द्वारा पुष्टि है। जब यह कहा गया कि मानव देवताओं की भावना करे तो देवता मानवों का कल्याण करे और परस्पर एक-दूसरे का कल्याण करते हुए दोनों परम पद को पावें तो यह भी वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञ याग आदि की पुष्टि है। यह सकाम यज्ञों (मानव के देवता से कुछ प्राप्त करने) की प्रणाली का वर्णन है। यह एक छोटा आदर्श है। हम देवताओं को हवि दें और देवता हमें वरदान दें। ये मानव और देवों का परस्पर लेन-देन का सौदा है। गीता एक महान् समन्वय शास्त्र है। अत: गीता ने इस मत को भी स्थान दिया है। किन्तु यही गीता के यज्ञ का सर्वोच्च आदर्श नहीं है। जिसे देवताओं से कुछ भी पाने की इच्छा न हो क्या वह यज्ञ न करे। गीता के मत में उसका भी यज्ञ करना अनिवार्य है। भगवान् स्वयं कहते हैं तीनों लोक में मुझे कुछ भी प्राप्त करने को शेष नहीं है। मेरे पर कर्तव्य का शासन भी नहीं है। फिर भी मैं लोक संग्रह के लिए यज्ञ भावना से निरन्तर कर्तव्य करता रहता हूं। जिससे लोक

शिक्षण, लोक कल्याण होता रहे तथा अनुकरणशील संसार को अनुकरण करने योग्य उत्तम आदर्श प्राप्त हो सके।

वैदिक आदर्श सकाम भाव से यज्ञ करने की शिक्षा देता है जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ, राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, वृष्टि यज्ञ आदि। वेद के उपनिषद् भाग में यज्ञों की ज्ञानपरक एवं त्यागपरक व्याख्या की गई है। वह यज्ञ निष्कामता की ओर इंगित करते हैं। वेदान्त ने समझाया कि संसार के किसी भी सुख-साधन, भोग-योग के लिए यज्ञ याग आदि कर्मों से अधिक से अधिक संसार सुख या स्वर्ग मिलेगा। इससे दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होकर मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। वेदान्त के ज्ञानयोग में बताया कि हमारा लक्ष्य भोग नहीं भगवान् है। अतः ज्ञान साधना द्वारा भगवान् को जानना और उसके साथ तदाकार हो जाना यही जीवन का लक्ष्य है। इसलिए इस निवृत्ति मार्ग में प्रवृत्ति यज्ञ याग आदि का कोई स्थान नहीं। इसलिए शंकर वेदान्त मत के संन्यासी यज्ञ-याग आदि कर्मकाण्ड से अलग रहते हैं। गीता में भगवान् ने यज्ञ की व्यापक व्याख्या करके द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ तक एक सीढ़ी लगा दी जिससे द्रव्यमय यज्ञ वाला दान द्वारा समाज कल्याण करते हुए, अन्न यज्ञ द्वारा अतिथि सत्कार एवं निर्धनों की अन्न सेवा करते हुए, प्राणापाण यज्ञ द्वारा योगी अपने प्राण को प्राण परमेश्वर के प्रति समर्पित करते हुए और कर्म यज्ञ द्वारा अपने समस्त कर्मों एवं कर्मफलों को भगवान् के प्रति समर्पित करते हुए तथा ज्ञान यज्ञ द्वारा अपने चिन्तन एवं मनन को भी भगवान् के चरणों पर चढ़ाते हुए अन्त में परमप्रभु परमेश्वर को ही पा लेवें। इस प्रकार यज्ञ की सीढ़ी से वैदिक कर्मकाण्ड के आदर्श से ब्रह्म ज्ञान के वैदान्तिक आदर्श तक मानव मात्र उन्नति कर सकता है।

विजय केवल लोहे की नहीं, धरा पर रही है धर्म की धूम,
भिक्षु होकर रहते सम्राट्, दया दिखलाते घर-घर घूम।

—मैथिलीशरण गुप्त

× × ×

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।।

छा.उ. 7/26/2

आहार (=इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषय) की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि से स्मृति में स्थिरता आती है।

भक्तियोग

भक्ति का शाब्दिक अर्थ, व्याख्या एवं परिभाषा

भक्ति शब्द भज धातु से बना है जिसका अर्थ है सेवा। भज सेवायाम्। आजकल भज का रूढार्थ सेवा न होकर भजन-कीर्तन माना है। जिसका यश गाया जाए उसकी सेवा करना भी स्वाभाविक है। किन्तु आजकल भजन या स्तुतिगान को मात्र शाब्दिक स्तुतिगान के अर्थ में लिया जाता है जिसमें सेवा का भाव नहीं बचता। ऐसे मौखिक स्तुतिगान से भज (सेवा) बिल्कुल भिन्न है। यदि एक पुत्र पिता की भरपूर सेवा करे और दूसरा मात्र शाब्दिक स्तुतिगान करता रहे तो निश्चय ही सेवा करने वाले की भक्ति सार्थक होगी और मौखिक स्तुतिगान मात्र करके पिता की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति घृणा एवं तिरस्कार का पात्र होगा। अतः भक्ति अपने मूल अर्थ में सेवा भावना एवं सेवा करना ही है। चाहे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग तीन स्वतंत्र मार्ग हैं किन्तु गीता में भगवान् ने दो प्रकार की निष्ठा का वर्णन किया है। सांख्य निष्ठा अर्थात् ज्ञानयोग निष्ठा और योग निष्ठा अर्थात् कर्मयोग निष्ठा। उन्होंने भक्ति की निष्ठा की चर्चा नहीं की क्योंकि भक्ति मूलतः सेवा कर्म होने के कारण कर्मयोग निष्ठा के अन्तर्गत ही आ जाती है।

सेवा प्रेम से की जा सकती है या किसी प्राप्ति के लोभ-लाभ के लिए। माता पुत्र की या पत्नी पति की सेवा प्रेम के कारण करती है। किन्तु अस्पताल में एक नर्स जो रोगी की सेवा करती है वह वेतन प्राप्ति के लिए करती है। पत्नी की पतिसेवा भक्ति कही जा सकती है किन्तु नर्स द्वारा रोगी की सेवा भक्ति नहीं हो सकती है।

नारदजी ने अपने भक्ति सूत्र में लिखा है, 'भक्ति परम प्रेम स्वरूपा' अर्थात् भक्ति परम प्रेम स्वरूप वाली है। वासना और प्रेम में उतना ही अन्तर है जितना कांच और काञ्चन में। वासना शारीरिक, मांसल भोगेच्छा मात्र है किन्तु प्रेम दो प्राणियों के बीच निष्काम और निःस्वार्थ आकर्षण है।

फिर संसार के जितने रिश्ते-नाते हैं उनमें व्याप्त प्रेम सीमित एवं कालबाधित प्रेम है। अविनश्वर प्रेम या परम प्रेम नहीं। यदि एक नश्वर प्रेमी किसी नश्वर प्रेमिका से प्रेम करता है तो प्रेम का कर्ता और प्रेम का पात्र नश्वर होने के कारण

उनके बीच का प्रेम भी नश्वर ही होगा, परम प्रेम नहीं। परम प्रेम केवल परम तत्त्व से ही हो सकता है किसी नश्वर वस्तु से नहीं। अतः सच्ची भक्ति परमेश्वर से ही हो सकती है अन्य किसी से नहीं। मातृ-पितृ व गुरुभक्ति, समाज भक्ति, देशभक्ति, सिद्धान्त भक्ति आदि ईश्वर भक्ति की ही क्रमिक सीढ़ियां हैं।

भक्ति की महत्ता को न जानते हुए कई भोगवादी (भौतिकवादी नास्तिक) एवं कुतर्की लोग भक्ति को मात्र भावुकता, मानसिक पराधीनता, अकर्मण्यता एवं एक प्रकार का मानसिक रोग या पागलपन कहने लगते हैं। वास्तव में भक्ति इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि यदि मानव के कार्यकलाप में से भक्ति को शेष कर दिया जाए तो उसके सारे कार्य पागलपन या जड़ यंत्र की क्रिया मात्र बन जाएंगे। यदि भगवान् राम के जीवन में से मातृप्रेम, पितृप्रेम, गुरु भक्ति निकाल दी जाए तो उनके जीवन का मूल्य फिर क्या बचता है? यदि भगवान् कृष्ण के जीवन से निष्काम कर्मयोग की निष्ठा निकाल दी जाए तो उनके जीवन का महत्त्व न्यूनतम हो जाए। यदि राणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, बंदा वैरागी के जीवन से देशभक्ति निकाल ली जाए तो वे महापुरुष के स्थान पर महापागल और बलिदानी वीर के स्थान पर आत्म हत्यारे माने जाएंगे। भक्ति या श्रद्धा ही वह जीवनमूल्य है जिस पर जीवन रूपी भवन टिका हुआ है। श्रद्धा ही मानवीय जीवन का आधार है। जिसकी श्रद्धा उजड़ गई उसका जीवन ही डगमगा गया। आधार के बिना आधेय टिक ही नहीं सकता। इसलिए भगवान् ने गीता में कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। 17/3, गीता

वह श्रद्धा का स्वरूप है। जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही वह मानव है। मानव का बहिरंग तो मात्र नश्वर आवरण है उसके भीतर उसकी श्रद्धा गुम्फित है जो कि वास्तविक मानव है। बुद्ध का शरीर हजारों वर्ष पहले मृत हो चुका है किन्तु उसकी श्रद्धा अभी तक अमर है। राम से लेकर रमण महर्षि तक जितने महापुरुषों को हम पूज्य मानते हैं उनके शरीर कभी के नष्ट हो चुके हैं। हम उनकी अमर श्रद्धा की ही पूजा करते हैं। महापुरुष का शरीर मृत पुरुष है परन्तु उसकी श्रद्धा अमर पुरुष है। इसलिए राम की श्रद्धा वास्तविक राम है, कृष्ण की श्रद्धा वास्तविक कृष्ण है, दधीचि की श्रद्धा वास्तविक दधीचि तथा गांधी की श्रद्धा वास्तविक गांधी है। इस प्रकार भक्ति पागलपन नहीं है। बल्कि भक्तिहीन पुरुष निरुद्देश्य पागल के समान संसार में भटक रहा है।

भक्ति को पराधीनता कहना भी भक्ति का अपमान है। पराधीनता में मानव मन की परवशता एवं असाध्य दुःख होता है। किन्तु भक्ति परवशता से हो ही नहीं सकती। यह तो हृदय की पवित्रता, सात्त्विक स्वेच्छा से ही हो सकती है। हां, भक्त स्वेच्छाचारी नहीं होता। वह अपनी व्यक्तिगत तुच्छ भोगेच्छाओं को

परमेश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है। और परमेश्वर की इच्छा ही खुद की इच्छा बन जाती है। इस प्रकार वह तुच्छ अहम् की गुलामी से मुक्त होकर महान् एवं अमर अहम् की इच्छानुसार चलने लगता है। यदि मेरा झूठा अहम् अपनी झूठी एवं नश्वर इच्छाएं पूरी न कर सके और मेरा सच्चा अहं अपनी सब इच्छाओं को पूर्तिलाभ कर पूर्णकाम आप्तकाम हो जाए तो इससे बढ़कर स्वाधीनता क्या हो सकती है।

भक्ति अकर्मण्यता भी नहीं है। क्योंकि भक्ति का शाब्दिक अर्थ ही सेवा है और सेवा सबसे कठिन तपस्यापूर्ण कर्म है।

सेवाधर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः

हां, कुछ भक्तनामधारी ढोंगी लोग केवल भजन, भोजन एवं गांजा-भांग-चरस तक अपना सारा क्रियाकलाप सीमित रखते हैं और नर नारायण की सेवा नहीं करते। किन्तु उन्हें भक्त कहना भी उचित नहीं है। भक्ति अकर्मण्यता नहीं सिखाती वरन् बड़े से बड़े कर्म के लिए अमर प्रेरणा प्रदान करती है। तिलक, गांधी, सुभाष, सावरकर आदि ने देश के लिए जो-जो कठिन तपस्या कर्म किये हैं वे बिना देशभक्ति के असम्भव ही थे।

ज्ञान-भक्ति-कर्म

वैसे तो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग मानव मन की प्रवृत्तियों के अनुसार ईश्वरप्राप्ति के तीन समान रूप से उपयोगी मार्ग माने जाते हैं। किन्तु, वस्तुतः ये तीनों मार्ग एक-दूसरे से इतने गुंथे हुए एवं परस्परावलम्बी हैं कि एक के बिना दूसरे का काम चल ही नहीं सकता। इसलिए गीता में ज्ञानभक्तिकर्मसमुच्चय का संदेश है। बिना ज्ञान के कर्म विकर्म, दुष्कर्म या अनर्गल कर्म बन जाता है। बिना कर्म के ज्ञान मात्र वाग्विलास रह जाता है। बिना कर्म के भक्ति अकर्मण्यता एवं मिथ्याडम्बर मात्र रह जाती है। किन्तु भक्ति तत्त्व के बिना ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग तीनों मृतप्रायः हो जाते हैं। बिना भक्ति के ज्ञान रूखा तर्कजाल एवं शुष्क खोपड़ी का खेल मात्र ही रह जाता है। बिना भक्ति के कर्म मात्र जड़ यंत्र की क्रिया बन जाती है। शंकर की पिण्डी पर जलधारा चढ़ाते समय यदि मन की भक्तिभाव धारा साथ नहीं चढ़ी तो वह यंत्रवत कर्म केवल आडम्बर ही है। बिना भक्ति के राजयोग भी सिद्ध नहीं होता। यदि कोई नास्तिक ध्यान समाधि लगाता है तो या उसकी नास्तिकता नहीं बचेगी या फिर समाधि झूठी है। बिना ईश्वर में निष्ठा के योगसूत्रों का करतब (जो आजकल पश्चिम में चल रहा है) मात्र जिमनास्टिक का खेल है। उससे परमेश्वर के साथ योग नहीं हो सकता है इस प्रकार भक्ति चारों योगों में पिरोया हुआ स्वर्णसूत्र है। इसके बिना ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग कोई भी नहीं टिक सकते।

भक्ति की साहित्यिक प्रणालियां

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल में भारत में मुस्लिम शासन के समय अत्याचारों की आंधी में समाज को हताशा-निराशा और मानसिक पराधीनता से बचाने के लिए भक्तिकाल का उदय हुआ। इसमें भक्ति की निम्नलिखित प्रणालियां साहित्य के माध्यम से प्रकट हुई—

(क) **ज्ञानाश्रयी भक्तिधारा**—भगवान् शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को अपना दार्शनिक आधार बनाकर भक्ति का प्रचार करने वाली यह धारा नानक, कबीर, दादू, रविदास के साहित्य में तरंगित हुई एवं आज तक महर्षि मैं ही परमहंस के सन्त साहित्य में तरंगायमान हो रही है। इस धारा को लोग निर्गुण भक्ति धारा भी कहते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने भक्ति की ज्ञानपरक व्याख्या करते हुए लिखा है—

'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते'

अर्थात् अपने सच्चे स्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाता है। कबीर का वचन है—

तेरा सांई तुझ्झ में ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मृग ज्यों वन-वन ढूंढे घास।।

ज्यों तिल मांहि तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा सांई तुझ्झ में, जाग सके तो जागि।।

गुरुनानक की वाणी है—

आतम महि राम राम महि आतम
चीतसि गुरु विचारा

गुरु तेग बहादुर की वाणी है—

काहे रे वन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा।
तोहि संग समाई।।

(ख) **प्रेमाश्रयी भक्तिधारा**—प्रेमाश्रयी भक्ति के लिए भक्त और भगवान् दो अलग-अलग सत्ताओं की आवश्यकता होती है। शंकराचार्य के बाद आचार्य रामानुजाचार्य ने वेदान्त के ब्रह्मसूत्रों पर अपना विशिष्टाद्वैत भाष्य लिखा जिसमें उन्होंने अद्वैत ब्रह्म के विशिष्ट गुणों से विभूषित होकर निर्गुण-निराकार से सगुण साकार (अवतार) होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार दूध से दही बन जाने पर दही दूध का विकार होते हुए भी पुनः दूध नहीं बन सकता,

उसी प्रकार जीव ईश्वर का अंश एवं ईश्वर से पैदा होते हुए भी वह पुनः ब्रह्म नहीं बन सकता। वह भक्ति (उपासना) द्वारा परमेश्वर के निकट आसन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर प्राप्ति का महानानन्द पा सकता है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने वेदान्त दर्शन में ही भक्ति का स्थान बनाया। उन्हीं रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में 16वीं शताब्दी में रामानन्द हुए। वे मूलतः दक्षिण भारतीय परिवार के ही थे किन्तु काशी कर्मक्षेत्र बन गया। वे कबीर, रविदास, गुरुनानक के सत्संगी एवं गोस्वामी तुलसीदास के महान् प्रेरक बने। तुलसी ने राम-भक्ति की ऐसी अलौकिक धारा बहायी जिससे सारा भारतीय समाज और साहित्य जाने-अनजाने राममय हो गया है। इस प्रकार कहा जाता है कि भक्ति द्रविड़ में उपजी अर्थात् भक्ति द्रविड़ देश में पैदा हुई। प्रेमाश्रयी शाखा के पुनः दो रूप हुए। एक भारतीय प्रेमा भक्ति और दूसरी सूफी परम्परा की फारसी साहित्य से प्रभावित प्रेमा भक्ति। भारतीय परम्परा में परमेश्वर को प्रियतम मानने की परिपाटी है, इसके विपरीत फारसी साहित्य में कवि अपने आपको आशिक (प्रियतम) तथा परमेश्वर को माशूका (प्रियतमा) मानकर भाव प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि फारसी का अधिकांश साहित्य इश्के-मिजाजी (लौकिक प्रेम) के रूप में है। बाद में इसकी व्याख्या इश्के-हकीकी (अलौकिक प्रेम) के रूप में होने लगी। इसलिए उनके साहित्य में परमेश्वर प्रेमी न होकर प्रेमिका ही रह गया। हिन्दी साहित्य में मलिक मुहम्मद जायसी, कुतबन मज्झन आदि ने इसी प्रकार का सूफी प्रणाली का भक्ति साहित्य लिखा।

भारतीय सगुण भक्तिधारा आगे चलकर दो शाखाओं में विभक्त हो गई।

राम भक्ति शाखा जिसके सबसे महानतम शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी हुए हैं।

कृष्ण भक्ति शाखा जिसके प्रेरक श्री चैतन्य महाप्रभु एवं महाप्रभु बल्लभाचार्य हुए तथा सूरदास, मीरा, नन्ददास, कृष्णदास, रहीम, रसखान आदि कवियों ने इस कृष्ण भक्ति शाखा में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाए-खिलाए।

सेवाश्रयी भक्तिधारा

भक्ति का एक और रूप है जो प्रायः दृष्टि से ओझल हो जाता है। वह है सेवाश्रयी भक्तिधारा। जब भक्ति का मूल अर्थ ही सेवा है तब सेवा छोड़कर केवल भजन, कीर्तन, गान, देवता पर फूल अक्षत चढ़ाने या करताल बजाने अथवा नाम रट लगाने मात्र को ही भक्ति कैसे माना जा सकता है। ये सब भक्ति के सहायक साधन हो सकते हैं किन्तु भक्ति के पर्याय नहीं। यदि भगवान् का नाम जपते हुए हम भगवान् की सन्तति नर-नारायण की सेवा भी करते जाते हैं तभी हमारी भक्ति सुफल सिद्ध होती है। भगवान् राम ने स्वयं वनवासियों को हृदय से

लगाकर प्रेमदान किया। शबरी के जूठे बेर स्वीकार किए। केवट की भक्ति भी राम की सेवा के रूप में ही थी न कि मात्र गुण-कीर्तन के रूप में। गिद्धराज जटायु की भक्ति भी सेवा रूप में थी। हनुमान की भक्ति सेवा रूप में थी। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, विभीषण, अंगद, वनवासी बंदर-भालू, जामवन्त, सुग्रीव आदि सबकी भक्ति सेवामूलक, कर्ममूलक थी। अन्यथा भगवान् दुष्ट दलन एवं साधु परित्राण करके कैसे धर्मराज्य की संस्थापना करते?

भगवान् कृष्ण ने गोप-ग्वालों पर प्रेम निछावर किया और गोप-ग्वालों ने श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति दूध, दही, माखन, कंस से संरक्षण, गोवर्द्धन धारण में सहयोग आदि के रूप में प्रदर्शित की। यदि वे केवल कृष्ण का नाम कीर्तन करते रहते और कृष्ण को आततायियों से न बचाते तो वे श्रीकृष्ण कैसे कहलाते? अर्जुन की भक्ति सेवा रूप में थी। भगवान् कृष्ण ने दुष्ट दलन, साधु परित्राण और लुप्त ज्ञान के पुनः प्रकाशन में अर्जुन को माध्यम बनाया।

श्रवण की मातृ-पितृ भक्ति, माता-पिता की सेवा करने में ही थी न कि केवल उनका नाम गुणगान करने में। दयानन्द, विवेकानन्द की गुरु भक्ति गुरु की सेवा करने में ही थी न कि मात्र गुरु का गुणगान करने में। आधुनिक काल में तिलक, गांधी एवं वेदमूर्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने सेवाश्रयी भक्ति का पथ दर्शाया। तिलकजी ने कर्मयोग को ही सच्ची भक्ति बताया। गांधीजी ने अपनी देशभक्ति के क्रियाकलाप को अपनी आध्यात्मिक मुक्ति का साधन बताया। सातवलेकरजी का कथन है कि 'विराट् विश्व ही परमेश्वर का व्यक्त रूप है।' इसके समस्त जीवों की सेवा ही परमेश्वर के व्यक्त रूप की पूजा है। अतः नर की सेवा नारायण की पूजा है। ईश्वर का कोई व्यक्त रूप है तो यह जगत् और जीव ही है अन्य कुछ नहीं।

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।

दुर्भाग्य से भक्ति की इस सेवाश्रयी शाखा पर बहुत कम साहित्य लिखा गया है। यह अत्यन्त विस्मय की बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं भक्ति की भजन कीर्तन स्मरण वाली व्याख्या कम और सेवा धर्म की व्याख्या अधिक की है। भक्तियोग के द्वादश अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। 12/4, गीता

अर्थात् वे सब भूतों के कल्याण में लगे हुए मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि। 12/10, गीता

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। 12/11, गीता

तू आत्मवत बनने का यत्न करते हुए सब कर्मों के फल का त्याग कर।

जो सबकी सेवा में लगा होगा वह न किसी से द्वेष करेगा न कोई उससे द्वेष करेगा।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। 12/15, गीता

सेवाव्रती भक्त स्थितप्रज्ञ रहता है। वह न हर्षित होता है न द्वेष करता है न आकांक्षा करता है। मित्र-शत्रु में, मान-अपमान में, गर्मी-सर्दी में, सुख-दुःख में, निन्दा-स्तुति में समान रहते हुए नर-नारायण की सेवा में लगे रहना चाहिए। (गीता, 12/17, 18, 19)

सेवाव्रती को इतना निष्काम होना चाहिए कि उसके व्यक्तिगत स्वार्थ का प्रथम अधिष्ठान उसके निजी घर तक नहीं रहना चाहिए।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। 12/19, गीता

ऐसा घर विहीन स्थिर बुद्धिवाला सेवाव्रती भक्त भगवान् को अति प्रिय है। मनुष्य जो कुछ स्वार्थ से अर्जित करता है वह पहले अपने शरीर में लादने का प्रयास करता है। फिर शरीर पर जब अधिक बोझा नहीं ढो सकता तब अपने घर में लादने का प्रयास करता है। किन्तु जिसका कोई घर ही नहीं है और अपने तन-मन को भगवान् के प्रति समर्पित कर दिया है वह कुछ भी संग्रह न करने वाला सेवाव्रती सबसे उत्तम भक्त है।

18वें अध्याय के 46वें श्लोक में भगवान् अर्जुन को पुनः उपदेश करते हैं।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। 18/46, गीता

अपने कर्मों के फूल से भगवान् की अर्चना करके मानव परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि सेवा ही सच्ची भक्ति है।

राग और वैराग्य—महर्षि शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति परम रागात्मक-वृत्ति कहा है। राग और प्रेम दोनों समानार्थक ही हैं। किन्तु यह राग इन्द्रिय भोग के अर्थ में नहीं होना चाहिए। वासना और प्रेम में उतना ही अन्तर है जितना कि कांच और काञ्चन में। इसलिए परमेश्वर के प्रति राग विषयों के प्रति राग से बिल्कुल विपरीत है। वास्तव में विषयों से वैराग्य होने पर ही परमेश्वर के प्रति राग उदित होता है। दूसरी ओर परमेश्वर का आकर्षण पैदा होते ही संसार के सब विषयों के राग-भोग निरस हो जाते हैं। गुरु नानकदेव ने कहा है—

'ओ रस आवा ये रस नहीं भावा।'

भक्ति में प्रेम का बढ़ता हुआ आकर्षण—भक्ति प्रेमस्वरूपा या शुद्ध रागस्वरूपा होने के कारण ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों जीवात्मा के मन में परमात्मा का आकर्षण अधिक से अधिक तीव्र होता जाता है। भक्त को भगवान् की स्मृति, नामकीर्तन, गुणानुवाद, कथावार्ता, लीला कथन से बड़ा सुख मिलता

है। वह आठों याम भक्तिरस में ही डूबा रहना चाहता है। भक्ति भक्त का जीवन सर्वस्व बन जाती है।

व्याकुलता

महर्षि नारद ने भक्ति सूत्र में लिखा है—

'तद् विस्मरणे परम आकुलतेति।'

अर्थात् प्रभु के विस्मरण से भक्त को परम व्याकुलता का अनुभव होता है। जब भक्ति ही भक्त का जीवन सर्वस्व है तो उसे भक्ति में बाधा होने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसका जीवन ही कोई छीन रहा है। जिस प्रकार से जीव प्राणों पर संकट आने से परम व्याकुल हो उठता है उसी प्रकार भक्त प्रेमी (भगवान्) के विस्मरण से परम व्याकुल होकर तड़पने लगता है। वह कई बार अपने प्राणों तक को निछावर करने को उद्यत हो जाता है। प्रभु के वियोग में भक्त आंसू बहाता है, प्रभु को पुकारता है और वियोग को मृत्यु तुल्य मानता है। गुरु नानकदेव कहते हैं—

आंखा जीवा विसरै मर जांवा

अर्थात् प्रभु को स्मरण करने में जीता हूं और उसके विस्मरण में मेरी मृत्यु आ जाती है। महात्मा कबीर कहते हैं—

के विरहिन को मीच दे के आपा दिखलाय,
आठ पहर का दाझणा मोसे सहा न जाय।

हे भगवान्! या तो मुझ विरही को मौत दे या अपने आपका दर्शन करा दे। आठों पहर वियोग में जलना मुझ से सहा नहीं जाता।

भक्ति में सर्वस्व समर्पण एवं बलिदान—भक्त अपने प्रियतम के लिए तन, मन, धन एवं प्राण तक बलिदान करने को उद्यत हो जाता है। मीरा बाई की भावना है—

धरा में धंसा दो सूली-फांसी पर चढ़ा दो,
चाहे मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से,
चाहे तेग तलवार या तेज तीर से तराशो,
तब छूटेगी न लगी जो लगन प्राणधन से।

इसी भावना से देव भक्त देवता के लिए और देश भक्त देश के लिए बलिदान होते हैं। अपने से बड़ी इकाई के लिए बलिदान ही यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार भक्ति मानव के अन्तर के यज्ञभाव को जगाती है।

व्यक्त एवं अव्यक्त की उपासना

गीता के द्वादश अध्याय में अर्जुन यही प्रश्न उपस्थित करता है कि जो भगवान् के व्यक्त रूप की उपासना करते हैं वे सच्चे योगवेत्ता हैं अथवा वे जो अव्यक्त रूप

की उपासना करते हैं। अर्जुन के मन में यह प्रश्न इसलिए उठा क्योंकि भगवान ने पहले अपने अव्यक्त रूप की स्थापना की।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7/7, गीता

मेरे से परे अन्य कुछ भी नहीं है। सब मेरे में उस प्रकार से पिरोये हुए हैं जिस प्रकार सूत्र में मणियां पिरोयी होती हैं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। 7/10, गीता

हे पार्थ! मैं सब भूतों का सनातन बीज हूं। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। 7/24, गीता

बुद्धिहीन पुरुष मुझ अव्यक्त को व्यक्ति रूप मानकर मेरे परम भाव को नहीं जानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। 7/25, गीता

मैं अपनी योगमाया से छिपा हुआ सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि भगवान् अव्यक्त है।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।। 8/3, गीता

परम अक्षर ब्रह्म है।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। 8/9, गीता

जो सबका धाता अचिंत्य रूप है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। 8/13, गीता

ओम् एक अक्षरवाला ब्रह्म है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। 8/21, गीता

अव्यक्त अक्षर ही परम गति है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। 9/4, गीता

मुझ अव्यक्त मूर्ति द्वारा सारा जगत् व्याप्त है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9/10, गीता

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सारे चराचर की रचना करती है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। 9/24, गीता

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

मैं सब भूतों में सम हूं।

दशम अध्याय में भगवान् अपनी विभूतियां गिनाते समय कुछ व्यक्त विभूतियां और कुछ अव्यक्त विभूतियां गिनाते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10/20, गीता

मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। 10/35, गीता

मैं छन्दों में गायत्री हूं। यहां अव्यक्त विभूतियों का वर्णन है। किन्तु सूर्य, चन्द्र, हिमालय, गंगा, अर्जुन, वासुदेव, ऐरावत, प्रह्लाद, व्यास, कपिल, राम आदि व्यक्त विभूतियां हैं। एकादश अध्याय में भगवान् पहले सारे विश्व को अपने स्वरूप में स्थित दिखाते हैं। और अर्जुन के भयभीत हो जाने पर उसकी प्रार्थना पर उसे अपना सुन्दर चतुर्भुज रूप दिखाते हैं और अध्याय के अन्त में (श्लोक 54-55 में) कहते हैं कि अनन्य भक्ति द्वारा ही मेरे इस रूप का दर्शन हो सकता है और जो मेरा (आसक्ति रहित) भक्त है वह मुझे प्राप्त होता है।

चूंकि एकादश अध्याय की समाप्ति भक्ति की महिमा और भक्त की महत्ता से हुई है। इसलिए द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में ही अर्जुन प्रश्न करता है कि इस प्रकार आपके व्यक्त रूप की जो उपासना करते हैं और जो अन्य अव्यक्त रूप की उपासना करते हैं उनमें से सच्चे योग के वेत्ता कौन हैं? अर्जुन इसलिए भ्रमित हो गया है क्योंकि छठे से लेकर 9वें अध्याय तक अव्यक्त की महिमा अधिक गाई गई और दशम अध्याय में व्यक्त-अव्यक्त दोनों की और एकादश में व्यक्त विश्व रूप और सगुण-साकार चतुर्भुज रूप दोनों की महत्ता दर्शायी गई है। अर्जुन का

प्रश्न पूछना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन ही है। भगवान् व्यक्त और अव्यक्त दोनों की महत्ता मानते और प्रतिपादन करते हैं। और दोनों का अंतिम फल समान रूप से परमेश्वर प्राप्ति ही बताते हैं। किन्तु अव्यक्त की उपासना में क्लेश अधिक होता है यह भी संकेत करते हैं। व्यक्त की उपासना के लिए भगवान् ने कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। 12/2, गीता

जो मन को मुझ में एकाग्र करके परम श्रद्धा से पूरित होकर नित्य मेरे से जुड़े हुए उपासना करते हैं वे ही मेरी दृष्टि में उत्तम योगी हैं। इसमें भगवान् ने तीन गुण बताये—

(क) मन को एकाग्र करे, परम श्रद्धा से पूरित हो, तथा निरन्तर मेरी भजन साधना में लगा रहे अर्थात् एकाग्रता, श्रद्धा और निरन्तरता हो। ये तीन गुण होने पर योगी भगवान् की दृष्टि में अति उत्तम है।

इसकी तुलना में अव्यक्त की उपासना के लिए निम्नलिखित बिन्दु गिनाये गये हैं—

(क) जो परमेश्वर अक्षर (क्षरण रहित) है।

(ख) जो बिना निर्देश वाला है।

(ग) जो अव्यक्त है। उसकी उपासना करने वाले।

(घ) जो सर्वव्यापक है।

(ङ) जो अचिन्त्य है।

(च) जो कूटस्थ है।

जो अचल है।

जो ध्रुव है उसकी उपासना करने वाले।

जिन भक्तों ने अपनी इन्द्रियों को वश में किया है,

जो सर्वत्र समबुद्धि है।

जो सब भूतों के हित में लगे हैं।

ऐसे अव्यक्त के उपासक मुझे ही प्राप्त करते हैं। इसमें आठ गुण अव्यक्त ब्रह्म के और तीन गुण उपासक के बताये गये हैं। यह पूरे होने पर अव्यक्त का उपासक उसी ब्रह्म को प्राप्त करेगा, जो व्यक्त के उपासक को मन की एकाग्रता और हृदय की श्रद्धा से मिल जाता है। इसलिए अव्यक्त की उपासना का फल बराबर होते हुए भी क्लेश अधिक भोगना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्त की उपासना अव्यक्त की अपेक्षा सरल एवं सुखकर है। व्यक्त और अव्यक्त का वास्तविक

भाव क्या है? इस पर व्याख्याकारों में मतभेद हैं—

(क) कुछ लोग व्यक्त का अर्थ सगुण-साकार व्यक्ति रूप भगवान् मानते हैं। जैसे भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, शिव-पार्वती, गणेश आदि। वे इनकी साकार मनुष्य रूप प्रतिमाएं बनाकर उनकी पूजा अर्चना भी करते हैं।

(ख) सगुण—निराकार तत्त्व रूप की पूजा। इनके मत में परमेश्वर में गुण हैं जैसे—शक्ति, शील, सौन्दर्य, करुणा, मैत्री, अहिंसा, सत्य, शान्ति, आनन्द आदि ईश्वरीय गुण। किन्तु वह ईश्वर कोई आकारधारी व्यक्ति नहीं है। अतः वह अव्यक्त है। ऐसे भक्त मूर्ति पूजा को कोई स्थान नहीं देते। जैसे हिन्दुओं में आर्य समाजी तथा ब्रह्म समाजी, ईसाइयों में प्रोटैंस्टैन्ट, जैनियों में श्वेताम्बर जैन—ये भगवान् के गुणों की महिमा गाते हैं। किन्तु उनके व्यक्ति शरीर की प्रतिमा नहीं पूजते हैं।

(ग) निर्गुण-निराकार—परम सत्ता किसी गुण में बंध नहीं सकती। गुण का एक अर्थ रज्जु या बंधन है। परम सत्ता को बांधना उसका तिरस्कार है। मूल गुण तीन हैं। सत्त्व, रज, तम ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। अतः जिस भी व्यक्ति या वस्तु के गुण गिनाए जाएंगे वह प्रकृति के अधीन होगा। पर प्रकृति परमेश्वर के अधीन है और परमेश्वर उसके अधीन कभी नहीं। इसलिए ब्रह्म के गुण गिनाने में ब्रह्म की महत्ता ही कम हो जाती है। प्रत्येक वस्तु का एक मूल रूप होता है और एक गौण रूप। मूल रूप में वह अपने आप में स्थित है और गौण रूप में गुणों में स्थित है। ब्रह्म के गुण गिनाना उसे गौण बनाना है। अतः ब्रह्म निर्गुण, निरुपाधि, निराकार, निर्विकार परम सत्ता है जो पूर्णतया अव्यक्त है। यह शंकर के अद्वैत वेदान्त का मत है।

वास्तव में व्यक्त और अव्यक्त में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना अव्यक्त के व्यक्त हो ही नहीं सकता। जैसे खाण्ड व्यक्त है किन्तु उसकी मिठास अव्यक्त। फूल व्यक्त है पर सुगन्धि अव्यक्त। बिना मिठास को छुए कोई खाण्ड को छू भी नहीं सकता। व्यक्ति को इसीलिए व्यक्ति कहते हैं, उसमें अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। भगवान् मायानन्द चैतन्य पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आदि विद्वानों का मत है कि यह विश्वरूप भगवान् का व्यक्त रूप है। सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भगवान् अर्जुन को अपने अव्यक्त रूप की महत्ता समझाते रहे किन्तु अर्जुन में कोई विशेष परिवर्तन देखने में नहीं आया। किन्तु जब भगवान् ने विश्वरूप में अपने आपको व्यक्त किया तब अर्जुन अतिशय प्रभावित हुआ और हाथ जोड़कर भगवान् का आदेश मानने के लिए प्रस्तुत हो गया। वास्तव में गीतोपदेश में अर्जुन के हृदय परिवर्तन की कुंजी विश्वरूप दर्शन में ही है। अतः भगवान् की व्यक्त उपासना का अर्थ है विश्वरूप भगवान्। जो अनन्तानन्त जीवों के रूप में व्यक्त हुए हैं उनकी उपासना। उनकी भक्ति या सेवा। सातवलेकरजी का मत है कि सगुण-साकार मूर्ति की पूजा के स्थान पर भगवान् के बनाये सजीव

जीवों की सेवा ही सच्ची भक्ति है। अतः नर की सेवा ही नारायण की पूजा है। जीव की सेवा ही शिव की पूजा है।

अव्यक्त की उपासना प्रायः योगी लोग ही कर सकते हैं। क्योंकि इसमें समस्त इन्द्रियों को वश में करना अनिवार्य होता है।

प्रतीकोपासना

कुछ लोग सगुण साकार की पूजा में किसी प्रतीक या प्रतिमा को सम्मुख रखकर उपासना करते हैं। वास्तव में प्रतीकोपासना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अधिक उपयोगी तथा प्रायः सब धर्मों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। मन को एकाग्र करने के लिए प्रतीक एक आधार बन जाता है। और साधक के ध्यान को अधिक भटकने नहीं देता। फिर चित्र से चरित्र का स्मरण भी प्रायः हो जाता है। ईसाई धर्म में क्रॉस एक प्रतीक है। इस्लाम में संगेअस्वद एक पत्थर है जिसे हज के समय चूमते हैं। मुहर्रम के ताजिये भी प्रतीक हैं। बौद्ध धर्म में चक्र एक प्रतीक है। सिक्ख धर्म में गुरुग्रंथ साहब एक पूज्य प्रतीक है। भक्त के भक्ति भाव से प्रतीक में उसी प्रकार की दैवीय शक्ति आ जाती है जिस प्रकार लोहे को गर्म करने से उसमें अग्नि का ताप स्वतः प्रविष्ट हो जाता है। लोहे में जलाने की शक्ति नहीं है, किन्तु गर्म लोहे के गोले को छूते ही व्यक्ति चिल्लाने लगता है—हाय! जल गया। यह दाहक शक्ति कहां से आयी? निश्चय ही अग्नि के सम्पर्क में रहने से अग्नि उसमें प्रविष्ट हो गई। प्रतीकोपासना का रहस्य तात्त्विक एवं मनोवैज्ञानिक है। जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो उस मूर्ति या प्रतीक में भी व्याप्त है। भक्त की भावना से प्रतीक में परम तत्त्व की प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है और भक्त अपनी अटल श्रद्धा के बल से उसी प्रतीक में से अपने आराध्य को पा लेता है। जिस वस्तु के प्रति जो भावना लगातार अखण्ड रूप से बनी रहती है उसमें हमें वैसे ही तत्त्व के दर्शन होने लगते हैं। शौचालय का पत्थर, कब्र का पत्थर और देवालय का पत्थर चाहे एक ही पहाड़ में से निकले हों किन्तु उनके प्रति लगातार जो मलिन भावना, प्रेत भावना और पूज्य भावना बन जाती है उसके कारण उनके प्रति वैसा-वैसा ही व्यवहार होता है। माता-बहन, पुत्री और पत्नी चारों ही नारी शरीर हैं किन्तु उनके प्रति भिन्न-भिन्न भावना होने के कारण उनके प्रति आदर, स्नेह, दुलार और दाम्पत्य प्रेम भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसलिए कहा है 'भावे विद्यते देवाः' अर्थात् भक्त का भाव ही वास्तविक देवता है।

भावना और भावुकता

भक्ति एक सात्त्विक सतत समर्पण भावना है। यह मात्र भावुकता नहीं। भावुकता मन का अल्पकालिक एवं आकस्मिक उबाल होता है जिसमें मनुष्य

आवेश में आकर कुछ अनर्गल बातें या कृत्य कर बैठता है। कई बार वह भक्त के समान दिखाई देता है किन्तु वह बाद में होश आने पर अपने ही किए पर पछताने लगता है अतः वह भक्त नहीं कहला सकता। भक्त अपनी सूझ-बूझ के साथ बिना क्षणिक आवेश के यह समझता है कि उसका जीवन आराध्य देव के लिए समर्पित है। यह जानते हुए कि इस नश्वर शरीर की भक्ति साधना द्वारा अविनश्वर परमपद या परमेश्वर के प्रेम को पाना है। वह अपनी सारी भावना को इस बौद्धिक निश्चय पर उड़ेल देता है। अतः व्यक्ति एक भाव Sentiment है मात्र मानसिक (Emotion) नहीं। आवेश में मनुष्य अंधा हो जाता है और वह लक्ष्य को भी भूल जाता है। किन्तु भावना में लक्ष्य का निरन्तर स्मरण रहता है और भक्त अपनी सारी क्रियाओं को लक्ष्य की ओर ही प्रेरित करता है। भावुकता एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसमें बुद्धि व विवेक दब जाते हैं और परिणाम कैसा होगा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु भक्ति में भक्त का विवेक कायम रहता है। उसके मन में आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती है और परिणाम सदा मंगलकारी ही होते हैं। भावना वाला व्यक्ति एक महान् पुरुष, इतिहास निर्माता या पूज्य प्रेरक बन जाता है। किन्तु भावुक व्यक्ति कुछ क्षणिक उबाल के बाद नष्ट हो जाता है। वह इतिहास का कूड़ा-कचरा बन जाता है। तमोगुणी भक्ति, भूत प्रेत की पूजा, आसुरी यज्ञ आदि में बुद्धि पर तमोगुण का पर्दा पड़ जाता है। अतः वह निन्दनीय है। रजोगुणी भक्ति देवता और यक्ष-किन्नर आदि की पूजा के रूप में प्रकट होती है। रजोगुणी बुद्धि नैतिक-अनैतिक का निर्णय करती हुई भले-बुरे, हित-अहित का निर्णय करती है। अतः सामान्य भक्त इस स्तर पर रजोगुणी बुद्धि रखते हुए नैतिक-अनैतिक का विवेक रखते हुए देव भक्ति करते हैं। सबसे उत्तम सतोगुणी भक्ति है जिसमें सतोगुणी बुद्धि सत् और असत् का निर्णय करती है और भक्त सत् वस्तु के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है। अतः भक्ति बुद्धि का तिरस्कार न होकर बुद्धि का उचित सत्कार है। पवित्र बुद्धि निश्चय करती है कि परमेश्वर ही एकमात्र परम सत्य है और हृदय अपनी सारी भावना इस निर्णय पर चढ़ा देता है। यही भक्ति भावना है। विवेकहीन ढंग से अपने हृदय की भावना को कहीं पटक देना भक्ति नहीं है। सात्त्विक बुद्धि के निर्णय के पश्चात् जब उसी में निश्चय करके मनुष्य टिक जाता है तो वह धृति कही जाती है। सच्ची भक्ति में ये धृति या धीरज वर्तमान रहता है। किन्तु क्षणिक आवेग और भावुकता में, मानसिक रोग में, कृत्रिम भक्ति में धृति नहीं रहती। इसलिए थोड़ा-सा संकट आने पर या परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर सारी भावुकता भाग जाती है। उदाहरण के लिए देश भक्ति के नारे लगाने वाले भावुक बहुत होते हैं किन्तु देश के लिए जेल जाने, फांसी चढ़ने का अवसर उपस्थित होने पर सब भावुक

देशभक्त भाग जाते हैं और भगतसिंह जैसा कोई सच्चा देशभक्त ही सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। सच्चे भक्त को कोई भी भय, संकट या प्रलोभन अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता।

भक्त का भावमय शरीर

भक्ति करते-करते जहां भक्त का भाव अपने प्रतीक में भी भावों का दर्शन करने लगता है वहां उसको स्वयं भी भावमय शरीर प्राप्त हो जाता है। स्थूल शरीर को भूख-प्यास, दु:ख-सुख की जो अनुभूतियां होती रहती हैं वह भावमय शरीर को बिल्कुल नहीं होती। इसलिए स्थूल शरीर से ऊपर भक्त एक भावमय शरीर प्राप्त कर स्थूल शरीर की लौकिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर भगवान् के ध्यान में कई पहर और कई दिन तक लीन रहता है। उस समय उसे स्थूल शरीर का कोई भान ही नहीं होता। भूख-प्यास नहीं सताती। मीरा बाई को विष का प्याला भी नहीं मार सकता और प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु की तलवार, अग्नि-चिता या तपे हुए लोहे के खम्भे में कोई भय नहीं प्रतीत होता। भगतसिंह फांसी के तख्ते पर हंसते-गाते हुए जाता है। खुदीराम बोस आत्मा के अमर तराने गाते हुए मृत्यु का स्वागत करता है। सामान्य व्यक्ति देहाध्यास में फंसा रहता है। उसे कांटा चुभने पर भी पीड़ा होती है। यानी देहाध्यास से ऊपर उठने का बौद्धिक उपदेश एवं अभ्यास करता है। किन्तु भक्त अपने भावमय शरीर से देहाध्यास से ऊपर उठ जाता है। वह बड़े-बड़े ज्ञानियों से भी ऊंची स्थिति में पहुंच जाता है। उसका शरीर रहते हुए भी वह शरीर की कारा से मुक्त हो जाता है। ज्ञान के शुष्क बीज को जब तक भक्ति का श्रद्धाजल नहीं चढ़ता तब तक वह भी अंकुरित नहीं होता। इसलिए ज्ञान के तत्त्वों के प्रतिफलन के लिए भी भक्ति अनिवार्य है।

ज्ञान और भक्ति

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ज्ञान पंथ कृपान की धारा। परत खगेस न लागहिं बारा।।
भक्तिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया।।

भगवान् भक्ति के बहुत अनुकूल हैं। इसलिए माया भी भक्त से बहुत डरती रहती है। जहां ज्ञान साधक निरन्तर माया से डरता रहता है कि कहीं वह उसको अचानक धूल में पटक न देवे वहां माया स्वयं भक्त से डरती रहती है। क्योंकि भक्त निरन्तर भगवान् के भाव में रहता है।

शांडिल्य ऋषि ने अपने भक्ति सूत्र में लिखा है कि ज्ञान होने के उपरान्त भी द्वेष का भाव या प्रेम का अभाव हो सकता है जैसे—हम शत्रु को जानने के उपरान्त भी उनके प्रति द्वेष भाव रखे रहते हैं किन्तु भक्ति में द्वेष का कोई स्थान है

ही नहीं। अतः भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। यहां वास्तव में साधारण लौकिकज्ञान का ही उदाहरण दिया गया है। अमर वस्तु के ज्ञान का नहीं।

भक्त लोग भक्ति को मुक्ति से भी ऊंचा दर्जा देते हैं। तुलसी रामायण में भरतजी कहते हैं—

धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहऊँ निर्वान।
जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन।

श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

न धनं, न जनं, न सुन्दरीं वा न कवितां वा
जगदीश कामये....मम जन्म-जन्मनि।

हे जगदीश! न मुझे धन चाहिए, न जन न सुन्दरी और न कविता चाहिए। जन्म-जन्म में मेरी आपके प्रति अहैतुकि भक्ति बनी रहे बस यही मांगता हूं।

मानव सेवासंघ के स्वामी शरणानन्दजी के तीन सूत्र हैं—सेवा, त्याग और प्रेम। वे कहते हैं सेवा द्वारा मानव समाज के लिए उपयोगी बनता है। त्याग द्वारा अपने लिए उपयोगी बनता है अर्थात् वह संसार के बंधनों से मुक्त हो मोक्ष लाभ करता है और प्रेम के द्वारा वह भगवान् के लिए उपयोगी बनता है। उनका तर्क है कि जीवन्मुक्ति के बाद उससे भी ऊंचा दर्जा ईश्वर प्रेम या ईश्वर भक्ति है। मुक्ति तो अपने हित के लिए पाई। हमने परमेश्वर के लिए क्या किया? परमेश्वर के प्रति निष्काम, निःस्वार्थ प्रेम रखें तो परमेश्वर के प्यारे बनेंगे। इस तरह भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ सिद्ध हो जाती है।

सकाम एवं निष्काम भक्ति

भगवान् से कोई फल की कामना रखकर भक्ति करना सकाम भक्ति है और शुद्ध भागवत प्रेम के लिए ही भगवान् की भक्ति करना निष्काम भक्ति है। भगवान् ने गीता में चार प्रकार के भक्त गिनाये हैं—**आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी।** दुःख में जीव भगवान् को पुकारता है। भूखा बच्चा मां को स्मरण करता है। चाहे इसमें भक्त का कुछ स्वार्थ ही है किन्तु वह इस निमित्त भगवान् को याद तो करता है। इसलिए वह भी भक्त की कोटि में है। चाहे सकाम ही है। दुःख में भगवान् के सिवा और कौन रक्षा कर सकता है? आर्त भक्तों में गजेन्द्र, द्रौपदी आदि। अर्थार्थी भक्त भगवान् से कुछ धन-सम्पत्ति, सफलता, राज्य प्राप्ति आदि की कामना करता है। युधिष्ठिर, बालक ध्रुव ने अपनी भक्ति इसी भाव से शुरू की ताकि उन्हें राजा की गोदी या राज्य का उत्तराधिकार मिल सके। किन्तु भगवान् की भक्ति करते-करते वह सकाम से निष्काम हो गया। उसने कहा—मुझे वह भक्ति दो कि कामना का बीज ही अंकुरित न हो।

जिज्ञासु भक्ति—भगवान् को जानने की इच्छा से भगवान् की भक्ति करने वाला भक्त जिज्ञासु भक्त है। यह आर्त एवं अर्थार्थी से ऊंचा है। अर्जुन, नचिकेता, नारद, सनत्कुमार आदि जिज्ञासु भक्त हैं।

ज्ञानी—भगवान् को तत्त्वत: जानकर भगवान् की उपासना करने वाला ज्ञानी भक्त कहलाता है। भगवान् कहते हैं—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। 7/18, गीता

ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। भक्ति के आचार्य कहते हैं कि इसमें महिमा ज्ञान से भी बढ़कर भक्ति की ही है। क्योंकि भगवान् ने ज्ञानी भक्त शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है कि ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी जो भगवान् की भक्ति में लीन है। भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं—

ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। 7/19, गीता

अर्थात् ज्ञानवान मेरी शरण में आता है। शरण में आना भक्ति का लक्षण है। इस प्रकार साधना का अन्तिम पड़ाव ज्ञान न होकर भक्ति ही है।

भक्ति का निष्काम होना भक्ति के गौरव के लिए अनिवार्य है। अन्यथा भक्ति व्यवसाय या सौदेबाजी बन जाएगी। सच्चा भक्त भगवान् से कुछ नहीं मांगता। जब भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं तो वे भक्त के अन्तर को और उसकी आवश्यकताओं को स्वयं जान रहे हैं। उन्हें जो उचित प्रतीत होगा वह अपने आप करेंगे। उनके सामने किसी सांसारिक वस्तु की कामना को प्रस्तुत करना उनके सर्वान्तर्यामी रूप का तिरस्कार है जहां से सब कामनाएं पैदा होती हैं। स्वयं वहीं बैठे हुए वे जान रहे हैं। तब उनसे मांग कर दरिद्रता का ही प्रदर्शन करना है। और उनके अन्तर्यामी स्वरूप की अवमानना है। जीव भगवान् की संतान होने से सारे ऐश्वर्य का उत्तराधिकारी है। वह सारा ऐश्वर्य बिना मांगे ही हमारा है, केवल प्रभु का बन जाना चाहिए। प्रभु से मुंह फेरे रहने पर उत्तराधिकार कैसे मिलेगा? न तो प्रभु मिलेंगे न ऐश्वर्य मिलेगा।

'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये'

हे रघुपति! मेरे हृदय में अन्य कोई स्पृहा नहीं है। हे भगवान्! मैं सत् बोल रहा हूं और आप सारे विश्व की अन्तरात्मा हैं अत: आप पहले ही जानते हैं। हे भगवान्! अपनी निष्काम-नि:स्वार्थ निर्भरा भक्ति मुझे प्रदान कर दो और मेरे मन को काम, मोह, मद-मत्सर के दोषों से रहित कर दो। नृसिंह भगवान् ने बालक प्रह्लाद को कहा—कोई वर मांगो। उसने कहा, आपके दर्शन प्राप्ति के पश्चात् अन्य किसी वर की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। भगवान् ने कहा, मेरा दर्शन निष्फल नहीं होना चाहिए, कुछ तो मांग लो। तब प्रह्लाद ने हाथ जोड़कर विनती की—

कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्। भाग. 7/10/7

हे भगवान्! मेरे हृदय में कामनाओं का अंकुर फूटने ही न पाए। यही मेरी कामना है। गीता में भगवान् ने भक्ति की महत्ता में एक शब्द का प्रयोग किया है **'अव्यभिचारिणी भक्ति'** अर्थात् भक्ति में व्यभिचार भाव नहीं होना चाहिए। जैसे सती स्त्री जिस पति का वरण करती है उसी के प्रति जीवनभर सच्ची निष्ठा से समर्पित रहती है। उसी प्रकार सच्चे भक्त को भगवान् के प्रति निरन्तर एकनिष्ठता से समर्पित रहना चाहिए। व्यभिचारिणी स्त्री के समान अन्य स्वार्थों की ओर झांकना नहीं चाहिए। भक्ति केवल भक्ति के लिए हो। शुद्ध भागवत प्रेम के लिए अन्य किसी हेतु के लिए नहीं। तभी सच्ची भक्ति है।

अनन्य भक्ति

अनन्य शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्य अपने सिद्धान्तानुसार करते हैं। अनन्य के तीन अर्थ क्रमशः एक-दूसरे से ऊंचे बनते हैं।

(क) प्रभु के सिवा मैं अन्य किसी की भक्ति नहीं करूंगा। तुलसीदासजी ने अपने नवरत्न सभा में प्रवेश के निमंत्रण का अकबर को उत्तर दिया—

हम चाकर रघुवीर के पट लिखो दरबार।
तुलसी अब क्या होयेंगे नर के मनसबदार।।

ऐसा भक्त अपने इष्ट देवता के सिवा किसी दूसरे की भक्ति या उपासना नहीं करता। तुलसीदासजी ने भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख कहा—

कहा कहों छबि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष बाण लो हाथ।।

(ख) अनन्य भक्ति का दूसरा भाव है प्रभु के सिवा मेरा कोई अपना नहीं है। सब ओर से ममता का धागा तोड़कर केवल भगवान् से जोड़ लेना अनन्य भक्ति का लक्षण है। मीरा बाई का कथन है—मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोय।

तुलसीदासजी का कथन है—गलेगी जिह्वा जो कहों और के हों। यदि मैं कह दूं कि राम के सिवा मैं किसी और का हूं तो मेरी जबान गल जाए। ब्रज की गोपियां भी श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की पूजा या भक्ति के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

अनन्य भक्ति का एक तीसरा ज्ञानपरक अर्थ है प्रभु को अपने से अन्य नहीं मानना। भेद उपासना में भक्त और भगवान् के बीच द्वैत बना रहता है। किन्तु अभेद उपासना में वह भेद दूर होकर भक्त और भगवान् के बीच अनन्यता एवं अभेदवृत्ति प्रकट हो जाती है। मानव का सबसे प्रिय अपना आप ही होता है। अन्य वस्तुओं का प्रेम इस 'मैं' पर टिका होने के कारण ही है। जिसको हम अन्य मानते

हैं उसको अपने से अवश्य ही घटिया मानते हैं। इसलिए जब तक किसी के प्रति अन्य का भाव बना रहता है तब तक वह पराया प्रतीत होता है। अपने स्वार्थ के लिए अन्यों को लूटने, ठगने या शोषण करने की प्रवृत्ति मानव में पैदा हो जाती है। यदि वह धनी बनना चाहता है तो धन कहां से कमाएगा? निश्चय ही अन्यों से। यदि वह शीघ्र धनी बनने के लिए कालाबाजारी करता है तो किनको लूटेगा? निश्चय ही अन्यों को। यदि वह कम दाम देकर अधिक काम लेना चाहता है तो किनका शोषण करेगा? निश्चय ही अन्यों का। यदि अपने आराम के लिए दूसरों को साधन बनाएगा तब भी वह अन्यों का ही शोषण होगा। इसलिए यह अन्य भाव ही मूलतः अन्याय का भाव है। यदि भगवान् या इष्टदेव को भी अपने से अन्य मान लिया तो भगवान् के प्रति भी अन्याय होगा। इसलिए अभेद उपासना में भक्त और भगवान् के बीच भेद की दीवार गिर जाती है। प्रभु मेरे हैं, अन्य नहीं हैं। वरन् मेरे अपने आप हैं। प्रभु मेरे सच्चे मैं ही हैं। प्रभु की विस्मृति मेरा स्वयं के प्रति द्रोह है, प्रभु का प्रेम मेरा स्वयं से ही प्रेम है। प्रभु की भक्ति उन पर किसी प्रकार का एहसान नहीं है, मेरे अपने ही उद्धार की साधना है। प्रभु की प्राप्ति निजानन्द की उपलब्धि है। मेरी अपनी ही महामुक्ति है।

मन एवं बुद्धि का समर्पण

भक्ति का सर्वश्रेष्ठ लक्षण मन एवं बुद्धि का भगवान् के प्रति समर्पण है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। 12/8, गीता

हे अर्जुन! मन को मेरे में लगा और बुद्धि को मेरे में ही निवेशित करके तू मेरे में ही निवास करेगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इसमें भगवान् ने भक्ति का बड़ा सरल एवं स्पष्ट मार्ग बता दिया है। अन्य किसी प्रकार के फूलों से पूजा न करके केवल दो फूल मुझे चढ़ा दो। एक मन का फूल और दूसरा, बुद्धि का फूल। मन सबसे चंचल, बंदर के समान है। यदि जंगल के किसी बंदर को हम किसी दूसरे व्यक्ति को भेंट करना चाहें तो बिना उसे अपने वश में किए क्या दूसरों को भेंट कर सकते हैं? यदि हम किसी को कहें कि पलामू के जंगल का अमुक शेर आपको भेंट करता हूं तो भेंट लेने वाला अचम्भे से पूछेगा कि क्या भेंट की जाने वाली वस्तु भेंट करने वाले के वश में है? जो वस्तु हमारे वश में ही नहीं है उसे दूसरे को कैसे समर्पित किया जा सकता है? इसलिए मन को इन्द्रियों और विषयों की गुलामी से छुड़ाकर ही उसे भगवान् को समर्पित किया जा सकता है। इस कार्य में जीव को पुनः कठिनाई अनुभव होती है। इसका उपचार यह है कि हम मन को उसके स्वामी को ही लौटा देवें। मन हमारा है ही नहीं। वह प्रभु का ही है। उसी ने

हमें तन, मन, धन, इन्द्रिय, बुद्धि, आत्मा का प्रकाश आदि दिया है। हम विवेक से यह निश्चय कर लें कि मन तो है उसी का। उसने हमें कुछ काल के लिए, लोक व्यवहार के लिए दिया है। यह बहुत चंचल है, वश में रहता नहीं। इसलिए मन रूपी बंदर को इसके मालिक को ही लौटा दें जिससे हमारा झंझट भी समाप्त हो जाए तथा प्रभु की अमानत प्रभु को वापस मिल जाए। मन जब-जब कोई उत्पात करे, कुछ चेष्टा करे हम प्रभु का नाम स्मरण करें। मन को याद दिलायें कि तेरा स्वामी सर्वशक्तिमान है। तू तो उसके आदेश से कुछ समय के लिए हमारे पास आया है। तुझे वापस उसी प्रभु के पास जाना है। मन जो जीवात्मा को नचाता रहता है, परमात्मा का नाम सुनते ही उसका ध्यान करते ही शांत हो जाता है। भक्ति में नाम स्मरण का यही महत्त्व है। मन को निरन्तर अपने स्वामी की याद बनी रहती है और उसके उत्पात रुक जाते हैं। मन की एकाग्रता तथा मन में प्रभु का नाम स्मरण मन के संकल्पों को शुद्ध करके प्रभु को समर्पित करना, मन के क्रियाकलाप पर बुद्धि विवेक का अंकुश रखना तथा मन को अपने वास्तविक स्वामी का स्मरण कराते रहना—ये भिन्न-भिन्न उपाय हैं। जिनसे हमारा मन वश में होता है और प्रभु को समर्पित भी। गुरु नानकदेव कहते हैं—

मन तू ज्योत स्वरूप तू अपना मूल पिछान।

इसी प्रकार बुद्धि जो संसार के कार्य व्यवहार में अपनी बड़ी चातुरी दिखाती है इसे यदि आत्म विषयिनी ब्रह्म विषयिनी बनाया जाए तो यह भी शुद्ध होकर प्रभु में निवेशित हो जाती है। तमोगुणी बुद्धि को त्यागकर रजोगुणी बुद्धि प्राप्त करें। नैतिक-अनैतिक और हित-अहित का ठीक विचार करें। नैतिक आचरण से बुद्धि निर्मल होकर सत्त्वगुणी बन जाए तो उससे सत्-असत् का निर्णय करें। ऐसी सत्-असत् का निर्णय करने वाले बुद्धि को पण्डा कहा जाता है—या पण्डा मंडिता सा पंडिता। बुद्धि का प्रकाश जिसने दिया है बुद्धि उसी के स्वरूप का निर्णय करे तभी बुद्धि की सार्थकता है। सूक्ष्म और सात्त्विक बुद्धि काफी दूर तक विचार की गांठें खोलकर परम सत्य के मन्दिर के द्वार तक पहुंचा देती है। किन्तु विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक होने के कारण सत्य के मंदिर के भीतर प्रवेश नहीं पा सकती। वहां बुद्धि के अहंकार का भी त्याग कर प्रवेश किया जा सकता है। इसलिए बुद्धि को शुद्ध सात्त्विक, प्रभु में चिन्तनमयी बनाकर अन्त में प्रभु के चरणों में समर्पित कर देने में ही बुद्धि की सार्थकता और हमारा हित है। जो भक्त अपना मन और बुद्धि भगवान् को समर्पित कर देते हैं वे मानो अपना सब कुछ भगवान् को ही चढ़ा देते हैं। सब संकल्प-विकल्प एवं कर्म की चेष्टा मन से होती है और करने न करने का निर्णय बुद्धि करती है। अत: जिसने मन और बुद्धि को भगवान् को चढ़ा दिया उसने मानो अपने सारे कर्म, कर्मों की चेष्टाएं एवं विचार भगवान् को ही

चढ़ा दिए। ऐसे भक्त को जो मन और बुद्धि को भगवान् को समर्पित कर देता है, भगवान् क्या देते हैं?

भगवान् कहते हैं ऐसा भक्त साक्षात् मेरे में ही निवास करेगा। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है। भगवान् में निवास करने का अर्थ है भगवान् के हृदय में या भगवान् की आत्मा में निवास करना। इस प्रकार जो भक्त अपने हृदय मन्दिर में भगवान् को आसीन करके अपने मन और बुद्धि रूपी दो फूल उन्हें समर्पित करता है भगवान् उस भक्त को अपने हृदय मंदिर के सिंहासन पर बिठाकर उसको अपना आप बना लेते हैं। अपने अमर प्रेम से भक्त की पूजा करते हैं और उसे धन्य-धन्य बना देते हैं। यह भक्ति का अलौकिक चमत्कार है जिसमें भगवान् अपने भक्तों के भी भक्त बन जाते हैं। भगवान् राम को हनुमानजी ने अपनी भक्ति की भावना का परिचय देते हुए कहा कि—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
आत्मदृष्ट्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः।

हे भगवान्! मैं शरीर की दृष्टि से आपका दास हूं, जीव की दृष्टि से आपका ही अंश हूं और आत्मा की दृष्टि से स्वयं आप (ब्रह्म) ही हूं। इस प्रकार तीन प्रकार की भक्ति मैं जानता हूं। शरीर द्वैत भावना से भगवान् के जीवों की सेवा में लगा रहे, जीवात्मा विशिष्टाद्वैत की भावना से अपने को प्रभु का अंश मानकर कार्य व्यवहार करता जाए और आत्मा अद्वैत भावना से प्रभु के साथ तदाकार होने की अनुभूति प्राप्त करता रहे। और अन्त में भक्त और भगवान् में कोई अन्तर ही न बचे। यही भक्ति का मर्म है।

अभ्यास योगी भक्त

गीता के 12वें अध्याय के 9वें श्लोक में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! यदि तू अपने चित्त को मेरे में एकाग्र करने में समर्थ नहीं है तो मन को एकाग्र करने का अभ्यास कर। मन चंचल होने के कारण इधर-उधर भागता है। जब-जब भागे तो उसे पुनः खींचकर मेरे में लगावे। कठिन से कठिन कार्य भी अभ्यास द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने राम नाम (मरामरा) का अभ्यास करते-करते ब्रह्मर्षि का पद पा लिया। चाहे अभ्यास में त्रुटि होने पर वे उलटा नाम ही जपते रहे किन्तु अभ्यास का चमत्कार मन को एकाग्र कर देता है। जिससे चित्त भगवान् के ध्यान में लग जाता है। चाहे उसके नाम उच्चारण करने में त्रुटि रही हो। गीता में भगवान् ने मन को वश में करने के दो प्रबल उपाय अभ्यास और वैराग्य बताए। जैसे भूमि के झाड़-झंखाड़ साफ करके उसे खेती के योग्य बनाया जाता है और बाद में ही उसमें बीज बोया जाता है। उसी प्रकार वैराग्य द्वारा मन के कुसंस्कारों को साफ करके उसमें अभ्यास का नया बीज बोना चाहिए।

भगवत् समर्पित कर्मी भक्त—अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं यदि तू मन को वश में नहीं कर सकता है। मन को वश में करने का अभ्यास भी नहीं कर सकता है तो मेरे लिए, मेरे निमित्त कर्म करने वाला बन जा। जो अपने समस्त कर्मों को भगवान् में समर्पित कर देवे। वह भी भगवान् की भक्ति का अधिकारी बन जाता है। जो खेत धर्मार्थ समर्पित कर दे वह सबसे अच्छा है, जो खेत समर्पित न कर सके वह खेत की निराई-गुड़ाई को समर्पित कर दे। जो वह भी न कर सके वह कृषि को समर्पित कर दे। जो मन (कर्मों के संकल्प) को न समर्पित कर सके वह संकल्प को समर्पित करने का अभ्यास करे और संकल्प भगवान् को समर्पित न कर सके और निजी संकल्प से कर्म करता है तो कर्म को ही समर्पित कर दे।

कर्म फल त्यागी भक्त

अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं मेरे लिए कर्म करने में भी यदि तू असमर्थ है तो कर्म अपना करता जा पर फल मुझे समर्पित कर दे। यदि भूमि नहीं, बीज भी नहीं, कृषि भी नहीं तब फसल ही समर्पित कर दे।

गीता के हृदय का हृदय—संसार का हृदय है मानव। मानव सुधर जाए तो संसार सुधर जाए। मानव का विकास, संसार का विकास और मानव का ह्रास संसार का ह्रास है। मानव का हृदय भगवान् है। यदि मानव के मन में भगवान् का ध्यान रहे तो मानव सुधर जाए। परमेश्वर को भूलना ही सब प्रकार के सामाजिक रोगों का मूल कारण है। गुरुनानक—

परमेश्वर तो भुल्ल्या व्यापन सब रोग

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

'Disease is to be dis-at ease with God.'

अर्थात् ईश्वर के साथ सामंजस्य का टूट जाना ही रोग है।

रैल्फ वाल्डो इमर्सन—

'The begining and end of everything wrong with us is that we have forgotten God.'

अर्थात् हमारे समस्त क्लेशों का प्रथम कारण एवं अन्तिम कारण यही है कि हम ईश्वर को भूल गए हैं।

मानव के विकास के लिए परमेश्वर की निरन्तर स्मृति परम अनिवार्य है। भगवान् का हृदय है भगवद्गीता। भगवान् कहते हैं **'गीता मे हृदयम् पार्थ।'**

अर्थात् हे पार्थ! गीता तो मेरा हृदय है। गीता का हृदय है द्वादश अध्याय। भक्ति हृदय की वस्तु है। मानव शरीर में हृदय शरीर के नीचे से दो तिहाई भाग की

ऊंचाई पर और सिर से एक तिहाई भाग नीचे स्थित है। गीता में 18 अध्यायों में दो-तिहाई (12 अध्याय तक) एक ओर और एक-तिहाई दूसरी ओर अर्थात् 12वें अध्याय में ही भक्तियोग का स्थान है। यह गीता के कलेवर का भी हृदय है और गीता के तत्त्व का भी हृदय है। भक्तियोग का भी हृदय है द्वादश अध्याय का द्वादश श्लोक—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12/12, गीता

जो व्यक्ति किसी विषय का अभ्यास कर रहा है उसकी अपेक्षा जिसने उस विषय को जान लिया है वह निश्चय ही उससे श्रेष्ठ है। परमेश्वर का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति अभ्यासी से तो अच्छा है किन्तु यदि उसका परमेश्वर में ध्यान ही नहीं जमता तो ध्यानयोगी उससे भी श्रेष्ठ है। जो परमेश्वर का ध्यान तो करता है पर परमेश्वर के निमित फलों का त्याग नहीं करता। वह व्यक्ति भी अच्छा भक्त नहीं है। प्रातःकाल कुछ मिनट भगवान् का ध्यान करने के बाद दिनभर व्यापार में दूसरों को लूटने में फंसा हुआ व्यक्ति किस प्रकार का ध्यानयोगी है? सच्चा ध्यानयोगी वही है जो समस्त कर्मों को करते समय ध्यान रखे कि सर्व कर्म प्रभु के लिए ही हो रहे हैं। ऐसे व्यक्ति का ध्यान क्षणिक नहीं निरन्तर होता रहता है। इसलिए ध्यान से भी समस्त कर्मों का भगवान् के लिए त्याग और भी श्रेष्ठ है। त्याग के उपरान्त मनुष्य को शान्ति लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान् ने भक्ति के सरल, सरलतर और सरलतम उपाय बताए हैं। जिससे हर स्तर का व्यक्ति लाभान्वित हो सके।

भक्त के लक्षण

भगवान् ने भक्त के इतने ऊंचे लक्षण बताए हैं कि स्थितप्रज्ञ के लक्षण, दैवी सम्पदा के लक्षण और ज्ञानी पुरुष के लक्षण उसी में संक्षेप में कह दिए गए हैं।

अद्वेष्टा—भक्त किसी से द्वेष न करे। द्वेष ही विष है जो द्वेषी और द्वेष के पात्र दोनों को मार डालता है।

मैत्री—सबसे मैत्री करने वाला

करुणा—

निर्मम—ममता रहित

निरहंकार—

सुख-दुःख में सम

क्षमी

संतुष्टः सततं

योगी
हर्ष-विषाद में सम
भयरहित और उद्वेगरहित
अनपेक्ष
शुचि, दक्ष
उदासीनो
सर्वारम्भपरित्यागी
जो न इच्छा करता है
न द्वेष करता है
न आकांक्षा रखता है
शुभाशुभ का परित्यागी
शत्रु-मित्र में समान
मान-अपमान में समान
शीत-उष्ण, सुख-दुःख में सम
सङ्गरहित
निन्दा-स्तुति में समान
सदा संतोषी, हर परिस्थिति में संतोषी
पक्के निवास के बिना
स्थितप्रज्ञ, स्थिर बुद्धि वाला

जैसे हृदय पूरे शरीर के स्पन्दन एवं रक्त संचार का केन्द्र है उसी प्रकार भक्तियोग पूरे गीता के तत्त्वज्ञान का सार है। भक्ति की इस विशद व्याख्या में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, राजयोग आदि सभी समा गए हैं।

भगवान् ने भक्तियोग को धर्म रूपी अमृत कहा है। जो इसका सेवन करते हैं, वे भक्त अमर हो जाते हैं और भगवान् को अतीव प्रिय हैं। यदि भक्त का एक लक्षण भी जीवन में आ जाए तो जीवन धन्य हो जाए और भक्त का एक लक्षण भी मानव जीवन में प्रतिफलित हो जाए तो मानव देवता बन जाए। अन्य अध्यायों में भगवान् ने अपना ज्ञान बांटा है। किन्तु द्वादश अध्याय में भगवान् ने अपने हृदय का प्रेम व माधुर्य बांटा है। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है हमने जिह्वा की तोड़-मरोड़ और तर्क-कुतर्क की जोड़ तोड़ बहुत सीख ली है किन्तु हृदय के अमृतस्रोत को हमने अभी तक स्पर्श नहीं किया है। भक्तियोग हृदय के अमृतस्रोत को प्रस्फुटित

करने वाला योग है। इससे मानव दिव्य, उसका जीवन वरदान एवं संसार बैकुण्ठ बन जाता है। भगवान् का अपना आश्वासन है—

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगीनाम् हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

हे नारद! न मैं बैकुण्ठ में निवास करता हूं और न योगियों के हृदय में। मैं तो वहीं निवास करता हूं जहां मेरे भक्त मेरा यशोचिंतन गाते हैं।

भक्ति का मनोवैज्ञानिक महत्त्व

यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस वस्तु का विचार करता रहता है वैसा ही बनता जाता है। इसे संस्कृत में कीट भृंगी न्याय कहते हैं। जाल में फंसा हुआ कीड़ा भृंगी का ध्यान करते-करते भृंगी ही बन जाता है। You become what you think, you become what you meditate upon. आप जो कुछ सोचते रहिये वही बन जाइएगा। यदि मनुष्य भगवान् का चिंतन करता रहता है तो वह धीरे-धीरे भगवान् ही बनता जाता है और वह शैतान के चिन्तन से शैतान बन जाता है। भक्ति में भगवान् के निरन्तर ध्यान करने से भागवत गुण अपने आप भक्त में आने लगते हैं। सभी धर्मों में भगवान् को सर्वश्रेष्ठ गुणों का प्रतीक माना गया है। इसलिए मानवता के गुण विकास के लिए भक्ति या उपासना का बहुत बड़ा महत्त्व है। निराशा का चिंतन करने से निराशा ही मिलती है और आशावादी चिन्तक को आशा। केवल कल्पना मात्र के विष से भी लोग मरते देखे गए हैं और काल्पनिक चमत्कारी आशीर्वाद से बड़े-बड़े महारोगी स्वस्थ होते देखे गए हैं। बहुत से श्रद्धा उपचारक बिना औषधि केवल मंत्र या विश्वास के बल पर इलाज करते हैं। मन्दिरों, मठों और आश्रमों में अनेक असाध्य रोगी औषधि विज्ञान से निराश होकर पहुंचते हैं कि मानव की सीमित शक्ति के ऊपर सर्वशक्तिमान की सत्ता है जिसको मानव नहीं बचा सकता उसको भगवान् बचा लेगा। और सचमुच इसका बहुत बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। चाहे भगवान् उसे ठीक करते हैं या मनोवैज्ञानिक की भाषा में उसका मन ही उसे ठीक कर देता है। प्रभाव होता अवश्य है। दार्शनिक दृष्टि से देखें तो मन ही भगवान् की ज्योति है। बैकुण्ठवासी भगवान् सहायता करे न करे अन्तर्यामी भगवान् तुरन्त ही कर देता है।

(ख) प्रत्येक मानसिक चिकित्सालय में धर्म प्रचार एवं पूजा पाठ के लिए प्रावधान रखा जाता है। क्योंकि जहां डॉक्टर हार जाते हैं वहां अध्यात्म अपना प्रभाव दिखाता है। बड़े-बड़े मानसिक चिकित्सकों का कथन है कि मानसिक रोगी का तीन-चौथाई उपचार तो उसके भजन-पूजन, उपासना प्रणाली से ही हो जाता है। मात्र एक-चौथाई उपचार औषधियों से होता है।

(ग) यदि भगवान् का चिन्तन न करे तो मानव मन अपने आप बुराइयों की ओर फिसल जाता है जिससे अनेक सामाजिक अपराध एवं संकट पैदा होते हैं।

(घ) भक्त के लक्षणों में महान् नैतिक मूल्य सम्मिलित हैं। इसलिए भक्त भक्ति करते-करते अपने आप नैतिक श्रेष्ठता एवं उच्च चरित्र भी प्राप्त कर लेता है। जैसे शत्रु-मित्र में समान, न्याय-कर्तव्यपरायणता, परमात्म-भाव से सबको अपना समझना।

(ङ) भक्त के लक्षणों में अनेक मनोवैज्ञानिक मूल्य भी सम्मिलित हैं। जैसे चित्त की एकाग्रता, राग-द्वेष से मुक्ति, अहंता-ममता से मुक्ति, सुख-दुःख में समानता आदि। इससे मनुष्य का मन एकाग्र, निर्मल, शांत एवं संतुष्ट रहता है जिसके अभाव में सारा जगत् पागलखाना बन जाएगा।

(च) भोगवादी देशों में जहां ईश्वर भक्ति एवं उपासना का उचित स्थान नहीं वहां मानसिक रोग एवं आत्महत्या के काण्ड सबसे अधिक होते हैं। अमेरीका को धन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है और विज्ञान, तकनीक, अन्तरिक्ष विज्ञान, व्यवसाय, उद्योग, नागरिक चेतना, स्वर्णभण्डार और राजनीति सभी में सर्वोच्च स्थान पर है। न्यूयार्क में डॉक्टरों की सूची में एक-तिहाई मानसिक चिकित्सक हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि वहां मानसिक रोगी उतने ही अनुपात में होंगे तभी मानसिक डॉक्टरों का धंधा चलता है।

(छ) भक्ति बिना किसी बाहर के अंकुश या डण्डे के भगवान् की सत्ता, उसकी न्यायपरायणता, कर्म सिद्धान्त, विश्वव्यापी नैतिक नियम में विश्वास पैदा करती है। इससे मनुष्य पाप या अपराध करने में संकोच करता है। यदि ये धार्मिक संयम उठा लिए जाएं तो हर मानव के भीतर का दानव प्रकट हो जाए। धर्म एवं धार्मिक उपासना ने युगों से मानवता को बचा रखा है।

(ज) प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. ह्यूम का कथन है कि मानव जीवन में प्रतीकों का बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। प्रतीक संक्षेप में छोटे से चिह्न द्वारा एक पूरे शास्त्र या दर्शन को प्रकट कर देता है। इसलिए प्रतीक के सामने बैठते ही मनुष्य के मनपटल पर उसके पीछे का पूरा इतिहास, परम्पराएं, दार्शनिक चिन्तनधारा एवं प्रेरणायें काम करने लगती हैं। जिनका मानव मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे एक बटन दबाने से पूरे नगर की बत्तियां जगमगाने लगती है उसी प्रकार एक ॐ, क्रॉस या धर्मचक्र के प्रतीक से लाखों-करोड़ों मन हजारों वर्षों के इतिहास एवं संस्कृति की प्रेरणा से जगमगाने लगते हैं।

इस प्रकार भक्त मन से स्वस्थ, चित्त से एकाग्र, बुद्धि से विवेकी, नीति से चरित्रवान, व्यवहार में निष्काम, कर्म एवं समाज में सेवापरायण व्यक्ति बन जाता है। ऐसी आदर्श मानव महिमा और किसी प्रक्रिया से नहीं हो सकती।

ज्ञानयोग तत्त्व

ईश्वर तत्त्व

ईश्वर शब्द ईश धातु से बना है। जिसका अर्थ है ईशन करने वाला अर्थात् शासन करने वाला। ईश या ईश्वर का अर्थ है—सृष्टि का शासक। प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों का शासन भिन्न-भिन्न देवों के अधीन माना जाता है। जैसे वायु, अग्नि, वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि देवता भिन्न-भिन्न शक्तियों के स्वामी हैं। किन्तु इन देवताओं का भी ईशन करने वाला जो देवाधिदेव है उसे परमेश्वर (परम + ईश्वर) अर्थात् सबसे बड़ा शासनकर्ता कहा जाता है।

कई पश्चिम के भ्रमित विचारक यह भ्रान्ति फैलाते हैं कि भारतीय दर्शन में या हिन्दू धर्म में बहु-देवतावाद है। इसकी तुलना में वे ईसाई एवं इस्लाम पंथ के एकेश्वरवाद को अधिक श्रेष्ठ सिद्धान्त बताते हैं। वास्तव में विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद में बार-बार एक-ब्रह्म, एकेश्वरवाद, एकात्मवाद अथवा एकतत्त्ववाद का निरूपण किया गया है। जैसे—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः। 6/11 श्वेताश्वतर उ.

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा। 2/2/12 कठ उ.

शान्तं शिवमद्वैतम्। 7 माण्डूक्योपनिषत्

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। आदि।

वास्तव में एकतत्त्व की सर्वोच्च सत्ता को मानकर उसी के अधीन नानाविध विभागों के भिन्न-भिन्न देव हैं। परमेश्वर से भिन्न या विरोधी सत्ता किसी देव की हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार देश का सर्वोच्च शासक राष्ट्रपति है, उसके अधीन भिन्न-भिन्न विभागों (रेल, डाक तार, वित्त, ऊर्जा आदि) के मंत्री काम करते हैं। यदि हमें रेल विभाग से काम हो तो हमें रेल मंत्रालय जाना चाहिए न कि राष्ट्रपति भवन में, यदि उद्योग का काम है तो उद्योग मंत्रालय में, वित्त का काम है तो वित्त मंत्रालय में जाना चाहिए। अन्य धर्मों में ईश्वर के अधीन कार्यों के विभाग बंटे हुए नहीं है इसलिए नून-तेल, लकड़ी से लेकर भक्ति, शक्ति और मोक्ष तक सब विभागों के काम एक अल्लाह या God के माथे मढ़े हुए हैं। यदि

लोक व्यवहार में म्युनिसिपेलिटी की समस्याएं, प्रदेश की समस्याएं, न्यायालय के सब विवाद, उद्योग, ऊर्जा, वित्त, खाद्य के सब आवेदन राष्ट्रपति के माथे मढ़ दिए जाएं तो राष्ट्रपति पागल हो जाएगा और देश में अव्यवस्था फैल जाएगी। साधारण कर्मचारी, डाकिया या सिपाही तक भी जिस सत्ता से काम कर रहा है वह राष्ट्रपति से ही प्राप्त हुई है। कर्तव्य पालन के समय सिपाही का तिरस्कार भारत सरकार का तिरस्कार माना जाता है और नौकरी से अलग हो जाने पर उसको प्राप्त राष्ट्रपति की शक्तियां समाप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार सब देवों के विभाग अलग-अलग होते हुए भी उनकी शक्ति का मूल एक परमेश्वर ही है। मूल में एकता है तूल में अनेकता। वह एक ही अपने को अनेक रूपों में प्रकट करता है। हिन्दू धर्म के इस एकात्मवादी बहुदेववाद को मैक्समूलर Henotheism कहता है। इसका भाव यह है कि वह एक परमेश्वर सृष्टि संचालन के लिए नाना रूपों में भास रहा है। वेद के अनेक मंत्रों में सब देवों की मूलभूत एकता को स्पष्ट किया गया है।

परमेश्वर की सत्ता अनेक धर्मों का आधार बिन्दु है। प्राय: लोग ऐसा मानते हैं कि परमेश्वर की प्राप्ति के लिए साधना ही धर्म है। किन्तु भारत में दो धर्म ऐसे हैं जो ईश्वर की सत्ता के विषय में मौन हैं या ईश्वर की सत्ता के विषय में इनकार करते हैं। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ईश्वर को माने बिना भी धर्म कहलाते हैं। एक आधुनिक पंथ देव समाज भी ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता। अत: धर्म का केन्द्रीय बिन्दु ईश्वर न होकर मोक्ष साधना है। सनातन धर्म, आर्य समाज जिसे मोक्ष कहते हैं उसे जैन मुक्ति या अर्हत् पद, कैवल्य पद और बौद्ध निर्वाण कहते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् का मत है कि बौद्धों का निर्वाण ही ब्रह्म पद है और गीता का ब्रह्म निर्वाण का ही रूप है। राधाकृष्णन्, गांधी तथा विवेकानन्द आदि बुद्ध को नास्तिक नहीं मानते। ईश्वर के विषय में मौन का अर्थ यही लगाते हैं कि ईश्वर तो है किन्तु वाणी उसका कथन नहीं कर सकती। जैन जीवन के लक्ष्य के रूप में ईश्वर या भगवान् को मानते हैं। किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में कोई सृष्टिकर्ता भगवान् था, ऐसा वे नहीं मानते। ईश्वर उनकी साधना का अन्तिम लक्ष्य बिन्दु है। किन्तु सृष्टि का प्रारम्भिक बिन्दु नहीं है।

ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम—मोटे तौर पर एक ही ईश्वर को अनेक गुणवाचक विशेषणों से पुकारा जाता है। ब्रह्म का अर्थ वृहत् या विराट् है। ईश का अर्थ शासन करने वाला, भगवान् का अर्थ तेज वाला, प्रभु का अर्थ स्वामी, जगदीश का अर्थ जगत् का स्वामी, जगन्नाथ, विश्वनाथ का भी यही अर्थ है। विश्व को पालने वाला, विश्वम्भर, आत्मा का अर्थ सच्चा मैं, परमात्मा का अर्थ सर्वोपरि श्रेष्ठ आत्मा, परात्पर का अर्थ परे से परे, विभु का अर्थ व्यापक, देव का अर्थ प्रकाशमान, विष्णु का अर्थ व्यापक, नारायण का अर्थ विष्णु रूप से नार

(जल) में वास करने वाला, ब्रह्म का अर्थ बड़ा सृष्टिकर्ता, रुद्र का अर्थ रुलाने वाला, शिव का अर्थ कल्याण, इन्द्र का अर्थ इन्द्रियों का राजा अथवा देवताओं का राजा। इस प्रकार ईश्वर के लिए प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न नाम ईश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों के वाचक हैं। विष्णुसहस्रनाम में केवल विष्णु के ही हजार नाम गिनाये गये हैं। गोपालसहस्रनाम में केवल कृष्ण के एक हजार नाम गिनाये गए हैं। नाम अनेक होते हुए भी ईश्वर तत्त्व एक है। जैसे जल को वारी, पानी, उदक आप, वॉटर कहें। सब एक ही तत्त्व के वाचक भिन्न नाम हैं। एक ही व्यक्ति को उसका मित्र श्यामलाल के नाम से पुकारता है, बच्चे पिताजी कहकर पुकारते हैं, भाई भइया कहकर पुकारता है। दफ्तर वाले बड़ा बाबू कहकर पुकारते हैं। पिता बेटा कहकर पुकारता है, माता छोटू कहकर पुकारती है, नौकर मालिक कहकर पुकारता है और बचपन का लंगोटिया यार श्यामू कहकर पुकारता है। किन्तु नाम अनेक होने पर भी व्यक्ति अनेक नहीं हो गया। उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, शक्ति आदि भिन्न-भिन्न नाम-रूप हो जाने पर भी ईश्वर तत्त्व एक ही रहा।

इष्टदेव की स्वाधीनता—हिन्दू धर्म में सबको लोकतांत्रिक पद्धति से अपने-अपने मन के अनुकूल इष्टदेवता को चुनने की छूट दी है। यदि पिता आर्य समाजी होने से निराकार का उपासक है और उसकी पत्नी प्रतिदिन शंकर की पूजा करती है। बेटा राम भक्त है, बेटी कृष्ण की भक्त है, भाई शक्ति का उपासक है तो भी घर में इष्टदेव की भिन्नता के कारण कोई विवाद या कलह नहीं होती। सर्वदर्शन संग्रह के लेखक स्वामी माधवाचार्य ने देश में प्रचलित भिन्न-भिन्न पंथों एवं दर्शनधाराओं को समन्वित करते हुए उसकी एक प्रार्थना लिखी—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।।
अर्हनित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

शैव लोग जिसकी शिव रूप से उपासना करते हैं, बौद्ध लोग जिसे बुद्ध रूप में पूजते हैं, प्रमाण में पटु न्याय दर्शन के विद्वान् जिसे सृष्टिकर्ता के रूप में पूजते हैं, जैन जिसे अर्हत् (मुक्त) एवं नित्य संबोधन कर पूजते हैं, पूर्व मीमांसा दर्शन वाले जिसे यज्ञ रूप में पूजते हैं, वही त्रैलोक्यनाथ हरि हमें हमारा मन-वांछित फल (मोक्ष) प्रदान करें।

भारत के इतने उदार एवं लोकतांत्रिक धर्म की तुलना में पश्चिम के लोग पूजा पद्धति के थोड़े-थोड़े मतभेद के कारण हजारों लोगों को तेल छिड़ककर जीवित जलाते रहे और आज तक आयरलैण्ड में यह कट्टरपंथी हिंसात्मक पागलपन जारी है। संसार में संघर्ष एवं लड़ाइयां या तो स्वार्थ की होती हैं या अहंकार की। स्वार्थ की

लड़ाई में दो या अधिक व्यक्ति एक ही वस्तु को पाना, लूटना चाहते हैं। उनके स्वार्थ की टकराहट से संघर्ष होता है। अहंकार की लड़ाई में कुछ पाने या लूटने का हेतु नहीं रहता। केवल मूंछ की लड़ाई होती है। दोनों पक्ष द्वेषवश अपने को ऊंचा, श्रेष्ठ या ठीक प्रचारित करना चाहते हैं। इस संघर्ष में भले ही दोनों पक्ष गलती पर हों अपने को ठीक सिद्ध करने में दोनों ही लड़ते-लड़ते नष्ट हो जाते हैं। ईश्वर की प्राप्ति के लिए स्वार्थ और अहंकार का त्याग अनिवार्य है। किन्तु जब स्वार्थी और अहंकारी लोग धर्म के क्षेत्र में घुस जाते हैं तो ईश्वर के नाम पर या उसके स्वरूप पर बड़े भीषण हिंसक संघर्ष करने लगते हैं। यह वैसे ही है जैसे कोई अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए मतभेद रखने वालों की गर्दनों पर तलवार चला दे।

ईश्वर की सत्ता का प्रश्न, क्या ईश्वर है या नहीं

इस पर युगों से विवाद चलता आया है। बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इसके पक्ष-विपक्ष में अपने-अपने तर्क दिए हैं। ग्रंथों में ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो जाने पर भी यह अध्याय बंद नहीं होता। क्योंकि हर मानव को स्वयं अपने जीवन में अपने विवेक से ईश्वर की सत्ता का निर्णय करना है। अतः पहले के दार्शनिकों कणाद, गौतम, व्यास, शंकराचार्य, कांट आदि के बड़े उत्तम तर्कों से भी मानव की पूर्ण संतुष्टि तब तक नहीं होती जब तक वह अपने विवेक से इस विषय का स्वयं निर्णय नहीं कर लेता है। इसलिए ईश्वर की सत्ता का प्रश्न चिर प्राचीन होते हुए भी नित्य नवीन है।

एक आधारभूत प्रश्न है कि क्या कोई सृष्टि का चरम परम सत् है या नहीं। इसके उत्तर में अधिकांश विचारक यही उत्तर देते हैं कि बिना किसी सत् वस्तु के सृष्टि की सत्ता सम्भव ही नहीं। अतः सृष्टि का कोई चरम परम सत्य अवश्य है। इसके विपरीत कुछ लोग सृष्टि को अव्यवस्था और अपघटना का नियमहीन खेल मात्र मानते हैं जिसमें कोई भी चरम सत्य नहीं है। सृष्टि को Cosmos न मानकर Chaos मानते हैं। मानव जीवन का कुछ उद्देश्य न मानकर उसे निरुद्देश्य, अपघटना मात्र मानते हैं।

यह विचार तर्कहीन एवं विवेकशून्य प्रतीत होता है।

(क) सृष्टि में एक सुव्यवस्था है अतः इसका कोई व्यवस्थापक होना चाहिए। क्रमबद्ध, लयबद्ध रचना बिना किसी रचनाकार के सम्भव नहीं।

(ख) सृष्टि केवल भौतिक तत्त्वों का निरुद्देश्य खेल मात्र नहीं है। इसमें एक नैतिक उद्देश्य भी छिपा हुआ है। अनेक बार बड़े विस्मयकारी ढंग से निर्बल एवं असहाय की रक्षा और बड़े शक्तिशाली दुष्ट को दण्ड के उदाहरण अनुभव में आते हैं। ट्रेन वाला उदाहरण[1]।

---

1. इसे चतुर्थ खण्ड के पृष्ठ 241-242 में देखें।

(ग) जो सत्ता जीवन की रक्षा करती है, जीवन के साधनों अन्न, जल, वायु आदि को उपलब्ध कराती है, जो धर्म और नीति की पोषक है। वह सत्ता अवश्य ही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वशक्तिमान होनी चाहिए अन्यथा उसका न्यायविधान चल ही नहीं सकता।

(घ) संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील या नश्वर प्रतीत होती है। सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक गति सापेक्ष है। यदि कुछ स्थिर वस्तु न हो तो हमें कभी गति का भान ही सम्भव नहीं हो सकता। किसी स्थिर वस्तु की तुलना में ही किसी गतिमान वस्तु की गति जानी जा सकती है। यदि सब कुछ स्थिर है तो गति का स्थान ही नहीं बचता। यदि सब कुछ गतिमान हो तो उसे गतिमान कहना भी कठिन होगा। गति की कल्पना ही स्थिरता की तुलना में होती है। हमारी धरती अपने अक्ष पर एक हजार मील प्रति घंटा की गति से घूम रही है और सूर्य के गिर्द लाखों मिल प्रति घंटा के हिसाब से गति कर रही है। किन्तु केवल धरती को देखने से उसकी गति का कोई भान नहीं होता। सूर्य तथा अन्य ग्रहों की अपेक्षा से ही धरती की दोनों गतियों का भान होता है। संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—all is change सब कुछ परिवर्तनशील है। यदि यह ज्ञान सत्य है तो ज्ञान का ज्ञाता कौन है। यदि शरीरधारी बुद्ध ज्ञाता है, वह तो स्वयं परिवर्तन के शिकार थे। स्वयं नदी की धारा में बहने वाला नदी की गति को कैसे माप सकता है? स्वयं शेर के मुख में शेर के दांतों के नीचे आकर शेर का कलेवा बनने वाला व्यक्ति शेर के दांतों को कैसे गिन सकता है? स्वयं परिवर्तनशील व्यक्ति सारे विश्व में परिवर्तन का साक्षी कैसे हो सकता है? सब कुछ परिवर्तनशील है उसको वही जान सकता है जो सृष्टि की परिवर्तन लीला प्रारम्भ होने से पहले भी अटल एवं अपरिवर्तनीय हो। सृष्टि लीला के मध्य भी निरन्तर अटल एवं अपरिवर्तनीय रहे और सृष्टि लीला के अन्त में भी अटल अविचल बना रहे। अचल ही चल का साक्षी एवं ज्ञाता बन सकता है। अतः परिवर्तनशील सृष्टि के पीछे कोई अटल, अविचल और अपरिवर्तनीय चरम परम सत्य अवश्य है।

(ङ) सामान्य व्यक्ति स्थूल दृष्टि से जब सृष्टि को देखता है तब उसे कोई चरम सत्ता दिखाई नहीं देती। इसलिए वह कह बैठता है कि सृष्टि में कोई अटल अविनाशी सत्ता नहीं है। यह विवेकहीन स्थूलदर्शी व्यक्ति का फूहड़ ज्ञान है। मिस्री की डली व्यक्त होने से दिखाई देती है किन्तु उसकी मिठास जिसके कारण मिस्री है वह अव्यक्त होने से स्थूल दृष्टि से दिखाई नहीं देती। किन्तु एक अन्य स्थूल इन्द्रिय जिह्वा से अनुभव की जा सकती है। शरीर स्थूल होने से दिखाई देता है किन्तु शरीर का स्वामी शरीरी स्थूल इन्द्रियों से दिखाई न देकर भी मन से अनुभव किया जा सकता है। बुद्धि अथवा विवेक से उसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। चरम परम सत्य स्थूल न होने के कारण स्थूल इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता है।

किन्तु सूक्ष्म मन से मनन द्वारा उसकी अनुभूति कर सकता है। बुद्धि विवेक द्वारा उसकी सत्ता को सिद्ध करती है। मानव का विवेक कहता है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। तर्कशास्त्र का सहारा विज्ञान और दर्शन दोनों लेते हैं। विज्ञान और दर्शन दोनों एक-दूसरे से भिन्न एवं कभी-कभी विपरीत प्रतीत होते हैं। किन्तु तर्कशास्त्र का आश्रय दोनों को लेना पड़ता है। तर्कशास्त्र एक ऐसा निर्विवाद समझौतावादी पुरोहित है जो विज्ञान और दर्शन का पाणिग्रहण संस्कार करा देता है। इसलिए विज्ञान और दर्शन दोनों ही तर्क और विवेक से स्वीकार करते हैं कि सृष्टि का सृष्टा कोई परम तत्त्व अवश्य होना चाहिए।

(च) शंकराचार्य और देकार्त दोनों तर्क देते हैं कि यदि सृष्टि में कुछ भी सत् नहीं है तो संदेह पैदा होता है कि क्या मैं संदेह करने वाला स्वयं भी हूं या नहीं। संदेह संदेहकर्ता को सिद्ध कर देता है। यदि संदेहकर्ता ही नहीं तो संदेह पैदा ही कैसे हो सकता है? जितना-जितना मैं अपने अस्तित्व में संदेह करता जाता हूं उतना-उतना अधिक मेरा अस्तित्व स्वत:सिद्ध होता जाता है। अत: सत् की सत्ता का विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत आधार मिल जाता है। स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं प्राचीनकाल में नास्तिक उसे कहा जाता था जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता था पर मैं उसे नास्तिक मानता हूं जो स्वयं की सत्ता में विश्वास नहीं करता। यह विचित्र बात है कि संसार का सबसे बड़ा नास्तिक भी अपनी सत्ता से इनकार करने को प्रस्तुत नहीं होता।

(छ) महात्मा गांधी को एक व्यक्ति ने कहा, मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता। गांधीजी ने कहा कि क्या सच है कि तुम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। उसने कहा, हां! यह सच है कि मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता। गांधीजी ने कहा, यह सच ही तो परमेश्वर है।

(ज) डॉ. राधाकृष्णन् को स्टालिन ने कहा, हम नास्तिक हैं। हम ईश्वर को नहीं मानते। राधाकृष्णन् ने कहा कि मैं सिद्ध कर सकता हूं कि आप ईश्वर को मानते हैं। उन्होंने स्टालिन से पूछा क्या आप चाहते हैं कि आपके अधीनस्थ अधिकारी आप से सच बोलें या झूठ बोलें? स्टालिन ने कहा, मैं चाहता हूं सच बोलें, झूठ बोलने वाले को मैं सूली पर टंगवा दूं। राधाकृष्णन् ने पूछा, क्या आप मानवता का कल्याण चाहते हैं? स्टालिन ने कहा, हम गरीबों के कल्याण के लिए ही संघर्ष कर रहे हैं। राधाकृष्णन् ने पूछा, क्या आप अपने देश को सुन्दर बनाना चाहते हैं या फूहड़ और कुरूप? स्टालिन ने उत्तर दिया हम अपने देश को सुन्दरतम देश बनाना चाहते हैं। राधाकृष्णन् ने तर्क दिया कि तब आप ईश्वर में विश्वास करते हैं। क्योंकि ईश्वर सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् ही है। इससे स्टालिन की भारतीय दर्शन में बड़ी रुचि जगी और वह डॉ. राधाकृष्णन् को बार-बार अपने पास बुलाकर उनसे गीता का तत्त्वज्ञान सुनता था।

इस प्रकार परम सत्य की सत्ता विज्ञान और दर्शन दोनों को माननी पड़ती है। यदि वैज्ञानिक बिना सृष्टा के सृष्टि मान लें तो उसका कथन अवैज्ञानिक, तर्कहीन हो जाएगा। यह अलग बात है कि वह उस सत्य का स्वरूपनिर्धारण करने में कौन-सा दुराग्रह रखता है।

(झ) परम सत्य की सत्ता स्थापित करने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि परम सत्य एक-दो, तीन अथवा अनेक है। एकतत्त्ववादी मानते हैं कि परम सत्य एक ही है। एकमेव अद्वितीयम् है। द्वैतवादी मानते हैं परमतत्त्व एक नहीं दो हैं—जड़ और चेतन। त्रेतवादी मानते हैं कि परमतत्त्व तीन हैं—जीव, जगत् और ब्रह्म। न्याय दर्शन, आर्य समाज आदि इस सिद्धान्त को मानते हैं। प्रकृति सत् है अर्थात् उसकी सत्ता है किन्तु उसमें चेतना और आनन्द का अभाव है। जीव सत् और चित् दोनों है। उसकी सत्ता भी है चेतना भी है। किन्तु उसमें आनन्द का अभाव है। इसलिए आनन्द के लिए तरसता रहता है। ईश्वर में सत्, चित् और आनन्द तीनों गुण हैं। सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता भी वही है। सृष्टि की समस्त चेतना का सबसे प्रथम कारण एवं पूर्ण भण्डार भी वही है। तथा पूर्ण आनन्द का स्वरूप भी वही है। अतः जीव जो प्रकृति और परमेश्वर के बीच में खड़ा है उसे प्रकृति की ओर न जाकर परमेश्वर की ओर जाना चाहिए। प्रकृति की ओर जाने से वह भोगी और रोगी बनता है और परमेश्वर की ओर जाने से वह योगी बनता है। प्रकृति के वश में हो जाने से वह चेतना से जड़ता की ओर जाता है और परमेश्वर की ओर जाने से वह सच्चिदानन्द की उपलब्धि-लाभ करता है। मानव की आध्यात्मिक साधना के लिए त्रेतवाद की सीढ़ी बड़ी उपयोगी है। इससे दर्शन की तिपाई के तीनों पदों का परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है। अतः अद्वैतवादी, द्वैतवादी, त्रेतवादी सभी प्रारम्भ में प्रकृति, जीव और ब्रह्म के भेद और उनकी तीन पृथक् सत्ताओं से विवेचन शुरू करते हैं। द्वैतवादी आगे चलकर दो की सत्ता मानता है। जीव और ब्रह्म दोनों चैतन्य हैं। प्रकृति जड़ है। इसलिए सांख्य प्रकृति-पुरुष इन दो सत्ताओं से संतोष मान लेता है। अद्वैतवाद सर्वोच्च स्तर पर पहुंचकर केवल एक ही सत्ता ब्रह्म सत्यम् मानता है और त्रेत का द्वैत में लय और द्वैत का अद्वैत में लय मानता है।

कई विचारक बहुतत्त्ववादी या अनेकान्तवादी भी हैं। भारत का जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। उसका कथन है कि प्रत्येक आत्मा मुक्त होने पर अलग-अलग परमात्मा बन जाता है।

आत्मा एक है अथवा अनेक इस पर भारत के दार्शनिकों में भी विवाद चलता रहता है।

भारतीय दर्शन ने व्यक्त रूप में जो अनेकता है उसके पीछे की छिपी हुई एकता को पहचानने की चेष्टा की है। शंकराचार्य के मत में आत्मा तो एक ही

है जिसे परमात्मा या ब्रह्म भी कह सकते हैं। किन्तु जो पारमार्थिक स्तर पर एक है वह व्यावहारिक स्तर पर अनेक जीवात्माओं के रूप में खेल करता रहता है। आत्मा है चिदाकाश और जीवात्मा है चिदाभास। इसमें चेतना के आभास द्वारा ही परम अपनी लीला कर रहा है। जब तक अन्त:करण की सत्ता है तब तक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अपना नाटक खेलते रहते हैं। अंत:करण से युक्त आत्मा ही जीवात्मा कहलाता है। **जब अन्त:करण संकल्प-विकल्प से रहित एवं पूर्णतया निर्मल हो जाता है तब अन्त:करण के स्वच्छ दर्पण में ब्रह्मज्योति का सूर्य प्रकाशित-प्रतिबिम्बित होने लगता है। (अन्त:करण को मांजना ही सबसे बड़ी साधना है) जब अन्त:करण में ब्रह्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है तब जीव जीवन्मुक्त बन जाता है।** जब तक कुछ प्रारब्ध कर्म शेष है तब तक वह शरीर को धारण किये रहता है किन्तु शरीर की कारा से मुक्त रहता है। जब शरीर शांत हो जाता है तब ऐसा जीवन्मुक्त महापुरुष परामुक्ति का लाभ करता है। तब जीवत्व को त्यागकर ब्रह्मत्त्व का लाभ करता है। उपनिषदों में सूर्य और धरती पर करोड़ों घटों में सूर्य के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया गया है। अन्त:करण के शांत, निर्मल एवं प्रभु की ओर उन्मुख होने से उसमें परम तत्त्व का पूरा प्रतिबिम्ब आएगा।

अन्त:करण में प्रकृति के भोग बसे रहे तो जीव बंधा हुआ है। अन्त:करण में प्रभु का प्रकाश आने लगे तो साधक बन गया और अन्त:करण पूर्ण शुद्ध हो जाने पर परमेश्वर का पूर्ण प्रकाश आ जाने से जीवन्मुक्त भागवत पुरुष बन जाता है। अन्त:करण का लय हो जाने पर जीव का जीवत्व समाप्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है। इस तरह अन्त में एकतत्त्व की ही सत्ता बचती है। आर्यसमाजी विचारक भी चाहे तीन सनातन सत्तायें मानते रहते हैं किन्तु वे सर्वोच्च पद परमेश्वर का ही मानते हैं। सर्वोच्च एक ही हो सकता है अनेक नहीं। हिमालय की सर्वोच्च चोटी एक ही है। प्रकृति एवं जीव को सीमित अर्थ में व्यावहारिक स्तर तक सत् माना जा सकता है। किन्तु, वही विश्व की चरम परम सत्ता नहीं माने जा सकते हैं। यदि प्रकृति परम पुरुष के समान ही महत्ता रखती है तो प्रकृति को छोड़कर परमेश्वर की उपासना करने की आवश्यकता ही नहीं बचती। यदि जीव ही परम सत्य हो तो जीवत्व से मुक्त होकर ब्रह्मत्व पाने की साधना का कोई अर्थ ही नहीं बचता। जब शंकराचार्य भी अपने सिद्धान्त का कथन करते हैं तो कहते हैं—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभि:।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:।।

जो करोड़ों ग्रंथों में कहा गया है उसे मैं आधे श्लोक में कह दूंगा। केवल ब्रह्म ही सत्य है ब्रह्म के बिना सब जगत् मिथ्या है और जीव तत्त्वत: अपने स्वरूप में ब्रह्म ही है। ब्रह्म से पृथक् कोई अन्य नहीं। इसमें सबसे प्रथम परम चैतन्य ब्रह्म की सत्ता

निरूपित की गई है। फिर ब्रह्म के अतिरिक्त शेष जड़ जगत् को मिथ्या कहा गया है। फिर जीव को चेतना की दृष्टि से ब्रह्म का ही रूपान्तर माना गया है और शुद्धात्मा को साक्षात् ब्रह्म ही माना गया है। ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरी सत्ता हो ही नहीं सकती।

सृष्टि की विश्वव्यापी (सैद्धान्तिक) एकरूपता को देखकर यही निश्चय होता है कि सारी सृष्टि का नियामक कोई एक सर्वशक्तिमान तत्त्व होना चाहिए जिसके शासन को प्रकृति सदा मानती है। आग सदा जलाती है, जल सदा गीला करता है, वायु सदा सुखाता है, पानी सदा नीचे की ओर बहता है। अम्ल सदा अपने स्पर्श मात्र से नीले लिटमस को लाल कर देता है। जड़ जगत् में प्रकृति की एकरूपता के अतिरिक्त नैतिक जगत् में भी किसी महान् सत्ता का विश्वव्यापी नैतिक शासन का अनुभव होता है। बुरे का फल अन्ततः बुरा ही और भले का फल भला ही है। इससे सिद्ध होता है जड़ जगत् में और नैतिक जगत् में किसी एक सत्ता का शासन है। तीन या अनेक का नहीं। भिन्न-भिन्न देशों के देशव्यापी नियम अन्य देशों के नियमों से भिन्न एवं कई बार विरोधी भी होते हैं। यदि भारत में सड़क की दायीं ओर चलना या मोटरगाड़ी को दायीं और चलाना अपराध है तो पाकिस्तान में बायीं ओर चलना अपराध है। यदि हिन्दुओं के लिए दूसरा विवाह अपराध है तो मुसलमानों के लिए चार विवाह तक न्यायसंगत धर्म है, आदि।

यदि विश्व में एक से अधिक सत्ताओं का शासन हो तो एक शासन के वैज्ञानिक सिद्धान्त एवं नैतिक नियम दूसरे शासन के वैज्ञानिक सिद्धान्त एवं नैतिक नियमों से भिन्न एवं परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। इस प्रकार की दो सत्ता से सारे जगत् में अव्यवस्था फैल जाएगी। यदि एक घर में ही माता का अनुशासन, पिता का अनुशासन परस्पर भिन्न एवं विरोधी हो जाए तो परिवार कुछ ही दिनों में उजड़ जाएगा। सृष्टि को वेद में एक काव्य से उपमा दी गई।

पश्य देवस्य काव्यम्
न ममार न जीर्यति।

अर्थात् देवता के इस सृष्टि रूप काव्य को तो देखो न ही मरता है न ही पुराना पड़ता है। हम सृष्टि को अंग्रेजी में Universe कहते हैं। इसके अनुसार एक शक्ति का काव्य। काव्य में शब्द नपे-तुले एवं संतुलित होते हैं, एक भी फालतू शब्द नहीं होता। सृष्टि में भी कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं है। मानव के श्वास-प्रश्वास द्वारा छोड़ी गई जहरीली गैसों, नाइट्रोजन तथा कार्बन डाइऑक्साइड को वृक्ष, वनस्पति पी जाते हैं। यह गैस मानव के लिए विषैली पर वृक्षों के लिए जीवनदायी है। वृक्ष जिस ऑक्सीजन को अपने लिए बेकार समझ कर बाहर फेंकते हैं, वही मनुष्य एवं अन्य जीवों के लिए जीवनदायी है। मनुष्य अपना मैला फेंकता है वही खेत के लिए उत्तम आहार (खाद) बन जाता है। धरती कृषि रूप में जो

अन्न, शाक-सब्जियां, फल बाहर फेंकती है वही मनुष्य के लिए भोजन बन जाता है। इस प्रकार सृष्टि में प्रत्येक वस्तु संतुलित एवं परस्पर उपयोगी है। कुछ भी निरर्थक नहीं है। इसलिए इसे काव्य कहा गया है। सृष्टि रूपी काव्य के रचयिता को कवि कहा गया है।

यदि एक से अधिक सत्ताओं का शासन होता तो सृष्टि को Universe के स्थान पर triverse कहते। जब Universe एक है तो Universe का सृष्टि का नियामक भी एक ही मानना पड़ेगा।

परम सत्ता का स्वरूप जड़ या चेतन

जब यह निश्चय हो गया कि सृष्टि का चरम सत्य एक ही है या दो से अधिक नहीं है तब फिर प्रश्न उठता है कि परम सत्ता का स्वरूप क्या है? वह जड़ है अथवा चेतन? जड़वादी, पदार्थवादी, प्रकृतिवादी विचारक मानते हैं कि सृष्टि का अन्तिम सत्य जड़ पदार्थ ही है। इस सिद्धान्त को जड़वाद या भौतिकवाद कहा जाता है। भारत में चार्वाक इसका सबसे प्रबल समर्थक हुआ।

पश्चिम में लॉक, ह्युम, बेन्थम, सिजविक, न्यूटन, डार्विन, स्पेन्सर, कार्लमार्क्स आदि अनेक भौतिकवादी एवं इन्द्रिय सुखवादी दार्शनिक हुए हैं।

विचारकों का एक दूसरा बड़ा समूह है जो यह मानता है कि सृष्टि का चरम परम सत्य जड़ पदार्थ न होकर चेतन तत्त्व है। इसके समर्थक वेद-उपनिषदों के ऋषि व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, कृष्ण, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, नानक, कबीर, विवेकानन्द, दयानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द, रवीन्द्र, राधाकृष्णन् आदि और पश्चिम में बर्कले, टेलर, लाइबनित्ज, स्पीनोजा, हिगेल, ब्रेडले आदि अनेक विचारक इसके समर्थक हैं। इस सिद्धान्त को अध्यात्मवाद कहते हैं।

अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का तुलनात्मक अध्ययन

भौतिकवाद	अध्यात्मवाद
1. मृत, अजीव, अचेतन।	1. अमृत, सजीव, सचेतन।
2. जड़ अन्य जड़पदार्थों को भी नहीं जानता। एक पत्थर अन्य पत्थरों, हीरों को नहीं जानता-पहचानता। एक मुर्दा अन्य मुर्दों को नहीं पहचानता।	2. चेतन, चेतन एवं अन्य जड़ पदार्थों को जानता है— (क) सब खनिज पदार्थों को मनुष्य ने जाना। (ख) सब रसायन, औषधि, धातु को मनुष्य ने जाना। (ग) सब वनस्पतियों को मनुष्य ने जाना।

	(घ) सब कीट-कीटाणु को मनुष्य ने जाना। (ङ) सब पशु-पक्षी को मनुष्य ने जाना। (च) सब मनुष्यों को मनुष्य ने जाना। (छ) जगत् को मनुष्य ने जाना।
3. जड़ अन्य जड़ों के परस्पर सम्बन्ध को नहीं जानता।	3. चेतन एक जड़ के द्रव्यों, जड़ों से सम्बन्ध को जानता है। पेट्रोल, अग्नि, चूना, हलदी, एसिड-लिटमस।
4. जड़, जड़ तथा चेतन के सम्बन्ध को भी नहीं जानता। खेत मालिक को नहीं जानता।	4. चेतन (क्षेत्रज्ञ) जड़ के साथ चेतन के सम्बन्ध को जानता है।
5. जड़ मालिक को नहीं जानता।	5. चेतन मालिक को पहचानता है।
6. जड़ लक्ष्य को नहीं जानता।	6. चेतन लक्ष्य को पहचानता है।
7. जड़ स्वयं को नहीं जानता।	7. चेतन स्वयं को भी जान सकता है।

इस प्रकार जड़-चेतन दोनों परस्पर एक-दूसरे के विपरीत हैं। अब प्रश्न है कि विश्व में सर्वोच्च सत्ता एक है तो हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि क्या वह जड़ है या चेतन। या तो जड़ चेतन की व्याख्या करे या चेतन जड़ की व्याख्या करे तभी यह फैसला हो सकता है कि दोनों में अन्तिम सत्ता किस-की है? जड़ तो स्वयं ज्ञानशून्य जड़ ही है। वह स्वयं को भी नहीं जानता, अन्य जड़ों को और चेतन को भी नहीं जानता। अतः विश्व की व्याख्या करने में असमर्थ है। चेतन जड़ को भी जानता है, दूसरे चेतन को भी जानता है। जड़ और चेतन के सम्बन्ध को जानता है और स्वयं को जानता है। अतः चेतना ही अन्तिम सत्ता की व्याख्या कर सकती है।

भौतिक दृश्य का अध्ययन करता है अध्यात्मवाद दृष्टा का

अधिकांश वैज्ञानिक अपना चिन्तन भौतिकवाद तक ही सीमित रखते हैं। वे विज्ञान का अध्ययन इस पूर्वाग्रह से प्रारम्भ करते हैं कि जड़ पदार्थ ही परम सत्य है। यदि जड़ परम सत्य है तो वह चेतन की व्याख्या करके दिखाए। इसके विपरीत यदि चेतन ही परम सत्य है तो वह जड़ की व्याख्या करके दिखाये। हम देखते हैं कि जड़ तो स्वयं अपनी ही व्याख्या नहीं कर सकता वो बेचारा चैतन्य की व्याख्या क्या करेगा। दूसरी ओर चेतन समस्त जड़ सृष्टि की, जीव सृष्टि की, नैतिक चेतना, आध्यात्मिक चेतना की व्याख्या करने में समर्थ है। सृष्टि के क्रम विकास में सबसे नीचा स्तर पत्थर या खनिज पदार्थ का होता है। पत्थर में सत्ता है जीवन नहीं, मानसिक चेतना नहीं, तर्क चेतना नहीं, नैतिक चेतना नहीं और

आध्यात्मिक चेतना नहीं है। जब चेतन वैज्ञानिक ने पत्थरों और खनिज पदार्थों का अध्ययन किया तो खनिज जगत् की प्रत्येक वस्तु को नाम मनुष्य ने ही दिया। भिन्न-भिन्न खनिजों का अध्ययन मनुष्य ने ही किया। Geology नामक पूरा विषय चैतन्य मनुष्य ने ही निर्माण किया। उसने खनिजों को धातु-अधातु में बांटा। खनिजों से ऊपर का स्तर वनस्पति का है। वनस्पति की सत्ता है। वनस्पति में सत्ता है। जीवन भी है। इसमें मानसिक चेतना घन सुषुप्तिवस्था में है। तर्क चेतना, नैतिक चेतना और आध्यात्मिक चेतना नहीं है। समस्त वनस्पतियों का अध्ययन, गुण विश्लेषण एवं नामकरण चेतन मनुष्य द्वारा ही हुआ।

वनस्पति जगत् से ऊपर पशु-पक्षी जगत् का स्तर है। इन प्राणियों में सत्ता है, जीवन है, मानसिक चेतना है। किन्तु बौद्धिक-नैतिक और आध्यात्मिक चेतना नहीं है। इन पशु-पक्षियों का अध्ययन भी चेतन मनुष्य ने ही किया।

पशु-पक्षी से ऊपर मनुष्य का स्तर है। जिसमें सत्ता है। जीवन, मानसिक चेतना, बौद्धिक-नैतिक व आध्यात्मिक सब प्रकार की चेतना है। मनुष्य का भी सर्वांगीण अध्ययन चेतन मनुष्य द्वारा ही सम्भव हुआ है। इस प्रकार जब सृष्टि के रंगमंच पर चेतन मनुष्य प्रकट हुआ तो उसकी चेतना के दृष्टिपात मात्र से खनिज, वनस्पति, पशु-पक्षी एवं मनुष्य सबका रहस्य खुल गया। यह अति विचित्र और विस्मयकारी बात है कि जीवित वैज्ञानिक अपनी चेतना के सहारे पत्थर से लेकर मनुष्य तक सारी सृष्टि को जान पाता है किन्तु जिस चेतना के सहारे उसने समस्त जड़ जगत् का अध्ययन किया वह अपने अन्तिम निष्कर्ष में चेतन के स्थान पर जड़ को ही परम सत् घोषित करने लगता है। यदि जड़ सत् होता तो जड़ ही समस्त सृष्टि की व्याख्या कर लेता। तब चैतन्य मनुष्य की आवश्यकता ही न पड़ती और भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के विवाद सिद्धान्त भी न बनते। यदि सृष्टि में मानव चेतना का प्रकाश न हुआ होता तो सृष्टि की क्या दशा होती इसकी कल्पना भी भयावह लगती है। जिस चेतना के सहारे सब कुछ जाना उस चेतना को असत् मानना मानव-जाति की सारी ज्ञानसाधना का घोर तिरस्कार है। यह उस जड़मूर्ख जैसा खेल है जो वृक्ष की जिस टहनी पर बैठा है उसी को काटने में शेखी बघार रहा है। चोर चोरी करते समय, सेंध लगाते समय यह जानने का प्रयास करता है कि घर के लोग जाग रहे हैं या सो गए। यह भी जानने का प्रयास करता है कि आभूषणों का बक्सा किस कमरे में पड़ा है और कौन-सी दीवार अंधेरी गली की ओर लगती है। यह सब उचित जानकारी लेकर ही वह चोरी या सेंधमारी करता है। और कहता है कि उसे किसी ने जाना नहीं। जिस ज्ञान के सहारे वह चोरी, सेंधमारी करता है वह ज्ञान ही तो ब्रह्म है। उससे छिपाकर कोई कर्म कैसे हो सकता है। इसी प्रकार बिना चेतना के खनिज विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान का

अस्तित्व ही न होता। वैज्ञानिक केवल अपनी हठधर्मिता के कारण सारे ज्ञान के मूल चेतन तत्त्व का तिरस्कार कर जड़ को अन्तिम सत्ता मान लेता है। चेतना ही ज्ञान-विज्ञान का मूलस्रोत है। बिना चेतना के सारी सृष्टि शून्य होती। सारे पुस्तकालय एवं विश्वविद्यालय कंगाल ही न होते वरन् उनका अस्तित्व ही न होता। न ज्ञाता होता, न ज्ञान होता, न ज्ञेय होता। न मनुष्य, न पशु-पक्षी न वनस्पति और जड़ पदार्थ भी होता या न होता इसका कोई ज्ञान ही न होता। ऐसे जड़ पदार्थों के मुर्दाघाट का साक्षी कौन होता। वैज्ञानिक जीवित एवं चेतन है और वह चेतना के सूर्य द्वारा सारे विश्व को, जड़-चेतन को प्रकाशित करता है और अन्तिम निष्कर्ष यह निकालने लगता है कि विश्व की अन्तिम सचाई जड़ है। चेतन मानव ही जड़ पदार्थ को जानता है, विश्लेषण करता है। Atom को तोड़ता है और उसके टुकड़े का नामकरण करता है। उसमें से प्रकट होने वाली ऊर्जा का अध्ययन करता है और अन्त में जड़ पदार्थों को ही सृष्टि का स्वामी घोषित कर देता है। यह वैसे ही है जैसे महाभारत के महायुद्ध में 18 अक्षौहिणी सेना को जीतने वाले वीर शिरोमणि की विजय का सारा श्रेय जंगल की उस बांस को दिया जाए जिससे उसका धनुष बना था।

कुछ विचारक सृष्टि की अन्तिम सत्ता का स्वरूप जड़-चेतन दोनों को मानते हैं। यदि सत्तायें दो हैं तो अव्यवस्था फैल जाएगी। यदि एक ही सत्ता में दोनों गुण हैं तो परस्पर विरोधी प्रतीत होंगे। अतः इस समस्या का सुलझाव भी महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में जड़ चेतन की व्याख्या करने में असमर्थ है। जड़ चेतन को पैदा नहीं कर सकता, जान नहीं सकता, उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। इसके विपरीत चेतन जड़ को पैदा करता है, उसे जानता और व्याख्या भी करता है। महामना मालवीयजी के मन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प पैदा हुआ और एक दिन वह चेतन का संकल्प एक विराट् विश्वविद्यालय के रूप में निर्मित हो गया। कोई भी यंत्र बनाने वाला यंत्री, आविष्कार करने वाला आविष्कारक, सुन्दर सृष्टि करने वाला कलाकार, भवन निर्माण करने वाला वास्तुकार पहले अपनी चेतना के सहारे अपने मन में ही रचना करता है और बाद में वही रचना स्थूल पदार्थ के रूप में निर्माण की जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प से सृष्टि का निर्माण होता है। जैसे स्वप्न काल में मनुष्य के संकल्प से नया संसार बन जाता है उसी प्रकार ब्रह्मा के संकल्प से सारी सृष्टि पैदा हो जाती है। जीव का स्वप्न अल्पकालीन है, ब्रह्म का स्वप्न व्यापक है इसलिए सृष्टि अधिक देर तक चलती दिखाई देती है। जैसे सुषुप्तिकाल में स्वप्न सृष्टि लय हो जाती है उसी प्रकार प्रलयकाल में ब्रह्मा की सृष्टि भी लय हो जाती है। यदि ये ठोस पदार्थमयी सृष्टि सदा सत्य होती तब कभी लय हो ही नहीं सकती थी। जैसे स्वप्नकाल में भ्रान्ति होती है वैसे ही अज्ञानग्रस्त जीवों को जाग्रत् काल में भी भ्रान्ति होती है। सेठ अपने विदेश से पढ़कर आने

वाले बेटे के लिए मुम्बई की धर्मशाला में जाता है। बेटे का विमान पहले आ जाने से वह भी उसी धर्मशाला में ठहरा हुआ है। सेठ भी मैनेजर से धर्मशाला में कमरा मांगता है। कमरा खाली नहीं होने से सेठ मैनेजर को मोटी रकम देकर वही कमरा खाली कराता है जिसमें लड़का ठहरा हुआ है। मैनेजर लड़के को ठंड में बाहर निकाल देता है। उससे वहां न्यूमोनियाग्रस्त होकर उसका शरीर शांत हो जाता है। किन्तु उस समय तक सेठ तनिक परवाह नहीं करता। जब बाद में नाम-पते से भेद खुलता है तब सेठ छाती पीटकर पछताता है—हाय! जिस लड़के का प्रेम से स्वागत करने आया था। मैंने उसी को भ्रान्ति में धक्के मारकर निकलवा दिया और उसकी मृत्यु का कारण बना। हमारी मन की भ्रान्ति से ही मित्र-शत्रु का संसार निर्माण होता है। मन की मोह ममता से ही वस्तुओं एवं व्यक्तियों को अपना-पराया मानते रहते हैं। इसी का नाम संसार है। यह संसार हमारी चेतना से ही निर्मित हो रहा है। मन का संकल्प रोकते ही संसार लय हो जाता है।

योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ राम को उपदेश कर रहे हैं—

चित्तमेव ही संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।

अर्थात्, रामजी! राग-द्वेष आदि दोषों से दूषित हुआ यह चित्त ही तो संसार है। एक क्षण के लिए संकल्प रोक कर तो देखो संसार लय है। प्रतिदिन सुषुप्तिकाल में संकल्प रुक जाने से संसार का लय हो जाता है। जाग्रत्काल में पुनः संकल्प-विकल्प बनने से पुनः संसार बन जाता है। सुषुप्ति अवस्था में चित्त का संकल्प-विकल्प रुकने से हमें बड़ा सुख मिलता है। हम अज्ञात रूप में अपनी आत्मा की गोदी में चले जाते हैं और दिन भर के थके-हारे शरीर को नवचेतना, नवप्राण, नवस्फूर्ति मिल जाती है। यह शक्ति कहां से आती है? निश्चय ही किसी जड़ पदार्थ से नहीं। उस काल में न व्यायाम, न भोजन, न औषधि खाते हैं, न ताकत की दवा लेते हैं। वरन् इन सबको त्याग देते हैं। मानव की सारी शक्ति का स्रोत उसकी सुषुप्ति में छिपा पड़ा है। जाग्रत्काल में उस शक्ति का व्यय और क्षय करते हैं। अतः जड़ जगत् में काम के लिए जो शक्ति मिल रही है वह तो हमारे चित्त के शांत होने से ही प्राप्त होती है। सभी ऋषियों, ज्ञानियों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और कर्मवीरों की समस्त कृतियों एवं उपलब्धियों का मूलस्रोत शांत मन की निर्मल चेतना ही है। अतः जड़ और चेतन में से चेतन ही अधिक मौलिक, आधारभूत एवं शक्तिशाली है।

स्वप्नकाल में चेतना मन के अतृप्त संकल्पों की पूर्ति के लिए अपना कल्पना का संसार रचती है। जाग्रत्काल में चेतना राग-द्वेष से दूषित चित्त द्वारा मित्र-शत्रु, अपने-पराये का संसार रचती है। सुषुप्तिकाल में चेतना जाग्रत् के 18 घंटे के परिश्रम के लिए शक्ति उपार्जित करती है।

शांत ध्यानावस्था में चेतना नये रहस्य, नए विचार और नए आविष्कार करने की मानसिक तैयारी करती है। सुषुप्ति में संकल्प-विकल्प रुक जाने से सारा जड़ जगत् लय हो जाता है। समाधिवस्था में चित्तवृत्तियों का निरोध कर देने से बाहर का संसार लय हो जाता है। चेतना पूर्णतया शांत एवं शुद्ध हो जाने से पूर्ण चैतन्य परब्रह्म परमेश्वर की अखण्ड अनुभूति प्राप्त होती है। यही ब्राह्मीस्थिति है।

जिसको मित्र या अपना मानते हैं उसके लिए शक्ति, साधन, धन का व्यय करना पड़ता है। और जिसे शत्रु मानते हैं उसके लिए भी बहुत बड़ा व्यय करना पड़ता है, सेना का व्यय, हथियारों का व्यय, विमानों का व्यय आदि। प्रत्यक्ष युद्ध में एक-दूसरे व्यक्ति या देश के सर्वनाश के लिए मनुष्य अपनी सारी शक्ति और पूंजी स्वाहा करने लग जाता है। जब किसी पंच, पंचायत या विश्व संस्था के द्वारा प्रत्यक्ष युद्ध रोक दिया जाता है तब भी लड़ने वाले व्यक्तियों या राष्ट्रों में मानसिक युद्ध जारी रहता है। इसे शीतयुद्ध या Cold war कहते हैं। इस तरह दिन भर के (संकल्प-विकल्प के) संघर्षों में लगे हुए व्यक्ति के अधूरे संकल्प शय्या में विश्राम करने के समय भी शांत नहीं होते हैं। राष्ट्रों के शीतयुद्ध के समान मन की समरभूमि में स्वप्नों के रूप में आकर अपनी ईर्ष्या-द्वेष की लीला करते रहते हैं। व्यय-पूर्ति का साधन या स्रोत चाहिए। पूर्ति का साधन भगवान् ने यह रखा कि जबरदस्ती चित्त को सुला दिया। जबरदस्ती सुलाने से सुख तो मिला किन्तु उस सुख के स्रोत का ज्ञान नहीं हुआ। यह वैसे ही हुआ जैसे कोई हमारी आंखों पर पट्टी बांधकर किसी अंधेरी कोठरी में ले जाए और वहां हमें चुपचाप बहुत स्वादिष्ट लड्डू खिलाकर वापस पहुंचा दे। हमें लड्डू बहुत मीठा लगा परन्तु लड्डू खिलाने वाले स्रोत हाथ का दर्शन नहीं हुआ। सुषुप्ति काल में सत् और आनन्द की अनुभूति तो होती है किन्तु चेतना के घन-सुषुप्तिवस्था में रहने के कारण उस आनन्दमयी सत्ता का दर्शन नहीं हुआ। सुषुप्ति के आनन्द को जागृत चेतना के साथ भोगना चाहें तो हमें शांत मन से ध्यान, समाधि में बैठने का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान-समाधि के बाद धीरे-धीरे ज्ञान समाधि की अवस्था आ जाती है जिससे मनुष्य की चेतना की तार सदा परम चेतना से जुड़ी रहती है और वह स्थितप्रज्ञ बनकर जीवन के सब कर्तव्य निभाता रहता और बाह्मीस्थिति से भी नीचे नहीं गिरता।

सुषुप्ति तमोगुणी समाधि है। सविकल्प समाधि रजोगुणी समाधि है। निर्विकल्प समाधि सतोगुणी है। क्योंकि उसमें शुद्ध प्रकाश ही आ जाता है। संकल्प-विकल्प शांत हो जाते हैं और योग समाधि वाला अपने कक्ष में बैठकर आंख मूंद करके ही समाधि लगा सकता है। पर ज्ञान समाधिवान जीवन के सब कर्तव्य करता हुआ निरन्तर भगवान् से जुड़ा रहता है। इसे सहज समाधि भी कहते

हैं। सम=भगवान्, धि=बुद्धि अतः भगवान् में बुद्धि लगी रहे सभी कर्तव्यों का पालन भी होता रहे। इस प्रकार सृष्टि का अन्तिम तत्त्व चेतन ही है।

बाहर के स्थूल जगत् और पंच भौतिक संसार को पूर्णतया उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इसे पूर्णतया मिथ्या मान लेने से मानव के पास कर्तव्य और नैतिकता के लिए तर्कसम्मत आधार ही नहीं बचता। इसलिए कुछ दार्शनिकों का यथार्थवादी दृष्टिकोण से आग्रह है कि प्रकृति के पंच भौतिक जगत् को असत् न मानकर सत् माना जाए। इस विषय में जगत् की व्यावहारिक कठिनाई और बात है और दार्शनिक कठिनाई और बात है। जड़ और चेतन दो तत्त्व मानने से सृष्टि में दो अम्ली का दोष हो जाएगा। जड़ जगत् को मिथ्या मानने से नीतिशास्त्र के लिए तर्कसम्मत आधार नहीं बचेगा और नैतिकता आध्यात्मिकता के लिए परम अनिवार्य आधार है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए शंकराचार्य ने व्यावहारिक स्तर और पारमार्थिक स्तर का विचार दिया है। व्यावहारिक स्तर पर जगत् की सत्ता है किन्तु पारमार्थिक स्तर पर केवल शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं बचती है। प्रकृति यदि शक्ति है तो उसे व्यावहारिक सत्ता मानकर उसका सदुपयोग होना चाहिए इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु शक्ति सदा किसी शक्तिमान की शक्ति होती है। प्रकृति पुरुष पर निर्भर है। माया महेश्वर के अधीन है, लक्ष्मी सदा नारायण के चरणों में है। शक्ति शिव की उपासिका है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9/10, गीता

प्रकृति जगत् की रचना करती है किन्तु किसी सर्वशक्तिमान के नियंत्रण में रहकर ही। अतः जिसके वश में प्रकृति भी रहती है उस मायावशवर्ती महेश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानना ही युक्तिसंगत है। प्रकृति को कहीं पुरुष की सहचरी और कहीं उसकी आज्ञावशवर्ती दासी कहा गया है। सम्राट् को छोड़कर दासी की वंदना करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। सती नारी विनय में अपने आपको स्वामी की दासी वर्णन करती है। यदि प्रकृति को परम पुरुष की रानी भी माना जाए तो भी वह रानी के अपने गौरव के लिए राजा के पद पर पूर्णतया अवलम्बित है। रानी राजा के कारण ही रानी है। यदि राजा ही न हो उसे रानी कौन कहेगा। अमेरीका के राष्ट्रपति केनेडी की पत्नी को तभी तक राजकीय सम्मान मिलता था जब तक राष्ट्रपति केनेडी जीवित था। पति के स्वर्गवास के पश्चात् उसे कौन पूछता है। रानी का गौरव राजा के पद पर अवलम्बित है। उसी प्रकार प्रकृति की सत्ता एवं महत्ता परमेश्वर की सत्ता एवं महत्ता पर पूर्णतया अवलम्बित है।

शक्ति और शक्तिमान एक-दूसरे से पृथक् दो अलग तत्त्व नहीं माने जा सकते। नभ से उसकी नीलिमा को अलग कौन कर सकता है, अग्नि से ताप, जल

से शीतलता, आकाश से व्याप्ति अलग हो ही नहीं सकते। अग्नि का ताप अग्नि के ही कारण है, जल की शीतलता जल के ही कारण है। चीनी की मिठास चीनी के कारण ही है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउं सीता राम पद जिन्हहि परमप्रिय खिन्न।।

दो. 18 बालकाण्ड (मानस)

अर्थात् जैसे गिरा (वाणी) और उसका अर्थ दो तत्त्व नहीं, वैसे ही जल और लहर एक-दूसरे से पृथक् नहीं कहे जा सकते। दोनों तत्त्व एक हैं, नाम दो हैं। उसी के समान सीता और राम केवल वाणी में दो नाम हैं तत्त्व से एक ही हैं। मैं उन एकभूत हुए सीताराम को नमस्कार करता हूं जिन्हें खिन्न (दीन दुःखी) लोग बहुत प्रिय हैं। शिव और शक्ति की तात्त्विक एकता दर्शाने के लिए ही कलाकारों ने अर्धनारीश्वर की मूर्तियां बनाई जिसमें एक ही मूर्ति के बायें भाग में शक्ति और दूसरे भाग में शिव को दिखाया गया।

सृष्टि का बहिरंग जड़ है और अन्तरंग चेतन है। स्थूल जड़ है, मूल चेतन है। व्यक्त जड़ है और अव्यक्त चेतन है। देश-काल परिच्छिन्न जड़ है और देश-कालातीत चेतन है। दृश्य जड़ है और द्रष्टा चेतन है। इन्द्रियगोचर जड़ है और इन्द्रियातीत चेतन है। अतः यह सृष्टि और उसका अन्तिम सारतत्त्व चेतन ही है, जड़ नहीं।

प्राचीन विज्ञान का दुराग्रह था कि भौतिक जड़ तत्त्व ही सृष्टि का अन्तिम सार पदार्थ है। पदार्थ की परिभाषा है जो वस्तु जगह घेरती है और वजन रखती है, उसे पदार्थ कहते हैं। आधुनिक विज्ञान ने पदार्थ को Molecule में, Molecule को Atom में, Atom को इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि में तोड़कर यह पाया कि अन्त में पदार्थ न बचकर केवल ऊर्जा ही बचती है। रसेल जैसे प्रखर यथार्थवादी दार्शनिक ने भी कह दिया है कि भौतिकवाद का भवन गिर चुका है। जड़ पदार्थ की जिन ईंटों से भौतिकवाद का भवन खड़ा हुआ था वे ईंटें ही कच्ची प्रमाणित हुई! अतः भौतिकवाद का महल ध्वस्त हो गया है। इसलिए विश्व की अन्तिम सत्ता ऊर्जा शक्ति को मानकर Materialism के स्थान पर Energism का नारा लगाया जा रहा है।

अब उस Energy का स्वरूप क्या है? जड़ है या चेतन। इस पर वैज्ञानिकों में ऊहापोह चल रहा है। रसेल जैसा पुराना भौतिकवादी दुराग्रह के कारण अभी तक उस ऊर्जा को आध्यात्मिक शक्ति तो नहीं मान सका किन्तु वह कहता है यह शक्ति अत्यन्त रहस्यमयी है। जो अभौतिक शक्ति है। सम्भवतः वह जड़-चेतन दोनों से परे है, जिसने जड़ और चेतन दोनों को प्रकट किया है।

रसेल का यह विचार भी नितान्त अनुकूल ही है। जहां तक जड़-चेतन का भेद है वह सीमित जड़ और सीमित चेतन का ही भेद है—इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार सब सीमित चेतना के खेल हैं। परम तत्त्व सच्चिदानन्दघन ब्रह्म जड़-चेतन के द्वन्द्व से परे निर्द्वन्द्व है। साधना की सीढ़ी के रूप में जड़ चेतन का भेद अनिवार्य है। जड़ को छोड़कर चेतन की ओर बढ़ना साधना है, साधना की सिद्धि हो जाने पर यह रहस्य खुलता है कि जिसे हम जड़ समझे बैठे थे वह चेतन की तमोगुणी लीला है। वही आत्मा पत्थर में सो रही है, पेड़ में स्वप्न ले रही है, पशुओं में ऊंघ रही है, मानव में जागृत है। वहां चराचर, स्थावर, जंगम में सारे विश्व में एक ही सत् का दर्शन होता है।

सीयराम मय सब जग जानी
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'
हरिरेव जगत् जगदेव हरिः
साधना में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'
सिद्धि में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा।। 2/218/4, मानस

उमा दारु जोषित की नाईं।
सबहि नचावत रामु गोसाईं।। 4/10/7, मानस

सब करन-करावन आप ही आप। नानक

जिसका अहम् बना हुआ है वह अपने अहंकार से कर्म करता है। अतः वह कर्म के लिए उत्तरदायी है। जिसके कर्तापन के अहंकार का लय भगवान् में हो गया उसे कर्मफल नहीं भोगना पड़ता है। पर जब कर्तापन का अहंकार लय हो जाएगा तब कर्मफल नहीं है। क्योंकि वह भगवान् की प्रेरणा से कर्म करता है।

अहंकार लय करना ही साधना है।

कर्तापन का लय करना ही साधना है।

जैम्स जीन, श्रोडिंजर आदि पश्चिम के चोटी के वैज्ञानिक यह घोषणा करने लगे हैं कि पदार्थ के विश्लेषण से प्रकट होने वाली ऊर्जा का स्वरूप जड़ नहीं वरन् चेतन ही है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान वेदान्त की ड्योढ़ी में चरण रख रहा है। अभी तक वेदान्त मन्दिर के गर्भगृह में नहीं पहुंचा। परम चैतन्य की झलक मिल जाने पर पूरे विज्ञान जगत् का रूपान्तरण हो जाएगा। विज्ञान ही न रहकर दर्शन में परिणत हो जाएगा।

परम सत् ज्ञेय है अथवा अज्ञेय

संशयवाद—कुछ विचारक परम सत्य की सत्ता में ही संशयशील रहते हैं। वे कहते हैं कि अन्ततोगत्वा कोई अविनाशी सत्ता है या नहीं हम यह भी नहीं कह सकते। कठोपनिषद् में नचिकेता के मृत्यु का रहस्य पूछने पर यमराज नचिकेता को समझाते हैं कि इस विषय में देवता भी विचिकित्सा करते रहते हैं। गीता में भी भगवान् ने कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।। 2/29, गीता

अर्थात् कोई इस परम तत्त्व को आश्चर्य से देखता है, कोई आश्चर्य से सुनता है, कोई आश्चर्य कथन करता है किन्तु कोई-कोई सुनकर भी इसको जानता नहीं। परम सत् की सत्ता में संशय करने वाले अलग कोटि के लोग हैं और परम सत् को मानकर उसके गुह्य रहस्य पर विस्मय करने वाले अलग कोटि के हैं। इन्हें विस्मयवादी कहा जा सकता है।

कुछ (लोग) Agnostic अज्ञेयवादी कहते हैं हम जान ही नहीं सकते। फूहड़ अज्ञेयवादी कहते हैं जानते ही नहीं और सूक्ष्म अज्ञेयवादी कहते हैं हम जान सकते ही नहीं।

कुछ लोग परम तत्त्व का शाब्दिक वाचन जानते हैं। उन्हें वेदों के मंत्र कंठस्थ हैं। किन्तु उन्हें सत्य की आध्यात्मिक अनुभूति नहीं हुई है। इनके विषय में स्वयं वेद ही कहता है—जो यह घमण्ड करता है कि मैं जानता हूं, वह नहीं जानता। और जो नम्रतापूर्वक कहता है मैं नहीं जानता, वह जानने का पात्र बन जाता है। वेद में अन्यत्र कहा है—

'यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति'

यदि मनुष्य ने परम तत्त्व को नहीं जाना तो वेद की ऋचा उसका क्या कल्याण करेगी। ऐसे लोगों को ज्ञान दम्भी कहा जाता है। मंत्रों के सूखे शब्द-कलेवर को चबाने से वास्तविक वेद (ज्ञान) का प्रकाश नहीं प्राप्त होता। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

अविज्ञाते परे तत्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।। 61, विवेक चूड़ामणि

अर्थात् जब तक परम तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ तब तक (अज्ञानियों के लिए) शास्त्रों का सारा अध्ययन निष्फल है। जब परम तत्त्व का अच्छी प्रकार ज्ञान हो गया तब (ज्ञानियों के लिए) शास्त्रों के अध्ययन का फिर क्या प्रयोजन? ऐसे ज्ञान गम्भीर लोगों के लिए कहा गया है—

जैसे गधा चन्दन के भार को ढोकर ले जा रहा हो और उससे उसको स्वयं कुछ भी लाभ न हो। इसी प्रकार उत्तम ग्रंथों का बोझा लादे हुए परम तत्त्व के ज्ञान से वंचित ज्ञानदम्भी लोग होते हैं।

योगवासिष्ठ में ज्ञानबंधु शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जानता बहुत कुछ है किन्तु आचरण उसके अनुरूप नहीं करता। आजकल समाज में ऐसे ही लोगों की भरमार है।

ज्ञानपापी शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए उपयोग किया जाता है जो धर्म का शाब्दिक ज्ञान होने पर भी आचरण में अधर्मी होता है।

अज्ञानी और अज्ञेयवादी में अन्तर है। अज्ञानी परम तत्त्व को जानता नहीं पर भविष्यत् में जानने की चेष्टा कर सकता है। वह हताश निराश नहीं होता। अज्ञेयवादी मानता है कि उसे जाना ही नहीं जा सकता। तार्किक अज्ञेयवादी ये मानता है कि उसे तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। बौद्धिक एवं तार्किक अज्ञेयवादी केवल बुद्धि द्वारा जानने के प्रयास में असफल होता है। हिम्मत हार बैठता है। कान्ट ने भी अपनी Critique of pure reason में दर्शाया कि शुद्ध तर्क द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। किन्तु नीतिशास्त्र के लिए ईश्वर की महत्ता मानकर उसने Critique of practical reason ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की है। ज्ञान-साधनावादी वे लोग हैं जो परम तत्त्व को जानने की अनवरत साधना करते रहते हैं। वे सत्य की खोज में कभी कठिनाइयों से निराश और मोह से विचलित नहीं होते। भगवान् गीता में कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। 7/3, गीता

हजारों मनुष्यों में कोई एक ही (मोक्ष रूप) सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है (और उन) प्रयत्न करने वाले सिद्धों (अर्थात् साधकों) में भी कोई एक ही मुझको तत्त्व से (अर्थात् स्वरूपतः) जानता है।

भगवान् गीता में ही अन्यत्र कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। 7/19, गीता

अर्थात् बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान मुझे प्राप्त कर लेता है। इसलिए सच्चा ज्ञानसाधक अनेकानेक जन्मों में साधना करते हुए भी परम सत्य की साधना से विचलित नहीं होता। इसलिए गांधीजी ने कहा है, 'हिन्दुत्व सत्य की अनवरत साधना है।'

ज्ञेयवादी—ऐसे विचारक हैं जो यह मानते हैं कि परम तत्त्व को निश्चय ही जाना जा सकता है। यदि परम तत्त्व अज्ञात भी हो और अज्ञेय भी रहने वाला हो

तब उसके लिए परिश्रमपूर्वक साधना करने का क्या लाभ है। तपस्या निष्काम भले ही हो किन्तु निष्फल नहीं होनी चाहिए। वेद का ऋषि घोषणा करके कहता है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।। 2/5, श्वेता उ.

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। 3/8, श्वेता उ.

अर्थात् हे सब अमृतपुत्रो! सुनो। हे दिव्य धामों के निवासी देवताओ! तुम भी सुनो। मैं उस परम पुरुष को जानता हूं जो सूर्य के तेजस्वी वर्ण का है और अंधकार से नितान्त परे है। गीता में भी भगवान् ने कहा है—

'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं' 13/17, गीता

अर्थात् वह परम तत्त्व ज्ञानस्वरूप है। जानने योग्य है और ज्ञानगम्य है।

भारत के ऋषियों, साधकों और संतों ने उसको जाना है और जानने की स्पष्ट साक्षी भी दी है। रामकृष्ण परमहंस ने नरेन्द्र को असंदिग्ध शब्दों में बताया कि परम तत्त्व को देखा और जाना जा सकता है। स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द, रमण महर्षि, शिवानन्द आदि महापुरुषों को परम सत्य की अपरोक्षानुभूति हुई है। ऐसे भगवत् साक्षात्कारी महापुरुष स्वयं भगवत्स्वरूप ही बन गए। वेद ने कहा है—

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

इसी को तुलसीदासजी ने लिखा—

जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।

परम तत्त्व को जानने के साधन

मानव के पास सबसे प्रथम ज्ञान का साधन ज्ञानेन्द्रियां ही हैं। क्या परम तत्त्व को इन ज्ञानेन्द्रियों से जाना जा सकता है। हम जानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति सीमित है। शरीर में ब्रह्मरंध्र से नीचे उतरने पर सबसे पहली ज्ञानेन्द्रिय चक्षु इन्द्रिय है। इससे हम बहुत दूर की वस्तु को भी मार्ग में बाधा न होने पर देख सकते हैं। सूर्य और चन्द्रमा लाखों मील दूर होने पर भी आकाशमार्ग में बाधा न होने के कारण और बहुत बड़े आकार के होने के कारण दिखाई देते हैं।

धरती पर वस्तुएं छोटी होने के कारण, धरती की गोलाई से हट जाने के कारण मील दो मील के बाद दिखाई नहीं देती। बारीक वस्तु तो पांच-दस फुट से अधिक दूरी से दिखाई नहीं देती। आंख से कम शक्ति वाला इंद्रिय कर्णेन्द्रिय है। इससे 30-35 या 50 फुट तक की ध्वनि सुनी जा सकती है। नाक नीचे स्तर का घ्राणेन्द्रिय है। इससे आठ-दस फुट तक की सुगंधि सूंघी जा सकती है। उससे नीचे रसना इन्द्रिय है इससे होंठ या जिह्वा पर स्पर्श होने पर ही रस का ज्ञान होता है। उससे नीचे त्वचा की इन्द्रिय है। त्वचा के प्रत्यक्ष सम्पर्क से ही गर्मी-सर्दी, कोमल

कठोर आदि का ज्ञान हो सकता है। सभी ज्ञानेन्द्रियां सीमित शक्तिवाली, बहिर्मुखी तथा स्वत: प्रकाशित न होकर पर-प्रकाशित है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां तभी तक काम करती हैं जब तक उनके पीछे मन जागृतावस्था में कार्यशील रहता है। मन के सो जाने पर सब इन्द्रियां स्वस्थ होते हुए भी बेकार हो जाती हैं।

इन्द्रियां शरीर के साथ जन्मती हैं और शरीर के साथ ही वृद्ध एवं बेकार हो जाती हैं और शरीर के मरने के साथ ही मर जाती हैं। अत: ये अनादि-अनन्त विश्व के चरम सत्य को कैसे जान सकती है?

गई पूतरी नौन की थाह समुद्र की लेन,
गल बल वह सिन्धु भई कहे कौन अब बैन।

मरणधर्मा इन्द्रियां, मरणधर्मा शरीर के मृत्युघाट पर अमर वस्तु की क्या खोज कर सकती हैं?

प्रश्न है कि ज्ञाता कौन है? सामान्य व्यक्ति मरणधर्मा मनुष्य को ही ज्ञाता मान लेता है। फिर ज्ञान का साधन क्या है? सामान्य व्यक्ति ज्ञानेन्द्रियों को ही ज्ञान का साधन मान लेता है। फिर प्रश्न है कि खोजना किसे है? खोजना है विश्व की एकमात्र अन्तिम सचाई को।

सामान्य व्यक्ति जो कुछ इन्द्रियग्राह्य है उसे ही ज्ञान मान लेता है। ये ज्ञाता, ये ज्ञेय, ये ज्ञान साधन सब नश्वर ही हैं। यदि एक मुर्दा श्मशान भूमि में मुर्दों की बारात सजाकर सत्य रूपी सती से विवाह रचाने के लिए नश्वर इन्द्रियों का बैंड बजाकर जाए तो उस विवाह में ज्ञान की हलवा-पूरी खाकर अजीर्ण किसके पेट में होगा?

मन इन्द्रियों का राजा है किन्तु स्वयं भी अन्दर की इन्द्रिय है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार अन्त:करण अर्थात् अन्दर की इन्द्रियां हैं। इनसे बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म जानकारी मिलती है। किन्तु यह सब भी नश्वर, सीमित एवं परत:-प्रकाशित हैं। इसका अपना प्रकाश नहीं है। जो मन और बुद्धि स्वयं आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और आगे जगत् को प्रकाशित करते हैं वे अपने मूल को प्रकाशित नहीं कर सकते। कोई भी पुत्र अपने पिता को दूल्हा बने हुए नहीं देख सकता। जो बल्ब विद्युत् से प्रकाशित होकर अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है वह स्वयं विद्युत् को ही प्रकाशित नहीं कर सकता। बुद्धि का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह पहले तर्क कथन के लिए वाक्य को कम से कम तीन भागों में विभाजित करती है—Subject, Predicate और Copula जैसे Man (S) is (C) Mortal (P) फिर संश्लेषण द्वारा उसे एक बनाने की चेष्टा करती है। क्योंकि सत्य परम सत्य अन्ततोगत्वा एक है। एक बार तोड़ने के पश्चात्

जोड़ना असम्भव हो जाता है। बुद्धि स्वयं भी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित है। अतः वह संसार की अपूर्ण वस्तु को ही प्रकाशित करती है। स्वयं आत्मा को, अपने मूल को प्रकाशित नहीं कर सकती।

जब तक ज्ञाता स्वयं अज्ञात है तब तक सब ज्ञान अज्ञान है। अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञाता की परख करना अनिवार्य है। सारा ज्ञान किसी ज्ञाता के साक्ष्य पर ही निर्भर करता है। यदि ज्ञाता विश्वसनीय है तो उसका ज्ञान भी विश्वसनीय है। यदि ज्ञाता ही अविश्वसनीय है तो उसके ज्ञान पर विश्वास कैसे किया जा सकता है। यदि ज्ञाता मूर्ख है तो उसका ज्ञान धोखा है। अमर के ज्ञान के लिए अमर ज्ञाता की आवश्यकता है। मरणधर्मा डॉक्टर यदि अपने साधारण डॉक्टरी थर्मामीटर से सूर्य का ताप मापने के लिए चल पड़े तो सूर्य के ताप के ज्ञान से पहले ही ज्ञाता डॉक्टर और ज्ञान का साधन तापमापक यंत्र दोनों जल जाएंगे। अतः अमर ज्ञान के लिए ज्ञाता भी ऐसा चाहिए जो अमर के ताप, तेज को सह सके और ज्ञान का साधन भी ऐसा चाहिए जो ज्ञान की खोज करते-करते स्वयं ही चटक न जाए। अतः अमर ज्ञान का लक्ष्य भी अमर आत्मा है। उसका सच्चा ज्ञाता भी आत्मा ही हो सकता है। तथा ज्ञान का साधन भी अमर आत्मा के सिवा अन्य कोई नहीं टिक सकता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—ज्ञानम्, ज्ञेयम्, ज्ञानगम्यम्। जब ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी एक परम तत्त्व में लय हो जाती है तभी सृष्टि के चरम परम सत्य का दर्शन होता है।

ज्ञान की महत्ता

वेद ने कहा है—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'

अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव नहीं है। इसका अर्थ है कि कर्मयोगी, भक्तियोगी, राजयोगी सभी को अपने-अपने पथ से विकास करके अन्त में परम तत्त्व का साक्षात्कार करना ही पड़ेगा तभी मुक्ति सम्भव होगी। निष्काम कर्मयोग से चित्त शुद्ध हो जाने पर शुद्ध चित्त में ब्रह्मज्ञान प्रभासित होने लगेगा। भक्तियोगी भक्ति में अपना मन और बुद्धि जब परमेश्वर को चढ़ा देगा तो प्रभु उसे अपनी आत्मा में बसा लेंगे। प्रभु का साक्षात्कार होते ही उसे मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। राजयोगी चित्त की वृत्तियों को रोककर मन की तार परम चैतन्य परमेश्वर से जोड़ेगा। तब उसके अन्तर में प्रभु का प्रकाश जगमगा उठेगा। परम सत्य का रहस्य खुल जाने पर वह मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार सब मार्गों का अन्तिम फल ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश है और उसका फल मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। भगवान् शंकराचार्य तो भक्ति की भी ज्ञानपरक व्याख्या करते हुए कहते हैं—

स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते। वि.चू., 32

अर्थात् अपने स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति कहलाती है। अनन्य भक्ति में प्रभु को अपना आत्मा मानकर ही पूजा जाता है। इसी को गीता में भगवान् ने सर्वोच्च भक्ति कहा है। अत: सर्वोच्च भक्ति ज्ञानस्वरूपा अथवा ज्ञानाश्रयी भक्ति बन जाती है। प्रेमाश्रयी भक्ति में भी ज्ञान का संयोग अनिवार्य है।

(ख) गीता में भगवान् ने स्वयं अपने मुख से ज्ञान की बड़ी महिमा गायी है। भगवान् गीता में कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। 4/38, गीता

अर्थात् ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु सारे त्रिभुवन में दूसरी नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञान का ही दूसरा नाम है—सत्य। चाहे सत्य को ज्ञान का फल मानें। ज्ञान का समानार्थक शब्द सत्य—दोनों का भाव एक ही है। परमेश्वर को ज्ञान स्वरूप कहें या सत्यनारायण अर्थ एक ही होता है। वेद ने कहा है प्रज्ञानम् ब्रह्म अर्थात् ज्ञान ही ब्रह्म है। वेद में ही अन्यत्र कहा है सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म। अर्थात् सत्य और अनन्त का ज्ञान का नाम ही ब्रह्म है। ब्रह्म से अधिक पावन और क्या हो सकता है। वास्तव में वही एकमात्र पावन तत्त्व है। उसके अतिरिक्त जो कुछ है सब अपावन ही अपावन है। मनुष्य के पास पवित्रता के पांच बड़े साधन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश हैं। वह मिट्टी से अंग एवं बर्तन मांजता है। किन्तु मिट्टी असंख्य कीड़ों का वास स्थान है। असंख्य लोगों की पदचाप से कुचली जाती है। मल-मूत्र, थूक खंखार सभी इसी में मिल जाते हैं। मुर्दे इसी में गाड़े जाते हैं। कुछ वर्षों के बाद वह शव भी मल यानी मिट्टी हो जाते हैं। अत: मिट्टी को पूर्ण शुद्ध नहीं माना जा सकता। ऐसे ही जल में असंख्य जीवों का वास है। जन्म से मृत्यु की लीला जल में ही सम्पन्न होती है। मनुष्य भी अपनी सारी गन्दगी जल में डालता है। अग्नि मल को, उच्छिष्ट को भी जलाती है। वायु में अनेकों विषैली गैसें मिली होती हैं। इस प्रकार मिट्टी की तरह ही जल, अग्नि, वायु, आकाश को परम पावन शुद्ध, पवित्र नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार सारी सृष्टि में सबसे पावन, सबसे शुद्ध-विशुद्ध-परिशुद्ध कुछ है तो ब्रह्मज्ञान ही है। इसलिए पवित्रीकरण के मंत्र में कहा जाता है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
य स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।।

अर्थात् मनुष्य पवित्र हो अथवा अपवित्र किसी भी अवस्था में हो जो पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु का स्मरण करता है, वह अन्दर और बाहर से पवित्र हो जाता है।

(ग) भगवान् गीता में कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 4/36, गीता

हे अर्जुन! यदि तू सब प्राणियों से बढ़कर सबसे बड़ा पापी भी क्यों न हो तब भी ज्ञान की नौका पर बैठकर तू सब पापों से तर जाएगा। इस प्रकार ज्ञान संसार के बड़े से बड़े पापियों को भी तारने में समर्थ है। ज्ञान की महिमा का इससे बड़ा घोषणापत्र और क्या हो सकता है। इसका रहस्य यह है कि रात्रिकाल के करोड़ों योजन दूरी तक फैले हुए अंधकार को न झाड़ू-बुहारी से हटाया जा सकता है न तलवार से काटा जा सकता है। न तोपों से उड़ाया जा सकता है। न अन्य किसी उपाय से हटाया जा सकता है। किन्तु सूर्य के प्रकाश की प्रथम किरण के स्पर्श मात्र से ही वह करोड़ों योजन तक फैला हुआ भयानक काला अंधकार लवमात्र में ऐसा लुप्त हो जाता है कि उसका कोई चिह्न भी शेष नहीं बचता है। इसी प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य की एक हलकी-सी किरण छू जाने से समस्त पाप लुप्त हो जाता है। पाप मानव जीवन का मौलिक अंग नहीं है। यह आरोपित मात्र है। आगन्तुक है।

वेदान्त के अनुसार पाप वास्तव में एक भूल मात्र है। भूल का सुधार होते ही पाप नष्ट हो जाता है। उसमें देरी लगने का कोई प्रश्न ही नहीं। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने से ही पाप ताप को भोगने लगता है। स्वरूप का ज्ञान होते ही वह सत् कोटि जन्मों के पाप-ताप से तर जाता है।

शेर का बच्चा सियार समूह में फंस जाता है, उन्हीं के समान व्यवहार करने लगता है। किन्तु अपने स्वरूप का बोध होते ही वह निर्भय होकर गरजने लगता है।

गीता में भगवान् ने काम, क्रोध और लोभ को पाप के सबसे बड़े कारण बताये हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16/21, गीता

हे अर्जुन! नरक के तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इनको त्याग दो।

अन्यत्र भगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। 3/37, गीता

अर्थात् काम और क्रोध रजोगुण से पैदा होने वाले भयंकर राक्षस हैं जो मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करते हैं। आगे सबसे बड़ा काम को ही पाप का कारण बतलाते हुए कहते हैं—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 3/43, गीता

हे अर्जुन! तुम इस कठिनता से विजय होने वाले महाशत्रु को मार डालो। काम की पूर्ति से लोभ बढ़ता है और कामपूर्ति में बाधा आने से क्रोध बढ़ता है। इसलिए सब पापों का मूल कारण काम ही है। कामना अज्ञान से पैदा होती है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को जान ले तो उसे ज्ञात हो जाए कि वह दुनिया के द्वार पर भीख मांगने वाला भिखारी नहीं है वरन् स्वयं सृष्टि का चरम परम सत्य है। तब उसके मन में क्षुद्र कामनाओं के लिए स्थान कहां बचता है? कामनाएं शरीर और मन की हैं। आत्मा पूर्णकाम, आप्तकाम है। अतः आत्मज्ञान के बाद काम बच ही नहीं सकता। तब कामना से प्रेरित होकर पाप नहीं हो सकता। कामना के न रहने से लोभ, क्रोध का स्थान ही नहीं। इस प्रकार ज्ञान होते ही मनुष्य जन्म-जन्म के पाप-ताप से तर जाता है।

मनुष्य को अपने लिए किए हुए कर्मों का फल तभी तक भोगना पड़ता है जब तक उसका पृथक् कर्तापन का अहंकार बना हुआ है। अहंकार के लय होने पर ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनेगा और ब्रह्मज्ञान के आते ही अहंकार का नाश हो जाएगा। और अहंकार के नाश होते ही कर्मों का लेखा-जोखा समाप्त हो जाएगा। स्वामी रामतीर्थ इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त देते हैं। एक गरीब कृषक ने एक सेठजी से कई बार कर्ज लिया। पर कर्ज चुकाने में असमर्थ था। तब सेठजी ने कृपापूर्वक कहा—कर्जे की एक लाइन माफ कर सकता हूं। कोई भी एक लाइन काट दो। तो कर्जदार ने अपने नाम की लाइन काट दी। और सेठ ठगा-सा रह गया। ऐसे ही कर्म करके कर्तापन को हटा देवें। अहंकार की लाइन काट दो तब कर्म का सारा लेखा-जोखा समाप्त हो जाएगा।

गीता के नवम् अध्याय में ऐसी घोषणा पुनः करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। 9/30, गीता

अर्थात् हे अर्जुन! यदि कोई बड़े से बड़ा दुराचारी अनन्यभाव से भजन करे तो वह सम्यक् व्यवस्थित साधु ही माना जाना चाहिए।

आगे भगवान् पुनः कहते हैं कि—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' 9/31, गीता

वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है। इसका अर्थ यह है कि पाप मानव पर बाहर से आरोपित एक भूल या भ्रान्ति का खेल है। यह उसके व्यक्तित्व का अंग नहीं। यदि पाप व्यक्तित्व का स्थायी अंग बन जाता तो हृदय परिवर्तन के चमत्कार से रत्नाकर डाकू कभी महर्षि वाल्मीकि नहीं बन सकता था। न ही बिगड़ा हुआ

वैश्य पुत्र विश्ववंद्य महात्मा बन सकता था। न चण्ड अशोक महान् अशोक बन सकता था।

(ङ) ज्ञानी भक्त की सर्वोपरि श्रेष्ठता—गीता में भगवान् ने भक्तों की चार कोटियां गिनाई हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन सबमें भगवान् ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं। भगवान् इतना तक कहते हैं—

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' 7/18, गीता

ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है।

(च) ज्ञान कर्मों के बंधन को भस्म कर देता है। भगवान् गीता में कहते हैं—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। 4/19, गीता

अर्थात् ज्ञान की अग्नि से जिनके कर्म जल चुके हैं उन्हीं को ज्ञानी लोग सच्चा पंडित मानते हैं। वास्तव में जैसे ऊपर बताया गया है कर्म का बंधन तभी तक रहता है जब तक कर्तापन का अहंकार रहता है। इसलिए सच्चा ज्ञान होते ही कर्मों का खाता जल जाता है।

गीता में ज्ञानी ऋषियों की महिमा में भगवान् ने एक दूसरा विशेषण प्रयोग किया है—

'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।' 5/17, गीता

अर्थात् ज्ञान द्वारा जिनके मन का कलुष, कल्मष धुल चुका है।

ज्ञान साधना

गीता ब्रह्मविद्या है। अतः यह ब्रह्मज्ञान का ही आख्यान है। भगवान् शंकराचार्य एवं संत ज्ञानेश्वर, मधुसूदन सरस्वती एवं स्वामी चिद्घनानन्द ज्ञानयोग को ही गीता का मुख्य उपदेश बताते हैं। अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए भगवान् ने सबसे प्रथम आत्मज्ञान का ही उपदेश दिया। यदि कर्म या उपासना उनका सर्वोपरि श्रेष्ठ संदेश होता तो सबसे प्रथम उसी का निर्वचन करते।

द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ दर्शन का निरूपण कर ब्राह्मीस्थिति का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया। महाभारत के अठारह पर्वों का सार गीता के 18 अध्यायों में और गीता के 18 अध्यायों का सार स्थितप्रज्ञ के 18 श्लोकों में केन्द्रित है और यह स्थितप्रज्ञ दर्शन ज्ञानयोग का विषय है। कर्म या उपासना का नहीं।

तीसरे अध्याय में ज्ञान और कर्मयोग दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें लोकसंग्रह के लिए कर्म करने का उपदेश अवश्य दिया गया है किन्तु ज्ञानयुक्त कर्म को ही यज्ञ कर्म या निष्काम कर्म कहकर उसकी प्रशंसा की गई है। तीसरे अध्याय के अन्त में भगवान् कहते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। 3/43, गीता

इस अध्याय का नाम कर्मयोग है पर निष्कर्ष में भगवान् कहते हैं बुद्धि से परे सबसे सूक्ष्म, शक्तिमान एवं श्रेष्ठ आत्मा को जानकर मन को वश में करके हे महाबाहो! आत्मज्ञान द्वारा इस दुर्जय काम रूप शत्रु को मार दो। यहां भी कर्मयोग का अन्तिम निष्कर्ष ज्ञानयोग में निरूपित किया गया है।

चौथे अध्याय में भगवान् अपने दिव्य कर्म और अवतार सिद्धान्त का रहस्य बताते हैं और सच्चे पंडित का लक्षण बताते हुए कहते हैं—ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके कर्म जल चुके हैं वही सच्चा पंडित है। पुनः कहते हैं आसक्ति रहित ज्ञान में स्थित हुए चित्त वाले, यज्ञमय जीवन बिताने वाले मुक्त पुरुष के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर भगवान् ब्रह्म कर्म का निरूपण करते हैं। जिसमें ब्रह्म ही अर्पण है, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही आहुति देने वाला है। उसका लक्ष्य भी ब्रह्म ही है। और इस प्रकार समस्त कर्म ब्रह्म रूप हो जाते हैं। फिर भगवान् देव यज्ञ, ब्रह्म यज्ञ की चर्चा करते हैं। ब्रह्मयज्ञ ज्ञानयज्ञ ही है। फिर भगवान् कहते हैं आत्मसंयम रूपी अग्नि ज्ञान से प्रकाशित है। योगी अपनी इन्द्रियों और प्राण की समस्त चेष्टाओं को हवन कर देता है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। 4/27, गीता

फिर भगवान् स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ की चर्चा करते हैं। फिर ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ निरूपित कर कहते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। 4/33, गीता

अर्थात् द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है तथा समस्त कर्म अन्ततोगत्वा ज्ञान में ही लय हो जाते हैं। फिर भगवान् ज्ञान की नौका से सब पापों से तर जाने की बात समझाते हैं। फिर कहते हैं जिस प्रकार अग्नि बड़े से बड़े ईंधन को पलभर में भस्म कर देती है ज्ञानाग्नि सब कर्मों को उसी प्रकार जला देती है। सब कर्म द्वैत में होते हैं, अद्वैत का बोध होते ही द्वैत की सारी कर्म सृष्टि उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जैसे नेत्र खुलते ही स्वप्न की सारी सृष्टि पल भर में लुप्त हो जाती है। इस ज्ञानकर्मसंन्यास रूपी चौथे अध्याय के निष्कर्ष में भगवान् कहते हैं जो आत्मवंत है और ज्ञान संच्छिन्न संशय है उसे कोई भी कर्म नहीं बांध सकते हैं।

तीसरे अध्याय के निष्कर्ष चौथे अध्याय में दोहराते हुए पुनः भगवान् कहते हैं—

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। 4/42, गीता

ज्ञान रूपी तलवार को उठाकर काम रूपी शत्रु को मार डालो। जिस प्रकार प्रकाश की पहली किरण ही करोड़ों योजन मील तक फैले हुए अंधकार का कलेजा चीर डालती है उसी प्रकार ज्ञान रूपी शस्त्र अज्ञानजनित काम, क्रोध आदि शत्रुओं का कलेजा चीर देता है।

पांचवें अध्याय का नाम कर्मसंन्यासयोग है। कर्मयोग प्रवृत्ति मार्ग और संन्यास ज्ञानयोग समर्थित निवृत्ति मार्ग है। भगवान् दोनों की अन्तर्भूत एकता निरूपित करते हैं। भगवान् कहते हैं जो किसी से द्वेष नहीं करता और आकांक्षा भी नहीं रखता वह नित्य संन्यासी है। आसन्न संन्यासी और वेश संन्यासी तो बहुत हैं किन्तु जो ज्ञान में स्थित होकर काम (आकांक्षा), क्रोध (द्वेष) से मुक्त हो जाता है वह नित्य संन्यासी बन जाता है। जब सब कुछ मैं हूं सब मेरी ही विभूति है तो मैं कामना किसकी करूं? और क्रोध किस पर करूं?

ज्ञेयः स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। 5/3, गीता

नित्य वस्तु के प्रति जिसने अपने जीवन का अच्छी प्रकार से न्यास कर दिया है वह नित्य संन्यासी है। ज्ञानी कर्मों में लिपायमान नहीं होता—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 5/7, गीता

क्योंकि वह सर्वभूतात्म भूतात्मा बन जाता है। अर्थात् वह विश्व रूप बन जाता है। ज्ञानी ब्रह्म के समर्पित कर्म करते हुए उसी प्रकार पाप से लिपायमान नहीं होता जैसे पद्मपत्र जल में रहते हुए भी जल से लिपायमान नहीं है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। 5/10, गीता

अज्ञान से ज्ञान पर परदा पड़ जाता है। इसी कारण जीव मोहित हो जाते हैं।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। 5/15, गीता

जिनका अंत:करण का अज्ञान आत्मज्ञान के द्वारा नाश हो गया है उनका वह ज्ञान सूर्य के समान ब्रह्म को प्रकाशित करता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।। 5/16

फिर कहते हैं जिनकी बुद्धि भगवान् से तद्रूप है, मन उसी में लगा है, उसी में निष्ठा और उसी के परायण है, ज्ञान द्वारा जिनके पाप धो दिए गए हैं वे

पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होकर परमगति को प्राप्त करते हैं। सच्चा ज्ञानी विद्या, विनय, सम्पन्न ब्राह्मण, गो, हाथी, चाण्डाल, सबमें एक ब्रह्म का ही दर्शन करता है। इस अध्याय के अन्तिम निष्कर्ष में भगवान् पुनः ज्ञान की महत्ता ही सिद्ध करते हैं—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। 5/28, गीता

अर्थात् यज्ञों, तपस्याओं का भोक्ता सर्वलोक महेश्वर सब भूतों के सुहृद (मित्र) मुझ आत्मा को जानकर जीव परमशान्ति को प्राप्त करता है।

छठे अध्याय का विषय आत्मसंयमयोग है। इसमें भगवान् कहते हैं जो सर्व संकल्प संन्यासी है वही योगारूढ कहा जाता है। ऐसा योगी ज्ञान योगी ही है। आत्मा की महत्ता दर्शाते हुए भगवान् कहते हैं स्वयं आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार करो।

जो ज्ञान विज्ञान तृप्त आत्मा है, जो आत्मस्थित है, जितेन्द्रिय है, वह सोने और मिट्टी में सम दृष्टि रखता है। रामकृष्ण परमहंस देव गंगा के किनारे बैठ सोना-माटी, माटी-सोना कहकर दोनों को नदी में फेंक देते थे।

जो हितात्मा और प्रशांत है उसके ज्ञान में परमात्मा अच्छी प्रकार से स्थित है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।। 6/7, गीता

जब साधक आत्मा से आत्मा का ही दर्शन करता है तो वह बहुत ही आनन्दित होता है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। 6/20, गीता

मन आत्मा के वश में स्थित हो जाता है तब वह अन्य किसी वस्तु का चिंतन नहीं करता।

सबसे श्रेष्ठ योगी वही है जो प्रत्येक परिस्थिति में सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन करता है।

इस अध्याय के निष्कर्ष में भगवान् योगी को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए योगियों में सर्वश्रेष्ठ उसको मानते हैं जो श्रद्धापूर्वक अपना अन्तरात्मा भगवान् में लगाए रहता है।

सातवें अध्याय का नाम ही ज्ञान विज्ञान योग है।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन! मैं तुझे ज्ञान विज्ञान के सहित कहूंगा जिसको जानकर शेष कुछ भी जानने योग्य नहीं बचता।

मैं सारे जगत् का प्रभव और प्रलय हूं।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। 7/6, गीता

मेरे अतिरिक्त सारे विश्व में और कुछ भी सत्ता नहीं है। सब कुछ मेरे में वैसे ही पिरोये हुए हैं जैसे सूत की माला में सूत के मनके पिरोये हुए होते हैं। इसका अर्थ है कि भगवान् सृष्टि के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7/7, गीता

बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूं। मेरी दैवीय गुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं वे इस माया को तर जाते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 7/14, गीता

चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त नित्य युक्त होने के कारण सबसे उत्तम है।

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' 7/18, गीता

ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है।

'वासुदेवः सर्वमिति।' (7/19, गीता) की स्थिति में रहता है।

इस अध्याय के निष्कर्ष में भगवान् कहते हैं जो पुरुष अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ सहित सबका आत्मरूप मेरे को जानते हैं वे अन्त काल में भी मुझे ही जानते हैं तथा प्राप्त करते हैं—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।। 7/30, गीता

आठवें अ. का नाम ही अक्षरब्रह्म योग है। यह तो ज्ञानयोग का ही विषय है। भगवान् ओम् का एक रूप ब्रह्म की महत्ता बताते हैं। ब्रह्म लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्त्ती हैं किन्तु मुझे प्राप्त होने के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता।

नवम् अध्याय राजविद्या राजगुह्य है। सब विद्या की सर्वोपरि श्रेष्ठ विद्या तो ब्रह्मविद्या ही है। और सब रहस्यों का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि सारी सृष्टि का स्वामी विश्व का चरम परम सत्य परब्रह्म परमेश्वर हमारा अपना आप (आत्मा) है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। 9/15, गीता

22वें श्लोक में भगवान् आश्वासन देते हैं कि जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं उनके योगक्षेम को स्वयं मैं वहन करता हूं।

देवताओं के उपासक देवताओं को, पितरों के उपासक पितरों को, भूतों के उपासक भूतों को प्राप्त होते हैं। और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं।

मैं सब भूत प्राणियों में सम हूं। मेरे लिए कोई भी राग अथवा द्वेष का पात्र नहीं है। जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं मैं उनमें निवास करता हूं वे मुझमें निवास करते हैं। यदि कोई दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भजन करे तो वह तुरन्त साधु या सज्जन बन जाता है।

अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। 9/34, गीता

अर्थात् हे अर्जुन! तू मन को मेरे में लगा। मेरा भक्त बन। मेरा ही यज्ञ, मुझे ही नमन कर। इस प्रकार मेरे से जुड़ा हुआ मेरे परायण हुआ मेरा आत्मा बनकर मुझे ही प्राप्त होगा।

10वां अध्याय विभूति योग है। इसमें भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। 10/8, गीता

मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूं, मेरे से ही सारी सृष्टि प्रवर्तित होती है। बुद्धिमान ऐसा मानकर मुझे निरन्तर भजते हैं। भगवान् कहते हैं ऐसे भक्तों को मैं तत्त्वज्ञान रूपी योग (ज्ञानयोग) देता हूं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। 10/10, गीता

मैं उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ भागवत ज्ञान दीप द्वारा उनके अज्ञान जनित अंधकार को नष्ट करता हूं।

पुनः आत्मज्ञान का निरूपण करते हुए कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10/20, गीता

भगवान् सबके हृदय में स्थित आत्मा हैं। यह शुद्ध वेदान्त का ज्ञान है।

39वें श्लोक में भगवान् कहते हैं सब भूतों का बीज मैं ही हूं। और चराचर में से कुछ भी मेरे रहित नहीं है। इस अध्याय के निष्कर्ष को अन्तिम श्लोक में भगवान कहते हैं—मैं सम्पूर्ण विश्व को अपनी योगमाया के अंश मात्र से धारण किये रहता हूं।

11वां अध्याय विश्वरूप दर्शन है। इसमें सारे विश्व के कण-कण में परमेश्वर की व्याप्ति का दिव्य दर्शन है

निष्कर्ष में भगवान् कहते हैं इस रूप का दर्शन न वेदों से प्राप्त होता है। न तप से, न दान से, न यज्ञ से। यह तो केवल अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है। अनन्यता का भाव सारे विश्व में प्रभु के सिवा कुछ है ही नहीं। और निखिल सृष्टि के स्वामी प्रभु मेरे से अन्य, मेरे से पराये अथवा मेरे से पृथक् अन्य सत्ता वाले नहीं हैं। दूसरे शब्दों में प्रभु मेरे आत्मदेव हैं। और ये आत्मा ही परमात्मा है। यह ज्ञान की ही स्थिति है।

12वां अध्याय भक्तियोग है। किन्तु इसमें भी जो भक्त के लक्षण हैं वे ज्ञानी के लक्षणों से मिलते जुलते हैं। जैसे अद्वेष्टा (द्वेष रहित होना), निर्ममो-निरहंकार (अहंता और ममता) का नाश तो ज्ञान से होता है। मित्र-शत्रु, निन्दा-स्तुति में समान (स्थितप्रज्ञ के लक्षण ज्ञान सम्मत है)।

13वां अध्याय क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग है। इसमें शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ बताया गया है। इसमें ज्ञान के लक्षणों का अत्यन्त सुन्दर विवेचन है।

मान रहित होना, अहिंसा, शान्ति, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धि, स्थिरता, मन का निग्रह, भोगों में वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि में दु:ख दोषों का विचार। घर के जंजाल में आसक्ति का अभाव, प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में चित्त का सम रहना, अनन्य योग से और विचलित न होने वाली भक्ति से अनन्य एकांत और शुद्ध देश में निवास, भोगी जनों से विरक्ति। अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञान के लक्ष्य परमेश्वर का दर्शन—ये सब ज्ञान है। इसके विपरीत सब अज्ञान है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। 13/17, गीता

ज्योति की ज्योति परम ज्योति, अंधकार से नितान्त परे है। वह ज्ञान स्वरूप है। वह ज्ञेय भी है। वह ज्ञान के द्वारा ही जानने योग्य है और सबके हृदय में प्रतिष्ठित है।

इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् कहते हैं जो पुरुष ज्ञानचक्षुओं द्वारा तत्त्व को जानते हैं वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

14वें अध्याय में गुणत्रय विभाग का वर्णन है। किन्तु भगवान् प्रारम्भ में ही कहते हैं—

ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। 14/1, गीता

ज्ञानों में सबसे उत्तम ज्ञान हूं।

सब योनियों में माया तो गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापन करने वाला पिता हूं। सत्त्वगुण निर्मल प्रकाश दाता और अनामय है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।। 14/11, गीता

जिस काल में देह तथा समस्त इन्द्रियों एवं अन्तःकरण में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है उस काल में सत्त्व गुण बढ़ा हुआ होता है। सत्त्व गुण से ही ज्ञान पैदा होता है।

'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं।' 14/17, गीता

ज्ञानी पुरुष साक्षी रूप होकर गुणों का खेल देखता हुआ गुणों से विचलित नहीं होता।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।। 14/23, गीता

अध्याय के अन्तिम श्लोक में पुनः ज्ञान की प्रतिष्ठा करते हुए भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। 14/27, गीता

ब्रह्म का, अमृत का, नित्य धर्म अखण्ड आनन्द का आश्रय मैं ही हूं।

15वें अध्याय को पुरुषोत्तम योग कहते हैं। इसमें पुरुषोत्तम तत्त्व सृष्टि के सर्वोत्तम सत्य की मीमांसा है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। 15/5, गीता

जो अध्यात्म का साधक कामना रहित होकर मान मोह से मुक्त हो, संग-दोषों को जीतकर, द्वन्द्वों से छूटकर अमूढ़ (मूढ़ रहित) ज्ञानी है वह अव्यय पद को प्राप्त करता है। उस अव्यय पद की व्याख्या छठे श्लोक में की गई है। ज्ञानयोग का एक अमर कथन भगवान् 15वें अ. के 15वें श्लोक में प्रस्तुत करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। 15/15, गीता

मैं ही सबके हृदय में विराजमान हूं। मेरे से ही सब स्मृति ज्ञान और अपोहन होता है। सब वेदों द्वारा जपने योग्य मैं ही हूं। मैं ही वेदान्त का कर्ता और वेदों का ज्ञाता हूं। क्षर और अक्षर से परे जो उत्तम पुरुष है वह पुरुषोत्तम परमात्मा ही तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है। अध्याय के अन्त में भगवान् पुनः ज्ञान की महत्ता ही सिद्ध करते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। 15/20, गीता

हे निष्पाप अर्जुन! मैंने तेरे को सबसे गोपनीय शास्त्र बताया। जिसको जानकर तू बुद्धिमान, ज्ञानी और कृत-कृत हो जाएगा।

16वें अध्याय में देवासुर सम्पद का वर्णन करते हुए जिन दैवी गुणों का वर्णन किया गया है वे 14वें अध्याय के ज्ञान के लक्षणों तथा दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ के लक्षणों से बहुत मिलते-जुलते हैं। प्रथम श्लोक में ही भगवान् कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।। 16/1, गीता

इसमें अन्य गुण तो ज्ञान के पोषक हैं किन्तु ज्ञानयोग व्यवस्थिति तो साक्षात् ज्ञानयोग ही है। अतः ज्ञानयोग द्वारा मनुष्य में देवताओं के लक्षण प्रकट होते हैं। इस अध्याय के अन्त में भगवान् कहते हैं 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' अर्थात् इस विषय में शास्त्र तेरा प्रमाण है।

17वां अध्याय श्रद्धात्रयविभाग योग है। श्रद्धा भक्ति योग का पोषक तत्त्व है। इस अध्याय में भी 23वें श्लोक में ओम्तत्सत् की व्याख्या ज्ञान योग का विषय है। 26वें श्लोक में कहा गया है कि सत् शब्द परमात्मा का नाम, सत्य भाव अटल सत्ता और श्रेष्ठ भाव के लिए प्रयोग होता है। सत् वह है जिसकी सत्ता सदा बनी रहे। वही चरम परम सत्य है। दूसरे अध्याय में भगवान् सत्-असत् की कसौटी बता चुके हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। 2/16, गीता

मोक्ष संन्यास योग गीता के राज भवन का स्वर्ण कलश है। 18वें अध्याय के 18वें श्लोक में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिगुणमयी व्याख्या है। सात्त्विक ज्ञान का लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। 18/20, गीता

जो सब भूतों में एक अव्यय अविनाशी भाव को देखता है और नाम-रूप में विभक्त वस्तुओं में भी एक ही अविभक्त सत्ता को देखता है वही ज्ञान सात्त्विक है।

जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं एवं व्यक्तियों को नाम-रूप में बंटा हुआ देखता है वह ज्ञान राजस है।

जो शरीर में ही पूर्ण आसक्त है और इसी को ही सर्वस्व मान बैठा है। वह ज्ञान तामस है।

श्लोक 54 में ब्रह्मभूत ज्ञानी पुरुष का विवेचन करते हुए भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। 18/54, गीता

अर्थात् ज्ञानी पुरुष ब्रह्मभूत हो जाता है। इसका लक्षण यह है कि सदा प्रसन्नात्मा रहता है। जिसका लक्षण यह है कि वह कभी भी शोक नहीं करता। शोक क्यों नहीं करता? इसलिए कि वह कोई आकांक्षा ही नहीं करता है। वह सब भूतों में सम यानी ब्रह्म को देखता है इसलिए मेरी पराभक्ति (भक्त-भगवान् की एकता वाली) को प्राप्त करता है।

अध्याय के 61वें श्लोक में कहते हैं ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है। 62वें श्लोक में कहते हैं—हे अर्जुन! सर्वभाव से उसी के शरण में जाओ। 63वें श्लोक में कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। 18/63, गीता

यह मैंने गोपनीय में परम गोपनीय ज्ञान सुना दिया। इस पर अच्छी प्रकार विचार करके तेरी जैसी इच्छा हो वैसे कर। फिर कहते हैं कि सबसे परम रहस्य युक्त वचन को तू फिर सुन, मेरे मैं मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरे लिए यज्ञ कर, मेरे को नमस्कार कर। मैं तेरे प्रति सच्ची प्रतिज्ञा करता हूं कि तू मेरे को ही प्राप्त होगा।

अन्तिम श्लोक में भगवान् आह्वान करते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66, गीता

अर्थात् हे अर्जुन! तू समस्त इन्द्रियों के धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ जा। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा। तनिक भी चिन्ता मत कर, शोक मत कर। इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं, बाहर के विषयों को भोगना ही उनका धर्म है। मन चंचल होने के कारण इन्द्रियों के भुलावे में आकर भोगों की ओर ही अग्रसर

होता है। ऊपर के श्लोक में भगवान् कह चुके हैं **'मन्मना भव'** अर्थात् मन को मेरे में लगा दो। यदि इन्द्रियां बाहर के विषयों को देखने, सूंघने, चखने, भोगने के प्रकृत कार्यों में लगी रहेगी तो मन पुनः भटक कर उन्हीं के मार्ग पर चलने लगेगा। इसलिए भगवान् कहते हैं कि समस्त इन्द्रियों के धर्मों का त्याग करके तू मेरी शरण में आ जा। जो इन्द्रिय धर्मों में ही फंसा हुआ है वह भोगी है और जो इन्द्रियों के धर्मों को त्याग कर एकमात्र परमसत्ता की शरण में जाता है वह सच्चा योगी है। परम तत्त्व के दर्शन से जीव सब शोकों से मुक्त होकर मोक्षलाभ करता है। इस प्रकार गीता में प्रारंभ से अन्त तक ब्रह्मज्ञान का ही सविस्तार निरूपण है। भगवान् स्वयं गीता में ही कहते हैं **'अध्यात्मविद्या विद्यानां।'** अर्थात् मैं सब प्रकार की विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूं। गीता की पुष्पिका में भी कहा गया है—

'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।'

ओम्तत्सद् रूपी जो ब्रह्म है उसकी विद्या ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत योगशास्त्र यह गीतोपनिषद् है। इसका अर्थ ब्रह्मविद्या या ज्ञानयोग का आधार लेकर ही कर्मयोग गीता में प्रतिपादित किया गया है। ज्ञानयोग वह सुदृढ़ नींव है जिस पर निष्काम कर्मयोग का सुदृढ़ भवन खड़ा हो सकता है। यदि ब्रह्मज्ञान ही न हो तो निष्काम कर्मयोग का आधार ही कुछ न बचेगा। इसके विपरीत ऐसा नहीं कहा गया—

'योगशास्त्रे ब्रह्मविद्यायां' तो ब्रह्मविद्या की गोदी में ही योगशास्त्र अपना खेल खेल सकता है। बिना ब्रह्मविद्या के कर्मयोग कर्मभोग और कर्मरोग बन जाएगा।

ज्ञानयोग साधना

ज्ञान योग साधना—ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ साधना की आवश्यकता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। 4/33, गीता

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। 4/34, गीता

हे अर्जुन! ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्मज्ञानी गुरुओं के पास जाकर उनको प्रणिपात, (साष्टांग नमस्कार) करे इससे गुरुजनों की प्रतिष्ठा, शिक्षा की मर्यादा एवं शिष्य को अमोघ वरदानों की प्राप्ति होगी। गुरु के सामने नमन करने के पश्चात् आदरयुक्त भाव से गुरु से परिप्रश्न (जिज्ञासा) पूर्ति के लिए प्रश्नोत्तर करना चाहिए। इसके पश्चात् गुरु की सेवा भी अनिवार्य है। गुरु सेवा ही गुरु पूजा है। मनु भगवान् का कथन है कि सेवा ही वह कुदाल है जिससे शिष्य गुरु के कपाल में संचित ज्ञान रत्नों को सुगमता से प्राप्त कर सकता है। तत्त्वदर्शी ज्ञानी ऐसे

ज्ञान का उपदेश करते हैं जिससे तू समस्त भूत-प्राणियों को परम सत्ता में एकीभूत देखेगा और पुनः मोह को कभी प्राप्त नहीं करेगा।

ज्ञान साधना के लिए श्रद्धा अनिवार्य है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 4/39, गीता

जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्-प्राप्ति परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान के साधक में साधन चतुष्टय आवश्यक है।

(1) विवेक—नित्य-अनित्य विवेक, सत्-असत् में विवेक, आत्म-अनात्म में विवेक।

(2) वैराग्य—इहामुत्र फलभोग विराग—इहलोक तथा परलोक के सब सुख-भोगों में वैराग्य।

(3) षट् सम्पत्ति

(4) मुमुक्षुत्व

षड् सम्पत्ति—(क) शम, (ख) दम, (ग) उपरति, (घ) तितिक्षा, (ङ) श्रद्धा और (च) समाधान।

शम—अन्त:करण की विषयों में अरुचि उत्पन्न करके मन को विचलित न होने देना। यह मन की शान्ति अन्त:इन्द्रिय निग्रह है। सर्वकर्म निवृत्ति शम कहलाती है जिनका मन शांत नहीं वह ज्ञान का अधिकारी नहीं।

दम—दम का अर्थ है इन्द्रिय दमन। बाह्य इन्द्रियों को जिस मन की वृत्ति से वश में रखा जाता है अथवा लौटाया जाता है।

उपरति—बाह्य इन्द्रियों का विषयों की ओर अनुत्साह उत्पन्न करने वाली अन्त:करण की वृत्ति को उपरति कहा जाता है।

तितिक्षा—शीत, उष्ण, सुख-दु:ख आदि ये सब द्वन्द्व सम प्रकाश चिद्रूप ब्रह्म में नहीं है अत: मिथ्या हैं। इस ज्ञान के आधार पर इनको सहन करना तितिक्षा कहलाता है।

श्रद्धा—गुरु तथा शास्त्र में विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

समाधान—विषयों से लौटे मन का श्रवण-मनन आदि में, गुरु सेवा में, स्वाध्याय में, ध्यानसमाधि, चित्त की एकाग्रता आदि के द्वारा संदेह निवृत्ति तथा सत्य की बौद्धिक उपलब्धि ही समाधान है।

मुमुक्षुत्व—अहंकार से लेकर देह पर्यन्त जितने अज्ञान कल्पित बंधन हैं उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा मुमुक्षुत्व कहलाता है।

ऐसा साधन चतुष्टय से सम्पन्न जिज्ञासु जब ज्ञानी गुरु के पास जाता है तब गुरु से ब्रह्मज्ञान पाने में समर्थ होता है।

ज्ञानी गुरु की योग्यता—ब्रह्मविद्या प्रदान करने वाले गुरु को—'**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'।** 5/17 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' 'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' ब्राह्मीस्थितिसम्पन्न स्थितप्रज्ञः 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः' श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए।

गुरवः बहवः सन्ति छात्रवित्तापहारकाः।
गुरवः विरला सन्ति छात्रहृत्तापहारकाः।।

अर्थात् ऐसे गुरु बहुत हैं जो छात्रों के धन का अपहरण करने वाले हैं। परन्तु ऐसे गुरु विरले हैं जो छात्रों के हृदय का ताप अपहरण करने वाले हैं। ऐसे गुरु के मौन उपदेश से भी छात्र के हृदय के सब संशय कट जाते हैं। गुरोःमौनोपदेशेन छात्र संच्छिन्नसंशयाः।

ज्ञान साधना का सर्वोच्च उद्देश्य एक ही है कि हमें चरम परम सत्य का दर्शन हो जाए और सत्य के दर्शन से हम प्रकृति के बंधन से मुक्त हो जाएं।

भगवान् कहते हैं—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 4/39, गीता

अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने के बाद मनुष्य बिना विलम्ब के तुरन्त परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

भेद एवं अभेद उपासना—भेद उपासना में जीव परमेश्वर को अपने से भिन्न मानकर उसकी उपासना करता है। इसमें जीव, माया और ब्रह्म का अन्तर बना रहता है। धीरे-धीरे माया का बंधन लुप्त हो जाता है। कितु भक्त भगवान् के अन्तर को वह या तू कहकर संकेत करता है। भेद उपासना में चार प्रकार की मुक्ति बतलाई गई है।

सालोक्य मुक्ति—भगवान् की वात्सल्य आदि भाव से उपासना करने वाले भगवान् के परमधाम में जाकर भगवान् का दर्शन पाते हैं, इसे सालोक्य मुक्ति कहते हैं।

सामीप्य—दास भाव या माधुरी भाव से उपासना करने वाले भगवान् के परमधाम को प्राप्त करते हैं, इसे सामीप्य मुक्ति कहते हैं।

सारूप्य—भगवान् के रूप को प्राप्त कर लेना सारूप्य मुक्ति है। इसमें भी भगवान् के तुल्य हो जाने पर भी भक्त भगवान् नहीं बन पाते। सखा भाव से उपासना करने वाले सारूप्य मुक्ति पाते हैं।

सायुज्य—पराभक्ति या अभेद उपासना द्वारा जीव ब्रह्म में मिलकर ब्रह्म रूप हो जाता है। जिस प्रकार नदियां समुद्र में मिलकर अपना नाम-रूप त्याग कर समुद्र रूप ही बन जाती है।

अभेद उपासना

अभेद उपासना के चार प्रकार हैं—

(1) सारा जगत् ब्रह्म रूप है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

(2) निर्गुण निर्विकार परमात्मा माया से सर्वथा अतीत है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

(3) सारा विश्व ब्रह्म रूप है और वह ब्रह्म मैं ही हूं—'अहं ब्रह्मास्मि।'

(4) परब्रह्म परमात्मा मेरा ही आत्मा है—'अयमात्मा ब्रह्म।'

जीवन्मुक्त के लक्षण—गीता में ज्ञान योग द्वारा जीवन्मुक्त होने वाले पुरुषों के लक्षण बताये गये हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। 6/29, गीता

भूतों में अपने आपको और अपने आप में सब भूतों का दर्शन करने वाला आत्मदर्शी होता है।

भगवान् कहते हैं जो सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। 6/30, गीता

इसी भाव को भगवान् पुनः कहते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

ऐसा व्यक्ति केवल मानवों में नहीं वरन् जीव मात्र में समदर्शी होकर ब्रह्म का दर्शन करता है।

परामुक्ति—इस ज्ञान के फल के रूप में मनुष्य अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते। 5/21, गीता

वह ब्रह्म से ज्ञान योग द्वारा जुड़ा हुआ आत्मा के अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। 8/13, गीता

'ओम्' इस एकाक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा मेरा स्मरण करता हुआ जो (मनुष्य) शरीर को छोड़कर जाता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। 8/16, गीता

इसमें कहते हैं पुनर्जन्म नहीं होता।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। 14/2, गीता

भगवान् कहते हैं—इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष न पुनः सृष्टि उत्पन्न होने पर उत्पन्न होते हैं और न प्रलय होने पर व्यथित होते हैं। अर्थात् वे शरीर के जन्म मरण से ही नहीं वरन् सृष्टि के प्रभव और प्रलय से भी परे परम पद को प्राप्त करते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। 15/6, गीता

इसमें भगवान् कहते हैं मेरा मोक्ष धाम ऐसा है जिसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते और उसे प्राप्त होने के बाद जीव फिर संसार में लौटकर नहीं आता है।

ज्ञान की सप्त भूमिका

महर्षि वसिष्ठ ने योगवासिष्ठ में ज्ञान की सप्त भूमिका का वर्णन किया है—

(1) **शुभेच्छा—**संसार की समस्त अशुभ इच्छा को त्यागकर केवल मोक्ष प्राप्ति की शुभ इच्छा करना। ग्रंथ के महावाक्यों का श्रवण करना इसे श्रवण भूमिका भी कहते हैं।

(2) **सुविचारणा—**शास्त्रों के श्रवण के पश्चात् उन पर मनन करना, विचार करना और अभ्यासपूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होना। इसमें नेक विचार द्वारा असत् का त्याग करके सत् का मनन किया जाता है। इसे मनन भूमिका या विचारणा भूमिका कहते हैं।

(3) **तनुमानसा—**शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा विषय भोगों में आसक्ति का अभाव हो जाने पर संसार में अनासक्त होकर विचरण करना तनुमानसा है।

इसमें मानस शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त होता है। इसलिए तनुमानसा कहते हैं। इसे निदिध्यासन भूमिका भी कहते हैं।

(4) **सत्त्वापत्ति—**श्रवण मनन निदिध्यासन के पश्चात् आत्मा का शुद्ध सत्य रूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना सत्त्वापत्ति कहलाता है। भगवान् कहते हैं जो पुरुष आत्मा में ही सुखी है वह ब्रह्मभूत होकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है।

(5) **असंसक्ति—**बाहर और अन्दर के सभी विषय संस्कारों से असंग हो जाने पर अन्त:करण का समाधि आरूढ होना असंसक्ति है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। 4/19, गीता

भगवान् कहते हैं जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्प से रहित होते हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा जल चुके हैं उसे ज्ञानीजन पंडित कहते हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहंस इस अवस्था में प्राय: रहते थे।

(6) **पदार्थाभाविनी—**अन्त:करण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उसे संसार और शरीर के बाहर-भीतर का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता। किन्तु मन, बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं। गाढ़ सुषुप्ति में भी पदार्थ भावना होती है। बाहर और भीतर के पदार्थों का कुछ भी भान नहीं होता। किन्तु उसमें ब्रह्मानन्द का सुख नहीं मिलता। वह तमोगुणमयी समाधि है। पदार्थाभाविनी में ज्ञानी गुणातीत अवस्था में होता है उसे ब्रह्म-वरीयान् कहते हैं।

(7) **तुर्यगा—**जब दूसरों के प्रयत्न करने पर भी नाम भेद रूप संसार की सत्ता की स्फूर्ति नहीं होती। मन बुद्धि ब्रह्म रूप हो जाते हैं। प्रकृति के तीनों गुण, शरीर और मन की तीनों अवस्थाएं, प्रकृति के पांच तत्त्व सबसे परे होकर ज्ञानयोगी ब्रह्म में विलीन रहता है। तब उसे तुर्यगा भूमिका कहा जाता है। ऐसा महापुरुष ब्रह्मविद्-वरिष्ठ अर्थात् ब्रह्म ज्ञानियों में सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है। ऐसे महापुरुष से वार्तालाप न होने पर भी उनके दर्शनमात्र से जीवों का परम कल्याण हो जाता है। महर्षि रमण बहुत कम बोलते थे और श्री अरविन्द लगभग 40 वर्ष मौन रहे किन्तु वर्ष में एक दिन दर्शनमात्र करने से ही लोगों का जीवन रूपान्तरित हो जाता। सचमुच ज्ञान से अधिक पवित्र वस्तु सारे त्रिभुवन में दूसरी कोई नहीं है।

ब्रह्म, ईश्वर और जीव

जो माया के वश में है, वह जीव है। माया जिसके वश में है, वह ईश्वर है। जो माया से नितान्त परे है, वह ब्रह्म है। पारमार्थिक स्तर पर केवल शुद्ध ब्रह्म की

ही सत्ता है अन्य किसी की नहीं। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर जीव, ईश्वर और प्रकृति का भेद मानना पड़ता है। निर्गुण निराकार निरुपाधि ब्रह्म तो पूर्ण निष्क्रिय सृष्टि के खेल का साक्षीमात्र है। सृष्टि की रचना, व्याख्या और संचालन के लिए ब्रह्म का ही एक रूप कारक ब्रह्म है। जो संकल्प मात्र से सृष्टि रचता है और संकल्प के लय होने से सृष्टि का लय करता है इसे ही ईश्वर नाम से समझाया जाता है। द्वैतवादी और त्रेतवादी तो प्रकृति और जीव की स्वतंत्र सत्ताएं मानते ही हैं किन्तु अद्वैतवादी जो जीव और प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते वे भी इनके अस्तित्व की व्याख्या ब्रह्म के ही रूपान्तर के रूप में करते हैं। ब्रह्म की सर्जन शक्ति ही माया है जिसकी ब्रह्म से पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं है। सर्वशक्तिमान के लिए अपनी योगमाया द्वारा संकल्पमात्र से ही सृष्टि रचना कोई कठिन या असम्भव बात नहीं है। सृष्टि रचना के उद्देश्य के बारे में विचारकों में मतभेद हो सकता है किन्तु कोई भी ईश्वरवादी ईश्वर के सृष्टि रचना के सामर्थ्य के बारे में मतभेद नहीं रखता। ईश्वर की योगमाया, उसका रचना कौशल उसकी अनिर्वचनीय सर्जनशक्ति है। केवल संकल्पमात्र से इतने बड़े विश्व को रच देना एक बड़ा इन्द्रजाल जैसा प्रतीत होता है। जादूगर की जादूगरी से जो रहस्यमय वस्तु निर्माण होती है वह जादू देखने वाले को भ्रम में डाल देती है किन्तु जादूगर स्वयं उससे कभी भ्रमित नहीं होता। अतः भगवान् की योगमाया भगवान् की ही शक्ति है। भगवान् की सृष्टि सभी को भ्रमित कर सकती है किन्तु स्वयं भगवान् को भ्रमित नहीं कर सकती। जैसे स्वप्न काल की सारी प्रिय-अप्रिय सृष्टि हमारे संकल्प में से ही पैदा होती है। उसके सब पात्र हमारे मन में से ही पैदा हो जाते हैं और विचित्र खेल खेलने लगते हैं। उसी प्रकार ईश्वर के संकल्प से ही ईश्वर की ही चेतना अंश जीव बनकर सृष्टि में कर्मलीला करने लगती है, जैसे स्वप्न में हम अपनी कल्पना से ही जंगल भी रच लेते हैं, उसमें शेर भी रच लेते हैं और स्वयं अपना रूप भी रच लेते हैं और शेर को हमारे शरीर पर आक्रमण करने का संकेत भी हम ही करते हैं और अपने शरीर को बचा कर भागने का संकेत और भय से चिल्लाने का इशारा भी हम ही करते हैं। स्वप्न काल में मित्र-शत्रु और उनके अनुकूल-प्रतिकूल व्यवहार सब हमारी कल्पना से ही पैदा होते हैं और आंख खुलते ही स्वप्न की सारी अच्छी-बुरी सृष्टि पल भर में इसी में लय हो जाती है। इसी प्रकार कारक ब्रह्म की सृष्टि उसके अपने ही अंश से बने जीव, उसी की योगमाया से भ्रमित हुए योगमाया की गोदी में ही मित्र-शत्रु के विचित्र खेल खेलते रहते हैं। और ब्रह्म के संकल्प खींचते ही जैसे जादूगर की जादूगरी सृष्टि के सब पात्र जादूगरी के साथ जादूगर के झोले में सिमट जाते हैं उसी प्रकार माया और माया के विस्तार में अनन्त जीव सभी अपने मूल अधिष्ठान ब्रह्म में लय हो जाते हैं।

नैतिक जीवन के लिए ईश्वर की महत्ता

विश्वव्यापी नैतिक सिद्धान्त को कहा जाता है—ऋतम्। और विश्व के चरम परम सत्य (परब्रह्म परमेश्वर) का एक शब्द में परिचय है—'सत्यं'। वेद में सत्यं और ऋतम् दोनों ब्रह्म के दो रूप बताये गये हैं। सत्य हमारा तात्त्विक आदर्श है और ऋतम् हमारा नैतिक आदर्श है। ये दोनों Goodness and Godliness एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। न सत्यम् के बिना ऋतम् टिक सकता है और न ऋतम् के बिना सत्यम्। जो ईश्वर नैतिकता की रक्षा नहीं कर सकता उसे ईश्वर ही कैसे माना जा सकता है। और जिस ईश्वर विश्वास में नैतिकता का कोई स्थान ही नहीं है वह ईश्वर विश्वास (धर्म) कैसे चल सकता है? दूसरी ओर यदि नैतिकता के संरक्षण के लिए विश्वव्यापी नैतिक सिद्धान्त का नियामक कोई सर्वशक्तिमान ईश्वर नहीं है तो ऋतम् या नैतिकता कैसे टिक सकती है? विश्वव्यापी नैतिक न्याय के लिए अनिवार्य है नैतिक शासन करने वाली सत्ता—

(क) सर्वव्यापक हो ताकि न्याय सृष्टि के प्रत्येक कोने में, प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक पात्र को मिल सके।

(ख) वह शक्ति सर्वान्तर्यामी हो ताकि मानव के अन्तरतम में जहां से अच्छे-बुरे कर्मों का संकल्प पैदा होता है वहीं से ही कर्म संकल्प रूपी बीजों को जान सके। वह शक्ति सर्वशक्तिमान हो ताकि कर्मों का फल देने में अथवा न्याय का निष्पादन करने में कोई धौंस-पट्टी न जमा सके न उस सत्ता को डस सके और न उसकी शक्ति को चुनौती दे सके।

इन तीनों दृष्टियों से नैतिक नियम के संचालन के लिए सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है।

जर्मनी के दार्शनिक कांट ने भी बहुत विचार मंथन के बाद निष्कर्ष निकाला कि नैतिकता के लिए ईश्वर इतना अनिवार्य है कि यदि ईश्वर न हो तो भी हमें ईश्वर की सत्ता का विश्वास करना ही पड़ेगा क्योंकि उसके बिना नैतिकता टिक ही नहीं सकती।

भारत में चार्वाक ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता किन्तु चार्वाक दर्शन में नैतिकता का भी कुछ स्थान नहीं बचता।

बौद्ध दर्शन ईश्वर की सत्ता के बारे में मौन है। गांधी, राधाकृष्णन् आदि बुद्ध को ईश्वर विश्वासी मानते हैं। कोटि-कोटि हिन्दू उन्हें ईश्वर का अवतार ही मानते हैं। किन्तु कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने उनके मौन का विपरीत अर्थ लगाकर उन्हें निरीश्वरवादी सिद्ध करने की चेष्टा की। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इतना महान् नैतिक आन्दोलन अनैतिकता के गर्त में गिरकर गलने-सड़ने लगा। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के मठों में खुलकर व्यभिचार एवं पापाचार पलने लगा।

अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर के बौद्ध सिद्धों कणहपा, सिरहपा आदि) ने बौद्ध दर्शन में अपने धर्मग्रंथ की वाणियों में पंच मकार मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन की प्रशंसा लिखनी प्रारम्भ कर दी तथा इस अति सीमा तक लिखने लगे कि डोमनी या रजकी के साथ सम्भोग करने पर तुरन्त निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुस्तक में ऐसे भ्रष्ट बौद्ध सिद्धों की वाणियों को उद्धृत किया है। इससे पता चलता है कि बिना दृढ़ ईश्वर विश्वास के नैतिकता का विश्वास भी कैसे सर्वनाश को प्राप्त हो जाता है।

जैन दर्शन साधना के आदर्श के रूप में ईश्वर को स्वीकार करता है। किन्तु सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानता है और न कर्मफल प्रदाता, नैतिकता के नियामक ईश्वर को। जैन दर्शन अहिंसा, जीवदया का बड़ा सूक्ष्म विवेचन तथा कठोर पालन करता है। किन्तु उनकी दार्शनिक मान्यता यह है कि कर्मफल अपने आप प्राकृतिक सिद्धान्त के रूप में मिलता है। उसके लिए किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं। आग में हाथ डालने पर हाथ जलेगा ही चाहे ईश्वर चाहे या न चाहे। विष खाने पर मृत्यु होगी ही ईश्वर की इच्छा-अनिच्छा इसमें कोई बाधा नहीं डालती। शुद्ध दार्शनिक आधार पर जैन दर्शन नैतिक नियम की रक्षा नहीं कर सकता है। शंकराचार्यजी का प्रश्न है कि यदि देवदत्त ने सोमदत्त की हत्या कर दी तो इस हत्या का, कर्मफल का विधान कौन करेगा। मृतक तो गवाही दे नहीं सकता कि हत्या किसने की। खून भी गवाही नहीं दे सकता और छुरा भी साक्षी नहीं दे सकता। क्योंकि वह जड़ है। हत्यारा भाग जाता है और पकड़े जाने पर भी अपने को दोषी नहीं मानता। हत्या कर्म भी जड़ है। न वह हत्यारे को पहचानता है, न हत्या के पात्र को, न शस्त्र को। अब कौन निर्णय करे कि दोषी कौन है? हत्यारा चेतन है किन्तु बचने के लिए अपने को हत्यारा घोषित नहीं करता। यदि कर्मफल का निर्णय उसी पर छोड़ दिया जाए तो कोई हत्यारा अपने को फांसी नहीं लगवाना चाहेगा। इस तरह कर्म के दोषी का निर्णय और कर्मफल का निर्णय कर्म भी नहीं करता। उपादान (यंत्र) भी नहीं करता। सम्प्रदान भी नहीं कर सकता। केवल कर्ता कर सकता है यदि वह निष्पक्ष हो। कर्म, करण, क्रिया आदि सब जड़ हैं, कर्ता चेतन है पर निष्पक्ष कर्ता का मिलना ही दुष्कर है। अब मान लें सोमदत्त सौ व्यक्ति की हत्या करके स्वयं की हत्या कर ले उसे तो दुनिया का कोई विधान दण्ड दे नहीं सकता। इसलिए कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा रहनी है तो कर्म का नियामक निष्पक्ष न्यायकर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान होना चाहिए।

जो जैन बंधु व्यक्तिगत रूप में कुछ नैतिक आचरण का पालन करते रहते हैं वे धीरे-धीरे सनातन हिन्दू धर्म की इस मान्यता को मानने लगते हैं कि भगवान् सब कुछ देखता है और सब कर्मों का फल देता है। वे भगवान् महावीर को ही

भगवान् (ईश्वर) मानकर अपना नैतिक सिद्धान्त का काम निकाल लेते हैं। जो जैन बंधु नैतिकता का कठोरता से पालन करने का इच्छुक नहीं है उन्हें तो नैतिकता के नियामक ईश्वर के बिना अनैतिक कर्म करने का खुला मार्ग मिल जाता है। इसलिए समाज में प्रचलित धारणा है कि जैन लोग छोटे से छोटे जीवों को कष्ट न देने का आडम्बर भर रचते हैं। किन्तु निर्धनों का रक्त शोषण कर जीवित मानवों को खा जाते हैं। जैन धनपतियों के निर्धनों के शोषण और बड़े व्यापक आधार पर भ्रष्टाचार के अंग प्रकाश में आए हैं। निष्कर्ष यह है कि निरीश्वरवादी की नैतिकता अधिक देर तक टिक नहीं सकती।

कार्ल मार्क्स—कार्ल मार्क्स न आत्मा को मानता है न परमात्मा को। न पुनर्जन्म न कर्म सिद्धान्त को। बौद्ध और जैन एक परमात्मा को छोड़कर शेष तीनों आस्थाएं पक्की रखते हैं। जब निरीश्वरवादी आध्यात्मिक-नैतिक आन्दोलन होते हुए भी उनकी यह दुर्गति हुई तो जो मार्क्सवाद चारों को नहीं मानता उसकी क्या गति होगी?

अमेरीका के महान् दार्शनिक रेल्फ वाल्डो इमर्सन ने कहा है 'The begining and end of everything wrong with us is that we have forgotten God.' अर्थात् हमारी समस्त बुराइयों एवं समस्याओं का प्रथम एवं अन्तिम कारण यही है कि हम ईश्वर को भूल बैठे हैं। जो व्यक्ति सदा ईश्वर को हाजिर-नाजिर मानता है, जो यह अटल विश्वास रखता है कि प्रभु सर्वसाक्षी एवं सर्वान्तर्यामी हैं, वह पाप या कुकर्म करने से बचा रहता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

राम झरोखे बैठि के सबका मुजरा लेत,
जैसी जाकी भावना वैसा ही फल देत।

परमेश्वर मानो कि इन्द्रिय रूपी झरोखों में भी बैठा हुआ है और अन्दर की इन्द्रिय (अंत:करण) में भी बैठा हुआ सब खेल तमाशा देख रहा है। एक पिता अपने छोटे शिशु पुत्र के साथ प्रात:काल सैर एवं स्नान के लिए गए। लौटती बेर उनके मन में इच्छा हुई कि खेत से एक मोटा तरबूज तोड़कर घर ले जाए। बच्चे को किसी के आगमन पर तुरन्त सूचना देने के लिए पहरेदार के रूप में खड़ा करके वह स्वयं खेत में तरबूज तोड़ने गया। बच्चे ने पुकारा, पिताजी! कोई देख रहा है। पिता ने वापस आकर देखा, वहां कोई व्यक्ति नहीं है। इस प्रकार वह दुबारा-तिबारा तरबूज तोड़ने गया। हर बार बच्चा ऊंचे स्वर में चिल्लाता है कि कोई देख रहा है। पिता ने उसे व्यर्थ का उपहास मानकर बच्चे को थप्पड़ लगाया—कौन देख रहा है? अपने पिता से क्यों मजाक करते हो? बच्चे ने कहा, पिताजी! आपने ही मुझे पढ़ाया था कि ईश्वर सब कुछ देखता है। यह सुनकर पिता-पुत्र

के चरणों में झुक गया। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता में अटल विश्वास मनुष्य को नैतिकता में बांधे रखता है।

गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।

2/248/4, मानस

पुनः लिखते हैं—

तुलसी काया खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप-पुण्य दो बीज है, बुवे तो लुने निदान।।

महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं—

यश्च रामं न पश्येत यं च रामो न पश्यति।
निंदिता स वसेत लोके स्वात्मन्येव विगर्हितः।।

अर्थात् जो राम को नहीं देखता और राम जिसकी ओर नहीं देखते वह लोक में निन्दित होकर जीता है तथा उसका अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारता है। संसार का तिरस्कार और अन्तरात्मा का धिक्कार उसे मिलता है जो राम को हाजिर-नाजिर नहीं मानता। गुरु नानकदेवजी ने लिखा है—

परमेश्वर तो भुल्ल्यां ब्यापन सबै रोग।
छिण में कड़वे हो गये जेते माया भोग।।

परमेश्वर को भूलने से ही संसार के सब रोग आदमी को जकड़ लेते हैं। जिन संसार के भोगों को मनुष्य ईश्वर को भुलाकर भोगना चाहता है वही भोग क्षण भर में कड़वे सिद्ध हो जाते हैं और महारोगों के कारण बनते हैं। भोगों के लिए भगवान् को भुलाया तो न भगवान् ही मिले और न भोग ही बचे। ये भोग ही कड़वे रोग बन गये।

दीन गवाया दुनि से, और दुनि न चली साथ।
पांव कुल्हाड़ा मारया, नानक अपने हाथ।।

पैसे-परिवार के लिए धर्म को छोड़ा। नीति को छोड़ा। भगवान् को छोड़ा। संसार के लिए धर्म और नैतिकता को छोड़ा। किन्तु संसार मरने पर साथ नहीं जा सकता। इस प्रकार जीव अपने हाथ से ही अपने पांव पर कुल्हाड़ा चला रहा है।

जपुजी साहब में गुरु नानकदेव ने लिखा है—

पवन गुरु पानी पिता, धरती मात महत
दिवस रात गोऊ दाई गाया खेले सकल जगत
चगिचारया बुराइया बाचे धर्म दूर
कर्मी आपो आपनी कै नेड़े के दूर।

इसमें माता की धरती से उपमा दी गई है। पिता की जल से और गुरु की पवन से। धरती और पानी के संयोग से पेड़-पौधे, वनस्पति पैदा होते हैं किन्तु उनका ऊपर की ओर विकास गुरु रूप पवन पर निर्भर करता है। दिन और रातरूपी दाई (नौकरानी के समान है) जो जीवों को खेल खिला रही है। दिन की दाई बच्चे को बग्घी में डालकर खेल खिलाने या सैर कराने ले जाती है और रात्रिकाल की दाई जीव रूपी बच्चे को थपकी देकर, लोरियां गाकर सुला देती है। प्रसिद्ध उक्ति है कि दाई से पेट नहीं छिपाया जाता। बच्चे के प्रसव के समय जो नर्स या Mid wife सहायता करती है उसे ही दाई कहा जाता है। उस समय शिशु की माता प्रसव पीड़ा में व्यथित या बेहोश रहती है। प्रसव का सारा कार्य दाई ही करती है। उस समय दाई से माता का पेट नहीं छिपाया जाता। इसी प्रकार दिन अथवा रात को पुरुष जो कुछ अच्छे-बुरे कर्म करता है दिन और रात उसके साक्षी हैं। परमेश्वर सब देखता है। उससे कुछ भी छिप नहीं सकता है। मनुष्य की अच्छाइयों और बुराइयों का ही धर्म के दरबार में विचार किया जाएगा। उन्हीं अच्छे-बुरे कर्मों के आधार पर ही कोई ईश्वर के अधिक निकट पहुंचता है और कोई दूर ही रह जाता है।

स्वामी रामतीर्थ का कथन है, 'हे मानव! दस पर्दों में छिपकर कोई गुनाह करे और सोचता रहे कि तुझे किसी ने देखा नहीं तो तेरे पांव के नीचे की घास खड़ी होकर गवाही दे देगी कि तुमने अमुक गुनाह किया है।' वे पुनः लिखते हैं 'Disease is to be dis-at-ease with God.' अर्थात् परमेश्वर के साथ सहज सरल सम्बन्ध का टूट जाना ही बीमारी है। गीता में भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। 8/7, गीता

—सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर।

ईश्वर को निरन्तर स्मरण करके कर्म करने से कर्म धर्म बन जाएगा। वह कर्म ही परमेश्वर की पूजा बन जाएगा। ईश्वर के साथ मन की तार के टूटते ही कर्म कुकर्म, क्रूर कर्म, अन्याय कर्म बन जाएगा। गीता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें ज्ञान कर्मसमुच्चय पर बल दिया गया है। ऊंचे से ऊंचे ब्रह्मज्ञान को जीवन के भीषण से भीषण कर्तव्य कर्म (महायुद्ध के साथ) समन्वित करके दिखाना गीता की विशेषता है। सामान्य व्यक्ति अपनी स्वाभाविक कठिनाई बता सकता है कि यदि भगवान् का स्मरण करेंगे तो युद्ध जैसा भीषण कर्म कैसे कर सकते हैं? भगवान् का स्मरण शांत चित्त से हो सकता है। युद्ध क्रोध एवं आवेश में हो सकता है। दोनों का मेल कैसे बैठाया जाए। गीता में यही विशेषता है कि इसने सर्वोच्च ज्ञान का सबसे कठिन कर्म के साथ मेल का मात्र सिद्धान्त कथन ही नहीं

किया वरन् प्रत्यक्ष इतिहास में उसको सफल ढंग से प्रयोग करके दिखा भी दिया। प्रारम्भ में अर्जुन क्रोध एवं द्वेष से भरकर युद्ध भूमि में प्रविष्ट हुआ था। उसने कहा, भगवान्! मुझे शक्ल तो दिखाओ कौन माई के लाल मेरे से लड़ने के लिए आए हैं। जब उसने देखा कि अपने ही स्वजन और गुरुजन सामने शत्रु की पंक्ति में खड़े हैं तब उसके मन में मोह एवं राग उत्पन्न हो गया। तब हथियार फेंककर युद्ध भूमि से भागने का विचार करने लगा। भगवान् ने कहा, हे अर्जुन! न हम तुम्हें द्वेष से मारने देंगे न राग के कारण भागने देंगे अर्थात् राग-द्वेष दोनों को एकतरफ छोड़कर शुद्ध कर्तव्य भावना से प्रभु को स्मरण करते हुए कर्म करो। प्रभु के फूल प्रभु के चरणों में चढ़ाने के लिए स्वधर्म पालन में महायुद्ध लड़ो। यह बहुत क्रियात्मक जीवन दर्शन है। ईश्वर को भुलाकर युद्ध सत्य रूप न रहकर केवल नृशंसता, सर्वसंहार बन जाएगा। कर्म से भागकर केवल ईश्वर के स्मरण की माला जपते रहने से यह नैतिकता विरोधी ढोंग बन जाएगा। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कर्तव्यबोध दिया। गुरु गोविन्द सिंह ने दक्षिण में माला जपने वाले बंदावैरागी का कर्तव्यबोध जगाया। योगवासिष्ठ में महर्षि ने श्रीराम को भी ऐसा कर्तव्यबोध दिया। गुरु गोविन्द सिंह कहते हैं—

'धन्य जिओ तिंह को जग में, मुख ते हरि चित्त में युद्ध विचारे।'

अर्थात् जगत् में उसी का जीवन धन्य है जो मुख से हरि का स्मरण करते हुए चित्त में संसार के कर्तव्य संग्राम के लिए सदा प्रस्तुत रहे। यह गीता के ही भाव का पुनर्कथन है।

एक बार कविवर रहीम ने गोस्वामी तुलसीदासजी से पूछा—

काज करे संसार के मिलन चहत करतार।
कह रहीम कैसे निभे दो रथ एक सवार।।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने उत्तर दिया—

काज करे संसार के, प्रभु पर राखे टेक।
तुलसी यों निभ जाएंगे दो घोड़े रथ एक।।

लोक में भी प्रसिद्ध उक्ति है—

कर से कर्म करो विधि नाना। मन राखो जहां कृपा निधाना।।

इस प्रकार ईश्वर का निरन्तर स्मरण शुभ कर्म में, धर्म कर्म में बाधा न देकर कर्तव्य पालन को बल एवं अक्षय प्रेरणा प्रदान करता है। यदि भगवत्स्मरण कुछ बाधा डालता है तो केवल कुकर्म में ही।

मानव जो भी अच्छा-बुरा कर्म करे भगवान् को स्मरण करके करे। तो धीरे-धीरे कुकर्म अपने आप छूट जाएंगे। सूर्य के प्रकाश में या साधारण दीपक के प्रकाश

में बड़े से बड़े चोर को चोरी करने में संकोच होने लगता है। उसे प्रकाश से भय लगने लगता है। जब परमेश्वर ज्योतियों की परम ज्योति है उनके स्मरण से क्या कोई कुकर्म टिक सकेगा। ईशावास्योपनिषद् में जो सब उपनिषदों का शिरोमणि है, जिसके प्रथम मंत्र को गांधी सार-सर्वस्व मानते हैं, कहा गया है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वम्

जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम है सब ईश्वर द्वारा निर्मित है। ईश्वर का है। ईश्वर द्वारा आच्छादित है और ईश्वर की गोदी में है। इसलिए निरन्तर उसको स्मरण कर और निरन्तर समर्पण की भावना से संसार के भोगों को भोग। ईश्वर का निरन्तर स्मरण अपने आप ईश्वर के प्रति समर्पण बन जाता है। ईश्वर स्मरण करने से जीव को स्मरण होता है कि मैं ईश्वर का ही अंश हूं। जब मैं ही उनका हूं तो मेरे कर्म भी उन्हीं के हो गए।

अतः स्मरण अपने आप में समर्पण होता है। जिस बुलबुले को यह स्मरण हो जाता है कि मैं सिन्धु का जल हूं तो बुलबुले की सारी लीला अपने आप जल की लीला ही बन जाती है।

आमी रथ तुमी रथी
चालाओ जेमन इच्छा करे।
आमी यंत्र तुमी यंत्री
बजाओ जेमन तुमार इच्छा करे।

श्री अरविन्द ने भी गीता दर्शन में यही भाव प्रतिपादित किया है कि साधक को भागवत न्याय का यंत्र बनकर भगवान् की स्मृति प्रीति के लिए समस्त कर्म करना चाहिए। इससे उसके कर्म भागवत कर्म बन जाएंगे और भगवान् की अपनी अनन्त शक्ति उसके कर्मों में अपना चमत्कार दिखाने लग जाती है।

जीव भगवान् को केवल अपना अहंकार भर चढ़ाता है और बदले में भगवान् अपनी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य साधक पर लुटा देते हैं।

ईश्वर विश्वास और भिन्न पंथ सम्प्रदाय

धर्म शब्द बड़ा व्यापक है इसका सरल अर्थ कर्तव्य है। और इसका भावार्थ है शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त कर्तव्यों की विधिवत परिपूर्ति। शरीर के 7 कर्तव्य हैं—

शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, परिश्रम, सेवा और विश्राम।

शरीर धर्म से ऊपर परिवार धर्म या कुलधर्म है। परिवार की सेवा, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा धर्म है।

इससे ऊपर जाति धर्म उसकी सेवा, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा
इससे ऊपर राष्ट्र धर्म उसकी सेवा, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा
इससे ऊपर मानव धर्म उसकी सेवा, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा
इससे ऊपर विश्व धर्म उसकी सेवा, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा

विश्वनाथ—विश्व के स्वामी विश्वम्भर की पूजा प्रतिष्ठा।

धर्म उन शाश्वत नैतिक सिद्धान्तों का संग्रह है जिसने समाज को धारण कर रखा है। जैसे किसी परिवार, संस्था या राष्ट्र से उसके कर्तव्य को निकाल दिया जाए तो वह संस्था क्षण भर में ध्वस्त हो जाएगी। इसलिए धर्म केवल वह नहीं है जिसे हमने धारण कर रखा है। वरन् वह है जिसने हमें ही धारण कर रखा है। आजकल लोकतंत्र के जमाने में पंच, सरपंच, मुखिया, विधायक, सांसद, मंत्री, प्रधानमंत्री सभी का हम चुनाव करते हैं। व्यक्ति जीवन में मित्र-शत्रु, पति-पत्नी, साझीदार एवं गुरु तक का चुनाव करते हैं किन्तु माता का चुनाव कोई नहीं कर सकता। हम माता का चुनाव क्या करेंगे, माता ने ही हमें चुनकर धारण किया है। धर्म माता के तुल्य है। इसे सहज धर्म, जन्म से ही प्राप्त धर्म कहा जाता है। यह वस्तुओं के समान नहीं है जिन्हें जब चाहे धारण करें जब चाहे उतार दें। धर्म हमारे धारण करने की वस्तु नहीं है वरन् वह शाश्वत नियम है जिसने सारे विश्व को धारण कर रखा है।

पश्चिम में धर्म का पर्यायवाची शब्द नहीं है। उनके शब्द Religion का अर्थ है Path of God realisation अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग जिसे पथ, पंथ, मजहब भी कहा जाता है। लक्ष्य एक होते हुए भी पहुंचने के पथ अनेक हो सकते हैं—

संत पंथ सब जगत् के बात बतावत तीन।
ईश भजन सब पर दया धर्म सेवा में लीन।।

अत: सेवा, स्मरण एवं दया सब पंथों का सार है। इहलोक में जनकल्याण के लिए दया और सेवा, परलोक या ईश-प्राप्ति के लिए ईश स्मरण।

भिन्न-भिन्न पंथों में ईश्वर का स्वरूप, उसके नाम और गुण की चर्चा भिन्न-भिन्न भाषाओं में थोड़ा भिन्न रूप में की गई है। ग्रंथों में ग्रंथ के संस्थापक पैगम्बर की पूजा प्रतिष्ठा का स्थान बन गया है किन्तु सभी ईश्वर प्राप्ति या स्वर्ग प्राप्ति का लक्ष्य मानते हैं। यदि ईश्वर है ही नहीं तो पंथ किस लक्ष्य की ओर ले जाता है। पहले लक्ष्य का निश्चय करके उस ओर जाने वाले पंथ का निर्माण किया जाता है। अत: बिना ईश्वर में विश्वास के कोई पंथ चल नहीं सकता। यदि मुंबई नगरी ही न हो तो मुंबई मेल हमें कहां पहुंचाएगी? जब Religion ईश्वर प्राप्ति का पंथ है तो ईश्वर सब पंथों का समान लक्ष्य है।

कुछ पंथ निरीश्वरवादी पंथ दिखाई देते हैं किन्तु वास्तव में वे निरीश्वरवादी होकर धर्म या पंथ नहीं रह सकते हैं। और कोई धर्म पंथ रहकर चल नहीं सकता। चार्वाक दर्शन है, पंथ नहीं। बौद्ध दर्शन में भगवान् बुद्ध के ईश्वर के विषय में मौन की भ्रान्त व्याख्या की गई। कई विचारक बुद्ध को ईश्वरवादी मानते हैं, जिन्होंने निरीश्वरवादी माना उन्हें भी धर्म पंथ को जीवित रखने के लिए एक ईश्वर की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने स्वयं बुद्ध को ही भगवान् कहकर ग्रंथों में प्रचारित और मन्दिरों में प्रतिष्ठित कर दिया। यदि वे ऐसा न करते तो बौद्ध धर्म मर जाता। भगवान् बुद्ध नैतिकता के पक्षधर थे। उन्होंने जोर दिया Idol worship के स्थान पर आदर्श पूजा (Ideal worship) पर। पर उनके बाद शिष्यों ने धर्म को चलाने के लिए उन्हीं भगवान् बुद्ध की संसार में सबसे अधिक और सबसे विशाल मूर्तियां बना दी। बुद्ध की मूर्तियों का इतना प्रचार हुआ कि संस्कृत के बुद्ध शब्द से ही अरबी 'बुत' बन गया जिसका अर्थ ही मूर्ति है।

इसी प्रकार जैन धर्म चाहे लक्ष्य रूप में भगवान् को मानता है किन्तु उनका सारा धर्म भगवान् महावीर या अन्य तीर्थङ्करों को भगवान् मानकर चल रहा है। जिस प्रकार लक्ष्य विहीन पंथ की कल्पना भी कठिन है, लक्ष्यहीन यात्रा आवारागर्दी गिनी जाती है। उसी प्रकार ईश्वर विहीन धर्म, ईश्वर विहीन धर्म सम्प्रदाय एक कठिन एवं निराधार कल्पना मात्र रह जाती है। आधुनिक काल का पंथ देव समाज पंजाब के कुछ भागों में निरीश्वरवादी शैली से चल रहा है। किन्तु उन्होंने भी अपना लक्ष्य देवात्मा को निर्धारित किया है। ये उनके संस्थापक का गूढ़ वाचक नाम है। कौन जाने कालान्तर में उसी व्यक्ति विशेष देवात्मा की मूर्तियां वैसे ही पुजने लगे जैसे बुद्ध और महावीर की पूजी जाती हैं। अतः धर्म सम्प्रदाय, ईश्वर या ईश्वर की विभूति को केन्द्र मानकर ही खड़ा होता है तथा इसके बिना उसका चलना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव-सा हो जाता है। लोक से किसी लोकोत्तर शक्ति में, मानव से ऊपर किसी मानवेत्तर सत्ता में विश्वास रख उसकी प्राप्ति की साधना ही धर्म सम्प्रदाय का मूल स्वरूप है।

J.H. Holmes कहते हैं कि 'मैं तीन कारणों से नास्तिक नहीं हूं। पहला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रूढि ग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी मर्म का उद्घाटन नहीं कर सकती। किन्तु सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्घाटन किया जाए।'

वर्तमान चारित्रिक संकट के निरसन में गीता का मार्गदर्शन

आज सर्व स्तर पर देश में चरित्र का संकट है। आज राष्ट्रपति से लेकर चपरासी पर्यन्त सभी चरित्र से पतित हो गए हैं। सभी अपने स्वार्थ के अनुकूल भ्रष्टता चाहते हैं। पर वही जब अन्य विभाग में जाता है और वहां के भ्रष्टाचार के कारण असुविधा होती है तब वह उसका आलोचक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अपने को बाद देकर दूसरे का आलोचक बना हुआ है। कोई भी अपने में सुधार नहीं चाहता। अपने में जो त्रुटि है वह तो उसकी विवशता, अनिवार्यता है। पर अपने विभाग को बाद देकर अन्य सभी विभाग में सुधार चाहता है। इसी प्रकार आज परिवार टूट रहा है। परिवार के जीवनमूल्य नष्ट हो रहे हैं।

आज मानो लोक जीवन के बाजार में हर व्यक्ति बिकाऊ है। मंत्री, प्रशासक, नेता, शिक्षक, सैनिक, विधायक, संसदसदस्य सभी बिकाऊ हैं। सभी का अलग-अलग मूल्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सभी खरीदे जा सकते हैं। धन, पद, प्रतिष्ठा के चक्कर में प्रत्येक देशहित को मानो दांव पर लगा सकता है। कथनी-करनी के बीच खाई दिखाई पड़ रही है। विश्वास, श्रद्धा, आस्थाएं लुप्त हो गई हैं। क्या इन परिस्थितियों में देश रामराज्य का दर्शन कर सकेगा? क्या पुनः गौरव मण्डित हो सकेगा? देशवासी सुखी होंगे? अत्यन्त निराशाजनक चित्र है। आखिर यह दुर्दशा क्यों?

भारत ज्ञान की दृष्टि से जगद्गुरु, धन एवं वैभव की दृष्टि से सोने की चिड़िया रहा। एवं सामरिक दृष्टि से अजेय तथा संगठन की दृष्टि से अभेद्य था। इस देश को स्वयं वेद भगवान् सारे संसार को श्रेष्ठ, आर्य बनाने का आदेश देते हैं। इस देश के चरित्र से, आचरण से, विश्व के सभी देशों को अपने-अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करने का आह्वान स्वयं भगवान् मनु करते हैं। इस देश में विश्व के श्रेष्ठ मेधावी छात्र, मनीषी साधक शिक्षा ग्रहण करने आते थे और अपने को कृतार्थ समझते थे। इस देश के चरित्र की प्रशंसा सभी विदेशी यात्रियों ने की है। मैक्समूलर की एक पुस्तक है India, what can it teach us उसमें एक अध्याय

ही हिन्दुओं के उदात्त चरित्र पर है। जिस देश के विषय में यह ख्याति थी कि इस देश से बढ़कर कोई देश नहीं, इस धर्म से बढ़कर कोई धर्म नहीं, इस जाति से बढ़कर कोई जाति नहीं, इस देश की भाषा से, संस्कृति से बढ़कर कोई भाषा एवं संस्कृति नहीं, जिसकी वाणी धर्म की वाणी है, जिसका सारा जीवन सत्य के लिए समर्पित होता है, जिस जाति के विषय में ख्याति है कि आर्य कभी दास नहीं होते, वह देश आज इस दुर्दशा को कैसे प्राप्त हो गया? इसका चित्र इतना भयावह, दु:खद, निराशाजनक क्यों? जिस देश में एक दिन के वास के लिए मुहम्मद के चाचा सारे जीवन का पुण्य चढ़ाकर भी अपने में कृत-कृत्यता की अनुभूति करते थे, वह देश आज पतित कैसे हो गया! विस्मय की बात लगती है।

इसका कारण 1000 वर्षों की गुलामी, जिसके कारण हम अपने स्व से च्युत हो गए हैं, अपनी संस्कृति का विस्मरण कर बैठे हैं। अपने जीवनमूल्य के प्रति अश्रद्धा का निर्माण हो गया। भौतिकता की ऊपरी चमक-दमक से चौंधिया गए हैं। फलत: पश्चिम का अन्धानुकरण करने, पश्चिम की जूठी पत्तल चाटने में ही गर्व की अनुभूति कर रहे हैं। रही-सही कसर अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने, अंग्रेजी के मानस पुत्रों कृत शिक्षा ने अपने से काटकर हमें भित्ति (नींव) हीन कर दिया है।

इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज हम अपने दिव्य स्वरूप, आत्म स्वरूप को भूलकर अपने को शरीर सर्वस्व समझ बैठे हैं। उसी के हर प्रकार के पोषण में लगे हुए हैं। शरीर को हम तरह-तरह के व्यंजन खिलाते हैं, अच्छे से अच्छे कपड़ों से संवारते हैं, विविध साबुनों से नहलाते हैं, विभिन्न सुगंधयुक्त तेल एवं पाउडरों का लेप चढ़ाते हैं, इसके रहने के लिए विशाल भवन बनाते हैं, रहने के स्थान का नित्य परिष्कार करते हैं। हमारा शरीर नष्ट न हो जाए, उसे कष्ट न होवे इसका प्रयास रहता है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में शरीर मर न जाए अत: इसकी रक्षा के लिए सारी व्यवस्था, सारे उपाय करते हैं। परिवार, समाज, राष्ट्र, संयुक्त राष्ट्रसंघ, पुलिस की व्यवस्था, सेना की व्यवस्था इसके शरीर की सुरक्षा एवं सेवा के लिए है। शरीर के भोगों की सुरक्षा के लिए है।

इस प्रकार मानो मानव का तन ही सब कुछ है। शरीर और शरीर का भोग इन्हीं की साधना में जीवन लगाओ। इससे परे कुछ नहीं है। यह भारत का चिंतन नहीं है। शरीर और शरीर के भोग दोनों भौतिक सम्पदा हैं। दोनों नश्वर हैं। दोनों अल्पकालिक हैं। जिस जिह्वा को कुछ स्वादिष्ट वस्तुएं खाने की इच्छा होती है, जो जिह्वा रसगुल्ले के लिए ललचाती है, वह एक दिन नहीं थी। एक दिन है। पुन: एक दिन नहीं रहेगी। रसगुल्ला भी एक दिन नहीं था, एक दिन है। पुन: एक दिन नहीं रहेगा। मर जाने वाली जिह्वा, मर जाने वाले रसगुल्ले, मर्त्य जवानी, मर्त्य रसगुल्ले को लेकर कब तक भोगती रहेगी, कब तक आनन्द लेती रहेगी। उसका

आनन्द सब मर जाएगा। इसलिए कुछ इससे परे का सोचना चाहिए। इससे परे क्या है? केवल भोग-विलास का कीड़ा बनने के लिए, विलासी कुत्ता बनने के लिए हम इस संसार में नहीं आए हैं। इससे परे कुछ जीवन का लक्ष्य है। वह क्या है? इस पर भारत ने विचार किया है, पश्चिम ने विचार नहीं किया है। भारत ने तन से परे भी जीवन है इसका विचार किया पर, पश्चिम ने नहीं किया है।

पश्चिम ने कहा—**तन को पुष्ट पोषण दो।** वे तन के पुष्ट, मन के दुष्ट, बुद्धि के बेईमान, और आत्मा के अंधे हैं। ऐसे व्यक्ति पश्चिम में निर्माण हुए हैं। भारत ने कहा कि तन के पुष्ट, मन के तुष्ट, बुद्धि के संतुष्ट और आत्मा के ज्योतिष्मान बनो। हमने इस तरह के मानव का विचार किया है। भूख लगने पर तन को दो टुकड़े अवश्य दो, पर तन से बहुत ज्यादा बलिष्ठ मन है। भौतिक जगत् में प्रकाश की गति बहुत तीव्र है। प्रति सेकण्ड में एक लाख 86 हजार मील है। इस क्रम से सूर्य की रश्मि को पृथ्वी तक पहुंचने में आठ मिनट का समय लगता है। मन क्षण में सूर्यलोक, क्षण में चन्द्रलोक में पहुंच जाता है, इस प्रकार मन कितना बलिष्ठ है, उसको क्या खुराक देते हैं। शरीर को हम नित्य भोजन देते हैं। नित्य नहलाते हैं। फिर भी कुछ समय बाद पुनः गंदा हो जाता है। इस तुलना से हम विचार करें मन को क्या खुराक दे रहे हैं। मन को हम कुछ खिलाते नहीं। मन युगों से भूखा है। जैसे पाले हुए कुत्ते को रोटी नहीं देंगे तो वह रसोई में मुंह मारेगा। रसोई से ताड़ना करने पर वह नाली में मुंह मारेगा। विष्ठा-मल आदि खाएगा। यह कुत्ते की स्वाभाविक वृत्ति है। उसे रोटी नहीं देंगे तो वह मल में मुंह मारेगा।

इसी प्रकार हम मन को अच्छे संस्कार नहीं देंगे तो वह असत् संस्कारों को ग्रहण करेगा। इस कारण मन बहुत बिगड़ गया है।

हम चिल्लाते हैं—रोटी, कपड़ा और मकान। रोटी, कपड़ा और मकान। रोटी दो, रोटी दो-रोटी दो। पेट को जैसे-तैसे रोटी का जुगाड़ हो जाए मिल जाए। तो क्या हम मानते हैं तन से अधिक बलवान तो मन है? मन को क्या देते हैं? अर्जुन को क्या हुआ? तन का बलवान। संसार का शिरोमणि योद्धा। मन में तनिक मोह आ गया। हाथ से गांडीव गिरा। सारी त्वचा जल रही है। खड़ा नहीं हो सकता। भगवान्! मन चक्कर खा रहा है। क्या हो गया? तन का शूर शिरोमणि। सबसे बड़ा योद्धा अपने युग का। दस-दस हजार हाथियों के बल वाले लोग उसके सामने टिक नहीं सकते थे। इतना बलवान पर मन में तनिक मोह आया तो हाथ से गांडीव गिरा जा रहा है। किसी क्षत्रिय के लिए उसके हाथ से हथियार गिर जाए इससे बड़ी लानत क्या हो सकती है। वह गिर रहा है। वह सम्हाल नहीं सकता तब कौन बलवान? तन से मन हजारों गुणा अधिक बलवान है और मन को हम कोई खुराक ही नहीं देते। मन हमारा भूखा पड़ा है। पिता अपने पाले हुए बेटे को जिसको सारी उम्र खिला-

पिला रहे हैं उसको दो-चार दिन खाना न देवे तो गली-कूचे में निकल जाता है और अपने माता-पिता के विरुद्ध, अपने दादा के विरुद्ध गाली बकने लगता है। पड़ोसियों से, घर के दुश्मनों से मिल जाता है, मुंबई भाग जाता है या कहीं और चला जाता है। उम्र भर का शत्रु बन जाता है। खिलाया तो उम्र भर था। दो-चार दिन भोजन नहीं दिया, विद्रोही बन गया। मन तो पहले से ही विद्रोही! मन तो पहले से ही चंचल है। मन बहुत विद्रोही है, चंचल है। कबीर साहब कहते हैं—

बाजीगर का बांदरा ऐसा मनुज हो साथ
नाना नाच नचायके राखत अपने हाथ।

यह बाजीगर का बंदर है। और कलंदर समझता है मैं बंदर को नचाता हूं। बंदर जानता है कि मैं ही कलंदर बनने जा रहा हूं। क्योंकि जहां-जहां बंदर नाच करता है, कलंदर साथ-साथ घूमता है। आज राजबाग तो कल काठगोला, अभी स्टेशन पर तो थोड़ी देर बाद बाजार में, आज यहां है तो कल वहां है। जहां-जहां बंदर जाता है वहां-वहां कलंदर साथ जाता है। कलंदर स्वयं नाच कर दिखाता है कि बंदर-बंदरिया ऐसा नाच नाचो। तो बंदर-बंदरिया ऐसा नाचो, खेलो, देखने वालों से पैसा ले लो। बंदर नाच रहा है उसके साथ-साथ कलंदर को नाचना पड़ता है। एक चक्रधरपुर के बूढ़े महात्मा थे। वे कहते हैं जो लोग कहते फिरते हैं रामायण में रावण ने सीता का हरण कर लिया। अरे, मूर्खो! रावण ने सीता का हरण कैसे किया? रावण ने सीता का हरण नहीं किया। अरे कह दो उसको कि सीता ने ही रावण का हरण किया। सो कैसे, महाराज जी! वे कहते हैं देखो जी, रावण है त्रिलोक-विजयी। उसको कोई मार ही नहीं सकता। इन्द्र, वरुण, यम को खाट से बांध रखा था। सब देवता कम्पायमान होते थे। देव, गंधर्व, राक्षस, किन्नर कोई उसको मार नहीं सकता था। उसको यह वर प्राप्त था। ब्रह्माजी भी कहते थे क्या करें हम खुद बंध गए, वर देने के बाद। उसको मारने का कोई उपाय ही नहीं है। उस रावण का प्राण हरण कर लिया सीता ने, राज्य हरण कर लिया सीता ने, कुल हरण कर लिया सीता ने, तेज नाश कर दिया सीता ने, बुद्धिनाश कर दिया सीता ने। सच्ची बात यह है कि सीता ने ही रावण का हरण किया था। भौतिक दृष्टि से लगता है कि रावण ने सीता का हरण किया था। वह तो उसका सर्वनाश करने के लिए चिनगारी बनकर उसके घर में जाकर बैठी थी।

तो क्या कलंदर बंदर को नचाता है या बंदर कलंदर को नचाता घूमता रहता है। तो बाजीगर के साथ ऐसा बंदर है। हमारे पास जो मन है वह ऐसा ही जीव है ऐसा ही बंदर है, जो नाना नाच नचाय के, 84 लाख योनियों तक नाच नचाता है मनरूपी बंदर और अपनी रस्सी अपने ही हाथ में रखता है। छोड़ता नहीं है। तो मन जो स्वभाव से चंचल है, स्वभाव से विद्रोही है, एक क्षण में कब धोखा दे जाएगा

पता भी नहीं लगता है। मन को यदि उचित-आहार नहीं देंगे तो मन क्या खुराफात करेगा। इस मन को खुराक दो जी।

मन का आहार क्या है? मन का आहार है—संस्कार। मन को अच्छे संस्कार दो जी। तन को आहार दो, मन को संस्कार दो। संस्कार का क्या मतलब है?

संस्कारः परिष्कारः मानवमानसशोधकः

संस्कार मानव मन का परिष्कार करने की वे क्रियाएं हैं जो मनुष्य के मन का शोधन कर देती हैं। मनुष्य के मन का पवित्रीकरण कर देती हैं। मनुष्य के मन को संस्कारित कर देती हैं, परिमार्जन कर देती है। तो मानव मन का परिष्कार एवं शोधन करने वाले जितने भाव या कार्य हैं, वे सब संस्कार कहलाते हैं। उन्हीं संस्कारों की दिव्य परम्परा का नाम संस्कृति है।

प्रत्येक मानव का जन्म परिवार में होता है। इसलिए संस्कारों की श्रृंखला भी परिवार से ही प्रारम्भ होती है। पिता ने पुत्र को सिखाया, पुत्र ने पौत्र को सिखाया, पौत्र ने प्रपौत्र को। महाराजा अग्रसेन ने अपने 18 पुत्रों को सिखाया। उन्होंने अपने पुत्रों को सिखाया, उन्होंने भी अपने पुत्रों को सिखाया। ऐसा करते-करते आज तक यह परम्परा चली आ रही है। मनु ने इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु ने हरिश्चन्द्र को, हरिश्चन्द्र ने मान्धाता को, मान्धता ने दशरथ को, दशरथ ने राम को। ऐसा करते-करते यह परम्परा आज तक चली आ रही है। इस प्रकार संस्कारों की परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार क्रम में स्वाभाविक रूप में स्वतः प्राप्त होती रहती है। जो मनुष्य के मन का शोधन करने वाली क्रियायें हैं वे संस्कार कहलाती हैं और उस संस्कारों की दिव्य परम्परा का नाम संस्कृति है।

संस्कार क्या है और संस्कृति क्या है? हर जीव को भूख लगती है। किसको भूख नहीं लगती? हर जीव भोजन ढूंढ़ रहा है। एक छोटी-सी चींटी चली और चीनी का कणभर लेकर आई कि घर में बच्चों को खिलाएगी। उत्सव आ रहा है बच्चों को खीर बनाकर खिलाएगी। इसलिए चीनी का कण उठाकर जा रही है। रास्ते में एक शरारती बच्चा मिल गया। उसने रास्ते में उठाकर एक बालटी पानी डाल दिया। एक बालटी पानी रास्ते में डालने से तो उसके लिए मानो नदी में बाढ़ आ गई। सात समुद्र में तूफान आ गया। चींटी उस पानी में बह नहीं गई। यदि बह गई तो कहना ही कुछ नहीं है। यदि चींटी बह नहीं गयी तो सात समुद्र का खूब लम्बा चक्कर लगाकर अपने बिल में पहुंच जाती है। तो उस चींटी को भूख लगी है, उसके बच्चों को भूख लगी है। उसको अनाज के दाने की आवश्यकता है। वह साहूजी की दूकान पर आ गयी और एक दाना ले जा रही है। तो उसके अन्दर भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति है। उसको लिए चली जा रही है। एक बहुत छोटा जीव है। बाधा आने पर बाधा को पार करके चली जा रही है।

एक अमीबा है। इतना छोटा जीव है। उसको एककोशी जीव कहते हैं। यदि पैंसिल बनाते समय आपकी अंगुली ब्लेड से कट जाए। उसमें एक बूंद रक्त निकल जाए तो उस एक बूंद रक्त में 33 करोड़ अमीबा आ सकते हैं। सूई की बारीक नोक पर 500 अमीबा समा जाते हैं। उसको एक गिलास पानी में मैदे का चूरा और कांच का महीन चूरा मिलाकर दे देवें तो देखेंगे कि वह अनाज को खाता जाएगा और कांच के कण को छोड़ता जाएगा। इसका प्रमाण यह है कि उस गिलास के जल में आयोडिन की बूंद डालें और यदि मैदे के कण बचे रहेंगे तो पानी नीला हो जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमीबा भी भोजन ढूंढ़ रहा है और अन्न को आत्मसात् करता हुआ चलता है।

हम भी आगरा से या जोधपुर से चले। मारवाड़ से या राजस्थान से चले या कहीं ओर से चले। भोजन के लिए एक लोटा और गमछा लेकर निकल पड़े कि चलो, असम जाएंगे, मिजोरम जाएंगे, बांग्लादेश जाएंगे, बर्मा जाएंगे। दुर्गम से दुर्गम स्थानों पर भी चल पड़े। इतनी दूर-दूर तक किसलिए जाते हैं? इतनी दूर-दूर व्यापार क्यों करते हैं? भोजन की प्रवृत्ति है। भोजन ढूंढ़ने के लिए। अतः अमीबा से लेकर मनुष्य तक सबमें भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति है। इसलिए इसको कहते हैं प्रकृति। अतः प्रत्येक जीव जो जन्मा है वह भोजन ढूंढ़ रहा है। इसमें प्रत्येक मनुष्य और पशु समान हैं। पर भोजन कैसे ढूंढ़ना, इसमें भेद है। लेकिन भोजन किस तरह से ढूंढ़ना, भोजन कैसे कमाना, कैसे साधनों से भोजन कमाना, भोजन न मिले तो कैसे संयम रखना, भोजन का सम्मानजनक साधन खोजना। कुत्ते को भूख लगी है। उसे भोजन न मिला तो रसोई में मुंह मारेगा, वहां डण्डे मिलें तो वह नाली में मुंह मारेगा। हमें भी भूख लगी है। मनुष्य को भी भूख लगी है। पर मनुष्य को भोजन नहीं मिला तो क्या दूसरे का खेत काटेगा? या जेब काटेगा या डकैती करेगा या फिर कुत्ते की तरह मल पर मुंह मारेगा? नहीं, मनुष्य तो मल नहीं खा सकता। वह भूख को वश में रखने का प्रयास करेगा। उस पर संयम करेगा, सहन करेगा। भोजन ढूंढ़ने का सम्मानजनक साधन खोजेगा। और यदि भोजन मिला तो पशुओं के समान जैसे-तैसे खा लेगा या भोजन करने का तरीका अपनाएगा। भोजन जहां मिला, जैसा मिला, कूकर-सूकर की तरह नहीं खाएगा वरन् भोजन करने में तरीका अपनाएगा, शिष्टता बरतेगा, सभ्यता बरतेगा। वह ध्यान रखेगा कि भोजन पवित्र हो, अपनी मेहनत का हो, पवित्र विधि से पवित्र स्थान पर, पवित्र भाव से तैयार होवे। पवित्र अवस्था में पहले भगवान् को निवेदन कर अतिथि देव को खिलाकर उसे संतुष्ट कर फिर स्वयं ग्रहण करेगा, तब जाकर पशु प्रवृत्ति पर अंकुश या विजय हुई।

स्वयं भोजन करना प्रकृति है। दूसरों को खिलाकर अपने लिए न बचे तो संतोष मान लेना संस्कृति है। घर में माता सबको खिलाकर अपने लिए नहीं बचे

तो संतोष मान लेती है, आनन्द मान लेती है कि तुम सभी के मुख से मैंने ही खाया है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं जिस दिन मां स्वार्थी बन जाएगी उसी दिन सारी मानवता मर जाएगी। मां यह सोचे नन्हे शिशु को भोजन का क्या अधिकार है? क्यों मैं अपने तन को निचोड़-निचोड़ इसको खिलाऊं, मुझे क्या पड़ी है कि मैं अपने तन का दूध पिलाऊं। भूखे को खिलाना एवं स्वयं भूखा रह जाना संस्कृति है। दूसरे को खिलाकर आनन्द मानना संस्कृति है एवं भोजन छीनना, भोजन के लिए छीना-झपटी करना यह सब प्रकृति है। और दूसरे को भोजन कराना यह सब संस्कृति है। भूख की तृप्ति के लिए भोजन ढूंढ़ रहा है। भोजन ढूंढ़ने में बाधा पड़े तो संघर्ष कर रहा है। भोजन को कोई छीनने की चेष्टा करे तो उसके साथ घूँसा चला रहा है। युद्ध कर रहा है, तलवार चला रहा है, छुरा चला रहा है, खून कर रहा है। यह है प्रकृति।

और संस्कृति क्या है—

व्यष्टि से समष्टि में समा जाना
जन-जन की आत्मा बन जाना।

सबके सुख में अपना सुख मानना
सबके कर्म में अपना कर्म मानना।

व्यष्टि का समष्टि के लिए, अपने से श्रेष्ठ इकाई के लिए उत्सर्ग करना ही संस्कृति है।

तुम साढ़े तीन हाथ के मांस के लोथड़े के लिए उत्पन्न नहीं हुए हो। अपनी पांच इन्द्रियों की तृप्ति के लिए या जिह्वा के चटलास के लिए नहीं पैदा हुए। तुम विश्व के मंगल के लिए, समाज के हित के लिए, राष्ट्र के हित के लिए, मानवता के महानतम मंगल के लिए पैदा हुए हो। इसलिए जितना बन सके उत्सर्ग करो अपने समाज के कल्याण के लिए। जितना उत्सर्ग करता जाता है उतना-उतना ऊंचा उठता जाता है। विनोबा छोटे थे, घर पर एक भिखारी आया। मां कहती है जा विन्ना भिखारी को एक रोटी दे आ। मां प्यार से विन्ना कहती थी। विनोबा ने कहा—मां! यह हट्टा-कट्टा मुस्टण्डा, कुछ करता नहीं। भूखा बनकर भिखारी बनकर मांगने के लिए आ गया है। उसको क्या अधिकार है मांगने का। मैं उसे नहीं दूंगा। स्वयं कमाता क्यों नहीं। स्वयं कमाए-खाए। मां ने तनिक प्यार से तनिक गम्भीर होकर कहा—विन्ना! तू कहता है इसे मांगने का क्या अधिकार है? तू कहता है स्वयं कमाए-खाए। विन्ना! तब तू बता तुझे मेरे घर पर खाने का अधिकार किसने दिया। कौन-सा अधिकार पत्र लेकर आया कि मेरे घर में खा रहा है। तू कौन सा कमा कर ला रहा है, फिर भी खा रहा है। जा इसको रोटी दे। और

विन्ना के समझ में आया-ओ हो, मैं तो भूल में था। समाज किसी और ही महान् तत्त्व पर टिका हुआ है।

आज कम्युनिस्ट नारा लगाते हैं जो कमाएगा सो खाएगा। कमाने वाला खाएगा। अरे कामरेड, तेरे घर में नन्हा बच्चा पैदा हुआ है। जो कमाएगा सो खाएगा तो वह जब तक न कमाए तब तक उसे मत खिलाना। कमाएगा सो खाएगा। तो वह जब तक न कमाए तब तक उसे मत खिलाना। जब तक वह कमाएगा तब तक तो मर जाएगा। वह कहां से कमाएगा। मां सोचे, मुझे क्या पड़ी है मैं उसे काहे खिलाऊं। उसका क्या अधिकार है? कौन-सा अधिकार पत्र लेकर आया है खाने के लिए? क्यों मैं अपने तन का दूध पिलाऊं। मैं अपने जीवन को निचोड़-निचोड़ कर दूध क्यूं पिलाती रहूं। मां स्वार्थी बन जाए तो जिस दिन मां स्वार्थी बन जाएगी उस दिन सारी मानवता मर जाएगी। एक व्यक्ति भी नहीं बचेगा। इसलिए कमाने वाला खाएगा, यह नहीं। कामरेड की पत्नी ने कहा, मुझे भोजन दो। कमाने वाला खाएगा, कमाती नहीं हो, दिन भर घर पर बैठी रहती है। उसे मत खिलाओ। विधवा बहन है उसे मत खिलाओ, बच्चे को मत खिलाओ। बूढ़े मां-बाप हैं उन्हें मत खिलाओ। कमाने वाला खाएगा यह दृष्टान्त नहीं है। कमाने वाला खिलाएगा। सारे समाज को खिलाएगा। खिलाकर सुख मानेगा। प्रसन्न होगा कि धन्य है मेरी कुछ कमाई समाज के अधिक से अधिक लोगों का कल्याण कर सकी। यह जो भावना है उसकी कमाई धन्य है। इसलिए तन को आहार दो, मन को संस्कार दो। रोज मन को अच्छे संस्कार दो। प्रतिज्ञा करो बंधु मन को अच्छा संस्कार देंगे। मन को भूखा नहीं मारेंगे। मन भूख से तड़प जाएगा, विद्रोही बन जाएगा। यह मालिक का सर्वनाश कर डालेगा, हमारा भी सर्वनाश कर डालेगा। हमारी वह दुर्गति करा देगा। मन का मन पहले ही विद्रोही बना हुआ है। बहुत चंचल भी है, बंदर ही है, उस बंदर को बहुत सम्हाल कर रखो, साध कर रखो, उसको रोज अच्छा संस्कार देकर रखो। तो मन को शुद्ध संस्कार दो, अन्यथा मन अपना तो सर्वनाश करेगा, गलत पथ पर चलकर अपने मालिक को भी गड्ढ़े में गिराएगा। अपनी आत्मा को पतन के गर्त में गिराएगा और बार-बार 84 लाख योनियों में भटकाएगा। अत: मन को अच्छे संस्कार दो और बुद्धि को शुद्ध विचार दो।

बुद्धि हमारी कंगाल है। बुद्धि को हम विचार ही नहीं देते। रोज-रोज धंधा पड़ गया कपड़ा मापने का, सामान तौलने का, बही खाता लिखने का, ऑफिस चलाने का। इससे फुरसत ही नहीं मिलती कि बुद्धि को अच्छा विचार दिया जाए। बुद्धि बेचारी कंगाल है। बुद्धि क्या कहेगी इस मूर्ख के पास क्यों आ गई। यह मूर्ख मुझे कुछ भोजन ही नहीं देता है। तड़पाकर मार दिया मेरे (बुद्धि) को। इसलिए रोज बुद्धि को अच्छे विचार दो।

बुद्धि ही इहलोक के रहस्य खोलने वाली है। आज के ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश बुद्धि का ही चमत्कार है। मन से भी बहुत अधिक शक्तिशाली बुद्धि है, जहां मन की भी गति नहीं, पहुंच नहीं, वहां बुद्धि ही कारगर होती है। इहलोक और परलोक को जोड़ने वाली कड़ी भी बुद्धि ही है। अतः बुद्धि को चमकाओ। इसलिए गायत्री मंत्र में भगवान् भास्कर से बुद्धि की शुद्धता, उज्ज्वलता और ज्ञान के लिए प्रार्थना की गई है। इसलिए भारत का प्रत्येक व्यक्ति प्रातःकाल उदीयमान सूर्य को जलांजलि देता है। गायत्री मंत्र गाता है और प्रार्थना करता है—हे अनन्त प्रकाशक सूर्य, हे जगत् के आलोककर्ता, हे सहस्ररश्मि सूर्य, हे अनन्त विश्व के प्रकाशक, हे भुवनभास्कर सवितादेव, हे ज्योतिस्वरूप परमेश्वर! हमें ज्ञान दो। हम अनन्त कल्याणकारी तेज का ध्यान करते हैं।

रोज ज्योति का पान करने वाला, रोज ज्योति का स्नान करने वाला व्यक्ति कितना धन्य पुरुष है। जिसकी बुद्धि रोज ज्योति के सरोवर में स्नान करती है, ज्योति का पान करती है, ज्योति में नहाती है तो स्वयं ज्योति ही हो जाती है। शुद्ध हो जाती है। उसकी बुद्धि पराये धन, स्त्री को देखकर डगमगाती नहीं।

मैली बुद्धि, अशुद्ध बुद्धि का ईमान पराये धन, वैभव, स्त्री को देखकर डोल जाता है। बुद्धि के मल से ही पापकार्य में प्रवृत्ति होती है। आज संसार में जितने भी अपराध हैं वह बुद्धि की अशुद्धता के कारण ही हैं। बुद्धि की मंदता, भ्रष्टता और नष्टता के कारण ही सारे संसार में पापकार्य होते हैं। अरस्तू ने मनुष्य की परिभाषा की Man is a rational animal. पशु से मनुष्य को पृथक् करने वाला एक गुण बुद्धि को बताया है। यह अधूरी परिभाषा है। तभी तो मनुष्य तर्कशक्ति का दुरुपयोग करके झूठ को सच और सच को झूठ के रूप में सिद्ध करके पापों एवं अपराधों को प्रश्रय देता है। इसलिए मनुष्य को पशु से पृथक् करने वाले तीन विशेष गुण भारत के ऋषियों ने स्वीकारे हैं—(1) Rationality (2) Morality (3) Spirituality. Animality must be controlled by mentality and mentality by rationality and rationality by morality and morality by spirituality. जो बुद्धि की चालाकी को ही मनुष्यता का मानदण्ड मानते हैं, उसके दो स्तर हैं—एक हैं चतुर चालाक जो दूसरों से ठगे नहीं जा सकते। दूसरे हैं धूर्त जो अपनी बुद्धि की अतिशय चालाकी से दूसरे को ठगते रहते हैं। बीसवीं शताब्दी या आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा सभ्यधूर्त पैदा कर रही है। ऊंची से ऊंची शिक्षा पाकर जैसे वकालत की ऊंची से ऊंची शिक्षा पाकर अपराधियों को संरक्षण दे रहा है वकालत धर्म की दुहाई देकर।

लक्ष्मण ने राम से प्रश्न किया—विश्रवा ऋषि का पुत्र होकर, फिर ब्राह्मण, वेदपाठी का मन सोने की लंका देखकर डोल गया, सुन्दर स्त्री को देखकर मन

डोल गया। यह एक ऋषि पुत्र ब्राह्मण एवं वेदपाठी होते हुए भी कैसे सम्भव हुआ? सोने की लंका देखकर, पुष्पक विमान देखकर रावण का मन ललचा गया। असुरों का मन ललचा गया। सोने की लंका कुबेर की थी।

हम लक्ष्मी पूजा में चांदी का सिक्का रखकर पूजा करते हैं। कुबेर की पूजा सोना रखकर करते हैं क्योंकि सोने का अधिपति कुबेर है। वह दक्षिण दिशा का लोकपाल भी है।

सोने की लंका का मालिक कुबेर के होते हुए भी उसे देखकर माल्यवान् का मन डोल गया। कुबेर पर चढ़ाई कर दी। कुबेर ने अपनी रक्षार्थ विष्णु को पुकारा। विष्णु ने सुदर्शन चक्र से माल्यवान् की गर्दन उड़ा दी। तब माल्यवान् का पुत्र माली आया। उसकी भी वही गति की विष्णु ने। तब माली का भाई सुमाली आया। सुमाली पर अस्त्र प्रहार करने के लिए भगवान् विष्णु ने जैसे ही शस्त्र उठाया वैसे ही सुमाली भाग खड़ा हुआ। लंका से सीधे पश्चिम की ओर अफ्रीका का प्रथम देश है सोमालीलैण्ड, वहां पहुंच गया। वहां अपनी बहन कैकसी से सोने की लंका जीतने में मदद मांगी। बहन कैकसी ने कहा, मैं औरत की जात क्या कर सकती हूं! तुम अपने बाप और भाई को मरवाकर कायर की तरह भागकर आ गए और मुझसे कहते हो लंका जीतो। सुमाली ने कहा हम युद्ध से लंका नहीं जीत सकते। हम विष्णु के सुदर्शन चक्र का ताप नहीं सह सकते। पर युक्ति से, उत्तराधिकार के नियम से जीत सकते हैं। ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य है, पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा और विश्रवा के पुत्र हैं कुबेर। कुबेर के पिता विश्रवा अभी जीवित हैं। तुम उनके पीछे छाया की तरह लगकर उनको अपनी सेवा से संतुष्ट कर उनसे संतान प्राप्त कर लो तो वह संतान उत्तराधिकार के नियम से लंका की अधिकारी बन जाएगी।

कैकसी विश्रवा के पीछे छाया की तरह पड़ गई। विश्रवा जहां भी जायें, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण वह भी पीछे-पीछे जाए। पूजा की सामग्री, पुष्प, लकड़ी सारी व्यवस्था कर देवे। 12 वर्ष पश्चात् प्रयागराज में विश्रवा ऋषि ने पूछ ही लिया तुम छाया की तरह क्यों पीछे पड़ी हो? यज्ञ के लिए समिधायें आदि लाने का सेवा कार्य क्यों करती हो, मेरे पीछे क्यों पड़ी हो? छाया की तरह मेरे पीछे-पीछे घूमती हो। तेरा-मेरा क्या सम्बन्ध है? तो कैकसी ने आंखों में अश्रु भरकर कहा कि आप यह सम्बन्ध माने न माने, पर मैंने आपको मन ही मन पति रूप में वरण कर लिया है। आपका पिण्ड छोड़ने वाली नहीं हूं। विश्रवा को दया आ गई। उस राक्षस कन्या से विश्रवा ऋषि के तीन पुत्र पैदा हुए। एक हुआ सतोगुणी पुत्र विभीषण, एक रजोगुणी पुत्र रावण और एक तमोगुणी पुत्र कुम्भकर्ण। तब कैकसी

ने पुत्रों को कहा सोने की लंका पाना चाहते हो तो तपस्या करो। पुरुषार्थ करो। प्रयत्न के द्वारा कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

तीनों ने तप करके वर प्राप्त किया। रावण ने विभीषण से पूछा तुमने क्या वर मांगा। उसने कहा मेरी बुद्धि अधर्म में न लगे यह वर मांगा। तब रावण ने धिक्कारा कि हम राक्षस कुल के असुर हैं। असुरों का काम ही अधर्म करना है। असुरों का जन्म ही अधर्म के लिए हुआ है। फिर हम धर्म से थोड़े ही लंका प्राप्त कर सकते हैं। तुम मेरे लिए बेकार हो। फिर कुम्भकर्ण से पूछा तुमने भी तपस्या की है। उसने कहा—मैं मांगना तो चाहता था इन्द्रासन पर थोड़ा नशे में होने के कारण इन्द्रासन के स्थान पर निद्रासन मांग लिया। तब रावण ने कहा तुम भी बेकार हो।

फिर हम देखते हैं रावण की ललचाई दृष्टि सोने की लंका पर जाती है और अपने भाई कुबेर को वहां से खदेड़ देता है। फिर सीता माता पर नजर जाती है तो उस पर ललचा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं रावण ब्राह्मण, ऋषिपुत्र एवं वेदपाठी होते हुए भी बुद्धि का मलिन था।

अतः तन को शुद्ध आहार दो
मन को शुद्ध संस्कार दो
और बुद्धि को शुद्ध विचार दो।

बुद्धि को नित्य पवित्र विचारों से धोओ। उसे नित्य प्रार्थना, उपासना, ध्यान, धारणा, भक्ति के अमृतजल में स्नान कराओ। इस प्रकार आत्मा को ज्योति की प्रार्थना से ज्योतिष्मान बनाओ। इन सब उपायों से मन-बुद्धि का परिष्कार करो। जप, तप, भक्ति, कर्मयोग, ध्यान, प्राणायाम आदि सारी साधनायें सब मन-बुद्धि की शुद्धता के लिए है। इन सबसे मन-बुद्धि शुद्ध हो जाएगी। शुद्ध मन-बुद्धि ही परमात्मा है। शुद्ध मन शुद्ध बुद्धि में आत्मज्ञान, आत्मप्रकाश, स्वप्रकाश, ब्रह्मप्रकाश, ईश्वरीय ज्ञान प्रकाशित होता है। इस प्रकार तन को शुद्ध आहार, मन को शुभ संस्कार एवं बुद्धि को शुभ विचार देकर आत्मा को प्रकाशित कर अपने जीवन के साथ ही साथ देश व समाज के जीवन को धन्य-धन्य कर दो। पहले अपने अन्दर आत्मा का प्रकाश होता है फिर बाहर दृष्टि जाने पर सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा का दर्शन होता है। तुलसीदासजी ने कहा—

सीयराम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

तब कोई पराया बचता ही नहीं, कोई गैर बचता ही नहीं। तब किसके प्रति अन्याय करोगे, किसको ठगोगे या लूटोगे या अत्याचार करोगे। मनुष्य का स्वभाव है अपने प्रति कोई अत्याचार नहीं करता। इस प्रकार अपने जीवन में एवं राष्ट्र जीवन में राम राज्य की स्थापना हो जाती है।

यही मानव जीवन की सार्थकता है। अन्यथा मानव जीवन व्यर्थ है। समाज एवं संसार के लिए बोझ है, भार है। इससे पशु जीवन अच्छा जो प्रकृति से नियंत्रित होता है और संसार का भार तो नहीं बनता, बोझ तो नहीं बनता और न समाज में आतंक का कारण बनता है। क्योंकि वह प्रकृति से नियंत्रित है उसका जीवन स्थिर जीवन है। जबकि मनुष्य बहुत अर्थों में स्वतंत्र है और इसलिए उसका जीवन स्थिर नहीं है। वह चाहे तो अपना सर्वोच्च विकास कर सकता है और वह चाहे तो सर्वोच्च पतन भी कर सकता है।

आज व्यक्तिगत जीवन में, सामाजिक जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में समस्या इसलिए निर्माण हुई क्योंकि आधुनिक समय में शरीर से परे मन, बुद्धि एवं आत्मा का विचार ही नहीं करते। हम अपने वास्तविक स्वरूप शुद्ध, बुद्ध आत्मस्वरूप को भुला देते हैं और शरीर को ही सर्वस्व समझकर उसके पोषण में उसके सुख भोग में लग जाते हैं। तभी व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन एवं राष्ट्रीय जीवन में समस्या उत्पन्न होती है और व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन एवं राष्ट्रीय जीवन का अध:पतन होता है।

प्राचीन भारत शरीर से परे मन, बुद्धि एवं आत्मा का विचार करके उसके अनुसार स्वयं के जीवन का निर्माण करने के कारण ही ज्ञान की दृष्टि से जगद्गुरु एवं धन की दृष्टि से सोने की चिड़िया और सारे विश्व को मार्गदर्शन देने में समर्थ हुआ और सारे विश्व ने भी हमारा मार्गदर्शन पाकर अपने को धन्य-धन्य अनुभव किया था। अत: अपने देश को गौरवान्वित करने के लिए पुन: इसी मार्ग पर चलना होगा और वर्तमान में भी जो-जो इस पथ पर चला है जैसे स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रमण महर्षि आदि ने पुन: भारत को विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया। अत: हम भी इस पथ के पथिक बनकर पुन: स्वयं के जीवन एवं राष्ट्र के जीवन का निर्माण कर स्वयं के जीवन को गौरवान्वित कर राष्ट्र जीवन को भी गौरवान्वित कर सकेंगे।

'मैं अपने हृदय की गहराइयों में अनुभव करता हूं....कि रक्तपात से दुनिया थक चुकी है। दुनिया बाहर निकलने का रास्ता खोज रही है और मुझे विश्वास है कि इस भूखी दुनिया को बाहर निकलने का रास्ता शायद हमारा पुरातन देश ही बता सके।'

—महात्मा गांधी

बड़ों के आचरण से शिक्षा

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार बरतते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जीवन में जितनी शिक्षा अर्जित करता है, उसका 90 प्रतिशत अपने बड़ों के अनुकरण से ही प्राप्त करता है। शास्त्रों तथा अपने निजी विवेक से वह मात्र 10 प्रतिशत ही सीखता है। अतः लोकतन्त्र में अथवा किसी अन्य राजतन्त्र में भी राज्य के सर्वोच्च नेता के आचरण का देश के करोड़ों नागरिकों के आचरण पर सीधा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। पुरानी कहावत 'यथा राजा तथा प्रजा' का भी यही भाव है। महाभारत के युद्ध में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए कहा—'राजा कालस्य कारणं'। आज रोगशय्या पर पड़े हुए लोकनायक जयप्रकाश नारायण का मन मौनवाणी में दुहरा रहा है, 'राष्ट्रपति भ्रष्टाचारस्य कारणं'। जयप्रकाशजी के मौन भाव को मुखर करते हुए श्री चन्द्रशेखरजी ने स्पष्ट एवं सार्वजनिक आरोप लगाया है कि 'लोकसभा के विपक्ष के नेता श्री जगजीवन राम को प्रधानमंत्री न बनने देने के लिए श्रीमती गांधी और राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने गहरी साजिश की है।' उन्होंने राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की भी घोषणा की है। श्री जगजीवनराम एवं अन्य अनेक नेताओं ने भी इसे राष्ट्रपति द्वारा कुटिल षड्यन्त्र की संज्ञा दी है।

देश में व्याप्त भ्रष्टाचार के सबसे बड़े शिक्षक एवं आचार्य हमारे बड़े-बड़े नेतागण ही हैं। वे मंचों से भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए बड़ा ही सुन्दर उपदेश कर सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष आचरण में वे राग-द्वेष से दूषित हैं एवं भ्रष्ट आचरण करते रहते हैं। जनता उनकी कथनी का मनोरंजन मात्र के लिए श्रवण तो करती है, किन्तु अनुकरण तो उनके भ्रष्ट आचरण का ही करती हैं। वाणी का विलास अथवा वाणी का व्यभिचार मानव को उतना प्रभावित नहीं करता जितना प्रत्यक्ष जीवन का आचार।

मानव न निर्जीव पुस्तकों से उतना सीखता है और न थोथे भाषणों से। जितना कि प्रत्यक्ष जीवन की खुली, सजीव पुस्तक से ग्रहण करता है। अतः मानव सारा भ्रष्टाचार अपने ऊपर के अधिकारियों या नेताओं के अनुकरण से ही सीखता है।

सर्वोच्च पद पर आसीन नेताओं को यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके आचरण का सीधा प्रभाव देश के सौ करोड़ लोगों के जीवन पर पड़ता है। उनका विवेकपूर्ण, निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ आचरण देश के करोड़ों नागरिकों को विवेकी एवं सदाचारी बना सकता है और उनका एक भ्रष्ट आचरण पूरे देश को भ्रष्टाचार के गर्त में धकेल कर राष्ट्र का सर्वनाश कर सकता है। अतः भ्रष्टाचारी प्रधानमंत्री अथवा राष्ट्रपति केवल उतना ही अपराधी नहीं है जितना कि वैसा आचरण करने वाला कोई अन्य नागरिक है। उसका अपराध तो पूरे राष्ट्र को अपराध की शिक्षा देने वाला होने के कारण अन्य नागरिकों की तुलना में करोड़ों गुना अधिक गम्भीर एवं अक्षम्य बन जाता है।

सर्वोच्च नेता के प्रत्येक छोटे-बड़े आचरण को संसार भर के लोग अपनी सूक्ष्मदर्शी आंखों से, कैमरे की आंखों से, टेलीविजन की आंखों से, पत्र-पत्रिकाओं की दृश्य-कथाओं से देखते हैं और जाने-अनजाने उसका अनुकरण कर उसके अनुरूप ढलते जाते हैं। अतः किसी गणराज्य के राष्ट्रपति को गणपति के समान अपनी सूक्ष्मदर्शी आंखों से पूरी परिस्थिति को परखना चाहिये। गजानन के विशाल मस्तक की भांति गंभीर विचार करना चाहिये और गज के समान फूंक-फूंक कर एक-एक पग रखना चाहिये। गणपति पूजा का पर्व यदि गणराज्य के राष्ट्रपति को कुछ विवेक, विचार, गाम्भीर्य एवं निष्पक्षता की शिक्षा दे सके तो राष्ट्र के लिए मंगलमय प्रसंग होगा।

पं. नेहरू जैसे प्रतिष्ठित नेता के जीवन की कमियों का पूरे राष्ट्र पर एवं राष्ट्र के अन्तर्राष्टष्ट्रीय सम्मान पर सीधा प्रभाव पड़ा। पं. नेहरू का सरदार पटेल की यथार्थवादी नीतियों से मानसिक विरोध तथा नेताजी सुभाष की प्रतिष्ठा से द्वेष रखना, राष्ट्र को बहुत महंगा पड़ा। उनका प्रतापसिंह कैरो जैसे भ्रष्ट प्रशासक को संरक्षण देना भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाला बना। अमेरीका के न्यूयार्क नगर के हेनरी हडसन होटल के मैनेजर ने जब बड़े मजाक के साथ कहा कि—'आपके देश का प्रधानमंत्री नेहरू गोमांस बड़े चाव से खाता है।' तो हम सुनने वाले सभी भारतीयों का मस्तक लज्जा एवं ग्लानि से झुक गया। चीन के आक्रमण के समय अमेरीका में न्यूयार्क हेरल्ड ने व्यंग्यचित्र छापा जिसमें एक खिड़की से चीनी अजगर (ड्रेगन) विषभरी फूत्कार करते घुस आया है और भारत के प्रधानमंत्री दूसरी खिड़की से कांपते और चीखते हुए भागे जा रहे हैं। सिंगापुर में स्ट्रेट टाइम्स नामक पत्र (जिसकी 1 लाख प्रतियां प्रतिदिन छपती हैं) ने अपने मुखपृष्ठ पर पटना कांग्रेस में जनता को काबू में करने के लिए पं. नेहरू का (हाथ में लाठी लेकर भीषण क्रोधावेश में जनता पर प्रहार को आतुर) चित्र 12''×20'' इंच के

बहुत बड़े आकार में छापा तथा शीर्षक दिया 'भारत के बूढ़े प्रधानमंत्री का भीषण क्रोध'। इससे विदेशों में देश की प्रतिष्ठा कितनी गिरी यह हम विदेशों में यात्रा करने वाले भारत-पुत्र अथवा विदेशों में बसे प्रवासी भारतीय ही समझ सकते हैं।

भ्रष्ट आचरण द्वारा चुनाव जीतने वाली इन्दिरा गांधी ने देश को भ्रष्टाचार सिखाने में सबसे बड़ा योगदान दिया। न्यायतंत्र का गला घोंट कर तथा देश को अपने स्वार्थ के पंजों के नीचे कुचल कर उन्होंने लोकतंत्र को आपातकाल की काल कोठरी में ठूंस दिया। विदेशों में छपने वाले व्यंग्यचित्रों में उसे 'ब्लडी मेरी ऑफ इण्डिया' तथा भारतीय संविधान को चूल्हे में जला-जला कर स्वार्थ की रोटियां सेंक रही तथा संजय को खिलाते हुए दिखाया गया। भारत की जेलों में कारा-अधिकारियों के व्यापक भ्रष्टाचार का जब हम विरोध करते और कहते कि हम भ्रष्टाचार के विरुद्ध शिकायत करेंगे तो कारापाल कहते थे—'जब देश की प्रधानमंत्री ही भ्रष्ट है तो हमारा कोई क्या बिगाड़ लेगा?'

चौधरी चरणसिंह ने तो 'जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट' की कहावत को इस प्रकार बदल दिया—

जाट रे जाट अपनी पार्टी काट, इंदिरा तलुवे चाट
राजनारायण भाट, भ्रष्टाचार की हाट, मैं कुर्सी का लाट।

स्वयं अपनी टीम से धोखा करके, विरोधी टीम की फेंकी हुई गेंद ले कर स्वयं अपने ही गोल में ठेल कर, अपनी पार्टी को गद्दारी से पराजित कराने वाला बेईमान खिलाड़ी यदि षड्यन्त्र से टीम का कप्तान बन जाये तो क्या अन्य खिलाड़ियों को टीम के प्रति वफादारी सिखला सकता है? सौ करोड़ लोगों को द्रोह एवं सिद्धान्तहीन पदलोलुपता सिखाने वाले इस आचरण भ्रष्ट कदम को क्या देश कभी क्षमा करेगा?

दलगत राजनीति से दूषित व्यक्ति को राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर कभी नहीं बैठाना चाहिए। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद एवं डॉ. राधाकृष्णन् जैसे राष्ट्रपतियों के गौरव से मण्डित आसन पर यदि एक ऐसा व्यक्ति बैठ जाता है जो पुराने राजनीतिक विद्वेष एवं दलगत स्वार्थ से ऊपर उठ कर पूरे राष्ट्र के हित की दृष्टि से विवेकपूर्ण पग नहीं उठा सकता तो यह राष्ट्र के लिए गंभीर चिन्ता का विषय एवं लोकतंत्र के लिए भीषण संकट का प्रसंग है। ऐसा राष्ट्रपति जो राष्ट्र की पत की रक्षा न कर उसकी प्रतिष्ठा को देश एवं विदेश में गिरा देवे उन्हें स्वयं अपना पद त्याग कर पूरे राष्ट्र से क्षमायाचना करनी चाहिए अन्यथा राष्ट्र के नागरिकों को बाध्य होकर उन्हें सिंहासन से च्युत करना पड़ेगा। लोकतंत्र में तंत्र का स्वामी लोक है न कि उच्च पदासीन राष्ट्रपति, जो लोकमत द्वारा चुना गया राष्ट्र का सब से बड़ा वेतनभोगी नौकर मात्र है।

राष्ट्र के प्रति हमारी कैसी दृष्टि होनी चाहिए

आज सबकी आम शिकायत है कि भारत में नीचे से लेकर ऊपर तक सब भ्रष्ट हैं। हिन्दुस्तान में जन्मना मेरा दुर्भाग्य है, हिन्दुस्तान को कोई बचा नहीं सकता।

समाधान—कुछ लोगों से पूछा जाता है कि तुम समाज के लिये क्या करोगे तो वह कहता है कि मैं समाज के लिये कुछ नहीं करूंगा। पर समाज की हानि भी नहीं करूंगा। यह कहना वैसा ही हुआ कि मैं मां को रोटी भी नहीं दूंगा, किन्तु मां को गाली भी नहीं दूंगा। मैं मां को भोजन नहीं दूंगा किन्तु मैं मां को दुत्कारूंगा नहीं, हाथ नहीं उठाऊँगा। इस प्रकार मां को भूखा मारकर कहे कि मैंने मां का तिरस्कार नहीं किया।

अगर हम अपने शरीर या पेट को एक समय भोजन न दें तो वह बगावत कर उठता है। अगर परिवार को कुछ दिन नहीं सम्हाला तो परिवार बगावत कर उठता है। तो क्या जिस राष्ट्र को मैंने सदियों से उपेक्षित कर रखा है वह बगावत नहीं करेगा क्या? आप शरीर के लिये कितना समय देते हैं, परिवार के लिये कितना समय देते हैं फिर आप सोचें राष्ट्र के लिये आप कितना समय देते हैं। जब कोई हिन्दुस्तान की आलोचना करता है तब लगता है कि वह हिन्दुस्तान से बाहर है। वह हिन्दुस्तान का अंग नहीं है। मां के बेटे अगर कमीने हो जाय तो मां तिरस्करणीय नहीं है वरन् उसका बेटा तिरस्करणीय है। अत: अपने कमीनेपन का तिरस्कार करो, मां का नहीं।

अगर कोई मां-बाप को त्यागता है तो वह निंदनीय दृष्टि से देखा जाता है पर जो राष्ट्र को त्यागता है तो वह कितना निन्दनीय है? किसी से पूछा जाता है कि तुम अपने शरीर की सेवा करोगे या समाज की। तो उसका उत्तर होता है शरीर की तो सेवा करनी ही पड़ेगी।

कोई भी देश स्वयं महान् नहीं होता। उसके पुत्र महान् होते हैं तो वह देश भी महान् होता है। आज अमेरीका महान् है तो अपने पुत्रों के कारण। अगर भारत पहले विश्वगुरु था तो अपने पुत्रों के कारण। उसके पुत्र त्यागी, तपस्वी, ऋषि थे तब देश महान् था, जगद्‌गुरु था, जगत्‌वंदनीय था।

अतः हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं। हम देखें कि भारत पहले किन गुणों के कारण महान् था और उन गुणों के पतन के कारण आज किस प्रकार हमारा अधःपतन हुआ है। अतः हमें देखना है किन गुणों को पुनः अर्जित करके हम महान् हो सकते हैं।

इतिहास साक्षी है। इतिहास उन्हीं व्यक्तियों को पूजता है जो अपने जीवन में उन गुणों का विकास करके राष्ट्रसमर्पित जीवन व्यतीत करता है और उन व्यक्तियों को इतिहास कूड़ेदानी में फेंक देता है जिनका जीवन व्यक्तिगत भोग और परिवार तक सीमित होता है। लोकमान्य तिलक के साथ और भी 44 छात्रों ने वकालत पास की। पर उनका इतिहास में नामोनिशान भी नहीं है क्योंकि उनका जीवन अपने आप तक सीमित था।

देश के उत्थान के लिये हमें यह बताया जाना चाहिये कि किन गुणों के कारण विश्ववंदनीय थे और किन दुर्बलताओं के कारण हम पतित हुए। फिर हम उन गुणों को पुनः कैसे अर्जित करें कि हम पुनः विश्वगुरु बन सकते हैं।

वे देश भाग्यवान् हैं जो चिरन्तन स्वदेश को देश के इतिहास में खोज लेते हैं। बाल्यकाल में इतिहास ही देश के साथ उनका परिचय करा देता है। किन्तु हमारे यहां बिल्कुल उलटा है। देश का इतिहास ही हमारे स्वदेश को आच्छन्न किये हुए हैं।....अंग्रेजों के लड़के यह जानते हैं कि उनके बाप-दादों ने अनेक युद्ध जीते, अनेक देशों पर अधिकार किया और वाणिज्य व्यवसाय बढ़ाया। वे स्वयं भी रण गौरव, धन गौरव, और वाणिज्य गौरव के अधिकारी बनना चाहते हैं। हम जानते हैं कि हमारे पूर्वजों ने देश अधिकार और वाणिज्य-व्यवसाय नहीं किया। यही जानने के लिए है भारतवर्ष का इतिहास। उन्होंने क्या किया हम नहीं जानते।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारतीय संस्कृति

संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है, भूखण्ड राष्ट्र का देह है, साहित्य उसकी दृष्टि है, भाषा उसकी वाणी है, सभ्यता उसका श्रृंगार है, कलाएं उसका सौन्दर्य है, विज्ञान उसका वैश्विक शोध है, अर्थ उसका भण्डार है, संस्कृति उसकी प्राण है। संस्कृति के बिना सब निष्प्राण हो जाएगा।

इकबाल का कथन है—

रोम यूनान मिस्र मिट गये जहां से

इसमें उन देशों के भूखण्ड अभी तक वर्तमान है किन्तु उनकी संस्कृतियां मिट गईं।

भारत में राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है।

पश्चिमी राष्ट्र राजनीतिक इकाई से बनता है। यूरोप के रूस से लेकर आयरलैण्ड तक संस्कृति लगभग समान है। पूरे यूरोप का भूखण्ड लगभग भारत जितना ही है फिर भी बीसियों राष्ट्र हैं। भारत में सन् 1947 तक ब्रिटिश शासन में साढ़े पांच सौ रियासतें थी। उससे पूर्व भी देश में हजारों छोटे-बड़े राज्य रहे होंगे। मारवाड़, मेवाड़, चोल-चालुक्य आपस में लड़ते रहते थे। राज्य तो अनेक थे किन्तु संस्कृति एक होने के कारण राष्ट्र एक था।

भारत की राजनीतिक एकता चाहे अनेक बार खंडित होती रही है। किन्तु, हमारी सांस्कृतिक एकता सनातन काल से अभेद्य रही है। वास्तव में उत्थान-पतन के अनेक झंझावातों में तथा विदेशी आक्रमणों के प्रचण्ड बवण्डरों में भारत को सदा एक बनाये रखने वाली यह सांस्कृतिक एकता ही उसकी संजीवनी शक्ति है।

भाषाएँ बांटती हैं, संस्कृति जोड़ती है। राजनीति तोड़ती है, संस्कृति जोड़ती है। जातियां बांटती हैं, संस्कृति जोड़ती है। वर्ण आश्रम, जाति-उपजाति, प्रदेश, वेश-भूषा, आर्थिक स्तर आदि को संस्कृति ने जोड़ रखा है। भारतीय समाज नगरवासी, ग्रामवासी और वनवासी तीन स्तरों पर विकसित हुआ है। किन्तु, सभी स्तरों पर एक ही महान् संस्कृति का स्वर्णिम-सूत्र पूरे समाज को एकात्मता में

बांधने में सहायक सिद्ध हुआ है। अतः राष्ट्र की एकता का स्वर्णिम-सूत्र संस्कृति ही है। यह सूत्र टूटते ही भारत खण्ड-खण्ड हो जाएगा।

जो संस्कृति अपने देश में समन्वय का स्वर्णिम-सूत्र है, वही संस्कृति भारत के सांस्कृतिक दिग्विजय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्राणधारा है। संस्कृति के स्वर्णिम-सूत्र ने ही भारत को जगद्गुरु के सिंहासन पर बिठाया है। यदि समस्त दक्षिण-पूर्व व उत्तर एशिया के पचासों देश भारत को पुण्यभूमि मानकर भारत के कपिलवस्तु, गया, हरिद्वार की धूलि को मस्तक पर चढ़ाते हैं; यदि फिजी, गियाना, मारीशस, सूरीनाम, ट्रिनीडाड के लोग गंगास्नान के लिए हजारों मील दूर से भारत की यात्रा पर आते हैं; इंडोनेशिया के मुसलमान रामलीला-कृष्णलीला को राष्ट्रीय महोत्सव के रूप में मनाते हैं; अपने देश में सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन रखते हैं तो केवल सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण ही।

भारत एक सांस्कृतिक राष्ट्र के साथ-साथ धार्मिक राष्ट्र है। भारत एक धर्म-प्रधान राष्ट्र होने से स्वदेश एवं स्वधर्म एक ही सिक्के के दो पहलू है। यहां देवभक्ति और देशभक्ति की एक अखण्ड अभिन्न परम्परा रही है। वेद से लेकर विवेकानन्द साहित्य तक सर्वत्र देवभक्ति और देशभक्ति साथ-साथ चली है। देश और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने से देश की सेवा धर्मपूर्वक नहीं हो सकेगी और परलोक की उपेक्षा होगी, देश की उपेक्षा करके धर्मपालन हमें इहलोक में उत्थान न दे सकेगा जैसा कि हम मध्ययुग में पाते हैं। मध्ययुग में संत देश के प्रति उदासीन थे। यदि धर्म से राजनीतिक बेहोशी फैलती है, राष्ट्र के प्रति उदासीनता आती है तो उससे क्या लाभ? यदि धर्मसाधना से देश लुट जाए तो वह साधना किस काम की? शास्त्र का मत है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' जिससे इहलोक का अभ्युदय, परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है। अतः भारत में राजनीति धर्म का एक अंग है। इसे राजधर्म, श्रेष्ठ धर्म कहा है। बिना धर्म के राजनीति वेश्या के समान हो जायेगी। अतः भगवान् राम-कृष्ण जहां धर्म के रक्षक हैं वहां राष्ट्र निर्माता भी हैं? गीता का अवतरण राष्ट्ररक्षा और धर्मरक्षा दोनों के लिए हुआ है।

भारत में देशभक्ति ही सर्वोच्च धर्म है तथा भारतभक्ति ही भगवान् की भक्ति भी सिद्ध होती है। चारों धामों की तीर्थयात्रा के धार्मिक कृत्य से राष्ट्रीय एकता का जो चमत्कार हिन्दू धर्म ने कर दिखाया वह विश्व इतिहास में अद्वितीय है। तीर्थयात्रा की परम्परा से देवदर्शन और देशदर्शन, दोनों साथ-साथ सिद्ध हो जाते हैं। गंगोत्री के गंगाजल की कांवर भरकर यात्री सारे देश की यात्रा करते हुए जब रामेश्वर में पहुंच कर उस गंगाजल से भगवान् शिव का अभिषेक करते हैं या रामेश्वर से सागर के जल की कांवर लेकर हिमालय में केदारधाम में भगवान्

शिव का अभिषेक करते हैं उन्हें अलौकिक आध्यात्मिक संतुष्टि और भारत की सांस्कृतिक अखण्डता की अनुभूति होती है।

हिन्दू इस देश भारत को ही अपनी जन्मभूमि, पितृभूमि, पुण्यभूमि, धर्मभूमि, मोक्षभूमि एवं अपना सर्वस्व मानते हैं। यही कारण है कि हिन्दू मात्र के लिए यह धर्मभूमि और कर्मभूमि दोनों है। हिन्दू का भारत से जन्म-मरण एवं जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। हिन्दू मात्र की समूची श्रद्धा भारत के भीतर है, भारत के बाहर कहीं नहीं है।

मुसलमान की पुण्यभूमि भारत नहीं अरब देश हैं तथा ईसाइयों के लिए येरूशलम पुण्यभूमि बन जाती है, भारत नहीं। इस तरह भारत में रहते हुए भी अहिन्दुओं की श्रद्धा भारत के बाहर चली जाती है। इसलिए वे पाकिस्तान के नाम पर देश के टुकड़े करते हैं तथा वे नागालैण्ड, मिजोरम, बोडोलैण्ड, छोटानागपुर आदि को अलग ईसाई राज्य बनाकर भारत को खण्ड-खण्ड करना चाहते हैं।

हिन्दू धर्म-दर्शन पूर्णतया स्वदेशी धर्म-दर्शन है। इसकी सभी शाखाएं भारत में ही जन्मी तथा फली-फूली है। अतः हिन्दू धर्म ही भारत का धर्म है। इसी के उत्थान से भारत का उत्थान होगा। इसे ही ऋषि अरविन्द घोष सनातन धर्म कहते हैं और वे कहते हैं—सनातन धर्म के उत्थान से ही भारत का उत्थान होना है और सनातन धर्म के पतन से भारत का पतन जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार स्पष्टतः भारत भक्ति ही देशभक्ति और देवभक्ति दोनों ही है। तभी भारत की वंदना भारत माता के रूप में, जगदम्बा के रूप में, मां भवानी के रूप में, जगज्जननी के रूप में की गयी है। इसलिए स्वाधीनता आन्दोलन के प्रसंग में भारत का उद्घोष था, जयघोष था—वन्दे मातरम्!

जिस प्रकार देवभक्ति की पुकार है उसी प्रकार देशभक्ति की पुकार है। देश के लिए स्वामी विवेकानन्द रोते हैं, तड़पते हैं। तिलक रोते हैं। वीर सावरकर रोते हैं। मालवीयजी रोते हैं। सुभाष-गांधी रोते हैं। महर्षि दयानन्द रोते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर रोते हैं। क्या मेरी मां दुर्बल है? जिसने सारे विश्व को सभी दृष्टियों से स्तनपान कराया है, वह कभी दुर्बल नहीं हो सकती। महर्षि दयानन्दजी कहते हैं—सुराज्य से स्वराज्य कोटिशः अच्छा है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—पचास वर्षों के लिए सभी देवी-देवताओं को भूल जाओ, तुम्हारा एकमात्र आराध्यदेव, भारत है। सुभाष बोस कहते हैं—तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा।

भारत एक सनातन राष्ट्र है। इसकी सीमाएँ भी प्राकृतिक है और सनातन इसकी संस्कृति है। जब ब्रह्माजी भी नहीं रहते तब भी भारतीय संस्कृति बीजरूप में अवशिष्ट रहती है। भारतीय संस्कृति के मूल में वेद हैं, ऋषि हैं, ईश्वर है। भारतीय

संस्कृति ईश्वरमूला होने से सद्मूला है, चिद्मूला है, आनन्दमूला है, आत्ममूला है। ओंकारमूला है।

भारतीय परम्परा में वेद सनातन और अपौरुषेय हैं। वेद विश्व का प्रथम प्रकाश है, इसे विश्वमनीषा ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है। वेद के काल-मीमांसा के सारे प्रयास असफल सिद्ध हुए हैं क्योंकि वेद सनातन और अपौरुषेय हैं। राम-सेतु के प्रकटन ने भी वेद की सनातनता पर अपनी मुहर लगा दी है।

यदि सृष्टि है और सृष्टिकर्ता ईश्वर है, तो सृष्टि के साथ-साथ उसका विधान भी प्रकट हो जाना चाहिए। पर जिनका विधान 2000 वर्ष पूर्व या 1400 वर्ष पूर्व या आज प्रकट हो रहा है वे God या अल्लाह को न्यायकारी कैसे सिद्ध कर सकते हैं? जबकि सृष्टि को प्रकट हुए और मानव को अस्तित्व में आये लाखों-करोड़ों वर्ष हो गए। इतने समय तक अंधकार में रखने वाले God या खुदा को न्यायकारी कैसे कहेंगे?

वेद के मूल में ऋषि हैं जिन्होंने ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा वेद मंत्रों का दर्शन किया। ऋषि भी सनातन हैं क्योंकि ब्रह्माजी ने पहले मानसिक सृष्टि की और ऋषियों को प्रकट किया। फिर बाद में मैथुनी-सृष्टि प्रारम्भ हुई—

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।। 10/6, गीता

और ईश्वर तो सनातन सत्य है ही।

भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव ईश्वर की संतान है, ऋषियों की संतान है। अमृत की संतान होने से अपने मूलरूप में दिव्य है। उसमें अनन्त गुण-सम्पदा यथा अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द उसके अन्दर में समाया हुआ है। स्वयं नारायण उसके अन्तर में समाए हुए हैं जिसे साधना के द्वारा, शिक्षा के द्वारा, संस्कारों के द्वारा, तप के द्वारा जगाना पड़ता है। अन्यथा उसके अन्दर के नारायण सोए ही रह जाते हैं।

अगर हम मानेंगे कि हम पाप की संतान हैं जैसा कि सेमिटिक परम्परा विशेषकर ईसाई धर्म स्वीकार करता है तो उससे पुण्यात्मा के फूल नहीं खिल सकते। आदम और हौवा का स्वर्ग में निषिद्ध फल खा लेना मूल पाप है और वह पाप से तब तक मुक्त नहीं हो सकते जब तक ईसा मसीह को व्यक्तिगत मुक्तिदाता न स्वीकारें। भले ही वह कितना ही पुण्यात्मा हो, धर्मात्मा और सदाचारी हो। अगर मूल प्रकृति में, स्वभाव में ही दोष है तो उसमें सुधार सम्भव नहीं है। कोयले को कितना ही धोएं उसे श्वेत नहीं कर सकते क्योंकि मूल में ही काला है। पर सफेद वस्त्र में प्रमाद से पड़े काले धब्बे को साबुन या पेट्रोल या अन्य उपाय से मिटा सकते हैं।

पाप जीवन का मौलिक अंग नहीं है। यह अज्ञान से, संग-दोष से हमने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। अतः उसे ज्ञान के प्रकाश से, सत्संग के द्वारा, सत् पुरुषों के संग के द्वारा दूर कर सकते हैं जैसा कि हम रत्नाकर डाकू में पाते हैं। नारद मुनि के सम्पर्क में आकर वह महर्षि वाल्मीकि बन जाता है, बिगड़ा हुआ वैश्यबालक विश्ववंद्य महात्मा गांधी बन जाता है। अपनी पत्नी के काम में अंधा युवक महात्मा तुलसीदास बन जाता है। करोड़ों योजन में फैला अंधकार सूर्य की एक रश्मि पड़ते ही दूर हो जाता है। अतः सृष्टि का मूलबीज पाप नहीं है। सृष्टि पाप से नहीं आनन्द से, सच्चिदानन्द से प्रकट हुई है। अतः मनुष्य मूलरूप से शुद्ध, निष्पाप है। वह दिव्य, साक्षात् ईश्वर की, ऋषियों की संतान है।

ईसाइयत के मूल में ही दोष होने से, विकृति होने से ईसाइयत के इतिहास में एक भी पुण्यात्मा को खोज पाना कठिन है।

यदि हम न्यूटन की तरह मानेंगे कि संसार की तरह मानव शरीर भी नियम बद्ध जड़ यंत्र है जो कार्य-कारण की शृंखला से बंधा हुआ है, जिसमें स्वतंत्र इच्छा का कोई स्थान नहीं है, उसका अच्छा-बुरा होना, पापी-पुण्यात्मा होना तंत्रिका तंत्र का परिणाम है। ऐसा मानने पर मनुष्य को न उसके अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और न कभी वह अपना सर्वांगीण विकास ही कर सकता है। इस सिद्धान्त की तार्किक नियति यह है कि मानव को दमन या सुविधा-व्यवस्था देकर जैसा चाहें Mold किया जा सकता है। समाजवादी धारा, साम्यवादी धारा न्यूटन के यांत्रिक मॉडल पर आधारित है।

परन्तु Quantum theory के प्रकाश में आने पर यह सिद्ध हो गया कि सृष्टि के प्रत्येक कण में स्वतंत्र इच्छाशक्ति है। तब मनुष्य का क्या कहना? वह नियमबद्ध यंत्र नहीं है। इसलिए हम मनुष्य को जैसा चाहें नहीं ढाल सकते हैं। वह परिस्थितियों के कारण, दमन के कारण दबा रहता है पर जैसे ही परिस्थितियां बदलती हैं वह अपने वास्तविकरूप में प्रकट हो जाता है। वह दबाव को अस्वीकार कर देता है। क्वांटम सिद्धान्त के आ जाने पर साम्यवादी धारा का वैचारिक आधार स्वतः ही ढह गया। अतः हम अपने को जड़ यंत्र मानकर अपना स्वाभाविक सर्वांगीण विकास नहीं कर सकते और न ही अपने स्वयं के अच्छे-बुरे कर्मों के लिए उत्तरदायी बनते हैं।

अगर हम डार्विन की तरह मानेंगे कि हम पशुओं की, बंदरों की संतान हैं तो उससे पशुता और नग्नता का ही फूल खिलेगा। इससे मनुष्यत्व, देवत्व, ब्रह्मत्व का फूल नहीं खिल सकता है। पशु लीला में, भोग लीला में सभ्यता का पर्दा नहीं रहता। इसी ने नग्न भोगवाद को, अपसंस्कृति को जन्म दिया है। यह नग्नता पहले साहित्य में आई। फिर फिल्मों में, फिर नाच-घरों में, कैलेण्डरों में आई। फिर धार्मिक चित्रों

में, चित्रकला और नृत्यकला आदि सर्वत्र छा गई। आज पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता, कला-कौशल का पूर्ण विकास है यानी विकास के चरम पर होने के बाद भी वहां मनुष्य नर-पशु बने हुए हैं। अपसंस्कृति पूरे पश्चिम को निगल रही है और उनका आक्रमण हमारे ऊपर भी हो रहा है। इस मनुष्यता की, नैतिकता की हानि को डार्विन अपने अन्तिम जीवन में अपनी आत्मकथा में स्वीकारता है। मेरे सिद्धान्त ने नैतिकता की हानि की है, इसमें चारित्रिक विकास का अवसर नहीं है, दैवी सम्पदा अर्जन का अवसर नहीं रहा। मेरी बुद्धि, मेरा जीवन जड़-यंत्र बनता जा रहा है, सृजनात्मकता का ह्रास हो रहा है। वह स्वीकारता है कि अपने सिद्धान्तों का पर्याप्त परीक्षण किए बिना ही जल्दबाजी में मित्रों और पत्नी के आग्रह के दबाव में आकर प्रकाशित कर दिया। अन्तिम समय में स्वयं अपने सिद्धान्त को छोड़ दिया था और अपनी परम्परागत ईसाई आस्था के अनुसार अपनी मृत्यु को स्वीकारा था। पर दुर्भाग्य है गत वर्ष डार्विन की द्विशताब्दी मनाई गई पर डार्विन की प्रथम स्थापनाओं को ही याद किया गया। उनके बाद के प्रतिपादन को भुला दिया गया। अगर उसको याद करें तो जीवन की दिशा ही बदल जाएगी और सारे विश्व की दिशा ऊर्ध्वमुखी हो जाएगी।

स्पष्ट है कि अपने को बंदर की संतान मानकर हम अपना ऊर्ध्वगामी विकास, चेतना की ओर, पूर्णता की ओर नहीं कर सकते हैं। इससे मनुष्यत्व, देवत्व, ब्रह्मत्व के फूल नहीं खिल सकते हैं।

यदि हम मानेंगे कि हम काम के पुत्र हैं, जैसा कि फ्रॉयड मानता है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान का जनक माना जाता है, जिसने पूरे पश्चिमी जगत् के साथ सारे विश्व को प्रभावित किया है। उसका कथन है कि मनुष्य में काम प्रवृत्ति ही एकमात्र जीवन प्रवृत्ति है अन्य सारी प्रवृत्ति मृत्यु प्रवृत्ति है। वह मनुष्य की सारी चेष्टाओं में, प्रवृत्ति में, प्रकृति के सौन्दर्य आदि सबमें कामतत्त्व का ही दर्शन करता है। अगर हम फ्रॉयड की तरह स्वयं को काम का पुत्र मानेंगे, वासनाओं का बंडल मानेंगे तो जीवन में हम कभी भी काम की दासता से मुक्त नहीं हो सकते। हमारे जीवन में निर्वासना, निर्विकारता, शुद्धता, पवित्रता कभी आ नहीं सकती। यही कारण है कि आज पूरा विश्व काम की दासता में जकड़ता जा रहा है।

यदि हम स्वयं को अर्थ का पुत्र मानेंगे जैसा कि मार्क्स मानता है। मार्क्स और पश्चिम के अर्थशास्त्र की तीन मूलभूत मान्यताएँ हैं—मनुष्य जन्म से स्वार्थी है, मनुष्य का अन्तिम स्वर्णिम लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति है और अर्थ के व्यापार में नैतिकता का कोई दखल नहीं होना चाहिए। इसी भाव ने प्राचीन काल में साम्राज्यवाद को और अर्वाचीन काल में बाजारवाद को प्रश्रय दिया है।

मार्क्स के सिद्धान्तों में विरोधाभास है—व्यक्ति मूलरूप से स्वार्थी है। मनुष्य का मूल लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति है और अर्थ के व्यापार में नैतिकता का

दखल स्वीकार नहीं है। फिर वह यह भी कल्पना करता है कि आदर्श साम्यवादी राज्य में सभी योग्यतानुसार समाज को सेवा देंगे और आवश्यकतानुसार समाज से अपना योगक्षेम प्राप्त करेंगे। ये दोनों बातें विरोधाभासी होने से कम्यूनिस्ट देशों में अभी तक साकार नहीं हुई और न भौतिकता के आधार पर भविष्य में कभी साकार होने की सम्भावना है।

यह तो आत्मिक विकास के आधार पर, चेतना के विकास पर, चरित्र के विकास पर निर्भर करता है जिसका कोई आधार साम्यवादी दर्शन में नहीं है। साम्यवाद आएगा साम्यबोध से। साम्यबोध का कोई आधार साम्यवादी दर्शन में है नहीं। क्योंकि ईश्वर है तो किसी बदमाश उचक्के का नाम है। धर्म अफीम है। नैतिकता पुराने जमाने के बाट हैं। न कर्म का सिद्धान्त है न पूर्वजन्म है और न पुनर्जन्म है। सज्जन और दुर्जन दोनों को अन्त में मरकर मिट्टी ही बन जाना है। इस प्रकार अच्छा आदमी बनने की कोई प्रेरणा भी शेष नहीं बचती। निरी-भौतिकता में श्रेष्ठ जीवनमूल्य की प्रेरणा का कोई अवसर ही नहीं है।

पर भारतीय परम्परा में यह सदैव साकार रही है, उसके परिवार जीवन में। हमारी चेतना का विकास पारिवारिक-जनों तक होता है। अत: परिवार में सभी अपनी योग्यता के अनुसार सेवा देते हैं और आवश्यकतानुसार योगक्षेम प्राप्त करते हैं। जिसकी चेतना समाज तक विकसित है वह समाज के लिए अपने तन, मन, धन को अर्पित कर देता है। जिसकी चेतना का विकास राष्ट्र तक है तो वह अपना तन, मन, धन यानी सब कुछ राष्ट्र के लिए समर्पित कर देता है। संन्यासी की चेतना मानवमात्र तक होती है। अत: संन्यासी का सारा क्रियाकलाप मानव मात्र के कल्याण से प्रेरित होता है।

अत: स्पष्ट है कि हम अपने को केवल अर्थ का पुत्र मानेंगे तो आर्थिक दासता से कभी मुक्त नहीं हो सकते।

अगर हम अपने को एडलर की तरह अहम् का पुत्र मानेंगे तो जीवन में कभी निराभिमानता, विनय का भाव नहीं आ सकता।

हम कोई कोरी स्लेट नहीं हैं जैसा कि अनुभववादी दार्शनिक लॉक मानता है जिसमें जो चाहे लिखा जा सके। यदि ऐसा होता तो अब तक अपनी कल्पना का मनुष्य साकार हो जाता।

न मनुष्य कच्ची मिट्टी का लोंदा है कि उसे चाहे जैसा आकार दे सकें और न वह शिलाखण्ड है कि जैसी चाहें उसमें से मूर्ति तराश कर निकाल सकें।

वह तो चेतन का अंश है, प्रतिबिम्ब है। साक्षात् ईश्वर की संतान है, अनन्त पथ का यात्री है। तभी तो अष्टावक्र जो अभी मां के गर्भ में है, पिता के अशुद्ध वेदपाठ को सहन नहीं कर पाता है और पिता को टोक देता है।

नचिकेता, भारत का बालक साक्षात् यमराज से अमरता का रहस्य पूछता है। आप (मृत्यु) मर जाएं, मैं अमर हो जाऊं।

पांच वर्ष का बालक ध्रुव तप के लिए वन को चला जाता है।....

छोटा-सा बालक प्रह्लाद हिरण्यकशिपु के सामने निडर खड़ा है। आठ वर्ष का बालक शंकर संन्यास लेता है।

वस्तुतः हम ईश्वर की संतान हैं। उत्तराधिकार के क्रम में हममें वही गुणधर्म समाए हुए हैं जो स्वयं नारायण में हैं। बस उसे शिक्षा, साधना, संस्कारों व तप, ज्ञान और सत्संग के द्वारा जगाना पड़ता है।

संस्कृति का विचार मनुष्य के सन्दर्भ में ही किया जाता है। अन्य योनियां भोग योनियां हैं चाहे वह पशु शरीर हो या देव शरीर। पशु शरीर में हम निकृष्ट सुख-दुःखों को भोगते हैं। देव शरीर में उत्कृष्ट सुखों को। मानव योनि कर्मयोनि के साथ भोगयोनि है। मनुष्य पीछे किए हुए कर्मों को भोगता भी है साथ ही कर्म-योनि होने से नए कर्म करने की स्वतंत्रता भी उसे प्राप्त है। पर पशु योनि में कर्म की स्वाधीनता नहीं है। वह प्रकृति से बंधी हुई, स्थिर योनि है। वह न अपना विकास कर सकती है और न पतन ही। वह आदिकाल से जैसा रहता आया है, खाता आया है वैसा ही आज भी है। वह अपना भौतिक विकास ही नहीं कर सकता तो मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक विकास का तो उसमें कोई अवसर नहीं है। अपने जीवन निर्वाह के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है वह प्रकृति या भगवान् के घर से लेकर ही आता है। वह संस्कारों के द्वारा पालतू बनाया जा सकता है, उससे अधिक उसका विकास सम्भव नहीं है। पर मनुष्य के साथ यह बात नहीं है, मनुष्य को कर्म की स्वाधीनता प्राप्त है। इस दृष्टि से शरीर के स्तर पर, मानसिक स्तर पर उसमें विशेषता, अपूर्वता प्रकट है। मनुष्य के शरीर में अंगूठे की बनावट, मनुष्य कमर सीधी कर मस्तिष्क ऊंचा करके चलता है। उसमें वाणी का प्रकाश, मन में कल्पनाशक्ति का विकास है। उसमें सर्जनेच्छा है, सुखेच्छा है, जिगीषा, विजिगीषा का भाव है। वह प्रकृति के बंधन को समझकर प्रकृति के पार जा सकता है। वह कर्म के बंधन को समझकर कर्म के पार जा सकता है। पर पशु सदैव प्रकृति एवं कर्म से बंधा होता है। मनुष्य दोनों के पार जाकर अपने मूल स्वरूप को, दिव्य स्वरूप को, अपने सच्चिदानन्द रूप को प्राप्त कर सकता है। अतः संस्कृति का विचार मनुष्य के सन्दर्भ में ही किया जाता है। मनुष्य ही आगे की यात्रा विकास की ओर, पूर्णता की ओर कर सकता है। इसीसे भारत में जन्म की सार्थकता है। क्योंकि प्रत्येक देश का एक मूल स्वर, एक मूल चेतना, एक विशिष्ट स्वभाव, प्रकृति होती है....और इसी दृष्टि से भारत में उपलब्ध अखण्ड साधु-संतों की परम्परा की सार्थकता है जो कि हमें नर से नारायण तक गति करा

सके। स्पष्ट है प्रभु ने हमें विकास के सब साधन, मानव योनि, भारत देश में जन्म, संतों की अखण्ड परम्परा और वैदिक सनातन धर्म में जन्म दिया।

चूंकि मनुष्य अनन्त पथ का यात्री है, अनन्त योनियों को पार करता हुआ उसके शुभ-अशुभ संस्कारों के साथ वह संसार में आता है। और मनुष्य जब संसार में आता है तब अनेक पशु प्रवृत्तियों से बंधा रहता है। यथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो मनुष्य और पशु में समान हैं। अतः शिक्षा, संस्कार, तप, सत्संग, साधना के द्वारा मनुष्य को पाप व पशु प्रवृत्तियों से ऊपर उठाकर उसे मनुष्यत्व में, मनुष्यत्व से देवत्व में, देवत्व से ब्रह्मत्व यानी विकास के सर्वोच्च शिखर तक पूर्णता तक पहुंचाने का प्रयास किया जाता है। इस दृष्टि से प्रकृति, विकृति व संस्कृति पर विचार करें—

प्रकृति, विकृति और संस्कृति

मनुष्य रूपी नरपशु का शिक्षा द्वारा परिष्कार या संस्कृत न किया जाए और उसे प्रकृति पर छोड़ देने पर वह विकृति की ओर चला जाएगा। जैसे गाय का ताजा दूध अपनी प्राकृतिक अवस्था में अधिक देर तक नहीं ठहर सकता, उसमें स्वभावतः विकृति आ जाएगी, उससे दुर्गन्ध आने लगेगी और कुछ दिनों में उसमें कीड़े पड़ जाएंगे। अतः दूध को प्रकृति पर न छोड़कर उसको संस्कारित कर उससे घी, मक्खन, पनीर, खोआ, मिठाइयां प्राप्त कर लेने से वह दीर्घकाल तक चलेगा। इस प्रकार नर पशु को सही शिक्षा, संस्कार, सही दृष्टि, सही परिवेश न मिले तो निश्चित रूप से उसमें विकृति आएगी और वह नरपशु से नरपिशाच बनेगा। जैसे रावण, कंस, हिरण्यकशिपु, नादिरशाह, तैमूर, हिटलर, Eachman आदि बने हैं। रोमन, शक, हूण, कुषाण जाति का इतिहास, इस्लाम, ईसाइयत, कम्यूनिस्टों का इतिहास विकृति के उदाहरण हैं। जब कि प्रारम्भ से ही सही चिन्तन, सही दिशा, सही परिवेश, सही व्यवस्था, सही संस्कार का परिणाम है—राम, कृष्ण, सीता, सावित्री, दमयन्ती, विक्रमादित्य, राणा प्रताप, शिवाजी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, मां शारदा, भगिनी निवेदिता, तिलक, सुभाष, गांधी यानी हमारे महापुरुषों की अखण्ड परम्परा। सद्गृहस्थों की अखण्ड परम्परा संस्कृतीकरण का उदाहरण है जिसने स्वयं का, राष्ट्र और सारी विश्व मानवता का मुख उज्ज्वल किया है।

तब प्रश्न उठता है कि संस्कृति क्या है?

संस्कृति मानव जीवन को संस्कारित करने की वह दिव्य परम्परा है जिसमें मानव मन को परिष्कृत कर उसके अन्दर छिपे हुए दिव्य गुणों को, उसके मूल वास्तविक परिपूर्ण स्वरूप को प्रकट करने की चेष्टा की जाती है, उसमें स्थित करने की चेष्टा की जाती है। इस क्रम में नर से नरत्व, नरत्व से देवत्व, देवत्व

से ब्रह्मत्व तक उसका मूल परिपूर्ण स्वरूप है, उस तक उठाने का प्रयास किया जाता है।

तब प्रश्न उठता है कि संस्कार क्या है?

संस्कार का अर्थ है सजाना-संवारना, पूर्णता प्रदान करना। इस दृष्टि से उसमें तीन क्रियाएं सन्निहित हैं—दोषोपनयन, हीनांगपूर्ति और अतिशयआधान।

जीव अनन्त पथ का यात्री है। न जाने कितनी योनियों को पार करता हुआ वह मानव शरीर को प्राप्त होता है। वह असंख्य योनियों के संस्कार-पुंज को अपने साथ लेकर आता है। शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के संस्कार उसमें सम्मिलित हैं। इस प्रकार काल के प्रवाह से उसमें अशुभ संस्कार आ गए हैं, दोष आ गया है। उसे दूर करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रक्रिया को दोषोपनयन कहते हैं। काल के प्रवाह से अनेक अंग उपेक्षित रह जाते हैं, उन उपेक्षित अंगों की पूर्ति को हीनांगपूर्ति कहते हैं। फिर उसका मूल, दिव्य, वास्तविक-परिपूर्ण स्वरूप प्रकट होवे; इसके लिए उसके अन्दर दिव्य गुणों का आधान किया जाता है। इसे अतिशयआधान कहा जाता है। इसमें मुख्य 16 संस्कार हैं जिसके द्वारा मानव के मूल दिव्य, परिपूर्ण स्वरूप को प्रकट करने की चेष्टा की जाती है और यह संस्कार परम्परा गर्भाधान से प्रारम्भ हो जाती है और अन्त्येष्टि तक चलती है। यानी जीव के आने के पूर्व से प्रारम्भ होकर जीव के जाने के बाद तक चलती है। गर्भाधान के द्वारा हम दिव्य आत्मा का आह्वान करते हैं, बुलाते हैं तो उसको बैठाने के लिए स्थान शुद्धि, भावशुद्धि चाहिए। हम जहां-तहां, जैसे-तैसे नहीं बैठते। स्थान को शुद्ध कर आसन लगाकर बैठते हैं। गर्भाधान द्वारा हम दिव्यात्मा-पुण्यात्मा को बुला रहे हैं तो उसके लिए उपयुक्त शुद्धि भी चाहिए। फिर जाने के बाद यह संस्कार देते हैं कि कपाल भेदन करके जाना चाहिए था। अन्य मार्ग से गमन से, आने-जाने का क्रम बना रहेगा। इस प्रकार गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, लोक से परलोक तक हमारे जीवन का कोई भी क्षण, कोई भी कण और कोई भी कर्म धर्म से रहित, संस्कार से रहित नहीं है। धर्म व संस्कार हमारे जीवन का केन्द्र-बिन्दु है, प्राण-बिन्दु है जिससे हमारा समग्र व्यक्तिजीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन, विश्व जीवन संचालित है। धर्म या संस्कार से बाहर कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार मानव मन का परिष्कार करने, शोधन करने, पूर्णता प्रदान करने वाले जितने भाव एवं कार्य हैं, वह संस्कार कहलाते हैं। इन्हीं संस्कारों की दिव्य परम्परा को संस्कृति कहते हैं। इस दृष्टि से संस्कृति का अर्थ श्रेष्ठतम कृति से भी होता है। जो मनुष्य को ऊंचा उठाये वह संस्कृति है, जो नीचे गिराये वह विकृति

है। इस प्रकार श्रेष्ठकृति या सम्यक् कृति को भी संस्कृति कहते हैं। संस्कृति जीवन का सार है, जीवन का तात्पर्य है, जीवन के आदर्शों का विकास है, जीवन के मूल्यों का विकास है। अत: संस्कृति जीवन के मूल्यों की, जीवन के आदर्शों की सतत साधना है जो मानव को मानवजीवन का मूल्य प्रदान करती है तथा जिसकी रक्षा हेतु भारतीय वीरों ने, महापुरुषों ने अपना जीवन हंसते-हंसते उत्सर्ग कर दिया। वे जीवनमूल्य हैं—स्वतंत्रता, समानता, बंधुता आदि।

अत: मानव के सर्वोच्च विकास के लिए जो जीवनमूल्य सर्वाधिक महत्त्व के हैं उनकी एक क्रमबद्ध व्यवस्थित परम्परा ही संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय मनीषियों ने चार जीवनमूल्य, आदर्श या पुरुषार्थ रखे जिसके अन्दर अन्य सारे जीवनमूल्य समाविष्ट हो जाते हैं।

ऐसे ही एक और परिभाषा दी जाती है। जब किसी विशिष्ट भूखण्ड में मानव समाज दीर्घकाल तक वास करता है तब उसमें कुछ विशेषताएं या आदर्श, या सद्‌गुण विकसित हो जाते हैं। उसकी परम्परा का नाम संस्कृति है।

इन जीवनमूल्यों का, आदर्शों का, सद्‌गुणों का दर्शन ऋषियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा हुआ। अत: इसे ऋषि संस्कृति भी कहते हैं। देवों को हुआ इसलिए देव संस्कृति भी कहते हैं। मनु को हुआ इसलिए मनु संस्कृति या मानव संस्कृति भी कहते हैं। ब्राह्मणों को हुआ इसलिए ब्राह्मण संस्कृति भी कहते हैं।

प्रत्येक मानव का जन्म किसी परिवार में होता है। इसलिए संस्कारों की श्रृंखला भी परिवार से प्रारम्भ होती है। संस्कारों की परम्परा पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र, पौत्र से प्रपौत्र तक चलती रहती है। वैसे ही गुरु से शिष्य, शिष्य से प्रशिष्य को उत्तराधिकार के क्रम से स्वत: ही पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती रहती है। मनु से उसके पुत्र इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकु से उसके पुत्र मान्धाता, मान्धाता से दिलीप-रघु-हरिश्चन्द्र-दशरथ-राम को प्राप्त होती है। ऐसे ही गीता के चौथे अध्याय में ज्ञान की परम्परा गुरु से शिष्य को कैसे प्राप्त होती है? यह स्वयं भगवान् बताते हैं। भगवान् स्वयं आदि गुरु हैं। उन्होंने सबसे पहले सृष्टि के आदि में सूर्य को, सूर्य ने अपने पुत्र मनु को दी। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दी इस प्रकार परम्परा से यह ज्ञान चला आ रहा है।

मानव सृष्टि के केन्द्र में

भारतीय परम्परा में मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। **महाभारत में वेदव्यासजी कहते हैं—न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं किंचित्**....मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मनुष्य विवेकी है और सृष्टि के केन्द्र में है। अत: उसका दायित्व है कि सृष्टि की Harmony को, उसकी लय को, समन्वय को, संतुलन को बनाए रखे और सबको उनका यथायोग्य योगक्षेम प्राप्त हो। घर में जो विवेकी होता है, समाज

में, राष्ट्र में जो विवेकी होता है योग्य होता है, उससे ही सब अपेक्षा रखते हैं कि वह सबमें परस्पर संतुलन और सबके यथायोग्य योगक्षेम की व्यवस्था करेगा।

पर सेमिटिक परम्परा जिसमें यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि आते हैं उनकी दृष्टि भिन्न है। बाइबिल के अनुसार God ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया। वह सृष्टि का राजा है, King है, Crown है। अतः सारी सृष्टि उसके उपभोग के लिए है, उसकी सेवा के लिए है। अतः मनुष्य अपने उपभोग के लिए सृष्टि को तोड़-मरोड़ सकता है, उसके संतुलन को भंग कर सकता है, क्योंकि सृष्टि तो उसी की सेवा के लिए है।

मनुष्य का कर्म ही सृष्टि का नियामक तत्त्व है

सृष्टि कर्मसापेक्ष है। कर्मसापेक्ष होकर ही भगवान् सृष्टि करते हैं। कर्म की स्वाधीनता सिर्फ मनुष्य को ही है। अतः मनुष्य का कर्म ही सृष्टि का नियामक तत्त्व बनता है। मनुष्यों के कर्मों के आधार पर सृष्टि की रचना होती है, कर्म के आधार पर स्थित रहती है और उसी के आधार पर लय को प्राप्त होती है। मनुष्य अपने कर्म के आधार पर ही विविध योनियों में अर्थात् पशुयोनि या देवयोनि में जाता है। उत्कृष्ट कर्म उसे देवयोनि में ले जाते हैं, निकृष्ट कर्म उसे विविध पशु योनि में तथा मिश्रित कर्म से उसे मनुष्ययोनि प्राप्त होती है।

सारी सृष्टि कर्म के आधार पर जुड़ी हुई है जिसे आज विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। विज्ञान चार प्रकार के Force field को स्वीकारता है। Gravitational Force ग्रेवीटेशनल फोर्स, Electromagnetic Force इलैक्ट्रोमैगनेटिक फोर्स, Nuclear Force न्यूक्लियर में दो फोर्सेज हैं वीक न्यूक्लियर फोर्स एवं स्ट्रांग न्यूक्लियर फोर्स। इन चारों के ऊपर अब Mental Force या Bio Force भी मानने लगे हैं। पर इन सबको जोड़कर रखने वाला तत्त्व Unified Force Field है— कर्म। कर्म ही सारी सृष्टि का नियामक भाव है। आज जो देव पदों पर अधिष्ठित हैं वे पूर्व कल्प में सद्गृहस्थ थे। यज्ञमय जीवन-यापन किया था। मनुष्य के कर्म ही व्यष्टि जीवन, समष्टि जीवन, व्यक्तिगत जीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन एवं विश्व जीवन को नियंत्रित करते हैं और कर्म के चक्र को समझकर कर्म के, प्रकृति के, सृष्टि के पार अपने निजानन्द रूप में भी स्थित हो सकते हैं। अतः भारतीय संस्कृति कर्म की शुद्धता, पवित्रता, निष्कामता पर बल देती है। इसलिए भारतीय संस्कृति में कर्म पर पूरा जीवनदर्शन ही विकसित हुआ है। तीन प्रकार के कर्म हैं—प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण। वेद में पांच प्रकार के कर्म बताए गए हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म, प्रायश्चित्त कर्म एवं निषिद्ध कर्म। गीता में सकाम कर्म, निष्काम कर्म, सहज कर्म, नित्य कर्म, निजकर्म, स्वधर्म, परधर्म, निमित्त मात्र, लोकसंग्रहार्थ कर्म आदि का विशद विवेचन हुआ है।

अब चूंकि मनुष्य में स्वतंत्र इच्छाशक्ति, सर्जनेच्छा, सुखेच्छा प्रकट हुई, साथ ही वह कामनाओं से युक्त है। अतः वह अपनी कामना की पूर्ति में सृष्टि चक्र में बाधा उत्पन्न कर सकता है, मनमानी कर सकता है। इसलिए शास्त्र प्रकट कर दिये जिससे वैध रीति से कामना की पूर्ति कर सके। पहले कामना मुख्य, कर्तव्य गौण होते हैं। धीरे-धीरे कर्तव्य मुख्य, कामना गौण होती चली जाती है। कामना की पूर्ति के लिए यज्ञचक्र प्रकट कर दिया जिसका सुन्दर चित्रण गीता के तीसरे अध्याय के श्लोक संख्या 10 से लेकर 16 तक में हुआ है।

भारतीय संस्कृति के मूल में अद्वैत दर्शन

भारतीय संस्कृति जिस दर्शन परम्परा को लेकर चलती है उसमें अद्वैत दर्शन का स्थान सर्वोच्च है। अद्वैत दर्शन के अनुसार 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' अर्थात् एक ब्रह्म की ही सत्ता है और अन्य किसी की नहीं। जब ब्रह्म में 'एकोऽहं बहु स्यां' की इच्छा होती है तो वही अपनी अचिंत्य मायाशक्ति के योग से अपने आपको जीव, जगत् और ईश्वर के रूप में प्रकट करता है। विशुद्ध सत्त्वगुण के योग से अपने आपको ईश्वर के रूप में प्रकट करता है, मलिन सत्त्वगुण के योग से स्वयं को असंख्य जीवों के रूप में प्रकट करता है और तमोगुण के योग से अपने आपको जगत् के रूप में प्रकट करता है। ब्रह्म या ईश्वर के अलावा किसी का कोई अस्तित्व नहीं है। वही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है।

तो सारी सृष्टि एक ही चेतनतत्त्व की, एक ही ब्रह्मतत्त्व की, एक ही आत्म तत्त्व की नानाविध अभिव्यक्तियां हैं। सबमें एक ही आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व पिरोया हुआ है। अतः ईश्वर के अलावा, ब्रह्म के अलावा, आत्मा के अलावा और किसी की सत्ता नहीं है। इसलिए शंकराचार्यजी कहते हैं—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व का विलास है। मैं ही मैं का पसारा है।

सेमिटिक परम्परा की नैतिकता केवल मनुष्य तक और वह भी अपने सम्प्रदाय तक सीमित है। इस्लाम खुदा का बंदा मानकर मनुष्य के प्रति भलाई की सीख देता है। ईसाई धर्म कहता है कि ईश्वर सबका पिता है और मानव परस्पर में बंधु हैं। इसलिए बंधुभाव से दूसरे के प्रति उपकार की बात करता है। बौद्ध धर्म सभी प्राणियों को साथी-संगी मानकर सदाचार की शिक्षा देता है। जैन दर्शन जीवदया की प्रेरणा देता है। अतः परोपकार की नैतिक प्रेरणा कोई पुत्र भाव से, कोई बंधुभाव से, कोई खुदा का बंदा मानकर जीव भाव से, दुःखी प्राणी पर दया भाव से, परस्पर सहयोग भाव से, प्रेम भाव से, करुणा के भाव से, रक्षा भाव से, अहिंसा के भाव और परोपकार का बदला चुकाने के भाव से देता है। पर अद्वैत

दर्शन में तो दूसरा कोई है ही नहीं। जब तक द्वैत का भाव है, गैर का भाव है, परायेपन का भाव है तब तक खैर नहीं है। यानी तभी तो लूट, ठगी, हिंसा का भाव चलता है। पर जब कोई पराया है ही नहीं तब किसको लूटूं, किसको ठगूं? क्योंकि सब में तो मैं ही पिरोया हुआ है। सब में तो मेरी अपनी ही आत्मा है। अपने आपको कोई लूटता, ठगता है क्या? दूसरों के प्रति उपकार स्वयं के प्रति ही उपकार है, साध्यता है। इसी भाव ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को जन्म ही नहीं दिया वरन् साकार किया। इसलिए रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'जीव यानी शिव सेवा, नर यानी नारायण सेवा।' तभी तुकारामजी घी का कटोरा लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ते हैं कि नारायण रोटी पर घी तो लगवा लो। तभी शिवि राजा एक कबूतर की रक्षा के लिए अपनी भुजा का मांस तौल देते हैं। राजा दिलीप गाय की रक्षा के लिए अपने शरीर को समर्पित कर देते हैं। तभी ज्ञानेश्वर महाराज वृक्ष की छाल के लिए अपने पैर की चमड़ी को छील डालते हैं....। अत: अद्वैत दर्शन से बड़ा आधार नैतिकता और सदाचार का हो ही नहीं सकता।

ईसाई धर्म कहता है, 'अपनी तरह पड़ोसी की सेवा करो।' पर इसकी व्याख्या नहीं कर पाता कि क्यों सेवा करें? इसकी व्याख्या वेदान्त करता है, ऐसा डूयसन स्पष्टरूप से स्वीकार करता है क्योंकि इसके पीछे जिस दर्शन का आधार चाहिए वह ईसाई धर्म में नहीं है। वह केवल हिन्दू धर्म के पास ही है। इसलिए हिन्दुओं ने सदैव नि:स्वार्थ भाव से विश्वमंगल की साधना की है। वह अपने हित का विचार करते समय अन्यों के हित का भी ध्यान रखता है। चाहे वह व्यक्ति के हित से सम्बन्धित हो या परिवार के हित से सम्बन्धित हो अथवा राष्ट्र के हित से सम्बन्धित हो। वह अन्यों की समस्या और हित को ध्यान में रखता है। विश्व के हित को भी ध्यान में रखता है। इस प्रकार हिन्दू समाज ने सदैव मानव मंगल की साधना की है। क्योंकि वह मानता है कि उसमें भी उसी ईश्वर का वास है। प्रत्येक नर में नारायण, प्रत्येक क्षुद्र से क्षुद्र में महान् समाया हुआ है।

इसके विपरीत ईसाइयत और इस्लाम ने सारे विश्व को रक्त से स्नान कराने का, त्रास देने का ही कार्य किया है और आज भी कर रहा है क्योंकि उनके अलावा सभी काफिर हैं या हिडेन हैं और उनका निर्मम ढंग से वध करना उनका परम कर्तव्य है, धर्म है, पुण्य है, स्वर्ग की गारंटी है।

सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता जीवन का श्रृंगार है और संस्कृति जीवन का सार है। दोनों का यथास्थान अपना-अपना महत्त्व है। किन्तु, सार के बिना श्रृंगारसाधना प्राणहीन मृतक की शवपूजा के समान है। सभ्यता जीवन के साधनों का विकास है। किन्तु, संस्कृति जीवन का ही विकास है। उसके मूल्यों एवं आदर्शों का विकास

है, भारत में उच्च कोटि की संस्कृति के साथ-साथ उच्च कोटि की सभ्यता विद्यमान थी।

भारतीय संस्कृति और पर्यावरण

भारतीय दर्शन के अनुसार सारी सृष्टि में एक तत्त्व का ही पसारा है। अतः सारी सृष्टि एक, अभिन्न, परस्पर सम्बन्धित, परस्पर अवलम्बित और परस्पर पूरक है। सारी सृष्टि में असंख्य यज्ञचक्र हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक-दूसरे पर निर्भर हैं। स्वयं में कोई निरपेक्ष रूप से सत्तावान नहीं है। हमारे शरीर से लेकर पूरे ब्रह्माण्ड में असंख्य यज्ञचक्र हैं जो परस्पर में जुड़े हुए हैं। किसी की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। सब परस्पर निर्भर हैं। अतः एक को disturb करते ही, बाधा देते ही अन्य सभी यज्ञचक्रों में बाधा उपस्थित हो जाती है।

जैसे सारी जीवसृष्टि ऑक्सीजन लेती है, कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ती है। वनस्पति, उद्भिज जगत् ऑक्सीजन छोड़ते हैं, कार्बन डाइऑक्साइड लेते हैं। अतः जीव द्वारा छोड़ी गई विषैली गैस को उद्भिज जगत् पी जाता है और ऑक्सीजन को छोड़कर सारे वातावरण को शुद्ध कर देता है।

इसको न समझते हुए जब कामना के वशीभूत होकर जंगलों को साफ कर दिया तो शुद्ध ऑक्सीजन की कमी हो गई। वृक्ष वर्षा को, मेघ को आकर्षित करते हैं। इसके अभाव में वर्षा की कमी हो जाती है तो पर्यावरण को क्षति पहुंचाने से वह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प के रूप में दण्डित करता है। प्रकृति बेचारी नहीं है, वह एक महान् शक्ति है।

गीता और भारतीय दर्शन परम्परा स्पष्ट कहती है कि प्रकृति भगवान् की पत्नी अर्थात् हमारी माता है। मां को हम भोग नहीं सकते। मां से पोषण पाने के अधिकारी हैं। और प्रकृति माता में सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता है। हम भी परिवार में उतने बच्चों को जन्म देते हैं जिनको कि पोषण हम दे सकें। अतः प्रकृति माता में क्षमता है हम सबको पोषण दे सके। पर एक की भी इच्छापूर्ति का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि आवश्यकता सीमित होती है पर इच्छाएं अनन्त होती हैं। प्रकृति से पोषण पाने के क्रम में जो क्षति होती है उसकी पूर्ति के लिए पंच महायज्ञ का विधान है। लेन-देन के आधार पर प्रकृति का उससे संतुलन बना रहता है।

पर ईसाइयत से ग्रसित पश्चिम ने प्रकृति को मां न मानकर दासी के रूप में, भोग्या के रूप में स्वीकारा है। वह भोग्या ही नहीं, आसुरी है जो अपनी सम्पदा को छिपाकर रखती है। वह उससे लड़कर, छीन करके, उसकी बांह मरोड़कर पाना पड़ता है। प्रकृति का मुख, दांत, नख-रक्तरंजित है, हिंसक है। वहां मां और पुत्र का भाव नहीं है।

उनके अनुसार भगवान् ने प्रथम 6 दिनों में सृष्टि की रचना की। अन्त में मनुष्य को रचा। वह सृष्टि का Crown है, मुकुट है, राजा है। राजा होने से वह सृष्टि का मालिक है। वह जैसा चाहे अपने हित में, सुख के लिए उसका उपभोग कर सकता है। वह चाहे तो उसे मार भी सकता है। अत: पश्चिम की सारी चेष्टा प्रकृति पर विजय पाने की है। वहां की कहानी में भी आदमी निकला है प्रकृति पर विजय पाने के लिए। उसने एवरेस्ट पर विजय पा ली। यह पश्चिम की भाषा है। भारत की भाषा है ऐवरैस्ट ने, सागरमाथा ने कृपाकर मुझे चढ़ने दिया। विजय की भाषा भारत की नहीं है। मां पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता। विजय अभियान यह Western system की देन है। पश्चिम की मान्यता है कि प्रकृति ने अपने गर्भ में रत्न छिपा रखे हैं, उससे छीनना पड़ता है। उनकी मान्यता है प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मैं सुखी हो जाऊंगा। प्रकृति पर विजय प्राप्त करना उनके खून में है, उनकी संस्कृति में है। पर मां के दूध को तो पी सकते हैं खून को नहीं। अत: पश्चिम की उपभोग की बुद्धि ने, प्रकृति से केवल लेने ही लेने की परम्परा ने, शोषण ही शोषण की दृष्टि ने पर्यावरण की समस्या को जन्म दिया।

हमारी सभ्यता जो लाखों वर्ष पुरानी है, वेद काल से लेकर अंग्रेजों के काल तक हमने आर्थिक विकास का जो मॉडल स्वीकार किया वह प्रकृति के संतुलन और अहिंसा पर आधारित रहा। वैभव की दृष्टि से हम सोने की चिड़िया कहलाए। धन और वैभव के लोभ से आकृष्ट होकर विदेशी आक्रान्ता (सिकन्दर से लेकर अंग्रेज तक) आए। हमने जो आर्थिक विकास का मॉडल स्वीकार किया उससे न कभी प्रकृति का संतुलन बिगड़ा, न ही पर्यावरण प्रदूषित हुआ। न धरती बंजर हुई, बेहोश हुई, न अन्न जहरीला हुआ, न जल, वायु आकाश ही। किसान को कभी आत्महत्या करने की नौबत नहीं आई और हमारा ग्राम सदैव स्वावलम्बी बना रहा अंग्रेजों के शासन के पूर्व तक।

पर यूरोप ने मात्र 300 वर्षों की विकास यात्रा में गलत दृष्टि को अपनाने के कारण पूरी प्रकृति को ध्वस्तप्राय कर दिया। पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ दिया। भूमि, अन्न, जल, वायु, आकाश जो कि जीवन की मूलभूत आवश्यकता है, सबको दूषित कर दिया। जहरीलाकर स्वयं अपने अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर लिया और जो विकास सारी दुनिया को श्मशान बनाकर किया और कर रहा है, उस पर भी उनकी अर्थव्यवस्था चरमरा रही है, ढहने के कगार पर खड़ी है। इससे बचने का उपाय एकमात्र भारतीय दृष्टि अपनाकर ही सम्भव है।

मनुष्य का समग्र अध्ययन भारतीय वैदिक परम्परा में ही संभव हुआ

पाश्चात्य परम्परा में Mind और Matter शरीर और मन या बुद्धि से परे उनका चिन्तन गया ही नहीं। अरस्तू ने मनुष्य को एक Rational animal कहा।

पर भारतीय संस्कृति कहती है कि शरीर से इन्द्रियां श्रेष्ठ, बली और व्यापक हैं। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, बली है, व्यापक है। मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। शरीर मन द्वारा नियंत्रित होवे, मन बुद्धि द्वारा नियंत्रित होवे, बुद्धि नैतिकता द्वारा नियंत्रित होवे एवं नैतिकता आत्माभिमुखी हो, उससे नियंत्रित हो।

पश्चिम के आधे-अधूरे अध्ययन का ही परिणाम है कि यूनान में शारीरिक विकास, शारीरिक सौन्दर्य पर ही बल दिया गया। वहां की मूर्तिकला ने मांसल निपुणता का ही परिचय दिया है। उनके चेहरों पर आन्तरिक भावों का प्रकाश नहीं है। इसने वीर सैनिक एवं सेनापति दिए। इससे आगे न बढ़ सकी। इनकी शारीरिक उपासना इहलौकिक है। जबकि मिस्र की शारीरिक उपासना पारलौकिक है। वहां के राजा लोग पारलौकिक चिन्तन में ही आधे से अधिक समय बिता देते थे। अपने राज्यकाल का आधा समय एवं धन शरीर को सुरक्षित रखने के लिए पिरामिड बनाने में लगा देते थे। रोम में बड़े-बड़े वमन-कक्ष बने हुए थे। जिसमें भोजन करने के पश्चात् वमन कर पुनः भोजन करते हैं, यह जिह्वा की तृप्ति का अनूठा प्रयास था। ये संस्कृतियां मात्र भौतिकता या शरीर पर आधारित थी। यानी ये धर्महीन, आत्मज्ञानहीन, पशुभाव-प्रधान एवं अर्थ और काम से प्रेरित थी। इन्होंने पशुबल से स्थूल शरीर को स्वतंत्र किया, पशुबल से अन्य दुर्बल जातियों को सताया, उन पर आधिपत्य जमाया। वे जातियां मनुष्य से पशु बन गई थी। ये संस्कृतियां मात्र भौतिकता पर टिकी होने के कारण, भोगप्रधान संस्कृति होने के कारण नश्वर सिद्ध हुई। छोटे-छोटे विदेशी आघातों से सदा के लिए विलीन हो गई।

मनुष्य का समग्रता से अध्ययन भारतीय वैदिक सनातन परम्परा में ही सम्भव हुआ। हमने शरीर, मन, बुद्धि के साथ आत्मा का भी विचार किया। आत्मा को ही परम सत्य माना। शरीर और मन को अस्वीकारा नहीं पर उसे परम सत्य नहीं माना। अतः परम महत्त्व भी नहीं दिया। इसके आधार में आत्मा को रखा। शरीर और मन को यथायोग्य स्थान दिया। अतः मनुष्य के सामने चार आदर्श रखे जिसमें दो शाश्वत और दो अस्थायी हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्ष शाश्वत हैं, अर्थ और काम बीच में पड़ाव की तरह हैं। अन्त में धर्म और मोक्ष भी एक हो जाते हैं। यह संस्कृति आत्मा की अमरता पर आधारित होने से अजेय सिद्ध हुई है। सभी प्रकार के झंझावातों को सहने में समर्थ सिद्ध हुई है।

हम अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हुए पूर्णता की ओर बढ़ सकें, पूर्णता लाभ कर सकें। इसके लिए चार आदर्श रखे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जिसके अन्तर्गत सारी कामनाएं आ जाती हैं।

धर्म—यह हमारा नैतिक आदर्श है जिसमें शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त कर्तव्यों की परिपूर्ति पर बल दिया गया है। धर्म हमारे भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है, प्राणबिन्दु है। इसका चारों पुरुषार्थों में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

धर्म वस्तुतः अविरोधी होता है। जिन्होंने भी धर्म का विरोध या धर्म को बहिष्कृत करने का प्रयास किया, वे धर्म को बहिष्कृत न कर सके परन्तु एक नीच कोटि के धर्म के उपासक हो गये, असुरता में चले गये। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन लियो टालस्टाय ने अपनी पुस्तक What is Religion में किया है। धर्म की कोई अवधारणा सेमिटिक परम्परा में नहीं है। उनकी अवधारणा Religion तक सीमित है।

अर्थ—अर्थ हमारा आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्श है। जिसमें धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति एवं राज्य की वृद्धि एवं समृद्धि को उचित महत्त्व दिया गया है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए, न व्यर्थ। डकैत का पैसा अनर्थ है, कंजूस का पैसा व्यर्थ है। धर्म के द्वारा अर्थ उपार्जित होना चाहिए और व्यापक लोकहित में उसका सदुपयोग होना चाहिए। फिर अर्थ का न अभाव होना चाहिए और न प्रभाव। दोनों स्थितियों में अपराध होते हैं।

अर्थ के अभाव में मनुष्य का विकास रुक जाता है। उसकी सारी चेतना पेट पर केन्द्रित हो जाती है और उसके लिए कुछ भी अपराध करने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रपति वराह वेंकट गिरि देश की अतिशय निर्धनता से दुःखी होकर अश्रुपूरित वाणी में कहते हैं—'इस आजाद देश के सामान्य नागरिक को भोजन, कपड़ा और आवास की उतनी सुविधाएं भी प्राप्त नहीं हैं जितनी कि कारागार में कैद भुगतने वाले किसी चोर, डाकू या कातिल जैसे अपराधियों को भी प्राप्त होती है।' इसीलिए भुखमरी का शिकार एक गरीब सज्जन भूख से लाचार होकर अपराधी बनता है ताकि जेल में रोटी-कपड़ा और कोठरी तो मिल जाएगी। इन्होंने इन्दिराजी को एक योजना भी दी थी जिससे गरीबों को सस्ते में भोजन, वस्त्र, आवास मिल सके। पर इन्दिराजी ने उसे स्वीकारा नहीं। यह सामान्य कहावत है, 'भूखे पेट भजन न होय गोपाला' अतः सबकी प्राथमिक आवश्यकता की अवश्य पूर्ति होनी चाहिए। किसी को अर्थ का अभाव न हो इसके लिए प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था द्वारा सबकी आजीविका सुरक्षित कर दी गयी थी।

अर्थ के प्रभाव से भी अपराध होता है। जब हम अर्थ को साधन न मानकर साध्य मान लेते हैं कि रुपया खुदा तो नहीं है पर खुदा से कम भी नहीं है। 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपया' आदि भाव आने पर ही चोरी, मिलावट, कालाबाजारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है। सब बिकाऊ बन जाता है, बस सबकी कीमत अलग-अलग होती है। इसी कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। अर्थ के प्रभाव

ने ही पश्चिम को प्राचीन काल में साम्राज्यवाद को, वर्तमान काल में बाजारवाद को, उपभोक्तावादी संस्कृति को, Use and throw की संस्कृति को जन्म दिया। भारतीय संतुलित धर्म आधारित अर्थव्यवस्था ने परिवारवाद को जन्म दिया। परिवार में परिवार के प्रत्येक सदस्य की हितचिन्ता होती है और बाजार में ऐसी वस्तु निर्मित होती थी जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले। पर बाजारवाद में विक्रेता की क्रेता को ठगने, लूटने की वृत्ति होती है। तभी आज बाजार अनावश्यक सामानों से भर गये हैं और Use and throw की संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है। धर्म के अभाव में पश्चिमी अर्थव्यवस्था अनर्थ को जन्म दे रही है। पर भारत में धर्म पर आधारित अर्थव्यवस्था ने, अर्थ का प्रभाव किसी पर न हो, अर्थ का संतुलन बना रहे, अर्थ की विषमता न्यून हो, और अर्थ का व्यापक सदुपयोग हो इसलिए यज्ञ, दान एवं ट्रस्टीशिप के भाव को प्रश्रय देकर समाज में अर्थ को संतुलित किया गया था।

काम—काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है। धर्म पर चलते हुए कामनाओं की उचित पूर्ति पर बल दिया गया है। काम का हमारे जीवन में मर्यादित महत्त्व है। बिना काम के कोई स्त्री माता नहीं बन सकती, कोई भी पुरुष पिता नहीं बन सकता। सृष्टि का क्रम आगे नहीं बढ़ सकता। धर्म के अविरुद्ध काम स्वयं में ईश्वरीय कृत्य है, दर्पित काम ही दण्डित होता है। हमारे यहां काम देव हैं, शैतान नहीं। विवाह संस्कार है, गृहस्थ आश्रम है, गर्भाधान संस्कार है। हमारे प्रायः सभी देवी-देवता विवाहित हैं। ऋषि-मुनि विवाहित हैं। इसलिए समावर्त्तन संस्कार में गुरु-शिष्य को आदेश देता है प्रजातन्तु का छेदन मत करना। अतः जो धर्म में रहते हुए दाम्पत्य जीवन का सेवन करते हैं उसे हमारे शास्त्र ब्रह्मचर्य ही मानते हैं।

अतः काम हमारे यहां शैतान, पाप एवं अपराध नहीं जैसा कि ईसाइयत स्वीकारती है, इसलिए उनके यहां स्त्री को मातृत्व को बड़ी हेय दृष्टि से देखा गया है और काम को दबाने का प्रयास किया। ईसाई धर्म वस्तुतः निवृत्तिमार्गी है, संन्यास धर्म है, प्रवृत्ति के लिए यथोचित स्थान नहीं है। मध्ययुग में यूरोप में एक बहुत बड़ा ईसाइयों का सम्प्रदाय था जिसने लाखों लोगों की जननेन्द्रियां कटवा डाली, स्त्रियों के स्तन कटवा डाले ताकि कामवासना से मुक्ति हो जाए। बहुतों ने आंखें फोड़ ली ताकि कोई सौंदर्य उन्हें आकर्षित न कर सके, शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया ताकि शरीर कोई मांग न करे, रात-रात सोये नहीं ताकि सपना मन को काम विकार में न डाले। यह काम को पाप, शैतान, अपराध मानने का स्वाभाविक परिणाम है। फ्रॉयड धर्म के नाम पर ईसाइयत से और ऐसे ही संतों से परिचित था। और उसमें यह धारणा पैठ गयी कि धर्म कामदमन सिखाता है। इसलिए भी वह धर्म का विरोधी हो गया और धर्म को एक पागलपन, एक अंधविश्वास समझने लगा था जो विज्ञान के प्रकाश में स्वतः लुप्त हो जायेगा।

पर काम को अविवेकपूर्वक दबाने से कामना दबती नहीं, नष्ट नहीं होती वरन् और गहरे में चली जाती है, अचेतन में चली जाती है। गांठ बन जाती है। बीज बन जाती है और वह अनेक शारीरिक व्याधि एवं मानसिक कुण्ठाओं को उत्पन्न कर हमारे व्यक्तित्व को कुण्ठित कर देती है, विक्षिप्त कर देती है, विखण्डित कर देती है, रुग्ण कर देती है। अतः काम को अविवेकपूर्वक दबाया नहीं जा सकता। इसका बहुत अच्छा उदाहरण बौद्ध धर्म है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं गैरिक वस्त्र धारण कर परिव्रज्या ली, अपने बूढ़े पिता को भी परिव्रज्या दे दी, अपने नन्हे पुत्र राहुल को भी पीतवस्त्र दे दिया। तब अपनी पत्नी को भी भिक्षुणी बनने की अनुमति देनी पड़ी। इस प्रकार नर-नारी की तीन-तीन पीढ़ियां संन्यासी बनने लगी, आश्रम व्यवस्था गड़ाबड़ा गई। भगवान् बुद्ध के न चाहते हुए भी स्त्रियों को संघ में प्रवेश देना पड़ा। तब उन्होंने बड़े दुःख के साथ आनन्द से कहा था—यह आन्दोलन जो 1500 वर्ष तक शुद्धता से चलता अब 500 वर्षों में ही समाप्त हो जाएगा। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए कठोर नियम बनाये। सावधानी रखने पर भी कालान्तर में भिक्षु-भिक्षुणियों के मठ आमने-सामने बन गये। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिल गया। जिससे बौद्ध विहारों में सब सुख-सुविधाएं, सम्मान एवं निश्चिंतता का जीवन उपलब्ध होने लगा। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में अल्पवयस्क तरुण-तरुणी के दल के दल भिक्षु-भिक्षुणी बनने लगे, आमने-सामने मठ बन गये। दीर्घकाल तक कठोर संयम पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ और बीच में गृहस्थाश्रम की कड़ी न होने से उनका मन वाममार्ग की ओर झुक गया जहां पंच मकार की छूट है। फिर भिक्षु-भिक्षुणियों में खुलकर व्यभिचार, पापाचार पलने लगा। अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर के) बौद्ध सिद्धों कणहपा, सिरहपा आदि ने बौद्ध दर्शन में वामाचारी तांत्रिकों के पक्ष को मिश्रित करके अपने धर्मग्रंथ की वाणियों में पंचमकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन की प्रशंसा लिखनी प्रारम्भ कर दी तथा इस अति सीमा तक लिखने लगे कि डोमनी या रजकी के साथ सम्भोग करने पर तुरत निर्वाणपद की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसे भ्रष्ट बौद्ध सिद्धों की वाणियों को उद्धृत किया है। इस संभोग से समाधि वाले मंत्र ने आचार्य कण्हपा से आचार्य रजनीश, बालयोगेश्वर, दादा लेखाराम, प्रभातरंजन बाबा तक सभी को डुबो दिया।

भारतीय संस्कृति कामनाओं को अविवेकपूर्वक, अशास्त्रीय ढंग से, अमर्यादित ढंग से पूर्ति करने की आज्ञा नहीं देती है। इससे कामनाओं का परिष्कार व परिपाक एवं शमन होने के बजाय और भी अधिक उद्दीप्त होने लगती है जैसे अग्नि में घी डालने से ज्वालाएं और अधिक प्रदीप्त होने लगती है। इस्लाम ने काम प्रवृत्ति को बहुत उभारा है, उसको सम्मानित किया है। मुगल बादशाहों के

हरम में हजारों स्त्रियां होती थी। फिर भी और-और की मांग एवं चाह सदा बनी रहती थी। और आज की पाश्चात्य आधुनिक सभ्यता ने, उन्मुक्त उपभोग ने सारे समाज को व्यभिचार भवन बना दिया है और वहां अनेक विकृतियां निर्मित हो रही है, उनका परिवार जीवन, समाज जीवन भी प्रायः समाप्त सा हो गया है।

हमारे यहां इसका सुन्दर प्राचीन उदाहरण राजा ययाति का है जो स्वयं अपने पुत्र की जवानी लेकर भी कामतृप्ति लाभ न कर सका। उन्होंने निष्कर्ष स्वरूप कहा—मैंने काम को, भोगों को नहीं भोगा। काम ने, भोगों ने मुझे भोगकर जर्जर, निस्तेज कर दिया है। आधुनिक उदाहरण—पश्चिम जगत् में एक बड़ा श्रेष्ठ नाम आता है केसानीहा का जो डेढ़ सौ साल पहले हुआ था। वह यशस्वी परन्तु इतना भोगी पुरुष था कि उसका नाम कामपूर्ति का प्रतीक बन गया। लेकिन उसका जीवनदृष्टान्त यह बताता है कि सारे यूरोप को अपने उपभोग का विषय बनाने के बाद भी कामविकार से अन्त में क्या वह सुखी हुआ? केसानीहा का प्रणयी जीवन ऐसा था जो सारी जिन्दगी औरतों पर लुटाता रहा, जीवन भर सम्बन्ध बनाता रहा, छोड़ता रहा और कभी बदनाम नहीं हुआ, आदर्श व्यक्ति माना जाता रहा। वह औरतों के दिलों का सौदागर था, वह जीवन भर औरतों से सम्बन्ध बनाता रहा फिर भी आजीवन कुंवारा रहा। उसने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं जिसमें उसने 12 खण्डों में अपनी आत्मकथा लिखी है जो बहुत लोकप्रिय हुई। पर उसका अनुभव भी ययाति से भिन्न नहीं है।

कहा जाता है कि रोम के क्लबों में गुसलखाने के सामने वमन कक्ष (Vomiting Rooms) बनाये जाते थे। खाओ और वमन करो। जिह्वा की रस तृप्ति का यह अद्‌भुत प्रयास था। पर मनुष्य कब तक खा सकेगा। आखिर में हर बात की एक सीमा होती है। अतः निष्कर्ष निकलता है इस तरह तृप्ति नहीं होती है। इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं पर किसी को भी तृप्ति का बोध हुआ हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

पर गृहस्थाश्रम में शास्त्र की आज्ञा से, गुरुजनों की, बड़े-बुजुर्गों की, माता-पिता की आज्ञा से हम काम का, भोगों का मर्यादित ढंग से सेवन करके एक समय विशेष के पश्चात् स्वयं उससे ऊपर उठ जाते हैं, उपराम हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः गृहस्थाश्रम एक दुर्ग के समान है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपने माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-चाची आदि सबके सहयोग से अपने शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रम उलझने के लिए नहीं, कामना के दलदल में फंसने के लिए नहीं है वरन् स्वयं के सुलझने व अन्यों को सुलझाने के लिए है, स्वयं के खिलने व अन्यों को खिलाने के लिए है। अपनी मधुरता, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य व सेवा बिखेरने के लिए है।

गृहस्थाश्रम में हम एक मधुर सम्बन्ध को स्वीकारकर घर को एक पाठशाला, एक मन्दिर बनाकर, दोनों मिलकर जीवन को भव्य, सुन्दर, समृद्ध बनाते हैं। अपने प्रेम का, आत्मीयता का विस्तार करते हैं। पति-पत्नी के अन्दर एक ऐसी गांठ होती है जिसे न तो गुरु, न माता-पिता, न भाई-बहिन, न मित्र-सखा खोल सकते हैं। उसे तो केवल पति-पत्नी ही परस्पर की खोल सकते हैं। विवाह के पूर्व दोनों का दस पर मन जाता होगा पर विवाह बंधन के बाद एक-दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है। संस्कारी पत्नी अपने पति को अन्य स्त्रियों से विरतकर अपने प्रति अनुरक्त रखती है। फिर समयविशेष आता है जब वह अपने से भी विरतकर देती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम एक दुर्ग है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपनी कामनाओं का परिपाक कर सर्वांगीण विकास साधित करते हैं।

पर संन्यासाश्रम खुले मैदान में रहकर शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करना है। यह उन्हीं के लिए शक्य है जिनका विवेक का स्तर ऊंचा है जो पूर्वजन्म में साधना कर चुके हैं पर साधना के परिपाक के पूर्व शरीर छूट गया है। इस जन्म में योगभ्रष्ट के रूप में आए हैं। वे ही सीधे ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश के अधिकारी हैं, जैसे—सनक, सनत्कुमार, सनंदन, शुकदेव, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, स्वामी विवेकान्द, रमण महर्षि, मां शारदा, भगिनी निवेदिता आदि। जिनके जीवन में कोई महत् लक्ष्य है और उसी के लिए तन, मन, धन समर्पित हैं जैसे रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि ने बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये देश को अपनी सेवायें दी। बहुत से वैज्ञानिक जैसे वर्तमान में पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अबुल कलाम भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना ही अपनी सेवाएं देश और समाज को समर्पित करने के अधिकारी होते हैं।

मोक्ष—मोक्ष हमारा आध्यात्मिक आदर्श है। जिसके द्वारा हम पूर्णता को, अपने मूल आत्मस्वरूप को, ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं। मोक्षार्थी को अपने कर्म को निष्काम बना लेना चाहिए। निष्कामता से चित्त शुद्ध होगा तब भगवान् के प्रति प्रेम, विरह उत्पन्न होगा। आत्म जिज्ञासा उत्पन्न होगी। तब गुरु की सन्निधि में जाना चाहिए। उनके निर्देशानुसार साधना करनी चाहिए। तब हम अपने आत्मस्वरूप का लाभ पाते हैं। आत्मब्रह्म-ऐक्य की अनुभूति करते हैं। मोक्ष की अवधारणा सेमिटिक परम्परा में नहीं है। वे स्वर्ग तक सीमित हैं जो भारतीय परम्परा के अनुसार अनित्य है।

धर्म और अर्थ में टक्कर होने से धर्म को महत्त्व देना चाहिए। धर्म को स्वीकारना चाहिए। जैसा कि भगवान् राम एवं भरत ने राज्य को तिलांजलि देकर धर्म को स्वीकारा।

अर्थ और काम में टक्कर होने से अर्थ को महत्त्व देना चाहिए। उसे स्वीकारना चाहिए। जैसा कि विप्लवी बंधुओं में पाते हैं।

धर्म और मोक्ष में टक्कर होने से मोक्ष को स्वीकारना चाहिए। उसे महत्त्व देना चाहिए। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि दयानन्द आदि में पाते हैं। कर्तव्यों का कोई अन्त नहीं है अतः जब आत्मा की पुकार आ जाए तब धर्म को त्यागकर आत्मा को स्वीकारना चाहिए।

जो चारों पुरुषार्थों को लेकर चलता है वह है सद्गृहस्थ।

जो केवल अर्थ और काम को लेकर चलता है, वह पामर जीव है।

जो धर्म और मोक्ष को लेकर चलता है, वह साधक है।

जो केवल मोक्ष को लेकर चलता है, वह है सिद्ध।

भारतीय संस्कृति इन चारों पुरुषार्थों को लेकर चलती है। जो इन चारों आदर्शों को लेकर चलता है, वह एक आदर्श नागरिक, आदर्श मानव, आदर्श पिता, पुत्र, भ्राता, सखा, माता, पत्नी, भगिनी, सखी बनकर अपने जीवन को भी साथ ही साथ समाज जीवन, राष्ट्र जीवन एवं विश्व जीवन को भी धन्य, कृत-कृत्य करते हैं। भारत की अमरता का रहस्य इन चार पुरुषार्थों को लेकर चलना ही है। पाश्चात्य देश प्रधानतः अर्थ और काम को लेकर चले हैं। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों के अवसान का प्रमुख कारण अर्थ व काम को लेकर चलना है। वर्तमान में पाश्चात्य सभ्यता अवसान पर है। इसका प्रमुख कारण अर्थ और काम की प्रधानता के कारण समाज जीवन व परिवार-जीवन प्रायः समाप्त सा हो गया है। इनमें धर्म और मोक्ष की अवधारणा है नहीं। मजहब की अवधारणा है। वह भी व्यवहार अर्थ और काम प्रेरित है। यद्यपि ईसाइयत निवृत्तिप्रधान है पर व्यवहार में घोर प्रवृत्तिप्रधान है। ईसाई धर्म काम को पाप मानता है, सूई के छिद्र से ऊंट तो पार हो सकता है पर धनी नहीं। स्वर्ग के राज्य में गरीब का प्रवेश है धनिकों का नहीं। पर व्यवहार में घोर कामपरायण और अर्थपरायण हैं। यूरोप के जितने भी देश हैं चाहे स्पेन हो, पुर्तगाल हो, इंग्लैंड हो, फ्रांस हो, जर्मनी हो, रूस हो। सबने अर्थ से प्रेरित होकर ही अपने साम्राज्य स्थापित किए। ये सब साम्राज्यवादी देश हैं। ये जिस-जिस देश में गए उस-उस पर आक्रमण करना, लोगों का कत्लेआम करना, वहां की सभ्यता-संस्कृति का समूल-नाश करना और अर्थ को खूब लूटना और जब तक उनके कब्जे में ये देश रहे सब प्रकार से शोषण करना और ईसाई पंथ को थोपने का प्रयास करते रहना ताकि वे देश सदा के लिए उनके उपनिवेश और बाजार बने रहें।

चार आश्रम

भारत के ऋषियों ने चारों आदर्शों की प्राप्ति के लिए तथा व्यक्तिगत जीवन

के विकास के लिए जीवन को चार आश्रमों में बांटा—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम।

ब्रह्मचर्य आश्रम—यह रससंचय का काल है। इसमें जीवन का पूरा नक्शा दे दिया जाता था। परा-अपरा दोनों विद्याएँ दी जाती थी। अपराविद्या मुख्य-रूप से, पराविद्या गौणरूप से। जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य काल तपोमय होता था। जैसे पौधा जब तक पूरा वृक्ष नहीं बन जाता तब तक उसका रससंचय काल रहता है। उस काल में वह जितना रससंचय कर लेगा इसी के आधार पर आगे चलकर पूर्ण फल-फूल लगेंगे। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में, विद्यार्थी काल में व्यक्ति जितना स्वास्थ्यरस, शक्तिरस, ज्ञानरस, धर्मरस का संचय कर लेगा, उसी के आधार पर भावी जीवन में उसका भवन खड़ा होने वाला है। अतः यह तपकाल है। गुरु-शिष्य मिलकर ही गुरुकुल बनता है। गुरुकुल की शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है। इसके अन्तर्गत गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है। गायत्री मंत्र द्वारा ब्रह्मशक्ति की उपासना की जाती है। दीक्षित बालक इसके द्वारा स्वयं प्रयास करके विश्वबुद्धि से प्रेरणा और ऊर्जा ग्रहण करने लगता है।

गुरुकुल में पूरे जीवन की साधना कर, ज्ञान प्राप्त करके स्नातक में यदि पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का भाव है तो वह कामना के परिपाक के लिए विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

गृहस्थाश्रम में वह साधक पितृकुल से जुड़कर कर्म व उपासना करता है। गृहस्थाश्रम में जहां वह यज्ञ की प्रक्रिया द्वारा देवों से जुड़कर अपनी कामना की पूर्ति करता है, वहीं पर वह पंच महायज्ञों का प्रतिदिन अनुष्ठान करके अपने निष्कामता के संस्कार को भी दृढ़ करता जाता है। पंच महायज्ञों के अनुष्ठान द्वारा साधक देवों से, ऋषियों से, पितरों से, मानव समाज से, वनस्पतियों से, प्राणी समुदाय से एक आत्मीयतापूर्ण सहभागिता व साहचर्यपूर्ण सम्बन्ध जोड़ लेता है। इस प्रकार पंच महायज्ञ के द्वारा वह पूरे पर्यावरण से जुड़ जाता है।

भारतीय संस्कृति कृतज्ञताप्रधान संस्कृति होने से कर्तव्यप्रधान संस्कृति है। वह मानती है कि जन्म से ही हमें तीन ऋण प्राप्त हैं। देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण। शरीर एवं संसार में हमें जो भी भोग उपलब्ध हैं वह देवों की कृपा का फल है। अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना देवयज्ञ है। ज्ञान की जो परम्परा हमें प्राप्त हुई है वह ऋषियों की कृपा का फल है। उसे सुरक्षित रखना और संवर्द्धन करना ऋषि यज्ञ है। समाज को सुसंतान देना पितृ यज्ञ है। तीनों ऋणों से उऋण हुए बिना चित्त में वैराग्य एवं भक्ति का उदय नहीं होता। चित्त में आत्मसाक्षात्कार के लिए वांछित सूक्ष्मता, शुद्धि व शक्ति का उपादान नहीं होता।

गृहस्थाश्रम में धर्मपूर्वक अर्थ उपार्जन एवं धर्मपूर्वक काम उपभोग किया जाता है। धर्मपूर्वक उपार्जित अर्थ का उपयोग कामनापूर्ति के अलावा यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म में भी किया जाता है। यज्ञ, दान, तप द्वारा मनुष्य पवित्र बनता है। गृहस्थाश्रम में 'मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।' की वेदाज्ञा द्वारा धारित-संचालित होकर व्यक्ति अपने समाज से एक आत्मीय रिश्ता जोड़कर विकास करता रहता है।

पचास वर्ष की आयु के पश्चात् पुत्र को परिवार का दायित्व सौंपकर वानप्रस्थ आश्रम को अपनाने का विधान है। इसमें परिवार जीवन गौण और समाज जीवन प्रमुख हो जाता है। वानप्रस्थियों द्वारा ही गुरुकुल एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं का निर्वहन किया जाता था। इसलिए सामाजिक कार्य के लिए कार्यकर्ताओं का अभाव नहीं होता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्तिजीवन प्रमुख होता है। इसमें व्यक्तिगत जीवन के विकास की दृष्टि होती थी, गृहस्थाश्रम में परिवारजीवन की विकास की दृष्टि होती है। वानप्रस्थ आश्रम में समाजजीवन, राष्ट्रजीवन के विकास की दृष्टि होती है। यह आश्रम तपःपूर्वक दिव्य उपासना करने के लिए भी होता है। यह मुख्यतः देवकुल द्वारा मर्यादित आश्रम है। उपास्य देव एवं उपासक मिलकर देवकुल बनता है।

अन्तिम 25 वर्षों के लिए संन्यास आश्रम का विधान है। संसार हमें छोड़े या छिटकाये, इसके पूर्व हम ही संसार को छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जावें। संसार हमें छोड़ेगा तो हमें दुःख होगा। हम ही स्वयं संसार को छोड़ देवें, त्याग देवें तो हमें आनन्द होगा। कुल के लिए व्यक्तिविशेष के हित का त्याग, ग्राम के विकास के लिए एक परिवारविशेष के हित का त्याग एवं राष्ट्र के लिए ग्रामविशेष के हित का त्याग कर देना चाहिए। वैसे ही आत्मा के हित के लिए पूरी पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिए।

इसलिए गीता कहती है कि जब ईश्वर की पुकार आ जाए, आत्मा की पुकार आ जाए तब सब धर्मों को त्याग कर आत्मा की शरण में या ईश्वर की शरण में चले जाना चाहिए—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

शरीर, इन्द्रिय, मन एवं संसार के सब कर्तव्यों को त्यागकर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ।

संसार में कर्तव्यों का कोई अन्त नहीं है। एक सीमारेखा के पश्चात् संसार से विरक्त या अलग हो जाना चाहिए। फिर कर्म-साधना से निर्मल होकर, उपासना से निर्मलतर एवं निश्चल होकर साधक ज्ञानसाधना करने का अधिकारी बनता

है। ज्ञान-साधना करने हेतु साधक संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। यह आश्रम 'आत्मकुल' द्वारा धारित है। यह आश्रम पराविद्या की प्राप्ति के लिए होता है। इसी जन्म में जीवन्मुक्ति प्राप्त करने, आत्मब्रह्म-ऐक्य की अनुभूति करने हेतु ही संन्यास आश्रम है।

वर्ण-व्यवस्था

समाज-जीवन के सम्यक् गठन तथा उसके विकास एवं पूर्णता लाभ के लिए वर्ण-व्यवस्था (वर्ण-भेद नहीं) अर्थात् वर्णविभाग को स्वीकार किया गया जिसमें श्रम का विभाग किया गया। चाहे परिवारजीवन हो, चाहे समाजजीवन हो, चाहे संस्थानों का जीवन हो, चाहे राष्ट्रजीवन हो इन सबके व्यवस्थित रूप से संचालन के लिए श्रम का विभाजन आवश्यक है।

व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता एवं सामाजिक जीवन के विकास के लिए मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय आधार पर वर्ण-व्यवस्था स्थापित की गई थी। जब तक सम्यक् रूप में चली तब तक यह जीवन व्यवस्था के रूप में रही। पर जबसे इसमें विकृति आ गई तब से यह मृत्यु-व्यवस्था बनती जा रही है।

गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। 4/13, गीता

गुण-कर्म-विभाग के अनुसार स्वयं भगवान् ने चार वर्णों की सृष्टि की है। गुण-कर्म के आधार पर ही जन्म होता है। अतः जन्म की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पैतृक वंशपरम्परा से संस्कार के बीज प्राप्त होते हैं। फिर किस वातावरण में एवं किस संस्कार परम्परा में शिक्षित हो रहा है और फिर उसके प्रयास या कर्म की दिशा क्या है? इन तीन बातों पर वर्ण-व्यवस्था आधारित थी।

कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था वर्णभेद में परिणत हो गई। उसमें ऊंच-नीच का भाव जुड़ गया और केवल जन्म पर ही जोर रह गया। फलतः इसमें विकृति आने लगी। और यह जो कभी जीवन व्यवस्था थी वह आज मृत्यु व्यवस्था में बदलती जा रही है। पर इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अच्छी से अच्छी व्यवस्था में कालान्तर में विकृति आ जाती है। इस संदर्भ में जागरूकता-सावधानी एवं समय के अनुसार आवश्यक संशोधन करते जाना चाहिए जो भारत में सदा से होता आया है। हमने शक, हूण, कुषाण, ग्रीक एवं बौद्धों को अपनी वर्ण-व्यवस्था में आत्मसात् कर लिया। वर्तमान में मुस्लिम एवं ईसाइयों को भी शुद्ध कर आत्मसात् करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से अभी हम जागरूक नहीं हुए हैं। अतः इस क्षेत्र में पुनः जागृति की आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति और नारी

भारतीय संस्कृति में नारी को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ईश्वर के बाद मां को ही स्थान दिया गया है। शक्ति पूजा में मां की आराधना ईश्वर के रूप में की जाती है। नारी की हमने मां लक्ष्मी, मां सरस्वती, मां दुर्गा के रूप में वंदना की है। नवरात्र के अवसर पर कुमारी कन्या का विधिवत पूजन करते हैं। बंगाल में जन्मती बच्ची को भी मां के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मनु भगवान् भी कहते हैं—'जहां नारियों का सम्मान होता है, पूजा होती है वहीं देव, धन, ऋद्धि-सिद्धि, कीर्ति का वास है।' विदेश यात्रा में स्वामी विवेकानन्द से पूछा, आप नारी को किस दृष्टि से देखते हो और उसे सर्वोच्च सम्मान कब मिलता है? तब स्वामीजी ने कहा था—हम नारी को मां के रूप में देखते हैं और उसे सर्वोच्च सम्मान पाने के लिए मां बनने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पत्नी तो वह कुछ काल के लिए है। माता वह अनन्त काल के लिए है। पत्नी तो वह एक-की है पर वह माता सबकी हो सकती है।

मानव-जाति की प्रथम गुरु माता ही है। वह निर्माता के साथ परित्राता भी है। पत्नी के रूप में वह अर्द्धांगिनी है, घर की साम्राज्ञी है, बिना पत्नी के कोई भी यज्ञकर्म सम्पन्न नहीं हो सकता। बहन और पुत्री के रूप में वह सदैव स्नेह की पात्र रही है।

पर सेमिटिक परम्परा में नारी में आत्मा नहीं है। पुरुष के मन बहलाव के लिए है, सेवा के लिए है। वह स्वयं पापिन है और पुरुष को भी पाप के संसार में लाने वाली है और वहां मां बनना घृणित कार्य है—वहां के मनीषियों ने मां को बड़ी गालियां दी है। आज भी पश्चिम में नारी मुक्ति, नारी जागरण के पश्चात् भी वहां नारी Sex symbol है। भोग्या है तभी तक उसकी पूछ है, सम्मान की पात्र है। वहां नारी का भोग्या रूप ही सर्वत्र प्रसारित है। चाहे वह नृत्य हो, गीत हो, विज्ञापन हो, साहित्य हो, कला आदि कुछ भी हो। इसलिए एक बहुत प्रसिद्ध कथन प्रचलित है—भारत में अपनी पत्नी को छोड़कर सबको मां के रूप में देखा जाता है। इसके विपरीत पश्चिम में अपनी मां को छोड़कर सबको भावी पत्नी के रूप में देखा जाता है।

भारतीय संस्कृति और विचार स्वातंत्र्य

संसार में दो प्रकार की विचार परम्पराएं देखने को मिलती हैं—एक मुक्त विचारों की परम्परा और दूसरी बद्ध-विचारों की परम्परा। भारत में मुक्त विचारों की परम्परा पाते हैं। भारत ने सत्य को किसी परिभाषा में आबद्ध नहीं किया। ऋषियों ने कहा—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'** इसलिए वेद ने सत्य की व्याख्या नेति-नेति कहकर की। गुरु नानकदेव कहते हैं—'सत्य को करोड़ों मुखों से करोड़ों

युगों तक कहा जाए तो भी उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।' रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'सबको झूठा किया जा सका है पर ब्रह्म को आज तक कोई झूठा नहीं कर सका।' गांधीजी कहते हैं—'हिन्दुत्व सत्य की सतत साधना है।' डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं—'हिन्दुत्व अध्यात्म क्षेत्र की खुली प्रयोगशाला है। सत्य के अनेक या अनन्त पक्ष होते हैं, उसे कोई एक साथ जान नहीं सकता।' इसलिए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के नाम पर एक दार्शनिक धारा ही चल पड़ी। वेद में कहा है—'सत्य तो एक है पर विद्वान् लोग उसकी नाना नाम-रूपों में व्याख्या करते हैं।' इसलिए षड्दर्शन की धारा साथ-साथ चली। यहां न किसी को सुकरात की तरह विष का प्याला पीना पड़ा, न अरस्तू की तरह किसी को निर्वासित जीवन जीना पड़ा। न ईसा की तरह किसी को सूली पर चढ़ना पड़ा, न गैलीलियो की तरह जेल में सड़ना पड़ा और न जीनो की तरह घर समेत जलना पड़ा। न किन्हीं पुस्तकालयों, देवालयों को आग दिखानी पड़ी। भारत ने कभी अपने विचारों को थोपा नहीं। पर पश्चिम की चेष्टा आज तक यही है। सभी क्षेत्रों में अपने विचारों को थोपने का प्रयास किया। आकर्षक सिद्धान्तों के नाम पर यथा वैश्वीकरण, उदारीकरण आदि। चाहे वह आर्थिक जगत् के सम्बन्ध में विचार हों, चाहे इतिहास के सम्बन्ध में विचार हों, चाहे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में विचार हों, चाहे धर्म, संस्कृति, दर्शन, भाषा आदि के सम्बन्ध में विचार हों।

पश्चिम में बद्ध-विचारों की परम्परा पाते हैं। पश्चिम की दृष्टि यह रही कि हमने जितना जाना उतना ही सत्य है और बाकी सब असत्य है, कुफ्र है, नष्ट होने के योग्य है। सत्य को उन्होंने एक सीमा में आबद्ध कर दिया। उसके बाहर जो कुछ भी है वह सब असत्य है। यही कारण है कि जब सुकरात ने ग्रीक परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त किया तो उसे जहर का प्याला पीना पड़ा। अरस्तू को अपने देश से निष्कासित होकर एक निर्जन टापू में अपना अन्तिम जीवन बिताना पड़ा। ईसा को यहूदी विचार परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण सूली पर लटकना पड़ा। ईसाइयों ने यहूदियों को ईसा का हत्यारा घोषितकर उन पर हर प्रकार के अत्याचार किए। गैलीलियो को ईसाई परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण जेल में सड़ना पड़ा और अपनी स्थापना को वापस लेना पड़ा। कोपरनिकस ने पादरियों के भय से अपने विचारों को अपने जीवनकाल में प्रकाशित नहीं किया। दार्शनिक जीनो को घर समेत जलना पड़ा, पुस्तकालयों को जलना पड़ा और देवालयों, तीर्थालयों को ध्वस्त होना पड़ा। यही बात इस्लाम के साथ भी है—या तो कुरान स्वीकारें या मौत। हिन्दू विविधता में एकता को, एकात्मता को ढूंढ़ता है। विरोधों में सत्य को ढूंढ़ता है। बुराई में भी अच्छाई खोजता है। पर पश्चिम की परम्परा अच्छाई में बुराई ढूंढ़ती है। सत्य को तोड़-

मरोड़कर असत्य प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है। इस मौलिक भेद को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

यदि मनुष्य को सचमुच में मनुष्य बनना है तो उसे हिन्दुत्व नहीं, हिन्दुत्व की धारणा स्वीकार करनी होगी। दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णु बनना होगा। असहिष्णुता उन्हीं लोगों द्वारा प्रकट होती है जो अपने विचार की श्रेष्ठता बड़े उच्च स्वर में घोषित करते हैं। किन्तु इस पर स्वयं ही आचरण नहीं करते, स्वार्थ प्रेरित हैं वे। विचार के असहिष्णु प्रचारक स्वयं आचार के संहारक होते हैं।

विचार में स्वतंत्रता, आचार में कठोरता

भारतीय संस्कृति विचार की स्वतंत्रता, उदारता और आचार में कठोरता, अनुशासन को स्वीकारती है। विचारों की विविधता को पूरा प्रश्रय दिया पर आचार में मर्यादा बनी रहे, इसके लिए समाज को आश्रम व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था द्वारा बांध दिया गया है। जिससे व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन में उच्छृंखलता एवं मनमानापन निर्माण न हो। व्यक्ति और समाज अनुशासित होकर स्वयं ही क्रमशः परमलक्ष्य की ओर गति कर उसको लाभ कर सके। ऐसी ही जीवन रचना (डिजाइन) भारतीय संस्कृति द्वारा की गई है।

भारतीय समाज और जाति-व्यवस्था

भारतीय समाज जाति-व्यवस्था की भित्ति पर खड़ा है। आजकल जाति-व्यवस्था की कतिपय आलोचना की जा रही है। किन्तु आलोचक यह भूल जाते हैं कि जाति-व्यवस्था हमारे सामाजिक जीवन की ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था रही है कि जिसने समाज के सभी सदस्यों को छोटी-छोटी इकाइयों में संगठित रहने में सहायता की तथा हजारों वर्षों के विदेशी आक्रमणों के उपरांत भी समाज को विशृंखलित नहीं होने दिया। जहां जाति-व्यवस्था हमारी जीवन व्यवस्था रही है वहां जातिविद्वेष हमारी मरण व्यवस्था कही जा सकती है।

व्यक्ति को स्वधर्म पालन में अपने से बड़ी इकाई के प्रति समर्पण के भाव का विकास करते जाना चाहिए। शरीर धर्म में शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, परिश्रम, सेवा, विश्राम ये सात कर्तव्य हैं। शरीर धर्म से ऊपर कुल धर्म है, जिसमें परिवार की रक्षा, सेवा, प्रतिष्ठा करना कर्तव्य है। उसके ऊपर जाति धर्म, उसके ऊपर समाज धर्म, उससे ऊपर राष्ट्र धर्म तथा फिर विश्व धर्म है। अतः जाति सेवा तो राष्ट्र सेवा एवं विश्व मानवता की सेवा के लिए एक आवश्यक सीढ़ी है। समाज सुधार की अन्धी दौड़ में हमें वे आवश्यक सीढ़ियां ही नहीं तोड़ देनी चाहिए जिनके सहारे हम विश्व कल्याण के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच सकते हैं।

भारतीय संस्कृति और शास्त्र प्रमाण

भारतीय संस्कृति श्रुति, युक्ति और अनुभूति को साथ-साथ महत्त्व देती है। शास्त्र, शास्त्र के अनुकूल तर्क और फिर स्वयं की अनुभूति ये तीनों साथ-साथ चलना चाहिए। शास्त्र त्याग करने वाला व्यक्ति चाहे कितना भी उच्चपदस्थ एवं तपस्वी हो, उसकी आज्ञा पालनीय नहीं है। अवतार होने पर भी बुद्ध के आदेश पालनीय नहीं बने। त्याग का आदर करते हुए भी त्यागी की शास्त्रविरुद्ध वाणी का पालन नहीं होना चाहिए।

भारतीय संस्कृति और अधिदेव

बिना अधिदेव को माने भारतीय संस्कृति न तो सिद्ध हो सकती है और न ही उसे हम समझ सकते हैं। गीता में ज्ञान की परम्परा बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं सर्वप्रथम गीता का उपदेश सूर्य को दिया। भगवान् राम समुद्र से रास्ता मांगने के लिए तीन दिन प्रार्थना करते रहे, प्रार्थना कारगर न होती देखकर कोप किया तो समुद्र देव प्रकट हुए और समुद्र पार करने का मार्ग बताया। भगवान् राम के अवतरण के साथ-साथ देवशक्तियां बंदर-भालू के रूप में रावण के संहार के लिए प्रकट हुईं। कुन्ती माता के पांचों पुत्र एवं कर्ण बिना देवों की सत्ता के सिद्ध नहीं हो सकते न ही भीष्म पितामह गंगा के पुत्र थे सिद्ध होगा।

भारतीय शास्त्र परम्परा एक ईश्वर को मानती है। उसके साथ ही प्रकृति की भिन्न शक्तियों का शासन भिन्न-भिन्न देवों के अधीन माना जाता है, जैसे वायु, अग्नि, वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि। ये देवता प्रकृति के भिन्न-भिन्न विभागों के शासक हैं। पर इन देवताओं का भी ईशन करने वाला जो देवाधिदेव है उसे परमेश्वर (परम + ईश्वर) अर्थात् सब पर शासन करने वाला परम शासनकर्ता कहा जाता है। अधिदेव को मानने पर ही संत रविदास जी के नारियल को स्वीकारने स्वयं गंगा माता हाथ बढ़ाकर ग्रहण करने वाली घटना सिद्ध होगी एवं रामकृष्ण परमहंस देवजी की विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना भी अधिदेव को सत्य मानने पर ही मान्य होगी। प्राचीन साहित्य में वर्णन आता है नदियां बोली, यह सब अधिदेव की दृष्टि से सही है। स्पष्ट है बिना अधिदेव को स्वीकारे एवं माने भारतीय संस्कृति की व्याख्या नहीं हो सकती।

भारतीय संस्कृति और तपोवन

भारतीय संस्कृति वन संस्कृति है। तीन आश्रम यथा ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम सीधे वन से जुड़े हुए हैं। और गृहस्थाश्रमी भी, प्रेरणा प्राप्त करने के लिए वन में ऋषियों की कुटिया में सत्संग के लिए आते हैं। यहां तक राजा अपनी चतुरंग की सेना सजाकर नंगे पांव वन में ऋषि की कुटिया में उनका कुशलक्षेम जानने एवं उनसे आदेश एवं उपदेश प्राप्त करने के लिए पहुंचता है।

वैदिक भाषा में ऐसा एक भी शब्द नहीं मिलता जिससे यह प्रमाणित हो कि जंगल में रहने वाले असभ्य और बर्बर थे। जंगली शब्द निन्दावाचक है और यह अंग्रेजी के Savage का संस्कार ग्रहण कर हिन्दी में आया है। अंग्रेजी में यह शब्द Wild, uncivilised, cruel, nude, fierce आदि के लिए आता है। हमारी संस्कृति में 'वनवासी' शब्द अत्यन्त गौरवपूर्ण अर्थ धारण करता है। आर्य सभ्यता का जन्म, लालन-पालन, विकास और संरक्षण वनवासी ऋषियों, विचारकों, आचार्यों से होता रहा। प्रणव का प्रथम घोष किसी निविड़ वन के अंतराल में ही हुआ और त्रिपथगा ज्ञानगंगा की शाश्वत धारायें भी ऐसे शान्त मनोरम वनों से प्रकट होकर सर्वत्र फैली। वन की स्निग्ध छाया में ज्ञानयज्ञ के लिए ज्योति प्रकट की गई और वहां के ऋषि त्यागी-तपस्वी द्रष्टा आचार्यों ने ब्रह्मचारियों को ज्ञान से ओत-प्रोत करके कर्म-भूमि में भेजा। यह परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक जीवित है। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्यों के विश्वविद्यालय नगरों के कोलाहल से दूर, शान्त निविड़ वनों में थे। वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम का आश्रय स्थल अरण्य ही था।

भारतीय संस्कृति और ब्राह्मण

भारतीय संस्कृति देव संस्कृति, सतोगुणी संस्कृति होने से ब्राह्मण संस्कृति है। भारतीय संस्कृति के धारक, वाहक, प्रसारक मुख्यतः ब्राह्मण, संत समाज, संन्यासीवृंद हैं। इनका जीवन सदाचारमय, त्यागमय, तपोमय, ज्ञानमय, सेवामय रहा है। इसलिए ब्राह्मण को भूदेव, संतों को चलते-फिरते तीर्थ की संज्ञा दी गयी है। इसी दृष्टि से उन्हें सर्वोच्च सम्मान दिया गया है। ये समाज के जीवंत गुरु के स्थान पर हैं, आदर्श के स्थान पर हैं। प्रेरणा और प्रकाश के अक्षयस्रोत के रूप में हैं। इस अर्थ में भारतीय संस्कृति को ब्राह्मण संस्कृति कहा जा सकता है। चेतना के ऊर्ध्वमुखी विकास के कारण, सद्गुणों व चरित्र के विकास के कारण यह देवी संस्कृति है, सतोगुणी संस्कृति है, ब्राह्मण संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा

संस्कृत और संस्कृति, दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है और संस्कृत उस आत्मा को प्रकाशित करने वाली राष्ट्र की बोली है, भाषा है। भारतीय संस्कृति के सभी महान् एवं ऐतिहासिक अभिलेख संस्कृत तथा संस्कृत मूल वाली भारतीय भाषाओं में सुरक्षित है। अतः हमारी संस्कृति संस्कृत में ही बोलती है। संस्कृत में ही सुरक्षित है। संस्कृत के माध्यम से ही युगानुकूल परम्परा द्वारा हम तक पहुंची है। संस्कृति जीवन के महानतम आदर्शों की संस्कार परम्परा है। किन्तु, यदि कोई पूछे कि वे आदर्श क्या हैं? तो बिना भाषा के माध्यम के उन आदर्शों का निर्वचन कोई नहीं

कर सकता। भाव भाषा के माध्यम से यात्रा करते हैं और भारतीय संस्कृति देव-भाषा संस्कृत के दिव्यरथ में बैठकर ही देशों, कालों एवं युगों की यात्रा करती हुई अभी तक अमर बनी हुई है।

भारतीय संस्कृति और गोमाता

भारतीय संस्कृति जिन देवों की उपासना पर अधिष्ठित है वे समस्त देवता गोमाता के विग्रह में विराजमान है, एवं गोमाता स्वयं पृथ्वी का अधिदैविक रूप है। इस संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श यज्ञ-गोमाता के गोमय गोरस एवं गोघृत पर अवलम्बित है।

भारत के मनुष्यों की ऋषि प्रज्ञा गोमाता के दुग्धामृत का वरदान है। भारतीय बल पौरुष एवं जनगण का जीवन गोमाता की सुधाधारा एवं वृषभों के तपःपूर्ण परिश्रम का वरदान है।

यह परम दुर्भाग्य की बात है कि जहां अंग्रेजी राज-काल में यूनियन जैक के झंडे तले प्रतिदिन छह हजार गोवंश की हत्या होती थी वहीं आज अशोक के धर्मचक्र के नीचे छत्तीस हजार गोवंश के गले पर प्रतिदिन छुरी फेरी जाती है। जबकि भारत का पारम्परिक राजनैतिक आदर्श है—'गोब्राह्मण परिपालन' और हमारा सर्वोच्च सांस्कृतिक आदर्श है 'अहिंसा परमोधर्मः' जो सार्वभौम महाव्रत है—हर देशकाल में पालनीय है। केवल अत्यन्त अपवाद स्थितियों में ही हिंसा की अनुमति है।

समय के अनुसार परिवर्तन की क्षमता—भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि वह देश-काल के अनुसार अपनी मूल चेतना में परिवर्तन किए बिना ढलने की क्षमता रखती है। इसलिए भी भारतीय संस्कृति चिरंजीवी बनी हुई है।

भारतीय संस्कृति मिश्रित या खिचड़ी संस्कृति नहीं है

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत महादेश को 'महामानवेर महासागर' कहा है। विश्व की अनेक निराश्रित जातियों को यहां आश्रय स्थल मिला है। अतः भारत को अनेकानेक संस्कृतियों का पावन संगम स्थल माना गया। किन्तु, क्या भारतीय संस्कृति की सरिता केवल उधार लिए हुए जल से भरी हुई है? नहीं, ऐसा मानना तो सत्य का हनन करना होगा। जैसे अमर तरंगिणी सुर-सरिता अपनी हजारों मील की लम्बी यात्रा में अनेकानेक नदी-नालों को आत्मलीन करती हुई, उन्हें भी गंगा बनाती हुई निरन्तर प्रवहमान है, वैसे ही भारतीय संस्कृति की मंदाकिनी अपने भीतर आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों के श्रेष्ठ गुणों को आत्मसात् करती हुई निरन्तर जीवन-रस से तरंगित हो रही है।

डॉ. राधाकृष्णन् का मत है कि आज का हिन्दू धर्म आर्य एवं द्रविड़ संस्कृतियों के एकाकार हो जाने से बना है। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भारतीय

संस्कृति में आर्य, द्रविड़, आग्नेय, आस्ट्रिक, यूनानी, मंगोल, शक, मुस्लिम तथा यूरोपीय तत्त्वों का सम्मिश्रण बताया है। पर मेरे गुरु डॉ. ओबरायजी का यह निर्भ्रांत मत है कि चाहे इस प्रकार की बीसियों जातियों का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा हो, पर भारत की आत्मा सदा भारतीय ही रही है तथा बाहर की संस्कृतियों का प्रभाव केवल संस्कृति के बाहरी कलेवर पर ही पड़ा है। वैदिक ऋषि हवन-यज्ञ करते थे। पूजा-अर्चना द्रविड़ों से आई। तिलक, कुंकुम, सिन्दूर लगाना द्रविड़ों तथा आग्नेयों से आया। किन्तु इससे धर्म की आत्मा में कोई अन्तर नहीं पड़ा। केवल बाहर की प्रक्रिया बदल गई। जिस अनादि, अनन्त, सत्ता के निमित्त हवन में हवि दी जाती थी, उसी के निमित्त पत्र, पुष्प, जल चढ़ाया जाने लगा। उसी एक अविनाशी सत्ता की आरतियां उतारी जाने लगी। उसी का नामस्मरण, जप आदि किया जाने लगा। इस प्रकार धर्म के पहनावे, बाह्य कलेवर बदलते गए किन्तु धर्म की आत्मा सदा एकरस रही। फिर किसी भी देश की संस्कृति को मिली-जुली संस्कृति नहीं कहा जाता है। यद्यपि सभी संस्कृतियां अन्य संस्कृतियों के तत्त्वों को ग्रहण करती हैं पर न वह मिली-जुली संस्कृति कहलाती है न ही इसका ढोल पीटा जाता है।

अतः वर्तमान समय में भी भारत में जो संस्कृति है, वह स्वरूपतः वैदिक संस्कृति ही है। यद्यपि युगों से चली आ रही इस वैदिक संस्कृति के बाह्य कलेवर में अनेकों परिवर्तन हुए हैं तथा बाह्य स्तर में अनेकों विकृतियां भी दिखलाई देती हैं। पर इसकी आत्मा में वही विशुद्धि आज भी है जो इसके स्थापना काल में रही है। इसकी प्राणशक्ति आज भी वैदिक धर्म ही है। यह तथ्य इस संस्कृति द्वारा प्रसवित अद्वैताचार्यों, संतों, महापुरुषों के जीवन द्वारा एवं महान् कलाविदों व साहित्यकारों की श्रेष्ठ रचनाओं द्वारा प्रमाणित हो रहा है।

अतः स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति से तात्पर्य किसी भी खिचड़ी संस्कृति, मिश्रित संस्कृति या गंगा-जमुनी संस्कृति से नहीं है। विशुद्ध व वैदिक हिन्दू संस्कृति का ही बोध होता है। तभी तो इण्डियन फिलॉसफि से वेदोपनिषद्, षड्दर्शन तथा बौद्ध-जैन दर्शनों का ही निर्देश पाया जाता है। जिसे स्वयं नेहरूजी ने Discovery of India में स्वीकारा है। इन्दिरा गांधी ने सन् 1983 के नई दिल्ली में आयोजित रामकृष्ण विवेकानन्द सम्मेलन में स्वीकार किया था, 'बहुत समय तक यूरोप में सभी धर्मों को हिन्दू में शामिल किया जाता था।' इन्दिराजी कहती हैं—मुझे याद है सन् 1935 या उसके आसपास यूरोप गई तो वहां के लोगों ने मुसलमानों का जिक्र भी हिन्दुओं के रूप में किया। आप कौन से हिन्दू हैं क्या आप इस्लाम का पालन करते हैं या वेदान्त अथवा किसी दूसरे धर्म का? ऐसी ही बात थी। क्योंकि हिन्दू का अर्थ वे भारतीय ही समझते थे।

सन् 1957 में जब नम्बूदरीपाद केरल के मुख्यमंत्री बने तो वामपंथियों के लिए यह बड़े महत्त्व की बात थी क्योंकि वह भारत में पहली वामपंथी सरकार थी। शपथग्रहण समारोह में चीनी नेता माओत्से तुंग आये। नम्बूदरीपाद ने उन्हें उपहार दिया। क्या था वह उपहार? आजकल की परम्परा के अनुसार जब उस उपहार को मंच पर खोला गया तो नम्बूदरीपाद ने कहा था कि यह भारत का प्रतीक है। वह नटराज की मूर्ति थी। जो नम्बूदरीपाद स्वयं को हिन्दू नहीं मानता वह भी जब भारत की पहचान बताने का प्रयास करता है तो आधार हिन्दुत्व का ही लेता है।

स्व. राजीव गांधी जब प्रधानमंत्री बने तो शेष विश्व का भारत से परिचय कराने के लिए भारत उत्सव का आयोजन मास्को में किया गया। उसका प्रारम्भ वैदिक गीत, भारतीय नृत्य से हुआ। उसमें प्रदर्शित वस्तुएं हिन्दू संस्कृति से सम्बन्धित थी। राजीव गांधी जो कहते थे मेरी मां हिन्दू, मेरे पिता पारसी, मेरी पत्नी ईसाई पर मेरा कोई धर्म नहीं—वह कहते हैं ये सब भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि हैं।

अतः स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति खिचड़ी संस्कृति नहीं है। और बड़े मजे की बात गंगा-जमुनी संस्कृति की बात न यहां मुसलमान करते है और न ईसाई। न उन्हें यह स्वीकार्य ही है। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान' गांधी जी तो नित्य प्रार्थना में गाते रहे, गवाते रहे पर मौलाना अब्बुल कलाम आजाद ने कभी गाया और न ही स्वीकारा। और रहीम, रसखान, महमुद करीम छागला आदि ने स्वीकारा तो ये अपवाद स्वरूप है जिसे स्वयं मुस्लिम समाज मान्यता नहीं देता आदर्श रूप में स्वीकारने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन्हें मुसलमान भी नहीं मानते। उन्हें इस्लाम से च्युत एवं काफिर मानते हैं। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार इस्लाम एक बंद निकाय की तरह है, जो मुसलमानों और गैर मुसलमानों के बीच भेद करता है। इस्लाम का भ्रातृभाव मानवता का भ्रातृत्व नहीं है, मुसलमानों का मुसलमानों से ही भ्रातृत्व है। बंधुत्व है। जो इस निकाय से बाहर है उनके लिये इसमें सिर्फ घृणा और शत्रुता ही है। दूसरे शब्दों में इस्लाम एक सच्चे मुसलमान को इसकी अनुमति कभी नहीं दे सकता कि वह भारत को अपनी मातृभूमि समझे और हिन्दू को अपना सम्बन्धी तथा आत्मीय माने। सम्भवतया इसलिए मौलाना मोहम्मद अली ने जो एक महान् भारतीय किन्तु एक सच्चे मुसलमान थे, भारत की अपेक्षा जेरूसलम में दफनाया जाना अधिक पसन्द किया। इसलिए स्वामी विवेकानन्द जी ने भी हिन्दुओं के जितने भी मत, पंथ, सम्प्रदाय, वर्ण, जाति, उपजाति, अंत्यज सभी को भाई कहा पर मुसलमानों को नहीं। क्योंकि वे उनकी मजहबी मान्यता से, उनकी अराष्ट्रीय एवं अमानवीय वृत्ति से परिचित थे।

हिन्दू अपने भोलेपन में कहता है कि मुसलमान अच्छा मुसलमान बने, ईसाई अच्छा ईसाई बने। इनका सच्चा और अच्छा बनने का अर्थ ही है काफिरों व हिडेनों से कोई आत्मीय रिश्ता नहीं जोड़े। अवसर मिलते ही इनका वध करे, यह उनका मजहबी कर्तव्य है, पुण्य कर्म है, स्वर्ग देने वाला है। ईसा के माता-पिता-पूर्वज, मुहम्मद के माता-पिता, पूर्वज किसी भी तर्क से ईसाई या मुसलमान नहीं हो सकते, उन्हें भी इन्होंने नरक में स्थान दिया है। अपने-अपने देश की पूर्व सभ्यता, संस्कृति, धर्म-दर्शन, इतिहास एवं परम्परा को समूल नष्ट कर दिया तो क्या अन्य को बख्शेंगे? मुहम्मद से पूर्व अरब की स्थिति को अज्ञानांधकार में बताते हैं। इस्लाम से पूर्व अरब अज्ञानांधकार में था या इस्लाम को अपनाने के बाद यह तो इतिहास बतायेगा। यूरोप का मध्ययुग इतिहास में अज्ञानांधकार का युग माना जाता है। ईसाइयत से पिण्ड छुड़ाकर ही पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान की यात्रा सम्भव हो सकी। जहां भी इनका राज्य है अन्य धर्मों-पंथों का कोई भी चिह्न शेष नहीं रहने देते। यही कारण है कि अफगानिस्तान के बामीयान में संसार की सबसे विशाल बुद्ध की खड़ी मूर्ति जो 175 फुट ऊंची थी, को तालिबान ने तोप लगाकर उड़वा दिया, इंडोनेशिया पर निरन्तर आघात जारी है, पाकिस्तान बांग्लादेश में बचे-खुचे हिन्दू चिह्नों को नष्ट किया जा रहा है, कश्मीर घाटी से हिन्दुओं को निकाल बाहर किया और बचे-खुचे हिन्दू चिह्नों को नष्ट किया जा रहा है। मिजोरम, मेघालय आदि में हिन्दुओं को या तो धर्मान्तरित या वध से निष्कासित कर दिया गया है। जो सहअस्तित्व को मानते ही नहीं। अरब आदि देशों में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य उपासनायें दण्डनीय अपराध है।

मुसलमान जहां अल्पसंख्यक होते हैं वहां विशेष अधिकार की, सुविधाओं की मांग करते हैं और जहां बहुसंख्यक होते हैं, वहां असहिष्णु होते हैं। सभी राजनीतिक दलों से उन्हें सुविधा प्राप्त हो इसके लिए ही उनमें शामिल होते हैं। मुसलमान जब-तब दंगा-फसाद के लिए उतर आते हैं, मनमानी करते हैं और इसका उत्तर देने के लिए कभी-कभार हिन्दू समाज तत्पर होता है तब मुसलमानों पर अत्याचार हो रहा है, अत्याचार हो रहा है उसका देशभर में ही नहीं विश्वभर में शोर मचाते हैं। भारत में इन्होंने कभी भी अल्पसंख्यक रूप का तो परिचय दिया नहीं, सदैव उत्पाती के रूप में ही अपना परिचय दिया है और दे रहे हैं। पश्चिम में जब से आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तब से वे ईसाइयत को छोड़ते जा रहे हैं। पर इस्लाम में तो आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ होते ही मौत के फतवे जारी हो जाते हैं। जिस दिन इनमें आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी इस्लाम अपने आपको बचा नहीं पायेगा।

गांधीजी ने मुसलमानों व ईसाइयों को राष्ट्र की मूलधारा में लाने के लिए खिलाफत का समर्थन किया, हिन्दुओं के परम्परागत भगवे झण्डे के स्थान पर

तिरंगे को स्वीकार किया, हिन्दी भाषा के स्थान पर हिन्दुस्तानी को जिसमें फारसी, उर्दू, अंग्रेजी के शब्दों को उसमें बड़ी मात्रा स्वीकारा। कवि भूषण की कविताओं से मुसलमानों को बड़ा दुःख पहुंचता है, अतः उसे साहित्य से बाहर कर दिया। आज भूषण हिन्दी साहित्य में नहीं पढ़ाये जाते। मुसलमानों को खुश करने वंदेमातरम गीत को छोड़ दिया, आज केवल दो पद गाये जाते हैं। पर इसका परिणाम देश विभाजन ही आया। स्वतन्त्रता के 64 वर्ष बाद भी फिर से हम वही सारी गलतियां दोहरा रहे हैं। मुसलमानों की सारी नाजायज मांगें मानकर, देश विभाजन को स्वीकार करके तथा उनके लिए अपने प्राण की बलि देकर भी गांधीजी उनके अपने नहीं बन सके और पंडित नेहरू जी सारा जीवन उनका अंधसमर्थन करके भी उनके अपने नहीं बन सके फिर भी ऐसी बात हिन्दू राजनेता राजनीति से प्रेरित होकर करते हैं या फिर हिन्दू समाज अपने भोलेपन में ही करता है।

भारतीय संस्कृति से किसी खिचड़ी संस्कृति की कल्पना विदेशी विद्वान् नहीं कर सकते। पाश्चात्य विद्वानों की जो भारत पर दृष्टि है वह नवीन नहीं, प्राचीन वैदिक औपनिषदिक और गीतोक्त भारत पर है, भारतीय संस्कृति पर है। उसी से मार्गदर्शन की अपेक्षा करते हैं। उसे ही शाश्वत अमर भारत मानते हैं। आज का भारत तो स्वयं पथच्युत है, भ्रष्ट है। वह उन्हें स्वीकार्य नहीं।

यद्यपि संस्कृति भौगोलिक सीमाओं में नहीं बांधी जा सकती है फिर भी जिस भूमि पर वह निर्मित होती है उस भूमि से वह सम्बन्ध अवश्य रखती है और उस भूमि के नाम से ही विश्व में पहचानी जाती है। इसी दृष्टि से इसे वैदिक संस्कृति, आर्य संस्कृति, सनातन संस्कृति, भारतीय संस्कृति, हिन्दू संस्कृति कहा जाता है।

जब हम हिन्दुत्व के उत्थान की बात करते हैं तब कहा जाता है कि हिन्दू शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। न यह वेद में मिलता है, न उपनिषद् में, न ब्राह्मणों में, न पुराणों में, न रामायण और न ही महाभारत में। वेदों में तो संस्कृति को 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' कहा गया है। जब भी धर्म का वर्णन हुआ, 'एष मानवधर्म' के रूप में उल्लेख हुआ है। बाद में जो सेमिटिक मजहब दुनिया में आए, उनके पूर्व की संस्कृतियां एक जैसी थी। भारत में जो प्राचीन विश्वधर्म, विश्वसंस्कृति, विश्व जीवनमूल्य थे उनको सेमिटिक मजहबों के जीवनमूल्यों से भिन्न दिखाने के लिए हिन्दू शब्द भारत में रूढ़ हो गया। यह इसी प्रकार की बात है जैसे कि घी का अर्थ ही होता है गाय का घी। पर जबसे बाजार में अन्य घी (नकली घी) भी आ गए तब उनसे पृथक्ता जतलाने के लिए शुद्ध गाय का घी लिखा जाने लगा।

हमारा राष्ट्रीय आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है। हमने सारे विश्व को एक बाजार, उपनिवेश या साम्राज्य नहीं वरन् एक परिवार माना है क्योंकि हम सब एक

ही ईश्वर की अमृत संतान हैं। परिवार बड़ा हो जाने पर विभिन्न कारणों से विभिन्न भूखण्डों में वास करता है, शरीर से तो दूर होते हैं पर मन एवं हृदय से निकट होते हैं। इसलिए हमारे ऋषि कहते हैं, 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' तीनों ही देश-लोक हमारे अपने हैं।

भारत अग्रजन्मा होने से तथा 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' होने से वेद भगवान् ने आदेश दिया 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' सारे संसार को श्रेष्ठ, गुणवान और संस्कृत बनाओ। बड़े भाई का दायित्व है कि उसके केवल स्वयं के सुशिक्षित, सज्जन, संस्कारी बनने से काम नहीं चलेगा। अपनी सज्जनता की रक्षा के लिए भी पास-पड़ोस, दूर सभी को संस्कारित करके सुशिक्षित करना उसका दायित्व है और छोटे भाइयों का कर्तव्य है कि वे अपने गुरुजनों, पूज्यजनों से, गुणी जनों से, बड़ों से अपने कर्तव्य की, आचरण की, चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें। इसलिए भगवान् मनु विश्ववासियों को आदेश देते हैं कि अपने-अपने कर्तव्य की शिक्षा भारत से ग्रहण करें। यह पौराणिक नहीं ऐतिहासिक तथ्य है। भारत ने सदा विश्वमंगल की साधना निःस्वार्थ भाव से की। अपनी श्रेष्ठताओं का यथा—धर्मदर्शन, सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का दान बिना किसी देश की स्वाधीनता को छीने, बिना उसके अर्थतंत्र पर डाका डाले, बिना मां-बहनों के शील पर आघात किए, अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा बिना उनका एवं अपना अहित किए किया और विश्ववासियों ने भी भारत से शिक्षा एवं संस्कार ग्रहण कर अपने को कृत-कृत्य, धन्य-धन्य माना।

इसमें हम शास्त्र एवं शस्त्र दोनों की परम्परा को स्वीकारते हैं। शास्त्र के द्वारा हम स्वयं को शिक्षित, संस्कारित करते हैं, अन्यों को शिक्षित व संस्कारित करते हैं, दैवी सम्पदा का अर्जन कर आत्मबोध को, स्वरूप बोध को प्राप्त करते हैं और शस्त्र द्वारा अन्दर के एवं बाह्य शत्रुओं का दमनकर उनको अपने वश में रखते हुए समाज में सुख-शान्ति, अभय का वातावरण प्रदान करते हैं। इस प्रकार शास्त्र द्वारा अन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके हम आत्मलाभ प्राप्त करते हैं और शस्त्र द्वारा देश के अन्दर के एवं बाह्य शत्रुओं का दमनकर समाज में सुख-शान्ति, अभय का साम्राज्य स्थापित करते हैं। जिसके द्वारा समाज में ज्ञान-विज्ञान का, सभ्यता-संस्कृति का, कला-कौशल के विकास का पूरा अवसर मिलता है।

भारतीय संस्कृति में हिंसा-अहिंसा

भारतीय संस्कृति कर्तव्यप्रधान है। कर्तव्यप्रधान होने से त्यागप्रधान है, त्यागप्रधान होने से अहिंसा व शान्तिप्रधान है। पश्चिमी संस्कृति अधिकारप्रधान है। अधिकारप्रधान होने से भोगप्रधान है, भोगप्रधान होने से संघर्ष और हिंसाप्रधान है। जो अपने राजनैतिक वैभव काल में अपने साम्राज्य विस्तार और धर्म विस्तार के

नाम पर विश्व पर युद्धों को थोपते रहे हैं, अन्यों की सभ्यता, संस्कृति व धर्म को कुचलते रहे हैं। पर भारत ने तो सदा शान्ति का, धर्म का ही दान दिया है। अहिंसा व प्रेम का ही संदेश दिया है सारे विश्व को।

भारतीय संस्कृति अहिंसा को परम धर्म के रूप में स्वीकारती है। समाज में, देश में, अहिंसा, धर्म, न्याय, अभय, स्वतंत्रता, व्यवस्था सदा कायम रह सके, हमारी शान्ति को कोई भंग न कर सके, इसके लिए दण्ड को, युद्ध को, हिंसा को आवश्यक बुराई के रूप में वेद, रामायण, महाभारत, गीता में स्वीकारा गया है। जब शान्ति का और कोई उपाय शेष न रहे तब अन्तिम-आवश्यक बुराई के रूप में हिंसा को, युद्ध को भारतीय संस्कृति स्वीकारती है। कहा जाता है 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिंता प्रवर्तते।' शास्त्र से रक्षित राष्ट्र में शास्त्रचिंतन एवं समाज में शान्ति, सौख्य, अभय, स्वतंत्रता, व्यवस्था कायम रहती है। भारत राष्ट्र का अनुभव-सिद्ध उद्घोष है—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतस् सशरं-धनुः।
इदं क्षात्रं इदं ब्राह्मं शास्त्रादपि शरादपि।।

अर्थात् मेरे आगे चारों वेद है, उनके पीछे शरयुक्त धनुष है। मेरे पास ब्रह्मतेज है और क्षात्रतेज भी है। आसुरी शक्तियों को कभी शास्त्र द्वारा तथा कभी शस्त्र द्वारा निरस्त करते हुए मैं (राष्ट्र) प्रगति पथ पर प्रयाण करता हूं।

स्पष्ट है कि देश में सत्य, न्याय, धर्म, अहिंसा, न्याय, सद्भाव, प्रेम, सौख्य की प्रतिष्ठा बनी रहे इसलिए हिंसा, युद्ध, दण्डनीति को आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार किया गया भारतीय वैदिक परम्परा में।

सत्याग्रह और अनशन वहीं कारगर होते हैं जहां आत्मीयता का क्षेत्र हो और आत्मीयता शेष हो। सत्याग्रह और अनशन का कोई प्रभाव न मुसलमानों पर पड़ा और न अंग्रेजों पर। नहीं तो देश विभाजित नहीं होता। अंग्रेज देश को जितना तोड़ सकते थे, बांट सकते थे, बिखेर सकते थे, उलझा सकते थे, सब करके लाचार होकर गये। कोई प्रेम, अहिंसा से प्रभावित होकर नहीं। गांधीजी के विषय में जो यह कहा जाता है—साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल, 'बिना खड्ग और ढाल के, बिना लड़ाई और वीरता के, चमत्कृत होकर सत्ता का हस्तांतरण करा दिया' यह पूर्णतया गलत पाठ पढ़ाया जा रहा है। लॉर्ड माउण्टबेटन स्वाधीनता के बाद भी पंडित नेहरू की कृपा से डेढ़ साल तक भारत का गवर्नर जनरल बना रहा। भारत का मित्र बनकर देश को सम्हालने के नाम पर वह जितने समय रहा देश की नींव खोदता रहा और देश को एक गड्ढ़े से दूसरे गड्ढ़े में डालता रहा। स्पष्ट है सत्याग्रह अनशन आदि वहीं सफल होते हैं जहां आत्मीयता का क्षेत्र है और आत्मीयता शेष है।

स्पष्ट है हमने धर्म, न्याय, सत्य की प्रतिष्ठा, स्वराज्य व अस्मिता की रक्षा की कीमत पर युद्ध को अस्वीकारा नहीं। नहीं तो धर्म, न्याय, नैतिकता पर से समाज की आस्था ही उठ जायेगी और सबकी अधर्माचरण की प्रवृत्ति हो जायेगी, सर्वत्र अव्यवस्था फैल जायेगी, और असमय में सृष्टि विनाश को प्राप्त हो जायेगी। इसलिए धर्म, न्याय, नैतिकता की प्रतिष्ठा बनी रहे इसके लिए युद्ध को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकारा। इसी दृष्टि से भारतीय परम्परा यथा गीता-रामायण आदि धर्मयुद्ध का आह्वान करती है। पर सेमिटिक परम्परा में विशेषकर ईसाइयत एवं इस्लाम में जो जिहाद (धर्मयुद्ध) का आह्वान किया गया है वह अन्यों के—स्वराज्य का, धर्म का, संस्कृति एवं सभ्यता का, ज्ञान-विज्ञान का अपहरण करके उन पर विदेशी, बर्बर सभ्यता, संस्कृति एवं पंथ को थोपकर सदा के लिए अपना उपनिवेश स्थापित करने के लिए, बाजार स्थापित करने के लिए है। अब तक का इतिहास इस बात का साक्षी है। इस प्रकार हिन्दू धर्म के धर्मयुद्ध और ईसाई एवं इस्लाम पंथ के जिहाद, क्रूसेड में मूलभूत अन्तर है। हिन्दू धर्म स्वराज्य, स्वधर्म, न्याय की प्रतिष्ठा के लिए धर्मयुद्ध की आज्ञा देती है। ईसाई व इस्लाम जिहाद (क्रूसेड) के तहत अन्यों पर आतंक थोपकर उनके स्वराज्य, स्वधर्म एवं संस्कृति का अपहरण करके उनको विदेशी परतंत्रता में जकड़ करके उन पर अपना विदेशी बर्बर पैशाचिक पंथ एवं संस्कृति को थोपने के लिए है। स्पष्ट है गीता का धर्मयुद्ध सत्त्व की रक्षा के लिए है, बाइबिल व कुरान का धर्मयुद्ध सत्त्व के अपहरण के लिए है। अतः दोनों की दृष्टि में 'आकाश-पाताल' का अन्तर है।

हमारा धार्मिक आदर्श सर्वधर्म समभाव है। मनुष्य अपनी चेतना को विश्व चेतना से जोड़ सके, अपना सर्वोच्च विकास कर सके उसे पूर्णता तक, आनन्द तक, ईश्वर तक ले जा सके; इसके लिए अनेकों उपासना पद्धतियों, पूजा पद्धतियों, अनेकों देवविग्रहों, अनेकों देवीविग्रहों को स्वीकार किया गया है। मानव अनन्त पथ का यात्री है। सबका स्वभाव, अभिरुचियां भिन्न-भिन्न हैं। सबका शारीरिक, ऐंद्रियक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का स्तर भिन्न-भिन्न है। अत: सबके लिए एक ही उपासना पद्धति, एक ही विश्वास पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती। नाना प्रकार की उपासना पद्धतियां अपने देश में और सारे विश्व में प्रचलित रही हैं सेमिटिक परम्परा के पूर्व तक। इनमें परस्पर में सामंजस्य था, परस्पर पूरक थी। सहअस्तित्व में जीओ और जीने दो का भाव था। जो सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानती थी। धरती को मां मानती थी। प्रकृति पूजक थे, पर्यावरण के साथ सुसंगत थे जिनमें देव विग्रह पुरुष का भी था, स्त्री का भी था। ईसाइयत के पूर्व यूरोप में और इस्लाम के पूर्व अरब में अनेक देव विग्रहों का अस्तित्व था। सारे

यूरोप में अनेक देवी-देवताओं के साथ सूर्य पूजा प्रचलित थी। इस्लाम के पूर्व अरब में 360 (तीन सौ साठ) देव-देवी विग्रह थे। सबमें परस्पर में सामंजस्य था।

इसमें समस्या उत्पन्न हुई सेमिटिक परम्परा के उदय से जो एक ही विश्वास, एक ही ग्रंथ, इकलौता ईश्वर-पुत्र, एक ही अन्तिम पैगम्बर को स्वीकारता है। उसके अलावा सब कुफ्र है, काफिर हैं, हिडेन हैं, प्रकृति पूजक हैं, पैगन हैं। इसके अलावा सब झूठे हैं, शैतान से प्रेरित हैं। जिसका एक ही उचित प्रायश्चित्त है इहलोक में निर्मम ढंग से वध। परलोक में अनन्त नरक की आग में जलना ही उसकी नियति है। ये मानव समाज को दो भागों में बांट देते हैं—विश्वासी और अविश्वासी। अविश्वासी को जीने का कोई अधिकार नहीं है। अविश्वासी के जान-माल, स्त्री आदि सब पर विश्वासी का अधिकार है। इस प्रकार सेमिटिक परम्परा अविश्वासियों के प्रति जहर उगलती है, द्वेष फैलाती है। उसका जान-माल छीन लेने के लिए सदा संघर्षरत रहती है। तो क्या ऐसे धर्म या उपासना पद्धति को पंथ की श्रेणी में लिया जा सकता है? जो व्यक्ति की चेतना को शुद्ध करे, परिष्कृत करे, व्यापक बनाए, उसमें सद्‌गुणों का विकास करे, चरित्र का विकास करे, उसे निर्मल बनाए, उसे ही धर्म, मत, पंथ या उपासना पद्धति कहा जा सकता है। पर जो अन्यों के प्रति द्वेष फैलाए, जो चेतना को कलुषित करे, संकुचित करे, तुच्छता में, पशुता में, बर्बरता में, हिंसा में, बलात्कार में, व्यभिचार में, गुण्डई में, असुरता में, पैशाचिकता में ले जाए क्या उसे धर्म, मत, पंथ कहा जा सकता है? जिनकी जीव, जगत्, ईश्वर, नारी की अवधारणाएं विकृतियों को लिए हुए हैं, जिनका ईश्वर ही स्वयं ईर्ष्याविदग्ध है, हिंसापरायण है, जो दूसरे के उपास्यों को सहन नहीं कर सकता, जिसकी मुंहलगी जातियां हैं, उम्मा है, चर्च है, देश हैं और जो अन्यों पर गजब का कोप बरसाने वाला है तो क्या उसको ईश्वर कहा जा सकता है? जो अपने हित में सारे जगत् का शोषण करने, पर्यावरण को तहस-नहस करने की स्वीकृति देता है, उसे असुरों का, पापियों का, बलात्कारियों का धर्म तो कहा जा सकता है, मानवों या देवों का कथमपि नहीं।

अत: सर्वधर्म समभाव में सेमिटिक परम्परा बाधक है।

ऐसे ही Secular शब्द भारत की नहीं ईसाइयत की देन है। वहीं इसकी आवश्यकता हुई और वहीं यह शब्द अस्तित्व में आया। सारे यूरोप के इतिहास में चर्च और State में, धार्मिक शासन और राज्य शासन में परस्पर स्पर्धा रही, संघर्ष चलता रहा। राज्य शासन की चेष्टा रही कि धर्म शासन उसके अधीन रहे और धर्म शासन राज्य को अपने अधीन रखकर चलाना चाहता था। इसलिए चर्च और सरकार में परस्पर संघर्ष चलते रहते थे और चर्च खुलकर राजनीतिक शक्ति संतुलन, स्पर्धा, संघर्ष, षड्‌यंत्र, हत्या, रक्तपात, सामूहिक हत्याकाण्ड, अग्नि होम

आदि का सहारा लेता था। इन खूनी संघर्षों से उपराम के लिए Secular शब्द अस्तित्व में आया कि राज्य सत्ता और धर्म सत्ता (चर्च) दोनों एक-दूसरे पर दखलंदाजी, हस्तक्षेप नहीं करेंगे और राज्य किसी एक पंथ को नहीं सभी पंथों को समान मान्यता, सम्मान, सुरक्षा और सुविधा देगा। पंथ की भिन्नता के आधार पर राज्य उनसे कोई भेदभाव नहीं करेगा, जैसा कि वह पूर्व में करता आया है। यदि राज्य कैथोलिक मत का है तो उसे जनता पर थोपा जाता था। परस्पर में संघर्ष चलता रहता था। पर अब से राज्य सभी पंथों को समान भाव से पोषण देगा। इसी दृष्टि से Secular शब्द की उत्पत्ति हुई और यही इसका भाव है।

भारत में कभी भी धर्म शासन और राज्य शासन में संघर्ष नहीं हुआ और न ही राज्य ने पंथों के आधार पर कभी भेदभाव किया। हमारे यहां प्रारम्भ से ही सर्वधर्म समभाव का आदर्श रहा है। यह तो सेमिटिक परम्परा की देन रही है कि वे अपने से किंचित् भिन्न मत को सहते नहीं है, न उनके God ही और न उनके अनुयायी। वे उसको नष्ट करवा देते हैं या कर देते हैं। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व भारत में इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। इसलिए Secular शब्द की यहां कोई आवश्यकता भी नहीं हुई। इसलिए महारात्रि के गहन अंधकार में Secular शब्द को संविधान में प्रवेश करवाया गया, श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा आपातकाल के समय, जब विरोधी पक्ष के प्राय: सभी नेता जेल के सीखचों में जकड़े हुए थे। फिर Secular शब्द का अर्थ है पंथनिरपेक्षता न कि धर्मनिरपेक्षता। धर्म की कोई अवधारणा पश्चिम में नहीं है। वे पंथ या पूजापद्धति को ही religion कहते हैं। पंथनिरपेक्ष हुआ जा सकता है धर्मनिरपेक्ष नहीं। धर्म का सीधा सरल अर्थ कर्तव्य से है या सृष्टि के जिन नियमों के द्वारा सारी सृष्टि धारित होती है। अत: न कर्तव्य से और न सृष्टि के नियमों से कोई निरपेक्ष हो सकता है। अत: Secular शब्द का अर्थ है पंथनिरपेक्षता और दूसरा अर्थ सर्वपंथ समभाव या समादर है। इसी भाव से Secular शब्द की उत्पत्ति हुई कि राज्य किसी भी एक मत, पंथविशेष का पक्ष न लेकर सभी पंथों को समान महत्त्व और सुविधा देगा। पर अपने देश में पूरे विपरीत अर्थ में Secular शब्द को स्वीकार किया गया है। हमारे यहां Secular का अर्थ हिन्दूधर्मनिरपेक्ष और मुस्लिम-ईसाई के सापेक्ष है। हिन्दू धर्म जो मानव मात्र का धर्म है, जो तर्क से सुसंगत है, विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान से सुसंगत है, मानव स्वभाव के अनुकूल, नारी पूजक, पर्यावरण एवं प्रकृति पूजक, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह-परायण, चराचर जगत् को अपने हृदय में स्थान देने वाला मानव धर्म है, देव धर्म है, विश्व धर्म है, सारे विश्व के मनीषियों की दृष्टि में भविष्य की एकमात्र आशा का केन्द्र है, सारे विश्व का आश्रय होने योग्य है।

और मुसलमान-ईसाई, ये दोनों पंथ ही अराष्ट्रीय, अमानवीय, घोर हिंसा-परायण, पर्यावरण विरोधी, प्रकृति के प्रति शत्रुता रखने वाले, नारी लोलुप, अवैज्ञानिक, अतार्किक, समाज मनोविज्ञान एवं मानव स्वभाव के विरोधी आसुरी-पंथ हैं। यह हमारे देश, धर्म, संस्कृति के साथ घोर विडम्बना है। आत्मवंचना की स्थिति है। सारे विश्व में हास्यास्पद की स्थिति है। जिस ईसाई एवं इस्लाम पंथ या मजहब पर धर्मनिरपेक्षता लागू होनी चाहिए वही उससे मुक्त है। और हिन्दू धर्म जिस पर सदियों से इस्लाम और ईसाइयत का आक्रमण होता रहा है और आज भी हो रहा है, उसे रक्षा के लिए राज्य का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए वही इससे वंचित है। अपने देश में राज्य द्वारा इस्लाम एवं ईसाइयत को वैधानिक संरक्षण प्राप्त है और हिन्दू धर्म इससे वंचित है।

संसार भर में वहां के राज्य द्वारा अपने राष्ट्र के मूल बहुसंख्यकों के रिलिजन या मजहब या मत को अधिकृत वैधानिक संरक्षण मिलता है। भारत विश्व का एकमात्र देश है जिसका संविधान यहां के बहुसंख्यक, मूल निवासी हिन्दुओं के धर्म-हिन्दू धर्म को अधिकृत वैधानिक संरक्षण नहीं देता। इस प्रकार हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति के विशेष संरक्षण के राजधर्म का पालन भारत में नहीं किया जा रहा है। इस विषय में प्रबुद्ध जनमत जागृत किया जाना चाहिए और वर्तमान संविधान के भाग 4 अनुच्छेद-38 में एक छोटा सा संशोधन लाया जाना चाहिए कि 'भारत का राज्य भारतीय संस्कृति का संरक्षण करेगा और समाज में भारतीय सांस्कृतिक चेतना के उत्कर्ष के लिए काम करेगा। इस प्रकार राजधर्म का पालन करता हुआ भारतीय राज्य भारत के गौरवशाली इतिहास को वर्तमान और भविष्य में भी चरितार्थ करना अपना धर्म मानेगा।

भारतीय संस्कृति और विज्ञान

जहां विश्व की अन्य संस्कृतियां विज्ञान के सामने नतमस्तक हैं, हतप्रभ और भयभीत हैं। वहां एकमात्र भारतीय संस्कृति आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के लिए चुनौती बनकर ऊंचा मस्तिष्क कर खड़ी है।

एक समय पश्चिम का विज्ञान कह रहा था—यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसे अपने अस्तित्व का प्रमाण वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में आकर उसकी परखनली में देना होगा। पर जब से क्वांटम का सिद्धान्त एवं सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रकाश में आया तब से स्थिति बदल गई। विज्ञान सृष्टि की व्याख्या करने में स्वयं समर्थ है, उसका यह दम्भ दूर हो गया है और वह विनम्र होकर अध्यात्म की भाषा बोलने लगा है।

आज विज्ञान तीन कारणों से भारतीय संस्कृति की ओर, भारतीय दर्शन की ओर झुक रहा है।

न्यूटन के समय, उसे लग रहा था कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के द्वारा वह सृष्टि की व्याख्या करने में समर्थ हो सकेगा। पर क्वांटम सिद्धान्त एवं सापेक्षतावाद का सिद्धान्त आने पर स्थिति बदल गई और वह दम्भ दूर हो गया है।

फिर संस्कृत भाषा से जैसे-जैसे पश्चिम का परिचय बढ़ा तब यह जाना कि उन्होंने जो खोजें की हैं वह एकदम से नई नहीं हैं। वह बहुत पहले से ही वैदिक भारतीय परम्परा में सूत्ररूप से, सूक्ष्मरूप से उपलब्ध है। इसके पूर्व वे धर्म के नाम पर केवल बाइबिल एवं चर्च से ही परिचित थे जिसका सीधा विरोध विज्ञान से था, और जिन्होंने विज्ञान को कुचलने की भरपूर चेष्टा की।

शोपेनहावर ने संस्कृत भाषा के विषय में भविष्यवाणी की थी कि 'मैं विश्वास करता हूं कि जो पन्द्रहवीं शती में ग्रीक साहित्य ने पुनर्जागरण किया था, उससे कम गहरा प्रभेदकारी प्रभाव संस्कृत साहित्य का न होगा।' आज शोपेनहावर की भविष्यवाणी सत्य होती दिखाई दे रही है।

तीसरा कारण है विज्ञान मूल्यनिरपेक्ष अध्ययन है। वह पेनिसिलिन बना रहा है तो दूसरी ओर अणु बम को बनाकर मनुष्य के हाथ में रख रहा है। अब यह मानव के विवेक पर निर्भर करता है कि वह उसका सदुपयोग करता है या दुरुपयोग। विज्ञान अणु के स्वभाव को बदल सकता है पर मानव मन का निर्माण नहीं कर सकता। बिना मानव मन के निर्माण हुए उसका दुरुपयोग ही ज्यादा होता है जैसा कि आज हो रहा है। वह नैतिक मार्गदर्शन चाहता है जो उसे बाइबिल से उपलब्ध नहीं हो सकता। बाइबिल से पिण्ड छुड़ाकर ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जय-यात्रा सम्भव हो सकी है। वह भारतीय दर्शन से ही मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता है जो पूर्व में भी देता आया है और भविष्य में भी दे सकता है।

तभी तो प्रथम अणु विस्फोट के समय ओपेनहाइमर को भगवद्गीता का श्लोक याद आता है। विख्यात भौतिकशास्त्री एवं वैज्ञानिक श्रोडिंजर एवं एडिंगटन अपनी अनेक पुस्तकों में सांख्य, वेदान्त एवं योग दर्शन का हवाला देते हैं। वर्तमान समय में केपरॉ अपनी अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों में विज्ञान के निष्कर्षों के साथ वेदान्त का साम्य दर्शाते हुए योग दर्शन, वेदान्त की अनुशंसा करते हैं।

भारतीय संस्कृति की अजेयता का रहस्य

विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियां छोटे-छोटे आघातों से सदा के लिए विलुप्त हो गईं क्योंकि भौतिकता पर आधारित होने से नश्वर सिद्ध हुईं। पर भारतीय संस्कृति आत्मा की अमरता पर आधारित होने से अविनश्वर सिद्ध हुई है, छोटे-बड़े सभी आघातों को झेलकर अविचल खड़ी है।

दूसरा कारण, विश्व के अन्य सभी देशों में राज्य सर्वोपरि एवं सर्वस्व रहे हैं। वहां जनता की जीवन से मृत्युपर्यन्त तक की सारी व्यवस्था राज्य करता था और राज्य के पराधीन होते ही विजेताओं की जीवन प्रणाली को स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि वहां राज्य केन्द्र में था।

पर भारत में राज्य कभी केन्द्र में नहीं था। राष्ट्र जीवन के संचालन की अनेक संस्थाओं में वह एक संस्थाविशेष थी। भारत में परिवार एक संस्था है, विवाह एक संस्था है, ग्राम पंचायत एक संस्था है, गुरुकुल एक संस्था, आर्थिक संघ एक संस्था है। वैसे ही राज्य भी एक संस्था मात्र थी। जिसका काम राज्य की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा, राज्य में कानून और व्यवस्था Law and Order बनाए रखना, इतना ही दायित्व राज्य का था।

इसलिए हमारे राज्य जब पराधीन हुए तब भी हमारी परिवार व्यवस्था, आर्थिक संघ, गुरुकुल, आश्रम व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति व्यवस्था अक्षुण्ण रही। फलतः राज्य भले ही पराधीन हुआ हो, राष्ट्र जीवन अखण्ड चलता रहा।

भारतीय संस्कृति में अवरोध

मानवीय चेतना के तीन पहलू हैं—Knowing, Feeling, Willing ज्ञान-शक्ति, इच्छाशक्ति और, क्रियाशक्ति। ज्ञानात्मक, रागात्मक व संकल्पात्मक। इसके सम्पादन के लिए तीन अंग या अवयव हैं—Hand, Heart, Head तीनों में यथायोग्य समन्वय होना चाहिए। बिना बल के (Muscle के) ज्ञान और भक्ति की रक्षा नहीं कर सकेंगे। आपके सामने आपकी मां-बहन की इज्जत लूट लेंगे। आपके ग्रंथों की होली जला देंगे। ब्रह्मज्ञानी गुरुओं को फांसी पर लटका देंगे। अतः हमारे आदर्श चाहे जितने महान् क्यों न हों, जब तक उसके पीछे शक्ति न खड़ी हो, संसार उसको न सुनता है और न उसे सम्मान देता है।

फिर सृष्टि में प्रारम्भ से ही दैवी और आसुरी दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि रही है, 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।' दैवी प्रकृति के लोगों पर ही प्रेम और विवेक का शासन कारगर होता है। आसुरी प्रकृति के लोग तो डण्डे की भाषा ही समझते है, शक्ति की भाषा ही समझते हैं। क्षमा उसी भुजंग को शोभती है जिसके पास गरल हो। पर जो दन्तहीन, विषहीन हो उसे नहीं।

अतः हमारे ऋषि कोरे आदर्शवादी नहीं वरन् बड़े ही यथार्थवादी एवं व्यावहारिक थे। जहां वे शान्तिकामी मोक्षकामी थे, वहां वे मनु के उपासक भी थे। जहां वेद में शान्ति के सैकड़ों मंत्र गुंजायमान है, वहां (क्रोध) मन्यु के, शत्रु विनाश के, दुष्टदलन के भी सैकड़ों मंत्र हैं। तभी भारतीय देवी-देवता एक हाथ से भक्तों को अभय, शान्ति व ज्ञान दे रहे हैं तो दूसरे हाथ में शस्त्र भी धारण किए हुए

हैं दुष्टों के दलन-दमन के लिए। अतः वैदिक संस्कृति में—

ब्रह्म तेज और क्षात्र तेज का समन्वय था।
शील और शक्ति का समन्वय था।
ज्ञान और कर्म का समन्वय था।
आदर्श और व्यवहार में समन्वय था।
सिद्धान्त और क्रियान्वयन में समन्वय था।
अर्थशक्ति और श्रमशक्ति का समुचित मान था।
संघ बल का उचित मान था।
देवभक्ति एवं देशभक्ति की एक अखण्ड-अभिन्न वस्तु है,
जो वेद से लेकर विवेकानन्द साहित्य तक में गुंजायमान है।
इस प्रकार प्राचीन भारत ज्ञान की दृष्टि से जगद्गुरु,
वैभव की दृष्टि से सोने की चिड़िया,
सामरिक दृष्टि से अजेय,
संगठन की दृष्टि से अभेद्य था।

लौकिक अभ्युदय पारमार्थिक निःश्रेयस से सम्पन्न था। समाज जीवन अनुशासित एवं लयबद्ध था। तभी अश्वपति घोषणा कर पाते हैं कि 'मेरे राज्य में सभी संस्कारी हैं और श्रेष्ठ जीवनमूल्यों का पालन करने वाले हैं। मेरे राज्य में कोई भी दुराचारी एवं चोर नहीं है।' प्राचीन भारत, वेदोक्त भारत अमर और शाश्वत भारत है। जिसे सारा विश्व सम्मान व आशा की दृष्टि से देखता है।

हजारों-लाखों वर्षों के झंझावातों के उपरान्त भी इस संस्कृति की परिपूर्णता, वैज्ञानिकता, मनोवैज्ञानिकता, सामाजिकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता आदि को कोई भी कलम का धनी चुनौती नहीं दे सका और तलवार का धनी नष्ट नहीं कर सका। इसी मृत्युंजयी संस्कृति के कारण ही आज तक भारत अमर बना हुआ है।

हमने किसी पर आघात नहीं किया, पर किसी ने हम पर आघात किया तो उसको बख्शा भी नहीं है। चाहे वह परदेशी हो या स्वदेशी हो। जो असुर प्रकृति के हैं, उन असुरों से व्यापक लोकहित में सहयोग तो लिया पर उन्हें पोषण नहीं दिया, संरक्षण नहीं दिया, उनको सदैव अपने वश में रखा। तभी हम देखते हैं समुद्रमंथन के समय असुरों को अमृतपान से वंचित रखा। छल से राहु-केतु ने अमृत पान कर लिया तो तुरन्त उसका शिरोच्छेद कर दिया।

जब एक परदेशी रावण ने हमारी यज्ञसंस्कृति पर, हमारे नारीसम्मान पर

आघात किया तो भगवान् राम ने उसे कुल-कुटुम्ब सहित जड़ से उखाड़कर फेंक दिया। **'इक लख पूत सवा लख नाती, तिस रावण को दीया न बाती।'**

जब इन्द्रपुत्र जयन्त ने असुरता दिखलाई तो भगवान् ने उसे उचित दण्ड दिया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश किसी ने भी यहां तक कि उसके पिता इन्द्र ने भी संरक्षण नहीं दिया।

और स्वदेशी अपने ही भाई दुर्योधन ने धर्म पर, मर्यादा पर, अपनी भाभी के सम्मान पर आघात किया तो उसे भी वंश समेत नष्ट कर दिया। अपना ही भाई, अपना ही परिजन जानकर अर्जुन जब डिगने लगा तो भगवान् ने तुरत उसे उपदेश की जोरदार डांट पिलाकर अपने कर्तव्यपथ पर स्थित कर दिया।

यादव कुल के बल पर भगवान् कृष्ण ने 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कार्य को सम्पन्न किया, पर जब वे ही असुर भावापन्न हुए तो भगवान् ने उन्हें भी नहीं बख्शा।

सुन्दरलालजी 'भारत में अंग्रेजी साम्राज्य' पुस्तक में कहते हैं—सिकन्दर के पूर्व भारत पर दो ही आक्रमण हुए। पहले आक्रमण में कोई भी जीवित नहीं बच सका। दूसरे आक्रमण में केवल सात सैनिक ही अपनी हार की गाथा सुनाने अपने देश लौट सके।

सिकन्दर को भारत के द्वार से ही लौटना पड़ा। सिकन्दर के आक्रमण के समय हम देखते हैं कि पूरा ब्राह्मण समाज सिकन्दर के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और क्षत्रिय राजाओं को अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ़ किया। इसलिए सिकन्दर का रोष ब्राह्मण पर कहर बनकर टूटा और उनका शिरोच्छेद किया। ब्राह्मणों की एक ही सीख थी स्वाभिमान से जीओ और स्वाभिमान से साथ मृत्यु स्वीकारो। यही स्वतंत्रता की कीमत है। उनके प्रबल प्रतिरोध का सामना सिकन्दर नहीं कर पाया और उसे भारत के द्वार से लौटना पड़ा। पुनः सेल्यूकश ने भारत पर आक्रमण का दुःसाहस किया तो चन्द्रगुप्त को अपनी बेटी ब्याहने के साथ चार प्रान्त दहेज में देने पड़े। शक-हूण, कुषाणों को बहुत जल्द ही देश से निष्कासित कर दिया और जो शेष बचे वे हमारे द्वारा पचा लिये गए। उनका अलग से कोई अस्तित्व शेष नहीं बचा।

काल का प्रवाह सदा एक-सा नहीं रहता। उसमें उत्थान-पतन के दौर भी आते हैं जिसमें हम श्रेष्ठ वस्तुओं, परम्पराओं के रहते हुए किंकर्तव्यविमूढता किंवा जड़ता में चले जाते हैं। वेद हमारे आधार हैं जिन पर हमारी संस्कृति टिकी हुई है, उसको लेकर भी जड़ता में चले गए। उससे उबारने के लिए भगवान् बुद्ध आते हैं। व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवादों से हटाकर समाज में व्यापक नैतिक जागरण का आन्दोलन चलाते हैं। और बौद्ध धर्म अपने मातृधर्म वेद से जब तक पोषण पाता रहा तब तक देश एवं विदेश में हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म साथ-साथ बढ़ते रहे। पर

कालान्तर में काल के प्रवाह से बौद्धों में विकृति आ गयी। वे अपने मातृधर्म वेद से ईर्ष्या करने लगे और वैदिकों को पराजित करने के लिए राष्ट्रद्रोह का आश्रय लेने लगे।

तब उससे उबारने के लिए आद्यशंकराचार्य का आविर्भाव होता है। उन्होंने बुद्ध को तो भगवान् विष्णु का करुणावतार घोषित किया पर बौद्धों को स्वीकारा नहीं। उन्हें पुनः अपने मातृधर्म में ले लिया। विश्व के विद्वानों को आश्चर्य होता है कि अहिंसा के लिए, बौद्ध दर्शन के लिए सबसे उपयुक्त भारतभूमि में ही बौद्ध नाम-शेष हो गए और विश्व में बढ़ते रहे।

इस प्रकार अपने देश में अपने मातृधर्म से द्रोह को, राष्ट्र से द्रोह को कभी प्रश्रय, संरक्षण नहीं दिया गया। धर्म या पंथ के नाम पर राष्ट्रद्रोह को स्वीकार नहीं किया चाहे वह परदेशी रावण हो या स्वदेशी दुर्योधन हो, बौद्ध मतावलंबी हों या पौराणिक पात्र इन्द्रपुत्र जयन्त हो।

विगत हजार-बारह सौ वर्षों से स्थिति बदल गई—तो इस संदर्भ में यहां विचार कर लेना चाहिए कि विकास सीधी रेखा में सदैव नहीं चलता। वह चक्राकार चलता है। उत्थान-पतन के दौर के द्वारा काल विकास को प्राप्त होता है। चाहे वह व्यक्तिगत जीवन का या पारिवारिक जीवन का अथवा सामाजिक जीवन का या राष्ट्रीय जीवन का प्रसंग हो। पृथ्वीराज के समय से हम धर्माभास के शिकार हो गए। संघबल की, शस्त्रबल की उपेक्षा होने लगी। देवभक्ति और देशभक्ति एक, अखण्ड-अभिन्न न रहकर पृथक्-पृथक् वस्तुएं बन गईं क्योंकि देवभक्त तो हैं पर देश के प्रति गद्दारी भी कर रहे हैं।

भारतीय वैदिक शास्त्र की परम्परा कहती है—यदि स्वयं का विकास करना है तो स्वयं से त्रुटि होने पर आत्मदण्ड की भावना होनी चाहिए। तभी आप पूर्णता की ओर बढ़ सकेंगे। मित्रों या अन्य रिश्तेदार आदि से त्रुटि होने पर उनके प्रति सहानुभूति, विश्वास, प्रेम व क्षमा की दृष्टि हो। उसको सुधरने का अवसर दिया जाना चाहिए। पर अपने देश, धर्म, संस्कृति के शत्रुओं के द्वारा त्रुटि होने पर उनके प्रति सावधान एवं कठोर दण्ड की दृष्टि होनी चाहिए। अन्यथा वह आपका और आपके साथ-साथ देश, धर्म, संस्कृति का सर्वनाश कर देगा।

पृथ्वीराज चौहान का 'विनाशाय च दुष्कृताम्' को भुलाकर मुहम्मद गोरी को 17-17 बार क्षमा करना सद्गुण नहीं था। वीर सावरकर के शब्दों में सद्गुणविकृति का परिचय दिया। जिसने न केवल स्वयं के लिए वरन् देश के लिए पराधीनता का द्वार खोल दिया। जो उदारता एवं सद्गुण विवेक के सांचे में, वैदिक सांचे में ढली न हो वह पशुता और पराधीनता में ले जाती है। शत्रु को आपने पशु बनने का

अवसर दिया और स्वयं के लिए पराधीनता के द्वार खोल दिए तो यह उदारता, क्षमा व प्रेम, अहिंसा आदि आध्यात्मिक सद्‌गुण न रहकर सद्‌गुणविकृति बन जाते हैं। वह सद्‌गुण आपको ऊपर उठाने वाला न होकर नीचे गिराने वाला बन जाता हो। कुछ लोगों ने आध्यात्मिक सद्‌गुणों को ही हमारी पराजय का कारण मान लिया। पर यह सोचने का गलत ढंग है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, संतोष, शम, दम, तप, क्षमा, मानवीयता आदि हमारे आध्यात्मिक सद्‌गुण हैं। अपने घर को सजा-संवार कर रखना अच्छा गुण है। उसमें सुन्दर पुष्पवाटिका लगाना अच्छा गुण है। शत्रु अपनी पुष्प वाटिका को उजाड़ देगा, आक्रमण करेगा अतः पुष्पवाटिका ही न लगाएं यह मूर्खता है। हमारी मां-बहनों के सुन्दर चेहरों को गुण्डों के भय से उसके चेहरे पर तेजाब डालकर उसकी सुन्दरता को नष्ट नहीं कर देवें, सुन्दरता उसका गुण है। अध्यात्म हमारा गुण है। जैसे पुष्पवाटिका की रक्षा के लिए कंटीली झाड़ियां लगाने की आवश्यकता है जिससे पशु या नरपशु उजाड़ न सकें, उसे चर न सकें। हमने यही भूल की कि आध्यात्मिक सद्‌गुण का संवर्धन तो किया पर उसकी रक्षा की व्यवस्था नहीं की। कंटीली झाड़ियां नहीं लगाई। फिर स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—यथार्थ को, व्यावहारिकता को भूल गए कि कहां क्षमा, दया आदि का प्रयोग करना चाहिए और कहां दण्ड का, क्रोध का प्रयोग करना चाहिए, कहां अतिथिधर्म का पालन करना चाहिए और कहां दण्ड का? इसे भुला दिया। मुहम्मद गजनवी सोमनाथ मन्दिर को लूटकर वापस जाने के उपक्रम में राजस्थान की मरुभूमि में भटककर अन्न-जल के अभाव में अपना प्राण छोड़ रहा था तो ग्रामवासियों ने अपना विचित्र अतिथिधर्म निभाकर उसके अन्न जल की व्यवस्थाकर उन्हें सुरक्षित निकलने का मार्ग बता दिया। जयचन्द ने 'वयं पंचाधिकशतं' के विरुद्ध मुहम्मद गोरी का साथ देकर युधिष्ठिर महाराज के मंतव्य को भुला दिया। युधिष्ठिर महाराज कहते हैं भाइयों में आपस में लाग-डांट रहती है। इस समय कौरव एक सौ हैं और हम पांच। किन्तु किसी तीसरी शक्ति या विदेशी शत्रु को इसका लाभ नहीं लेने देंगे, तब हम 105 हैं। वे हमारे घर पर, देश पर आक्रमण करें, इसको हम नहीं सहेंगे। भीम और अर्जुन को आदेश दिया—तुरत जाओ और दुर्योधन को गंधर्वों से मुक्त कराओ।

अतः सद्‌गुणविकृति और गद्दारी, यही हमारी पराधीनता के कारण रहे हैं। इसलिए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—पिछले हजार वर्षों से हमने भावुकतापूर्ण मृदु इतिहास की रचना की जिसे निचोड़ा जाए तो केवल आंसू टपकेंगे, दुःख ही होगा।

पारसी समाज को भारत में प्रवेश देते समय विवेक का परिचय दिया। हम सजग थे जबकि वे हमारे ही अंशज-वंशज थे। उन्होंने यहां रहने की अनुमति चाही तो राजा ने दूध का गिलास भेजा। तो पारसी समाज ने उसमें चीनी डालकर संदेश

दिया कि हम दूध के साथ घुल-मिलकर रहेंगे। और आज भी पारसी समाज में विवाह के अवसर पर पिता-पुत्र से प्रतिज्ञा करवाता है—हमने वचन दिया है कि हम हिन्दू समाज के साथ घुल-मिलकर रहेंगे, दूध में चीनी की तरह। और आज तक उसका वे निर्वाह करते आये हैं और उन्हें कभी भी अपनी पहचान का या अन्य संकट खड़ा नहीं हुआ। पर इस्लाम व ईसाइयत को प्रवेश देते समय विवेक का परिचय नहीं दिया। दूसरे परिवार में बेटी देते समय, पार्टनरशिप में व्यवसाय करते समय कितने सजग रहते हैं व्यक्तिगत स्तर पर। पर राष्ट्रीय संदर्भ में इस्लाम एवं ईसाइयत के संदर्भ में विचार ही नहीं किया। ये पंथ भी हैं या नहीं। इनका स्वयं के संदर्भ में और विश्वसंदर्भ में विचार क्या है, इतिहास क्या है, चरित्र क्या है? निरन्तर हजार वर्षों से आक्रमण करते चले आए पर फिर भी इनकी प्रकृति को न पहले और न आज समझने का ही प्रयास किया। और हम उनसे हमेशा धर्मयुद्ध करते रहे और ये हमसे कपट-युद्ध। वे धोखा देते रहे, सन्धियां व वचन तोड़ते रहे, हम अपनी सेना में उनको पालते रहे और वे ऐन मौके पर धोखा देते रहे। 712 ई. से भारत पर निरन्तर आक्रमण कर सन् 1947 में दुनिया का सबसे बड़ा इस्लामिक राष्ट्र पाकिस्तान बना लिया और नारे लगाए—हंस के लिया है पाकिस्तान, लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान। और आज भारतविभाजन जैसी स्थिति पुनः निर्माण कर दी है। ऐसी ही स्थिति चर्च व पादरियों से प्रेरित ईसाइयों ने भी निर्माण कर दी है। वे भी निरन्तर भारत को घेरते जा रहे हैं। ऐसे ही चीन जो भारत को गुरु मानकर वंदना करता था, वहां कम्यूनिस्ट शासन के स्थापित होने के पश्चात् उसकी भी प्रवृत्ति बदल गयी और वह शत्रुराष्ट्र के रूप में परिणत हो गया है और अपने देश से हिन्दुत्व के चिह्नों को मिटा दिया। ये तीनों धाराएं (ईसाई-इस्लाम और कम्यूनिस्ट) कृतघ्नता की धाराएं हैं जो सारे विश्व में परस्पर लड़ रही हैं पर भारत में तीनों ने समझौता कर देश को बांट रखा है और भारत को खण्ड-विखण्ड कर देना चाहती हैं।

अंग्रेजों के पूर्व के आक्रान्ता हमारे मन में, हमारे घर में प्रवेश नहीं कर पाए। वे अपनी श्रेष्ठता स्थापित नहीं कर पाए। वे हमारे लिए म्लेच्छ ही बने रहे। पर अंग्रेज अपनी कूटनीति के द्वारा हमारे मन में, हमारी बुद्धि में छा गए। अपनी श्रेष्ठता की छाप हम पर अंकित कर दी। वे हमारे आदर्श पुरुष बनकर हमारे मन में, हमारे घर में, हमारी वेश-भूषा, खान-पान आदि सबमें प्रवेश कर गए।

पर स्वाधीनता के बाद स्थिति बदलनी चाहिए थी। गांधीजी ने अंग्रेजों के मानसपुत्र पंडित नेहरू को अपना उत्तराधिकारी चुनकर स्वयं अपने तथा हमारे सांस्कृतिक पुरुषों, स्वतंत्रता सेनानियों आदि सबके कार्यों पर पानी फेर दिया। नेहरूजी कम से कम Accidental हिन्दू तो थे। अब उनकी वर्तमान वंशज

सोनियाजी में दूर-दूर से भी हिन्दुत्व का कोई रिश्ता नहीं रहा है। मानो बीज नाश हो गया, ऐसा लगता है।

संविधान में भी उलटी गंगा बहाई गई। जिनके कारण देश हजार वर्ष से पददलित रहा, पराधीन रहा, देश विभाजित हुआ; उसमें से कोई देश को इस्लाम की झोली में तो कोई ईसा की झोली में डालना चाहता है। जो नागरिक बनने का अधिकारी नहीं है, दण्ड के पात्र हैं उन्हें ही विशेष सुविधा, संरक्षण दिया। किन्तु जो इस देश का पुत्र समाज है जिसके कारण आज भी देश हिन्दुस्तान है, भारत है वे (हिन्दू) अपने ही देश में 2 नं. के, 3 नं. के, 4 नं. के नागरिक बन गए हैं।

पृथ्वीराज के समय तो हम केवल धर्माभास के शिकार थे पर अपनी संस्कृति, अपनी मूल परम्परा से जुड़े हुए थे। पर आज न केवल धर्माभास के शिकार हैं वरन् अपनी मूल परम्परा से, संस्कृति से भी कट गए हैं। अतः मतिभ्रम के शिकार हैं। हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को छोड़ रहे हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में गतिरोध उत्पन्न हो गया है और आज हिन्दू बलिदान देना, मर-मिटना भूल गया है। जो जाति मरना भूल जाती है वह अपने आदर्श और अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकती। आज हिन्दू व्यक्ति और परिवार के नाते जी रहा है राष्ट्र के नाते नहीं। किन्तु जिसका राष्ट्र सुरक्षित नहीं उसका पेट और परिवार सभी कुछ छिन जाता है और वह रोम, मिस्र, बेबीलोन की कहानी को दोहराता है। अतः अगर हम स्वाभिमान के साथ राष्ट्र के रूप में जीवित रहना चाहते हैं तो हमें अपने प्राणों का मोह छोड़कर प्राण विसर्जन के लिए तत्पर रहना होगा। सुभाष बोस के शब्दों में, 'तुम मुझे खून दो मैं तूझे आजादी दूंगा' इस भाव को अपने जीवन में लाना होगा। 1200 वर्षों से अवरुद्ध 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कार्य को हाथ में लेना होगा। वीरता का खून देना होगा, नहीं तो कायरता का रक्त भी देंगे और पराधीनता को भी भोगेंगे जैसा कि मुगल काल में, ब्रिटिश काल में उनकी सेना बनकर अपना रक्त देकर अपनी पराधीनता को स्थिर किया। अतः भगवान् राम, कृष्ण व आद्यशंकराचार्य की दृष्टि को पुनः अपनाना होगा। तब फिर आपकी ओर बुरी दृष्टि से नजर डालने की हिम्मत कोई कल्पना में, स्वप्न में नहीं कर सकेगा जैसा कि हम प्राचीन भारत में पाते हैं।

इस प्रकार भारत के दो रूप स्पष्ट सामने आते हैं। एक अजर-अमर, शाश्वत भारत जो वेद, उपनिषद्-गीता पर आधारित है, प्राचीन भारत है, वेदोक्त भारत है जिसे सारा विश्व श्रद्धा से, सम्मान से देखता है, उसी से मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता है। दूसरा आज का पथच्युत, रोगग्रस्त, भ्रष्ट, चरित्रहीन, धर्माभास का शिकार भारत जिसमें हम और आप आज रहते हैं। आज हम महान् संस्कृति, महान् देश के बौने पुत्र सिद्ध हो रहे हैं। यदि इससे उबरना चाहते हैं—रोम, मिस्र, बेबीलोन की कथा नहीं दोहराना चाहते हैं तो प्रत्येक हिन्दू को डॉ. एनीबेसेन्ट

की बात को गांठ बांध लेनी चाहिए—भारत और हिन्दुत्व की रक्षा भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते हैं। बाहरी लोग आपकी चाहे जितनी भी प्रशंसा करे, आपका उद्धार आपके ही हाथ में है। आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें। भारत और हिन्दुत्व एक और अभिन्न है। हिन्दुत्व के बिना भारत का कोई अस्तित्व नहीं है, कोई भविष्य नहीं है। हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल खजाना गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गयी तो भारतरूपी वृक्ष सूख जाएगा। भारत में प्रश्रय पाने वाले अनेक पंथ है, जातियां हैं। जिस प्रकार पारसी समाज आया, वैसे ही चला जाए तो भारत भारत ही रहेगा। ऐसे ही यहूदी, इस्लाम, ईसाई समाज यहां आया, वैसे ही चला जाए तो भारत भारत ही रहेगा। किन्तु इस देश से हिन्दुत्व विलीन हो जाए तो क्या शेष रहेगा? तब शायद, इतना याद रह जाएगा कि भारत नामक कभी कोई भौगोलिक देश था। भारत के इतिहास को देखिए। उसके साहित्य, कला और स्मारकों को देखिए। सब पर हिन्दुत्व स्पष्टरूप से अंकित, खुदा हुआ है।

भारतीय संस्कृति और विश्व

हम सब मानव ईश्वर की संतान होने से सारा विश्व एक परिवार है और सभी को अपनी विशेषता कायम रखते हुए जीने का अधिकार है। अतः स्वयं जीयो और अन्यों को जीने दो। इसी दृष्टि से वसुधैव कुटुम्बकम् का विचार है। 'स्व-देशो भुवनत्रयम्।' परिवार बड़ा होने पर विभिन्न भौगोलिक खण्डों में वास करते हैं, तब शरीर से दूर होते हैं पर मन से जुड़े होते हैं। भारत के अग्रजन्मा, बड़ा भ्राता होने से, **'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा'** होने से वेद भगवान् का आदेश है—कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'। बड़े भाई का दायित्व है कि छोटे भाई को शिक्षित करे। संस्कारित कर उसे श्रेष्ठ बनावे, सज्जन बनावे। और मनु भगवान् ने विश्ववासियों को आदेश दिया कि अपने-अपने कर्तव्य की, चरित्र की शिक्षा भारत से ग्रहण करें। यह पौराणिक तथ्य नहीं ऐतिहासिक तथ्य है। प्रारम्भ से लेकर आज तक विश्वमनीषा के लिए भारत आकर्षण का केन्द्र रहा है। चाहे मिस्र की सभ्यता ले लेवें, चाहे यूनान के पाइथोगोरस, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू को लेवें, चाहे स्वयं ईसा मसीह को लेवें। चाहे स्वयं पैगम्बर मुहम्मद साहब व उनके चाचा अब्दुल हिक्म अलबेरुनी को, फैजी को, दाराशिकोह, अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर, चाहे मैक्समूलर, कांट, शोपेनहावर को लेवें या स्पेन्सर, बर्गसां, एडिंगटन, श्रोडिंजर, आइंस्टीन, एक्सिस केरल, फ्रिट्जोफ केपरा, विल डूरेन्ट, अर्नाल्ड टायनबी, क्रिस्टोफर इशरहुड, मार्क टूली आदि हों।

भारत ने धर्म-दर्शन, सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का दान, अपनी श्रेष्ठताओं का दान बिना किसी देश की स्वाधीनता को छीने, बिना

किसी के अर्थ पर डाका डाले, बिना किसी देश की मां-बहन के शील पर प्रहार किए अपने निष्कलंक चरित्र, निर्मल ज्ञान के द्वारा निःस्वार्थ भाव से, विश्वमंगल की भावना से दिया है। बिना कुछ छीने हुए उसे सत् संस्कार, सत् विचार, अपनी श्रेष्ठताओं का दान देकर उसका प्रसार किया है। केवल स्वयं सज्जन, सद्पुरुष बनने से काम नहीं चलेगा, अन्यों को भी सज्जन बनाओ अन्यथा वह आपकी सज्जनता में बाधा उपस्थित करेगा।

इसलिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—भारतीय संस्कृति एक पूर्ण प्रफुलित पुष्प के समान है जिसके पराग के कण तथा बीज अनुकूल पवनों द्वारा संसार के भिन्न-भिन्न देशों-प्रदेशों में ले जाए गए तथा इस प्रकार संसार के विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृति के पौधे आरोपित होकर लहलहाने लगे। फलस्वरूप सारा भूमण्डल भारतीय संस्कृति की सुगन्धि से सुवासित हो उठा।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भारतीय संस्कृति का प्रसार ओस की बूंद की तरह रहा है जो रात्रि की निस्तब्धता में चुपचाप कब हृदय को सिंचित कर जाती है किसी को पता भी नहीं चलता।

राजनीतिक या कूटनीतिक हस्तमिलाप तो थोड़ा स्वार्थ के बदलते ही राजनीतिक या कूटनीतिक घूंसे में बदल जाता है, पर सांस्कृतिक सम्बन्ध दो हृदयों का बंधन है जिसे काल के थपेड़े भी तोड़ नहीं सकते। यही कारण है कि जापान का प्रधानमंत्री भारत की धूलि को अपने मस्तक पर चढ़ाता है। यदि इंडोनेशिया का राष्ट्रपति अपने देश में सर्वप्रथम 'अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन' करता है, यदि तिब्बत के दलाईलामा अपना राज्य व धन खोकर भी बौद्ध तीर्थों में शान्ति पाते हैं, यदि मारीशस का प्रधानमंत्री सर्वप्रथम 'हिन्दी भाषा सम्मेलन' अपने देश में आयोजित करता है, यदि 7 हजार मील दूर पूर्व का फिजी और 12 हजार मील दूर पश्चिम का सूरीनाम रामचरितमानस, गीता को धर्मशास्त्र तथा हिन्दी को राजभाषा का सम्मान देता है और संसार के 85 देशों के हिन्दू आज भी कुम्भ मेले पर गंगा स्नान को तरसते हैं तो यह सांस्कृतिक सम्बन्धों का ही चमत्कार है।

भारतीय संस्कृति—विश्व की आशा

आज पश्चिम ने अध्यात्म को अस्वीकार करके और भौतिकता पर अतिरिक्त बल देकर जीवन को सिर्फ बहिर्मुखी बनाकर और अहर्निश कर्म की प्रेरणा देकर भौतिक सुखों का अम्बार तो खड़ा कर दिया है, पर आज वह सुखों एवं सुविधाओं के शैल पर जितना दुःखी और विषण्ण है उतना उससे पहले वह कभी नहीं था। आज भीड़ में वह अपने आपको अकेला महसूस कर रहा है। न वह किसी का है न अन्य उसके हैं। आज उसके पास अर्थ और काम के अलावा और किसी श्रेष्ठ प्रेरणा के लिए कोई स्थान नहीं है।

कम्यूनिज्म अपने ही घर में ढह चुका है। अमेरीका के ढहने की तैयारी है, उसका राष्ट्रजीवन आतंक के बल पर खड़ा है। उसका आर्थिक जीवन सारे विश्व के अधिक से अधिक प्राकृतिक संसाधनों का शोषण करके भी खोखला हो चुका है, दिवालिया होने की कगार पर है। 20-25 सालों में कभी भी ढह सकता है। उसका समाज जीवन, परिवार जीवन समाप्तप्राय है। वहां बच्चे स्नेह से रहित हैं, वहां बुढ़ापा सम्मानहीन Old House में कटता है, वहां केवल पति-पत्नी के रिश्ते बचे हैं, जो बहुत कच्चे धागे में बंधे हैं। जो कभी भी टूटकर तलाक में बदल सकता है। अब तो पति-पत्नी के रिश्ते भी समाप्त होते जा रहे हैं। Boy friend Girl friend हैं, जब तक मन मिले साथ में रहो, फिर अलग हो जाओ। तो जिस सभ्यता का बचपन बीमार है, जिस सभ्यता का बुढ़ापा सम्मानहीन है, जिस सभ्यता की जवानी अति चंचल है वह देश विकास की ओर नहीं सर्वनाश की ओर ही बढ़ रहा है। इससे पश्चिम के सुलझे हुए मनीषी चिंतित हैं और आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। उसी आधार पर अरनॉल्ड टायनबी कहता है—यह बिल्कुल स्पष्ट होता जा रहा है कि उस अध्याय का अन्त भारतीय उपसंहार से ही होगा जिसका प्रारम्भ पाश्चात्य है। यदि मानव जाति का आत्मविनाश में अन्त न होना हो तो यहां (भारत में) हमारे पास वह दृष्टिकोण और भावना है जिससे मानव-जाति के लिए एक परिवार के रूप में विकास की सम्भावना है और इस आणविक युग में सर्वनाश से बचने का यह एकमात्र विकल्प है।

वह अन्यत्र कहता है—विज्ञान और प्रविधि के विकास के साथ, हो सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक सारा संसार अमेरीका के प्रभाव क्षेत्र में आ जाए। किन्तु इक्कीसवीं शती में जब विज्ञान का स्थान अध्यात्म लेगा तथा तकनीक का स्थान धर्म लेगा तब भारत ही सारी मानव-जाति का आध्यात्मिक गुरु होगा।

इसलिए गांधीजी कहते हैं—मेरी दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृति के पास जितने समृद्ध भण्डार पड़े हैं उतने किसी के पास नहीं हैं। हमने अपनी अनादि संस्कृति को पहचाना ही नहीं है। हम अगर संस्कृति के अनुरूप नहीं जीये तो एक समाज के रूप में हम आत्महत्या की ओर अग्रसर होंगे।

गांधीजी अन्यत्र कहते हैं—मेरे भीतर की भावना है कि संसार संहार के कारण मरणासन्न है, उसे इससे उबरने के लिए राह चाहिए। मैं आत्मतृप्ति और विश्वास के साथ कह सकता हूं कि इस विश्व के मार्गदर्शन का अधिकार प्राचीन भारतीय संस्कृति को ही होगा।

श्री मां कहती हैं—भारत का भविष्य बहुत स्पष्ट है। भारत जगद्गुरु है। जगत् का भावी ढांचा भारत पर ही निर्भर है। भारत एक जीवंत आत्मा है। भारत

जगत् में अध्यात्म ज्ञान को अवतरित कर रहा है। भारत सरकार को इसकी महत्ता को समझकर अपनी कार्ययोजना बनानी चाहिए।

गांधीजी कहते हैं—हिन्दुत्व सत्य की सतत साधना है और यदि आज यह मृतप्राय, निष्क्रिय, विकास के प्रतिकूल हो गया तो इसका कारण है कि हम थक गए हैं और जैसे ही हमारी यह थकान दूर होगी, हिन्दुत्व सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी प्रखर दीप्ति के साथ छा जाएगा जो सम्भवतः इससे पहले सभी को अज्ञात होगी।

बी.बी.सी. के उद्घोषक मार्क टूली ने देहरादून में बेन्हम स्कूल के बच्चों को सम्बोधित करते हुए कहा था—आज पश्चिम अपने जीवनमूल्यों पर पुनर्विचार कर रहा है। अतः नकली अमेरीका बनने की अपेक्षा असली भारत बनना अधिक सातत्यपूर्ण है।

विल डूरेन्ट कहता है—हे भारत! इसके पहले कि पश्चिम अपनी घोर नास्तिक भोगवादी सभ्यता से निराश, शान्ति के लिए तरसता हुआ अति व्याकुल तुम्हारी शरण में आवे, कहीं भूल से अपनी लम्बी राजनीतिक पराधीनता के लिए तू अपने श्रेष्ठ अध्यात्म को ही दोषी मानकर अपना घर मत फूंक डालना।

अतः विश्वमनीषा की भारतीयमनीषा से अपील है कि इससे पूर्व कि पश्चिमी जड़वाद की अन्धी दौड़ से हताश पश्चिम पुनः भारत के चरणों में नतमस्तक हो सके, हमें अपनी आध्यात्मिक परम्परा से ऊबकर जल्दबाजी में अपनी महान् सांस्कृतिक निधि को प्राचीन काल का कूड़ा-कचरा समझकर आग नहीं लगा देनी चाहिए क्योंकि आज के युग की प्रायः समस्याओं का यथा आर्थिक दासता, अतिकामुकता, पशुता, नग्नता, अश्लीलता, अनास्था, चारित्र्यहीनता, अनुशासनहीनता आदि का सम्यक् उपचार भारत के पास है। इसलिए योगीराज अरविन्द ने कहा है—'मानवता को यदि सचमुच महानतम जीवनमूल्य चाहिए जिसके आधार पर मानवता का त्राण हो सकता है तो वे जीवनमूल्य जगद्गुरु भारत की महान् मृत्युंजय संस्कृति ही प्रदान कर सकती है। संसार के दुःखी प्राणियों को संस्कृति की सुधा पिलाकर अमरत्व का वरदान भारत ही दे सकता है।'

अतः स्पष्ट है कि भारत का जगद्गुरु का पद सुरक्षित है। आज के बुद्धिजीवी और सुविज्ञ नागरिक पश्चिमी भोगवादी सभ्यता से निराश होकर पुनः भारतीय संस्कृति का सुधापान करने के लिए तरस रहे हैं। पर शर्त यह है कि हम अपने जीवन में आदर्श को साकार कर उसके जीवित उदाहरण बनें।

तुर्की सरकार द्वारा गीतादि के प्रतिबंध के प्रत्युत्तर में

तुर्की सरकार द्वारा उपनिषद्, गीता तथा विश्वविख्यात दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् के ग्रंथ—'दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' पर प्रतिबंध लगाने के आदेश ने मन-मस्तिष्क में हलचल उत्पन्न कर दी। तुर्की के धार्मिक उन्माद के साक्षी इतिहास के पृष्ठ हैं। 1076 ई. में जेरुशलेम पर अधिकार करने के बाद तुर्की ने ईसाइयों पर भीषण अत्याचार किए। जिसके फलस्वरूप 200 वर्षों तक तुर्कों तथा ईसाइयों में धर्म-युद्ध होते रहे। क्या इस्लाम और कुरान ने तुर्कों को धार्मिक तथा सांस्कृतिक सहिष्णुता का पाठ नहीं पढ़ाया?

यूरोप का गीता से परिचय सर्वप्रथम 1776 ई. में हुआ। जब सर विल्किन्स ने गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया। दो वर्ष बाद पूरों नामक विद्वान् ने गीता का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया। गीता 700 श्लोकों का एक छोटा-सा काव्य है। जिसने भोगवाद से पीड़ित पश्चिम की आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति प्रदान की है।

विलियम वान हम्बोल्ट ने गीता के बारे में लिखा है कि 'यह सबसे सुन्दर शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है। जो विश्व की किसी भी ज्ञात भाषा में मिलता है।'

गीता का जर्मनी के महान् दार्शनिक कांट के दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

गीता ने कार्लायल और इमर्सन के चिन्तन को भी प्रभावित किया है।

पं. नेहरू ने लिखा है—'उपनिषद् छानबीन की, मानसिक साहस की ओर सत्य की खोज के उत्साह की भावना से भरपूर हैं।'

शोपेनहावर (जर्मनी के महान् दार्शनिक) ने लिखा है—'सारे संसार में कोई ऐसी रचना नहीं है जिसका पढ़ना इतना उपयोगी, इतना ऊंचा उठाने वाला हो जितना कि उपनिषदों का। यह सबसे ऊँचे ज्ञान की उपज है—एक-न-एक दिन सारी दुनिया का इस पर विश्वास होकर रहेगा। उपनिषदों को पढ़ने से मेरे जीवन को शान्ति मिली है। यह मेरी मृत्यु के समय की सांत्वना बनेगा।'

मैक्समूलर लिखते हैं कि—'उपनिषद् वेदान्त दर्शन का स्रोत हैं जिसमें मानवी चिन्तन अपने शिखर पर पहुँच गया जान पड़ता है।'

पराधीन भारत में 1927 ई. में इंग्लैण्ड के विद्वान् श्री रोनाल्ड हेनरी निक्सन ने लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डॉ. ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती से उपनिषदों तथा गीता का रहस्य समझ कर अपना सर्वस्व ही भारत व भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया। इस कृष्णभक्त अंग्रेज ने 'दि योग ऑफ भगवद्गीता' तथा 'दि सर्च फार ट्रुथ' आदि ग्रंथों की रचना की।

युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द का सान्निध्य पाकर आयरलैंड के ईसाई धर्मप्रचारक की तेजस्वी पुत्री मिस मारग्रेट नोबुल भारत भूमि को अपना सर्वस्व अर्पित करके भगिनी निवेदिता बन गई।

डॉ. ई.जी. शुत्जे जो जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय में पूर्व और पाश्चात्य दर्शन के प्रोफेसर थे, हिन्दू संस्कृति तथा दर्शन से प्रभावित होकर भारत में संन्यास ले लिया और स्वामी सदानन्द कहलाए। उन्होंने लिखा है कि ईसाई धर्म ईश्वरप्राप्ति की मेरी प्यास को शांत नहीं कर सका।

नवम्बर, 1972 में न्यूयार्क निवासी श्री जयमैजो ने विधिवत रूप से हिन्दू धर्म की दीक्षा ली। श्री जयमैजो इतिहास में एम.ए., पीएच.डी. हैं।

नार्वे के ईसाई विद्वान् श्री एक्सेल जेनसेन ने 3 जनवरी, 1973 को हिन्दू धर्म अंगीकार किया। अरविन्द उनका नया नाम रखा गया। श्री जेनसेन द्वारा लिखित पुस्तकों का विश्व की 20 भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अब वह गीता तथा संस्कृत के प्रमुख ग्रंथों का नार्वेजियन भाषा में अनुवाद करेंगे।

भारत उपासना पंथों की भूमि, मानवजाति का पालना, भाषा की जन्मभूमि, इतिहास की माता, पुराणों की दादी एवं परंपरा की परदादी है। मनुष्य के इतिहास में जो भी मूल्यवान एवं सृजनशील सामग्री है, उसका भंडार अकेले भारत में है। यह ऐसी भूमि है जिसके दर्शन के लिए सब लालायित रहते हैं और एक बार उसकी हलकी-सी झलक मिल जाए तो दुनिया के अन्य सारे दृश्यों के बदले में भी उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे।

—मार्क ट्वेन

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तजी के पवित्र ग्रन्थ 'साकेत' में, भरत के राम को अयोध्या वापस लौटा लाने हेतु किए अनुनय-विनय के पश्चात् प्रभु रामचन्द्र कहते हैं—

मैं राज्य भोगने नहीं भुगाने आया।
मैं आर्यों का आर्यत्व दिखाने आया।।

संदेश नहीं मैं यहां स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।।

इन शब्दों में एक आदर्श ध्वनित होता है जो किसी अन्य प्रचलित धार्मिक आदर्श से किसी भांति भी छोटा नहीं है। यदि धार्मिक दृष्टि से हमें यह गौरव है कि स्वयं परब्रह्म परमेश्वर ने हमारे देश में अवतार लिया तो ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी कम गौरव की बात नहीं है कि एक भारतवासी अपने चरित्र से इतनी ऊंची मर्यादा स्थापित कर गया कि न केवल भावी मानवता के लिए अपितु स्वर्ग के देवताओं के लिए भी सदा वन्दनीय बन गया।

महापापी रावण सब को दुःख देने के कारण, सब को सताने के कारण ही 'रावण' कहलाता था। उसका नाश करने के लिए एक मानव की आवश्यकता थी। पर क्या उस समय कोई मानव नहीं था जो कि उसे नष्ट कर सकता? सम्भवतः नहीं था। दो टांग वाले बिना पूंछ के पशु तो अनेक थे पर सच्चा मानव, पूर्ण मानव कोई नहीं था। इसीलिए स्वयं ईश्वरीय शक्ति को एक पूर्ण मानव के रूप में प्रकट होना पड़ा। देवता रावण के बन्दी थे, वे भयंकर दैत्य के पंजे के नीचे दबे हुए उस दैत्यराज का क्या बिगाड़ सकते थे? इन्द्र भी शक्तिहीन था। अग्नि और वायु भी बलहीन हो चुके थे। सबको अपने अनन्त पेट में लीलने वाला काल भी रावण की खाट से बंधा सिसक रहा था। इसलिए स्वर्ग की सम्पूर्ण शक्तियां भी उस दुर्दमनीय दैत्य का पराभव नहीं कर सकती थी। ऐसे समय में जब स्वर्ग हार गया था, धरती धर्म की रक्षा के लिए उठी। जहां देवता हार गए थे, वहां मानव ने विजय प्राप्त की। इसीलिए मानव रूप पाने वाले भगवान् रामचन्द्र सब देवताओं के भी देवता

बन कर पूजित हुए और इसीलिए भूतल स्वर्ग से भी बढ़ कर हो गया। मैथिलीशरण गुप्तजी ने रामजन्म की पावन घड़ी की महिमा गाते हुए लिखा—

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया।
भाग्यभास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया।।

हो गया निर्गुण सगुण साकार है।
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।।

भक्त-वत्सलता इसी का नाम है।
और वह लोकेश लीलाधाम है।।

प्रभु रामचन्द्र हमारे अतीत के गौरव, वर्तमान के आश्रय तथा भविष्य की उज्ज्वल आशा हैं। उन्हीं के सुधावर्षी नाम तथा लोकपावनकारी चरित्र ने हमारी इस प्राचीनतम जाति को युग-युग तक जीवन प्रदान किया है। राम के नाम स्मरण मात्र से ही हृदय की क्यारियां हरी-भरी हो जाती हैं। सताने वाले, रुलाने वाले, रावण का नाश करके वे शान्ति प्रदान करने वाले, आनन्द प्रदान करने वाले होने के कारण ही 'राम' हैं। लोग विस्मय करते हैं कि रामायणकाल में राम का नाम लिखने मात्र से ही समुद्र पर पत्थर कैसे तैरे होंगे! पर पत्थर तैरने की बात तो दूर हमने राम नाम के प्रताप से इंसान तरते देखे हैं। एक दस्यु का निन्दनीय जीवन बिताने वाला डाकू रत्नाकर रोकर नारद मुनि से पूछता था, 'महाराज, मैंने अनेकों का धन तथा अनेकों का प्राण हरण किया है, अनेक ब्रह्म-हत्या का पाप मुझे लगा हुआ है। क्या मेरे उद्धार का भी कोई मार्ग है?'

नारदजी ने कहा—'हां, है। राम नाम सकल पापों का नाश करने वाला है।' उसी राम नाम के प्रताप से ही पापपंक में लिप्त रत्नाकर डाकू ऋषि वाल्मीकि बन कर लोक में पूजित हुए। अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रेम में अन्धे हुए एक कामांध युवक को किसी ने अगर जनगण-पूजित गोस्वामी तुलसीदास बनाया तो वह पवित्र राम नाम ही था। आधुनिककाल में एक आचार-भ्रष्ट वैश्यबालक गांधी यदि महात्मा बन कर विश्व में विख्यात हुआ तो राम नाम के बल से ही। स्वयं उसी लंगोटी वाले महात्मा की स्वीकारोक्ति है, 'राम नाम में वह शक्ति है जो बड़ी से बड़ी सेना में नहीं। भयंकर अस्त्र-शस्त्रों में नहीं।' इसी राम नाम के प्रताप से उन महात्मा ने अपने मरते हुए बच्चे रामदास को मृत्यु के मुख से बचा लिया। अपने आचार पर राम नाम का प्रभाव बखान करते हुए वे सत्यसेवी संत कहते हैं—'यदि मेरे पास राम नाम का आश्रय न होता तो सम्भवतः मैं अपने जीवन में दो महिलाओं को अपनी बहन कहने के योग्य न रहता।'

यह सत्य है कि राम नाम ने अनेकानेक इंसान तारे हैं। जो सबसे अधिक चरित्र भ्रष्ट थे, उन्हें सर्वथा पूज्य पुरुष बनाया है। यह राम नाम का अद्‌भुत प्रताप

है। इसी महान् नाम के जादू ने हमें हजारों वर्षों तक जीवन एवं जागृति, शक्ति एवं शील, कर्म तथा धर्म का आलोकपथ दिखलाया है।

राम नाम के प्रताप को समझने के लिए महर्षि वाल्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास एवं महात्मा गांधी के प्रत्यक्ष जीवन की साक्षी बहुत पर्याप्त है।

हमारा यह दावा है कि ऐसे लोकोत्तर महामानव स्वर्ग में भी कभी नहीं हुए होंगे। ऐसे पुण्यश्लोक महापुरुषों के कारण यह भारतभूमि केवल स्वर्गतुल्य ही नहीं अपितु स्वर्ग से भी ऊंची बन गई है। विश्वविश्रुत-कीर्त्ति, लोकाभिराम भगवान् राम का नाम इतना पुण्य पावन है कि सन्त कबीर कह उठे—

सपने में घबराय के, जिन मुख निकसत राम।
तिनके पग की पाहिनी, मेरे तन की चाम।।

वे ब्रह्मज्ञानी-सन्त, चौराहे पर खड़े होकर घोषणा करते हैं कि जिसके मुख से सपने में भी घबराकर कभी राम का नाम निकल जाए उसके पांवों के जूतों के लिए मैं अपने तन की चमड़ी देने के लिए तैयार हूं। कबीर के ये बोल सुन कर सन्तप्रवर तुलसीदासजी भी चुप न रह सके। उन्होंने भी अपने आपको बोली पर लगाते हुए कह दिया—

तुलसी जिनके मुखन ते, धोखेउं निकसत राम।
तिन के पग पगतरी, मेरे तन की चाम।।

जहां धोखे से भी मुख से राम का नाम लेने वालों के पांवों के जूतों के लिए 'मेरे तन की चाम' कह कर सन्त-श्रेष्ठ कबीर एवं सन्त-शिरोमणि तुलसीदास आपस में होड़ कर रहे हैं, उस राम नाम के अलौकिक प्रताप को सहज ही समझा जा सकता है। इस महान् प्रताप का कारण यह है कि इक्ष्वाकुकुलकुमुदचन्द्र, सर्वनयनाभिराम, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी साक्षात् धर्मविग्रह ही थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के सभी समुज्ज्वल आदर्शों को अपने सर्वगुणसम्पन्न चरित्र में सत्य-साकार करके दिखलाया था। जहां संसार के अनेकानेक नेताओं की कथनी और करनी में अन्तर दिखलाई देता है, वहां मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम ज्ञान एवं कर्म के अद्‌भुत समन्वय थे। जहां बाकी धर्मगुरुओं के बारे में कहा जाता है कि जो कुछ उन्होंने कहा उसका अनुसरण करो पर उन्होंने जो कुछ किया उसका अनुकरण मत करो। वहां भगवान् रामचन्द्र ही एकमात्र अलौकिक विभूति हैं जिनकी कथनी और करनी, आचार-विचार दोनों सर्वथा अनुकरणीय हैं।

श्रीराम जन्म का मंगलमय पर्व एक महान् आनन्द का दिवस है क्योंकि अखिलार्यनिसेवितपादपद्म, साकेताधीश्वर, महाराजाधिराज भगवान् रामचन्द्र का जन्म भारत के ही नहीं वरन् विश्व के सांस्कृतिक इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। जब संसार के अधिकांश भाग में अज्ञान का अंधकार छाया हुआ था, जब

अमेरीका अंधकार के गर्त में खोया हुआ था और यूरोप के लोग मनुष्यों एवं पशुओं का कच्चा मांस खाने वाले, अर्ध-बर्बर लोगों ने अपनी बन्दर की पूंछ काटकर इंसान बनना नहीं सीखा था। उस समय भारत में सत्यसंध, धर्म-प्राण, गौरव-सर्वस्व महाराजा रामचन्द्रजी के समुज्ज्वल चरित्र का विमल आलोक फैला हुआ था। भगवान् राम समूचे संसार को भारत की सबसे बड़ी चुनौती (देन) है। क्या कोई माई का लाल आज तक उनकी महिमा के सहस्रांश को भी पहुंच पाया है? आज यदि भारतीय अपना मस्तक समुन्नत जातियों के समक्ष ऊंचा उठा कर चल सकते हैं, तो इसका श्रेय भगवान् राम के उत्कृष्टतम एवं देव-दुर्लभ चरित्र को ही है।

विश्ववंद्य प्रभु रामचन्द्र के जन्म से पूर्व की दशा का वर्णन करते हुए काका कालेलकर लिखते हैं—

'असुर उन्मत्त हो गए थे। शूर्पणखा अपने सूप जैसे बड़े और तीक्ष्ण नखों से सारे देश को खरोंच रही थी। खर-दूषण अनीति फैला रहे थे। प्रजा के बड़े-बड़े वर्गों को कुम्भकर्ण (घड़े जैसे कानों वाला राक्षस) समूचा ही निगल रहा था। सात्त्विक बुद्धिवाला विभीषण रावण के दरबार में अरण्य रोदन कर रहा था। साम्राज्यमद में उन्मत्त राक्षस उसकी नेक सलाह की हंसी उड़ा रहे थे। रावण राज्य के दशविध विभागों के द्वारा एकमुखी सत्ता चला रहा था। बेचारी नैसर्गिक शक्तियों की तो बात ही क्या, नवग्रह भी उसके घर पर कहार का काम करते थे। लोगों के दिलों में शक पैदा हो गया कि दुनिया का मालिक ईश्वर है या रावण? रावण के घमण्ड की कोई हद नहीं रही है। वह अपने मन में और दरबार में जाहिरा तौर पर कहता... मैं सबसे श्रेष्ठ हूं। मैं ही सुखोपभोग करने वाला हूं। सारी सिद्धियां मेरी दासियां हैं। मेरी शक्ति सबसे ज्यादा है।.... हर एक गुणी मनुष्य इतना पामर हो गया है कि अपनी शक्ति इस मदान्ध के चरणों पर अर्पण करने में अपने को धन्य मानता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' के भाव को अपनी रसीली चौपाइयों में गाते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।।

करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।।

तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

साकेताधिपति रामचन्द्र के जन्म का हेतु समझाते हुए 'साकेत' काव्य के प्रणेता मैथिलीशरण गुप्त गा उठे हैं—

पथ दिखाने के लिए संसार को।
दूर करने के लिए भूभार को।
सफल करने के लिए जन दृष्टियां।
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियां।
असुर शासन शिशिरमय हेमन्त है।
पर निकट ही राम राज्य वसन्त है।
पापियों का जान लो अब अन्त है।
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है।
धन्य दशरथ-जनक पुण्योत्कर्ष है।
धन्य भगवद् भूमि भारतवर्ष है।।

वेद-काल के ऋषियों ने निर्गुण-निराकार ब्रह्म को पहचान तो अवश्य लिया था, किन्तु उनके प्यासे नेत्र, दर्शन की लालसा में अश्रु बहाते हुए बार-बार पृथ्वी और आकाश से पूछते थे—'कस्मै देवाय हविषा विधेम?' अर्थात् हम किस देवता के लिए हवि देवें? किस देवता के चरणों में अपना सर्वस्व चढ़ा देवें? उन्हीं ऋषियों के नेत्रों को सफल करने के लिए आज के दिन त्रेतायुग में परदु:खभंजन, लोकरंजन, प्रजावत्सल, सूर्यकुलकमलदिवाकर भगवान् रामचन्द्रजी का जन्म हुआ।

प्राय: इतिहासकार विस्मय करते हैं कि वैदिक काल की इन्द्रपूजा का स्थान विष्णुपूजा ने कैसे ले लिया? इसका उत्तर है कि भगवान विष्णु के राम-कृष्णादि रूपों ने सौ-सौ इन्द्रों से भी ऊंचा आदर्श स्थापित किया। वेद का आदेश है—'आचार: प्रथमो धर्म:।' आचार नीति के क्षेत्र में मातृमोदवर्धक, पितृनिर्देश-पालक, सुहृदय, दु:खविमोचक, एकपत्नीव्रतधारी, प्रजापालक, दशरथयशवर्धक, सर्वगुणागार, भगवान् राम के चरित्र के सम्मुख स्वर्ग में अप्सराओं के नृत्य में आनन्द मानने वाला इन्द्र देवता क्या मूल्य रखता है? इसीलिए श्रीराम के प्रताप से भारत स्वर्ग से भी ऊंचा बन गया।

उन्हीं सर्वगुणनिधान प्रभु रामचन्द्र के पावन जन्मोत्सव पर हम उन लोकलोकेश्वर रघुवंशतिलक महाराज रामचन्द्र के चरणों में कविवर राम नरेश त्रिपाठी की निम्न काव्य-भावांजलि समर्पित करते हैं—

श्रीराम ने जो कर दिखाया धर्म के विश्वास में,
ऐसा न अन्य उदाहरण है जगत के इतिहास में।

दृढ़ हो उन्हीं के पुण्य पथ पर चाहिए चलना हमें,
हम आर्य हिन्दू मात्र राम चरित्र कानन में रमें।

होगा इसी से देश का कल्याण सम्मति सार लो।
पढ़ मित्र पूर्ण पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो।

महर्षि अगस्त्य

(1) हिमालय में बदरीनारायण के मार्ग में तप।

(2) महर्षि वसिष्ठ के भाई।

(3) विंध्याचल को पारकर सबसे प्रथम दक्षिण पथ में जाने वाले उत्तर भारत के ऋषि।

(4) पंचवटी में राम की प्रतीक्षा।

(5) श्रीराम की असुर नाश की प्रतिज्ञा, दिव्य शस्त्रदान।

(6) तमिल व्याकरण की रचना 'अगस्त्यीयम्'।

(7) उत्तर भारत के दक्षिण में सर्वाधिक पूज्य ऋषि।

(8) समुद्र पारकर मलय एवं इंडोनेशिया द्वीपसमूह में भारतीय संस्कृति का प्रसार।

हिन्दू संस्कृति की अपूर्व शक्ति और दीर्घायुता का सर्वप्रथम कारण प्रकटतः भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और परस्पर विरोधाभासी आस्थाओं को व्यवस्थित तथा समायोजित करने की इसकी क्षमता है। अनेक रूपी तत्त्वों को समायोजित करने और उन्हें सामाजिक और अलग-अलग पहचान देने की इसकी योग्यता सम्भवतः मानव इतिहास में अभूतपूर्व है।

—विलियम काँप

कम्बर (कम्बन)

(1) कम्बर (कम्बन) नवीं शती के परम रामभक्त और यशस्वी कवि थे।

(2) चोल राज्य के तिरुवलुन्दूर नगर में उनका जन्म हुआ था। उनके पिताजी का नाम आदवन् था। वे राजपुरोहित थे।

(3) बचपन से ही कम्बर में श्रीराम के प्रति दृढ़ अनुराग था, अडिग भक्ति थी।

(4) प्रसिद्ध वैष्णव कवि और सन्त नामालवार उनके गुरु थे।

(5) कम्बर ने गुरुकृपा एवं भगवद्भक्ति से काव्यस्फूर्ति पाकर प्रसिद्ध कम्बन रामायण की रचना की।

(6) ठीक 5 वर्ष के बाद सन् 885 ई. फाल्गुन पूर्णिमा को श्रीरङ्गन की साहित्य सभा ने काम्ब रामायण को मान्यता प्रदान की। रामभक्त कम्बर को कवि-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया गया।

(7) चोल एवं चेर सम्राट् उनका बड़ा सम्मान करते थे तथा श्रद्धा रखते थे।

(8) उन्होंने काम्ब रामायण में आदि से अंत तक रावण के विनाश को ही पवित्र उद्देश्य रखा है। श्रीराम द्वारा रावण के अंत का स्मरण प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थल पर कराया है।

(9) घटना वर्णन में वाल्मीकि का ही अनुसरण किया है। कहीं-कहीं भक्त हृदय की विलक्षण अनुभूति, विचित्र काव्यशैली एवं प्रतिभा के कारण घटना वर्णन अत्यन्त मौलिक हो गए हैं।

(10) चरित्र चित्रण में उन्होंने दैवी सम्पद् की सराहना तथा आसुरी सम्पद् की निंदा की है।

(11) कम्बन हनुमानजी को अपना गुरुरूप मानते थे।

(12) कम्बन ने सीताहरण के प्रसंग पर दर्शाया है कि रावण उस भूखण्ड को ही उखाड़ कर ले भागता है जिस पर सीताजी खड़ी हैं। कम्बन की भावना है कि राक्षस माता सीता का स्पर्श न कर सके।

(13) पुष्पवाटिका प्रसंग भी कम्बन की प्रतिभा की देन है।

नेपाल में तुलसी रामायण और भानु भट्ट की रामायण

भानु भट्ट की रामायण गोरखाली भाषा में है। तुलसी रामायण अवधी भाषा में है। दोनों का विशेष प्रचलन है। और नेपाली लोग जब रात्रि को चौकीदारी करते हैं तो रामकथा गाते हैं, रामायण गाते हैं। इतने मस्त हो जाते हैं, इतना उनको रस मिलता है कि कभी रात्रि को नींद खुल जाए और कानों में ध्वनि पड़ जाए तो लगता है रातभर हम वही रसामृत पान करते रहें। बहुत प्यार से गाते हैं। बड़ी निष्ठा है उनके मन में।

दिल्ली में दिल्ली क्लाथ मिल में सूत की चोरी हो जाती थी। सूत की चोरी रोकने के लिए बड़े-बड़े पुलिस ऑफिसर रखे गए थे। Retire पुलिस ऑफिसर, Military ऑफिसर रखे गए थे। सूत की चोरी नहीं रुकी। अचानक भरतराम चरकराम जो वहां के मालिक हैं, उनमें से एक भाई से मेरी बात हुई। तो मैंने कहा, आप नेपाली लोगों को चौकीदारी के लिए रखिये और ऐसी मण्डली को रखिये जो रामायण गाते हों। थोड़ा प्रयास करने से ऐसी मण्डली मिल गई। और वे रातभर रामायण गाते थे। अचानक सूत की चोरी बंद हो गई। चरतराम बहुत आनन्दित हुआ कि वाह भई, बड़े-बड़े Military के Retire कर्नल रखे, ब्रिगेडियर रखे, पुलिस के Retire D.G. रखे, बड़े-बड़े अफसर रखे, Security अफसर रखे, चोरी जारी रहती थी। ये अनपढ़-गंवार लोग हैं, कुछ पढ़े-लिखे भी नहीं हैं और कोई पद भी नहीं है, वेतन भी साधारण लेते हैं। सूत की चोरी रुक गई। उसके नायक को बुलाया। क्या बात है, बड़े-बड़े अफसर रखे चोरी नहीं रुकी। तुम्हारे आने से चोरी रुक गई। क्या बात है? वह आँखों में अश्रुधारा बहाकर कहने लगा, सेठ बाबू! सुन। नौकरी पर रखना है तो रख, नहीं तो हम जाते हैं, हम चोरी आदि कुछ नहीं जानता है। हम तुलसी रामायण का पाठ करता है। तुलसी रामायण का पाठक चोर नहीं हो सकता। यह कहकर रोने लगा। श्रद्धा से वह चरकराम के चरणों में गिर गया कि यह रामायण का चमत्कार है।

एफ.एस. ग्राउस (फ्रैड्रिक सालोमन)

आई.सी.एस. परीक्षा पास कर जो अंग्रेज भारत में उच्च पदों पर आए उनमें एफ.एस. ग्राउस (फ्रैड्रिक सालोमन) जो वर्तमान उत्तरप्रदेश के मथुरा तथा बुलन्दशहर जैसे जिलों में कलक्टर के पद पर रहे, उन्होंने अंग्रेजी में 'रामचरितमानस' का प्रामाणिक गद्यानुवाद किया। ग्राउस के बारे में यहां तक प्रसिद्ध है कि वे अपने वार्तालाप में यथाप्रसंग मानस की चौपाइयों को उद्धृत करते रहते थे। एक ऐसा ही रोचक प्रसंग तब आया जब वे मथुरा के जिला मजिस्ट्रेट थे और उनके सामने वैरागी साधु को किसी अपराध के कारण पेश किया गया। जब ग्राउस ने उसे अपनी सफाई देने के लिए कहा तो उसने इतना ही कहा कि वह अपने पक्ष में कुछ खास कहना नहीं चाहता। उसने तो सब कुछ भगवान् पर छोड़ दिया है और वह मानस की यह चौपाई कह बैठा—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा।।

ग्राउस साहब अपराधी के मनोभाव को समझ गए और मानस की भाषा में ही उसे उत्तर दिया—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।।

अब वैरागी को मौन साधना पड़ा।

हिमालय के आंगन में उसे प्रथम, किरणों का दे उपहार।
उषा ने हंस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक हार।।

जगे हम लगे जगाने, विश्व में फैला फिर आलोक।
व्योम तमपुंज हुआ तब नाश, सकल संसृति हो उठी अशोक।।

—जयशंकर प्रसाद

आर.टी.एच. ग्रिफिथ

ग्रिफिथ ने तो चारों वेदों का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया था तथा वाल्मीकीय रामायण का भी अंग्रेजी में उल्था किया था। ग्रिफिथ का रामचरितमानस पर भी असाधारण अधिकार था और इस महाकाव्य के अनेक मार्मिक प्रसंग उन्हें कण्ठस्थ थे। एक प्रसंग ऐसा उपस्थित हुआ जब कॉलेज के एक उद्दण्ड छात्र को उनके सामने लाया गया तो छात्र ने ग्रिफिथ साहब के मानस प्रेम का फायदा उठाते हुए निम्न चौपाई कही—

जो लरिका कछु अनुचित करहीं।
गुरु पितु मातु मोद जिय भरहीं।।

यदि बच्चे कुछ अनुचित भी करते हैं तो माता-पिता व गुरु उसका बुरा नहीं मानते। ग्रिफिथ साहब लड़के का आशय समझ गए और उसकी अनुशासनहीनता को क्षमा के योग्य न मानते हुए उसी शैली में उत्तर दिया—

जौं न देउँ सठ दण्ड कठोरा।
वृथा होहि श्रुति मारग मोरा।।

यदि मैं तुझे दण्ड नहीं दूं तो यह उचित नहीं होगा।

मेरी ओर से अपने देशवासियों को एक संदेश जरूर दीजियेगा, और वह यह है कि वे भूलकर भी हमारी नकल न करें। हमारे पास धन है, किन्तु वह अमूल्य वस्तु नहीं है, जो भारत के पास है। संसार भारत से अध्यात्म की ज्योति पाने की आशा रखता है।

—विख्यात अर्थशास्त्री प्रो. शुम पीटर

प्रो. साहब का राम पर आक्षेप

आप सब राम को मर्यादा पुरुषोत्तम मानते हैं। वह तो रिक्शा पुलर से भी घटिया व्यक्ति थे जो अपनी पत्नी तक की रक्षा नहीं कर सके।

अक्सर वे हिन्दू धर्म के देवी-देवता की हंसी उड़ाते रहते थे। हम तो दीन हैं भगवान् है दीनानाथ। हम तो पतित हैं और भगवान् पतितपावन। हनुमानजी ने पूरा पहाड़ उठा लिया तो रांची विश्वविद्यालय के छात्र सोचते हैं हम सब मिलकर रांची विश्वविद्यालय को उठा लेवें।

इस तरह का मखौल प्राय: अपनी क्लास में करते रहते थे। इससे मेरे मन को बहुत चोट पहुंचती थी। भगवान् राम के प्रति अशोभनीय आलोचना ने मेरे मन को बहुत व्यथित और विचलित दिया। मेरा फिर आगे की कक्षा में मन नहीं लगा। मैं वापस अपने आवास में लौट आया। रात को भी सो न सका। तब मैंने एक पत्र शिक्षक महोदय के नाम से लिखा। जिसमें मैंने फ्रांस के साहित्यकार मिचलेट को उद्धृत किया जो उन्होंने रामायण के मूल्यांकन में कही थी। फिर मैंने गांधीजी को उद्धृत किया जो अपनी सारी महानता का रहस्य राममन्त्र को मानते थे, जो उनके इष्टदेव के साथ-साथ उनका राष्ट्रीय आदर्श था। सपना था भारत में रामराज्य की स्थापना करना। और गांधीदर्शन कोर्स में है और उसे आपको ही पढ़ाना है। अत: राम की अमर्यादित आलोचना, गांधीजी का भी अपमान है।

हम स्वयं अपने जीवन में कोई मर्यादा स्थापित तो कर नहीं सकते। पर जिन्होंने मर्यादा की स्थापना की उसकी टांग अवश्य खींच सकते हैं। साधन विहीन, परिचयविहीन, वनवासी राम ने एक सीता की रक्षा के लिए वनवासी समाज एवं बंदर भालुओं को ही संगठित करके, उनकी सेना सजाकर त्रिभुवनजयी रावण को कुल-कुटुम्ब सहित उखाड़ कर फेंक दिया। अगर हम राम के इस आदर्श पर चल पाते तो देश का विभाजन नहीं हो सकता था। देश विभाजन के पश्चात् पांच हजार हिन्दू नारियों को नग्न करके, उनके गुप्तांगों में पाकिस्तान जिन्दाबाद लिखकर जुलूस निकाले गए, जिसमें नारे लगे—हँस के लिया पाकिस्तान, लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान। यह नहीं होता। आज भी हिन्दू बहू-बेटियों का अपहरण जारी है और

अरब देशों में बिक रही हैं। रांची भी इसका अपवाद नहीं है। आप पत्नी के साथ एकांत स्थान में जा रहे हैं और दस गुण्डे आपको घेर कर आपकी पत्नी को छीन लेवें और कहें कि थाने में रिपोर्ट की तो तुम्हारी गर्दन कलम कर दी जाएगी। तो आप इतने बहादुर हैं, मूंछ पर ताव देकर घर लौट जाएंगे। थाने में रिपोर्ट लिखवाने की आपकी हिम्मत नहीं होगी।

दर्शन की कक्षा के ठीक नीचे ही उर्दू की क्लास चलती है। मुहम्मद साहब के विषय में जो ऐतिहासिक तथ्य इतिहासकारों ने रखे हैं उसे कहकर आप वापस सकुशल लौट आयें तो जानूं।

मैं तो रामायण का आचार्य नहीं हूं पर मेरा रामायण के आचार्यों से परिचय है। उनके साथ आपकी खुली सभा हो जाए कि राम रिक्शा पुलर से भी घटिया व्यक्ति थे या मर्यादा स्थापित करने वाले आदर्श पुरुष थे। स्पष्ट हो जाएगा।

निवेदक आपका छात्र,

संतोष लाठ

इस पत्र को लेकर प्रो. ओबरायजी के पास गया और उन्हें सारी घटना बताई। तब उन्होंने पत्र को संशोधित करवाया। उस पत्र में मेरे 5-6 मित्र छात्रों ने भी हस्ताक्षर कर दिये। उसकी एक प्रति प्रो. महोदय को, एक प्रति हेड को दी और एक प्रति मैंने अपने पास रख ली।

सेवा में,

अध्यक्ष महोदय (दर्शन विभाग),

रांची विश्वविद्यालय, रांची।

सविनय निवेदन है कि हमने एम.ए. दर्शन की कक्षा में प्रवेश इसलिए लिया था कि भारत दर्शन की जन्मभूमि होने के कारण हमें दर्शन के क्षेत्र में भारत की गौरव गरिमा एवं जगद्गुरुत्व का दर्शन प्राप्त होगा। आपको अतीव दु:ख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि हमारी कक्षाओं में विषय से विषयांतर करके अनावश्यक राजनीतिक चर्चा और भारत एवं भारतीयता की निंदा चलाई जाती है जिससे एक ओर हमारा पाठ्यक्रम पूरा नहीं हो पाता और दूसरी ओर हमारे जीवन की पवित्रतम आस्थाओं पर भयंकर आघात पहुंचता है।

दिनांक 15.1.81 को धर्मदर्शन की कक्षा में माननीय प्राध्यापक महोदय ने रामायण और रामचरित्र की इतनी भद्दी एवं उपहासपूर्ण आलोचना की कि मेरे जैसे निष्ठावान छात्र के हृदय को बड़ा आघात लगा। मुझे अगली कक्षाएँ छोड़कर वापस घर लौटना पड़ा। उन्होंने कहा कि राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है

किन्तु कोई घटिया से घटिया व्यक्ति भी उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ पारिवारिक आचरण करेगा।

उनकी दु:खदायी अशोभन आलोचना दिनभर मेरे हृदय को सालती रही। उन्होंने शिव-पार्वती के विषय में भी बड़े अशोभन शब्द प्रयोग किए। रामायण एवं महाभारत भारत के राष्ट्रीय महाकाव्य हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के शब्दों में रामायण भारत की आत्मा का महाकाव्य है।.... रामायण में भारत प्रतिष्ठित है तथा भारत में रामायण प्रतिष्ठित है।

फ्रांस के महान् इतिहासकार मिचलेट ने रामायण के मूल्यांकन में लिखा है, 'जिस किसी ने भी महान् कार्य किये हैं या महान् आकांक्षा संजोयी है, उसे रामायणरूपी अमृत के भरपूर प्याले से जीवन और यौवन का एक लम्बा घूंट पीने दो। पश्चिम में सभी कुछ संकीर्ण है। यूनान छोटा और तंग है और वहां मेरा दम घुटता है। जुडिया शुष्क है तथा वहां मैं हांफ जाता हूं। मुझे महान् एशिया और गहन प्राची की ओर देखने दो। वहां मिलता है मेरे मन का महाकाव्य रामायण। हिन्द महासागर जैसा विस्तृत, सूर्य से ज्योतित एवं धन्य एक दिव्य संगीत का ग्रंथ जिसमें कहीं लयभंग नहीं है। वहां एक अपार शान्ति का राज्य है। कर्तव्यों के संघर्ष के बीच भी अपार माधुर्य है, अनन्त सौहार्द है जो सब जीवों पर प्रेम, दया और क्षमा का अपार और अथाह सागर लहरा देता है।'

विश्ववंद्य महात्मा गांधी राम नाम को अपना जीवनमन्त्र मानते थे। वे इसे ही अपनी सारी महानता का रहस्य बताते थे। उन्होंने रामराज्य के आदर्श के लिए सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया। गांधीदर्शन भी हमारे पाठ्यक्रम में है। अत: राम की निंदा गांधी दर्शन एवं भारत, सभी की निंदा है।

जहां दर्शन सत्य की तर्कसम्मत बौद्धिक व्याख्या है वहां धर्म परम सत्य के प्रति समर्पणकारी आध्यात्मिक साधना है। आपने स्वयं अपने ग्रंथ Comparative Religion में स्वीकार किया है कि All religions aim at the transformation of man into superman. जो तर्क की कैंची दर्शन में चलती है वह धर्म के क्षेत्र में चलने पर निष्ठाओं का खून कर बैठती है। संसार का कोई भी धर्म तर्क के तेज छुरे की धार के सामने धर्म के रूप में बच नहीं सकता। आस्था एवं निष्ठा तर्क से परे है। इसलिए हमें पूरी सावधानी बरतनी चाहिए कि हम अपने उपहास मात्र में देश के करोड़ों लोगों की धर्मनिष्ठा को कुचल तो नहीं रहे हैं।

इसका भाव स्पष्ट है कि धर्म कोई कूड़ा-कचरा नहीं है जिसकी निन्दा करना ही दर्शन का कार्य हो। भारत में धर्म एवं दर्शन, दोनों परस्पर अभिन्न हैं। किन्तु, जहां दर्शन प्रकाश की खोज है वहां धर्म प्रकाश की प्राप्ति है। दर्शन मात्र

बौद्धिक विलास रह जाता है, धर्म जीवन की सर्वोच्च एवं सर्वस्वसमर्पणकारी साधना है।

कठोपनिषद् में कहा है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' 1/2/7 यह ब्रह्मज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं होता।

दुर्भाग्य से हिन्दू ही वह अभागा समाज है जो इस प्रकार की अशोभन एवं तिरस्कारपूर्ण ठोकरों का शिकार बनता रहता है। यह हिन्दू की उदारता का अनुचित लाभ उठाना है। यदि माननीय प्राध्यापक में हिम्मत है तो अहिन्दू छात्रों के बीच इस्लाम या ईसाइयत के पैगम्बर के विषय में ऐसे शब्द बोलकर देखें। अमेरीका में प्रकाशित हजरत मुहम्मद से सम्बन्धित एक पुस्तक की संक्षिप्त समीक्षा छापने पर मुसलमानों ने Statesman (Calcutta) के पूरे भवन में आग लगा दी थी। क्या अपने इष्टदेव की नग्ननिंदा सुनने के लिए अभागा हिन्दू ही बचा है?

आशा है आप उचित मार्गदर्शनकर हमारी धार्मिक आस्थाओं को इस प्रकार क्षत-विक्षत होने से अवश्य बचाएंगे। अन्यथा हमारी कक्षा में बैठने की इच्छा नहीं रहेगी।

आपका आज्ञाकारी शिष्य—

1. संतोष लाठ, 2. ....

3. .... 4. ....

5. .... 6. ....

7. .... 8. ....

9. .... 10. ....

सात दिन पश्चात् मुझे Expell करने की नोटिस जारी कर नोटिस बोर्ड में लगा दी गई और क्लास में नोटिस पढ़ने के पूर्व अनुशासन पर भाषण देने के पश्चात् नोटिस पढ़कर सुनाई।

तब मैंने उन प्रो. महोदय से कहा—मेरे हृदय पर डाका डाला गया और किस प्रकार और किसने डाका डाला यह बताते हुए मैंने शिकायत की तो मुझे ही दण्डित किया गया। मुझे दण्डित करने का निर्णय लेते समय मुझे बुलाया भी नहीं गया और एकपक्षीय निर्णय ले लिया गया। तब प्रो. साहब ने कहा—आपको भी निर्णय लेने के समय बुलाया जाना चाहिए था। यह मुझे भी अखर रहा था। तब मैंने कहा, आप किस आधार पर अनुशासन की बात कह रहे हैं? क्या मैं अपने मन की पीड़ा भी अभिव्यक्त नहीं कर सकता?

फिर मैं हेड के पास चला गया और उन्हें कहा—मैंने विश्वविद्यालय में इसलिए प्रवेश नहीं लिया कि अपने आदर्श पुरुषों-महापुरुषों, देवविग्रह की अभद्र आलोचना सुनूं। आप मुझे क्या Expell करते हैं मैं स्वयं ऐसी शिक्षा को लात मारकर जा रहा हूं। अब यह Issue, all India का बनेगा। तब छात्रों ने और प्रोफेसरों ने कहा, इस विषय को यहीं स्थगित कर दो। तब मैंने कहा नोटिस बोर्ड में Expell की नोटिस लग चुकी है, और क्लास में नोटिस सबके बीच पढ़ी जा चुकी है। अत: इन्हें भी लिखित रूप से गलती स्वीकार करनी पड़ेगी। तब उन्होंने लिखित रूप से अपनी गलती स्वीकार कर आगे न दुहराने का वचन दिया।

मैं भारत के बहुत से देहातों में घूमा हूं। यहां के किसानों के चेहरों पर हमेशा एक प्रकार की चमक देखी है। वह उनकी गरीबी को एक प्रकार से सम्पन्न बना देती है। किन्तु अफ्रीका व दक्षिण अमरीका के ग्रामीण क्षेत्रों की निर्धनता बड़ी दर्दनाक है, करुण है। मेरे खयाल से भारत के गरीब किसान के चेहरे की रोशनी का रहस्य है उसकी आध्यात्मिक आत्म-निर्भरता और उसका स्वाभिमान। भारतवासी कृपया ऐसा कोई काम न करे, जिससे उनके ये सुनहरे गुण किसी कदर कम हो जाय।

—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. गॉलब्रेथ

× × ×

मैं नहीं चाहूंगा कि स्वतंत्र भारत का भवन सभी ओर दीवारों से घिरा रहे और उसके खिड़की-दरवाजे बन्द रहें। सभी देशों की संस्कृतियों का प्रवाह हमारे मकान के अन्दर आवश्यक स्वतंत्रता से बहे। लेकिन मैं यह कभी बरदाश्त नहीं करूंगा कि इन प्रवाहों से मेरे पैर ही उखड़ जाएं।

—गांधीजी

× × ×

हमारे आक्रमण, उद्दंडता एवं लूटपाट के बदले भारत हमें सिखायेगा सहिष्णुता और परिपक्व मन की मृदुता और अजेय आत्मा का निश्छल संतोष, सामंजस्य भावना की शीतलता तथा सभी प्राणीमात्र से एकरूपता युक्त शान्तिप्रद स्नेह।

—विल ड्यूरांट

दर्शन का वास्तविक प्रयोजन

दर्शन का वास्तविक प्रयोजन सृष्टि के परम सत्य का दर्शन ही है न कि मात्र वाणी विलास या शब्दजाल। जब तक अन्त:करण में कोई भी स्वार्थ भावना छिपी रहती है तब तक मानव को सत्य भी अपने स्वार्थ के संस्कारों में रंगा हुआ दिखाई देता है। जब अन्त:करण पूर्णतया निष्काम एवं नि:स्वार्थ हो जाता है तब उसमें जो ज्ञान का प्रकाश आलोकित हो उठता है, वही सत्य है। उसे केवल आत्मानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है। उस सत्य का दर्शन इन्द्रियों द्वारा सम्भव ही नहीं। उस सत्य दर्शन की अनुभूति का जब वाणी में कथन किया जाता है तो भाषा की विवशता के कारण वह सत्य का दर्शन न रहकर सत्यसम्बन्धी शब्दजाल मात्र बन जाता है। सत्य के विषय में वाग्विलास शास्त्रार्थ की तुलना में सत्य की अनुभूति उतनी ही भिन्न है जितना कि आम के वृक्ष गिनने की तुलना में आम का वास्तविक स्वाद चखना। क्योंकि सभी दार्शनिक ग्रंथ भाषा में लिखे गए हैं, इसलिए दार्शनिक पांडित्य वाणीविलास, शब्दों को तोड़-मरोड़ कर शब्दसंग्राम, तर्क के घात-प्रतिघात, चालाकी भरी दलीलबाजी, वाग्वंचना मात्र रह जाता है और सत्य का दर्शन अलग छूट जाता है।

यदि सत्य का दर्शन ही नहीं हुआ तो दर्शन की मटकी में तर्क की मथानी से थोथे शब्दों के सारहीन पानी को बिलोने से क्या लाभ होने वाला है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है—सत्य के विषय में बोलने वाले हजारों लोगों में से कोई एक ही सत्य की व्याख्या कर सकता है और सत्य पर व्याख्यान देने वाले हजारों लोगों में से कोई एक ही सत्य का साक्षात्कार करता है। दर्शन धन्य तभी होता है जब वह सचमुच सत्य का दर्शन करा सके। राधाकृष्णन् स्वयं विनम्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं कि वे स्वयं सत्य की व्याख्यामात्र करने वाले व्याख्याता ही थे किन्तु रामकृष्ण परमहंस एवं महर्षि रमण जैसे सत्य के द्रष्टा उनसे कहीं ऊंचे थे। राधाकृष्णन् स्वयं विश्व के मूर्धन्य दार्शनिक होते हुए भी रामकृष्ण एवं रमण महर्षि जैसे नितान्त अनपढ़ सत्यद्रष्टाओं की चरण धूलि को मस्तक पर चढ़ाते थे। डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं—हमने जिह्वा की वाचालता, भाषा की चालाकी और तर्क की तोड़-मरोड़ बहुत सीख ली है, किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक

हृदय को टटोलना नहीं सीखा। इसी कारण हम इस विराट् विश्व में आस्थाविहीन हुए अनाथों की तरह भटक रहे हैं। राधाकृष्णन् अपनी पुस्तक 'Recovery of faith' के नौवें पृष्ठ में लिखते हैं—

'Human Societies like human beings live by faith and die when faith disappears. If our society is to recover its health, it must regain its faith.' वे इतने उच्चकोटि के तार्किक एवं दार्शनिक होते हुए भी प्रतिदिन नियमपूर्वक अपने पूजा के कमरे में भगवान् कृष्ण की पूजा करते थे और स्वयं कहते थे कि दार्शनिक शास्त्रार्थ और तर्क की कैंची को पूजा के मन्दिर में प्रवेश का कोई अधिकार नहीं। आज जब नास्तिकता, भौतिकता एवं अर्थपरायणता के युग में धर्म का मजाक उड़ाना एक फैशन-सा बन गया है, किन्तु इसी युग में भोगवाद के सबसे बड़े गढ़ अमेरीका में भाषण करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् ने धर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है—Religion is fulfilment of man's life, an experience in which every aspect of his being is raised to its highest extent. अर्थात् धर्म मानव जीवन की पूर्ण तृप्ति है, एक ऐसी अनुभूति है जिसमें उसके व्यक्तित्व का प्रत्येक पहलू सर्वोच्च स्तर तक उठ जाता है।

दर्शन के क्षेत्र में जहां आधुनिक काल के महानतम दार्शनिक धर्म एवं श्रद्धा के प्रबल समर्थक एवं संरक्षक थे, वहां भारतीय दार्शनिकों में सर्वोच्च गौरव गरिमा के पात्र शंकराचार्य स्वयं प्रखर तार्किक और दार्शनिक शास्त्रार्थों द्वारा दिग्विजय करने वाले, निर्गुण-निराकार ब्रह्म की स्थापना करने वाले, वेदान्तद्रष्टा होते हुए भी प्रतिदिन निष्ठापूर्वक दैनिक पूजा-अचर्ना करते थे और उन्होंने राम-कृष्ण के यश के स्तोत्र गाये एवं अनेकानेक शिव मन्दिरों की प्रतिष्ठापना की। अतः दर्शन का धर्म एवं आस्था से कोई वैर-विरोध हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत सचाई यह है कि भारत में दर्शन धर्म की गोदी में ही पला-बढ़ा है। अतः दर्शन की चर्चा में धर्म की निंदा का कोई स्थान ही नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** 17/3 अर्थात् मनुष्य श्रद्धा से ही बना हुआ है और वास्तव में श्रद्धावान् ही वास्तविक मनुष्य है। मनुष्य का शरीर तो उसका बहिरंग मात्र है, उसके भीतर वास्तविक पुरुष है जो श्रद्धामय है। बहिरंग शरीर तो मृत है, किन्तु श्रद्धा अमर है। यदि बुद्ध के जीवन से करुणा शेष कर दी जाए तो बुद्ध के जीवन का मूल्य दो कौड़ी भी नहीं बचता क्योंकि करुणा ही वास्तविक बुद्ध है। शरीर के नष्ट हो जाने के हजारों वर्ष बाद भी अभी तक बुद्ध के नाम से पूजे जा रहे हैं। इसी प्रकार महावीर के जीवन से जीवदया, गांधी के जीवन से सत्य व अहिंसा, नेताजी के

जीवन से ज्वलन्त देशभक्ति यदि शेष कर दी जाए तो इन महापुरुषों के जीवन का मूल्य भी शून्य हो जाता है। अतः महान् श्रद्धा ही किसी पुरुष को महापुरुष बनाती है, महान् बनाती है।

शरीर की हत्या करना यदि ऐसा घोर अपराध है जिसके लिए प्राणदण्ड का विधान है तो श्रद्धा का खून करने वाले को कितना बड़ा दण्ड मिलना चाहिए, यह विचारणीय प्रश्न है। ईसा को फांसी देने वालों ने तो मात्र ईसा के शरीर की हत्या की, किन्तु ईसा के जीवन से प्रेम और अहिंसा को निकाल देने से श्रद्धा का इतना बड़ा खून हो जाएगा जिसे सम्भवतः इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा। अतः किसी की श्रद्धा को कुचलना कभी भी उचित नहीं माना जा सकता।

समस्त शिष्टाचार एवं अनुशासन का मूल आधार श्रद्धा ही है। माता-पिता के प्रति श्रद्धा होने पर ही बेटा आज्ञाकारी एवं सेवाव्रती बनता है। यदि राम की माता-पिता के प्रति श्रद्धा न होती तो वे वनगमन के आदेश को न मानकर औरंगजेब के समान पिता को बंदी बनाकर भाइयों के खून का घृणित काण्ड रच सकते थे, किन्तु राम की श्रद्धा ने उन्हें युग-युग तक पूज्य बना दिया और औरंगजेब की अश्रद्धा ने उसे धरती का दुर्भाग्य और इतिहास का कलंक बना दिया। भक्त श्रवण की मातृ-पितृ श्रद्धा ही उसे अमर बना गई। बिना श्रद्धा के वह देश के कोने-कोने में सब तीर्थों में अपने अंधे माता-पिता को कंधे पर ढोकर क्यों तीर्थ करवाता फिरता। आज का कोई श्रद्धाविहीन बेटा अपने रोग से मरते हुए माता-पिता को औषधि और आहार तक पूछने की फुर्सत नहीं निकालता। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा के कारण ही उनका जीवनभर सम्मान किया जाता है। आज के श्रद्धाविहीन छात्र अध्यापकों पर पत्थरबाजी, छुरेबाजी तथा घृणित व्यवहार करने से नहीं चूकते। देश के प्रति श्रद्धा होने से ही भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ सकते हैं तथा गांधी, तिलक और सुभाष अपना समस्त जीवन मातृभूमि की सेवा के लिए उत्सर्ग कर सकते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अमर श्रद्धावान् महापुरुष थे, उनके गीतांजलि के गीत श्रद्धा के अमर गीत हैं। उन गीतों से श्रद्धा को घटा दिया जाए तो पागलों के प्रलाप जैसे प्रतीत होंगे। चैतन्य महाप्रभु श्रद्धा के बिना कांके की मानसिक आरोग्यशाला में भर्ती के योग्य रह जाते हैं। बिना श्रद्धा के तुलसीदास को मात्र दिवास्वप्न देखने वाला मानसिक रोगी गिना जाता और मीराबाई एक बाजारू औरत जैसी बन जाती। इस युग के सबसे बड़े महापुरुष महात्मा गांधी स्वयं स्वीकार करते हैं कि यदि मेरे पास राम नाम की अटल श्रद्धा न होती तो मेरे लिए आत्महत्या के सिवा और कोई दूसरा चारा न रहता। इसलिए श्रद्धा मानव की सबसे बड़ी पूंजी है, यही उसे उठाने वाली और जीवन को मूल्य देने वाली अलौकिक शक्ति है जिसके बिना मनुष्य जीवन में न कोई महान् कार्य कर सकता

है, न महान् त्याग कर सकता है, और न ही किसी महान् सत्य की उपलब्धि कर सकता है। भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट घोषणा की है जिसे शंकराचार्य से राधाकृष्णन् तक सभी ठीक मानते हैं कि 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं' 4/39 अर्थात् श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। 'संशयात्मा विनश्यति' 4/40 और श्रद्धाहीन संशयालु नष्ट हो जाता है। यदि हमें अपने गुरुजनों या प्राध्यापकों के वचन में श्रद्धा न हो तो हम निरन्तर यही संशय करते रहेंगे कि जो पाठ वे पढ़ा रहे हैं वह अशुद्ध होगा।

हम कुछ विद्यार्थी बड़े प्रयास से, पारिवारिक संस्कार से, गुरुजनों की दीक्षा से और अपनी कठिन साधना से अपनी धार्मिक आस्था को सम्हालकर, बचाकर चलते हैं ताकि वास्तविकता की आंधी में कहीं हमारे श्रद्धा के दीपक बुझ न जाएं। किन्तु हमारे आराध्यदेव भगवान् राम की इतनी अन्यायपूर्ण एवं भद्दी आलोचना करके हमारे श्रद्धा के दीपक को बड़ी जोरदार पांव की ठोकर मारी गई है जिससे हमारा हृदय कांप उठा है। और हमने प्रार्थना की है कि हमारी श्रद्धाओं पर ऐसे भीषण अत्याचार न किये जाएं। हम अपने दु:ख की फरियाद मात्र कर रहे हैं। यदि चोट खाकर लहूलुहान होने वाला जख्मी व्यक्ति दु:ख से क्रन्दनकर प्रार्थना करता है कि ऐसा अत्याचार न किया जाए और प्रहार करने वाले के स्थान पर प्रहार सहकर फरियाद करने वाले को ही अनुशासनहीनता का दोषी माना जाता है तब ऐसे न्यायालय में वादी का गूंगा रहना और साक्षी का अंधा रहना ही पर्याप्त है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है।

भारत एक धर्मप्राण देश है। धर्म ही इसका प्राण है। यहां के महापुरुष धर्म की रक्षा के लिए हंसते-हंसते प्राण निछावर करते रहे हैं। इसलिए धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा है। किसी के प्राणों का हरण करना हत्या कहलाता है। किन्तु किसी के धर्म को लूटना, उसकी धार्मिक आस्था पर प्रहार करना उसके प्राणहरण से भी अधिक बड़ा अत्याचार है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—प्रत्येक राष्ट्र के प्राण भी किसी बिन्दुविशेष में केन्द्रित होते हैं। वहीं उस राष्ट्र का राष्ट्रीयत्व बसता है और जब तक उस मर्मस्थान पर आघात नहीं होता तब तक वह राष्ट्र नहीं मर सकता....किन्तु जब उस मूल उद्देश्य पर जिस पर राष्ट्रीय जीवन का सम्पूर्ण महल टिका है, छोटा-सा आघात भी होगा तो राष्ट्र प्रचण्ड शक्ति से उसका प्रतिरोध करेगा।....धर्म ही हमारे तेज, बल और इतना ही नहीं हमारे राष्ट्रीय जीवन का भी मूलाधार है। यदि तुमने इस मर्मस्थल को छोड़ दिया तो सावधान! तुम सर्वनाश को निमंत्रण दे दोगे।....सदा सर्वदा तुम धर्म से बंध चुके हो और तुम्हें इसके सहारे ही खड़े रहना होगा। भले ही तुम्हारी धर्म में मेरे जितनी निष्ठा न हो। तुम इसी धर्म से बंधे हुए हो और यदि इसे छोड़ दोगे तो चूर-चूर हो जाओगे। यही हमारी जाति का प्राण है और तुम्हें इसे पुष्ट करना होगा।....राष्ट्र का प्राण धर्म है, उसकी भाषा

धर्म है तथा उसका भाव धर्म है।' इस दृष्टि से धर्मप्राण भारत में धार्मिक आस्था पर आघात स्वयं भारतीयता पर एवं भारत के प्राण पर घातक आघात है। हमने सविनय विनती की है कि भारत, भारतीयता एवं मानवता के हित में ऐसा प्रहार न किया जाए।

धर्मनिरपेक्ष भारत में किसी की आस्था पर प्रहार करना घोर अन्याय है। वैसे भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार संसार के किसी भी प्रचलित धर्म का तिरस्कार करना भी अपराध है। कक्षा की शान्ति, साम्प्रदायिक शान्ति और विश्व शान्ति के हित में किसी की भी धार्मिक आस्था पर ऐसा अशोभन प्रहार नहीं होना चाहिए।

पश्चिम में विवाह का आदर्श है भोग द्वारा नर-नारी का संयोग। भारत का आदर्श रहा है तपस्या द्वारा अमर मिलन। प्रारम्भ में पार्वती ने कामदेव के उद्दीपन में आकर कामदेव के कृत्रिम वसन्त द्वारा प्रभावित होकर शिव को प्राप्त करने की चेष्टा की, किन्तु यौवन के उद्दाम वेग में किया गया मिलन कभी सफल नहीं होता। कामदेव भस्म हो गया। शंकर के तृतीय नेत्र से निकलने वाले तेज की ज्वाला से सारी सृष्टि दग्ध होने लगी और पार्वती को बड़ी आत्मग्लानि हुई तब उसने अपने सब रत्नाभूषण फेंककर शिव की प्राप्ति के लिए तप करना प्रारम्भ किया। भूख-प्यास, सांसारिक आवश्यकता को भुलाकर वह कन्याकुमारी के स्थान पर कुंवारी कन्या के रूप में तीन समुद्रों के मिलन बिन्दु पर एक चट्टान पर बैठकर अनन्य भाव से शिव का चिन्तन करती रही। उस तपस्या के प्रभाव से शंकर को कैलास से आकर कन्याकुमारी में स्वयं पार्वती को वरण करना पड़ा। इस तरह सारा भारत शिव-शक्ति के अखण्ड मिलन से पावन हो गया।

यौवन के उद्दाम वेग में शकुन्तला ने बिना अपने पालक (ऋषि कण्व) से अनुमति लिए दुष्यन्त का वरण कर लिया। परिणामस्वरूप दुर्वासा ऋषि के श्राप से दुष्यन्त शकुन्तला को बिल्कुल भूल गया। पहचान की मुद्रिका को भी भूल गया। शकुन्तला को तिरस्कारकर निकाल दिया। शकुन्तला को आत्मग्लानि सहनी पड़ी। शकुन्तला ने जंगल में तपस्या की, उधर दुष्यन्त को भी स्मृति लौटने पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तपस्या के पश्चात् दुष्यन्त और शकुन्तला का अमर मिलन हुआ। उनकी सन्तान भरत के नाम पर हमारे देश पर 'तपसा विजयम्' की मुद्रा अंकित हो गई।

धर्मात्मा पाण्डव कौरवों से अपना राज्य वापस लेने में समर्थ थे। किन्तु उन्होंने वनवास की तपस्या के पश्चात् केवल इन्द्रप्रस्थ का राज्य ही नहीं पाया वरन् कोटि-कोटि मानवों के हृदय सिंहासन पर श्रद्धा का राज्य भी प्राप्त कर लिया। किसी महान् आदर्श के लिए तप किए बिना कोई भी महापुरुष इतिहास में पूजित नहीं हो सका है। अत: किसी विश्व पूजित महापुरुष का मखौल उड़ाना

और उनके प्रति महर्षि वसिष्ठ से लेकर महात्मा गांधी तक युगों से चली आई हुई श्रद्धा को अपमानजनक ठोकर मारना कभी भी सहनीय नहीं है। क्या राम के प्रति अटल श्रद्धा रखने वाले महर्षि वसिष्ठ से लेकर गांधी तक सभी मूर्ख थे और हमारे प्राध्यापक महोदय अधिक श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी हैं?

अपनी आजीविका के लिए कष्ट सहना मात्र मजदूरी है, किन्तु किसी महान् तपस्या के लिए कष्ट सहना तपस्या है। श्रद्धा वह दिव्य मुद्रा है जो श्रम को तप का गौरव प्रदान कर देती है। पेट भरने के लिए, घास-फूस खाने वाले अनेक अभागों को देखकर उन पर दया आती है। आजीविका के लिए मजदूरों के कष्ट को देखकर उन पर तरस आता है। किन्तु किसी महान् श्रद्धा के लिए घास की रोटी खाने वाले महाराणा प्रताप के प्रति पूजा का भाव पैदा होता है। श्रद्धा ही दयनीय को पूजनीय बना देती है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श है 'तपसा विजयम्' अर्थात् तपस्या द्वारा विजय प्राप्त होती है। पश्चिम का आदर्श है भोगेन विजयम्। बातूनी लोग जो न तो पश्चिम के समान दूसरों के धन, राज्य को छीनकर विजय कर सकते हैं और न तपस्या द्वारा अपने आपको जीत सकते हैं। उनका ध्येय वाक्य है 'वचसा विजयम्' अर्थात् बातों से ही विजय करने का प्रयास करना। ये थूक से बड़े पकाने के बराबर है, गपोड़े-बाजी के पकोड़े खाने के तुल्य हैं।

भगवान् राम ने राज्य प्राप्ति में समर्थ होते हुए भी भोगों को ठुकराकर तपस्या द्वारा आत्मविजय की। वे मुसीबतों के मारे हुए नहीं थे जिन पर किसी को तरस खाने की जरूरत है। उन्होंने एक महान् श्रद्धा के लिए स्वेच्छा से हँसते-हँसते तपस्या का मार्ग वरण किया। भगवती सीता ने भी तपस्या का ऐसा महान् आदर्श रखा जिसकी तुलना विश्व की कोई नारी आज तक कर नहीं सकी है। सीता ने हँसते-हँसते पातिव्रत्य धर्म के आग्रह के साथ वनवास के कण्टकाकीर्ण पथ को चुना। अपहरण के पश्चात् लंका में भी निरन्तर तपस्या में लीन रहीं। उस तपस्विनी के शरीर से एक ऐसा अद्‌भुत तेज निकलता था जिसके सम्मुख जाने पर देवताओं को विजय करने वाला रावण भी भयभीत हो जाता था। युगों से राम और सीता की तपस्या के कारण ही मानवता अपने हृदय मन्दिर में उनकी पूजा करती चली आई है। किसी अन्य भोगी राजा-रानी की पूजा भारत ने नहीं की। प्राध्यापक महोदय द्वारा आज के किसी भोगी, पामर-पापी, घटिया आदमी को राम से अच्छा बताना तपस्या का घोर अपमान है।

जिस योगीराज अरविन्द ने फ्रांस के नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यमनीषी रोम्या रोला के दर्शन को पूर्व और पश्चिम के दर्शन का महानतम समन्वय माना, वे श्री अरविन्द लिखते हैं—भगवान् राम सत्य, न्याय, धर्मपालन के सर्वोच्च

आदर्श हैं तथा वे सात्त्विक मानवता के महान् अवतार के रूप में पूजे जाते रहेंगे। जिस अरविन्द दर्शन को देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है उनके जीवन से अतिमानस की श्रद्धा निकाल दी जाए तो पाँडिचेरि में 40 वर्ष मौन तपस्या का मूल्य दो छदाम भी नहीं बचता तथा उन पर लिखे जाने वाले शोधग्रंथों का मूल्य भी रद्दी के कागज से अधिक नहीं बचेगा।

बिना गोभक्ति की श्रद्धा के सम्राट् दिलीप, भगवान् कृष्ण, गांधी, विनोबा की गोसेवा का क्या अर्थ बचता है? बिना धर्मश्रद्धा के हकीकत राय, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर, मतिदास एवं गुरु गोविन्द सिंह के दीवार में चुने जाने वाले लाडलों के बलिदान का महत्त्व ही क्या बचता है। सत्य के प्रति निष्ठा के बिना हरिश्चन्द्र का चाण्डाल के घर बिकना और सुकरात का विष का प्याला पीकर बलिदान हो जाना निरर्थक हो जाएगा। वास्तव में अपने स्वार्थ के लिए या तुच्छ भोगों के लिए कष्ट सहना तो मात्र जीवन का बोझा है।

हमें विवेक से धर्म के शाश्वत तत्त्व को उसके इर्द-गिर्द बढ़े हुए झाड़-झंखाड़ से अलग करके पहचानना चाहिए। यदि वृथा जंगली झाड़, घास पात को साफ नहीं करेंगे तो बगीचे के फूल भी दब जाएंगे या नष्ट हो जाएंगे। अत: गलत रूढियों के झाड़-झंखाड़ को समय-समय पर विवेक के द्वारा दूर करते रहने से धर्म की वाटिका के फूल खिलेंगे।

जिस प्रकार मक्खी 56 प्रकार के पकवानों पर बैठती है पर वह भोजन से रसग्रहण करने के लिए या भोजन करने के लिए नहीं वरन् विष्ठा करने के लिए बैठती है। वैसे ही कुछ आधुनिक या नास्तिक लोग धर्मग्रंथों (रामायण, महाभारत आदि) से कुछ पाने के लिए अध्ययन नहीं करते वरन् उस पर विष्ठा करने के लिए बैठते हैं।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक संस्कृति और सभ्यता होती है जो उसकी गौरवशाली परम्परा को प्रस्तुत करती है। राम हमारी संस्कृति के एक जाज्वल्यमान दीप हैं जो प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन के प्रेरणास्रोत हैं। आज हम अपनी निर्धनता, अज्ञानता, अपनी सभी कमजोरियों का दोष स्वयं को न देकर धर्म को और अपने राष्ट्रनायकों के ऊपर मढ़ देते हैं। अपनी इस असाध्यावस्था में हमारी दृष्टि परमुखापेक्षी हो गई है। स्वयं तो अकर्मण्य बने हुए बैठे रहते हैं तथा अपना मानसिक संताप राष्ट्रपुरुषों पर लांछन लगाकर दूर करते हैं। यह तो 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' वाली कहावत को चरितार्थ करना है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अप्रतिष्ठितकर उनके रिक्तस्थान की पूर्ति हम किस से करेंगे? राम को निकालने के बाद हमारे पास क्या बचता है? क्या

राम को विस्थापित करके हम उस गौरव को प्राप्त कर लेंगे जिसकी ओर हमारी लोलुप दृष्टि लगी हुई है। क्या विश्व का तथा हमारा कल्याण हो सकेगा। क्या रोम, मिस्र की प्राचीन गौरवशाली सभ्यता-संस्कृति जो अब समाप्त हो गई वह दूसरों द्वारा आरोपित धर्म-संस्कृति पाकर अपने पूर्वरूप की अपेक्षा आज अधिक उन्नतिशील है?

देश की उन्नति में व्यक्ति और समाज का हाथ होता है और वही राष्ट्र को महान् बनाता है। धर्म तो प्रेरणा देता है। आज हम पश्चिम के भौतिक जीवन से आकर्षित हैं। हम भी उसी को प्राप्त करना चाहते हैं। उनका जीवन, उनका दर्शन, उनका व्यवहार सब अनुकरणीय लगता है। लगता है उसे पाकर हम पूर्ण हो जाएंगे। यह हमारी मानसिक दासता का परिचायक है जो हमें अंग्रेजों से प्राप्त हुआ। वे शासक थे तथा शासक का हर क्रियाकलाप श्रेष्ठ माना जाता रहा है। हमारे समाज के कुछ पिट्ठुओं ने उसी का अनुकरणकर उस समय उनका साथ दिया और आज भी हम पर शासन कर रहे हैं।

हमारा सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन अक्षुण्ण रहा है। विश्व में किसी भी धर्म एवं संस्कृति की परम्परा इतनी पुरानी नहीं है। हमने इतने क्रूर प्रहारों के आगे भी घुटने नहीं टेके।

यूनान और मिस्र बालू की भीत की भांति धराशायी हो गए तथा वे भी जो इसके समकालीन थे। हमारे धर्म एवं दर्शन की संजीवनी शक्ति थी और हमारे इष्ट राम का ही आदर्श था जिसने हममें साहस भरा तथा जीवित रखा।

फिर क्या हम पश्चिम की विचारधारा को, उनके दर्शन को अपनाकर उन्हीं की भांति बन जाएंगे? कदापि नहीं। इसका स्पष्ट उदाहरण अफ्रीका तथा अन्य देश हैं जो आज भी उतने ही पिछड़े हैं जितना कि पहले थे। जो दर्शन तथा सामाजिक स्वतंत्रता, मानववाद की माला जपते हैं वही आज दक्षिण अफ्रीका में अत्याचार कर रहे हैं। दर्शन एवं धर्म मात्र कहने की ही वस्तु नहीं होती परन्तु आचरण की भी होती है। हमारा भी वही हाल है जो उनका हुआ। सब बदलने पर भी व्यक्ति वही रहेंगे। आज स्वयं अपने आदर्शों को गाली देते हैं। कल आरोपित दर्शन को देंगे। माना कि सब बुरा है। पर किसका कौन है बुरा बनाने वाला? स्वयं आप ही है। हम लाख कहते फिरते हैं कि ये बुरा है। पर उसे सुधारने का प्रयत्न रत्तीभर भी नहीं करते। राम बुरे हैं उसकी जगह आप राम से श्रेष्ठ आचरण करके दिखाइये, अपनी बुराइयों को त्यागिये। हम आपकी पूजा करेंगे।

हम अपने धर्म एवं संस्कृति पर चलकर पुनः महान् बन सकते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण जापान है जिसका अपना दर्शन एवं संस्कृति है, जहां बुद्ध को

गाली नहीं दी जाती। वे अपने बल पर उन्नतिशील बने तथा हम अपनी भ्रष्ट करतूतों पर पर्दा डालने के लिए राम को शिकार बनाते हैं।

राम मात्र भारत को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व को आदर्श पुरुष के रूप में प्रेरणा देते आए हैं, देते रहेंगे। गांधीजी ने तो रामराज्य का आदर्श रखा। राम-राम कहते-कहते स्वर्ग सिधारे। और आज तक प्रायः सभी प्राच्य एवं पश्चिम के विद्वानों ने राम की महत्ता स्वीकार की है। इसके विपरीत राम के देश में राम को नहीं अपनाना—'घर का जोगी जोगड़ा आन गांव का सिद्ध' उक्ति को चरितार्थ कर रहा है।

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

—मैथिलीशरण गुप्त

× × ×

डा. राममनोहर लोहिया कहते हैं देश की प्राण शक्ति का नाम 'राम' है। इसे चैतन्य किये बिना देशोद्धार नहीं हो सकता। अपने इस उद्घोष को साकार करने के लिए उन्होंने चित्रकूट में श्रीराम मेले का सूत्रपात किया। आज तो उसकी गणना भारत के प्रमुख मेलों में होती है।

× × ×

सनातन भारत निर्जीव नहीं है और न उसने अपने अन्तिम रचनात्मक शब्द ही कहे, वह जीवन्त है और उसे अपने लिए तथा मानव जाति के लिए अभी कुछ करना शेष है।

—ऋषि अरविन्द